महाकविभवभूतिप्रणीतं

उत्तररामचरितम्

'रमा'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी

।। श्रीः ।।
चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
180

महाकवि-भवभूतिप्रणीतं

उत्तररामचरितम्

'रमा'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार
डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी
एम. ए., पी-एच्. डी., प्रोफिसियेंसी इन जर्मन
स्वामी देवानन्द डिग्री कॉलेज, मठलार, देवरिया

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

© सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण या किसी भी विधि (जैसे- इलेक्ट्रोनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि) से प्रयोग या किसी ऐसे यंत्र में भंडारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, प्रकाशक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

उत्तररामचरितम्—रमाकान्त त्रिपाठी

ISBN : 978-93-81484-64-7

प्रकाशक :

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के 37/117 गोपाल मन्दिर लेन, पोस्ट बॉक्स न. 1129

वाराणसी 221001

दूरभाष : (0542) 2335263, 2335264

e-mail : csp_naveen@yahoo.co.in

website : www.chaukhamba.co.in

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

संस्करण : 2022

₹ 290

वितरक :

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2 ग्राउण्ड फ्लोर, गली न. 21-ए

अंसारी रोड़, दरियागंज

नई दिल्ली 110002

दूरभाष : (011) 23286537, (मो.) 09811104365

e-mail : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

*

अन्य प्राप्तिस्थान :

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू. ए. बंगलो रोड़, जवाहर नगर

पोस्ट बॉक्स न. 2113

दिल्ली 110007

*

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)

पोस्ट बॉक्स न. 1069

वाराणसी 221001

मुद्रक :

डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली,

THE
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
180

UTTARARĀMACARITA

Of

MAHĀKAVI BHAVABHŪTI

Edited with
'Ramā' Sanskrit-Hindi Commentaries

By

Dr. Ramākānta Tripāthi

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

Publishers :

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001
Tel. : 2335263

Also can be had from :

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor
Gali No. 21-A, Ansari Road
Daryaganj, New Delhi 110002
Tel. : 32996391
e-mail : chaukhamba_neeraj@yahoo.com

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007
Tel. : 23856391

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind to Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001
Tel. : 2420404

दो शब्द

प्रपञ्चात्मक जगत् की बड़ी-बड़ी बाधाओं एवं कठिनाइयों को जैसे-तैसे पार करने के बाद बहुत दिनों में अपनी साध पूरी हुई, जो 'रमा' संस्कृत-व्याख्या तथा हिन्दी अनुवाद से संवलित 'उत्तररामचरित' का यह अभिनव संस्करण संस्कृत-पाठकों की अपेक्षाकृत समुचित सहायता करने के उद्देश्य से उनके हाथों में समर्पित कर मैं कृतकृत्य हो सका। मैंने विद्वानों की चरण-कमलसेवा तथा विभिन्न पूर्ववर्ती टीकाओं के अध्ययन से अर्जित ज्ञान एवम् अपनी क्षमता के अनुसार, उक्त सदुद्देश्य को पूरा करने का ईमानदारी के साथ भरसक प्रयास किया है, किन्तु उसमें मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसे तो पाठक ही आँक सकेंगे। यदि मेरे इस प्रयास से उन्हें कुछ भी सन्तोष मिला तो मुझे कृतार्थ होने के लिए वही पर्याप्त होगा।

'उत्तररामचरित' के इस संस्करण को वर्तमानरूप में तैयार करते समय पूर्ववर्ती अनेक संस्करणों से असाधारण सहायता मिली है। 'उत्तररामचरित' में पाठ-भेदों की जैसी भरमार है, वैसी सम्भवतः अन्य किसी नाटक-ग्रन्थ में नहीं है। यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि संस्कृत के मान्य विद्वानों की समिति के द्वारा 'उत्तररामचरित' का कोई एक ऐसा संस्करण तैयार किया जाय, जिसका पाठ सर्वथा शुद्ध एवं सर्वमान्य हो। ऐसा होने से संस्कृतसाहित्य के गौरव की अभिवृद्धि के साथ ही पाठकों का भी कल्याण होगा। मैंने पाठ-भेदों को भलीभाँति देखकर अपने विवेक के अनुसार जो पाठ समीचीन एवम् उपयोगी प्रतीत हुआ है, उसे ही मूलग्रन्थ में स्थान दिया है। मैं उन सभी मान्य विद्वानों के पादपद्मों में नतमस्तक हो आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी कृतियों से मुझे अभीष्ट सहायता प्राप्त हुई है।

'चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन' के सञ्चालक एवं सहयोगी बन्धुजन भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनके अनवरत प्रयास से यह अभिनव संस्करण सहृदय पाठकों तक पहुँच पाया।

अन्त में अज्ञानवश अथवा प्रमादवश हुई त्रुटियों के लिए क्षमा-याचना कर अपने वक्तव्य को यहीं समाप्त करता हूँ।

विद्वद्विधेय
रमाकान्त त्रिपाठी

भूमिका

प्राणि-जगत् में मनुष्य सर्वाधिक संवेदनशील प्राणी है। पग-पग पर उसे सुख-दुख, हर्ष-शोक आदि अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती रहती हैं। इन अनुभूतियों से मानव-मानस में भावों और विचारों की तरंगें उद्वेलित हो उठती हैं। सामान्यतः इन भावों और विचारों की तरङ्गें मानस-कूल से टकराकर विलीन हो जाया करती हैं; किन्तु जब कभी इनका वेग तीव्र हो जाता है, तब अनायास ही इनकी अभिव्यक्ति होने लगती है और इस अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है वाणी। यही अनुभूति और अभिव्यक्ति का मणिकाञ्चन संयोग जब वाणी के माध्यम से अपना चमत्कार प्रदर्शित करता है, तब उसे वाङ्मय की संज्ञा प्राप्त होती है।

यह वाङ्मय दो प्रकार का होता है—१. शास्त्र अर्थात् ज्ञानात्मक साहित्य, २. काव्य अर्थात् रागात्मक साहित्य।[1] शास्त्रीय वाङ्मय देश-काल एवं सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन तथा नये-नये अन्वेषणों एवं वैज्ञानिक अनुसन्धानों के कारण पुरातन होता जाता है, किन्तु काव्य (रागात्मक साहित्य) नित्य नूतन रमणीय ही बना रहता है। प्रत्येक स्थिति में उसकी सजीवता, सुन्दरता और नित्यता ज्यों की त्यों बनी रहती है। इस प्रकार का अन्तर होते हुए भी काव्य, शास्त्र का विरोधी नहीं है, अपितु हितोपदेशपरक तथा कान्तासम्मित उपदेशों से युक्त होने के कारण शास्त्र के शाश्वत सिद्धान्तों का अनुसरण करता है।[2]

अपनी अनुभूतियों को प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा स्ववशीभूत सफल वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त करने में समर्थ, दृश्यजगत् से भी मनोरम भाव-जगत् की सृष्टि करने में निपुण स्वयंभू कवि की कृति ही काव्य है (कवेः कृतिः काव्यम्)। उसमें जगत् के श्रान्त-क्लान्त मानव-मन को विश्राम देकर उसे अलौकिक आनन्द में निमग्न करने की क्षमता होती है। वह मानव-हृदय के उस आन्तरिक क्षेत्र को भी प्रकाशित करने में समर्थ होता है, जहाँ रवि-शशि की भी पहुँच नहीं हो पाती है। प्रभुसम्मित वेदों और सुहृत्सम्मित पुराणों के अनुशीलन में असमर्थ सुकुमार-मति जन भी, ऐसे कान्तासम्मित उपदेश देने वाले सत्काव्यों के सेवन से पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति अपेक्षाकृत सुगमता से कर सकते हैं। काव्यमाधुरी के सामने सुधा भी फीकी पड़ जाती है।

कवि द्वारा व्यक्त उसकी अनुभूतियों का ग्रहण सहृदय जन नेत्रेन्द्रिय एवं श्रवणेन्द्रिय से करते हैं। अतः इन्द्रियग्राह्यता के आधार पर काव्य के दो भेद किये जाते हैं—दृश्य एवं श्रव्य।

> 'दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
> दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात् तु रूपकम्॥' (साहित्यदर्पण ६।१)

---

१. 'वाङ्मयमुभयथा, शास्त्रं काव्यं च।' (काव्यमीमांसा अध्याय २)।

२. 'गद्यपद्यमयत्वात् कविधर्मत्वात् हितोपदेशकत्वाच्च, तद्धि शास्त्राण्यनुधावति।' (राजशेखर)।

श्रव्यकाव्य विशेषतः श्रवणीय या पठनीय होते हैं। उसमें शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र प्रस्तुत किये जाते हैं, किन्तु दृश्यकाव्य में चक्षुरिन्द्रिय की सहायता से सौन्दर्य की अनुभूति की जाती है। यद्यपि संवादों को सुनने के लिए श्रवणेन्द्रिय की भी सहायता अपेक्षित होती है, किन्तु प्रधानता चक्षुरिन्द्रिय की ही होती है। अतः दृश्यकाव्य का प्रभाव हृदय पर अपेक्षाकृत गहरा पड़ता है। रचनाकार की दृष्टि से यह 'रूपक' कहा जाता है; क्योंकि जैसे कवि 'मुख' पर 'चन्द्रमा' के अभेदारोप में स्वतन्त्र है वैसे ही 'नट' पर रामादि की अवस्थाओं के अभेदारोप में भी स्वतन्त्र है—

'यथा मुखादौ पद्मादेरारोपे रूपकप्रथा।
तथैव नायकारोपो नटे रूपकमुच्यते॥'

(रसार्णवसुधाकर, तृतीयविलास)

यही रूपक सामाजिकों की दृष्टि से 'दृश्य' अथवा 'रूप' कहा जाता है—'रूपं दृश्यतयोच्यते' (दशरूपक १।७), किन्तु अभिनेता की दृष्टि से 'अभिनेय' अथवा 'नाट्य' कहलाता है।

'नटस्यातिप्रवीणस्य कर्मत्वान्नाट्यमुच्यते।' (रसार्णवसुधाकर, तृतीयविलास)। इस प्रकार दृश्य (अथवा रूप), रूपक, नाट्य ये शब्द समानार्थक हैं। केवल इनमें प्रवृत्ति-निमित्तक भेद है।

रूपक के दस भेद हैं—१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. व्यायोग, ५. समवकार, ६. डिम, ७. ईहामृग, ८. अङ्क, ९. वीथी और १०. प्रहसन।

नाट्यकोविदों ने इन दस रूपकों के अतिरिक्त अठारह प्रकार के उपरूपकों को भी दृश्यकाव्य का प्रकार माना है, वे ये हैं—

१. नाटिका, २. त्रोटक, ३. गोष्ठी, ४. सट्टक, ५. नाट्यरासक, ६. प्रस्थान, ७. उल्लाप्य, ८. काव्य, ९. प्रेङ्खण, १०. रासक, ११. संलापक, १२. श्रीगदित, १३. शिल्पक, १४. विलासिका, १५. दुर्मल्लिका, १६. प्रकरणी, १७. हल्लीश, १८. भाणिका।

इन उपर्युक्त सभी प्रकारों का सामान्य स्वरूप वही है जो कि 'नाटक' नामक प्रथम रूपक प्रकार का हुआ करता है। इन सबका संग्रह आचार्य विश्वनाथ की निम्नलिखित कारिकाओं में किया गया है—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमितिरूपकाणि दश॥
नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा॥
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च॥
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्॥

यहाँ 'उत्तररामचरित' का विवेचन करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक हो जाता है कि नाटक का महत्त्व तथा लक्षण क्या है और किन तत्त्वों के आधार पर एक

सफल नाटक का निर्माण किया जा सकता है ? संस्कृत साहित्य में नाटकों का उद्भव और विकास कैसे हुआ ? अतः इन्हीं सब बातों पर पहले विचार कर रहे हैं।

नाटक के लक्षण और नियम

आचार्य विश्वनाथ ने नाटक की व्याख्या करते हुए कहा है कि—नाटक वृत्त (कथा) प्रसिद्ध हो। उसमें पाँचों सन्धियों का समन्वय होना चाहिए। उसमें विलास, समृद्धि आदि गुणों तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिए। उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होते हैं। नायक पुराणादि में प्रसिद्ध वंश का, धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान् किसी राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य (दिव्य होते हुए भी अपने को मानव समझने वाला, जैसे राम) पुरुष होता है। शृंगार या वीर, इनमें से एक रस प्रधान होता है—अन्य सब रस अंगभूत होते हैं। नाटक को निर्वहण सन्धि में अत्यन्त अद्भुत (कौतूहलवर्द्धक) बनाना चाहिए। इसमें चार या पाँच पुरुष मुख्य कार्य के साधन में रत रहने चाहिए तथा गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान इसकी रचना होनी चाहिए अर्थात् जैसे गोपुच्छ में कुछ बाल कहीं छोटे और कुछ बाल बड़े होते हैं, वैसे ही नाटक में कुछ वृत्तों या चरित्रों का चित्रण मुखसन्धि में समाप्त हो जाया करते हैं; कुछ ऐसे, जो प्रतिमुख सन्धि में समाप्त होते हैं और इसी भाँति कुछ गर्भ में, कुछ विमर्श में और कुछ निर्वहण में समाप्त हुआ करते हैं। (द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण ६।७–११)

नाटक के तत्त्व

भारतीय आचार्यों ने नाटक के पाँच तत्त्व स्वीकार किये हैं—१. वस्तु, २. पात्र, ३. रस, ४. अभिनय और ५. वृत्ति। जब कि पाश्चात्य आचार्य—१. कथावस्तु, २. पात्र, ३. कथोपकथन, ४. देश-काल, ५. उद्देश्य और ६. शैली—ये छः तत्त्व मानते हैं। ध्यान से देखने पर पाश्चात्य आचार्यों के समस्त तत्त्व भारतीय आचार्यों के उक्त पाँच तत्त्वों में ही अन्तर्भूत मालूम पड़ते हैं। वस्तु तथा पात्र दोनों में समान रूप से स्वीकृत ही हैं। कथोपकथन को भारतीय तत्त्व 'अभिनय' के उपभेद 'वाचिक अभिनय' में मजे से समेटा जा सकता है। पाश्चात्य 'देश-काल' तत्त्व को भी अभिनय के भेदोपभेदों में क्रिया-कलाप एवं वेश-भूषा की स्वाभाविकता के आधार पर उसी का एक अङ्ग बिना किसी विप्रतिपत्ति के स्वीकारा जा सकता है। भारतीय नाटकों का उद्देश्य रस का पूर्ण परिपाक है। अतः भारतीय 'रस' और पाश्चात्य 'उद्देश्य' तत्त्व में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। इसी प्रकार उनके 'शैली' तत्त्व का भारतीय 'वृत्ति' तत्त्व में अन्तर्भाव किया जा सकता है।

विशेष—हमने ऊपर भारतीय 'रस' और पाश्चात्य 'उद्देश्य' तत्त्व में समानता मान ली है, फिर भी हमारे यहाँ भाव-तत्त्व को प्रधानता दी गयी है। नाटक में तो भावानुभूति या रस ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु पाश्चात्य आलोचकों में यह कमी है। वे रस को महत्त्व नहीं देते। इसी प्रकार उनकी दूसरी कमी है—'अभिनय' को तत्त्व न मानना। वस्तुस्थिति यह है कि अभिनय के बिना नाटक को नाटक ही नहीं माना जा सकता। अतः भारतीय नाटक के उपर्युक्त पाँच तत्त्व अधिक संगत और वैज्ञानिक हैं।

कथावस्तु (Plot)

नाटक की कहानी को वस्तु, कथा या कथानक कहते हैं। यह कथा अपेक्षाकृत सीमित और संक्षिप्त होती है, क्योंकि यह ध्यान रखना पड़ता है कि कथा का अभिनय तीन-चार

घण्टों में पूरा हो जाय। इसलिए कथानक की विस्तृत सामग्री में से अपने मतलब के तथ्य चुन लिये जाते हैं, जो उस मूल कथा को सुसम्बद्ध रूप से प्रस्तुत करते हुए भी विस्तृत नहीं होते।

कथावस्तु के भेद—

कथावस्तु के दो भेद किये गये हैं—१. आधिकारिक और २. प्रासङ्गिक।

(१) **आधिकारिक कथा**—आधिकारिक कथा उस मुख्य कथा को कहते हैं जो नाटक में आरम्भ से अन्त तक चलती रहती है और जिसका सम्बन्ध नाटक के प्रमुख फल के भोक्ता या अधिकारी (नायक) से होता है।

(२) **प्रासंगिक कथा**—प्रसंगवश आयी हुई कथा या कथाओं को प्रासंगिक कथा कहते हैं जो नाटक में कुछ दूर तक चलकर समाप्त हो जाती हैं। ऐसी कथाओं की योजना मुख्य कथा के विकास और सौन्दर्य-वर्धन के लिए होती है तथा ऐसी कथा का सम्बन्ध नाटक के अन्य गौण पात्रों से रहता है।

प्रासंगिक कथा के भेद—

प्रासंगिक कथा भी दो प्रकार की होती है—१. पताका और २. प्रकरी।

(१) **पताका**—आधिकारिक कथा के साथ-साथ लगभग अन्त तक चलने वाली कथा पताका कहलाती है। जैसे—रामायण में राम की कथा के साथ-साथ लगभग अन्त तक चलने वाली सुग्रीव की कथा 'पताका' कही जायेगी।

(२) **प्रकरी**—बीच में ही समाप्त हो जाने वाली कथा को 'प्रकरी' कहते हैं। जैसे—शाकुन्तल नाटक में छठे अंक में कंचुकी और दासियों के वार्तालाप को 'प्रकरी' कहा जा सकता है।

आधार-भेद से कथा के प्रकार—

आधार की दृष्टि से कथा तीन प्रकार की होती है—१. **प्रख्यात**—प्रख्यात वह कथा है जिसका आधार इतिहास, पुराण या जनश्रुति होती है, २. **उत्पाद्य**—उत्पाद्य वह कथा होती है जो नाटककार की अपनी कल्पना की उपज होती है और ३. **मिश्र**—मिश्र कथा वह जिसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण होता है।

कार्यावस्थाएँ—

नाटक की कथा को रंगमंच पर सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने के लिए उसे पाँच अवस्थाओं में विभाजित कर दिया गया है, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) **प्रारम्भ**—यह कथा का प्रारम्भिक भाग होता है, जिसमें नायक की इच्छा या प्रमुख उद्देश्य का पता चल जाता है। यदि कथा में कोई प्रतिनायक भी होता है तो नायक के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रतिनायक के साथ संघर्ष भी इसी भाग में प्रारम्भ हो जाता है।

(२) **प्रयत्न**—इस भाग में उस संघर्ष का विकास एक निश्चित सीमा तक बढ़ जाता है तथा प्रमुख उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न होने लगता है।

(३) **प्राप्त्याशा**—इस भाग में नायक का उत्कर्ष बढ़ जाता है और उसके मार्ग की कठिनाइयाँ दूर होने लगती हैं तथा फल-प्राप्ति की आशा बढ़ने लगती है।

(४) **नियताप्ति**—इस भाग में नायक की फल-प्राप्ति की आशा निश्चित हो जाती है।

(५) **फलागम**—इस भाग में संघर्ष का अन्त हो नायक को सम्पूर्ण फल की प्राप्ति हो जाती है।

अर्थप्रकृतियाँ और सन्धियाँ—

उपर्युक्त पाँचों कार्यावस्थाओं की सहायता के लिए पाँच अर्थप्रकृतियाँ मानी गयीं हैं। अर्थप्रकृति उन घटनाओं को कहते हैं जो कथानक को फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर करने में चमत्कार पूर्ण ढंग से सहायक होती हैं। ये पाँच हैं—१. बीज, २. बिन्दु, ३. पताका, ४. प्रकरी और ५. कार्य।

कार्यावस्थाओं और अर्थप्रकृतियों में मेल कराने का कार्य 'सन्धियों' द्वारा पूरा किया जाता है। इनकी संख्या भी पाँच मानी गयी हैं—१. मुखसन्धि, २. प्रतिमुखसन्धि, ३. गर्भसन्धि, ४. अवमर्श या विमर्शसन्धि और ५. निर्वहणसन्धि या उपसंहार।

यह अवधेय है कि कार्यावस्थाओं का सम्बन्ध कार्य-व्यापार से, अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध वस्तु-तत्त्वों से और सन्धियों का सम्बन्ध रूपक-रचना से होता है। इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार समझा जा सकता है—

अर्थप्रकृति		कार्यावस्था		सन्धि
१. बीज	+	आरम्भ	=	मुख
२. बिन्दु	+	प्रयत्न	=	प्रतिमुख
३. पताका	+	प्राप्त्याशा	=	गर्भ
४. प्रकरी	+	नियताप्ति	=	अवमर्श या विमर्श
५. कार्य	+	फलागम	=	निर्वहण या उपसंहार

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि किसी-किसी कथा में 'पताका' नामक प्रासंगिक इतिवृत की योजना नहीं भी रहती है; ऐसी स्थिति में गर्भसन्धि मुख्य रूप से प्राप्त्याशा पर निर्भर होती है। पताका की योजना तो अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार 'प्रकरी' की योजना भी अनिवार्य नहीं बल्कि वैकल्पिक है। अतः उसके अभाव में विमर्शसन्धि मुख्यतया 'नियताप्ति' कार्यावस्था पर आश्रित होती है।

अभिनय की दृष्टि से कथावस्तु के दो भेद हैं—१. अभिनेय अथवा दृश्य, २. सूच्य। जिन घटनाओं का रंग-मंच पर अभिनय किया जाता है, उन्हें **'अभिनेय या दृश्य'** कहते हैं, और जिनकी सूचना मात्र दी जाती है, उसे **'सूच्य'** कहते हैं। सूच्य इतिवृत्त की सूचना के जो उपाय हैं, उन्हें 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं। वे पाँच प्रकार के हैं—१. विष्कम्भक, २. प्रवेशक, ३. चूलिका, ४. अङ्कावतार और ५. अङ्कास्य या अङ्कमुख।

(१) **विष्कम्भक**—बीती हुई या आने वाली घटनाओं की सूचना मध्यम पात्रों के द्वारा अङ्कों के आरम्भ में दिये जाने को 'विष्कम्भक' कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. शुद्ध और २. मिश्र। जहाँ दो मध्यम कोटि के पात्र आते हैं और उनका संवाद 'संस्कृत' में होता है, वह 'शुद्धविष्कम्भक' होता है। जहाँ एक पात्र मध्यम कोटि का (संस्कृत भाषी) और दूसरा निम्न कोटि का (प्राकृत भाषा-भाषी) होता है, वह 'मिश्रविष्कम्भक' कहलाता है।

(२) **प्रवेशक**—बीती हुई या आने वाली घटनाओं की सूचना जब निम्न पात्रों (प्राकृत भाषा-भाषी) के द्वारा दी जाती है तब उसे 'प्रवेशक' कहते हैं। इसका प्रयोग दो

अङ्कों के बीच में ही होता है, अर्थात् 'प्रवेशक' की योजना नाटक के प्रथम अङ्क के आरम्भ में कभी नहीं होती है ।

(३) **चूलिका**—जिसमें पात्र नेपथ्य के भीतर से ही वस्तुविशेष की सूचना देते हैं, उसे 'चूलिका' कहते हैं ।

(४) **अङ्कावतार**—किसी अङ्क की समाप्ति पर निष्क्रान्त होने वाले पात्रों के द्वारा अगले अङ्क की कथावस्तु-विशेष की जो सूचना दी जाती है, उसे 'अङ्कावतार' कहते हैं ।

(५) **अङ्कास्य या अङ्कमुख**—अङ्कास्य या अङ्कमुख वह अर्थोपक्षेपक-प्रकार है, जिसे एक अङ्क में अन्य अङ्कार्थों की सूचना कहा जाता है और जिसमें बीज तथा अर्थ (फल) दोनों संक्षेप में सूचित होते हैं ।

कथोपकथन के तीन प्रकार—१. सर्वश्राव्य या प्रकाश, २ स्वगत या अश्राव्य और ३. नियतश्राव्य ।

(१) **सर्वश्राव्य**—जिस कथावस्तु को रंगमञ्च के सभी पात्रों को सुनना अभीष्ट होता है, उसे 'सर्वश्राव्य' कहते हैं । ऐसी कथावस्तु को प्रदर्शित करने लिए 'प्रकाशम्' शब्द का प्रयोग होता है ।

(२) **स्वगत या अश्राव्य**—जहाँ कथावस्तु का कोई भाग किसी भी पात्र को सुनाना अभीष्ट नहीं होता, उसे 'अश्राव्य' कहते हैं । वहाँ 'आत्मगतम्' या 'स्वगतम्' शब्द का प्रयोग होता है, जिसका आशय है—'पात्र का अपने मन में ही बोलना' । अर्थात् कोई पात्र किसी स्थिति-विशेष में मन ही मन बोलता है जिससे उसके मानसिक भाव अभिव्यक्त होते हैं और उसके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है । कभी-कभी इससे सामाजिकों को कथावस्तु के अनुक्रम को समझने में भी सहायता मिलती है ।

(३) **नियतश्राव्य**—नियतश्राव्य वह कथावस्तु है, जिसका रंग-मंच के सभी पात्रों को नहीं, बल्कि नियत पात्र को ही सुनाना अभीष्ट होता है । ऐसी कथावस्तु के लिए 'जनान्तिकम्' अथवा 'अपवार्य' (अपवारितम्) शब्द का प्रयोग होता है । 'जनान्तिकम्' का आशय होता है—जब कोई बात एक पात्र किसी नियत पात्र के अतिरिक्त अन्य पात्र से गोपनीय रखना चाहता है तब वह ऐसी हस्तमुद्रा बनाता है जिससे सब (तीन) अँगुलियाँ ऊपर उठी रहें और अनामिका झुकी रहे । इस हस्तमुद्रा को 'त्रिपताक-कर' कहते हैं । इस प्रकार 'त्रिपताक-कर' दिखला कर एक को सुनने से मना कर दूसरे को सुनायी गयी बात 'जनान्तिक' कहलाती है ।

अपवार्य या अपवारित का आशय है—किसी पात्र के प्रति गोपनीय समझकर, उससे अलग हटकर, उसकी ओर पीठ करके, एक पात्र दूसरे पात्र से किसी रहस्य का प्रकाशन करता है, वहाँ 'अपवार्य' या 'अपवारित' का प्रयोग होता है ।

नियतश्राव्य का ही एक भेद 'आकाशभाषित' भी समझा जाता है । इसमें एक पात्र आकाश की ओर मुँह करके स्वयं प्रश्नोत्तर करता है ।

नाटक का उद्भव और विकास

(अ) पाश्चात्यमत और उसका खण्डन—

(१) डॉ० रिजवे का कथन है कि भारत में नाटकों की उत्पत्ति 'वीरपूजा' से हुई । 'रामलीला' और 'कृष्णलीला' वीरपूजावाद के ही परिणाम हैं । ग्रीक देश में नाटकों की

उत्पत्ति अपने दिवङ्गत पुरुषों के प्रति किये जाने वाले सम्मान के परिणाम स्वरूप ही हुई है; भारत के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए। डॉ० रिजवे के इस मत को भारतीय ही नहीं, अपितु बहुत से योरोपीय विद्वान् भी बिल्कुल आदर नहीं देते हैं।

(२) भारतीय नाटकों में 'सूत्रधार' शब्द का प्रयोग देखकर उसका अर्थ 'डोरी पकड़कर पुतली नचाने वाला व्यक्ति' समझते हुए डॉ० पिशेल नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका-नृत्य से मान बैठे, जब कि सूत्रधार की परिभाषा हमारे नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि के शब्दों में इस प्रकार है—

'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते॥'

अतः उक्त जर्मन विद्वान् का मत अमान्य होने के साथ-साथ इतना तो अवश्य साररूप में व्यक्त करता है कि पुत्तलिकानृत्य सर्वप्रथम इसी (भारत) देश में ही आविर्भूत हुआ और यहाँ से अन्य देशों में फैला।

(३) भारत में वर्षा के अन्त में इन्द्र की वृत्र (मेघ) पर विजय के उपलक्ष्य में मनाया जाने वाला एक प्राचीन उत्सव 'इन्द्रमहोत्सव' नाटकों में वर्णित है। कालिदास ने रघुवंश में भी इसी उत्सव का उल्लेख किया है। इसमें इन्द्र के प्रसादनार्थ इन्द्र को ध्वजा चढ़ाई जाती थी। अतः इसे 'इन्द्रध्वज' भी कहते हैं। इस महोत्सव का सम्बन्ध कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अपने यहाँ के मेपोल (Maypole) नृत्य से जोड़ दिया जो उनके यहाँ मैदान में एक लम्बा बाँस गाड़कर उसके चारों ओर किया जाता है। इस प्रकार नाटक की उत्पत्ति उस मेपोल नृत्य से वे लोग मान बैठे। यह मत भी अत्यन्त खोखला अतएव अमान्य है। मेपोल नृत्य मई (वसन्त) में मनाया जाता है। वसन्त में उत्सव मनाना स्वाभाविक ही है। हमारा इन्द्रध्वजमहोत्सव वर्षा के अन्त में होता है। अतः दोनों में काल-भेद होने से कोई सम्बन्ध नहीं बनता है।

(४) डॉ० कीथ की मान्यता है कि प्राकृतिक परिवर्तनों को सर्वसाधारण के सामने मूर्तरूप से दिखलाने की अभिलाषा ने ही नाटकों को जन्म दिया। भाष्य में उल्लिखित कंस-वध नाटक से भी इस मत की पुष्टि होती है। कंस और उसके अनुयायी अपना मुँह काला रखते थे और कृष्ण तथा उनके अनुयायी अपना मुँह लाल रखते थे। डॉ० कीथ की दृष्टि में वसन्त ऋतु की हेमन्त ऋतु पर विजय दिखलाना ही इस नाटक का मुख उद्देश्य है। यह मत भी कोई दृढ़ आधार न रखने के कारण निःसार अतएव अमान्य ही है।

(५) डॉ० पिशेल, डॉ० ल्यूडर्स और डॉ० कानो आदि कुछ विद्वान् नाटकों की उत्पत्ति छाया नाटकों से मानते हैं। इस मत की हेयता स्पष्ट जाहिर है। इस मत को मानना उन छाया नाटकों से पहले ही नाटकों की सत्ता स्वीकार करना है। अतः नाटकों से छाया नाटक की उत्पत्ति तो संभव है, किन्तु छाया नाटकों से नाटकों की नहीं। दूताङ्गद नामक छाया नाटक संस्कृत में अवश्य है, किन्तु वह अधिक प्राचीन नहीं है और न अधिक प्रसिद्ध ही है।

(६) संस्कृत नाटकों में संस्कृत के साथ प्राकृत का प्रयोग, गद्य-पद्य का मिश्रण, रङ्गशालाओं की सादगी, विदूषक जैसे लोकप्रिय पात्र की योजना आदि को देखकर प्रो० हिलब्रेण्ट तथा स्टेनकोनो का मत है कि नाटक की उत्पत्ति स्वांग से हुई है। परन्तु

नाटकों से पहिले स्वांगों की स्थिति में पुष्ट प्रमाणों की उपलब्धि न होने से यह मत भी निराधार अतएव अमान्य है।

(७) कुछ विद्वान् संस्कृत की 'यवनिका' का सम्बन्ध 'यवन' (यूनान) से जोड़कर भारतीय नाटकों की उत्पत्ति यूनान से मानते हैं। परन्तु यह मत भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि 'यवनिका' मूल शब्द न होकर 'जवनिका' है। 'जव' का अर्थ है 'त्वरा' या तेजी। जो तेजी से गिराया जाय, अर्थात् जवनिका उस बड़े परदे को कहते हैं, जो नाटक के किसी एक अंक या दृश्य की समाप्ति पर गिरा दिया जाता है। किसी भी संस्कृत नाटक में परदे के अर्थ में यवनिका शब्द प्रयुक्त नहीं देखा जाता है, वह तो जवनिका शब्द है जो परदे के अर्थ में प्रयुक्त है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार तो 'यवनिका' का अर्थ होता है यवन स्त्री, न कि परदा। यूनानी नाटकों में 'यवनिका' (ड्रॉप सीन) होती ही नहीं। इसलिए शब्दों को खींच-तानकर किसी पर किसी के प्रभाव को थोपने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। हमारे संस्कृत नाटक अपनी विशेषताओं के आधार पर भी यूनानी नाटकों से सर्वथा भिन्न हैं।

संस्कृत नाटकों की विशेषताएँ—(१) यूनानी नाटकों की तरह देश-काल की एकता संस्कृत नाटकों में आवश्यक नहीं है। बहुकालव्यापिनी तथा अनेक स्थानों पर घटित होने वाली घटना भी संस्कृत नाटकों में हो सकती है। जैसे—उत्तररामचरित में बारह वर्षों से भी अधिक काल की घटना सन्निवेशित है। हाँ, हमारे यहाँ कार्य की अन्विति पर विशेष ध्यान रखा जाता है। अंकों का हमारे यहाँ दृश्यों में विभाजन भी नहीं होता है, केवल अभिनयात्मक संकेत विशिष्ट रूप से मिलते हैं।

(२) यूनानी नाटक सुखान्त और दुःखान्त होते हैं, जब कि हमारे यहाँ संस्कृत नाटक केवल सुखान्त होते हैं।

(३) यूनानी नाटकों में कथावस्तु की यथार्थता और चरित्र-चित्रण पर अधिक जोर दिया जाता है, जब कि संस्कृत नाटकों में रस और प्रकृति-चित्रण की प्रधानता तीसरी विशेषता है। कवि की सफलता रसाभिव्यंजना-शक्ति पर निर्भर होती है। अतः संस्कृत के नाटकों में काव्यात्मकता अधिक होती है।

(४) यूनानी नाटक प्रायः खुले रंग-मंचों पर अभिनीत होते हैं, जब कि संस्कृत नाटकों के लिए हमारे नाट्यशास्त्र में विभिन्न प्रकार के प्रेक्षागृहों (रंगमञ्चों) का विस्तृत विवेचन किया गया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि भारतीय नाट्यकला किसी की नकल न होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई है।

(५) संस्कृत नाटकों के पात्र अपने पद तथा मर्यादा के अनुसार संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा का व्यवहार करते हैं। राजा, ब्राह्मण, शिक्षित और उच्चपदस्थ व्यक्तियों के लिए संस्कृत भाषा के तथा स्त्री, भृत्य, चाण्डाल आदि निम्न पात्रों के लिए प्राकृत भाषा के प्रयोग का विधान किया गया है।

(६) संस्कृत नाटकों में 'विदूषक' की कल्पना अपनी एक मौलिक विशेषता है।

(७) यूनानी नाटकों में प्रायः तीन अङ्क होते हैं, किन्तु संस्कृत नाटकों में पाँच से लेकर दस अङ्क तक होते हैं। परिमाण में यह अधिकता संस्कृत नाटक की सातवीं विशेषता है।

(ब) भारतीय मत (सिद्धान्त मत)

वेदों में ही नाटक के बीज उपलब्ध होते हैं। सभी नाटकीय तत्त्वों को वेद में देखा जा सकता है, जैसे—ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों में यम-यमी-संवाद, उर्वशी-पुरूरवा-संवाद, सरमा-पणी-संवाद, सामवेद में संगीतत्व की सत्ता, यजुर्वेद में धार्मिक कृत्यों के अवसर पर नृत्य-विधान आदि। इससे नाटक तत्त्वों की वेदमूलकता स्पष्टतया सिद्ध होती है।

रामायण और महाभारत में रङ्गशाला, नट, कुशीलव आदि शब्दों के प्रयोग से भारतीय नाट्यकला की प्राचीनता द्योतित होती है।

पाणिनि के 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षु-नट-सूत्रयोः' (४।३।११०) तथा 'कर्मन्द-कृशाश्वादिनिः' (४।३।१११) सूत्र से सिद्ध होता है कि पाणिनि से पहले ही शिलाली और कृशाश्व दो आचार्य हो चुके थे, जिन्होंने नटसूत्र (नाट्यशास्त्र) का प्रवचन किया था अर्थात् भारतीय नाट्यकला पूर्ण विकसित हो चुकी थी।

पतञ्जलि ने महाभाष्य (३।२।१११) में 'कंसवध' और 'बलिबन्ध' नामक दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख किया है।

हरिवंश में भी रामायण की कथा के अभिनय का उल्लेख देखा जाता है।

बुद्धदेव ने अपने अनुशासन में नाट्याभिनय न करने का उपदेश दिया है।

मगधराज बिम्बराज ने नागराज का सम्मान करने के लिए नाटक का अभिनय कराया था, ऐसा इतिहास से ज्ञात होता है।

'नाट्यशास्त्र' में भरतमुनि ने नाटक के आविर्भाव और उसके उद्देश्य के विषय में एक अत्यन्त मनोरञ्जक कथा का उल्लेख किया है। वह इस प्रकार है—वैवस्वत मनु के दूसरे युग (त्रेता) में लोग बहुत दुःखी हुए। इस पर इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने जाकर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिससे सबका मनोरंजन हो सके। इस पर ब्रह्माजी ने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से नाट्य (अभिनय) तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाटक 'पंचमवेद' की रचना की।

इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि संस्कृत नाटक का विकास क्रमशः हुआ। वेदों से, पुराणों से, लोकगीतों से, धार्मिक एवं सामूहिक उत्सवों से उसे सतत प्रेरणा मिलती रही और यह कला अपने चरम विकास पर भारत में तभी पहुँच चुकी थी, जब आज के सभ्य कहलाने वाले देश अन्धकार में ही निमग्न थे।

नाटक का प्रयोजन—नाटक का प्रयोजन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आचार्य भरत ने नाटक को 'सार्ववर्णिक वेद' कहा है। वेद में स्त्री और शूद्रों का अधिकार नहीं है, किन्तु नाटक में सबका अधिकार है। कवि कालिदास ने विभिन्न रुचि वाले मनुष्यों के लिए नाटक को मनोरञ्जन का सर्वश्रेष्ठ साधन कहा है। आचार्य भरत ने नाटक का उद्देश्य बतलाते हुए कहा है—नाटक उत्तम, मध्यम और अधम पात्रों के कर्म का प्रदर्शन कर अत्यन्त प्रभावपूर्ण हितोपदेश करता है। नाटक मनुष्यों में धैर्य, क्रीडा और सुख आदि को उत्पन्न करता है। दुःखार्त, समर्थ, शोकार्त, तपस्वी आदि सभी जनों के लिए नाटक उचित अवसर पर विश्रामजनक (मनोरञ्जन का हेतु) होता है। (नाट्यशास्त्र, १।११४-११५)

अग्निपुराण का वचन है—नाट्य (नाटक) एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। 'त्रिवर्ग साधनं नाट्यम्…………'। (अग्निपुराण, ३३८।७)

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि नाटक जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

साहित्य में नाटक का स्थान—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य में नाटक का स्थान अत्यन्त मनोरञ्जक एवं नितान्त जीवनोपयोगी है। अतः यह उक्ति अक्षरशः सत्य है—'काव्येषु नाटकं रम्यम्' तथा 'नाटकान्तं कवित्वम्'। अर्थात् काव्यों में नाटक मनोहर होता है और नाटक काव्य के उत्कर्ष की चरम सीमा है। यों तो कुशल साहित्यकार किसी भी क्षेत्र में अपनी असाधारण कला का सफलता के साथ प्रदर्शन कर सकता है और उसकी कृति सदैव के लिए अमर हो जाती है, फिर भी अन्य काव्य श्रव्य होने के कारण उतने हृदयावर्जक नहीं होते और न उनका प्रभाव ही उतना स्थायी रह सकता है। इसके विपरीत नाटक के दृश्य-प्रधान होने के कारण वह अतिशय रमणीय तो होता ही है, उसका प्रभाव भी चिरस्थायी होता है। इस प्रकार कवि अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल होता है। महाकवि कालिदास की विश्वविश्रुतता में उनके 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक का ही अपेक्षाकृत अधिक हाथ है तथा महाकवि भवभूति को उनके अपने 'उत्तररामचरित' नाटक ने ही विश्व में अमरता प्रदान की है। इस प्रकार साहित्य में नाटक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

महाकवि भवभूति

'उत्तररामचरित' जैसे महत्त्वपूर्ण नाटक के इस रचयिता के नाम के सम्बन्ध में इनके द्वारा लिखी गयी नाटक-पुष्पिकाओं के अतिरिक्त कोई अन्य दृढ़तर प्रमाण न होने से विद्वानों में मतभेद है। भवभूति ने अपने नाटकों की प्रस्तावना में 'श्रीकण्ठपदलाञ्छनः··· भवभूतिर्नाम' इस प्रकार अपने नाम का परिचय दिया है। इससे स्पष्ट है कि कवि का वास्तविक नाम 'भवभूति' था और 'श्रीकण्ठ' इस उपाधि से वे बाद में अलंकृत किये गये।[1]

'भवभूतिर्नाम' इसमें नाम शब्द प्रसिद्धिद्योतक अव्यय है, इसलिए अधिकतर टीकाकारों ने 'भवभूति' प्रचलित नाम तथा 'श्रीकण्ठ' पैतृक नाम माना है। जैसे—'श्रीकण्ठं इति······पैतृकं नामधेयमिदम्। भवभूतिरिति प्रसिद्धनामवान्।' (वीरराघव)। इन टीकाकारों ने इस विषय में अपने मत की पुष्टि के लिए अनेक हेतु भी कल्पित कर लिये हैं, जैसे—१. 'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः' इत्यादि कविरचित श्लोक से प्रसन्न होकर किसी राजा ने इन्हें 'भवभूति' इस उपाधि से सम्मानित किया। २. गिरिजा की स्तुति में कवि द्वारा रचे गये 'गिरिजायाः कुचौ वन्दे भवभूतिसिताननौ' इस श्लोक के कारण 'भवभूति' नाम से कवि प्रसिद्ध हो गया। वीरराघव तथा घनश्याम ने तो इस शब्द की व्युत्पत्ति की आधारशिला पर एक नयी कल्पना का भी प्रतिष्ठापन किया है—'अस्मै कवये ईश्वर एव भिक्षुरूपेणागत्य भूतिं दत्तवानिति वदन्ति। एवं च भवाद्भगवतो भूतिर्यस्येति भवभूतिरित्यन्वर्थं इत्याहुः।' (वीरराघव)। 'भूतिः सम्पत् यस्य ईश्वरेणैव जातु द्विजरूपेण······दत्ता तदाप्रभृति भवभूतिरिति प्रसिद्धो जातः।' (घनश्याम)। अर्थात् भव (शिव) ने भिक्षुक रूप में आकर इन्हें भूति (सम्पत्ति) प्रदान की, अतः इनका नाम भवभूति पड़ गया। कुछ लोग इनके पिता 'नीलकण्ठ' के नाम के अनुकरण पर इनका वास्तविक नाम 'श्रीकण्ठ' था और 'भवभूति' उपनाम था—ऐसा भी कहते हैं, किन्तु यह

१. 'लोकातिगकविशक्तिदर्शनाद् वाग्देवी नित्यकालमस्य कण्ठे वसतीति मत्वा तदानींतनैः भवभूतेः श्रीकण्ठ इति विशेषणं परिकल्पितम्। (काणे द्वारा उद्धृत)।

युक्ति सर्वथा मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि इनके वंश में अनुप्रासात्मक नामकरण की परिपाटी सिद्ध नहीं होती। इनके पितामह का नाम भट्टगोपाल था, किन्तु इससे मिलता-जुलता इनके पिता का नाम (नीलकण्ठ) नहीं है। उपर्युक्त अन्य युक्तियाँ भी इसलिए मान्य नहीं हो सकती हैं, क्योंकि 'श्रीकण्ठपदलाञ्छनः'—इसमें 'श्रीकण्ठपदमेव लाञ्छनं (लाछि लक्षणे धातु) लक्षणं यस्य सः' इस विग्रह से 'श्रीकण्ठ' यह लक्षण ही प्रतीत होता है। अतएव कवि का नाम 'भवभूति' ही है और 'श्रीकण्ठ' इनका लक्षण (विशेषण) है। हाँ, 'भवभूति' नाम इनके माता-पिता ने संभवतः इसलिए रखा होगा कि उन्हें भव (शंकर) की कृपा के परिणामस्वरूप ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई होगी—ऐसी संभावना करना किसी हद तक ठीक कहा जा सकता है।

वंश—इनके नाटकों की प्रस्तावना के आधार पर ही यह भी ज्ञात है कि दक्षिण में विदर्भ (बरार) के अन्तर्गत पद्मपुर नगर में कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयशाखा वाले, काश्यप-गोत्रीय पङ्क्तिपावन, पञ्चाग्निपूजक और उदुम्बर उपाधि वाले ब्राह्मण लोग रहते थे। उन्हीं के कुल में कोई वाजपेय यज्ञ करनेवाले 'महाकवि' हुए। उन्हीं की वंश-परम्परा में पाँचवीं पीढ़ी में भवभूति का जन्म हुआ। भवभूति के पितामह का नाम भट्टगोपाल, पिता का नाम नीलकण्ठ तथा माता का नाम जतुकर्णी (अथवा जातुकर्णी) था।[1] इनके गुरु का नाम ज्ञाननिधि था।[2]

निवास-स्थान—टीकाकार घनश्याम ने भवभूति के द्वारा प्रयुक्त अनेक द्राविड़ प्रयोगों के आधार पर भवभूति का जन्म-स्थान द्राविड़ देश में माना है। मालतीमाधव के कुछ पाठों में तथा भण्डारकर द्वारा सम्पादित पाठ में 'दक्षिणापथे विदर्भेषु पद्मपुरं नाम नगरम्'—ऐसा उल्लेख है। अतः डॉ० मिराशी का मत है कि विदर्भ देश के अन्तर्गत पद्मपुर नगर में भवभूति का जन्म हुआ था। एम० जी० लेले, जगद्धर के अनुसार पद्मपुर और पद्मावती को एक मानकर ग्वालियर राज्य के अन्तर्गत नरवाड़ से उत्तर-पूर्व एक गाँव 'पवाया' या 'पोलावाया' को भवभूति का जन्मस्थान मानते हैं। बहुत से आधुनिक विद्वानों का कहना है कि भवभूति ने अपनी रचनाओं में गोदावरी तथा विन्ध्याचल का हृदयग्राही वर्णन किया है, इसलिए बहुत संभव है कि इन्हीं दोनों के आस-पास इनका जन्मस्थान रहा हो। इस प्रकार भवभूति का जन्मस्थान आज भी अनिर्णीत ही है।

भवभूति का समय—उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क के सत्ताइसवें श्लोक का चतुर्थ चरण है—'अविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्।' इसके सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि भवभूति ने पहले इसका पाठ '···रात्रिरेवं व्यरंसीत्'—ऐसा रखा था, बाद में कालिदास को यह पद्य दिखलाये जाने पर भवभूति ने कालिदास के सुझाव पर उसके स्थान में 'रात्रिरेव व्यरंसीत्' ऐसा संशोधन कर दिया। इस किंवदन्ती से ऐसा मालूम होता है कि भवभूति कालिदास के समय में ही हुए थे, किन्तु इस तथ्य की पुष्टि इतिहास से नहीं होती है। अतः इसे वस्तुतः किंवदन्ती ही मानना चाहिए।

इसी प्रकार बल्लाल ने अपने 'भोजप्रबन्ध' में धारानगरी के महाराज भोज के दरबार

---

१. (महावीरचरित, प्रस्तावना)। 'मालतीमाधव' के अनुसार पद्मपुर नगर विदर्भ में था।

२. 'महावीरचरित' १.५ तथा 'मालतीमाधव' १.९।

में कालिदास, भवभूति, बाण और मयूर आदि कवियों को एक साथ लाकर बिठा दिया है। इतना ही नहीं, उन्होंने एक कथा भी गढ़ कर इस प्रकार लिखी है—राजाभोज द्वारा दिये गये विषय पर कालिदास और भवभूति दोनों ने अपनी-अपनी काव्य-रचना की। उनके काव्यों की परीक्षा भगवती भुवनेश्वरी के मन्दिर में की गयी। कालिदास की रचना उत्कृष्टतर सिद्ध होने को ही थी कि भगवती भुवनेश्वरी ने अपनी कृपा से भवभूति की रचना को ही उत्कृष्टतर प्रमाणित कर दिया। इस आधार पर भी भवभूति और कालिदास को समकालीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु भोज-प्रबन्ध में विभिन्न काल के कवियों का जमघट तथा उनसे सम्बन्धित कथाएँ सभी कुछ इतिहास से मेल न खाने के कारण कदापि मान्य नहीं हैं। 'भोज-प्रबन्ध' एक मनोरञ्जक ग्रन्थ हो सकता है, ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं।

बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित में अनेक पूर्ववर्त्ती कवियों यथा—भास, कालिदास, भट्टारहरिचन्द्र आदि का स्मरण किया है, किन्तु भवभूति की चर्चा नहीं की है। अतः स्पष्ट है कि बाणभट्ट के बाद ही भवभूति हुए। बाण की शैली से भवभूति की रचनाएँ प्रभावित भी हैं। बाणभट्ट का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। अतः भवभूति को इसके बाद होना चाहिए। यह भवभूति के समय की पूर्वसीमा है।

(क) आचार्य मम्मट (११०० ई०), महिमभट्ट (११०० ई०) तथा आचार्य क्षेमेन्द्र (११०० ई०) ने अपने-अपने ग्रन्थ क्रमशः काव्यप्रकाश, व्यक्तिविवेक तथा औचित्य-विचारचर्चा में भवभूति के अनेक उद्धरण दिये हैं। अतः भवभूति को ११०० ई० के पूर्व होना चाहिए।

(ख) धनञ्जय (९९५ ई०) ने दशरूपक में उत्तररामचरित के अनेकानेक उद्धरण दिये हैं। अतः भवभूति को ९९५ ई० के पूर्व होना चाहिए।

(ग) राजशेखर ने बालरामायण में अपने को भवभूति का अवतार माना है। (द्रष्टव्य, बालरामायण, १।१६)। राजशेखर का स्थितिकाल ९०० ई० है। अतः भवभूति को इससे पूर्व होना चाहिए।

(घ) वामन ने 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' ग्रन्थ में भवभूति के 'इयं गेहे लक्ष्मीः—' इत्यादि पद्य (उत्तर० १।३८) को उद्धृत किया है। वामन का समय ८०० ई० माना जाता है। अतः भवभूति को ८०० ई० के पूर्व होना चाहिए।

कल्हण की राजतरङ्गिणी के अनुसार भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित कवि थे तथा 'गउडवहो' प्राकृत काव्य के रचयिता वाक्पतिराज भी इन्हीं यशोवर्मा के आश्रित थे (राजत० ४।१४४)। यशोवर्मा को काश्मीर के राजा ललितादित्य ने परास्त किया था। ललितादित्य का समय कनिंघम के अनुसार ६९३ ई० ७२९ ई० तक है।

वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' (७९९ संख्यक पद्य) में भवभूति की प्रशंसा की है और उस सूर्यग्रहण का निर्देश भी किया है, जिसका समय जैकोबी के अनुसार १४ अगस्त ७३३ ई० है। अतः वाक्पतिराज का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है और भवभूति उनसे कुछ पूर्व अर्थात् सातवीं शताब्दी के अन्त में हुए होंगे अथवा यह भी सम्भव है कि जिस समय भवभूति अपनी प्रतिष्ठा के चरम उत्कर्ष पर रहे हों, उस समय तक वाक्पतिराज कवि के रूप में प्रसिद्धि न पा सके हों। इस प्रकार भवभूति के स्थितिकाल की उत्तरसीमा सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या आठवीं शताब्दी

का पूर्वार्द्ध निश्चित है। अतः भवभूति का स्थितिकाल बाणभट्ट (सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) के बाद से लेकर आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच सुनिश्चित है।

भवभूति और मीमांसक उम्बेक की अभिन्नता

कुछ दिन पूर्व श्रीशङ्कर पाण्डुरंग को 'मालतीमाधव' की एक हस्तलिपि प्राप्त हुई थी, जिसके तृतीय अङ्क की पुष्पिका में लिपिकार ने उसके रचयिता के विषय में 'इति श्रीभट्ट-कुमारिलशिष्यकृते मालतीमाधवे तृतीयोऽङ्कः' और षष्ठ अङ्क की पुष्पिका में 'इति श्रीकुमारिलस्वामिप्रसादप्राप्तवाग्वैभव-श्रीमदुम्बेकाचार्यविरचिते मालतीमाधवे षष्ठोऽङ्कः'— ऐसा लिखा है। इससे यह समस्या खड़ी हो जाती है कि क्या भवभूति और उम्बेक एक ही थे ? उम्बेकाचार्य मीमांसा के बहुत बड़े विद्वान् थे और उन्होंने कुमारिल के 'श्लोक-वार्तिक' पर टीका लिखी है। उस टीका को उन्होंने 'ये नाम केचिदिह······' से प्रारम्भ किया है, जो मालतीमाधव में भी है। इससे भवभूति और उम्बेक की अभिन्नता की पुष्टि होती है।

प्रत्यग्रूप भगवान् (१३००–१४०० ई०) ने चित्सुखाचार्य की तत्त्वदीपिका की नयन-प्रसादिनी टीका में उम्बेक का कई बार उल्लेख किया है और उनको भवभूति से अभिन्न बतलाया है।

श्रीहर्ष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'खण्डनखण्डखाद्य' पर आनन्दपूर्ण ने 'विद्यासागरी' नामक टीका लिखी है, उसमें 'श्लोकवार्तिक' से दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं। टीकाकार ने बतलाया है कि उवैक (उम्बेक) ने इन श्लोकों की टीका की है।

हरिभद्र सूरि के 'षड्दर्शन-समुच्चय' की टीका में गुणरत्न नामक जैन लेखक (१४०९ ई०) ने उम्बेक को कारिका (अर्थात् श्लोकवार्तिक) का अच्छा ज्ञाता बतलाया है ('उम्बेकः कारिकां वेत्ति······')।

इस विवेचन से सिद्ध होता है कि भवभूति का ही दूसरा नाम उम्बेक था। साहित्य में वे 'भवभूति' नाम से और मीमांसा में 'उम्बेक' नाम से प्रसिद्ध हुए।

'श्रेष्ठः परमहंसानां महर्षीणामिवाऽङ्गिराः।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः॥'

इस गुरु-परिचय विषयक श्लोक के आधार पर कुछ लोग भवभूति और उम्बेकाचार्य की अभिन्नता स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भवभूति ने अपने गुरु का नाम स्पष्ट रूप से इस श्लोक में 'ज्ञाननिधि' बतलाया है, किन्तु बहुत सम्भव है कि उक्त श्लोक में कुमारिलभट्ट का नामान्तर अथवा उपाधि 'ज्ञाननिधि' हो। 'परमहंसानां श्रेष्ठः' इस विशेषण से ज्ञाननिधि उत्तरमीमांसा के आचार्य सिद्ध होते हैं। जब कि कुमारिलभट्ट पूर्वमीमांसा के आचार्य थे। अतः ज्ञाननिधि और कुमारिलभट्ट की अभिन्नता नहीं बनती है—इसका समाधान यह है कि कुमारिलभट्ट उत्तरमीमांसा के भी विद्वान् थे, जिसकी पुष्टि श्लोकवार्तिकस्थ उन्हीं की इस उक्ति से होती है—

'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥'

(वेदान्त—उत्तरमीमांसा)

अथवा भवभूति उम्बेक के उत्तरमीमांसा के गुरु ज्ञाननिधि रहे होंगे और पूर्वमीमांसा के गुरु कुमारिलभट्ट। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के अध्ययन के लिए भिन्न-भिन्न गुरु करना कुछ अयुक्त तो है नहीं—'नैकः सर्वं विजानाति'। उत्तररामचरित में 'पदवाक्यप्रमाणज्ञः' इस विशेषण पद से तथा 'चतुर्थ अङ्क' के दाण्डायन-सौधातकि संवाद में 'समांसो मधुपर्कः' से भी उनके मीमांसाकत्व पर प्रकाश पड़ता है। अतः भवभूति और उम्बेकाचार्य को एक ही व्यक्ति मानना अयुक्त नहीं होगा।

भवभूति की बहुज्ञता—भवभूति को विद्वत्ता अपनी पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। समस्त शास्त्रों में उनकी समान अप्रतिहत गति थी। वाणी तो इन्हें ब्रह्मा के रूप में ही मानकर वशवर्तिनी होकर इनका अनुसरण करती थी। यों तो अपने को वे 'पदवाक्यप्रमाणज्ञः' (व्याकरण-मीमांसा-न्यायशास्त्रवेत्ता) विशेषण से अपनी सीमित विद्वत्ता का परिचय देते हैं, किन्तु उनकी कृतियों के अनेक पद्यों से यह पता चलता है कि वेद, उपनिषद्, वेदान्त, व्याकरण, योग, सांख्य, तन्त्र, जातक, धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा, राजनीति, कामसूत्र, नाट्यशास्त्र आदि पर उनका पूर्ण अधिकार था। जैसे—उत्तर० २।१२, ४।१८ से वेद-विषयक, महा० १।१, उत्तर० २।३, २। 'पन्थानो देवयानाः', ४। 'असुर्या नाम ते लोकाः' आदि से उपनिषद्विषयक, उत्तर० ३।४ के 'विवर्त', ६।६ आदि से वेदान्त-विषयक, महा० तृ० अं०, मा० मा० ५वें अङ्क से योग-विषयक, मा० मा० 'अतिबोधिसत्त्वैः' से जातक-विषयक, उत्तर० अंक ५ में 'प्रचीयमानसत्त्वप्रकाशः' से सांख्य विषयक, उत्तर० चौथे अंक के विष्कम्भक से धर्मशास्त्र-विषयक, 'निगृहीतोऽसि' इत्यादि प्रयोगों से न्याय-विषयक, मा० मा० १।६ तथा सप्तम अंक गत एक उद्धरण से कामसूत्र विषयक, महा० अंक ४ के अनेक स्थलों से तथा मा० मा० के 'कामन्दकी' नामकरण से राजनीति-विषयक, उत्तर० प्रथम अंक में 'अर्थवाद' के प्रयोग से मीमांसा-विषयक, उत्तर० में भरत के लिए 'तौर्यत्रिकसूत्रधार' के प्रयोग से तथा मा० मा० १।६ से नाट्यशास्त्र-विषयक उनकी ज्ञानराशि का सम्यक् परिचय प्राप्त होता है।

भवभूति की रचनाएँ और उनका संक्षिप्त परिचय—भवभूति की तीन प्रसिद्ध रचनाएँ इस समय उपलब्ध हैं—१. मालतीमाधव, २. महावीरचरित (अथवा वीरचरित) ३. उत्तररामचरित। ये तीनों कृतियाँ नाटक हैं। इन रचनाओं के पौर्वापर्य-क्रम के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ लोग यह निर्णय देते हैं कि इनका रचना-क्रम इस प्रकार है—महावीरचरित, मालतीमाधव तदनन्तर उत्तररामचरित। उनकी दृष्टि में ऐसा क्रम निर्धारित करने में मालतीमाधव का यह श्लोक रहा है—'ये नाम केचिदिह प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः। उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' ॥ (१।६)। उनका तर्क है कि उत्तररामचरित अपने में एक अत्यन्त प्रौढ़ रचना है। कवि की यह अन्तिम रचना है, इसमें किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है। मालतीमाधव में उक्त श्लोक के द्वारा कवि ने अपने आलोचकों के प्रति जो आक्रोश व्यक्त किया है, उससे प्रतीत होता है कि 'महावीरचरित' की रचना प्रथम हुई। आलोचकों द्वारा उसकी अवज्ञा होने पर कवि ने मालतीमाधव की रचना की और उसके उक्त श्लोक में कवि का अवज्ञाजनित आक्रोश फूट पड़ा है। इससे मेरी मन्द बुद्धि में यह बात आती है कि इन तीनों रचनाओं का क्रम इस प्रकार है—मालतीमाधव, महावीरचरित और अन्त में उत्तररामचरित। मालतीमाधव में कवि द्वारा व्यक्त अवज्ञाजनित

आक्रोश के मूल में कवि की उन रचनाओं की अवज्ञा है, जो मालतीमाधव के पूर्व की गयी थीं और जो तत्कालीन आलोचकों की अवज्ञा से प्रचार-प्रसार न पाकर कुछ समय में अपनी सत्ता खो बैठीं, जिनका कुछ अवशेष जल्हण की सूक्तिमुक्तावली तथा अन्य सूक्ति-ग्रन्थों में यत्र-तत्र विकीर्ण मिलता है। राम के पूर्वचरित रूप महावीरचरित और उत्तररामचरित की रचना में अधिक समय का व्यवधान ठीक नहीं लगता। यह भी ऊटपटाँग-सा लगता है कि एक बार रामचरित की ओर उन्मुख होकर कवि 'महावीरचरित' की रचना करे, फिर उससे मुँह मोड़कर मालतीमाधव जैसी रचना में प्रवृत्त हो और पुनः उधर से मुड़कर रामचरित (उत्तर) की ओर प्रवृत्त हो। तत्कालीन आलोचकों द्वारा 'महावीरचरित' की अवज्ञा हुई, यह बात भी विश्वनीय नहीं लगती, क्योंकि तब तो इस अवज्ञेय ग्रन्थ को परवर्त्ती लक्षणग्रन्थकारों—आचार्य विश्वनाथ, महाराज भोज आदि द्वारा सम्मान मिलना सन्दिग्ध हो जाता है, जब कि उनके ग्रन्थों में 'महावीरचरित' के उद्धरण आदरपूर्वक स्वीकार किये गये हैं। तथाकथित आलोचकों द्वारा अवज्ञात होने पर तो प्रचार-प्रसार के अभाव में इसका लुप्त-प्राय हो जाना स्वाभाविक होता। वस्तुतः मालतीमाधव, महावीरचरित और उत्तररामचरित ये तीनों कवि के वह ग्रन्थरत्न हैं जिनकी आभा सतत समान रूप से देदीप्यमान रही है।

(१) **मालतीमाधव**—यह दस अङ्कों का प्रकरण है। इसमें विदर्भ के राजमन्त्री देवरात के पुत्र माधव और पद्मावती के राजमन्त्री भूरिवसु की कन्या मालती का विवाह अत्यन्त कौतूहलवर्द्धक और मनोरञ्जक ढंग से वर्णित है। सम्पूर्ण कथा काल्पनिक है, जो प्रकरण के लिए आवश्यक है। इसमें शृङ्गार प्रधान रस है, जो साहित्यशास्त्र के अनुसार प्रायः प्रकरण के लिए आवश्यक माना जाता है। इस प्रकरण में स्थान-स्थान पर भवभूति का हृदयावर्जक वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। बृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर में तीन ऐसी कहानियाँ मिलती हैं, जिनमें प्रेमी और प्रेमिका का चुपके-से भाग निकलना, छुक-छिपकर विवाह करना, प्रेमिका का सङ्कट में पड़ जाना तथा उसका कौतूहलपूर्ण ढंग से उद्धार होना आदि वर्णित है। मालतीमाधव की कथा को देखते हुए ऐसा लगता है कि भवभूति को उन्हीं तीनों कहानियों से अवश्य प्रेरणा मिली होगी।

(२) **महावीरचरित**—यह सात अङ्कों का नाटक है। इसमें रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक तक की घटनाओं अर्थात् राम के जीवन के पूर्वार्द्ध का वर्णन है। इस नाटक के नायक रामचन्द्र हैं। नायक की मर्यादा को ध्यान में रखकर कवि ने कथानक में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया है, जिससे नाटकीय स्वाभाविकता भी स्वयम् आ गयी है। प्रतिनायक रावण का राम के साथ संघर्ष सीता-विवाह के समय से ही प्रारम्भ हो जाता है। परशुराम गुरु शिव के अपमान से क्रुद्ध होकर नहीं, रावण के द्वारा भड़काकर भेजे जाते हैं। कैकेयी की दासी मन्थरा और कोई नहीं है, वह शूर्पणखा है, जो रावण के द्वारा मन्थरा-वेश में भेजी गयी है और कैकेयी द्वारा राम को वन भिजवाकर वह अपने षडयन्त्र में सफल हो जाती है। राम के वनवास काल में माल्यवान् सीता-हरण कराता है, वही बाली को भी भड़काता है। बाली स्वयं राम से लड़ने आता है और मारा जाता है। (बालि-वध की कथा में ऐसा परिवर्तन नायक की मर्यादा बचा लेता है, अन्यथा धीरोदात्त प्रकृति के राम, धीरोद्धत प्रकृति के नायक की तरह छल से बाली को मारें, यह 'प्रकृति विपर्यय' रस दोष आये बिना न रहता)। परवर्ती लक्षणग्रन्थकारों ने उदाहरणों के

रूप में इस नाटक के उदाहरणों को अपने-अपने ग्रन्थों में स्थान देकर इसका गौरव स्वीकार किया है।

(३) **उत्तररामचरित**—भवभूति का यह सात अङ्कों का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसमें रामचन्द्र जी का लोकोत्तर उत्तरचरित्र का वर्णन है। इसे महावीरचरित का उत्तर भाग कहा जा सकता है। इसमें—

प्रथम अङ्क में 'चित्रदर्शन' की योजना कर कवि ने सीताजी के द्वारा गङ्गा-दर्शन की इच्छा व्यक्त करायी है और इधर दुर्मुख नामक गुप्तचर से प्रजा में फैले हुए लोकापवाद की सूचना राम को मिलती है। प्रजारंजन के लिए सीता-परित्याग का दृढ़ निश्चय कर राम सीता को गङ्गा-दर्शन के व्याज से लक्ष्मण द्वारा वन में भिजवा देते हैं। सीताजी को उस समय अपने निर्वासन का पता नहीं रहता है। सीता-परित्याग की भूमिका कवि ने बड़े कौशल से संयोजित की है।

द्वितीय अङ्क में सीता परित्याग के १२ वर्ष बाद की घटनाएँ चित्रित की गयी हैं। उसमें आत्रेयी नामक तापसी और वासन्ती नामक वनदेवी के संवाद से हमें पता चलता है कि राम अश्वमेधयज्ञ करने जा रहे हैं। महर्षि वाल्मीकि किसी देवता द्वारा सौंपे गये दो कुशाग्रबुद्धि बालकों के लालन-पालन में निरत हैं। इसी अङ्क में राम दण्डकारण्य में आकर शूद्र तपस्वी शम्बूक का वध करते हैं।

तृतीय अङ्क में तमसा और मुरला इन दो नदियों के संवाद से हमें ज्ञात होता है कि मुरला गोदावरी से अगस्त्य-पत्नी लोपामुद्रा का यह सन्देश कहने जा रही है कि सीता-वियोग से अत्यन्त दुर्बल राम अगस्त्याश्रम से लौटकर पञ्चवटी पहुँचने पर पूर्व वृत्तान्तों की स्मृति से विह्वल हो उठेंगे, अतः गोदावरी उनका सार-संभाल करने में सतर्क रहे। वहीं तमसा के मुख से यह भी ज्ञात होता है कि वाल्मीकि के आश्रम के पास जब लक्ष्मण सीता को छोड़कर चले गये और सीता को प्रसव-वेदना हुई, तब वे गङ्गा में कूद पड़ीं। जल में ही उन्हें दो पुत्र हुए, जिन्हें पृथ्वी और गंगा ने संभाला। सीता पाताल चली गयीं और दूध छूटने पर दोनों बच्चों को गंगा ने वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचा दिया। उधर सरयू के मुख से राम के पञ्चवटी में आने की संभावना सुनकर गंगाजी भी सीता को साथ लेकर गोदावरी के पास पहुँच गयीं। गंगा ने कुश और लव की बारहवीं वर्षगाँठ मनाने के बहाने सीता को अदृश्य बनाकर तमसा के साथ राम की रक्षा के लिए ही पञ्चवटी भेज दिया। राम भी अगस्त्याश्रम से लौटकर पञ्चवटी में पहुँचे और सीता-सहवास-कालीन स्थानों को देखकर विरह-सन्तप्त हो मूर्च्छित हो गये। तमसा के कहने पर सीता ने अपने हाथों के स्पर्श से राम को आश्वस्त किया। वासन्ती भी राम से मिली और उसने सीता-निर्वासन के उपालम्भ से पूर्ण बातें राम से कीं। राम और वासन्ती के संवादों को सुनकर सीता के हृदय से राम के प्रति स्थिर क्षोभ दूर हो गया। राम और सीता दोनों अलग-अलग शोकाभिभूत हो विलाप करने लगे। आश्वस्त होने के बाद राम अश्वमेध का अनुष्ठान करने के लिए अयोध्या चले गये और सीता गंगा के पास लौट गयीं।

चतुर्थ अङ्क में जनक, कौसल्यादि रानियाँ, अरुन्धती, वसिष्ठ आदि का आगमन वाल्मीकि आश्रम में होता है। वहीं वे सभी बालक लव को देखते हैं। सीता-पुत्र होने की संभावना से राजा जनक ने अपने सन्देह को निश्चयात्मक करने के उद्देश्य से उससे तरह-तरह की बातें कीं, किन्तु लव की बातों से वे अपने उद्देश्य में सफल न हो सके। इतने में

अश्वमेधयज्ञ के घोड़े को देखकर आश्रम के बटुकों को बड़ा कौतूहल हुआ। कुछ बटुक घोड़े को देखने के लिए लव को भी खींच ले गये। लव ने घोड़े को बटुकों के द्वारा पकड़वा लिया। रक्षकों के विरोध करने पर लव युद्ध के लिए उद्यत हो गया।

पञ्चम अङ्क में यज्ञाश्व के रक्षक लक्ष्मण-पुत्र चन्द्रकेतु से लव का वाद-विवाद होता है और वे परस्पर युद्ध के लिए उद्यत हो जाते हैं।

षष्ठ अङ्क में विद्याधर-दम्पति के मुख से हमें लव और चन्द्रकेतु के युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है। शम्बूक को मारकर उसी युद्धस्थल में राम के आने से युद्ध रुक जाता है। कुश भी उसी समय युद्ध की सूचना पाकर वहाँ आ जाता है। कुश और लव को देखकर सीता-पुत्र की सम्भावना से राम के हृदय में उनके प्रति वात्सल्य उमड़ पड़ता है, किन्तु कुश और लव की तटस्थ बातचीत से वे इस निर्णय पर नहीं पहुँच पाते हैं कि ये उन्हीं की सन्तान हैं।

सप्तम अङ्क में गर्भनाटक की योजना की गयी है। उसका अभिनय देखने के लिए समस्त प्रजा, देव, असुर, पशु-पक्षी, नाग, सभी स्थावर-जङ्गम प्राणी तथा राम-लक्ष्मण भी उपस्थित थे। इसमें कुश और लव की उत्पत्ति, सीता का पाताल-प्रवेश, कुश और लव को गङ्गा द्वारा वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचाना आदि सभी कुछ दिखलाया गया है। सीता के पाताल-गमन से राम मूच्छित हो गये। तब मुख्य नाटक में गङ्गा और पृथिवी के साथ सीता जल से निकलकर अपने हाथों के स्पर्श से अरुन्धती के आदेशानुसार राम को आश्वस्त करती हैं। गङ्गा और पृथ्वी द्वारा प्रमाणित किये गये चरित्र वाली सीता की प्रशंसा करती हुई अरुन्धती ने उपस्थित जनता के समक्ष राम से सीता को स्वीकार करने का प्रस्ताव किया। इस प्रकार राम, सीता, कुश एवं लव का समागम हुआ। अतएव यह नाटक सुखान्त सिद्ध होता है।

भवभूति का व्यक्तित्व

यद्यपि नाटककार को अपने नाटक में प्रत्यक्ष रूप से आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं रहती है, तथापि वह किसी न किसी रूप में अपनी कृतियों में अपने गुण, स्वभाव, विचारों तथा सिद्धान्तों को बिना अभिव्यक्त किये नहीं रहता। भवभूति की कृतियों के अध्ययन से उनके भी व्यक्तित्व का आभास हमें सुगमता से हो जाता है।

भवभूति उत्कृष्ट कोटि के विद्वान् थे। इन्हें विद्वत्ता पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई थी। अपनी विद्वत्ता पर इन्हें गर्व[1] भी था, जो भाषा पर इनके पूर्ण अधिकार को देखते हुए स्वाभाविक एवं सात्त्विक प्रतीत होता है। 'मालतीमाधव' के 'ये नाम केचिदिह—' इत्यादि श्लोक से प्रतीत होता है कि इन्हें प्रारम्भिक जीवन में उचित सम्मान नहीं प्राप्त हुआ था। किन्तु 'सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता। यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।' (उत्तर० १.५) के अनुसार कर्त्तव्य-पालन में आस्था रखने वाले महाकवि को 'उत्तररामचरित' की रचना के बाद यशः प्राप्ति के साथ-साथ प्रौढ़ावस्था में कन्नौज के राजा यशोवर्मा का आश्रय भी प्राप्त हो गया था।

कर्मकाण्ड-प्रवीण तथा विश्रुत मीमांसक होते हुए भी भवभूति स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती थे[2]।

---

१. 'यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते।' (उत्तर०, १.२)।

२. उत्तर०, २.३।

इनके नाटकों में विदूषक की योजना न होने से इनके गम्भीर स्वभाव का पता लगता है। बहुत सम्भव है कि साहित्य क्षेत्र में बहुत दिनों तक होने वाली इनकी उपेक्षा ने, अथवा बारम्बार विधुरावस्था के इनके वर्णन से प्रतीयमान असामयिक वैधुर्य भाव ने ही इन्हें गम्भीर बना दिया हो। इनकी यह गम्भीरता हास-परिहास को भी गम्भीर बनाकर ही प्रस्तुत करती है। चित्रवीथी में लक्ष्मण द्वारा चित्रों को दिखलाते समय ऊर्मिला को छोड़कर आगे बढ़ने पर सीता की—'वत्स! इयमप्यपरा का' इस उक्ति से लक्ष्मण लजा जाते हैं। यह परिहास अत्यन्त शिष्ट और मनोरम होते हुए भी कवि की गम्भीरता के कारण स्मिति तक ही सीमित रह जाता है। प्रस्तुत नाटक के अन्त में सीता को मिलते समय लक्ष्मण प्रणाम करते हुए कहते हैं—'अयं निर्लज्जो लक्ष्मणः प्रणमति'। सीता आशीर्वाद देती हैं—'वत्स! ईदृशस्त्वं चिरजीव।' सीता की यह उक्ति मधुर उपालम्भ के साथ ही विनोद से भी पूर्ण है, किन्तु कवि की गम्भीरता के कारण ही इसमें उच्छृङ्खलता की गन्ध नहीं है। वस्तुतः निर्मल हास का प्रस्तुतीकरण भी गम्भीरता की अपेक्षा रखता है। यही कारण है कि भवभूति हास्य के क्षेत्र में भी अन्य कवियों से अनूठे ही दिखलायी पड़ते हैं। अन्य कवि तो हास्य को उच्छृङ्खल बनाने के ही उद्देश्य से विदूषक की योजना करते हैं। अतः उसमें निर्मलता का दर्शन असम्भव ही है।

महाकवि भवभूति सात्त्विक प्रेम के पक्षपाती हैं। इसमें भी उनके हृदय का गाम्भीर्य ही हेतु है। अतएव उसमें वासना का ज्वार नहीं और बाहरी कारणों की अपेक्षा भी नहीं। वह तो आन्तरिक हेतु पर निर्भर है जो उसे गहरी आत्मीयता में निमग्न कर सात्त्विक रूप प्रदान करता है—

'व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।' (उत्तर० ६।१२)

भवभूति ने शृङ्गार के संभोग पक्ष का भी चित्र पूर्वस्मृति के रूप में खींचा है, किन्तु वहाँ भी इनकी गम्भीरता ने कामचेष्टाओं के छिछोरापन को नहीं आने दिया है और आत्मीयता के गहरे रंग से रंजित कर मनमोहक बना दिया है—

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगादविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्॥
(उत्तर०, १।२७)

भवभूति मानव-मन के चतुर पारखी थे। मन के अन्तर्द्वन्द्व को पकड़ने तथा उसे सफल अभिव्यक्ति देने में ये सिद्धहस्त थे। यही कारण है कि प्रस्तुत नाटक में सीता, राम, राजर्षि जनक, कुश-लव, चन्द्रकेतु, कौसल्या, वासन्ती आदि विभिन्न कोटि के मनुष्यों के मन के अन्तर्द्वन्द्व की जैसी सफल अभिव्यक्ति हुई है, विश्व के साहित्य में भी दुर्लभ है। इस बात की प्रशंसा पाश्चात्य समालोचक भी मुक्तकण्ठ से करते हैं।

भवभूति की वेदनाव्यथित विधुरावस्था की अनुभूति की तीव्रता में उनके उल्लासमय दाम्पत्य जीवन की मधुरता ही मुख्य हेतु है। उनके आदर्श दाम्पत्य जीवन की मनोरम झाँकी उत्तररामचरित में दर्शनीय एवं स्पृहणीय है। सच्चरित्रता, निष्ठा और मर्यादा-पूर्ण जीवन जीने वाले तथा धर्म में गहरी आस्था रखने वाले भवभूति के मत में स्त्री भोग-विलास की सामग्री नहीं, अपितु घर की लक्ष्मी तथा नेत्रों के लिए अमृतशलाका की भाँति

शान्ति-प्रदायिनी है,[1] वह जीवन-सहचरी है और पवित्रता की मूर्ति है। विवाह का उद्देश्य भोग-विलास नहीं, अपितु कर्त्तव्य-पालन, त्याग-तपस्या, प्रजातन्तु को विच्छेद से बचाना है। गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने में सन्तान का महत्त्व सर्वोपरि है। वह दम्पति के अन्तःकरण की आनन्दग्रन्थि ही तो है।[2]

सवथा कल्याणकारी दाम्पत्य स्नेह के विषय में भवभूति की मान्यता है कि वह किसी-किसी सौभाग्यशाली को ही नसीब होता है। उसकी यह विशेषता है कि वह सुख-दुःख और सभी अवस्थाओं में एकरस रहता है। वह हृदय को अपूर्व विश्राम देता है। वृद्धावस्था में भी उसमें अनुराग की कमी नहीं होती। वह समय पाकर सभी प्रकार के संकोचों के समाप्त हो जाने से प्रगाढ़ एवं उत्कृष्ट प्रेम के रूप में स्थित रहता है।[3]

डॉ० व्यास के शब्दों में संक्षेप में यों कहा सकता है कि भवभूति का व्यक्तित्व संस्कृत-साहित्य में जीवन की मधुरता और कटुता, अन्तःप्रकृति और बाह्यप्रकृति के कोमल और विकट, दोनों रूपों के ग्रहण करने की क्षमता रखता है। भवभूति वे **श्रीकण्ठ हैं,** जिन्होंने एक साथ चन्द्रकला की शीतल सरसता और विष की तिक्तता, दोनों को जीवन के उल्लासमय और वेदनाव्यथित, दोनों तरह के पहलुओं को सहर्ष अङ्गीकार किया है।[4]

उत्तररामचरित : अङ्कों का नामकरण तथा उनका संक्षिप्त कथानक

भवभूति की नाट्यकला को समझने से पूर्व उत्तररामचरित के अङ्कों के नामकरण के हेतुओं तथा कथानक को जान लेना आवश्यक है, क्योंकि इससे अपने आप एक संकेत मिल जाता है कि कवि अपनी नाट्यकला का किस कौशल से विनियोग कर नाटक के अंगीरस करुण का किस प्रकार आदि से अन्त तक निर्वाह करने में समर्थ रहा है और नाटक के सुखान्त होते हुए भी उसे करुणरस-प्रधान सिद्ध करने में कहाँ तक सफल रहा है। संभवतः इसी विषय पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से ही कवि ने अङ्कों का नामकरण किया हो।

प्रथम अङ्क—इस अङ्क को कवि ने 'चित्रदर्शन' की संज्ञा दी है, क्योंकि चित्रदर्शन से ही सीताजी को पुनः वन-भ्रमण की इच्छा होती है, जिसकी स्वीकृति भी रामचन्द्रजी दे देते हैं, क्योंकि अरुन्धती-कौसल्या आदि का राम के लिए आदेश जो था—'यः कश्चिद् गर्भदोहदो भवत्यस्याः सोऽवश्यमचिरान्मानयितव्यः।' यद्यपि इस अङ्क का प्रधान कार्य सीता-निर्वासन है, तथापि चित्रदर्शन से उत्पन्न हुई सीता की पुनः वन-भ्रमण इच्छा ही राम के उस दृढ़ निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने में व्याज बनकर सौकर्य प्रदान करती है। सीताजी समझ रही हैं कि उनके दोहद की पूर्ति हो रही है। वे अपने निर्वासन से अपरिचित ही रहती हैं। कवि की नाट्यकला इस अङ्क में सीता-निर्वासन में विघ्न-बाधा डालने वाली स्थिति के निराकरण में भी उजागर हो रही है। भगवान् वसिष्ठ का आदेश अष्टावक्र के मुख से राम को मिल चुका है—'युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः।' (१।११)। राम भी उक्त आदेश को सहर्ष स्वीकार करते हुए कह बैठे—

---

१. उत्तर०, १।३८। २. उत्तर०, ३।१७। ३. उत्तर०, १।३९।
४. संस्कृत-कवि-दर्शन, पृष्ठ ४०८।

'……जानकीमपि । आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ।' (१।१२) और लोकाराधन के लिए सीता-त्याग रूप राम की परीक्षा-घड़ी सामने उपस्थित हो ही गयी। यदि उस समय भगवान् गुरु वसिष्ठ, कौसल्यादि माताएँ और लङ्का-समर के साथी अयोध्या में होते तो क्या प्रजा के असन्तोष के कारण सीता-निर्वासन-विषयक राम का दृढ़ निश्चय, आज्ञा एवं शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा स्थगित न कर दिया जाता ? कवि की नाट्यकला ने कितनी सफाई से सीता-निर्वासन की सारी विघ्न-बाधाओं को दूर हटा दिया है। गुरु वसिष्ठ, उनकी पत्नी अरुन्धती और कौसल्यादि राजमाताओं को उसने पहिले ही जामाता के यज्ञ में तथा लङ्का-समर के साथियों को उनके-उनके निवास-स्थान पर भेज कर नियति-नटी की तरह अपना मार्ग प्रशस्त कर चुकी थी।

इसी अङ्क (चित्रदर्शन) में सीता को चित्रगत जृम्भकास्त्रों का दर्शन, उन्हें प्रणाम करना, राम का 'सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति'—ऐसा कहना भी कवि की नाट्यकला का परिचायक है, क्योंकि इसका नाटकीय महत्त्व उस समय स्पष्ट रूप से सामने आता है, जब छठे अंक में राम, कुश और लव की जृम्भकास्त्र-सिद्धि को देखकर उन बालकों के विषय में सीता-पुत्रत्व की संभावना करते हैं, जो सातवें अङ्क में यथार्थ में परिणत हो जाती है।

कवि की नाट्यकला ने ही चित्रदर्शन रूप वह पृष्ठभूमि तैयार कर दी है, जिस पर आधारित राम का उत्तरचरित पूर्ण विकसित होकर लोकोत्तर बन सका है। चित्रवीथी में भगवान् राम का सम्पूर्ण पूर्वचरित (सीता की अग्नि-शुद्धि तक) प्रस्तुत है, किन्तु नाटक में सीताजी के थक जाने के कारण माल्यवान् पर्वत तक की ही घटना प्रदर्शित की जाती है। कवि की यह योजना नाट्यकला की दृष्टि से अत्यन्त युक्त है, अन्यथा पूर्वचरित के बिना उत्तरचरित का मूल्याङ्कन ही कैसे होता ?

द्वितीय अङ्क—कवि ने इस अङ्क को 'पञ्चवटी-प्रवेश' कहा है, क्योंकि राम के सीता विषयक प्रेम को उद्दीप्त करने के उद्देश्य से कवि के लिए राम को पञ्चवटी में प्रविष्ट कराना आवश्यक था, जिससे रामचन्द्रजी के चरित्र का विकास दिखलाया जा सके और नाटकीय प्रवाह की भी सृष्टि हो सके। पञ्चवटी के वे-वे स्थान जो बनवास के समय सीता के साथ किये गये विविध विलासों के साक्षी थे, अपने दर्शन से उद्दीपक बनकर, बारह वर्ष तक भीतर ही भीतर घुटन पैदा करते हुए राम के सीता-विषयक प्रेम को प्रदीप्त कर, अतएव राम को एकान्त जंगल में रुलाकर उनके मन को कुछ हलका कर सकें। इन सब उद्देश्यों की सिद्धि के लिए कवि ने 'शम्बूकवध' रूप उपयुक्त उपाय निकाल लिया है। इससे रामचन्द्र (नायक) की मर्यादा सुरक्षित रह जाती है। वे स्वार्थ के वशीभूत होकर नहीं, अपितु अपनी प्रजा के हित के लिए, ब्राह्मण-पुत्र के पुनरुज्जीवन के लिए पञ्चवटी में पदार्पण करते हैं।

तृतीय अङ्क—इस अङ्क का नाम 'छाया' है। इस नामकरण का सम्बन्ध अङ्क की घटनाओं से होने के कारण स्वर्गीय विद्वान् ब्रह्मानन्द ने इस नामकरण के सम्बन्ध में अनेक मौलिक हेतुओं की उद्भावना की है। जैसे—

(१) यहाँ तमसा सीताजी के साथ, सीताजी रामचन्द्र के साथ, रामचन्द्रजी वासन्ती के साथ छाया के समान अनन्य रूप से दिखलाये गये हैं।

(२) रामचन्द्रजी के विचारों में सीताजी छाया के समान निरन्तर घूम रही हैं।

(३) रामचन्द्र और सीताजी की शारीरिक स्थिति केवल छाया (कान्ति) मात्र रह गयी है।

(४) जिस प्रकार सन्तप्त व्यक्तियों को छाया सन्तोष प्रदान करती है, उसी प्रकार इस अङ्क में शोक और क्षोभ के प्रलापों से रामचन्द्र को, राम के दर्शन से सीता को, राम की पश्चात्ताप शुद्धि से वासन्ती को तथा राम एवं सीता के पारस्परिक स्पर्श से तमसा को परम सन्तोष मिलता है।

(५) रामचन्द्र अपने ही मुख से वासन्ती से यज्ञ में सीताजी के स्थान पर उनकी स्वर्णमयी मूर्ति की चर्चा करते हैं, जिससे सीताजी को परम धैर्य एवं सन्तोष मिलता है, क्योंकि वह (मूर्ति) उनकी ही तो छाया है।

(६) इस अङ्क के अन्तिम श्लोक से राम और सीता के मिलने की भी छाया (आभास) मिलती है, इन सब कारणों से कवि ने इस अङ्क का नाम 'छाया' रखा है।

'छाया' अङ्क की उपयोगिता इस बात में है कि राम जिस दुःख को निरन्तर बारह वर्ष तक अपने भीतर दबाये हुए व्यथित, किन्तु मूक बने रहे, उसे अनावृत करके मन को कुछ हलका करने का सदवसर पा सकें। साथ ही वे अपने को, अपने राजधर्म को और जिसे प्रसन्न करने के लिए प्राणों से भी प्रिय सीता का परित्याग किया, किन्तु जिसने बारह वर्ष के अन्दर कभी भूल कर भी सीता का नाम तक नहीं लिया, उस लोक को भी उपालम्भ देने का अवसर पा सकें।

इस अंक में कवि की यह विधान-चातुरी श्लाघ्य है कि सीता तो राम को देख सके, किन्तु राम सीता को न देख सकें। इससे यह बात बनती है कि राम की करुण दशा देखकर तथा अपनी स्वर्णमयी मूर्ति की चर्चा राम के मुख से सुनकर सीताजी द्रवित होकर राम की ओर अभिमुख होती हैं। उनका राम के प्रति बारह वर्षों तक निरन्तर बना हुआ निर्वासन-जनित क्षोभ नष्ट हो जाता है और हृदय पूर्ववत् निर्मल, निष्कलुष एवं आत्मीयता पूर्ण प्रेम से ओत-प्रोत हो जाता है, यहाँ तक कि आँखों से राम के ओझल होते समय वे सुकृतपुण्यजनदर्शनीय राम के श्रीचरणों को प्रणाम कर घोर दुःख से मूर्च्छित हो जाती हैं।

चतुर्थ अङ्क—इस अङ्क का नाम 'कौसल्या-जनकयोग' है। इस नामकरण का कारण स्पष्ट है। द्वितीय अङ्क में आत्रेयी ने वासन्ती से जैसा कहा था कि सीता-निर्वासन को सुनकर दुःखित अरुन्धती ने अपना निश्चय बतलाया कि मैं सीता से शून्य अयोध्या में नहीं जाऊँगी। राम की माताओं ने भी अरुन्धती का ही समर्थन किया और उनके अनुरोध से वसिष्ठ ने यह निर्णय लिया कि हम सब वाल्मीकि के तपोवन में चलकर रहेंगे। तदनुसार वे सब वाल्मीकि के आश्रम में आ गये। उधर सीता-निर्वासन से अत्यन्त दुःखित राजर्षि जनक भी वाल्मीकि जी का दर्शन करने पहुँच गये। वसिष्ठ जी के आदेश से कौसल्या स्वयम् अरुन्धती और गृष्टि नामक कञ्चुकी के साथ जनक से भेंट करती हैं। अतः इस अंक का नाम 'कौसल्या-जनकयोग' रखा गया है। इस अंक में लव की उपस्थिति भी दिखलायी गयी है, क्योंकि कुश एवं लव की चर्चा द्वितीय और तृतीय अंक में आ चुकी है। प्रथम अंक में चित्रदर्शन के प्रसङ्ग में सीताजी के लक्ष्मण के प्रति किये गये शिष्ट परिहास के बाद तृतीय अंक की समाप्ति तक विषादमय वातावरण ही रहा है। अतः कवि ने चतुर्थ अंक में दर्शकों या पाठकों के मनोभावों के अनुकूल उस वातावरण को बदल देने के लिए

हास्य, औत्सुक्य तथा प्रसन्नतापूर्ण वातावरण की सृष्टि की है। सौधातकि और दाण्डायन के संवादों, अश्व के वर्णन तथा बटु एवं लव के कथोपकथनों से हास्य अतएव प्रसन्नता का वातावरण मिलता है। कौसल्या और जनक की लव के साथ की गयी वार्ता में औत्सुक्य दिखलायी देता है। अन्त में अग्रिम अंक के प्रस्तावना रूप में क्रोध का भी दर्शन होता है।

इस अंक में जनक को वाल्मीकि-आश्रम में उपस्थित करना कवि की अपनी उद्भावना है। जनक को नाटक में लाने का कवि का सबसे बड़ा प्रयोजन है—कारुण्य की तीव्रता का प्रभाव दिखलाना। वह दिखलाना चाहता है कि जनक-जैसे विदेह तथा स्थितप्रज्ञ भी सीता निर्वासन से विचलित हो सकते हैं, तो साधारणजनों की क्या बात है! मानवीय करुणा के सामने ज्ञान और धैर्य न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। जनक के मन का क्षोभ आरे की तरह मर्म पर निरन्तर चलता है। पुत्री के निर्वासन से हुआ उनका अपमान इतने दिनों से उन्हें निरन्तर कष्ट देता हुआ शान्त नहीं होता। उनका दग्ध शरीर अब भी टिका हुआ है। वे आत्मघात नहीं कर सकते, क्योंकि वैसा करनेवालों को पापों का फल भोगने के लिए सूर्य-रहित निबिड अन्धकारमय लोक की प्राप्ति होती है। विधि का ऐसा विधान है कि वे खुलकर रो भी नहीं सकते। जनक-कौसल्या का मिलन होता है। कौसल्या संकोच से गड़ी जारही हैं कि मैं जनक को अपना मुँह कैसे दिखलाऊँ? अरुन्धती के बहुत कहने पर कौसल्या सामने आती हैं, किन्तु जनक सीधे मुँह कौसल्या से बात भी नहीं करते। वे कञ्चुकी से व्यङ्ग्य भरे शब्दों में पूछते हैं—प्रजापालक राम की माता कुशलपूर्वक हैं? कञ्चुकी ने राम की ओर से सफाई देते हुए कहा—यह दारुण कर्म भाग्य ने किया, इसमें राम का दोष नहीं है। वे क्या करें, नागरिक सीता की अग्नि-शुद्धि में थोड़ा भी विश्वास नहीं करते। अग्नि का नाम सुनते ही जनक क्रोध से आग-बबूला हो उठे और कहने लगे—मेरी सन्तान को अग्निदेव कौन होता है शुद्ध करनेवाला? अरुन्धती ने यह कहकर कि 'अग्नि-शुद्ध सीता' कहना ही सीता का अपमान है और अपने वाक् कौशल से जनक को शान्त किया। कौशल्या को मूर्च्छित देख जनक द्रवित हो जाते हैं। होश में आते ही कौशल्या सीता का स्मरण करते-करते विह्वल हो जाती हैं। अरुन्धती ऋष्यश्रृङ्ग की कही हुई बात 'कल्याणमय परिणाम होगा' की याद कराकर कौशल्या को धैर्य बँधाती है। इतने में बटुकों के बीच लव को देखकर जनक बुलवाते हैं। जनक, कौसल्या, अरुन्धती तीनों को लव में सीता की छाया देखकर सन्देह होता है कि हो न हो, यह सीता का पुत्र है। इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए जनक लव से तरह-तरह के प्रश्न करते हैं; यहाँ तक कि उसके रामायण विषयक ज्ञान की परीक्षा से ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की उम्मीद लेकर प्रश्न करते हैं, किन्तु लव उत्तर देता है कि मैंने केवल रामायण कथा वहीं तक पढ़ी है, जहाँ लक्ष्मण सीता को वन में अकेली छोड़कर चले गये हैं। ऐसा सुनते ही कौसल्या का दुःख उमड़ पड़ता है और नागरिकों की क्रूरता एवं राम के उतावलेपन पर जनक का क्रोध पुनः उफन पड़ता है। वे धनुष चढ़ाने और शाप भी देने के लिए उद्यत हो जाते हैं। कौसल्या यह देखकर काँप उठती हैं। अरुन्धती उन्हें पुनः समझाकर शान्त करती है। इतने में आश्रम के परिसर में राम के अश्वमेध का घोड़ा आ जाता है। लव को उसे दिखलाने के लिए बच्चे खींच ले जाते हैं। लव अश्व-रक्षक वीरों की घोषणा न सह पाने के कारण बच्चों से कहता है—अश्व को ढेलों से मारते

हुए आश्रम में ले चलो, यह बेचारा मृगों के बीच में चरेगा। बच्चे तो सैनिकों को देखकर भाग खड़े होते हैं, किन्तु लव शस्त्र लेकर खड़ा हो जाता है।

पञ्चम अङ्क—इस अंक को कवि ने 'कुमारविक्रम' नाम दिया है। व्याख्याकारों ने प्रायः इस नाम में 'कुमारयोर्विक्रमो यत्रेति कुमारविक्रमः'—ऐसा बहुव्रीहिसमास माना है, किन्तु इस अंक की घटनाओं को ध्यान से देखने पर 'कुमारस्य विग्रहो यत्र' ऐसा विग्रह करना अधिक उपयुक्त लगता है; क्योंकि चतुर्थ अंक के अन्त में लव ही युद्ध के लिए उद्यत होता है। पञ्चम अंक में वही चन्द्रकेतु को युद्ध के लिए चुनौती भी देता है। लव ही जृम्भकास्त्र का प्रयोग करता है। चन्द्रकेतु तो केवल लव की प्रशंसा करता हुआ और संवाद करता हुआ ही चित्रित किया गया है; वर्णन मिलता है तो केवल लव के विक्रम का, जो इस प्रकार है—

चन्द्रकेतु के उपस्थित होने पर उसके सैनिक लव पर आक्रमण कर देते हैं। एक पर बहुत से लोगों का मिलकर आक्रमण युद्ध-नियम के विरुद्ध है। अतः चन्द्रकेतु अपने सैनिकों को मना करता है, किन्तु इतने में ही लव उधर अपने जृम्भकास्त्र के प्रयोग से सैनिकों को स्तब्ध कर देता है। आश्चर्यचकित सुमन्त्र (चन्द्रकेतु का सारथि) जृम्भकास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करता है। लव के प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित हो चन्द्रकेतु रथ से इसलिए उतर पड़ता है कि लव भी रथारूढ़ हो जाय, तभी उसके साथ युद्ध न्यायसंगत होगा, किन्तु लव अपने को रथचर्या में अनभिज्ञ होने का बहाना बनाकर चन्द्रकेतु के प्रस्ताव को मानने से इनकार कर देता है। दोनों के हृदय में एक-दूसरे के प्रति मित्र-भाव का उदय हो जाता है, किन्तु वीरों का निष्ठुर नियम उस स्नेह क्रम को बाधित कर देता है। लव के दर्प एवं सौजन्य मिश्रित आचरण से प्रभावित सुमन्त्र राम की चर्चा यह कर छेड़ देता है कि यदि तुम (लव) को इक्ष्वाकुवंशीय राजा राम देखें तो उनका हृदय स्नेह (वात्सल्य) से द्रवित हो जाय। लव भी उसी प्रकार सौजन्यपूर्ण वचनों से उत्तर देता है—आर्य! उन सज्जन राजर्षि को सुन चुका हूँ। कौन ऐसा है जो उनके गुणों के कारण उनका अत्यधिक सम्मान नहीं करता है। हम भी इस तरह यश में प्रतिघात करनेवाले स्वभाव के नहीं हैं, किन्तु समस्त क्षत्रियों पर आक्षेप करनेवाले उग्र सैनिकों के वचन ने हमें विवश कर दिया। ऐसा सुनते ही चन्द्रकेतु बोल पड़ा—इसका मतलब, आपको पिताजी का प्रताप असह्य है।

असह्य हो, या न हो। मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि शान्त-दान्त एवं निरभिमान ऐसे राजा के सैनिकों को क्या राक्षसोचित वाणी बोलना शोभा देता है—लव ने विनम्रता पूर्वक कहा। पुनः कुछ उत्तेजित होकर कहा—क्या क्षत्रिय धर्म समग्र रूप से उन्हीं (राम) के ही हिस्से में पड़ा है? यह बतलाइए।

सुमन्त्र ने लव को रोका—तुम निश्चय ही राम के विषय में नहीं जानते हो, अन्यथा ऐसा न कहते। तुमने सचमुच सैनिकों का विमर्दन कर एक ओजस्वी का-सा काम किया है, किन्तु परशुराम के भी गर्व को चूर्ण करनेवाले राम के विषय में तुम्हारा कटु शब्दों के प्रयोग का आग्रह उचित नहीं है। लव ने हँसकर व्यङ्ग्य भरे शब्दों में कहा—अरे, यह तो दुनिया जानती है कि भुजबल के धनी तो क्षत्रिय ही होते हैं, ब्राह्मण तो केवल (शाप देने वाली) वाणी का ही बल रखते हैं। इस प्रकार अनधिकार रूप से शस्त्र धारण करनेवाले उस ब्राह्मण परशुराम का दमन करने में उनकी कौन-सी प्रशंसा हुई?

राम के प्रति कहे गये लव के इस आक्षेपपूर्ण वचनों को सुनकर आहत-सा होकर चन्द्रकेतु ने सुमन्त्र से लव के विषय में व्यङ्ग्य भरे शब्दों में इस प्रकार कहा—आर्य सुमन्त्र ! उत्तर-प्रत्युत्तर बन्द कीजिए। यह कोई इस समय नया अवतारी पुरुष है, जो भृगुनन्दन को भी वीर नहीं समझता और सातों लोकों को अभय करनेवाले पिताजी के पावन चरित्रों को भी नहीं जानता (कुछ नहीं समझता)।

लव को अब राम के चरित्र के विषय में भी कुछ कहने का अवसर मिल गया। उसने व्यङ्ग्य कसते हुए कहा—'भला कौन उन रघुपति की महिमा और उनके चरित को नहीं जानता ? सुन्दकी बेचारी स्त्री ताटका का वध करने पर भी लोक में वे महान् और अप्रतिहत यश वाले प्रथित हैं। खर के साथ युद्ध करते समय तीन ही कदम सही, पीठ न दिखाते हुए ही सही, उनके पीछे हटने की बात को भी तथा बाली के वध में प्रदर्शित उनके कौशल को भी सारी दुनिया जानती है'। यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि लवकृत राम विषयक इस आलोचना को हमारे परम्परावादी लक्षणग्रन्थकार और पाश्चात्य विद्वान् भी महान् कवि भवभूति पर नायक-चित्रण सम्बन्धी दोषारोपण भले ही करें, किन्तु भवभूति के उद्देश्य को भली प्रकार से समझ लेने पर उक्त दोष तिरोहित हो जाता है। कवि ने करुणबोध की तीव्रता को बढ़ाने के उद्देश्य से ही इस प्रसङ्ग की योजना की है। यहाँ वह दोष होते हुए भी करुण का परिपोष ही कर रहा है—पुत्र के द्वारा ही राम की निर्मम एवं तटस्थ आलोचना नाटकगत करुण के उत्कर्ष को बढ़ाती है। स्वतन्त्र रूप में अनुचित होते हुए भी करुण का परिपोषक होने से उसका औचित्य बन जाता है।

इस प्रकार लव और चन्द्रकेतु 'बात-बात में बतबढ़' हो जाने से युद्ध आरम्भ कर देते हैं।

कवि ने इस अंक में युद्ध का सन्निवेश किया है। प्रथम अंक में जिस जृम्भकास्त्र के विषय में हमें सूचना मिलती है कि वे सीताजी की सन्तान को प्राप्त होंगे और द्वितीय अंक में आत्रेयी के मुख से सूचना मिलती है कि वे (जृम्भकास्त्र) लव और कुश को प्राप्त हो चुके हैं। पञ्चम अंक में इस युद्ध के संविधान से लव को उस जृम्भकास्त्र के प्रयोग का अवसर भी दे दिया गया है। इसी युद्ध का संविधान आगे छठे अंक में राम, लव, कुश, अरुन्धती, कौशल्या, वसिष्ठ आदि सभी को मिलाता है। अतः नाटकीय दृष्टि से इसका अत्यन्त महत्त्व है।

षष्ठ अङ्क—कवि ने इस अंक का नाम 'कुमारप्रत्यभिज्ञान' रखा है, क्योंकि इस अंक की विशेष घटना है—श्रीरामचन्द्रजी का कुश-लव को देखना। यों तो प्रत्यभिज्ञान का अर्थ होता है—ज्ञात वस्तु का पुनः ज्ञान, किन्तु यहाँ इसे परिचय या पहचान—इसी सामान्य अर्थ में समझना चाहिए। इस अंक की कथा इस प्रकार है—

अंक के आरम्भ में विद्याधर और विद्याधरी विमान पर बैठकर प्रविष्ट होते हैं। उन दोनों के वार्तालाप से सामाजिकों को सूचना मिलती है कि लव और चन्द्रकेतु का भीषण युद्ध हो रहा है। लव ने चन्द्रकेतु द्वारा प्रयुक्त आग्नेयास्त्र का जवाब वारुणास्त्र से दे दिया है, किन्तु चन्द्रकेतु भी वारुणास्त्र का निराकरण वायव्यास्त्र से कर देता है। रामचन्द्रजी शम्बूक को मारकर युद्धस्थल पर आ गये हैं और दोनों कुमारों को अपने गम्भीर स्वर से युद्ध-विरत कर देते हैं।

राम के पुष्पक विमान के पहुँचते ही लव और चन्द्रकेतु प्रणत हो जाते हैं। पुष्पक से उतरते हुए राम ने चन्द्रकेतु से कुशल-समाचार पूछा। चन्द्रकेतु ने राम से लव का परिचय कराते हुए अपना कुशल बताया। राम ने लव को अत्यन्त गम्भीर, मनोहर और शुभाकृति वाला देखकर उसकी बड़ी प्रशंसा की। राम की दृष्टि में लव मूर्तिमान् धनुर्वेद-सा मूर्तिमान क्षात्रधर्म-सा, सामर्थ्यों का समुदय-सा, गुणों का संचय-सा और जगत् के पुण्य-फलों का आविर्भूत पुञ्ज-सा दिखायी दे रहा था। इधर लव भी पवित्र प्रभाव, पुण्यदर्शन राम को विश्वास, स्नेह तथा भक्ति के अद्वितीय महान आलम्बन तथा प्रकृष्ट धर्म के देहधारी प्रसाद के रूप में देख रहा था। राम लव के विषय में सोचते हैं कि इसे देखकर मेरे सकल दुःख क्यों विश्रान्त हो गये और अन्तरामा स्नेह से आप्लावित हो गया? पुनः समाधान भी स्वयं देते हैं कि स्नेह तो स्वभावतः अकारण ही होता है। लव को चन्द्रकेतु से जब यह ज्ञात होता है कि ये ही राम हैं, तब वह वाल्मीकि के शिष्य और लव नाम से अपना परिचय देता हुआ उनका अभिवादन करता है और अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना करता है। राम से चन्द्रकेतु ने बताया कि अश्वरक्षकों द्वारा आपके प्रभाव का प्रख्यापन सुनकर इस कुमार ने वीरवत् आचरण किया है। यह देखिए, इसने अपने जृम्भकास्त्र के प्रयोग से सेनाओं को स्तब्ध कर दिया है। राम ने इस अमर्ष को क्षत्रियों का अलङ्कार बतलाते हुए लव से अस्त्र लौटा लेने को कहा। लव ने वैसा ही किया। राम के पूछने पर कि जृम्भकास्त्र की प्राप्ति तुम्हें किससे हुई, लव ने बतलाया—हम दोनों भाइयों को इन अस्त्रों की प्राप्ति स्वतः हुई है। राम प्रकृष्ट पुण्य के परिणामस्वरूप सब कुछ सम्भव है— ऐसा सोचकर दूसरे भाई के विषय में पूछ ही रहे थे, इतने में वह भी आता हुआ दिखायी पड़ा। युद्ध की बात से क्रुद्ध कुश को लव ने शान्त रहने के लिए कहकर राम का परिचय भी दिया। कुश ने राम को प्रणाम किया। राम ने उसका आलिङ्गन किया और कुश एवं लव में राजचिह्नों को देखा। इसी तरह उन दोनों में सीता का सादृश्य देखने से उनके सीता-पुत्र होने की संभावना भी की। राम की आँखें भर आती हैं। लव के द्वारा इसका कारण पूछने पर कुश कहता है कि क्या तुमने रामायण नहीं पढ़ी है। सीता के बिना राम को क्या सुख रह गया है। राम अपने मन में कहते हैं कि इन बच्चों की वार्ता तटस्थ है। सीता-पुत्र होने के विषय में इनसे प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं है। मैं बच्चों के लिए भी अनुकम्पनीय हो गया हूँ। यह अवधेय है कि यहाँ यह प्रसङ्ग करुण रस की निष्पत्ति में अत्यन्त सहायक है। राम अब दूसरी ओर मुड़ते हैं। वे रामायण का कुछ अंश पढ़ने को लव-कुश से कहते हैं। वे बच्चे रामायण का जो अंश पढ़ते हैं वह राम के लिए मर्मभेदी होने के कारण उनके दुःख को और भी अधिक बढ़ा देता है—

> प्रकृत्यैव प्रिया सीता रामस्यासीन्महात्मनः।
> प्रियभावः स तु तथा स्वगुणैरेव वर्द्धितः॥
> तथैव रामः सीतायाः प्राणेभ्योऽपि प्रियोऽभवत्।
> हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्॥

(उत्तर०, ६।३१–२२)

लव जब मन्दाकिनी-विहार वाला मधुर प्रसंग सुनाता है, उस समय एक बार तो राम को उन बच्चों के भोलेपन पर लज्जापूर्ण हँसी आती है और फिर वे सीता की स्मृति से विह्वल हो जाते हैं। उन्हें सीता का मुख प्रत्यक्ष दीखता-सा प्रतीत होता है। यहाँ यह रूप

देना आवश्यक प्रतीत होता है कि, कवि ने जान-बूझकर कुश और लव के द्वारा राम और सीता के प्रेम के वर्णन का प्रसंग तथा संयोग-शृङ्गार का सूक्ष्म संकेत करनेवाला श्लोक प्रस्तुत कराया है। यह आपाततः देखने में कवि का दोष भले ही प्रतीत हो, किन्तु राम के कारुण्यबोध का परिपोषक होने से यह गुण में परिवर्तित हो जाता है। राम के द्वारा कवि ने आगे जो बात कहलवायी है, उसमें कवि यही संकेत करता हुआ प्रतीत होता है। राम कहते हैं—'बच्चे भी कितने विचित्र होते हैं, विशेषकर वन में पले हुए। वे नहीं समझते हैं कि हम किससे कह रहे हैं, क्या कह रहें हैं और कैसे समय पर कह रहे हैं? बच्चे क्या जानें कि प्रवास में प्रिया का ध्यान तो कुछ आश्वासन दे जाता है, किन्तु जब उसकी मृत्यु हो जाती है तो जगत् जीर्ण अरण्य सा हो जाता है तथा हृदय भूसे की आग में निरन्तर जलता रहता है।' इतने में नेपथ्य में सुनायी देता है कि बच्चों के झगड़े की बात सुनकर अरुन्धती, वसिष्ठ, वाल्मीकि, कौसल्या और जनक यहीं आ रहे हैं। राम के मन की स्थिति डाँवाडोल हो जाती है। मैं ऐसा महापाप करने के बाद अब जनक के सामने कैसे जाऊँ? मैं सहस्र खण्डों में विदीर्ण क्यों नहीं हो जाता? पुनः नेपथ्य से यह सूचना पाकर कि राम को क्षीण देखकर माताएँ मूर्च्छित हो गयी हैं, राम कहते हैं—मेरे ऊपर करुणा व्यर्थ है, मैं उस (सीता) के प्रति अकरुण रहा हूँ, जो जनककुल और रघुकुल दोनों की मंगल थी।

इस अंक में राम से कुश-लव को मिलाकर कवि ने अपना नाटकीय प्रयोजन सिद्ध किया है। कुश एवं लव के चरित्र के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करते हुए कवि उन दोनों कुमारों में सीता के मुख की झाँकी राम को दिखाकर व्यथित तो करता ही है, उनके मन में यह सम्भावना भी उत्पन्न कराता है कि, ये दोनों बच्चे सीता के ही पुत्र हैं। कुश और लव के मुख से रामायण के मार्मिक प्रसङ्गों को सुनवाकर राम के कारुण्य-बोध को कवि ने अत्यन्त तीव्रता प्रदान की है। हमें इस अंक में चतुर्थ अंक से ही प्रारब्ध किये गये कथा-सूत्र एकत्रित होते हुए दिखायी देते हैं। चतुर्थ अंक से ही कवि राम, उनके कुटुम्बी, कुश-लव सभी को मिलाने के प्रयत्न में रहा है। उसका वह उद्देश्य यहाँ बहुत कुछ पूर्ण होने लगता है।

सप्तम अङ्क—इस अंक का नाम कवि ने 'सम्मेलन' रखा है, जो वास्तव में अन्वर्थ ही है। इस अंक में बारह वर्ष के बाद राम और सीता का सम्मेलन होता है। इसके अतिरिक्त कुश-लव, कौसल्यादि रानियों, वसिष्ठ, अरुन्धती, ऋष्यशृङ्ग, शान्ता, शत्रुघ्न, राजर्षि जनक आदि का भी समागम होता है। इसी अंक में नाटक के बिखरे हुए कथा-सूत्रों का, रामायण के कथाभाग तथा कवि की कल्पना का और हर्ष, औत्सुक्यादि अनेक भावों का भी सुखद सम्मेलन होता है।

इस अंक का आरम्भ गर्भाङ्क से होता है। नाटक के अन्दर नाटक रचा जाता है। इस नाटक को देखने के लिए सुर-असुर-नाग-पशु-पक्षी, अयोध्यावासी, जनपदवासी, राम-लक्ष्मण सभी उपस्थित होते हैं। इस नाटक में सीता-परित्याग के बाद की कथा अभिनीत होती है। इसमें दिखलाया जाता है कि पृथ्वी और गङ्गा ही सीता के प्रसव के समय उपस्थित हैं। राम के सीता-निर्वासन-जैसे दारुण कर्म के विषय में पृथ्वी और भागीरथी में बात-चीत भी होती है। इन सबके बीच में राम-लक्ष्मण का संवाद भी चलता रहता है। इस प्रकार एक साथ दो नाटक चलते रहते हैं। राम को ऐसा लगता है कि मानों वे

नाटक नहीं, बल्कि उन घटनाओं को प्रत्यक्ष घटित होते देख रहे हों। नाटक में जब पृथ्वी और गंगा सीता को लेकर चली जाती हैं, तब राम समझते हैं कि सीता लोकान्तर में चली गयी और वे मूच्छित हो जाते हैं। लक्ष्मण उपालम्भ भरे वचनों में कहते हैं—भगवान् वाल्मीकि, क्या तुम्हारा यही काव्यार्थ था। इतने में नाटक यथार्थ हो जाता है। गङ्गा और पृथिवी के साथ सीता गङ्गा के जल से ऊपर निकलती हैं। नेपथ्य में दोनों देवियाँ सीता को अरुन्धती के हाथों में सौंपती हैं। राम अब भी बेहोश ही हैं। अरुन्धती के आदेश से सीता जब अपने हाथ से राम का स्पर्श करती हैं, तब उन्हें होश आता है और वे पृथ्वी और गंगा को प्रणाम करते हैं। अरुन्धती भर्त्सनापूर्वक पुरवासियों और जनपदवासियों को सम्बोधित कर कहती है—क्या अब भी तुम्हें सीता के विषय में प्रमाण चाहिए? वे सभी लोग लज्जित होकर सीता के चरणों को प्रणाम करते हैं। अरुन्धती राम को आज्ञा देती है—तुम यज्ञ में सीता को धर्मचारिणी बनाओ। राम उस आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं। सीता मन में कहती है—क्या आर्यपुत्र को सीता के दुःख परिमार्जन की कला याद है। लक्ष्मण ने कृतार्थ होकर सीता को प्रणाम किया और उन्होंने आशीर्वाद दिया। तब अरुन्धती के कहने से वाल्मीकि कुश और लव को ले आये। दोनों पुत्रों को माता और पिता के समागम से अत्यन्त हर्ष हुआ। सीता ने वाल्मीकि को प्रणाम कर आशीर्वाद प्राप्त किया। इसी बीच में लवणासुर को मारकर शत्रुघ्न भी आ गये। प्रसन्न होकर लक्ष्मण कहते हैं—कल्याण एक के बाद एक होते रहते हैं। राम कहते हैं—यह सब कुछ अनुभव करता हुआ भी विश्वास नहीं कर पा रहा हूँ। 'आपका और कौन-सा प्रिय कार्य करूँ'—वाल्मीकि के ऐसा कहने पर राम कहते हैं—आपकी रचित यह कथा पापनाशिनी और कल्याणवर्द्धिनी है, शब्दब्रह्म को जानने वाले कवि की नाटक रूप में परिणत इस वाणी का विद्वान् लोग विचार करें, ऐसी प्रार्थना है। आशय है कि लोग इस नाटक का बार-बार अभिनय करें जिससे पाप से रक्षा हो, श्रेय की वृद्धि हो तथा समस्त लोक का मंगल हो।

कवि ने रसोत्कर्ष के लिए ही गर्भाङ्क की रचना की है तथा नाटक को सुखान्त बनाने के लिए इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता है। दर्शक या पाठक को तो तृतीय अंक में मुरला और तमसा की उक्तियों से यह पता चल जाता है कि सीता की निर्वासन के बाद क्या स्थिति है? किन्तु इसका पता लोक को नहीं है जो निर्वासन में कारण बना था, और न निर्वासन करनेवाले राम ही को पता है। राम बिना लोक के विश्वस्त हुए सीता को स्वीकार नहीं कर सकते। इस समस्या को हल करने के लिए ही कवि ने गर्भाङ्क की योजना की है जिससे लोक को सीता की पवित्रता में विश्वास होता है और सीता को लोक की सहानुभूति प्राप्त होती है। रामचन्द्र भी राजधर्म के सामने स्वधर्म को भूल जाने की अपनी भूल को मन ही मन स्वीकार कर अरुन्धती के आदेश से सीता को पुनः स्वीकार करते हैं। कवि ने इस प्रकार राम और सीता के समागम का जो उपाय ढूँढ निकाला है, वह कल्पनाजन्य होकर भी अत्यन्त मनोवैज्ञानिक तो है ही, नाट्यकला की भी दृष्टि से औत्सुक्यवर्द्धक एवं महत्त्वपूर्ण है।

कवि की कला का वैशिष्ट्य नाटक के अन्तिम अंक में इस बात में है कि यह अंक राम के पूर्ण उत्तरचरित को उसी प्रकार अपने अंक में समेटे हुए दर्शकों या पाठकों के समक्ष लाकर रख देता है, जिस प्रकार प्रथम अंक में चित्रवीथी में सँजोये राम के पूर्व चरित को

प्रदर्शित किया गया है। कवि का यह भी वैशिष्ट्य है कि उसने आरम्भ में सीता-निर्वासन जैसा क्रूर कार्य दुर्मुख की सूचना से कराया है और अन्त में सीता-स्वीकृति जैसा सुखद एवं मङ्गल कार्य पतिव्रता-शिरोमणि अरुन्धती के पुनीत आदेश से सम्पन्न कराया है। आरम्भ में वसिष्ठ का 'युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्याः' (१।११) आदेश राम के द्वारा बड़े तर्कवितर्क और मन को दबाकर पालन किया जाता है, किन्तु अन्त में 'नियोजय यथाधर्म प्रियां त्वां धर्मचारिणीम्। हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे।'—जैसा अरुन्धती का मङ्गलमय आदेश बड़े उल्लास से स्वीकार किया जाता है। प्रथम आदेश-पालन का फल त्याग है तो दूसरे का फल है प्राप्ति। नाटक का आरम्भ होता है सूने चौराहे से, किन्तु समाप्ति होती है गङ्गा के पावन तट पर।

भवभूति की नाट्यकला

ऊपर प्रत्येक अङ्क की कथावस्तु के दिये गये संक्षिप्त विश्लेषणात्मक परिचय से भवभूति की नाट्यकला पर स्वतः प्रकाश पड़ रहा है, जो इस प्रकार है—

प्रथम अंक में कवि ने सीता-निर्वासन से पहले ही राम की माताओं, वसिष्ठ, अरुन्धती आदि को बारह वर्ष तक चलने वाले ऋष्यशृङ्ग के यज्ञ में तथा लंका-समर के साथियों को उन-उन के स्थान पर भेज कर राम के प्रजानुरञ्जन रूप कर्त्तव्य-पालन के मार्ग को निर्विघ्न बना दिया है। दूसरे अंक में आत्रेयी और वासन्ती की बात-चीत तथा जनस्थान के पूर्व परिचित प्रदेशों का हृदयहारी वर्णन राम के कारुण्य-बोध में सहायक होने के कारण बड़ा महत्त्व रखता है। नाट्यकला की दृष्टि से नाटक का तीसरा अंक सर्वश्रेष्ठ है। कवि की भावुकता और कल्पना दोनों के कारण रस की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। चतुर्थ अंक में अरुन्धती, वसिष्ठ, कौसल्यादि माताओं तथा जनक का वाल्मीकि के आश्रम में आने का उल्लेख है। कौसल्या और जनक का मिलन अत्यन्त करुणोत्पादक है। जनक का राम के प्रति और लोक के प्रति क्षोभ अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक है। सीता-निर्वासन से दुःखित जनक की मनोदशा वर्णनातीत है। कवि दुःखद प्रसङ्गों को उपस्थित करने के बाद एक मोड़ लाता है, उसकी यह कला सर्वत्र देखी जा सकती है। यहाँ भी इस करुण परिस्थिति को वह मोड़ देता है। अरुन्धती, कौसल्या और जनक को लव के वात्सल्य में उलझा कर कुछ चैन तथा कुछ कौतूहल के भाव पैदा कर, उनके मन को विश्राम देता है। पाँचवें अंक में चन्द्रकेतु और लव के संवादों से कवि वीर रस की सफल अभिव्यक्ति करता है। दर्शक आरम्भ से ही करुण रस की शोक-धारा में डूबते-उतराते, वीर रस की उत्साहमयी धारा में अवगाहन करके एक नयी ताजगी का अनुभव करते हैं। छठा अंक दर्शकों के हृदय में भावी सीता-राम के समागम की आशा-किरण का उदय करता है। सातवें अंक में गर्भनाटक की योजना से कवि ने सीता-राम का सुखद समागम कराकर नाटक को सुखान्त बनाया है। उसका यह कौशल अत्यन्त प्रशंसनीय एवं नाट्यकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

उत्तररामचरित में अङ्गी (प्रधान) रस

उत्तररामचरित में अङ्गी रस 'करुणरस' है अथवा करुण-विप्रलम्भ ? इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है—

कुछ विद्वानों का मत है कि 'उत्तररामचरित' में 'करुणविप्रलम्भ' अङ्गी रस है। उनके कथन का आशय है 'एको रसः करुण एव'—इत्यादि (३।४७) श्लोक में 'करुण' शब्द को

करुणविप्रलम्भ परक मानना चाहिए, क्योंकि करुण रस का स्थायीभाव शोक है। उसमें पुनर्मिलन की आशा नहीं रहती, किन्तु करुणविप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है। यहाँ नाटक में सीता को तमसा के—'अस्तु देवताप्रसादात् पश्यन्ती प्रियं भूयाः' 'विधिरतवानुकूलो भविष्यति' आदि वाक्यों से राम के पुनर्मिलन में विश्वास है तथा राम को भी लव-कुश को देखने के बाद सीता-मिलन की आशा बलवती होती चली गयी है और तदनुसार नाटक के अन्त में राम और सीता का पुनर्मिलन होता है। राम का 'क्रव्याद्भिरङ्गलतिकानियतं विलुप्ता' (३।२८) आदि विलाप बहुत कुछ सीता के अत्यय की संभावना पर आधारित है। उन्हें सीता-विनाश की कोई पक्की सूचना नहीं है। इन सब बातों को देखते हुए 'करुणविप्रलम्भ' ही इस नाटक में प्रधान रस मानना चाहिए।

दूसरी तरफ अन्य विद्वानों का मत है कि उत्तररामचरित में 'करुण' अङ्गी रस है। व्याख्याकार वीरराघव इसी विचार से सहमत हैं—'एवं च रसान्तरापेक्षया प्रकृतित्वमेव करुणस्य' इति। घनश्याम भी नाटक में शृङ्गार और वीर रस के अङ्गित्व को प्रायिक मानते हुए करुण भी नाटक में अङ्गी रस हो सकता है, अतः उत्तररामचरित करुणरस प्रधान होते हुए भी नाटक है—ऐसा कहते हैं। यह करुण करुणविप्रलम्भ से भिन्न है। करुण-विप्रलम्भ शृङ्गार का एक भेद है, जिसमें रति स्थायिभाव होता है, किन्तु करुण एक स्वतन्त्र रस है, जिसमें शोक स्थायिभाव रहता है। उत्तररामचरित में विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावों से अभिव्यक्त होकर शोक ही स्थायिभाव है, जो चवर्णं दशा में करुण रस में परिणत हो जाता है।

यों तो करुण रस का आरम्भ इस नाटक में प्रारम्भ से ही दिखलायी देता है, किन्तु तृतीय अंक में वह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा हुआ प्रतीत होता है।[1] वहाँ राम का करुण क्रन्दन, दीर्घोच्छ्वास, परिदेवन और मोहागम सीता के हृदय में ही नहीं, अपितु सामाजिकों के भी अन्तःकरण में राम के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति उत्पन्न कर देते हैं। उक्त भाव करुण रस के अभिनय में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं।[2]

'उत्तररामचरित' करुणरस-प्रधान है—कवि ने अपने निम्नलिखित श्लोक से इसी बात की ओर संकेत किया है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥

जैसा कि करुणरस के विषय में आचार्यों का मत है कि राम को सीता-समागम की बिल्कुल आशा नहीं रह गयी है। वे समझते हैं कि सीता नहीं रह गयी है, उसे मरे बारह वर्ष हो गये, अब उसका नाम भी रहा।[3] रह गयी नाटक के सुखान्त वाली बात; इस विषय में इतना ही निवेदन है कि नाटक की कथा का आधार वाल्मीकि कृत रामायण है। रामायण में सीता के निधन में कथा का अवसान होता है। चूँकि नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक की कथा का अवसान सुखद होना चाहिए, अतः इस नियम के निर्वाह के लिए तथा राम जैसे कर्त्तव्यनिष्ठ और धर्मप्रिय व्यक्ति के लिए दुःखद अवसान उचित

१. द्रष्टव्य—उत्तर०, ३।३३-३८।
२. 'सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च'॥ (नाट्यशास्त्र ६।६३)
३. द्रष्टव्य—उत्तर०, ३।३३।

नहीं। इसलिए भी कवि ने कथावस्तु में परिवर्तन कर राम-सीता के मिलन में कथा का अवसान किया है, जिसका सारा श्रेय गङ्गा और पृथिवी जैसी देवता, वाल्मीकि जैसे महर्षि, वसिष्ठ-पत्नी अरुन्धती जैसी सती-शिरोमणि को है।

इस विषय में माननीय डॉ० विद्यानिवास मिश्र का कथन भी ध्यान दिये जाने योग्य है—करुणरस का स्थायिभाव शोक, इष्टनाश से उत्पन्न हुआ होता है। यह इष्ट, व्यक्ति, धारणा, धर्म आदि कुछ भी हो सकता है। पश्चिमी दृष्टि से ट्रेजेडी का मूल होता है—आशाभंग। उस दृष्टि से देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि राम के मन में यह आशा थी कि सीता का परित्याग करके हम लोक को प्रसन्न कर लेंगे और हमारे इस त्याग का महत्त्व समझा जायेगा। किन्तु होता यह है कि लोग भूल जाते हैं कि सीता का त्याग भी हुआ है और उन्हें यह आभास ही नहीं होता कि राजा (राम) ने सीता का त्याग करके अपने को कितना तोड़ लिया है। जिसे प्रसन्न करने के लिए त्याग किया गया, उसने राजा के दुःख को दुःख ही नहीं समझा, यही ट्रेजेडी का मूल है। यह ट्रेजेडी सीता के मिलने से भी दूर नहीं होती। राम लक्ष्मण से यही कहते हैं कि सीता की पवित्रता के विषय में गङ्गा और पृथ्वी की बात मुझे क्यों सुनाते हो? लोगों से कहो, वे सुनें। इससे स्पष्ट है कि लोगों के प्रति राम का अमर्ष जाता नहीं है, वह ज्यों का त्यों बना रह जाता है। राम का 'सर्वमिदमनुभवन्नपि न प्रत्येमि'—यह वाक्य इस स्थायी दुःख को और भी रेखांकित करता है।

इस प्रकार यह नाटक ऊपर से देखने में तो सुखान्त है, किन्तु भीतर से आदि से अन्त तक करुण बोध से आर्द्र है। ऊपर से देखने पर तो कथा का अवसान राम और सीता के मिलन में है, किन्तु वस्तुतः मिलन होता नहीं, क्योंकि सीता और राम दोनों टूट चुके हैं। लोगों को प्रताड़ित करने के लिए ही मिलन होता है। दैवी शक्तियों के सहयोग से लोगों की कुबुद्धि का मार्जन तो हो जाता है, किन्तु राम और सीता को अपने दुःख की समाप्ति पर विश्वास नहीं है। राम के मन में होता है कि सब कुछ घटित हो रहा है पर मुझे विश्वास नहीं हो रहा है और सीता के मन में यह शल्य है कि क्या आर्यपुत्र को मेरा दुःख दूर करने की कला अभी भी याद है। दोनों के द्वारा, केवल लोकमंगल और लोकरञ्जन के लिए किया गया यह करुण बलिदान दोनों के हृदय में स्थायी वेदना के रूप में कीलित हो गया है।

अतः 'उत्तररामचरित' में 'करुण' अङ्गी रस है—यही मानना समीचीन है।

उत्तररामचरित : भवभूति के दोष

आलोचकों ने भवभूति में अनेक दोषों की उद्भावना की है। जैसे—(१) आवश्यकता से अधिक वर्णन है। उत्तररामचरित के द्वितीय, पञ्चम तथा षष्ठ अङ्क के बहुत से अंश निकाल दिये जायँ तो भी नाटक की क्षति नहीं होती, उलटे इनके रहने से नाटक बोझिल हो जाता है। (२) भवभूति प्रायः कठोर ध्वनि वाले तथा 'भौकुली', 'प्रचलाकी' जैसे अप्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं और उनकी रचना लम्बे-लम्बे समासों के कारण प्रसादगुण रहित है। (३) उन्होंने शब्दों, वाक्यों तथा श्लोकों तक को अनेक बार दोहराया है। 'उत्तररामचरित' में अनेक श्लोक ऐसे हैं जो 'महावीरचरित' अथवा 'मालतीमाधव' में मिलते हैं। (४) राम जैसे धीरोदात्त नायक का फूट-फूट कर रोना नायक की मर्यादा के विरुद्ध है। राम का बार-बार मूर्च्छित होना और सीता के कर-स्पर्श से चैतन्य प्राप्त करना कुछ कृत्रिम-सा लगता है। (५) काल, देश और कार्य तीनों की अन्वितियों का

भङ्ग भी इस नाटक में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। नाटक के पहले तथा दूसरे अङ्क के बीच बारह वर्ष का समय व्यतीत होता है और शेष अङ्कों की घटनाएँ एक-दो दिन के समय में एक-दूसरे के अनन्तर शीघ्रता से हो जाती हैं, यह काल-अन्विति का भङ्ग है। इसी प्रकार अयोध्या, पंचवटी तथा पुनः वाल्मीकि के आश्रम में घटनाएँ घटती हैं, इससे देश-अन्विति का भङ्ग होता है और अनेक प्रकार के कार्यों से संकुल होने के कारण कार्य-अन्विति का भङ्ग होता है। (६) स्थितप्रज्ञ राजर्षि जनक का क्षुब्ध होना उनकी मर्यादा के विरुद्ध है।

इन दोनों के सम्बन्ध में इतना ही निवेदन है कि भारतीय नाट्यशास्त्र में कालादि की तीनों अन्वितियों का उतना महत्त्व नहीं है जितना यूनानी नाटकों में। हमारे यहाँ रस-निष्पत्ति को मुख्य माना जाता है, उसके सामने वस्तु और नायक गौण है। कुश और लव की बारह-वर्ष की अवस्था को दिखलाने के लिए भी प्रथम और द्वितीय अङ्क के बीच बारह वर्ष का अन्तराल आवश्यक है। राम की आत्मग्लानि, वासन्ती का कठोर उपालम्भ, जनक का क्षोभ, एक ही कुल के दो बच्चों में युद्ध, अपने ही पुत्र द्वारा अपनी आलोचना सुनने की विडम्बना आदि ऐसी बातें हैं, जिनका नाटक के प्रधान रस करुण के परिपोष में सहायक होने के कारण यहाँ औचित्य बन जाता है। करुण रस के अभिनय के लिए धीरोदात्त राम का बार-बार मूच्छित होना आदि भी नाट्यशास्त्र के अनुकूल है।[1]

उत्तररामचरित और भवभूति का वैशिष्ट्य

संस्कृत-नाट्यसाहित्य में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के पावन चरित्र से सम्बद्ध अनेक नाटक हैं, किन्तु उनमें भवभूति का 'उत्तररामचरित' अपना एक अलग ही वैशिष्ट्य-पूर्ण स्थान रखता है। साहित्यशास्त्र में जहाँ नाटकों में शृङ्गार अथवा वीर रस की प्रधानता का विधान है, वहीं भवभूति ने उसके विपरीत करुणरस-प्रधान नाटक रचकर नाट्यजगत में एक अपूर्व क्रान्ति ला दी है। भवभूति तो यहाँ तक कहते हैं कि करुण ही एकमात्र रस है और वही करुण रस निमित्त भेद से शृङ्गार, वीर, अद्भुत आदि रसों के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।[2] इसी की अभिव्यक्ति में कवि की कला का प्रधान रूप से उपयोग हुआ है। आलम्बनविभाव (नायिका सीता) तथा उद्दीपनविभावों के वर्णन में गौण रूप से। कवि ने हृदय की गूढातिगूढ़ दशाओं का सविस्तार वर्णन किया है। मानव हृदय की कोमल भावनाओं का अत्यन्त हृदयस्पर्शी वर्णन उत्तररामचरित की प्रमुख विशेषता है।

उत्तररामचरित में बाल-जीवन का भी बड़ा मनोहर वर्णन मिलता है। चतुर्थ अङ्क में लव और बटुओं का अश्वविषयक वार्तालाप तथा जनक द्वारा सीता की बाल्यावस्था का वर्णन इसके उत्कृष्ट निदर्शन हैं।

तृतीय अङ्क में सीता द्वारा पोषित गज का अपनी प्रिया के साथ जल-विहार करता हुआ दृश्य चित्रित कर कवि ने नूतन-नूतन कल्पनाओं की उद्भावना में अपनी निपुणता प्रदर्शित की है।

उत्तररामचरित में जैसा प्रेम का शुद्ध रूप देखने को मिलता है, वैसा अन्य कवियों की कृतियों में दुर्लभ है। राम (नायक) द्वारा एकपत्नीव्रतत्व का पालन किया जाना एक उच्च आदर्श है। पूरा नाटक सदाचार की भावना से ओत-प्रोत है। कवि ने इस नाटक

---

१. नाट्यशास्त्र (६।६३)। २. द्रष्टव्य—उत्तर०, ३।४७।

के माध्यम से राजा का वह आदर्श रूप प्रस्तुत किया है, जो स्वार्थ और त्याग की मूर्ति है तथा प्रजानुरञ्जन ही जिसका प्रधान धर्म है। प्रजानुरञ्जन के लिए प्राण-प्रिया का भी त्याग करने में जिसे तनिक भी हिचक नहीं है।[1]

भवभूति गम्भीर प्रकृति के कवि हैं। अतएव इनके नाटकों में विदूषक का अभाव है, फिर भी निर्मल एवं शिष्ट हास की सृष्टि करने में पूर्ण सफल हैं।

'उत्तररामचरित' में अन्य कवियों की भाँति प्रकृति के कोमल तथा मधुर रूप का चित्रण न करके कवि ने उसके गम्भीर तथा विकट रूप का ही अधिक वर्णन किया है। 'शिखरिणी' छन्द कवि को अत्यन्त प्रिय है।[2] उसमें शब्दों की ध्वनि में अर्थ प्रतिध्वनित होता है।

नाटकों में प्रायः एक से अधिक प्राकृत भाषाओं का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु भवभूति ने केवल शौरसेनी, इस एक ही प्राकृत का प्रयोग किया है, वह भी केवल गद्य भाग में। पद्यों में सर्वत्र उन्होंने संस्कृत का ही प्रयोग किया है।

भाषा रसों और भावों के ही अनुकूल प्रयुक्त हुई है। करुण रस और मधुर भावों की व्यंजना में प्रसादगुण-पूर्ण मधुर पदावली तथा वीर रस की व्यंजना में गाढबन्ध एवं क्लिष्ट पदावली का प्रयोग हुआ है।

उत्तररामचरित के प्रथम अङ्क में 'चित्रवीथी' दृश्य से कवि ने रामचन्द्रजी का पूर्व चरित्र प्रदर्शित किया है, तो सातवें अङ्क में गर्भाङ्क की योजना से उनके उत्तरचरित्र पर प्रकाश डाला है। यह अंक पूरे नाटक की कथावस्तु का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत कर देता है।

वास्तव में इस नाटक और कवि की विशेषताओं के सम्बन्ध में स्वतन्त्र निबन्ध अपेक्षित है। विस्तार-भय से संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि भवभूति ने 'उत्तररामचरित' में अपूर्व चिन्तित करुण रस को केन्द्र में प्रतिष्ठित कर संस्कृत-नाट्य-साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है और 'उत्तररामचरित' नाटकों में अपने ढंग का एक निराला ही नाटक है।

उत्तररामचरित : शैली

यों तो संस्कृत-साहित्यशास्त्र में वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी, इन चार रीतियों का उल्लेख है, किन्तु काव्य-साहित्य में प्रायः दो ही रीतियों—वैदर्भी और गौडी का प्रयोग मिलता है। वैदर्भी वह रीति (पदसङ्घटना) है जिसे माधुर्य के अभिव्यंजक वर्णों से पूर्ण, समास रहित अथवा स्वल्प समास युक्त ललित रचना कहते हैं—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते॥ (साहित्यदर्पण, ९।२)

वैदर्भी का प्रयोग शृङ्गार अथवा करुण रस में कोमल भावों की अभिव्यक्ति के समय होता है।

---

१. उत्तर० १।१२।

२. भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥ (क्षेमेन्द्र)

गौडी वह रीति है, जिसे ओजोगुण के अभिव्यञ्जक वर्णों से पूर्ण, समास-बहुल उद्भट रचना कहते हैं—

ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥
समासबहुला गौडी ………………………। (साहित्यदर्पण, ९।३)

गौडी रीति का प्रयोग वीर रस के वर्णन में अथवा प्राकृतिक विकट दृश्यों को प्रस्तुत करते समय किया जाता है। वहाँ ओजगुण का होना आवश्यक होता है।

'उत्तररामचरित' में इन दोनों रीतियों का समुचित प्रयोग मिलता है। करुण रस के वर्णन के कोमल प्रसङ्ग में वैदर्भी रीति का प्रयोग देखिए—

दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥ (३।३१)

इसी प्रकार सम्भोग-शृङ्गार के वर्णन में वैदर्भी रीति का सफल प्रयोग देखिए—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति सम्मीलयति च ॥ (१।३५)

वीर रस के वर्णन में गौडी रीति का प्रयोग करते हुए कवि ने अधोलिखित पद्य में ध्वन्यात्मकता, चित्रात्मकता आदि सभी वीर रसोचित गुणों को एक साथ मुखरित कर दिया है—

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु चापम् ॥ (४।२९)

प्रकृति के विकट एवं भीषण दृश्यों के वर्णन में भवभूति द्वारा गौडी रीति का प्रयोग निम्नलिखित श्लोक में देखा जा सकता है, जिसमें प्रकृति का यथार्थ चित्रण है। कृत्रिमता लेशमात्र भी नहीं है। वास्तविक और विशदता का ऐसा अनुपम सामञ्जस्य अन्यत्र दुर्लभ है—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छा सुप्तगभीरघोरभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत् स्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥ (२।१६)

कवि की विलक्षणता तो इस बात में है कि इसने प्रकृति के कोमल पहलू के चित्रण में भी उसी समास-गर्भित पदावली वाली गौडी रीति का सफलता पूर्वक प्रयोग किया है—

इह समद-शकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरि स्रोतसो निर्झरिण्यः ॥ (२।२०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि भवभूति की शैली में भाषा और भाव का अद्भुत

सामञ्जस्य है। वैदर्भी तथा गौडी दोनों परस्पर विरुद्ध रीतियों पर उनका समान अधिकार है। उन्होंने स्वयम् अपनी शैली के विषय में संकेत किया है—

'यत् प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्।
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥' (मालतीमाधव)

उत्तररामचरित में पात्रों का चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण नाटक का महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। सम्पूर्ण नाटकीय कथा, घटनाएँ और परिस्थितियाँ जब तक चरित्र से सम्बद्ध नहीं होती हैं, तब तक वे नाटक को प्रभावशाली बनाने में अक्षम ही रह जाती हैं। चरित्र-चित्रण जितना ही उत्कृष्ट होता है, नाटक उतना ही सफल माना जाता है। अपने पात्रों के चरित्र के विषय में नाटककार अपनी ओर से कुछ कहने के लिए स्वतन्त्र नहीं होता है। वह केवल कथोपकथन, स्वगत-कथन और कार्य-कलापों के सीमित साधनों से ही पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करता है। इस दृष्टि से उत्तररामचरित को देखने पर विदित होता है कि नाटककार नाटक के प्रमुख पात्रों के चरित्र-चित्रण में पूर्णरूपेण सफल हुआ है। चरित्र-चित्रण की कला से सजा-सँवार कर प्रमुख पात्रों का निखरा हुआ जो स्वरूप नाटककार ने हमारे सामने प्रस्तुत किया है, उसकी झाँकी देखिए—

भगवान् राम—श्रीरामचन्द्रजी 'उत्तररामचरित' के दिव्यादिव्य धीरोदात्त नायक हैं। वे विष्णु के अवतार माने जाते हैं और लोक-प्रतिष्ठित मर्यादा की सुरक्षा में समग्र जीवन को समर्पित कर देने के कारण 'मर्यादा पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। उत्तररामचरित में राम आदर्श पति, आदर्श पिता तथा आदर्श राजा के रूप में चित्रित किये गये हैं। एक-पत्नीव्रत की वे साक्षात् मूर्ति हैं। सीता के निर्वासित होने के बाद अश्वमेधयज्ञ में वे उसकी हिरण्मयी प्रतिमा को ही सहधर्मचारिणी के रूप में नियुक्त करते हैं। संसार में इससे अधिक उत्कृष्ट एकपत्नीव्रत का उदाहरण मिलना यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है।

राम वह आदर्श राजा हैं जिनका प्रजानुरञ्जन ही एक महान् व्रत है। वे लोकरञ्जन के लिए स्नेह, दया, सौख्य और यहाँ तक कि जो उनके गृह की लक्ष्मी थी, नयनों की अमृतशलाका थी, उनका जीवन थी और दूसरा हृदय थी, उस प्राणप्रिया जानकी को भी सर्वथा परिपूता जानते हुए भी वन में निर्वासित कर अपने जीवन के समस्त सुखों को तिलाञ्जलि दे देते हैं। यहाँ वे आदर्श राजा के रूप में वज्र से भी कठोर बन जाते हैं, किन्तु उसके बाद ही अश्वमेधयज्ञ में सीता की हिरण्मयी प्रतिमा को ही सहधर्मचारिणी नियुक्त कर आदर्श पति के रूप में कुसुम से भी अधिक मृदु बन जाते हैं। राम सीता-निर्वासन रूप नृशंसकर्म के लिए बराबर अपने आपको धिक्कारते रहते हैं।

सकरुण होकर भी राम लोकरञ्जन के लिए ही शम्बूक पर प्रहार करने में हिचकते हुए दाहिने हाथ को कोसते हैं—'रे दक्षिण हस्त! ब्राह्मण-बालक को जिलाने के लिए शूद्र मुनि पर तलवार का प्रहार कर। इस विषय में हिचक क्यों करता है? अरे! तू तो परिपूर्ण गर्भ से खिन्न प्रियतमा सीता का परित्याग करने में पटु राम का हाथ है। अतः तुझमें करुणा कहाँ से आयी? निर्दय व्यक्ति का अङ्ग होने के कारण तू भी करुणाहीन होकर 'शूद्र तापस' पर प्रहार कर।' राम के इस कथन में उनकी आत्मग्लानि स्पष्ट है।

पञ्चवटी में पहुँचने पर राम की वह आत्मग्लानि और अधिक तीव्र हो जाती है—'जहाँ मैंने सीता के साथ अपने घर की भाँति वे सुखमय दिवस बिताये थे, और जिसकी बड़ी-बड़ी चर्चाएँ करते हुए ही हमलोग अयोध्या में भी रहते थे, आज प्रियतमा का विनाश करनेवाला पापी राम एकाकी इस पञ्चवटी को कौन-सा मुँह लेकर देखे ? अथवा निरादर कर कैसे चला जाय ? क्या करूँ ? कुछ समझ में नहीं आ रहा है।' राम ने लोकानुरञ्जन के लिए सीता-निर्वासन तो करा दिया, किन्तु सीता के प्रति उनके स्नेह में तनिक भी मलिनता नहीं आयी, प्रत्युत वह उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता चला गया। सीता को भी छाया अङ्क में इस बात का स्पष्टतः ज्ञान हो जाता है। वहाँ राम का मूर्च्छित होना और सीता के कर-स्पर्श से चेतना प्राप्त करना सीता के लिए अपने प्रति राम के प्रगाढ़ स्नेह का स्पष्ट प्रमाण है, किन्तु राम का यह स्नेह सामान्य स्नेह की भाँति छिछला, उद्दण्ड एवम् उच्छृङ्खल नहीं है। वह मर्यादा से बँधा हुआ है और पुटपाक के समान भीतर ही भीतर सुलगता रहता है, फिर भी कभी-कभी उमड़ कर प्रलापों के माध्यम से व्यक्त हो ही जाता है। षष्ठ अङ्क में युद्धक्षेत्र में कुश तथा लव को देखकर उनके सीता-पुत्र होने की सम्भावना से राम का हृदय वात्सल्य से भर जाता है। संक्षेपतः भवभूति के राम आदर्श राजा, आदर्श पति तथा आदर्श पिता सभी कुछ हैं।

भगवती सीता—भगवती सीता प्रस्तुत नाटक की नायिका हैं। उनको विश्व का भरण-पोषण करनेवाली भगवती वसुन्धरा ने जन्म दिया है। ब्रह्मा के समान राजा जनक उनके पिता हैं। वे सूर्यकुल के राजाओं की बहू हैं। राम को सीता का सब कुछ प्रिय है। यदि कुछ अप्रिय है तो वह है उसका विरह। सीता का राम के प्रति कितना अगाध प्रेम तथा आदर भाव था, इसकी झलक 'तस्मै कोपिष्यामि यदि तं प्रेक्षमाणा आत्मनः प्रभविष्यामि'—सीता के इस वचन से मिलती है; किन्तु विधि की विडम्बना ऐसी रही कि कुलीनता और आचार से साक्षात् देवी सीता को भी भगवान् राम की प्रजानुरञ्जन की प्रतिज्ञा में साधन बनना पड़ा। जहाँ राम, वसिष्ठ, अरुन्धती और कौसल्या आदि रानियों द्वारा गर्भ भरालसा सीता के लिए पूर्ण सुख-सुविधा देने की बात सोची गयी थी, वहाँ उलटे उनको घोर अरण्य में नाना कष्ट झेलने के लिए छोड़ दिया गया।

अपने अकारण निर्वासन के लिए सीता के हृदय का, राम के स्नेह की पूर्णता में शंकालु होना स्वाभाविक है।[1] फिर भी सीता की ओर से अपने स्नेह की पूर्णता में किसी प्रकार की मलिनता या कमी नहीं आने पायी है। 'अयि कठोर ! यशः किल ते प्रियं किमयशो ननु घोरमतः परम्' (३।२७)—वासन्ती का यह कठोर उपालम्भ सुनकर सीता कहती है—'सखि वासन्ति ! त्वमेव दारुणा कठोरा च, यैवं प्रलपन्तं प्रलापयसि'। सीता का यह वचन उनके स्नेह की निर्मलता का स्पष्ट प्रमाण है।

सीता वह मन्दभागिनी माता है कि जिसके पुत्र तो हुए, किन्तु उन पुत्रों की बाल्यावस्था का सुख न तो उसके प्रिय राम को ही प्राप्त हो सका और न ही पूर्णतः उसे।[2]

---

१. भगवति तथा निष्कारणपरित्यागिनोऽप्येतस्यैवंविधेन दर्शनेन कीदृश इव मे हृदयानुबन्ध इति न जानामि। (३।१२ के बाद का गद्य भाग)

२. किं वा मया प्रसूतया येन तादृशमपि मम पुत्रकयोरीषद्विरलकोमलधवलदशनोज्ज्वलकपोलमनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितं निबद्धकाकशिखण्डकम् अमलमुखपुण्डरीकयुगलं न परिचुम्बितमार्यपुत्रेण। (३।१६ के बाद का गद्य भाग)।

सीता को तो पता है कि मेरे दो पुत्र पैदा हुए हैं। वे वाल्मीकि के आश्रम में पल रहे हैं, किन्तु राम को इसका भी पता नहीं है। एक प्रकार से सीता का दुःख भी राम के ही दुःख की तरह एकान्तिक है। सीता अपने पुत्रों से बारह वर्ष बाद जब मिलती हैं, तो मानों उन्हें वे दोनों दूसरे जन्म में मिल रहे हों। वे कहती हैं—'चिरस्य परिष्वजेथां मां पुनर्जन्मान्तरगतां जननीम्।'

लव और कुश—ये दोनों यमज भ्राता राम के पुत्र हैं। ये अपने पिता के समान ही रूपवान् और समस्त गुणों के आश्रय हैं। स्वयं वाल्मीकि ने ही अपने आश्रम में इनका पालन-पोषण किया तथा क्षत्रियोचित संस्कार कर उन्हें सम्पूर्ण विद्याएँ प्रदान कीं। जृम्भकास्त्र इन्हें जन्मतः स्वतः सिद्ध है। वाल्मीकि ने रामायण के कुछ अन्तिम भाग को छोड़कर शेष पूरा का पूरा लव और कुश को याद कराया था। जन्म क्रम से कुश ज्येष्ठ था। वाल्मीकि के आश्रम में रहने के उद्देश्य से वसिष्ठ, अरुन्धती, कौसल्यादि रानियाँ और जनक आते हैं, उस समय उनके आगमन के उपलक्ष्य में आश्रम में अनध्याय हो जाने से आश्रम के बटुक खेलते-कूदते एवं कोलाहल करते हैं। उन्हीं में क्षत्रियबटुकोचित वेश-भूषा धारण किये हुए लव को भी जनक आदि ने देखा। उन्हें उसमें राम की छाया स्पष्ट दिखलायी पड़ी और वात्सल्यवश उन लोगों ने उसे अपने पास बुलाया। लव विनय के साथ उनके समीप जाकर 'एष वो लवस्य शिरसा प्रणामपर्यायः' कहकर उन सबका अभिवादन करता है। पराक्रमी और तेजस्वी होने के साथ ही लव विनय-सम्पन्न और शिष्टाचार का पालन करनेवाला भी है। पाँचवें अङ्क में हमें लव के वीररूप का दर्शन होता है। वह क्षत्रियत्व के स्वाभिमानवश राम की भी वीरता को किसी प्रकार मान्यता देने के लिए तैयार नहीं होता है। उसकी मान्यता है कि किसी व्यक्ति विशेष में क्षात्रधर्म व्यवस्थित नहीं है। वह परशुराम-जैसे ब्राह्मण के दमन में, ताड़का तथा बाली के वध में, खर के साथ युद्ध में तीन पग पीछे हटने में राम की अपकीर्ति ही समझता है। राम ने वैसा करके उसकी दृष्टि में वीरोचित आचरण नहीं किया। किन्तु युद्धस्थल में राम के उपस्थित होने पर उन पुण्यानुभावदर्शन महापुरुष को देखते ही लव का सारा विरोध विश्रान्त हो जाता है। वह अभिवादनपूर्वक 'मृष्यन्त्विदानीं लवस्य बालिशतां तातपादाः' कहकर अपनी धृष्टता के लिए क्षमा-याचना करता है। इस प्रकार लव में भोलेपन के साथ ही प्रखर क्षत्रियत्व, स्वाभिमान, अदम्य उत्साह, अगाध पराक्रम के भी दर्शन होते हैं। विनय, शिष्टाचार आदि तो आश्रम में पले होने के कारण उसमें स्वभावतः थे ही।

कुश को वाल्मीकि ने स्वरचित सन्दर्भ के साथ भरत मुनि के पास भेजा था। वहाँ से लौटते ही उसने सुना कि लव का राजा की सेनाओं के साथ युद्ध हो रहा है। बस, वह संसार में सम्राट् शब्द का अन्त कर देने पर ही तुल गया। क्षत्रिय जाति के शस्त्रानल को सर्वदा के लिए बुझा देने को ही उद्यत हो गया। 'दत्तेन्द्राभयदक्षिणैः'—इत्यादि श्लोक से युद्ध की घोषणा करता हुआ युद्ध-भूमि में पहुँच गया। कुश का उस समय का स्वरूप देखकर राम भी चकित हो गए। वे कहने लगे—'इस क्षत्रिय बालक में सामर्थ्य का अनिर्वचनीय उत्कर्ष है। इसकी दृष्टि तीनों लोकों के बलोत्कर्ष को तृण के समान तिरस्कृत कर रही है। इसकी धीर और गर्व भरी चाल पृथ्वी को अवनमित-सी कर रही है। बाल्यावस्था में भी पर्वत के समान यह गुरुता धारण किये हुए है, ऐसा प्रतीत होता है कि मानों मूर्तिमान् वीर रस अथवा गर्व ही चला आ रहा हो।' लव ने कुश के समीप

जाकर प्रणतिपूर्वक सारी स्थिति बतलायी और उसे शान्त रहने के लिए कहा। कुश तो किसी क्षत्रिय के प्रति विनय निन्द्य समझता था, किन्तु लव ने उसे समझाया कि राम हमारे धर्मपिता हैं, क्योंकि वे चन्द्रकेतु के ज्येष्ठ पिता हैं और चन्द्रकेतु मेरा (लव का) प्रिय मित्र है। अतः कुश ने लव के साथ राम के पास पहुँचकर उनका अभिवादन किया तथा उनके दर्शन से अपने को कृत-कृत्य किया। राम भी वात्सल्यवश उसका आलिङ्गन कर आनन्दित हुए।

कालिदास और भवभूति

काव्यक्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से कालिदास भवभूति से बहुत आगे हैं। उन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य (अथवा गीतिकाव्य) और नाटक इन तीनों प्रकार के काव्यों की रचना की है तथा आज तक इन सब क्षेत्रों में सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। भवभूति ने केवल नाटकों की रचना की है, इस समय उनकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है। यह भी सही है कि भवभूति को 'उत्तररामचरित' की 'चित्रवीथी' की प्रेरणा 'रघुवंश' के १४ वें सर्ग के पच्चीसवें श्लोक से मिली है। 'छाया-सीता' की कल्पना में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के छठे अङ्क का वह प्रसङ्ग प्रेरक रहा है, जहाँ सानुमती अप्सरा अदृश्य रूप में दुष्यन्त की विरह दशा देखती है। भवभूति के 'मालतीमाधव' में विरही माधव द्वारा अपनी प्रेमिका के पास मेघ के माध्यम से भेजा गया सन्देश भी कालिदास के 'मेघदूत' से प्रभावित है। इन सब बातों के उपरान्त भी भवभूति अपने सीमित (नाटक) क्षेत्र में अपनी विशेषताओं के कारण कालिदास से कम नहीं हैं।

भवभूति की रचनाएँ उस पवित्र एवम् आदर्श प्रेम के उच्च धरातल पर अवतीर्ण होकर हमारे लिए प्रकाशस्तम्भ बन गई हैं, जहाँ वासना के ज्वार की पहुँच नहीं है। उस प्रेम में कोई आन्तरिक कारण ही प्रमुख होता है, बाह्य कारणों की वहाँ अपेक्षा नहीं होती है।[1] सच्चा प्रेम सदा एकरस बना रहता है। उसमें हृदय को अपूर्व विश्राम मिलता है। उसमें उत्तरोत्तर उत्कृष्टता बढ़ती जाती है। ऐसा कल्याणकारी-दाम्पत्य-प्रेम किसी बिरले सौभाग्यशाली को ही प्राप्त होता है।[2] ऐसे आदर्श, पवित्र एवं सच्चे प्रेम में चाहे प्रिय व्यक्ति प्रेमी के लिए कुछ न करे, फिर भी प्रेमी को उसके सामीप्यमात्र से ही सुख होता है। अतः वह प्रेमी के लिए एक 'अमूल्य निधि' होता है।[3] सन्तान उस दाम्पत्य-प्रेम में चार चाँद लगा देती है (उत्तर० ३।१७)।

कालिदास भवभूति के उक्त आदर्श प्रेम के उच्च धरातल तक नहीं पहुँच सके हैं। उनका दाम्पत्य-प्रेम 'कुमारसम्भव' में तो कहीं-कहीं अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गया है। 'मेघदूत' में यद्यपि दाम्पत्य-प्रेम की तीव्रता बहुत कुछ 'उत्तररामचरित' के समान ही देखी जाती है, तथापि वह सामान्य स्नेह की भाँति छिछला, उद्दण्ड और उच्छृङ्खल बनकर ही रह गया है। वह कर्त्तव्यच्युत अतएव प्रिया-वियुक्त एवम् उच्छृङ्खल एक कामी का प्रेम है, जो वासना की कलुषित भाव-भूमि पर आधारित है और जिसमें विरह 'उत्तररामचरित' की भाँति निरवधिक नहीं, सावधिक है। उसमें केवल यक्ष के ही प्रेम का वर्णन होने से उसकी एकाङ्गिता भी स्पष्ट है।

कालिदास अपने हृदय की तीव्र वासना के कारण नारी को 'तुङ्गस्तनी', बिम्बाधरा', 'श्रोणीभारादलसगमना' आदि के रूप में ही देख पाते हैं। अतएव उसे 'भोग्या' ही मानते

१. उत्तर०, ६।१२। २. उत्तर०, १।३९। ३. उत्तर०, ६।५।

हैं, किन्तु भवभूति पवित्र-हृदय होने के कारण उसे 'घर की लक्ष्मी' (अतएव पूज्या) समझते हैं,[1] उसके स्पर्श को 'संजीवनौषधिरस' समझते हैं,[2] उसके वचन को 'कर्णामृत' मानते हैं,[3] और उसके आलिङ्गन में उसके बाहु को कण्ठ में डाला हुआ शीतल और कोमल मुक्ताहार मानते हैं।[4]

कालिदास ने रघुवंश में 'अज-विलाप' के प्रसङ्ग में कारुण्य की वह सरिता प्रवाहित की है, जो उफन कर दोनों कगारों को जलमय कर देती है, किन्तु भवभूति का कारुण्य वह अतलस्पर्शी समुद्र है, जिसके दुःख की गम्भीरता की थाह लेने वाले उसमें डूबते-उतराते रहते हैं।

यदि कालिदास की दृष्टि में शृङ्गार ही रसराज है और उसकी रचना में वे अद्वितीय माने जाते हैं, तो भवभूति 'एको रसः करुण एव' मानते हैं और उसकी रचना करने में अद्वितीय हैं।[5]

कालिदास राजवैभव से प्रभावित प्रतीत होते हैं। वे परिष्कृत, संयत, किन्तु वैभवयुक्त भाषा में नगर, राजसभा, स्वयंवर आदि का अतिशय मनोहर वर्णन करते हैं; जब कि भवभूति कन्नौजराज के आश्रित कवि होकर भी राजवैभव से बहुत दूर हैं। उन्हें राजसभा की कृत्रिमता की अपेक्षा विशाल प्रकृति का वैभव ही अधिक आकृष्ट करता है।

कालिदास प्रकृति के प्रायः सुकुमार तथा मनोरम चित्र ही प्रस्तुत करते हैं, किन्तु भवभूति प्रकृति के गम्भीर, कठोर तथा विकट रूप को भी चित्रित करने में सिद्धहस्त हैं। उनका दण्डकारण्य के दृश्यों का वर्णन इसका प्रमाण है।

कालिदास रस की अभिव्यक्ति के लिए लक्षणा अथवा व्यञ्जनावृत्ति से अधिक काम लेते हैं, किन्तु भवभूति प्रायः अभिधावृत्ति का ही आश्रय लेते हैं। इस प्रकार वे किसी भी बात को पाठक की कल्पना के लिए न छोड़कर स्वयं ही उसका विस्तृत वर्णन कर देते हैं।

कालिदास मधुर प्रकृति के कवि हैं। उनकी शैली प्रसादगुणोपेत है। उनके काव्य और नाटक में वैदर्भी रीति का अवलम्बन लिया गया है, किन्तु भवभूति गम्भीर प्रकृति के कवि हैं, वे अपनी प्रकृति के अनुसार ही ओज को अधिक पसन्द करते हैं और गौडी रीति का ही आश्रय लेते हैं। इसके साथ-साथ जहाँ कहीं भी इन्होंने वैदर्भी रीति का प्रदर्शन किया है, वह अत्यन्त मनोरम है।

कालिदास प्रायः मूर्त की उपमा मूर्त से देते हैं, किन्तु भवभूति मूर्त की उपमा अमूर्त से देते हैं। कालिदास के नाटकों में विदूषकों की योजना उनकी विनोद-प्रियता का परिचायक है, जब कि भवभूति की रचनाओं में उसका अभाव उनकी गम्भीरता का सूचक है।

कालिदास में कल्पना का प्राधान्य है, अतः वे न तो अपने को और न ही अपने पात्रों को भावुकता के प्रबल प्रवाह में बहने देते हैं। कालिदास के पात्र (दुष्यन्त आदि) केवल आँसू बहाकर ही अपनी वियोग दशा को समाप्त कर लेते हैं। वे न तो फूट-फूट कर रोते हैं और न ही मूर्च्छित होते हैं। इसके विपरीत महानुभूति भवभूति में भावुकता कूट-कूट कर भरी हुई है। वे अपने ही समान भावुक पात्रों की सृष्टि करने में कुशल हैं। 'उत्तर-रामचरित' में उनके पात्र (राम, सीता, वासन्ती, कौसल्या, पृथिवी आदि) भावुकता के

---

१. उत्तर०, १।३८। २. उत्तर०, ३।११। ३. उत्तर० १।३६।
४. उत्तर० १।३८। ५. कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते (अज्ञात)।

प्रबल प्रवाह में पड़कर केवल फूट-फूट कर रोते ही नहीं बल्कि पग-पग पर मूर्च्छित भी होते हैं। उस भावुकता से जनक-जैसे स्थितप्रज्ञ राजर्षि भी अछूते नहीं रहे। वे तो राम की माताओं से भी पहले मूर्च्छित हो जाते हैं। भवभूति की भावुकता करुण रस की धारा प्रवाहित करती है, देखें—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलीत वज्रस्य हृदयम्।' (१।२८)।

इन दोनों महाकवियों का तुलनात्मक विवेचन करते समय द्विजेन्द्रपालराय के शब्दों में यही निष्कृष्ट अर्थ निकलता है—

'विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरङ्ग-क्रीडा में, भाषा के गाम्भीर्य में और हृदय के माहात्म्य में 'उत्तररामचरित' श्रेष्ठ है। घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना के कोमलत्व में, मानचरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य में 'अभिज्ञानशाकुन्तल' श्रेष्ठ है। संस्कृत-साहित्य में ये दोनों नाटक अद्वितीय हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' शरद् ऋतु की पूर्ण चाँदनी है और 'उत्तररामचरित' नक्षत्र-खचित नीलाकाश है। एक व्यञ्जन है दूसरा हविष्यान्न है; एक वसन्त है, दूसरा वर्षा है; एक नृत्य है दूसरा अश्रु है; एक उपभोग है दूसरा पूजन है।'

—(मूल बंगला का हिन्दी रूपान्तर)

अतः महत्त्व की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य में भवभूति कालिदास के समकक्ष माने जाते हैं। वे संस्कृत-साहित्य के एक जगमागाते रत्न हैं।

उत्तररामचरित का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

उत्तरकालीन कवियों एवं आचार्यों को 'उत्तररामचरित' ने कितना प्रभावित किया और इसे कितनी लोकप्रियता प्राप्त हुई, इसकी प्रतीति के लिए निम्न संक्षिप्त निवेदन है—

आचार्य महिमभट्ट ने उत्तररामचरित के 'इयं गेहे लक्ष्मी'रित्यादि (१।३८) श्लोक को तथा 'रे हस्त दक्षिणमृतस्ये'त्यादि (२।१०) श्लोक को 'व्यक्तिविवेक' में उद्धृत किया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' में औचित्य के उदाहरण रूप में निम्नलिखित श्लोकों को सादर उद्धृत किया है—

(क) 'योऽयमश्वः पताकेयमथवा वीरघोषणा।
सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विषः॥'

—उत्तर० (४।२७); औचित्यविचारचर्चा, प्रबन्धार्थगत औचित्य।

(ख) 'ज्याजिह्वया वलयितोत्कट······जृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम्'॥

—उत्तर० (४।२९); प्रबन्धार्थगत औचित्य।

(ग) 'पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां········।
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति॥'

—उत्तर० (२।२७); देशौचित्य।

उन्होंने वहीं आलोचना के लिए भी निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

'वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः··········।
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः'॥

—उत्तर० (५।३४); वीररसानौचित्य।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि क्षेमेन्द्र की आलोचना ठीक नहीं है। देखिए—व्याख्या भाग में उक्त श्लोक पर टिप्पणी।

आचार्य धनञ्जय ने 'दशरूपक' में भवभूति के 'उत्तररामचरित' के लगभग बारह श्लोकों को विभिन्न उदाहरणों के रूप में सादर उद्धृत किया है।

इसी प्रकार महाराज भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृङ्गारप्रकाश' में भी विभिन्न उदाहरणों के रूप में 'उत्तररामचरित' के बहुत से पद्य उद्धृत हुए हैं।

परवर्ती नाटककारों में महाकवि जयदेव ऐसे नाटककार हैं, जिन पर 'उत्तररामचरित' का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके 'प्रसन्नराघव' के वस्तुविन्यास पर दृष्टिपात करते ही आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि जयदेव 'उत्तररामचरित' को मन में रखते हुए इस नाटक की रचना में प्रवृत्त हुए हैं। जैसे चित्रदर्शन द्वारा 'उत्तररामचरित' में राम का पूर्वचरित प्रदर्शित किया गया है, ठीक वैसे ही चित्र का आलम्बन लेकर समुद्र-तट पर स्थित कपिसैन्य, राम के द्वारा समुद्र का अनुनय, विभीषण को राम के द्वारा लंकाधीश बनाया जाना तथा सेतुबन्ध आदि का प्रदर्शन कराया गया है। इसके अतिरिक्त उसी की अनुकृति पर गङ्गा-यमुना-सरयू के संवाद के रूप में रामवनगमन, दशरथमरण तथा बालि-
सुग्रीव की कथा का निबन्धन हुआ है, रामचन्द्र द्वारा कनक मृग का अनुसरण हंस द्वारा
वर्णित हुआ है तथा गोदावरी और सागर के संलाप के रूप में जानकी-हरण, जटायु का
मारा जाना और ऋष्यमूक पर्वत पर सीता के द्वारा नूपुर का गिराया जाना आदि कथा
की सूचना दी गयी है। अधिकांश पद्यों में भी 'उत्तररामचरित' के पद्यों के ही समान
चमत्कार दिखलायी देता है। उत्तररामचरित के समान ही इस नाटक में भी विदूषक की
अवतारणा नहीं है। 'उत्तररामचरित' में यज्ञाश्व-वर्णन के प्रसङ्ग में हास्य रस की झलक
है तो 'प्रसन्नराघव' के तृतीय अङ्क में वामनक और कुब्जक ने अपने संलाप से हास्य की
सृष्टि की है। 'प्रसन्नराघव' के षष्ठ अङ्क में 'इन्द्रजाल' के आश्रयण से लङ्का-स्थित सीता
की दशा, रावण द्वारा सीता का अनुनय-विनय किया जाना, अन्त में मार डालने की
धमकी, सीता-त्रिजटा का संवाद, हनूमान् का सीता से मिलना, मुद्रिका देकर राम का
सन्देश सुनाना, अशोकवाटिका का विध्वंस, लङ्कादहन आदि समस्त वृत्तान्त नाटकीय
ढंग से राम और लक्ष्मण के सामने प्रस्तुत किया गया है। कवि को ऐसा करने की प्रेरणा
निश्चय ही 'उत्तररामचरित' के गर्भनाटक से मिली होगी। इस प्रकार पूरा नाटक
'उत्तररामचरित' से प्रभावित है।

हिन्दी के आचार्य तथा महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'वैदेही-वनवास'
एक प्रसिद्ध महाकाव्य है। यह काव्य 'उत्तररामचरित' की कथा से सूत्र प्राप्त कर निर्मित
हुआ है। यह बात दूसरी है कि कवि ने युगानुरूप अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कथा
में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। कवि को किसी भी पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथा
में युग के अनुरूप परिवर्तन करने की छूट होती ही है। फिर भी 'वैदेही-वनवास' पर
'उत्तररामचरित' की कारुणिक परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। राम-
चन्द्र का 'मर्यादापुरुषोत्तम' के रूप में और सीता का आदर्श सम्राज्ञी के रूप में चित्रण इस
काव्य में भी हुआ है। 'वैदेही-वनवास' का द्वितीय सर्ग 'उत्तररामचरित' नाटक पर ही
आधारित है। नाटक में संवाद लाने वाले चर का नाम दुर्मुख है और 'वैदेही-वनवास'
में भी कवि ने इसका नाम दुर्मुख ही रखा है। यह ज्ञातव्य है कि वाल्मीकिरामायण,

रघुवंश तथा अध्यात्मरामायण में इसका नाम क्रमशः भद्र और विजय है। 'वैदेही-वनवास' के द्वितीय सर्ग में चित्रशाला का वर्णन मिलता है। उसमें इतना ही अन्तर है कि नाटक में रामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मण के साथ घूमते हुए चित्रशाला के चित्रों का अवलोकन करते हैं, किन्तु उक्त काव्य में अकेले ही घूमते हुए। 'उत्तररामचरित' में चर स्वतः आकर राम से लोकापवाद की बात कहता है। 'हरिऔध' जी ने भी ऐसा ही किया है। यह ज्ञातव्य है कि वाल्मीकिरामायण और रघुवंश में राम के द्वारा जनपद का कुशल-वृत्तान्त पूछे जाने पर विनम्रता पूर्वक चर लोकापवाद की बात प्रस्तुत करता है।

'उत्तररामचरित' में भवभूति ने वनवासकालीन सीता द्वारा पालित गजशावक का वर्णन किया है—

सीतादेव्या स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रै-
रग्रे लोलः करिकलभको यः पुरा वर्धितोऽभूत्। (उत्तर०, ३।१६)

'हरिऔध' जी ने भी 'वैदेही-वनवास' में वाल्मीकि के आश्रम में निवास करती सीता द्वारा ऐसे ही गजशावक का पालन-पोषण होना दिखलाया है—

एक द्विरद का बच्चा कतिपय मास का।
जनक-नन्दिनी के कर से था पला॥
प्रायः फिरता मिलता इस मैदान में।
मातृहीन कर जिसे प्रकृति ने था छला॥

(वैदेही-वनवास, १३।१०)

'हरिऔध' जी ने 'वैदेहीवनवास' के त्रयोदश सर्ग में आत्रेयी का सीता से मिलन कराया है। इसका भी आधार 'उत्तररामचरित' ही है।

'उत्तररामचरित' में शंबूक के वध के लिए राम पंचवटी में जाते हैं और उस स्थान को देखकर सीता के स्मरण से व्याकुल हो जाते हैं। इसी के आधार पर 'वैदेही-वनवास' में भी राम को पंचवटी पहुँचने पर सीता के विरह से व्यथित दिखलाया गया है (सर्ग १७)। वहीं राम और वनदेवी का जो संवाद मिलता है, वह भी 'उत्तररामचरित' पर ही आधारित है।

उसी सत्रहवें सर्ग में जन-स्थान के वर्णन में 'हरिऔध' जी कहते हैं—

हो सकता है पत्थर का उर भी द्रवित।
पर्वत का तन भी पानी बन है बहा॥ (वही, २३।४)

इस पद्य पर 'उत्तररामचरित' के 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'। (१।२८) श्लोकांश की छाप स्पष्ट है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का यह काव्यग्रन्थ भी 'उत्तररामचरित' से बहुत कुछ प्रभावित है।

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

सूत्रधार	:	प्रधान नट।
नट	:	सूत्रधार का सहायक।
रामचन्द्र	:	अयोध्याधीश सूर्यवंशी राजा।
लक्ष्मण	:	सुमित्रा के पुत्र, राम के छोटे भाई।
शत्रुघ्न	:	सुमित्रा के छोटे पुत्र, लक्ष्मण के अनुज।
जनक	:	मिथिला के राजा, सीता के पिता।
अष्टावक्र	:	मुनि विशेष।
वाल्मीकि	:	रामायण के रचयिता महर्षि।
सौधातकि	:	वाल्मीकि का शिष्य।
दाण्डायन	:	वाल्मीकि का शिष्य।
कुश–लव	:	राम के पुत्र।
चन्द्रकेतु	:	लक्ष्मण का पुत्र।
सुमन्त्र	:	चन्द्रकेतु का सारथि।
विद्याधर	:	देवयोनि विशेष।
कञ्चुकी	:	अन्तःपुर चर, वृद्ध ब्राह्मण।
दुर्मुख	:	राम का गुप्तचर।
शम्बूक	:	शूद्र तापस।
मुनि-कुमार	:	वाल्मीकि के आश्रम के ब्रह्मचारी।
सैनिक	:	चन्द्रकेतु के जन।

स्त्री-पात्र

सीता	:	जनक की पुत्री, राम की पत्नी।
वासन्ती	:	वनदेवता, सीता की सखी।
आत्रेयी	:	ब्राह्मण जातीय ब्रह्मचारिणी।
तमसा	:	नदी विशेषाधिष्ठात्री देवी।
मुरला	:	,, ,, ,,।
गोदावरी	:	,, ,, ,,।
भागीरथी	:	गङ्गादेवी।
कौसल्या	:	राम की माता।
पृथिवी	:	वसुन्धरा, सीता-जननी।
अरुन्धती	:	वसिष्ठ की पत्नी।
विद्याधरी	:	विद्याधर की पत्नी।
प्रतीहारी	:	अन्तःपुर द्वार की रक्षिका।

॥ श्रीः ॥

उत्तररामचरितम्

प्रथमोऽङ्कः

(चित्रदर्शनम्)

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे ।
वन्देमहि च तां वाचममृतामात्मनः कलाम् ॥ १ ॥

अन्वयः—पूर्वेभ्यः कविभ्यः इदं नमोवाकं प्रशास्महे; आत्मनः कलां ताम् अमृतां वाचं वन्देमहि च ॥ १ ॥

अथ तत्रभवान् महाकविर्भवभूतिः उत्तररामचरिताभिधानं नाटकं कर्तुकामः तस्य प्रारम्भे निर्विघ्नं चिकीर्षितग्रन्थसमाप्तये, तस्य सानन्दाभिनयसम्पत्तये, शिष्टाचार-परिपालनाय च मङ्गलमाचरति । 'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरेत्' इति शिष्टाचारः । एतन्मङ्गलं त्रिविधम्—'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इति वचनात् । श्रीभवभूतिस्तु नान्दीपाठात्मकं मङ्गलमाचरति—**इदमिति ।** पूर्वेभ्यः कविभ्यः=पुरातनकाव्यकर्तृभ्यः व्यासवाल्मीकिकालिदासादिभ्यः, इदं= मङ्गलाचरणरूपं, नमोवाकं=नमोवचनं, प्रशास्महे=निर्दिशामः । आत्मनः=पर-मात्मनः, कलाम्=अंशभूतां, तां=प्रसिद्धाम् अनिर्वाच्यां वा, अमृतां=शाश्वतीं, वाचं

कविभ्यः—'नमः' के योग में चतुर्थी है (नमःस्वस्ति० पा० २।३।१६)। नमो वाकम्—'नमो वाकः' का द्वि० ए० व०; वाच्—√वच्+क्विप्, दीर्घोऽसम्प्रसारणं च (क्विब्वचिप्रच्छि–वा०)। प्रशास्महे—'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'शास्' धातु इच्छार्थक है, परन्तु कवि ने यहाँ 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'शास्' का प्रयोग किया है. 'आङ्' का जोड़ना प्रायिक है, अनिवार्य नहीं; आङ्पूर्वत्वं प्रायिकं तेन 'नमोवाकं प्रशास्महे' इति सिद्धम् (सि० कौ०)।

(वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास आदि) प्राचीन कवियों के लिए इस (मङ्गलाचरणरूप) नमस्कारवचन का (हम) निर्देश करते हैं तथा परब्रह्म की कला, उस नित्य वाग्देवता को प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥

टिप्पणी—उत्तररामचरितम्—श्रीरामचन्द्र जी के जीवन के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का वर्णन—यह प्रस्तुत नाटक का नाम है। वस्तुतः 'उत्तररामचरितम्' यह पद रामचन्द्र जी के जीवन के उत्तरार्ध का ज्ञापक है। फिर भी अभेदोपचार से यह पद ग्रन्थ का भी बोध कराता है। 'उत्तरं रामचरितं यस्मिन् तद्' ऐसा अर्थ करने पर भी लक्षणा से यह पद ग्रन्थ का बोधक है।

=वाग्देवतां, वन्देमहि च=प्रणमामश्च । पूर्वोक्तप्रशासनसमुच्चायकश्चकारः । अनुष्टुब्वृत्तम् । अत्र पूर्वार्धे सर्वलोकनमस्कार्याः पूर्वकालप्रसिद्धाः प्राज्ञाः केचिद्वर्ण्या इति सूच्यते । लोकनमस्कार्या इत्यनेन धूर्तवर्ण्यकभाणादिव्यावृत्तिः ।

कविभ्यः इत्यनेन यथा कविषु वाल्मीकेराद्यत्वेन प्राधान्यम् । अन्येषामानन्तर्यादप्राधान्यम् । एवं तत्सूचितवर्ण्यानां मध्ये रामचन्द्रस्य वर्णनायां ज्येष्ठत्वेन प्राधान्यं लक्ष्मणादेश्चाप्राधान्यमिति सूचितम् । एवं च नानेकनेतृत्वप्रयुक्तनाटकत्वहानिः । अत एव लक्ष्मणशत्रुघ्नयोरुपसर्जनत्वावगमात् सीतापरित्यागे लक्ष्मणप्रेषणस्य लवणवधार्थं शत्रुघ्नप्रेषणस्य च ध्वननात्प्रथमाङ्कार्थः सूच्यते । उत्तरार्धे प्राज्ञी काचन स्त्री वर्ण्यत इति सूचितम् । आत्मनः कलामित्यनेन तस्या देवतांशसम्भवत्वं कस्यचिद्धर्मपत्नीत्वं च सूच्यते ।''''अत एव नायकस्यापि देवतांशसम्भवत्वं सूच्यते । देवतांशसम्भूतस्त्रियं प्रति तादृशस्यैव नायकस्यौचित्यात् ।

अमृतामिति मरणस्य प्रसक्तिपूर्वकप्रतिषेधाद् गङ्गापतनसम्भावितस्य सीतामरणस्य गङ्गापृथिवीभ्यां सह तदागमनेन भावनिश्चयरूपो द्वितीयाङ्कप्रभृतिसप्तमाङ्कान्तार्थः सूच्यते ।

अस्य श्लोकस्य योजनान्तरमपि—इदमित्यादि । 'इदं कविभ्यः' इत्येकं पदम् । 'नमः' 'वाकम्' इति च पदद्वयम् । एतेन द्वादशपदत्वसिद्ध्या न नान्दीनियमहानिः । अयमर्थः—पूर्वेभ्यः प्राचीनेभ्यः इदं कविभ्योऽस्या बुद्धिस्थरामकथायाः कविभ्यः रामकथासम्बन्धिकविभ्य इत्यर्थः । वाल्मीकिवसिष्ठादिभ्यः इति तदर्थः । (वीर०)

इदं कविभ्यः—भारतीय परम्परा के अनुसार कवि ने विघ्नविघातार्थ ग्रंथ के आरम्भ में नान्दीपाठात्मक मङ्गल किया है । कुछ विद्वानों के मतानुसार ग्रन्थ के प्रारम्भ में, मध्य में तथा अन्त में तीन बार मंगल करना चाहिए—'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरेत् ।' वह मङ्गल आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक होता है ।

'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।' 'इदं कविभ्यः' श्लोक इस नाटक के प्रारम्भ में किया गया नान्दीपाठात्मक मंगल ही है ।

'इदं' पद 'नमोवाकं' का विशेषण है । यद्यपि 'इदं' पद नपुंसक है तथा 'वाकं' पद पुंल्लिङ्ग है; विशेषण तथा विशेष्य का लिङ्ग समान होना चाहिए, तथापि 'इदं' को 'सामान्ये नपुंसकम्' मान लेने पर यह असंगति दूर हो जाती है । वीरराघव ने 'इदं' को उद्देश्य और 'नमोवाकं' को विधेय मानकर इस असंगति को दूर करने का प्रयत्न किया है । कुछ विद्वानों द्वारा 'इदं कविभ्यः' ऐसा एक पद मानकर इसकी 'अस्याः रामकथायाः कविभ्यः' इस प्रकार व्याख्या की गई है ।

नमोवाकं—'प्रशास्महे' का कर्म, 'नमः इति शब्दस्य वाकः उक्तिः (भावे घञ्)' । 'इदं' तथा 'नमोवाकं' के बीच की लिङ्ग-विषयक असंगति को दूर करने के निमित्त 'नमोवाकं' की इस प्रकार भी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है—'नमः' इति शब्दस्य वाकः (वचनं) यस्मिन् तत् नमोवाकं' (बहुव्रीहि) ऐसा स्वीकार कर लिये जाने पर यह पद 'इदं' (मङ्गलकर्म) का विशेषण हो जायगा ।

'नमो वाकं' को दो पद मानकर भी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है—'उच्यते यत् तद् वाकं (कर्मणि घञ्); वाकं नमः=वाचिकं नमः' ।

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण। अद्य खलु भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान् विज्ञापयामि। एवमत्रभवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु—अस्ति खलु

पूर्वोक्तायाः स्तुतेः समाप्तौ सूत्रधारः प्रविश्याह—वाग्बाहुल्येन न किञ्चित्साध्यम्। अस्मिन् दिने शिवलिङ्गस्य महोत्सवे अतीवसत्काराहान् आवेदयामि—भगवतः = ज्ञान-शक्त्यादिगुणवतः, कालप्रियानाथस्य = कालप्रियायाः अम्बिकाया नाथः शिवस्तस्य,

---

नान्दी—√नदि + घञ् + वृद्धि + ङीप् अथवा नन्दनं नन्दः, भावे घञ् + नन्दस्येयं नान्दी, 'तस्येदम्' अण् + ङीप्। सूत्रधारः—'सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते';

(नान्दी के अनन्तर)

सूत्रधार—अधिक विस्तार मत करो। आज ज्ञानशक्त्यादि गुणसम्पन्न भगवान् कालप्रियानाथ के यात्रा-महोत्सव पर सम्माननीय महानुभावों से निवेदन करता हूँ—इस प्रकार आप लोग

आत्मनः—यहाँ 'आत्मा' शब्द का अर्थ परमात्मा है। स्वयं भवभूति ने ही द्वितीय अङ्क में शब्दब्रह्म की चर्चा की है। पुराणों में वाणी को परमात्मा का अंश माना गया है—

'काव्यालापाश्च ये केचित् गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः॥' (वि० पु० १।२२।८४)

'जीवानन्द' ने 'आत्मा' का अर्थ 'अपनी' भी माना है—

'सततपरार्थानुध्यानेन तत्त्वज्ञानमधिजग्मुषः शब्दब्रह्मनिष्णातस्य भगवतः वाल्मीकेः''' पूर्वेभ्यः कविभ्यो नमस्कारपूर्वकं वयमिदं प्रार्थयामहे—यत्तेषां प्रसादात् तदीया रसभावमयी निखिलार्थोद्-भासिका लोकमनोहारिणी वाक् अस्य ग्रन्थस्य प्रणयने अस्माकं सहायभूता भवतु इति भावः। अस्य नाटकस्य वाल्मीक्यादिकविवाक्यमूलकत्वात् तेषु इत्थं प्रार्थनेति हृदयम्। वाग्देवी प्रसन्नीभूय तथाविधां काव्यदाम-गुम्फनप्रतिभां मह्यं ददातु इति वाऽत्र तात्पर्यम्।'

वन्देमहि—प्रस्तुत श्लोक के तृतीय पाद में जीवानन्द ने 'विन्देम देवतां वाचं' ऐसा पाठ स्वीकार किया है। कई टीकाकारों ने इस पाठ को स्वीकार भी किया है। वीरराघव ने 'वन्देमहि च तां वाणीं' यह पाठ माना है। विन्देम का अर्थ है—हम प्राप्त करें। वन्देमहि का तात्पर्य है—हम अभिवादन करें, स्तुति करें।

'वाचम्' और 'वाणी' पद का तात्पर्य एक ही वाग्-अधिष्ठात्री देवता सरस्वती है।

नान्दी—प्रायः सभी कवियों द्वारा ईप्सित ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आरम्भ में आशीर्वचनात्मक एवं नमस्कारात्मक स्तुति की जाती है। इसी को नान्दी कहते हैं। यह नमस्कारात्मक स्तुति देव, द्विज एवं नृप आदि के प्रति की जाती है।

शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशनम्' में नान्दी का निम्न स्वरूप दिया है—

(क) शंकर के बैल नन्दी ने सृष्ट्यारम्भ में नृत्य करते हुए कल्पना के योग से रङ्गता प्राप्त कर ली थी। इसलिए उस रूप के सम्बन्ध में जो देवता आदि को नमस्कार रूपक के आरम्भ में किया जाता है, वह नान्दी है।

(ख) जो क्रिया सामाजिकों को प्रसन्न करें, वह नान्दी है।

(ग) पूर्वरङ्ग के सम्बन्ध से बाइस अङ्गों वाली जो क्रिया (नाट्य के आरम्भ में सबको प्रसन्न करने के लिए) की जाती है, उसे 'नान्दी' कहते हैं।

नान्दी का पाठ प्रायः कवि ही करता है। इसीलिए नाटक में 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' का प्रयोग

तत्रभवान् काश्यपः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जातूकर्णीपुत्रः ।

आर्याः = पूज्याः, विदाङ्कुर्वन्तु = इत्थं जानन्तु । काश्यपः = कश्यपगोत्रोद्भवः, श्रीकण्ठपदलाञ्छनः = श्रीकण्ठ इति पदं लाञ्छनं यस्य सः तथोक्तः श्रीकण्ठनामकः, पदवाक्यप्रमाणज्ञः = व्याकरणन्यायमीमांसापरिज्ञाता, भवभूतिर्नाम = भवभूतिरिति प्रसिद्धनामवान्, जातूकर्णीपुत्रः = जतुकर्ण्याः पुत्रः ।

नान्दीलक्षणम्—'यत्राष्टभिर्द्वादशभिरष्टादशभिरेव वा' इत्यादि दशरूपकादिषु स्फुटम् ।

नाटकलक्षणम्—'वीरशृङ्गारयोरेकः प्रधानं यत्र वर्ण्यते ।
प्रख्यातनायकोपेतं नाटकं तदुदाहृतम् ॥'

पूर्वरङ्गलक्षणम्—'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥'

प्रस्तावनालक्षणम्—'सूत्रधारो नटीं ब्रूते मारिषं वा विदूषकम् ।
स्वकार्यप्रस्तुताक्षेपिचित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ॥'

सूत्र + √धृ + णिच् + स्वार्थे अण् । काश्यपः—कश्यपस्य गोत्रापत्यं पुमान्, कश्यप + विदादित्वात् अञ् । जातूकर्णी—जतूकर्णस्य गोत्रापत्यं स्त्री जातूकर्णी; जतूकर्ण + यञ् (गर्गादिभ्यो यञ्)—जातूकर्ण्यः, ततो ङीप्, 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः ।

यह जानिए कि पूजनीय कश्यपगोत्रोद्भव, 'श्रीकण्ठ' विरुद से विभूषित, व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा के परिज्ञाता, जातूकर्णी के सुपुत्र 'भवभूति' नाम से सुप्रसिद्ध कवि हैं ।

मिलता है, किन्तु जहाँ कवि नान्दी का पाठ नहीं करता है, वहाँ सूत्रधार, स्थापक एवं पारिपार्श्विक ही 'नान्दी' का पाठ करते हैं । तब 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' का प्रयोग नहीं किया जाता है।

सूत्रधार—'सूत्रमभिनेयसूत्रनं धारयति इति सूत्रधारः' । वह प्रधान नट, जो सर्वप्रथम रङ्गमञ्च पर आकर अभिनय किये जाने वाले नाटक की सूचना तथा उसका संक्षिप्त परिचय सामाजिकों को देता है, सूत्रधार की संज्ञा से अभिहित किया जाता है—

'वर्णनीयं कथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते ।
रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥'

नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरतमुनि के अनुसार—

'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥'

प्रस्तावना—नाटक के उस भाग-विशेष को प्रस्तावना अथवा आमुख कहते हैं, जिसमें नटी अथवा विदूषक किंवा पारिपार्श्विक, सूत्रधार के साथ ऐसे स्वाभिप्राय युक्त चित्र-विचित्र वाक्यों में संलाप करते हैं, जिनसे प्रस्तुत नाटक की कथा-वस्तु का आक्षेप (प्रस्तुतीकरण) हो जाता है—

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥' (साहित्य० ६।३१-३२)

यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते।
उत्तरं रामचरितं तत्प्रणीतं प्रयोक्ष्यते ॥ २ ॥

भवभूतिर्नाम—भवभूतिरिति प्रसिद्धनामवान्। एतत्कृत—'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः' इति श्लोकश्रवणसन्तुष्टो राजा भवभूतिरित्येनं ख्यापयामासेति कथात्रानुसन्धेया। किं चास्मै कवये ईश्वर एव भिक्षुरूपेणागत्य भूतिं दत्तवानिति वदन्ति। एवं च भवाद्भगवतो भूतिर्यस्येति भवभूतिरित्यन्वर्थ इत्याहुः।

अन्वयः—यं ब्रह्माणम् इयं देवीवाक् वश्या इव अनुवर्तते, तत् प्रणीतम् उत्तरं रामचरितं प्रयोक्ष्यते ॥ २ ॥

यमिति। ब्रह्माणम् = यजनादिषट्कर्मनिरतं, यं = भवभूतिम्, इयं = सन्निहिता सुप्रसिद्धा वा, देवीवाक् = भगवती सरस्वती, वश्या = वशंगतेव, अनुवर्तते = अनुसरति,

---

देवी—दीव्यति प्रकाशयति प्रकाशते इति वा देवी अथवा देवस्य स्त्री देवी; √दिव् + अच् + ङीप्। वश्या—वश + यत् + टाप्। चरितम्—√चर् + क्त। प्रणीतम्—प्र + √नी + क्तः, णत्व। प्रयोक्ष्यते—प्र + √युज् + लट्।

हिन्दी—यजनादि षट्कर्म में निरत जिस भवभूति का यह (प्रसिद्ध) भगवती सरस्वती वशीभूता स्त्री के सदृश अनुगमन करती हैं, उनके द्वारा विरचित 'उत्तररामचरित' नाटक का (हमारे द्वारा) अभिनय किया जायेगा ॥ २ ॥

कालप्रियानाथ—कुछ विद्वानों के मतानुसार वर्तमान उज्जयिनी के महाकालेश्वर ही कालप्रियानाथ हैं। श्रीघाटे शास्त्री का अभिमत है कि भवभूति के निवासस्थान पद्मपुर में कालप्रियानाथ का मन्दिर था।

आर्य— "कर्तव्यमाचरन् कर्म, ह्यकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे, स वा 'आर्य' इति स्मृतः ॥"
'शीलं दया दानं धर्मः सत्यं कृतज्ञता।
अद्रोह इति येष्वेतत्तानार्यान् सम्प्रचक्षते ॥'

श्रीकण्ठपदलाञ्छनः—श्रीघनश्याम के मतानुसार—'श्रीकण्ठस्य शिवस्य पदे पादावेव लाञ्छनं विरुदं यस्य इति वार्थः। शिवपादाब्जनिरतः इति यावत्'। कतिपय विद्वानों का मत है कि भवभूति का वास्तविक नाम श्रीकण्ठ था, भवभूति उनकी उपाधि थी। यह उपाधि उन्हें—'साम्बा पुनातु भवभूति पवित्रमूर्तिः' तथा 'गिरिजायाः कुचौ वन्दे भवभूति-सिताननौ' लिखने के कारण प्रसन्न विद्वत्समाज से मिली थी। कुछ लोगों का कथन है कि भवभूति ही उनका वास्तविक नाम था, 'श्रीकण्ठ' उनकी उपाधि थी।

पदवाक्यप्रमाणज्ञः—पद—सुप्तिङन्तपद-विषयक व्याकरणशास्त्र। वाक्य—अनुमानवाक्य-विषयक होने से न्याय को 'वाक्य' कहा गया है। प्रमाण—शब्दादि प्रमाणों की विवेचना करने के कारण मीमांसा दर्शन 'प्रमाण' कहा जाता है।

भवभूतिर्नाम—'रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः।
रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ॥' (साहित्यदर्पण)
'प्रसाद्य रङ्गं विधिवत् कवेर्नाम च कीर्तयेत्।' (नाट्यशास्त्र)

इस नियम के अनुसार यहाँ कवि के नामादि का कथन किया गया है।

सूत्रधारः—एषोऽस्मि कार्यवशादायोध्यकस्तदानीन्तनश्च संवृत्तः (समन्ताद-वलोक्य) भो भो ! यदि तावदत्रभवतः पौलस्त्यकुलधूमकेतोर्महाराज-रामस्याय-

---

तेन = भवभूतिना, प्रणीतं = विरचितम्, उत्तरं रामचरितम्, प्रयोक्ष्यते = अभिनेष्यते।

इयं प्ररोचना प्रस्तुता। तदुक्तम्—'निवेदनं प्रयोज्यस्य निर्देशो देशकालयोः। कविकाव्यनटादीनां प्रशंसा तु प्ररोचना ॥' अत्र संस्कृते भाषणाद् भारती वृत्तिः। तल्लक्षणं यथा—'भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।' अत्र 'वश्येवे'त्युत्प्रेक्षालङ्कारः। तल्लक्षणञ्च—'भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा, प्रकृतस्य परात्मना। वाच्या प्रतीयमाना सा।' अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ २ ॥

सूत्रधारः—एषः = अहं सूत्रधारः, कार्यवशात् = नाटकप्रयोगानुरोधात्, आयोध्यकः = अयोध्यासम्बन्धिकः, तदानीन्तनः = रामपट्टाभिषेककालिकः, संवृत्तः = सञ्जातः। (समन्तादवलोक्य = परितः दृष्ट्वा) भो भोः = हे नट ! यदि = यदा, तावत् = इदानीं, अत्रभवतः = पूज्यस्य, पौलस्त्यकुलधूमकेतोः = रावणवंशस्य अग्नि-

---

आयोध्यकः—अयोध्या + वुञ्। संवृत्तः—सम् + √वृत् + क्त। अवलोक्य—अव

हिन्दी—मैं कार्यवश (नाटक-प्रयोग के अनुरोध से) अयोध्यावासी तथा उसी श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक के समय का हो गया हूँ। **(चारों ओर देखकर)** अरे, अब रावण वंश के लिए

ब्रह्माणम्—यह शब्द श्लेषानुप्राणित है। ब्रह्मा का अर्थ है—ब्राह्मण अथवा ब्रह्मा नामक देवता। ('वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म, ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' अ० को०)। 'ब्रह्माणं' शब्द को प्रयुक्त करने से इस श्लोक में उपमा अलंकार व्यंग्य है। जिस प्रकार वाग्देवता सरस्वती ब्रह्मा का अनुगमन करती हैं, उसी प्रकार वे यजनादि षट्कर्म में निरत ब्राह्मण (भवभूति) का अनुगमन करती हैं।

वश्येव—यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा दोनों अलङ्कारों की सम्भावना है। 'वशीभूता स्त्री के सदृश' अथवा 'सम्भवतः वशीभूता स्त्री के सदृश' दोनों ही अर्थ यहाँ समीचीन हैं।

यह भारती वृत्ति का 'प्ररोचना' अंग है। जिसमें प्रयोज्य वस्तु का निवेदन, देश-काल आदि का निर्देश तथा कवि, काव्य एवं नट आदि की प्रशंसा की गई हो, उसे प्ररोचना' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

कार्यवशात्—इस पद का अर्थ है—'नाटकप्रयोगानुरोधात्, प्रयोगानुष्ठानानुरोधात्, अभिनयरूपकार्यानुरोधात्'। इन सब अर्थों का एक ही तात्पर्य है। 'किसी कार्य के प्रयोजन से' ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है।

आयोध्यकः—वीरराघव द्वारा इस पद की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"आयोध्यकः अयोध्यासम्बन्धिक इत्यर्थः, 'धन्वयोपधाद् वुञ्' .... अयोध्यासम्बन्धित्वं च तस्यां कादाचित्कावस्थानरूपम्, तेन वैदेशिकोऽस्मीति उपरितनग्रन्थेन न विरोधः"। घनश्याम ने 'आयोध्यिकः' पाठ रखा है और इसका अर्थ 'अयोध्या-सम्बन्धी' किया है।

तदानीन्तनः—इसका अभिप्राय है—रामकालीनः।

पौलस्त्यकुलधूमकेतोः—पौलस्त्यस्य कुलं, तस्य धूमकेतुः, तस्य। पुलस्ति का पौत्र तथा विश्रवस् का पुत्र, रावण। जिस प्रकार अग्नि, वंश (बाँस) को नष्ट कर देता है, उसी

मभिषेकसमयो रात्रिन्दिवमसंहृतानन्दनान्दीकस्तत्किमद्य विश्रान्तचारणानि चत्वरस्थानानि ?

(प्रविश्य)

नटः—भाव ! प्रेषिता हि ते स्वगृहान्महाराजेन लङ्कासमरसुहृदो महात्मानः प्लवङ्गमराक्षसाः सभाजनोपस्थायिनश्च नानादिगन्तागता ब्रह्मर्षयो राजर्षयश्च यत्समाराधनाय एतावतो दिवसान् उत्सव आसीत् ।

वङ्कसमीकर्तुः उत्पातग्रहविशेषस्य वा, महाराजरामस्य = राजेन्द्ररामचन्द्रस्य, अभिषेकसमयः = पट्टाभिषेकमुहूर्तः, रात्रिन्दिवम् = अहर्निशम्, असंहृतानन्दनान्दीकः = आनन्दसूचिकानान्दी आनन्दनान्दी, असंहृता न संहृता, अविरतं वाद्यमाना, आनन्दनान्दी प्रीतिवहो मङ्गलपटहो यस्मिन् स तथोक्तः । तत् = तदा, किं = किमर्थम्, विश्रान्तचारणानि = चारणशून्यानि, चत्वरस्थानानि = चतुष्पथानां स्थानानि वर्तन्ते । 'भरता इत्यपि नटाश्चारणाश्च कुशीलवाः ।' इत्यमरः ।

प्रविश्य = कश्चिन्नटः (नेपथ्यात् रङ्गशालायां) प्रवेशं कृत्वा, उत्सवनिरोधस्य कारणमाह—

नटः—भाव = हे विद्वन् ! हि = यतः, ते = प्रसिद्धाः, लङ्कासमरसुहृदः = लङ्कायुद्धसहकारिणः, महात्मानः = महाधैर्याः, प्लवङ्गमराक्षसाः = वानररक्षांसि, सभाजनोपस्थायिनः = रामस्याभिनन्दनार्थमुपस्थिताः, नानादिगन्तागताः गौतमविश्वामित्रा

+ √लोक् + ल्यप् । रात्रिन्दिवम्—रात्रौ च दिवा च । असंहृतानन्दनान्दीकः—आनन्दसूचिका आनन्दार्था वा नान्दी आनन्दनान्दी, असंहृता आनन्दनान्दी यस्मिन् सः । भावः—भावयति पदार्थान्; √भू + (णिच्) + अच् । प्रेषितः—प्र + √इष् + णिच् + क्त । प्लवङ्गमः—प्लवेन गच्छति, प्लव + √गम् + खच् । ब्रह्मर्षयः—

विनाशव्यञ्जक धूमकेतु, पूज्य श्रीरामचन्द्र जी का यह अहर्निश वाद्यमान मङ्गलपटह से युक्त पट्टाभिषेक का मुहूर्त है, तब क्यों इस समय चतुष्पथ (अथवा राजप्रासाद का प्राङ्गण) चारणशून्य हैं ?

(प्रवेश करके)

नट—मान्यवर ! क्योंकि लङ्का-युद्ध के सहायक, महाधैर्यशाली वानर और राक्षस तथा (राम के) अभिनन्दनार्थ समुपस्थित, विभिन्न दिशाओं के छोरों से आये हुए (गौतम, विश्वामित्र आदि) ब्रह्मर्षि तथा (जनक आदि) राजर्षि महाराज श्रीरामचन्द्र जी द्वारा निज गृहों को भेज दिये गये हैं, जिनके सत्कार के लिए इतने दिनों तक उत्सव था ।

प्रकार रामचन्द्र जी रावण के वंश का विनाश करने वाले हैं । यहाँ 'धूमकेतु' शब्द लाक्षणिक है और इसका तात्पर्य है—अग्नि के तुल्य दहनकर्ता अथवा धूमकेतु ग्रह के सदृश विनाशक ।

अभिषेकसमयः—वीरराघव ने 'पट्टाभिषेकसमयः' ऐसा पाठ रखा है । 'राज्याभिषेक' के स्थान पर 'पट्टाभिषेक' का प्रयोग आन्ध्र देश में विशेष होता है ।

भाव—नाटक में पारिपार्श्विक (सूत्रधार का सहायक नट) सूत्रधार को 'भाव' शब्द से सम्बोधित करता है । 'सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्विकः' (साहित्यदर्पण ६।१४७) 'भाव' शब्द का अर्थ है—विद्वान् । 'भावो विद्वान्' इत्यमरः ।

सूत्रधारः—आ अस्त्येतन्निमित्तम् ।

नटः—अन्यच्च ।

> वसिष्ठाधिष्ठिता देव्यो गता रामस्य मातरः ।
> अरुन्धतीं पुरस्कृत्य यज्ञे जामातुराश्रमम् ॥ ३ ॥

सूत्रधारः—वैदेशिकोऽस्मीति पृच्छामि कः पुनरसौ जामाता ?

नटः— कन्यां दशरथो राजा शान्तां नाम व्यजीजनत् ।
> अपत्यकृतिकां राज्ञे लोमपादाय यां ददौ ॥ ४ ॥

दयः ब्रह्मर्षयः जनकप्रभृतयः राजर्षयश्च, यत्समाराधनाय=येषां सत्काराय, एतावतः=इयतः, दिवसान्=दिनानि व्याप्य, उत्सवः अभूत्, ते श्रीमहाराज-रामचन्द्रेण निज-भवनानि प्रेषिताः=विसर्जिताः ।

सूत्रधारः—आः=एवम्, एतत् निमित्तम् अस्ति=इदं कारणं वर्तते ।

नटः—अन्यच्च=अपरं च—

अन्वयः—वसिष्ठाधिष्ठिताः देव्यः रामस्य मातरः अरुन्धतीं पुरस्कृत्य यज्ञे जामातुः आश्रमं गताः ॥ ३ ॥

वसिष्ठेति । वसिष्ठाधिष्ठिताः=रघुकुलगुरुणा वसिष्ठेन संरक्षितत्वेन नीताः, देव्यः=दशरथमहिष्यः, रामस्य=श्रीरामचन्द्रस्य, मातरः=कौसल्या-कैकेयी-सुमित्राः, अरुन्धतीं=तन्नाम्नीं वसिष्ठपत्नीं, पुरस्कृत्य=अग्रे विधाय, यज्ञे=यज्ञनिमित्तं, जामातुः=कन्यापतेः ऋष्यशृङ्गस्य, आश्रमं=तपोवनं, गताः=याताः ॥ ३ ॥

सूत्रधारः—वैदेशिकः=विदेशवासी भवाम्यहम्, इति=अनेन कारणेन, पृच्छामि=अनुयुनज्मि, जामाता=दुहितृपतिः कः ?

अन्वयः—राजा दशरथः शान्तां नाम कन्यां व्यजीजनत्, अपत्यकृतिकां यां लोमपादाय राज्ञे ददौ ॥ ४ ॥

ब्रह्माणश्च ते ऋषयः (कर्मधारय) । राजर्षयः—राजानश्च ते ऋषयश्च (कर्मधारय)। एतावतो दिवसान्—अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । आ अस्ति—यह स्मरण-द्योतक निपात है ।

अधिष्ठिताः—अधि + √स्था + क्त । गताः—गम् + क्त । पुरस्कृत्य—पुरस् + √कृ + ल्यप् । यज्ञे—'निमित्तात्कर्मयोगे' सप्तमी ।

सूत्रधार—ओह ! यह कारण है ।

नट—अन्य भी कारण है—

रघुकुलगुरु वसिष्ठ के संरक्षण में श्रीरामचन्द्र जी की माताएँ महारानी कौसल्या इत्यादि अरुन्धती को आगे करके यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए जामाता ऋष्यशृङ्ग के आश्रम गई हुई हैं ॥ ३ ॥

सूत्रधार—(अरे भाई) विदेशी हूँ । इसीलिए पूछता हूँ, यह जामाता कौन है ?

नट—महाराज दशरथ ने शान्ता नाम की कन्या को उत्पन्न किया, उस(कन्या)को कृत्रिम पुत्री के रूप में महाराज लोमपाद को दे दिया ॥ ४ ॥

विभाण्डकसुतस्तामृष्यशृङ्ग उपयेमे। तेन द्वादशवार्षिकं सत्रमारब्धम्। तदनुरोधात् कठोरगर्भामपि वधूं जानकीं विमुच्य गुरुजनस्तत्र गतः।

कन्यामिति। राजा दशरथः शान्तां नाम कन्यां व्यजीजनत् = उत्पादयामास, अपत्यकृतिकां = कृत्रिमकन्यारूपां, यां राज्ञे = महाराजाय लोमपादाय, ददौ = दत्तवान्।

विभाण्डकसुतः = विभाण्डकस्य नाम ऋषेः पुत्रः, तां शान्ताम्, उपयेमे = उदवहत्। तेन = ऋष्यशृङ्गेण, द्वादशवार्षिकं = द्वादशवर्षसमाप्यं, सत्रं = यज्ञः, आरब्धम् = उपक्रान्तम्, तदनुरोधात् = तस्यानुरोधवशात्, कठोरगर्भामपि = पूर्णगर्भामपि, वधूं = स्नुषां, जानकीं = सीतां, विमुच्य = त्यक्त्वा, गुरुजनः = वसिष्ठादिपूज्यजनः, तत्र = ऋष्यशृङ्गस्य आश्रमं, गतः = यातः।

वैदेशिकः—विदेशे भवः; विदेश + ठञ्। व्यजीजनत्—वि + √जन् + णिच् लुङ्, प्रथमपुरुष, एकवचन। अपत्यकृतिका—कृता एव कृतिका (कृत + कन् + टाप्), अपत्यं च सा कृतिका अपत्यकृतिका (कर्मधारय)। उपयेमे—उप + √यम् + लिट् प्र० पु०, ए० व०। द्वादशवार्षिकं—द्वादशवर्षाणि भविष्यति; द्वादशवर्ष + ठक्। आरब्धम्—आ + √रभ् + कर्मणि क्तः। विमुच्य—वि + √मुच् + ल्यप्।

विभाण्डक ऋषि के पुत्र ऋष्यशृङ्ग ने उस शान्ता से विवाह किया। उन्होंने बारह वर्ष में समाप्त होने वाले यज्ञ का आरम्भ किया है। उनके अनुरोध से पूर्णगर्भा भी जानकी को छोड़कर वसिष्ठादि गुरुजन वहाँ चले गये हैं॥ ४॥

अपत्यकृतिकां—'अपत्यस्य कृतिर्व्यापारो यस्याः सा' अथवा 'अपत्याय कृतिर्ग्रहणं यस्याः सा' अथवा 'अपत्यस्य कृतिर्व्यापारो यस्याः सा, तां तथाभूताम्।' कृत्रिम पुत्री के रूप में गृहीत पुत्री अथवा 'इसके गर्भ से उत्पन्न पुत्र होगा' इस शर्त के साथ जो कन्या दी जाती है, उसे भी 'अपत्यकृतिका' की संज्ञा दी जाती है—

> 'अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम्।
> अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति'॥ (वसिष्ठः)
> 'अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
> यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात् स्वधाकरम्॥
> अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिका।
> विवृद्ध्यर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः॥' (मनुः)

राजा लोमपाद ने निस्सन्तान होने से महाराज दशरथ से शान्ता को ले लिया था। तदनन्तर विभाण्डक सुत ऋष्यशृङ्ग के साथ उसका विवाह कर दिया था। इस प्रकार ऋष्यशृङ्ग दशरथ के जामाता हुए।

लोमपाद अथवा रोमपाद—रामायण में लोमपाद को अङ्ग देश का राजा बतलाया गया है। रामायण के अनुसार शान्ता लोमपाद की ही कन्या थी—

> 'एवमङ्गाधिपेनैव गणिकाभिर्ऋषेः सुतः।
> आनीतोऽवर्षयद्देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते॥
> ऋष्यशृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति'। (रामायण, बालकाण्ड)

सूत्रधारः—तत्किमनेन ? एहि । राजद्वारमेव स्वजातिसमयेनोपतिष्ठावः ।
नटः—तेन हि निरूपयतु राज्ञः सुपरिशुद्धामुपस्थानस्तोत्रपद्धतिं भावः ।
सूत्रधारः—मारिष !

सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता ।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥ ५ ॥

सूत्रधारः—तत् = तर्हि, अनेन = विश्रान्तचारणत्वेन, किं = किं साध्यते, एहि = आगच्छ, स्वजातिसमयेन = स्वजातिनटमर्यादया, राजद्वारमेव = भूपालप्रतीहारमेव, उपतिष्ठावः = उपगच्छावः ।

नटः—तेन = राजद्वारे स्तुतेः पठनीयत्वेन, राज्ञः = भूपालस्य, सुपरिशुद्धां = दोष-रहिताम्, उपस्थानस्तोत्रपद्धतिं = नृपोचितस्तुतिपरिपाटीम्, निरूपयतु = विचारयतु, भावः = भवान् ।

सूत्रधारः—मारिष = हे आर्य !

एहि—आ + √इ + लोट् म० पु०, ए० व० । उपतिष्ठावः—उप + √स्था, लट् उ० पु० द्वि० व० । स्तोत्रं—स्तुवन्त्यनेनेति स्तोत्रं; √स्तु + ष्ट्रन् । उपस्थानस्तोत्र-पद्धतिम्—उपस्थाने स्तोत्रस्य पद्धतिः, ताम् ।

सूत्रधार—तब इससे क्या लाभ ? आओ । अपनी जाति के आचार के अनुसार राजद्वार पर उपस्थित होवें ।

नट—तब तो आप महाराज के निर्दोष स्तुतियोग्य प्रशस्ति का विचार कर लें ।

सूत्रधार—हे आर्य !

किन्तु 'विष्णुपुराण' में कहा गया है कि दशरथ ने निःसन्तान लोमपाद को शान्ता नाम की कन्या दी । 'उत्तररामचरित' में इसी कथा को स्वीकार किया गया है ।

ऋष्यशृङ्ग—'ऋष्य' एक प्रकार का मृग है । ऋष्यमृग के सींग के समान एक सींग उस ऋषि के मस्तक पर था । इसीलिए वह ऋष्यशृङ्ग कहलाया ।

ऋष्यशृङ्ग प्रारम्भिक जीवन में अत्यन्त एकान्तसेवी थे । वे सांसारिक विषयों से पूर्णतया अनभिज्ञ थे । अङ्गदेश के राजा लोमपाद ने अपने राज्य में अनावृष्टि होने से वेश्याओं द्वारा उन्हें युक्तिपूर्वक बुलाया । उनके आगमन से ही वृष्टि हुई और उन्होंने शान्ता का विवाह उनसे कर दिया ।

स्वजातिसमयेन—जीवानन्द ने 'स्वजात्याः चारणजात्याः समयेन राजस्तुतिरूपेण समुदिता-चारेण तथाविधमाचारमाश्रित्येत्यर्थः' लिखा है । अभिप्राय यह है कि चारणजनों का स्वजात्यनुसार राजदरबार में राजाओं की विरुदावली का वर्णन करना कर्तव्य है । उसी कर्तव्य की ओर इङ्गित किया गया है ।

मारिष—सूत्रधार नट को 'मारिष' कहता है । इस शब्द पर जीवानन्द की टीका द्रष्टव्य है—

"मारिष ! आर्य्य ! आर्य्यार्थप्रतिपादको नाटकादिषु एव प्रयोज्य एष शब्दः । तथा हि भरतः—'विद्वद्भिस्तु मारिषः' इति 'आर्य्यस्तु मारिषः' (अम० १।७।१४) रेषतेः निषेधार्थकमाङ्शब्देन एकपदीभावः, तथा च मा—न रेषति दुष्टाभिनयेन सभ्यानां शान्ति हिनस्ति इति व्युत्पत्त्या मारिष-शब्दः नटानाम् अभिनयसौष्ठवपरीक्षकाणां सम्बुद्ध्यर्थाभिधायकः । तथा च साहित्यदर्पणे—'सूत्रधारं वदेत् भव इति वै पारिपार्श्विकः । सूत्रधारो मारिषेति—' इत्यादि ।"

नटः—अतिदुर्जन इति वक्तव्यम्—

देव्यामपि हि वैदेह्यां सापवादो यतो जनः ।
रक्षोगृहस्थितिर्मूलमग्निशुद्धौ त्वनिश्चयः ॥ ६ ॥

अन्वयः—सर्वथा व्यवहर्तव्यम्, अवचनीयता कुतः ? हि जनो यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनः ॥ ५ ॥

सर्वथेति । सर्वथा = सर्वप्रकारेण, व्यवहर्तव्यं = व्यवहारः कर्तव्यः, अवचनीयता = दोषराहित्यं, कुतः = कुतः सम्भाव्यते ? (दोषवत्तया वा दोषरहिततया वा गुणवत्तया वा स्तुतिकरणरूपव्यापारः कर्तव्यः ।) हि = यस्मात्, जनः = लोकः (प्राकृतो मूर्खः), यथा = येन प्रकारेण, स्त्रीणां = नारीणां, साधुत्वे = शुद्धत्वे (पातिव्रत्ये), तथा = तेन प्रकारेण, वाचां = वाणीनां, साधुत्वे = शुद्धत्वे (प्रशंसनीयत्वे), दुर्जनः = दोषदर्शी (भवति) । (जनः स्त्रीणां साधुत्वे यथा पातिव्रत्य विषय इव वाचां साधुत्वे माधुर्यौज्ज्वल्यादिविषये दुर्जनो दोषदर्शी । दोषदर्शित्वमेव हि दौर्जन्यमिति भावः ।) 'कुतो ह्यवचनीयता' इति वाक्यं प्रति उत्तरार्द्धगतवाक्यस्य हेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । स च 'यथा स्त्रीणां तथा वाचाम्' इत्युपमया सङ्कीर्यते । काव्यलिङ्गस्य लक्षणम्—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ।' उपमालक्षणम्—'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः' । अत्र मुखसन्धेः 'समाधान'नामकमङ्गं प्रदर्शितं कविना । समाधानस्य लक्षणम्—'बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते' । (साहित्यदर्पणे) ॥ ५ ।

नटः—अतिदुर्जनः = अतिदोषदर्शी, इति = एवं, वक्तव्यम् = कथनीयम् ।

अन्वयः—यतो हि जनः देव्यां वैदेह्याम् अपि सापवादः । रक्षोगृहस्थितिः मूलम्, अग्निशुद्धौ तु अनिश्चयः ॥ ६ ॥

देव्यामिति । यतः = यस्मात्, जनः = लोकः, देव्यां = दीप्तिमत्याम्, अयोनिजायाम्, वैदेह्यामपि = सीतायामपि, सापवादः = निन्दकः, रक्षोगृहस्थितिः = रावणभवनस्थितिः, मूलं = कारणम्, अग्निशुद्धौ = अनलशुद्धतायाम्, अनिश्चयः = संशयः ॥ ६ ॥

व्यवहर्तव्यम्—वि-अव + √हृ + तव्यत् ।

सर्वात्मना व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि दोषराहित्य कैसे सम्भव है ? लोक जैसे स्त्रियों के पातिव्रत्य में, उसी प्रकार (कवियों की) वाणी के निर्दोषपन (प्रसादमाधुर्यादि गुण) में दोषदर्शी है ॥ ५ ॥

नट—अत्यन्त दुर्जन है, ऐसा कहना चाहिए—

क्योंकि लोक अयोनिजा सीता के विषय में भी निन्दक है। राक्षस रावण के गृह में अवस्थान ही इसका मूल कारण है, अनल द्वारा निर्णीत चरित्र की शुद्धि में संशय है ॥ ६ ॥

'यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः' का कथन करके भवभूति ने सीता-विषयक अपवाद की अवतारणा की है।

दुर्जनो जनः—कुशाग्रबुद्धि भवभूति ने 'मालतीमाधव' तक पाठकों द्वारा अपनी उपेक्षा किये जाने पर सम्भवतः आक्रोश व्यक्त किया है।

सूत्रधारः—यदि पुनरियं किंवदन्ती महाराजं प्रति स्यन्देत ततः कष्टं स्यात् ।

नटः—सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति । (परिक्रम्य) भो भोः ! क्वेदानीं महाराजः ? (आकर्ण्य) एवं जनाः कथयन्ति—

अत्र दोषाभावेऽपि दोषकथनाद् विभावना अलङ्कारः । अग्निशुद्धावपि तदनिश्रयाद् 'विशेषोक्तिः' इत्यनयोः संसृष्टिः । विभावनालक्षणम्—'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।' विशेषोक्तिलक्षणम्—'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिर्निगद्यते ।' 'अतिदुर्जन इति वक्तव्यम्' इति वाक्यं प्रति पूर्वार्द्धगतवाक्यस्य हेतुत्वात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।

सूत्रधारः—पुनः = पक्षान्तरे, यदि इयं = यदि एषा, किंवदन्ती = जनश्रुतिः, महाराजं प्रति = रामचन्द्रं प्रति, स्यन्देत = प्रस्रवेत्, ततः = तदा, कष्टं स्यात् = दुःखं भवेत् । (अनेन प्रथमाङ्कार्थः सूच्यते । 'सर्वथा ऋषयः' इत्याद्यनेन शेषाङ्कार्थः सूचितः । एवम् ऋषिकर्तृकश्रेयोविधानरूपबीजन्यासादुपक्षेपो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् । यथा—'बीजन्यास उपक्षेपः' इति) ।

नटः—सर्वथा = सर्वप्रकारेण, ऋषयः = वसिष्ठवाल्मीकिप्रमुखाः, देवताः = गङ्गापृथिव्यादयश्च, श्रेयः = कल्याणं, विधास्यन्ति = करिष्यन्ति । (परिक्रम्य) भो भोः =

वैदेह्याम्—विदेहस्य अपत्यम् स्त्री वैदेही; विदेह + अञ् + ङीप्, वैदेही शब्द का स० वि०, ए० व० ।

किंवदन्ती—'किंवदन्ती जनश्रुतिः' (अम० १।६।७) । इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में रामाश्रमी द्रष्टव्य है—'किं वदन्तीति । कोऽपि वादः । किंपूर्वाद् वदेः 'भृतृवहिवसि' इति झच् । 'झोऽन्तः' 'गौरादित्वात् ङीष्' । यद् वा 'किं वदन्ति' इत्याख्यायमाना । अनुकरणशब्दादाख्यातण्यन्तात् 'अचः इः' । 'कृदिकारादः' इति ङीष् । जनेभ्यः श्रूयते । क्तिन् । द्वे 'लोकप्रवादस्य' ।

सूत्रधार—यदि यह किंवदन्ती महाराज तक पहुँचे तो अनर्थ हो जाय ।

नट—सब प्रकार से (वसिष्ठ-वाल्मीकि आदि) ऋषि तथा (गंगा-पृथ्वी आदि) देवगण कल्याण करेंगे । **(घूमकर)** महानुभावगण ! सम्प्रति महाराज कहाँ हैं ? **(सुनकर)** लोग इस प्रकार कहते हैं—

देव्यामपि—'देवी' तथा 'वैदेही' इन दोनों पदों से सीता के चरित्र का अलौकिक उत्कर्ष ध्वनित होता है । 'सीता' देवी हैं, अयोनिजा हैं, उत्पत्तिपरिपूता हैं । पुनश्च 'वैदेही' अर्थात् आत्मज्ञानी विदेहराज जनक की पुत्री हैं । तथापि लोग राक्षस रावण के गृह में अवस्थान के कारण उनके चरित्र में दोष देखते हैं, अग्निशुद्धि में भी विश्वास नहीं करते । अतएव उन्हें अतिदुर्जन कहना चाहिए ।

सापवादो जनः—भवभूति ने जनसामान्य को सीता के चरित्र की निन्दा करने वाला बनाकर अपने चरित्रनायक राम के लिए सीता-परित्याग की उचित पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है ।

यदि पुनरियं०—सूत्रधार की प्रस्तुत उक्ति से प्रथमाङ्क का अर्थ सूचित है ।

स्नेहात् सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि
नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान्।
देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय
धर्मासनाद् विशति वासगृहं नरेन्द्रः ॥ ७ ॥

(इति निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना

हे हे ! क्वेदानीं महाराजः = अस्मिन् समये महाराजः कुत्रास्ति ? आकर्ण्य = श्रुत्वा (इदमाकाशभाषितमुच्यते । तदुक्तम्—'अप्रविष्टैः सहालापो भवेदाकाशभाषितम्' ।) एवम् = इत्थं, जनाः = लोकाः, कथयन्ति = वदन्ति ।

अन्वयः—स्नेहात् सभाजयितुम् एत्य, अमूनि दिनानि उत्सवेन नीत्वा, जनकः अद्य विदेहान् गतः । ततः विमनसः देव्याः परिसान्त्वनाय नरेन्द्रः धर्मासनात् वासगृहं विशति ॥ ७ ॥

स्नेहादिति । स्नेहात् = प्रेम्णा, सभाजयितुं = पूजयितुम्, सम्मानयितुम्, अभिनन्दितुम्, एत्य = आगत्य, अमूनि = एतावन्ति, दिनानि = दिवसान्, उत्सवेन = हर्षजनकव्यापारेण, नीत्वा = व्यतीत्य, जनकः = राजर्षिजनकः, अद्य = अस्मिन् दिने, विदेहान् गतः = विदेहान् यातः, ततः = पितुर्गमनात्, विमनसः = दुःखितहृदयायाः, देव्याः = सीतायाः, परिसान्त्वनाय = तद्दुःखापनयनक्षममधुरवचनप्रयोगाय; नरेन्द्रः = महाराजः, श्रीरामचन्द्रः, धर्मासनात् = क्षत्रियधर्मभूतराज्यपरिपालनार्थंसिंहासनात्, वासगृहं = स्ववासगृहं, विशति = प्रविशति । वसन्ततिलकावृत्तम् । तल्लक्षणम्—

'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ॥ ७ ॥

सभाजयितुम्—सभाज् + तुमुन् । एत्य—आ + √इ + ल्यप् । विमनसः—विगतं मनो यस्याः सा विमनाः (प्रादिसमास) । निष्क्रान्तौ—निस् + क्रम् + क्त । प्रस्तावना—प्र + √स्तु + णिच् + युच् + टाप् ।

स्नेह के कारण अभिनन्दन करने के लिए आकर इतने दिन उत्सव के साथ बिताकर राजर्षि जनक आज विदेह-नगर को लौट गये हैं । इस कारण से दुःखी सीता को सान्त्वना देने के लिए महाराज न्यायासन से (उठकर) वासभवन में प्रविष्ट हो रहे हैं ॥ ७ ॥

(दोनों जाते हैं)

इति प्रस्तावना

सर्वथा ऋषयो देवताश्च श्रेयो विधास्यन्ति—इस उक्ति से वसिष्ठ, वाल्मीकि, गंगा, पृथ्वी आदि द्वारा दिये जाने वाले कथासूत्र में योगदान के प्रति संकेत किया गया है । पुनश्च यह उक्ति नाटक की सुखान्तता को भी व्यक्त कर रही है ।

भो भो···कथयन्ति—नट की यह उक्ति आकाशभाषित है । रङ्गमञ्च पर स्थित किसी पात्र का अप्रविष्ट पात्र अथवा पात्रों के साथ प्रश्नोत्तर रूप में जो संवाद होता है, उसे आकाशभाषित कहते हैं ।

(ततः प्रविशत्युपविष्टो रामः सीता च)

रामः—देवि वैदेहि ! समाश्वसिहि । ते हि गुरवो न शक्नुवन्ति विहातुमस्मान्—

(इति=एवमुक्त्वा, सूत्रधारनटी रङ्गशालातः निष्क्रान्तौ=निर्गतौ) ।

एवं प्रस्तावना प्रस्तुता । प्रस्तावनालक्षणम्—

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा' ॥

(साहित्यदर्पणे ६।३१-३२)

सा च प्रस्तावना पञ्चप्रकारा भवति । तथाहि—

"उद्घात्यकः, कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्तकावलगिते पञ्चप्रस्तावनाभिदाः ॥'

अत्र पञ्चविधासु प्रस्तावनासु प्रयोगातिशयाऽऽख्या प्रस्तावनेयम् । तल्लक्षणम्—

'यदि प्रयोगे एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते ।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा ॥'

(ततः=सूत्रधारनटयोः निष्क्रमणानन्तरम्, उपविष्टः=आसनस्थः, प्रविशति=अभिनयस्थले आविर्भवति रामः सीता च ।)

रामः—देवि वैदेहि=हे विदेहराजपुत्रि ! समाश्वसिहि=समाश्वस्ता भव, हि=यतः, ते गुरवः=श्रीपितृपादाः जनकमहोदयाः, अस्मान्=त्वां मां च, विहातुम्=परित्यक्तुम्, न शक्नुवन्ति=न समर्था भवन्ति ।

उपविष्टः—उप+√विश्+क्तः । विहातुम्—वि+√हा+तुमुन् ।

(तदनन्तर राम और सीता (दोनों) बैठे हुए दिखलायी देते हैं)

राम—हे देवि सीते ! आश्वस्त होओ । वे गुरुजन हम लोगों को छोड़ नहीं सकते हैं ।

धर्मासनात् और **नरेन्द्रः** शब्द राम के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं । राम दृढतापूर्वक राज-धर्म का पालन करने वाले हैं । वह सर्वप्रथम 'नरेन्द्र' हैं, पति आदि बाद में । भावी घटना-चक्र का बहुत-कुछ अनुमान इसी शब्द से हो जाता है ।

विशति···नरेन्द्रः—इससे पात्र-प्रवेश की सूचना दी गई है । संस्कृत-नाट्यशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि रंगमञ्च पर पूर्व-सूचना के बिना प्रवेश नहीं कराया जाता ।

प्रस्तावना—नाटक का वह अंश प्रस्तावना की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, जिसमें नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक सूत्रधार से बातें करते हैं और आगामी विषय की सूचना देते हैं । प्रस्तावना का ही दूसरा नाम आमुख है । इसके पाँच भेद हैं—उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित ।

किन्त्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यमपकर्षति ।
सङ्कटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता ॥ ८ ॥

अन्वयः—किन्तु अनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यम् अपकर्षति । हि आहिताग्नीनां गृहस्थता प्रत्यवायैः सङ्कटा ॥ ८ ॥

किन्त्विति । अनुष्ठाननित्यत्वं = नित्यनैमित्तिकादिकर्मकलापनिर्वर्तनस्य नियतता, स्वातन्त्र्यम् = स्वैरावस्थानम्, अपकर्षति = न सहते, हि = यस्मात्, आहिताग्नीनां = अग्निहोत्रिणाम्, गृहस्थता = गृहस्थाश्रमः, प्रत्यवायैः = विहितानाचरणजन्यपातकैः, सङ्कटा = निबिडा, दुःखरूपा वा ॥ ८ ॥

अत्र पूर्वार्धगतमर्थं सहेतुकं कर्तुं पदार्थहेतुकः काव्यलिङ्गालङ्कारः । तस्यैवार्थस्य समर्थनात् अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारश्चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः । अर्थान्तरन्यासस्य लक्षणं यथा—

अनुष्ठानम्—अनु + √स्था + ल्युट् । स्वातन्त्र्यम्—स्वतन्त्र + ष्यञ् । आहित—आ + √धा + क्त । प्रत्यवायः—प्रति-अव √इ + घञ् । गृहस्थता—गृहस्थ + तल् । सङ्कटा—सम् + √कट् + अच् ।

परन्तु अनुष्ठान की नित्यता अथवा नियतकर्तव्यता स्वतन्त्रता को छीन लेती है, क्योंकि अग्निहोत्रियों का गार्हस्थ्य-विहित कर्मों के न करने रूप दोषों से दुःखरूप है ॥ ८ ॥

यहाँ 'प्रयोगातिशय' नाम की प्रस्तावना है । जहाँ प्रकृत विषय का अतिक्रमण करके दूसरा विषय छेड़ दिया जाय और उसी द्वारा पात्र-प्रवेश हो, वहाँ प्रयोगातिशय नाम की प्रस्तावना होती है ।

ततः प्रविशति—नाटक का पारिभाषिक संकेत है । बैठे हुए राम तथा सीता का रंगमञ्च पर चलकर प्रवेश करना सम्भव नहीं है ? अतएव 'प्रविशति' का अभिप्राय होगा—आविर्भवति ।

गुरवः—आदरार्थ में बहुवचन का प्रयोग ।

अनुष्ठाननित्यत्वम्—अनुष्ठानानां नित्यत्वम् । तीन प्रकार के कर्म होते हैं—१. नित्य, २. नैमित्तिक और ३. काम्य । नित्यकर्म वह है जिसका करना अनिवार्य हो; यथा—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' । नैमित्तिक कर्म वह है जो किसी निमित्त के आने पर किया जाय; यथा-'राहूपरागे स्नायात्' । काम्य कर्म किसी कामना की पूर्ति के लिए किया जाता है; यथा—'पुत्रकामो यजेत, स्वर्गकामो यजेत' । नित्यकर्म का संपादन न करने से प्रत्यवाय (दोष) होता है, किन्तु उसके विधान से कोई फल नहीं होता है । नैमित्तिक कर्म करने से फल होता है और न करने से प्रत्यवाय उत्पन्न होता है । काम्यकर्म के सम्पादन से भी फल-प्राप्ति होती है, किन्तु न करने से कोई प्रत्यवाय नहीं होता है ।

धार्मिक पुरुष नियत समय पर नित्य-नैमित्तिक कर्म करने के नियम में आबद्ध रहता है । 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इस श्रुतिवचन के अनुसार एक गृहमेधी पुरुष के लिए वैवाहिक अग्नि में नित्य हवन करने का विधान है । अतएव गृह में वैवाहिक अग्नि की स्थापना अग्न्याधान कहा जाता है । जो अग्न्याधान करते हैं, वे आहिताग्नि कहे जाते हैं । ऐसे पुरुष को उस अग्नि में प्रतिदिन हवन करना पड़ता है । यह उसका नित्यकर्म है ।

सीता—जाणामि अज्जउत्त जाणामि । किंदु संदावआरिणो बन्धुजण-विप्पओआ होन्ति । [जानामि आर्यपुत्र ! जानामि । किन्तु सन्तापकारिणो बन्धुजनविप्रयोगा भवन्ति ।

रामः—एवमेतत् । एते हि हृदयमर्मच्छिदः संसारभावा येभ्यो बीभत्समानाः सन्त्यज्य सर्वान् कामान् अरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः ।

(प्रविश्य)

कञ्चुकी—रामभद्र····(इत्यर्धोक्ते साशङ्कम्) महाराज !

'सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यञ्च करणेनेदं, कार्येण च समर्थ्यते ॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।'

अनुष्टुप् छन्दः ।

श्रीरामचन्द्रस्य कथनं समर्थयमाना सीतादेवी कथयति—

सीता—आर्यपुत्र ! जानामि = वेद्मि, ('पत्नी चार्येति सम्भाष्या आर्यपुत्रेति यौवने' इति भरतनयात् सीताया आर्यपुत्रकथनं सङ्गच्छते ।) बन्धुजनविप्रयोगाः = पितृजनादिविरहाः, सन्तापकारिणः = सन्तापदायिनः, भवन्ति ।

रामः—एवमेतत् = त्वया यदुक्तं तत्सत्यमेव । संसारभावाः = जीवलोकधर्माः, हृदयमर्मच्छिदः = हृदयमर्मस्थलभेदकाः, येभ्यः = संसारभावेभ्यः, बीभत्समानाः = जुगुप्समानाः, मनीषिणः = विज्ञजनाः, सर्वान् = अखिलान्, कामान् = विषयान्, सन्त्यज्य = परित्यज्य, अरण्ये = वनेषु, विश्राम्यन्ति = शान्ति लभन्ते । कामनैव दुःखस्य मूलम् ।

कञ्चुकी—(प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा) प्रागभ्यासानुसारं 'रामभद्र' इत्येवं (पुनः स्मृत्वा) महाराज·······!

विप्रयोगः—वि-प्र + √युज् + घञ् । बीभत्समानाः—√बध् + सन् + शानच् । 'येभ्यः' में 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' से पञ्चमी । मनीषिणः—मनीषा विद्यन्ते येषां ते मनीषिणः ।

सीता—जानती हूँ आर्यपुत्र ! जानती हूँ । किन्तु बन्धुजनों के वियोग सन्तापकारी होते हैं ।

राम—ऐसा ही है । ये संसार (शरीर-सम्बन्धि सुख-दुःख-समुदाय) के स्वभाव हृदय के मर्मस्थलों को विदीर्ण करने वाले हैं, जिनसे घृणा करते हुए विज्ञजन सभी कामनाओं को छोड़कर वन में विश्राम करते हैं ।

(प्रवेशकर)

कञ्चुकी—रामभद्र···(इतना कहने पर ही बीच में शङ्कित होकर) महाराज !

विदेहराज जनक आहिताग्नि थे । प्रतिदिन हवन करना उनके लिए अनिवार्य था । अतः जनक बहुत दिन तक अयोध्या में नहीं रह सकते थे । इसीलिए वे चले गये, न कि सीता के प्रति स्नेह के न्यून होने के कारण ।

आहिताग्नीनाम्—आहिताः अग्नयः यैः ते, तेषाम् । श्रौत अग्नि के तीन भेद हैं—दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य और आहवनीय । इन्हें आधान-संस्कार से स्थापित करना पड़ता है ।

रामः—(सस्मितम्) आर्य ! ननु 'रामभद्र' इत्येव मां प्रत्युपचारः शोभते तातपरिजनस्य । तद्यथाऽभ्यस्तमभिधीयताम् ।

कञ्चुकी—देव ! ऋष्यश्रृङ्गाश्रमादष्टावक्रः सम्प्राप्तः ।

सीता—अज्ज, तदो किं विलंबीअदि । [आर्य ! ततः किं विलम्ब्यते ।]

रामः—त्वरितं प्रवेशय ।

(कञ्चुकी निष्क्रान्तः)

रामः—सस्मितम् = स्मितहास्यं कृत्वा, आर्य कञ्चुकिन् ! 'रामभद्र' इत्येव मां प्रति = मां रामचन्द्रं प्रति, उपचारः = व्यवहारः, तातपरिजनस्य = पितृनरणसेवकस्य, शोभते । तत् = तस्माद्धेतोः, यथा अभ्यस्तम् = पूर्वाभ्यासानुसारम्, अभिधीयताम् = उच्यताम्, (अत्र रामस्यौदार्यं प्रशंसनीयमेव । महाराजः सन्नप्येवं भृत्यान्निर्भयान् करोति । एतेन रामस्य क्षमावत्वं सूच्यते, तच्च धीरोदात्तनायकलक्षणानुगुणम्) ।

कञ्चुकी—देव = महाराज ! आश्रमात् = ऋष्यश्रृङ्गस्य तपोवनात्, अष्टावक्रः = महात्मा अष्टावक्रः, सम्प्राप्तः = समायातः ।

सीता—ततः = तदा, किं = किमर्थं, विलम्ब्यते = विलम्बः क्रियते ।

रामः—त्वरितं = शीघ्रं, प्रवेशय=प्रवेशं कारय (कञ्चुकी निष्क्रान्तः=निर्गतः) ।

कञ्चुकिलक्षणम्—कञ्चुकः परिच्छदोऽस्याऽस्तीति कञ्चुकी । 'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो रूपगुणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥' (ना० शा०) । स्मितलक्षणम्—'ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम् ।' (साहित्यदर्पणः)

उपचारः—उप + √चर् + घञ् । सम्प्राप्तः—सम्-प्र + √आप् + क्तः ।

राम—(मुस्कराते हुए) आर्य ! पूज्य पिताजी के सेवक आपका मेरे लिए 'रामभद्र' इस प्रकार ही शब्द-व्यवहार अच्छा लगता है । अतएव अभ्यास के अनुसार ही कहिए ।

कञ्चुकी—महाराज ! ऋष्यश्रृङ्ग जी के आश्रम से अष्टावक्र जी पधारे हैं ।

सीता—तब किसलिए विलम्ब किया जा रहा है ।

राम—उनको अविलम्ब प्रविष्ट कराओ ।

(कञ्चुकी चला जाता है ।)

कञ्चुकी—कञ्चुकः चोलः अस्यास्तीति । कञ्चुक अर्थात् चोल या झुल्ल (लम्बा ढीला-ढाला कुर्ता) पहनने के कारण यह कञ्चुकी कहलाता था । यह सदाचारी वृद्ध ब्राह्मण होता था, जो राजा के अन्तःपुर की व्यवस्था करता था ।

कञ्चुकी का लक्षण इस प्रकार है—

अन्तःपुरचरोवृद्धो विप्रोरूपगुणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

अष्टावक्र—जीवानन्द ने अष्टावक्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है—अष्टसु अवयवेषु, वक्रः, अष्टौवक्राणि यस्य इति वा, विग्रह में 'अष्टनः संज्ञायाम्' सूत्र से 'अष्टा' यह दीर्घ हो जाता है ।

प्राचीन काल में समस्त रात्रि अध्ययन करने वाले कहोड नामक ऋषि थे । उन्होंने उद्दालक नामक अपने गुरु की कन्या सुजाता से विवाह किया । कुछ काल बीतने पर सुजाता ने अग्नि के

(प्रविश्य)

अष्टावक्रः—स्वस्ति वाम् ।

रामः—भगवन् ! अभिवादये । इत आस्यताम् ।

सीता—भअवं णमो दे । अवि कुसलं सजामातुअस्स गुरुअणस्स अज्जाए सन्ताए अ ? [भगवन् ! नमस्ते ! अपि कुशलं सजामातृकस्य गुरुजनस्यार्याया शान्तायाश्च ।]

रामः—निर्विघ्नः सोमपीथी आवुत्तो मे भगवान् ऋष्यशृङ्ग आर्या च शान्ता ?

अष्टावक्रः—(प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा) स्वस्ति वाम् = युवाभ्यां कल्याणं भूयात् ('नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इति चतुर्थी) ।

रामः—भगवन् = लोकस्थित्याद्यभिज्ञ ! अभिवादये = नमस्करोमि, अत्र आस्यताम् = उपविश्यताम् ।

सीता—भगवन् ! नमस्ते । अपि = किम्, सजामातृकस्य = ऋष्यशृङ्गसहितस्य, गुरुजनस्य = कौसल्यादेः पूज्यजनस्य, आर्यायाः = पूज्यायाः शान्तायाः च, कुशलं = क्षेमम् ।

रामः—मे = मम, आवुत्तः = भगिनीपतिः, सोमपीथी = सोमपानकर्ता, भगवान् ऋष्यशृङ्गः कुशली किम् ? पूज्या शान्ता च निर्विघ्ना किम् ?

सजामातृकस्य—जामात्रा सहितः सजामातृकः, तस्य (बहुव्रीहि) । निर्विघ्नः—निष्क्रान्ताः विघ्नाः यस्मात् ।

(प्रवेश करके)

अष्टावक्र—आप दोनों का कल्याण हो ।

राम—भगवन् ! अभिवादन करता हूँ । इधर बैठिये ।

सीता—भगवन् ! नमस्ते । जामाता सहित कौसल्यादि गुरुजन तथा शान्ता देवी का कुशल तो है ?

राम—सोमपायी मेरे बहनोई भगवान् ऋष्यशृङ्ग तथा आर्या शान्ता सानन्द तो हैं ?

समान तेजस्वी गर्भ धारण किया । उस गर्भ ने अपने पिता कहोड से कहा—पिता जी, आप रात्रि भर वेद-पाठ करते हैं तो भी आपका पाठ शुद्ध नहीं हो पाता । इस पर अपमान का अनुभव करके उन्होंने गर्भस्थ शिशु को शाप दे दिया—'तू गर्भ में रहकर ही ऐसी वक्र बातें करता है, अतः तू आठ अङ्गों से वक्र हो जा ।' इसलिए वे आठ अङ्गों से वक्र होकर ही उत्पन्न हुए ।

सोमपीथी—सोम एक प्रकार की लता है । प्राचीन वैदिक साहित्य में सोम का नाम अत्यधिक आया है । इसके रस के अनेक गुणों का वर्णन सुश्रुतसंहिता के चिकित्सास्थान में किया गया है । किन्तु खेद है कि आज इस लता की पहचान किसी को नहीं है ।

आवुत्तः—नाट्योक्ति में 'भगिनीपति' को 'आवुत्त' कहा जाता है । कहीं-कहीं आवुत्तः के स्थान पर 'भावुकः' पाठ भी मिलता है । उसका भी यही अर्थ है ।

सीता—अह्मे वा सुमरेदि ? [अस्मान् वा स्मरति ?]

अष्टावक्रः—(उपविश्य) अथ किम् ? देवि ! कुलगुरुर्भगवान् वसिष्ठस्त्वामिदमाह—

विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत,
राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते ।
तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि पार्थिवानां,
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च ॥ ९ ॥

भगवल्लक्षणम्—

'उत्पत्तिं च स्थितिं चैव लोकानामगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥'

सोमपीथी—पीथं पानं 'पातृतुदिवचिसिचिभ्यस्थक्' इति औणादिकस्थक् । सोमस्य पीथं सोमपीथं, तदस्याऽस्तीति, 'अत इनिठनौ' इतीनिः प्रत्ययः । 'सोमपीथी तु सोमपः' इत्यमरः । आवुत्तः—भगिनीपतिः 'भगिनीपतिरावुत्तः' इत्यमरः । 'भावुक' इति पाठेऽपि स एवाऽर्थः, 'नाट्योक्तौ भगिनीपतिः' इति हेमचन्द्रः ।

सीता—अस्मान् वा स्मरति = अस्माकं स्मरणं करोति किम् ?

अष्टावक्रः—(उपविश्य) (स्मरन्ति सर्वे भवन्तौ । कुशलिनश्च सर्वे ।) अथ किम् = एवम्, देवि = हे राजमहिषि ! कुलगुरुः = सूर्यवंशस्य गुरुः वसिष्ठः, त्वाम् = भवतीम्, इदम् = एवं, प्राह = आह—

अन्वयः—भगवती विश्वम्भरा भवतीम् असूत, प्रजापतिसमः राजा जनकः ते पिता । नन्दिनि ! तेषां पार्थिवानां त्वं वधूः असि, येषां कुलेषु सविता गुरुः, वयं च (गुरवः) ।'

विश्वम्भरा—विश्व + √भृ + खच् + मुम् + टाप् । प्रजापतिसमः—प्रजापतिना प्रजापतेः वा समः । 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्' इति तृतीया षष्ठी वा, तत्पुरुषसमास । नन्दिनी—√नन्द् + णिच् + णिनि + ङीप् । पार्थिवाः—पृथिवी + अण् ।

सीता—क्या (यदा-कदा) हमारा भी स्मरण करते हैं ?

अष्टावक्र—(बैठकर) और क्या ? हे राजमहिषि ! सूर्यवंश के गुरु भगवान् वसिष्ठ ने आपसे यह कहा है—

विश्व का भरण-पोषण करने वाली भगवती वसुन्धरा ने आपको उत्पन्न किया है; ब्रह्माजी के सदृश विदेहाधिपति जनक आपके पिता हैं । हे आनन्ददायिनि ! तुम उन राजाओं की कुलवधू हो, जिनके कुल में सूर्य और हम गुरु हैं ॥ ९ ॥

अष्टावक्र ने यहाँ सीता के पितृकुल और श्वसुरकुल दोनों की उदात्तता पर प्रकाश डाला है । प्रसिद्ध ब्रह्मवेत्ता तथा कर्मयोगी होने के कारण प्रजापति-सदृश जनक सीता के पिता हैं । विश्व का भरण-पोषण करने वाली सर्वसहा पृथ्वी उनकी जननी है । सर्वप्रकाशक सविता एवं तपःपूत वसिष्ठादि कुलगुरु हैं । इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि कुलवधू सीता भावी विपत्तियों को

तत्किमन्यदाशास्महे। केवलं वीरप्रसवा भूयाः।

रामः—अनुगृहीताः स्मः।

विश्वम्भरेति। भगवती=षाड्गुण्यपरिपूर्णा, विश्वम्भरा=भूमिः, भवतीं=सीताम्, असूत=उत्पादितवती, प्रजापतिसमः=ब्रह्मणा तुल्यः, राजा जनकः=महाराजः विदेहाधिपतिः जनकः, ते पिता=तव पिता, नन्दिनि=सौभाग्यवति! तेषां=प्रसिद्धानां, पार्थिवानां=राज्ञां, त्वं वधूः=त्वं स्नुषा, येषां=राज्ञां, कुलेषु=वंशेषु, सविता=भगवान् श्रीसूर्यः, गुरुः=वंशप्रवर्तकः, वयं च=वयं च हितोपदेष्टारः।

विश्वम्भरा—विश्वम्भरोक्तिः क्षान्तिप्रधानतासूचनाय। प्रजापतिसमः—स्वाध्यायादिना ब्रह्मतुल्य इत्यर्थः। राजा—राजते दीप्यते इति। ब्रह्मज्ञानपरिपूर्णतया नैष्ठिकवन्निरतिशयदीप्तियुक्त इत्यर्थः। यद्वा ज्ञानभक्तिवैराग्यैः अस्मदादीनपि रञ्जयतीति राजा। अत्र 'प्रजापतिसमः' इत्यत्रोपमा, 'च' शब्दोपादानात्समुच्चयः, 'जनकः पिता' इत्यत्र पुनरुक्तवदाभासः। तत्रोपमालक्षणम्—'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्ये उपमाद्वयोः'। समुच्चयस्य लक्षणम्—'समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके। खलेकपोतिकान्यायात्, तत्करः स्यात् परोऽपि चेत्। गुणौ क्रिये वा युगपत्, स्यातां यद्वा गुणक्रिये॥' पुनरुक्तवदाभासलक्षणम्—'आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्यावभासनम्। पुनरुक्तवदाभासः सभिन्नाकारशब्दगः॥' अत्र वसन्ततिलकावृत्तं, तल्लक्षणं यथा—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।'

तदिति। तत्=तस्मात्, अन्यत्=अपरं, किमाशास्महे=किम् इच्छामः? केवलं वीरप्रसवा=केवलं वीरमाता, भूयाः=भवतात्।

अयम्भावः—तव गुणातिशयो नाशास्यः, 'विश्वम्भरा भगवती' इत्युक्तमातृसम्बन्धादेव तत्सिद्धेः। नापि ज्ञानभक्तिवैराग्यादिकम्। ब्रह्मवेत्तृजनकसम्बन्धादेव तल्लाभात्। न वा हितग्राहित्वमैश्वर्यं भर्तृसम्बन्धप्रयुक्तनिकर्षाभावश्च प्रार्थ्यः। तेषां सद्गुरुसम्बन्धशालिमहाराजमहाकुलप्रसूतराजकुलस्नुषात्वादेव सिद्धत्वात्। अत एतेषां नाशास्यत्वं किन्तु वीरप्रसवत्वस्येति। एष ऋषिश्रेयोविधानभूतवसिष्ठानुग्रहरूपबीजस्य बहूकरणात्परिकरः। तदुक्तम्—'बीजस्य बहूकरणं परिकरः'।

वीरपुत्रस्याशिषं निशम्य **श्रीरामः** प्रसन्नतां प्रकटयन् आह—अनुगृहीताः स्मः=कृतार्थाः भवामः।

एतन्मनुष्यानुग्रहरूपबीजाङ्गीकरणरूपं समाधानं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्। तदुक्तम्—'बीजाङ्गीकरणं समाधानम्'।

प्रसवः=प्रसूयते इति प्रसवः, प्र+√सू+अप्।

अतः इससे अधिक और क्या आशीर्वाद दें। केवल वीरों को जन्म देने वाली हो।

राम—हम कृतार्थ हो गये हैं। क्योंकि—

पृथ्वी-सदृश सर्वसहा बनकर झेल लेंगी, विदेह की भाँति सांसारिक सुख-दुःखों से अछूती रहेंगी तथा सदैव सन्मार्ग पर प्रवृत्त रहेंगी।

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥ १० ॥

अष्टावक्रः—इदश्च भगवत्याऽरुन्धत्या देवीभिः शान्तया च भूयो भूयः सन्दिष्टम् । यः कश्चिद् गर्भदोहदोऽस्या भवति सोऽवश्यमचिरात् सम्पादयितव्य इति ।

अन्वयः—हि लौकिकानां साधूनां वाक् अर्थम् अनुवर्तते, पुनः आद्यानाम् ऋषीणाम् वाचम् अर्थः अनुधावति ।

लौकिकानामिति । लौकिकानां = साधारणानाम्, साधूनां = सत्पुरुषाणाम्, वाक् = वचनम्, अर्थम् = पदार्थम्, अनुवर्तते = अनुधावति, पुनः = परन्तु, आद्यानां = वैदिकानाम्, ऋषीणाम् = तपस्विनाम्, वाचं = वाणीम्, अर्थः = वस्तु, अनुधावति = अनुसरति ।

एतत् ऋषिश्रेयोविस्तरणरूपबीजगुणवर्णनात् विलोभनं नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम् । यदुक्तम्—'बीजगुणवर्णनं विलोभनम् ।' अत्र लौकिकसाधूनामपेक्षया ऋषीणां वचसामाधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः । तल्लक्षणम्—'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथ वा । व्यतिरेकः ।' अनुष्टुप्छन्दः ।

अष्टावक्रः—इदं = वक्ष्यमाणम्, भगवत्याऽरुन्धत्या = वसिष्ठपत्न्या अरुन्धत्या, देवीभिः = कौसल्यादिभिः शान्तया च, भूयोभूयः = वारं वारम्, सन्दिष्टम् = आदिष्टम्,

---

लौकिकः—लोके विदितः इति लौकिकः; लोक + ठञ् । आद्यः—आदौ भवः; आदि + यत् । सन्दिष्टम्—सम् + √दिश + क्तः । सम्पादयितव्यः—सम् + √पद + णिच् + तव्यत् ।

लौकिक सत्पुरुषों की वाणी पदार्थ का अनुसरण करती है, परन्तु (भूत, भविष्यत्, वर्तमान का दर्शन करने वाले) वैदिक ऋषियों की वाणी का अनुसरण (स्वयं) अर्थ करता है ॥ १० ॥

अष्टावक्र—और भगवती अरुन्धती, (कौसल्या-प्रभृति) महारानियों तथा शान्ता द्वारा पुनः-पुनः यह कहा गया है कि इस सीता की जो कोई भी गर्भावस्था की अभिलाषा हो, उसका अवश्य ही अविलम्ब सम्पादन होना चाहिए ।

प्रस्तुत श्लोक के भाव की तुलना 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के 'भगवन् वरः खल्वेष नाशीः' इस वाक्य के भाव से की जा सकती है ।

ऋषि—'ऋषयः सत्यवचसः' (अमर० २।७।४३) । ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में रामाश्रम का मत द्रष्टव्य है—

ऋषन्ति जानन्ति । 'ऋषीगतौ' 'इगुपधात्कित्' इतीन् । ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम्' (इति मेदिनी)

निरुक्तकार ने 'साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः' कहा है । ऋषि का लक्षण निम्न है—

'ऊर्ध्वरेतास्तपस्युग्रो नियताशी च संयमी ।
शापानुग्रहयोः शक्तः सत्यसन्धो भवेदृषिः ॥
तपोनिर्धुतपाप्मानो याथातथ्याभिधायिनः ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञा ऋषयः परिकीर्तिताः ॥

रामः—क्रियते यद्येषा कथयति ।

अष्टावक्रः—ननान्दुःपत्या च देव्याः सन्दिष्टमृष्यशृङ्गेण—'वत्से ! कठोरगर्भेति नानीतासि । वत्सोऽपि रामभद्रस्त्वद्विनोदार्थमेव स्थापितः । तत्पुत्रपूर्णोत्सङ्गामायुष्मतीं द्रक्ष्याम' इति ।

रामः—(सहर्षलज्जास्मितम्) तथाऽस्तु । भगवता वसिष्ठेन न किञ्चिदादिष्टोऽस्मि ?

यः कश्चित् = यः कोऽपि, अस्याः = सीतायाः, गर्भदोहदः = गर्भिण्यभिलाषः, भवति सः अवश्यम् अचिरात् = सत्वरम्, सम्पादयितव्यः = पूरयितव्यः । 'दोहदस्याऽप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात् । वैरूप्यं मरणं चापि तस्मात्कार्यं प्रियं स्त्रियाः ॥' इति स्मृतेरिति भावः ।

रामः—एषा = सीता, यदि कथयति = यदि सूचयति, क्रियते = विधीयते ।

अष्टावक्रः—ननान्दुःपत्या ऋष्यशृङ्गेण देवीं प्रति आदिष्टम्—देव्याः = देवीं प्रति, वत्से = कल्याणि, कठोरगर्भा = परिणतगर्भा, नानीतासि = न प्रापिताऽसि, वत्सः रामचन्द्रोऽपि, त्वद्विनोदार्थम् = तव चित्तरञ्जनार्थम्, स्थापितः = रक्षितः तत् = तस्मात्, पुत्रपूर्णोत्सङ्गाम् = तनयपूर्णाऽङ्कामायुष्मतीं, द्रक्ष्यामः = अवलोकयिष्यामः ।

एतद् बीजानुगुणप्रयोजनविभावनारूपा युक्तिर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं भवति । तदुक्तम्—'बीजानुगुणप्रयोजनविभावना युक्तिः ।' इति ।

स्थापितः—√स्था + णिच् + क्तः ।

राम—जो यह कहेंगी वह किया जायेगा ।

अष्टावक्र—ननद के पति ऋष्यशृङ्ग ने भी देवी सीता के लिए सन्देश दिया है—हे बेटी ! तुम पूर्णगर्भा हो, अतएव तुम नहीं लायी गयी हो । वत्स रामचन्द्र भी तुम्हारे मनोरञ्जन के लिए ही वहाँ रोके गये हैं । अतः पुत्र से भरी-पूरी गोदवाली आयुष्मती को हम लोग देखेंगे ।

राम—(हर्ष एवं लज्जामिश्रित मुस्कराहट के साथ) वैसा ही हो, क्या भगवान् वसिष्ठ ने मुझे कोई सन्देश नहीं दिया है ?

नायक द्वारा कथा-बीज का आधान किये जाने से 'समाधान' तथा ऋषियों की वाणी के गुणों का वर्णन किये जाने से 'विलोभन' नामक मुखसन्धि के अङ्ग का वर्णन है । इनके लक्षण निम्न है—

'बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।'
'गुणाख्यानं विलोभनम् ।'

दोहदः—यह शब्द गर्भिणी की इच्छा के लिए ही प्रयुक्त होता है । गर्भिणी की अभिलाषा पूरी न होने से विकृत सन्तान उत्पन्न होती है ।

यद्येषा कथयति—राम के इस वचन से सीता की लज्जाशीलता व्यक्त हो रही है ।

न आनीतासि—ऋष्यशृङ्ग द्वारा सीता जी नहीं बुलाई गई, क्योंकि गर्भिणी के लिए यात्रा वर्जित है—

'गर्भिणी कुञ्जराश्वादिशैलहर्म्याऽधिरोहणम् । व्यायामं शीघ्रगमनं शकटारोहणं त्यजेत् ॥'

अष्टावक्रः—श्रूयताम्—

जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धा-
स्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्।
युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्या-
स्तस्माद्यशो यत् परमं धनं वः॥ ११॥

अष्टावक्रः—श्रूयताम् = आकर्ण्यताम्।

अन्वयः—वयं जामातृयज्ञेन निरुद्धाः, त्वं बालः एव असि, राज्यं च नवम्। प्रजानाम् अनुरञ्जने युक्तः स्याः, तस्मात् यशः यत् वः परमं धनम्।

जामात्रिति। वयमत्र जामातुः = ऋष्यशृङ्गस्य, यज्ञे निरुद्धाः = उपरुद्धाः, त्वया राज्यञ्च नवं = नवीनमेव सम्प्राप्तम्। अतः प्रजानाम् = लोकानाम्, अनुरञ्जने युक्तः स्याः = सावधानो भव। तस्मात् = प्रजानुरागात्, यशो भविष्यति, तदेव वः = युष्माकं, परमं = सर्वोत्कृष्टं धनम्। त्वं बाल एव असि, न तु राज्यतन्त्रविचारोपमर्दीभिज्ञ इत्यर्थः। एवं चात्रत्यबालशब्दः पुत्रत्वाभिप्रायमूलकः। तथा च त्वदीयराज्यतन्त्र-विषयकास्थानानर्थशङ्का मामसन्निकृष्टं बाधत इत्याह—त्वं बाल एव असि। धनम् = लब्धांशपरिपालनालब्धांशार्जनाभ्यां धनतुल्यमित्यर्थः।

अत्र सीतानिर्वासनरूपं 'बीजं' समुपदिष्टम्। बीजलक्षणञ्च—'अल्पमात्रं समुपदिष्टं, बहुधा यद्विसर्पति। फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते॥' इन्द्रवज्रा वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'।

अनुरञ्जनम्—अनु + √रञ्ज् + ल्युट्।

अष्टावक्र—सुनें—

हम जामाता के यज्ञ के कारण रुक गये हैं, तुम बालक हो ही, राज्य भी नवीन ही है। अतः प्रजा का अनुरञ्जन करने में तत्पर हो जाओ। प्रजानुरञ्जन से कीर्ति है, जो आप लोगों का सर्वोत्कृष्ट धन है॥ ११॥

यहाँ 'मुखसन्धि' के 'युक्ति' नामक अङ्ग का वर्णन किया गया है।

आदिष्टोऽस्मि—इस वाक्य से राम की विनम्रता व्यक्त की गई है।

प्रजानामनुरञ्जने—जीवानन्द के मतानुसार—'यशसां परमधनत्वेनारोपात्, तद्रक्षणप्रयासस्यात्यावश्यकत्वं सूचितमन्यथा तदपायस्य सम्भवात्। एष हि प्रदर्शित बीजस्योत्थापनहेतुः वेदितव्यः, पश्चाच्च भगवता रामभद्रेण स्वयमेवैतत् 'जानकीमपि मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा' इत्यादिना जानकीविवासनं लोकानामनुरञ्जनाय करिष्यते इत्यभिधास्यते।

प्रजानुरञ्जन में राजनीतिक दृष्टि और लोककल्याण दृष्टि दोनों की सिद्धि है।

'यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजाप्रकृतिरञ्जनात्॥' (रघुवंश ४।१२)

शासन की सफलता के लिए लोकप्रियता अर्जित करना राजा का परम आवश्यक कर्त्तव्य है। 'कीर्तिरेव भवतां प्रियदाराः'। (श्रीहर्ष)

यहाँ सीता-निर्वासन रूप 'बीज' का संकेत है।

रामः—यथा समादिशति भगवान् मैत्रावरुणिः ।

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥ १२ ॥

सीता—अदो जेव्व राहवकुलधुरंधरो अज्जउत्तो । [अत एव राघवकुलधुरन्धर आर्यपुत्रः]

रामः—भगवान्मैत्रावरुणिः = वसिष्ठः, यथा समादिशति = यथा आज्ञापयति ।

अन्वयः—लोकस्य आराधनाय स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीम् अपि मुञ्चतः मे व्यथा नास्ति ।

स्नेहमिति । लोकस्य = जनस्य, आराधनाय=प्रसादनाय, स्नेहम् = अनुरागं, दयां= करुणां, सौख्यं = सुखं च, यदि वा = अथवा, जानकीमपि = सीतामपि, मुञ्चतः = त्यजतः, मे = मम, व्यथा = दुःखं, नास्ति = न वर्तते । लोकप्रसादनाय सर्वस्वपरित्यागेऽपि न मम दुःखं भविष्यति इति भावः । 'लोकस्ये'त्येकवचनेनैकस्यापि जनस्याराधनं मम व्रतम् । सर्वेषां जनानां तु का कथा ? इति भावः । वर्तमानकालनिर्देशेन सीतापरित्यागस्य आसन्नता व्यज्यते । अनुष्टुप् छन्दः ।

सीता—अत एव = अस्मात् कारणात् (लोकाराधनपरत्वात्) एव, राघवकुलधुरन्धरः = रघुवंशश्रेष्ठः आर्यपुत्रः (राघवपदोपादानं साभिप्रायकम् । शरणागतसंरक्षणभूतदयालोकाराधनैकपररघुवंशजस्य तवेदमनुरूपमित्यभिप्रायः ।)

सौख्यम्—सुख + ष्यञ् । मुञ्चतः—√मुच् + शतृ ।

राम—भगवान् वसिष्ठ जैसी आज्ञा देते हैं—

लोकानुरंजन के लिए स्नेह, दया, सुख और सीता का भी परित्याग करते हुए मुझे कोई व्यथा नहीं होती है ॥ १२ ॥

सीता—इसीलिए आर्यपुत्र रघुवंश में श्रेष्ठ हैं ।

मैत्रावरुणिः—मित्रश्च वरुणश्च मित्रावरुणौ, तयोः अपत्यं पुमान् मैत्रावरुणिः = वसिष्ठः । वसिष्ठ के जन्म की कथा रामायण के उत्तरकाण्ड में दी गई है ।

'तद्धि तेजस्तु मित्रस्य उर्वश्या पूर्वमाहितम् ।
तस्मिन् समभवत् कुम्भे तत्तेजो यत्र वारुणम् ॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य मित्रावरुणसम्भवः ।
वसिष्ठस्तेजसायुक्तो जज्ञे इक्ष्वाकुदैवतम् ॥'

प्रस्तुत १२वें श्लोक से भगवान् श्रीरामचन्द्र की लोकाराधन-भावना का पता चलता है । वे प्रजानुरंजन के निमित्त अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए समुद्यत हैं ।

जानकीम्—इस पद पर वीरराघव की व्याख्या द्रष्टव्य है—'सीतामित्यनुक्त्वा जानकीमित्युक्तिर्लोकाराधनापेक्षया ब्रह्मर्षिसमजनकानुरोधोऽप्यकिञ्चित्कर इति सूचयति' ।

अत एव राघवकुलधुरंधर आर्यपुत्रः—राम के मुख से अपने परित्याग की बात सुनकर भी सीता विक्षुब्ध नहीं होती हैं, इसके विपरीत कर्तव्यनिष्ठा के लिए वे राम की प्रशंसा करती हैं ।

रामः—कः कोऽत्र भोः ? विश्राम्यतामष्टावक्रः ।

अष्टावक्रः—(उत्थाय परिक्रम्य च) अये, कुमारलक्ष्मणः प्राप्तः ।

(इति निष्क्रान्तः)

(प्रविश्य)

लक्ष्मणः—जयति जयत्यार्यः । आर्य ! तेन चित्रकारेणास्मदुपदिष्टमार्यस्य चरितमस्यां वीथिकायामभिलिखितम् । तत्पश्यत्वार्यः ।

रामः—जानासि वत्स ! दुर्मनायमानां देवीं विनोदयितुम् । तत्कियन्तमवधि यावत् ?

रामः—कः कोऽत्र भोः = अत्र कोऽस्ति ? अष्टावक्रस्य विश्राम्यताम् = विश्राम-प्रबन्धः क्रियताम् ।

अष्टावक्रः—(उत्थाय परिक्रम्य) अये ! कुमारलक्ष्मणः प्राप्तः = आगतः (एव-मुक्त्वा निष्क्रान्तः = निर्गतः) ।

(अभिनयस्थाने प्रवेशं कृत्वा)

लक्ष्मणः—महाराज ! भवतो विजयः सनातनः । आर्य ! तेन चित्रकारेण अस्माभिः उपवर्णितं पूज्यस्य भवतः चरितम् अस्यां वीथिकायां = चित्रमयश्रेण्याम्, अभिलिखितम = अङ्कितम् । तत् चित्रम् आर्यः विलोकयतु ।

रामः—दुर्मनायमानां = दुःखितमनस्काम् (जनकस्य स्वदेशं प्रति गमनात्) देवीं = सीतां, विनोदयितुम् = दुःखविस्मरणपूर्वकं सन्तोषं ग्राहयितुम्, जानासि । अनेकसङ्ख्याकेषु मद्व्यापारेषु कीदृशसङ्ख्यायुक्तोऽस्मद्व्यापारः ।

चित्रकारः = चित्रं करोति इति चित्र + √कृ + ट ।

दुर्मनायमानाम् —दुःस्थितं मनो यस्याः सा दुर्मनाः, अदुर्मनाः दुर्मनाः भवति इति; 'भृशादिभ्यो० (पा० ३।१।१२) सूत्र से क्यङ् प्रत्यय; दुर्मनस् + क्यङ् और स् लोप

राम—यहाँ कौन है ? भगवान् अष्टावक्र को विश्राम कराओ ।

अष्टावक्र—(उठकर और घूमकर) अरे ! कुमार लक्ष्मण आ रहे हैं ।

(चले जाते हैं)

(प्रवेशकर)

लक्ष्मण—आर्य की जय हो, जय हो । हमारे द्वारा उपदिष्ट आपका चरित इस चित्रभित्ति पर उस चित्रकार ने चित्रित किया है । उसे आप देखें ।

राम—वत्स ! खिन्नमना देवी का मनोरञ्जन करना जानते हो । चित्र कहाँ तक चित्रित है ?

'राघव' पद यहाँ साभिप्राय है । 'राघवपदोपादानं साभिप्रायकम् । शरणागतसंरक्षणभूतदया-लोकाराधनैकपररघुवंशजस्य तवेदमनुरूपमित्यभिप्रायः।' (वीरराघव) ।

अये कुमारलक्ष्मणः प्राप्तः—यह कहकर अष्टावक्र चले जाते हैं । इस अवसर पर लक्ष्मण का उन्हें प्रणाम न करना कुछ खटकता है । परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मण के देखने से पूर्व ही वे निकल गये हों ।

लक्ष्मणः—यावदार्याया हुताशने विशुद्धिः ।

रामः—शान्तं पापम् । (ससान्त्ववचनम्)

उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः ।
तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः ॥ १३ ॥

देवि देवयजनसम्भवे ! प्रसीद । एष ते जीवितावधिः प्रवादः ।

लक्ष्मणः—आर्यायाः = सीता देव्याः, हुताशने = वह्नौ, शुद्धिर्यावत् ।

रामः—त्वया पुनरेवं न वाच्यम् (ससान्त्ववचनम् = अत्यर्थमधुरवाक्यसहितम्)।

अन्वयः—उत्पत्तिपरिपूतायाः अस्याः पावनान्तरैः किम् ? तीर्थोदकं च वह्निः च अन्यतः शुद्धिं न अर्हतः ।

उत्पत्तीति । उत्पत्तिपरिपूतायाः = जन्मना एव परिशुद्धायाः, अस्याः = सीतायाः, पावनान्तरैः = पवित्रताजनकैः पदार्थैः, किं = किं क्रियते ? तीर्थोदकं = तीर्थजलं, वह्नि = अग्निश्च, अन्यतः = अन्यस्मात्, शुद्धिं = पवित्रतां, न अर्हतः = न अपेक्षेते ।

यथा पावकत्वाविशेषात्तीर्थोदकवह्न्योरितरापेक्षया नास्ति तद्वदस्या अपि पावकत्वाविशेषेण तदपेक्षा नास्तीत्यतिस्फुटम् । किञ्च विनिगमनाविरहात् वह्नेर्वा सीतासम्बन्धतः शुद्धिः किं न स्यादित्याशयः । अग्निप्रवेशानुमतिर्मूढप्रत्यायनार्था वा। अग्निप्राशस्त्यार्था वा । अत्र दृष्टान्तोऽलङ्कारः । तल्लक्षणन्तु—'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्' ।

देवीति । देवयजनसम्भवे = देवयज्ञक्षेत्रोत्पन्ने ! हे देवि ! प्रसीद = प्रसन्ना भव, एषः = अग्निविशुद्धिविषयकः, प्रवादः = लोकाऽपवादः, ते = तव, जीवितावधिः = यावज्जीवनस्थायीति भावः ।

होने पर दुर्मनायते, क्यङ् प्रत्यय के ङित् होने के कारण आत्मनेपद, दुर्मनाय इस नाम धातु से शानच् प्रत्यय दुर्मनायमान, स्त्रीलिङ्ग में दुर्मनायमाना, द्वितीया एकवचन में दुर्मनायमानाम् । पावनान्तरैः—पावयन्ति इति पावनानि, 'नन्दिग्रहि०' (पा०

लक्ष्मण—आर्या की अग्निशुद्धि तक ।

राम—ऐसा मत कहो (**सान्त्वना के स्वर में**)—

जन्म से ही अत्यन्त पवित्र इस सीता का अन्य पवित्रताकारक पदार्थों से क्या (प्रयोजन है) ? तीर्थजल और अग्नि किसी दूसरे पदार्थ से शुद्धि की अपेक्षा नहीं रखते हैं ॥ १३ ॥

हे यज्ञभूमि से उत्पन्न देवि ! प्रसन्न होओ । यह अपवाद जीवन भर के लिए है ।

उत्पत्तिपरिपूतायाः—देवयज्ञभूमि से उत्पन्न सीता अयोनिजा होने के कारण जन्म से ही पूर्णतया पवित्र हैं । उनकी शुद्धि अन्य पवित्रताकारक पदार्थों से सम्भव नहीं है ।

प्रस्तुत १३वें श्लोक का उत्तरार्द्ध 'महावीरचरित' में भी ज्यों का त्यों प्राप्त है ।

देवयजनसम्भवे—'देवा इज्यन्तेऽस्मिन् इति देवयजनं यज्ञभूमिः । देवयजनात् सम्भवो यस्याः सा । विदेहाधिपति जनक द्वारा यज्ञभूमि को शुद्ध करने के निमित्त हल चलाये जाने पर उन्हें सीता की प्राप्ति हुई थी । यज्ञभूमि से उत्पन्न होने के कारण उन्हें 'देवयजनसम्भवा' कहा गया है ।

क्लिष्टो जनः कुलधनैरनुरञ्जनीय-
स्तन्नो यदुक्तमशुभं न हि तत्क्षमं ते ।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि ॥ १४ ॥

सीता—होदु अज्जउत्त होदु । एहि पेक्खह्म दाव दे चरिदम् । (इत्युत्थाय परिक्रामतः) ! [भवतु आर्यपुत्र भवतु । एहि प्रेक्षामहे तावत्ते चरितम् ।]

अन्वयः—क्लिष्टो जनः जनैः अनुरञ्जनीयः किल, तत् ते नः, यत् अशुभम् उक्तं तत् न क्षमम् । सुरभिणः कुसुमस्य मूर्ध्नि स्थितिः नैसर्गिकी सिद्धा, चरणैः अवताडनानि न ।

क्लिष्ट इति । क्लिष्टो जनः = क्लेशयुक्तो मनुष्यः, जनैः = तत्सम्बन्धिभिः, क्लेशं विस्मार्य, अनुरञ्जनीयः = लालनीयः, तत् = तस्मात्, ते = त्वद्विषये, नः=अस्माभिः, यत् अशुभम् = यत् अमङ्गलम्, उक्तं = कथितं, तत् न क्षमम् = न तत् तव योग्यम्, सुरभिणः = सुगन्धप्रधानस्य, कुसुमस्य = पुष्पस्य, मूर्ध्नि = शिरसि, स्थितिः = स्थितिः, नैसर्गिकी = स्वाभाविकी, सिद्धा = प्रसिद्धा, चरणैः = पादैः, अवताडनानि=अवमर्दनानि, न = न नैसर्गिकाणि ।

त्रिविधानि तावत्कुसुमान्यवगन्तव्यानि—कान्तिप्रधानानि सौरभ्यप्रधानानि उक्तोभयप्रधानानि चेति । तत्र कान्तिप्रधानानि शाल्मलीकुसुमादीनि सौरभ्यप्रधानानि दमनकादीनि, उभयप्रधानानि मालतीप्रभृतीनि । तत्र सौरभ्यमात्रप्रधानस्यापि न चरणावताडनार्हत्वम् । तस्य घ्राणैकनिरन्तरानुभाव्यत्वात् । एवं नाद्यस्यापि । तस्य दर्शनैकानुभाव्यत्वात् । उभयप्रधानस्य तु सुतरां न चरणावताडनार्हत्वमिति । अत दृष्टान्ताऽलङ्कारः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

सीता—भवतु = अस्तु, आर्यपुत्र ! अस्तु । मम विषये प्रवादस्य चिन्ता न कार्या । एहि = आगच्छ, इदानीं तव चरितं = भवतोऽपि चरित्रं, प्रेक्षामहे = पश्यामः ।

३।१।१३४) इति ल्युः, अन्यानि पावनानि पावनान्तराणि. 'मयूरव्यंसकादयश्च' (पा० २।१।७२) इति नित्यसमासः ।

अनुरञ्जनीयः—अनु + √रञ्ज् + णिच् + अनीय । उक्तम्—वच् + क्त । नैसर्गिकी —निसर्गात् आगता; निसर्ग + ठक् + ङीप् । स्थितिः—√स्था + क्तिन् ।

दुःखी व्यक्ति, जनों से लालनीय हुआ करता है, इसलिए जो हमारे द्वारा तुम्हारे विषय में अमङ्गल वाक्य कहा गया है, वह तुम्हारे योग्य नहीं है । सुगन्धित पुष्प का शिर पर अवस्थान स्वाभाविक प्रसिद्ध है, उन पर चरणों से प्रहार नहीं ॥ १४ ॥

सीता—ठीक है आर्यपुत्र ! ठीक है । आइये, आपका चरित देखें । **(उठकर घूमती हैं)**

प्रस्तुत १४वें श्लोक के अन्तिम दो चरण कुछ परिवर्तन के साथ 'मालतीमाधव' (९।५१) में भी मिलता है ।

लक्ष्मणः—इदं तदालेख्यम् ।

सीता—(निर्वर्ण्य) के एदे उवरिणिरन्तरट्ठिदा उवत्थुवन्दि विअ अज्जउत्तम् ? [के एते उपरिनिरन्तरस्थिता उपस्तुवन्तीवार्यपुत्रम् ?]

लक्ष्मणः—देवि ! एतानि तानि सरहस्यानि जृम्भकास्त्राणि यानि भगवतः भृशाश्वात् कौशिकमृषिमुपसङ्क्रान्तानि, तेन च ताटकावधे प्रसादीकृतान्यार्यस्य ।

रामः—वन्दस्व देवि ! दिव्यास्त्राणि ।

लक्ष्मणः—इदं तत् आलेख्यं = चित्रम् ।

सीता—(अवलोक्य) के एते ऊर्ध्वदेशे निरन्तरस्थिता = अविरलमनुप्रविष्टा, आर्यपुत्रस्य उपस्तुवन्ति = स्तोत्रं कुर्वन्ति इव ।

लक्ष्मणः—देवि ! एतानि तानि सरहस्यानि = प्रयोगप्रतिसंहारौपयिकमन्त्रादयो रहस्यानि, तत्सहितानीत्यर्थः जृम्भकास्त्राणि यानि महात्मनः कृशाश्वात् विश्वामित्रस्य ऋषे सविधे उपसङ्क्रान्तानि = समागतानि, तेन च ताटकावधावसरे श्रीरामाय प्रसादीकृतानि = प्रसादरूपेण अर्पितानि ।

रामः—देवि ! जृम्भकास्त्राणीमानि वन्दस्व ।

उपसङ्क्रान्तानि—उप—सम् + √क्रम् + क्त । प्रसादीकृतानि—अप्रसादानि प्रसादानि कृतानि प्रसादीकृतानि; प्रसाद + च्वि = √कृ + क्त ।

लक्ष्मण—यही वह चित्र है ।

सीता—(**देखकर**) ऊपर अत्यन्त समीप खड़े हुए ये कौन आपकी स्तुति-सी कर रहे हैं।

लक्ष्मण—ये वे प्रयोग और प्रतिसंहार के मंत्रों सहित जृम्भकास्त्र हैं, जो महात्मा कृशाश्व से विश्वामित्र मुनि के पास आये जिन्हें उन्होंने ताटका-वध के अवसर पर आर्य को प्रसादरूप में दिया।

राम—देवि ! दिव्यास्त्रों की वन्दना करो ।

जृम्भकास्त्र—जीवानन्द के अनुसार 'जृम्भकास्त्राणि—जृम्भयन्ति, सचेतनानां सम्मोहकत्वात् स्वलक्ष्मीभूतान् चित्रार्पितानिव निश्चलान् कुर्वन्ति इति जृम्भकाणि, तन्नामधेयानि साधिदेवतानि ज्योतिर्मयाणि दिव्यास्त्राणि । अस्यन्ते क्षिप्यन्ते इति अस्त्राणि ।'

वाल्मीकि रामायण में जृम्भकास्त्र की चर्चा इस प्रकार है—

'कामरूपं कामरुचिं मोहावरणं तथा ।
जृम्भकं सर्पनाथञ्च पन्थनावरुणौ तथा ॥
कृशाश्वतनयान् राम ! भास्वरान् कामरूपिणः ।
प्रतीच्छ मम भद्रं ते, पात्रभूतोऽसि राघव ॥
बाढमित्येव काकुत्स्थ प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
दिव्यभास्वरदेहाश्च मूर्तिमन्तः सुखप्रदाः ॥
केचिदङ्गारसदृशाः केचिद् धूमोपमास्तथा ।
चन्द्रार्कसदृशाः केचित् प्रह्वाञ्जलिपुटास्तथा ॥
रामं प्राञ्जलयो भूत्वा ब्रुवन्मधुरभाषिणः ।
इमेस्म नरशार्दूल ! शाधि किं करवाम ते ॥'

ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा परःसहस्राः शरदस्तपांसि ।
एतान्यपश्यन्गुरवः पुराणाः स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥ १५ ॥

सीता—णमो एदाणं । [नम एतेभ्यः ।]

रामः—सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति ।

सीता—अणुग्गहीदम्हि । [अनुगृहीतास्मि ।]

अन्वयः—ब्रह्मादयः पुराणाः गुरवः ब्रह्महिताय परःसहस्राः शरदः तपांसि तप्त्वा एतानि स्वानि तपोमयानि तेजांसि एव अपश्यन् ।

ब्रह्मादय इति । ब्रह्मादयः = चतुर्मुखप्रभृतयः, पुराणाः = पुरातनाः, गुरवः = तव उपदेष्टारः, ब्रह्महिताय = वेदस्य धारणाय, परःसहस्राः = सहस्रात् अधिकाः, शरदः = वर्षाणि, तपांसि तप्त्वा = तपांसि चरित्वा, एतानि = अस्त्ररूपाणि, स्वानि = स्वकीयानि, तपोमयानि = तपःस्वरूपाणि, तेजांसि = तेजोभूतानि, एव अपश्यन् = अदर्शन् ।

अत्र शस्त्रदर्शनेन महापुरुषाणामपि कीर्तनात् उदात्तालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च—'लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते । यद् वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥' अद्भुतानां शस्त्राणां वर्णनेन भाविकालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च—'अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः । यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥' स्वान्येव तेजांसीति रूपकालङ्कारः । तल्लक्षणञ्च—'रूपकं रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे ।' एतेषां साङ्कर्यम् । प्रथमे, तृतीये, चतुर्थे च चरणे 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति लक्षणलक्षिता इन्द्रवज्रा, द्वितीये च 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' इति लक्षणलक्षिता उपेन्द्रवज्रा तथा च उभयोः समावेशात् 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति लक्षणलक्षिता उपजातिः ।

सीता—एतेभ्यः = जृम्भकास्त्रेभ्यः नमः ।

रामः—एतानि शस्त्राणि सर्वात्मनाऽधुना त्वत्प्रसूतिं = तव सन्तानसेवाम्, उपस्थास्यन्ति = करिष्यन्ति, प्राप्स्यन्ति ।

सीता—अनुगृहीतास्मि ।

ब्रह्मा आदि पुरातन आचार्यों ने वेद (अथवा ब्राह्मणों) की रक्षा के लिए हजारों वर्षों से भी अधिक तपस्या करके अपने ही तपोमय तेजपुञ्ज इनको देखा ॥ १५ ॥

सीता—इन्हें नमस्कार है ।

राम—सभी प्रकार से अब ये तुम्हारी सन्तति को प्राप्त होंगे ।

सीता—अनुगृहीत हूँ ।

शस्त्रदर्शन से महापुरुषों का भी कीर्तन होने से उदात्त अलङ्कार, अद्भुत शस्त्रों का वर्णन होने से भाविकालङ्कार तथा 'स्वान्येव तेजांसि' इस अंश में रूपकालङ्कार है । इन समस्त अलङ्कारों की संसृष्टि है ।

लक्ष्मणः—एष मिथिलावृत्तान्तः ।

सीता—अह्महे ! दलंतणवणीलुप्पलसामलासेणिद्धमसिणसोहमाणमंसलेन देहसोहग्गेण विम्हअत्थिमिदतादद्दीसन्तसोम्मसुन्दरसिरी अणादरखंडिदसंकरसरासणो सिहंडमुद्धमुहमंडलो अज्जउत्तो आलिहिदो । [अहो ! दलन्नवनीलोत्पलश्यामलस्निग्धमसृणशोभमानमांसलेन देहसौभाग्येन विस्मयस्तिमिततातदृश्यमानसौम्यसुन्दरश्रीरनादरखण्डितशङ्करशरासनः शिखण्डमुग्धमुखमण्डल आर्यपुत्र आलिखितः ।]

लक्ष्मणः—आर्ये, पश्य पश्य—

सम्बन्धिनो वसिष्ठादीनेष तातस्तवार्चति ।
गौतमश्च शतानन्दो जनकानां पुरोहितः ॥ १६ ॥

लक्ष्मणः—एषः = अयं, मिथिलावृत्तान्तः = मिथिलानगरोदन्तः ।

सीता—अहो ! दलत् = प्रस्फुटत्, यत् नवनीलोत्पलम् = नूतनं नीलकमलम् तदिव श्यामलं श्यामवर्णम्, स्निग्धं = चिक्कणम्, मसृणं = मृदु, अत एव शोभमानं = रमणीयम्, मांसलम् = बलवत्, तेन देहसौभाग्येन = शरीरस्य सौन्दर्येण, विस्मयेन = आश्चर्येण, स्तिमितः = निश्चलः, यो मम तातः = पिता जनकः, तेन दृश्यमाना = अवलोक्यमाना, सौम्या = आह्लादकरी, सुन्दरश्रीः = मनोहरा कान्तिः यस्य सः, अनादरेण = अनायासेन, त्रुटितं = भग्नं, शङ्करशरासनं = शङ्करस्य धनुः येन सः, शिखण्डेन = काकपक्षेण, मुग्धं = सुन्दरं, मुखमण्डलं = वदनमण्डलं यस्य सः, एतादृशः आर्यपुत्रः = रामः, आलिखितः = चित्रितः । उदात्तालङ्कारः ।

लक्ष्मणः—आर्ये, पश्य = निरीक्ष्यताम्—

अन्वयः—एषः तव तातः सम्बन्धिनः अर्चति (तथा)। जनकानां पुरोहितः गौतमः शतानन्दः वसिष्ठादीन् अर्चति ।

स्निग्ध—√स्निह् + क्त । मांसलं = मांसम् अस्त्यस्मिन्निति, मांस + लच् । सौभाग्यं—सुभगस्य भावः सौभाग्यं, सुभग + ष्यञ् । शरासनम्—शराः अस्यन्ते

लक्ष्मण—यह मिथिला का वृत्तान्त है ।

सीता—अहो ! प्रस्फुटित नूतन नीलकमल के समान श्यामल, चिकने, मृदु, शोभायुक्त शरीर-सौन्दर्य के कारण आश्चर्य से निश्चल तात द्वारा देखी जाती हुई आह्लादजनक एवं सुन्दर शोभा वाले, अवज्ञापूर्वक शङ्करचाप को तोड़ चुकने वाले और काकपक्ष से मोहक मुखमण्डल वाले आर्यपुत्र चित्रित हैं ।

लक्ष्मण—आर्ये ! देखें, देखें ।

कुछ विद्वानों ने प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या इस प्रकार से की है—ये आपके पिताजी (जनक) और जनकवंश के पुरोहित गौतम पुत्र शतानन्द जी वरसम्बन्ध से युक्त वसिष्ठ आदि की पूजा कर रहे हैं ।

रामः—सुश्लिष्टमेतत्—

जनकानां रघूणां च सम्बन्धः कस्य न प्रियः ।
यत्र दाता ग्रहीता च स्वयं कुशिकनन्दनः ॥ १७ ॥

सम्बन्धिन इति । एषः = अयं, तव तातः = पिता जनकः, सम्बन्धिनः = दशरथादीन् सम्बन्धिनः, अर्चति = पूजयति । जनकानां = जनकापत्यभूतानाम्, जनकवंशस्य, पुरोहितः = पुरोधाः शतानन्दनामा मुनिः, वसिष्ठादीन् अर्चति = पूजयति ।

अत्र प्राकरणिकयोः शतानन्दजनकयोः कर्तृत्वेन एकस्यामर्चनक्रियायामन्वयात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः । तल्लक्षणं यथा—'पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता । अनुष्टुप् छन्दः ।

रामः—सुश्लिष्टम् = सुसम्बद्धं, हेमारविन्दपरिमलन्यायादिति भावः ।

अन्वयः—जनकानां रघूणां च सम्बन्धः कस्य न प्रियः ? यत्र स्वयं कुशिकनन्दनः दाता ग्रहीता च ।

जनकानामिति । जनकानां = जनकवंशोद्भवानां, रघूणां च = रघुवंशोद्भवानां च, सम्बन्धः = अपत्यसम्बन्धः, कस्य न प्रियः ? सर्वस्यापि प्रिय इत्यर्थः । यत्र = सम्बन्धे, कुशिकनन्दनः = विश्वामित्रः, स्वयं दाता स्वयं प्रतिग्रहीता च । दशरथं प्रतिदाता जनकं प्रति प्रतिग्रहीता च । अयं भावः = तव मम च परिणयरूपोऽयं सम्बन्धो जनकदशरथयोरावयोर्जनानां च मध्ये कस्यचिदपि नाप्रियः । तथाहि—'जनकानां रघूणामि'त्यनेन रघुवंश्याञ्जनकवंश्यान्प्रति नाप्रियत्वमिति लभ्यते । अत्र निमीनामित्यनुक्त्वा जनकानामिति पदोपादानेन 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इति जनके प्रसिद्धं कर्मभोगशीलत्वमिह स्फोर्यते । एवं काकुत्स्थानामित्यनुक्त्वा रघूणामित्युक्त्या 'श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः' इत्यादि कालिदास-

---

क्षिप्यन्ते अनेन, शर + √अस् + ल्युट् । गौतमः—गोतमस्यापत्यं पुमान्, गोतम + अण् । पुरोहितः—पुरो धीयते इति पुरोहितः, पुरस्—√धा + क्तः । ग्रहीता—ग्रह् + तृच् ।

ये तुम्हारे पिता (दशरथ आदि) सम्बन्धियों की अर्चना कर रहे हैं, जनकवंश के पुरोहित गौतमगोत्रीय शतानन्द वसिष्ठ आदि की अर्चना कर रहे हैं ॥ १६ ॥

राम—यह सर्वथा सुसम्बद्ध है ।

जनक तथा रघुवंश के राजाओं का (यह वैवाहिक) सम्बन्ध किसे प्रिय नहीं है ? जिसमें स्वयं विश्वामित्र (कन्या का) दान तथा ग्रहण करने वाले हैं ॥ १७ ॥

प्रस्तुत १७वें श्लोक में श्रीरामचन्द्रजी ने विश्वामित्र के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है । वही इस वैवाहिक सम्बन्ध के एक मात्र हेतु हैं । वे ही कन्यादान करने वाले हैं तथा कन्या को पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करने वाले हैं :

'कुशिकनन्दन' कहने से यह भी ध्वनि निकलती है कि इन्होंने क्षत्रिय की भाँति ही हमारे प्रति सजातीय व्यवहार किया है ।

सीता--एदे क्खु तक्कालकिदगोदाणमंगला चत्तारो भादरो विआह
क्खिदा तुम्हे। अम्हा, जाणामि तस्सिं जेव्व पदेसे तस्सिं जेव्व काले वत्ता
[एते खलु तत्कालकृतगोदानमङ्गलाश्चत्वारो भ्रातरो विवाहदीक्षिता यूयम्। अ
जानामि तस्मिन्नेव प्रदेशे तस्मिन्नेव काले वर्ते।]

रामः—एवम्,

निरुक्त्या 'लङ्घिवंह्योर्नलोपश्च' इत्यनुशासनेन च लब्धया लङ्घते जानाति सर्व
व्युत्पत्त्या 'मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्' इत्यैक्ष्वाकवं रघुकुलासाधारणज्ञानयोगशीलत्वं सूच
तथा चान्यादृशजनकविषये जातोऽपत्यसम्बन्धः सम्बन्धिनामित्यभिमतो भवति।
क्षीरशर्करावदन्योन्यसम्पर्करमणीयज्ञानकर्मशीलजनकविषयत्वे तु तस्य हेमारवि
परिमलन्यायेनातिश्लाघ्यत्वमिति तान्प्रत्यप्रियत्वव्यावृत्तिः। अतएव चावां प्रत्य
नाप्रियत्वम्।

ब्रह्मर्षिविश्वामित्र इत्याद्यनुक्त्वा कुशिकनन्दन इति पदोपादानं विश्वामि
स्वब्रह्मर्षित्वमविगणय्य भूतपूर्वगत्या क्षत्रियत्वं स्वीकृत्य बन्धुभावेनास्मत्सम्बन्धिभा
नास्ति असतिसम्बन्धे ब्रह्मर्षिकृत्यानीति व्यञ्जयति।

अत्र 'कस्य न प्रिय' इत्यत्र 'अपि तु सर्वस्यैवे'त्यर्थस्याऽऽपतनादर्थापत्तिरलङ्कारः
विवाहसम्बन्धे महर्षिविश्वामित्रस्य चरितवर्णनेन उदात्तालङ्कारः। सम्बन्धस्य प्रिय
साधयितुमुत्तरार्धस्य हेतुत्वमिति काव्यलिङ्गमलङ्कारः। अनुष्टुप् छन्दः।

सीता—तत्काले = तस्मिन् काले, कृतं = विहितं, गोदानं = केशान्ताख्यं, मङ्ग
= मङ्गलकर्म येषां ते, विवाहदीक्षिता = विवाहसंस्कारार्थं गृहीतदीक्षाव्रताः, नि
लिखिताः यूयं चत्वारो भ्रातरः। अहो ! स्मरामि, तस्मिन्नेव प्रदेशे = मिथिलाया
तस्मिन्नेव काले = विवाहसमये, वर्ते = विद्यमानास्मि।

सीता—ये तत्काल 'गोदानसंस्कार' कराये हुए, विवाहसंस्कारार्थ दीक्षित आप चारों भ्रा
हैं। अहो ! मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे कि मैं उसी स्थान और उसी समय में ही हू।

राम—हाँ,

गोदानमङ्गल—'गावः केशाः दीयन्ते खण्ड्यन्ते अस्मिन् इति गोदानम्'। गावः—केश
दान—'दो अवखण्डने' धातु से बना है, काटना। गोदान—मंगल क्षौर।

मनुस्मृति के अनुसार यह संस्कार ब्राह्मण का १६वें वर्ष में, क्षत्रिय का २२वें वर्ष में त
वैश्य का २४वें वर्ष में किया जाना चाहिए—

'केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥' (मनु० २।६५)

याज्ञवल्क्य का भी यही मत है—'केशान्तश्चैव षोडशे' (१।३६)।

याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका में कहा गया है—

'केशान्तः पुनः गोदानाख्यं कर्म गर्भादारभ्य षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य कार्यम्'।

यह संस्कार विवाहपूर्व किया जाता था।

'अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः।' (रघु० ३।३३)

रामः—एवम्,

> समयः स वर्तत इवैष यत्र मां
> समनन्दयत् सुमुखि ! गौतमार्पितः ।
> अयमागृहीतकमनीयकङ्कण-
> स्तव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः ॥ १८ ॥

लक्ष्मणः—इयमार्या । इयमप्यार्या माण्डवी । इयमपि वधूः श्रुतकीर्तिः ।

सीता—वच्छ, इअं वि अवरा का ? [वत्स ! इयमप्यपरा का ?]

अन्वयः—हे सुमुखि ! एषः सः समयः वर्तते इव, यत्र गौतमार्पितः आगृहीतकमनीयकङ्कणः अयं तवः करः मूर्तिमान् महोत्सवः इव माम् समनन्दयत् ॥ १८ ॥

समयेति । सुमुखि = सुवदने, एषः = अयम्, सः = अतीतोऽपि, समयः = कालः, वर्तते इव = विद्यते इव, यत्र = यस्मिन् समये, गौतमार्पितः = पुरोधसा शतानन्देन दत्तः, आगृहीतकमनीयकङ्कणः = समन्ताद् गृहीतकमनीयवलयः, अयं तव करः = अयं तव हस्तः, मूर्तिमान् महोत्सवः = शरीरी महोत्सवः इव, माम् = रामं, समनन्दयत् = आनन्दितमकरोत् ॥ १८ ॥

अत्र 'सुमुखि आगृहीतकमनीयकङ्कणः' इत्युक्त्या सिद्धसाध्यसमभिव्याहारन्यायेनागृहीतकमनीयकङ्कणत्वं प्रति सीताया वदनकमलसौन्दर्यातिशयो हेतुरित्यवगम्यते ।

अत्र 'वर्तत इवे'त्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, 'मूर्तिमान् महोत्सव इवे'त्यत्र गुणोत्प्रेक्षा, भूतस्य वृत्तान्तस्य प्रत्यक्षीकरणाद् भाविकोऽलङ्कारश्च । तल्लक्षणं यथा—'अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः । यत् प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्' ॥ मञ्जुभाषिणीवृत्तम् । तल्लक्षणं च यथा—'सहसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी' ।

लक्ष्मणः—इयम् अङ्गुलिनिर्दिष्टा भवती । इयमार्या माण्डवीति भरतभार्यात्वात् । इयमपि वधूरिति शत्रुघ्नभार्यात्वात् स्नुषात्वेन ग्रहणम् ।

सीता—इयम् अन्य का ?

समनन्दयत्—सम् + √नन्द्–णिच्–लङ्, प्रथमपुरुष एकवचन । सुमुखि—शोभनं मुखं यस्याः सा सुमुखी, तत्सम्बुद्धौ हे सुमुखि ! आगृहीतकमनीयकङ्कणः—आ + ग्रह् + क्त = आगृहीत, आगृहीतं कमनीयं कङ्कणं येन सः आगृहीतकमनीयकङ्कणः ।

हे सुवदने ! यह वही समय मानों समुपस्थित है, जबकि शतानन्द द्वारा समर्पित, कमनीय-कङ्कण से अलङ्कृत तुम्हारे इस हाथ ने शरीरधारी महोत्सव के समान मुझे आनन्दित किया था ॥ १८ ॥

लक्ष्मण—यह आर्या (आप) हैं । यह आर्या माण्डवी हैं । यह वधू श्रुतकीर्ति है ।

सीता—वत्स ! और यह दूसरी कौन है ?

वत्स ! इयमपरा का ?—इस उक्ति से सीताजी ने बहुत मीठी चुटकी ली है । संस्कृत साहित्य में उर्मिला के सम्बन्ध में जो थोड़ा-बहुत लिखा गया है, उसमें इस पंक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

लक्ष्मणः—(सलज्जस्मितम्, आत्मगतम्) अये ! उर्मिलां पृच्छत्यार्या। भवतु, अन्यतः सञ्चारयामि । (प्रकाशम्) आर्ये ! दृश्यतां द्रष्टव्यमेतत्। अयं च भगवान्भार्गवः ।

सीता (ससम्भ्रमम्)—कम्पिदम्हि । [कम्पितास्मि ।]

रामः—ऋषे ! नमस्ते ।

लक्ष्मणः—आर्ये ! पश्य, पश्य । अयमसावार्येण····(इत्यर्धोक्ते) ।

रामः—(साक्षेपम्) अयि वत्स ! बहुतरं द्रष्टव्यम्, अन्यतो दर्शय ।

लक्ष्मणः—(सलज्जस्मितम्, आत्मगतम्) अये ! सीता देवी मम पत्नीम् उर्मिलां पृच्छति । अस्तु, अन्यं वृत्तान्तं दर्शयिष्यामि । (प्रकाशम्) अवलोक्यताम् । दर्शनीयम् एतत् दृश्यम् । अयं भगवान् परशुरामः ।

सीता—(ससम्भ्रमम्) वेपथुमती भवामि अहम् ।

रामः—ऋषे ! तुभ्यं नमः ।

लक्ष्मणः—आर्ये ! पश्य पश्य । अयमसावार्येण (अत्र वैष्णवं धनुरारोप्य समाकृष्टतेजस्क इति वक्तुमुद्युक्तवान् लक्ष्मणः । तावदात्मप्रशंसामसहमानो रामः प्रतिषिद्धवान् ।)

रामः—(साक्षेपम्) अन्यतो दर्शय = अन्यत्र किंचित् दर्शय इति भावः ।

घनश्याम के अनुसार—कमनीयश्चासौ कङ्कणः कमनीयकङ्कणः, आदराद् गृहीतश्चासौ कङ्कणश्च आगृहीतकमनीयकङ्कणः ।

लक्ष्मण—(लज्जामिश्रित मुस्कान के साथ, आत्मगत) अरे ! आर्या उर्मिला को पूछ रही हैं । अच्छा, (इनका ध्यान) दूसरी ओर आकृष्ट करता हूँ । **(प्रकाश)** आर्ये ! देखिए, यह द्रष्टव्य है । ये भगवान् परशुराम हैं ।

सीता—(सम्भ्रमपूर्वक) मैं काँप गई हूँ ।

राम—ऋषे ! आपको नमस्कार है ।

लक्ष्मण—आर्ये ! देखिए, इन्हीं आर्य ने····**(यह आधा कहने पर बीच में ही)**

राम—(प्रतिषेधपूर्वक) अरे भाई ! बहुत कुछ देखना है, अन्यत्र दिखाओ ।

प्रकाशम्—वह बात जिसे सब सुन सकते हैं—'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्' ।

स्वगत—जो दूसरों के लिए गोप्य तथा अपने मन में ही स्थित रखने योग्य हो, उसे 'स्वगत' कहते हैं । वैसे 'स्वगत' रूप में कही जाने वाली बात गोपनीय तो होती है, किन्तु उसकी गोपनीयता केवल अभिनय करने वाले पात्रों की ही दृष्टि से होती है, सामाजिक की दृष्टि से उसकी गोपनीयता बिल्कुल नहीं होती है ।

रामः—(साक्षेपम्) अयि वत्स बहुतरं द्रष्टव्यम्, अन्यतो दर्शय—राम की इस उक्ति से उनका धीरोदात्त होना सूचित होता है । धीरोदात्त नायक के लक्षण—

'अविकत्थनः क्षमावान् अतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान् निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥'

सीता—(सस्नेहबहुमानं निर्वर्ण्य) सुट्ठु सोहसि अज्जउत्त, एदिणा विणअमाहम्मेण । [सुष्ठु शोभसे आर्यपुत्र, एतेन विनयमाहात्म्येन ।]

लक्ष्मणः—एते वयमयोध्यां प्राप्ताः ।

रामः—(सास्रम्) स्मरामि हन्त ! स्मरामि ।

जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे ।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ॥ १९ ॥

रामः—इयमपि तदा जानकी—

सीता—(प्रेमसहितं दृष्ट्वा) स्वोत्कर्षतानाविष्करणरूपस्य स्वस्मिन्निकर्षानुसन्धानरूपस्य वा माहात्म्येन आर्यपुत्र ! आर्यपुत्र शोभसे ।

लक्ष्मणः—एते वयमयोध्यां प्राप्ताः । तथालिखिता इत्यर्थः ।

रामः—(सास्रम् = अश्रून्मोचनपूर्वकम्) स्मरामि हन्त ! स्मरामि ।

अन्वयः—तातपादेषु जीवत्सु, दारपरिग्रहे नवे, मातृभिः चिन्त्यमानानां नः ते हि दिवसाः गताः ॥ १९ ॥

जीवत्स्विति । तातपादेषु = पितृचरणेषु, जीवत्सु = प्राणधारणं कुर्वत्सु, दारपरिग्रहे = विवाहे, नवे = नूतने सति, मातृभिः = जननीभिः, चिन्त्यमानानां = लाल्यमानानां, नः = अस्माकं, ते = पूर्वानुभूताः, दिवसाः गताः = दिवसाः व्यतीताः ॥ १९ ॥

'स्मरामि हन्त स्मरामि' इत्यत्र पितृमरणजन्यशोकाद्विषादोऽतो न पुनरुक्तिः । तथा चोक्तं तत्रैव—'कथितञ्च पदं पुनः । विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि । दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये, हर्षेऽवधारणे ॥' अत्र दिवसानां सुखप्रदत्वे, तातपादजीवनरूपे एकस्मिन् कारणे सत्यपि, नवदारपरिग्रहादिरूपाणां हेत्वन्तराणां खले कपोतवत् साहित्येनैकत्रावतरणात् समुच्चयालङ्कारः । तल्लक्षणम्—'समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके । खले कपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात् परोऽपि च ॥' अत्र दिवसपदस्य लक्षणया मुख्यार्थस्य परित्यागेन स्वविशेषरूपार्थान्तिरसङ्क्रमणात् अर्थान्तिरसङ्क्रमितत्वं ज्ञेयम् । अनुष्टुप् छन्दः ।

रामः—इयमपि जानकी तदा = तस्मिन् समये—

जीवत्सु—√जीव् + शतृ, सप्तमी बहुवचन 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी । चिन्त्यमानानाम्—√चिन्त् + शानच् षष्ठी बहुवचन, नः का विशेषण ।

सीता—(प्रेम तथा आदरपूर्वक) आर्यपुत्र ! इस विनयप्रकर्ष से आप अतीव सुशोभित हो रहे हैं ।

लक्ष्मण—अब हम अयोध्या पहुँच गये हैं ।

राम—(अश्रु सहित) स्मरण है, हाय ! स्मरण है ।

पितृचरण के जीवित रहते, विवाह के नवीन होते हुए, माताओं द्वारा अनुचिन्त्यमान हम लोगों के वे दिन बीत गये ॥ १९ ॥

प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलै-
र्दशनमुकुलैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम् ।
ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमै-
रकृत मधुरैरम्बानां मे कुतूहलमङ्गकैः ॥ २० ॥

लक्ष्मणः—एषा मन्थरा ।

अन्वयः—प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैः दशनमुकुलैः मुग्धालोकं मुखं दधती शिशुः इयं जानकी अपि ललितललितैः ज्योत्स्नाप्रायैः अकृत्रिमविभ्रमैः मधुरैः अङ्गकैः मे अम्बानां कुतूहलम् अकृत ॥ २० ॥

प्रतनुविरलैरिति । प्रतनुविरलैः=सूक्ष्माऽनिबिडैः, प्रान्तोन्मीलन्तः=कपोलप्रान्ते विकसन्तः, तादृशैः मनोहरकुन्तलैः=सुन्दरकेशैः, दशनमुकुलैः=दन्तकुड्मलैः, मुग्धालोकं=सुन्दरदर्शनं, मुखं दधती=मुखं धारयन्ती, शिशुः इयं जानकी अपि=इयं बालिका सीता अपि, ललितललितैः=सुन्दरादपि सुन्दरैः, ज्योत्स्नाप्रायैः=चन्द्रिका-सदृशैः, अकृत्रिमविभ्रमैः=स्वाभाविकविलासैः, मधुरैः=प्रियैः, अङ्गकैः=अनुकम्पितैः अङ्गैः, मे=मम, अम्बानां=मातॄणां, कुतूहलम्=कौतुकम्, अकृत=अकरोत् ॥२०॥

अत्र मुग्धानायिकायाः यथावत् असाधारणचेष्टादीनामुपवर्णनात् स्वभावोक्त्य-लङ्कारः, अपि च कुतूहलरूपकार्यस्य बहूनां कारणानां खले कपोतवदेकत्र समावेशात् समुच्चयालङ्कारः, 'ज्योत्स्नाप्रायैः' इत्यत्र लुप्तोपमा, इत्येतेषामङ्गाङ्गिभावतयाऽवस्थानात् सङ्करः । वृत्तं हरिणी । तल्लक्षणम्—'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता ।'

लक्ष्मणः—एषः मन्थरावृत्तान्तः ।

प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैः—प्रान्तयोः उन्मीलन्तः मनोहराः कुन्तलाः येषां तैः । दशनमुकुलैः—दशनाः मुकुलानीव तैः । मुग्धालोकम्—मुग्धः आलोकः यस्य तत् । अकृत्रिमविभ्रमैः—अकृत्रिमाः विलासाः येषां तैः । उन्मीलत्—उद् + √मील् + शतृ । मुग्धः—√मुह् + क्त । दधती—√धा + शतृ + ङीप् ।

उस समय अत्यन्त सूक्ष्म तथा विरल, प्रान्तभागों (कपोलों) पर लहराते हुए मनोहर केशों से, कलियों के समान सुन्दर दाँतों से, सुन्दर आभा वाले मुख को धारण करती हुई, शैशव अवस्था में वर्तमान यह सीता भी अत्यन्त सुन्दर, चाँदनी के सदृश, स्वाभाविक विलासों वाले, रुचिर, छोटे-छोटे अङ्गों से मेरी माताओं के दर्शनौत्सुक्य को उत्पन्न करती थी ॥ २० ॥

लक्ष्मण—यह मन्थरा का वृत्तान्त है ।

'प्रतनुविरलैः' का 'पतनविरलैः', **'कुन्तलैः'** का 'कुड्मलैः', **'दशनमुकुलैः'** का 'दशनकुसुमैः' तथा **'अम्बानां'** का 'अङ्गानां' पाठभेद भी प्राप्त है । इस पाठभेद को दृष्टि में रखकर ऐसा अनुवाद होगा—उस समय (दूध के दाँतों के) गिरने के कारण विरल, प्रान्तभागों पर उगते हुए सुन्दर कुड्मल (दशनाङ्कुर) वाले दन्त रूपी कुसुमों (के कारण) सुन्दर आभा वाले मुख को धारण करने वाली, शैशव अवस्था में वर्तमान इस जानकी ने भी सुन्दर से भी सुन्दर, चाँदनी सदृश अथवा लावण्ययुक्त, स्वाभाविक विलासों वाले प्रिय (अपने) छोटे-छोटे अङ्गों से मेरे अङ्गों का कुतूहल किया ।

रामः—(सत्वरमन्यतो दर्शयन्) देवि वैदेहि !

इङ्गुदीपादपः सोऽयं शृङ्गवेरपुरे पुरा ।
निषादपतिना यत्र स्निग्धेनासीत् समागमः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणः—(विहस्य, स्वगतम्) अये मध्यमाम्बावृत्तमन्तरितमार्येण ।

सीता—अह्मो एसो जडासंजमणवुत्तन्तो । [अहो ! एष जटासंयमनवृत्तान्तः ।]

लक्ष्मणः—पुत्रसङ्क्रान्तलक्ष्मीकैर्यद्वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम् ।
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम् ॥ २२ ॥

रामः—(शीघ्रं मन्थरावृत्तान्तसूचकस्थलात् अन्यत्र दर्शयन्) देवि विदेह-राजकुमारि !

अन्वयः—शृङ्गवेरपुरे अयं सः इङ्गुदीपादपः यत्र पुरा स्निग्धेन निषादपतिना समागमः आसीत् ॥ २१ ॥

इङ्गुदीति । शृङ्गवेरपुरे अयं सः = पूर्वदृष्टः, इङ्गुदीपादपः = तापसतरुः, यत्र = वनगमनकाले, स्निग्धेन = स्नेहयुक्तेन परमभक्तेन, निषादपतिना = निषादराजेन गुहेन, अस्माकं समागमः = सम्बन्धः अभवत् । अनुष्टुप् छन्दः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणः—(विहस्य = सस्मितम्, स्वगतम् = आत्मगतम् ।) आर्येण=श्रीरामेण, मध्यमाम्बावृत्तमन्तरितम् = कैकेय्याः चरितं निह्नुतम् ।

सीता—अये = अहो ! एष जटासंयमनवृत्तान्तः = जटाबन्धनवृत्तान्तः ।

अन्वयः—पुत्रसङ्क्रान्तलक्ष्मीकैः वृद्धेक्ष्वाकुभिः यद् धृतम्, तत् पुण्यम् आरण्यक-व्रतम् आर्येण बाल्ये धृतम् ॥ २२ ॥

पादपः = पादैः पिबति पादपः; √पा + कः । स्निग्धः = √स्निह् + क्तः । समागमः—सम्—आ + √गम् + घञ् । अन्तरितम्—'अन्तरयति' इति नामधातोः

राम—(शीघ्रतापूर्वक दूसरी ओर दिखलाते हुए) देवि जानकि ! शृङ्गवेरपुर में यह वही तापसतरु है, जहाँ पहले परम स्नेही निषादराज गुह के साथ हमारा परिचय हुआ था ॥२१॥

लक्ष्मण—(मुस्कराकर, अपने मन में) अरे ! श्रीराम ने मँझली माता कैकेयी के वृत्तान्त को छोड़ दिया ।

सीता—अहो ! यह जटाबन्धन वृत्तान्त है ।

लक्ष्मण—पुत्रों में संक्रान्त लक्ष्मी वाले, इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न वृद्ध नृपों द्वारा जो धारण किया गया था, वह पुण्यजनक वानप्रस्थव्रत श्रीराम द्वारा बाल्यावस्था में ही धारण किया गया ॥ २२ ॥

इङ्गुदीवृक्ष के सम्बन्ध में रामायण में भी उल्लेख है—

'अविदूरादयं नद्याः, बहुपुष्पप्रवालवान् ।
सुमहानिङ्गुदीवृक्षो, वसामोऽत्रैव सारथे ॥'

स्निग्धेन निषादपतिना—निषादराज गुह राम का परम मित्र था ।

पुत्रसङ्क्रान्तलक्ष्मीकैः—वृद्धावस्था में इक्ष्वाकुवंशीय नृप पुत्रों पर राज्य-भार छोड़कर वनों का सेवन करते थे ।

सीता---एसा पसण्णपुण्णसलिला भवअदी भाईरही। [एसा प्रसन्नपुण्यसलिला भगवती भागीरथी।]

रामः---देवि रघुकुलदेवते ! नमस्ते।

तुरगविचयव्यग्रानुर्वीभिदः सगराध्वरे
कपिलमहसामर्षात् प्लुष्टान् पुरा प्रपितामहान्।

पुत्रमिति। पुत्रसङ्क्रान्तलक्ष्मीकैः = पुत्रन्यस्तराजलक्ष्मीकैः, वृद्धेक्ष्वाकुभिः = वृद्धैः इक्ष्वाकुवंशोत्पन्नैः नृपैः, यद् धृतम् = यत् आरण्यकव्रतं स्वीकृतं, तत् पुण्यम् = तत् पुण्यजनकम्, आरण्यकव्रतम् = वानप्रस्थव्रतम्, आर्येण = श्रीरामेण, बाल्ये = बाल्यावस्थायामेव, धृतम् = स्वीकृतम्॥ २२॥

'अत्र वृद्धेक्ष्वाकूणामारण्यकव्रतधारणमार्यस्याऽसम्भवत् अपि तत्सदृशव्रतधारणमवगमयत् वृद्धेक्ष्वाकूणां बालस्यार्यस्य च बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति, अन्यकृतान्यधर्मवहनासम्भवात्, अत एवात्र असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शना, अपि च वृद्धत्वस्य कारणस्यासद्भावे अपि अहेतुकारण्यकव्रतरूपकार्यस्य उदयात् विभावनाऽलङ्कारः, ताभ्याञ्च, बालस्य राघवस्य वृद्धेक्ष्वाकुभ्यः आधिक्यप्रतीतेः व्यतिरेकालङ्कारः व्यज्यते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिरिति ध्येयम्' (जीवानन्दः)। पथ्यावक्त्रच्छन्दः। तल्लक्षणं यथा---'युजोर्जेन सरिद्भर्तुः पथ्यावक्त्रं प्रकीर्तितम्'।

सीता---एषा प्रसन्नपुण्यसलिला = स्वच्छपरिशुद्धजला, भगवती = महिमवती, भागीरथी = गङ्गा।

रामः---देवि रघुकुलदेवते ! नमस्ते = तुभ्यं नमस्कारः।

अन्वयः---पुरा सगराध्वरे तुरगविचयव्यग्रान्, उर्वीभिदः, अमर्षात् कपिलमहसा

कर्मणि क्तः। संक्रान्तः---सम्--√क्रम् + क्तः। बाल्य---बालस्य भावः, बाल + ष्यञ्। आरण्यकम्---अरण्ये भवाः आरण्यकाः, अरण्य + वुञ् (अरण्यान्मनुष्ये), आरण्यकानामिदं आरण्यकम्, अण्। पुत्रसङ्क्रान्तलक्ष्मीकैः---पुत्रेषु सङ्क्रान्ता लक्ष्मीः येषां तथाभूतैः।

तुरगविचयव्यग्रान्---तुरेण गच्छतीति तुरगः, तस्य विचये व्यग्रान्। सगराध्वरे-

---

सीता---यह स्वच्छ तथा परिशुद्ध जल वाली भगवती भागीरथी है।

राम---हे रघुवंश की देवि ! आपको प्रणाम है।

पूर्वकाल में सगर के यज्ञ में (इन्द्रापहृत) अश्वों के अन्वेषण में व्यग्र, (और तन्निमित्त) भूमि को खोद डालने वाले तथा रोष के कारण कपिलमुनि के तेज से दग्ध, पिता के पितामहों का,

---

'गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्'। (कालिदास) किन्तु श्रीराम ने उस आरण्यक व्रत को बाल्यावस्था में ही ग्रहण कर लिया था।

आरण्यकं व्रतम्---वानप्रस्थाश्रम। इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है---

'सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वानुगतो वनम्।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्॥'

अगणिततनूतापं तप्त्वा तपांसि भगीरथो
भगवति ! तव स्पृष्टानद्भिश्चिरादुददीधरत् ॥ २३ ॥

सा त्वमम्ब ! स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भव ।

प्लुष्टान् प्रपितामहान् भगीरथः अगणिततनूतापं तपांसि तप्त्वा, हे भगवति ! तव अद्भिः स्पृष्टान् चिरात् उददीधरत् ॥ २३ ॥

तुरगेति । पुरा = पूर्वकाले, सगराध्वरे = (अस्माकं पूर्वजस्य) सगरस्य यज्ञे, तुरगविचयव्यग्रान् = इन्द्रापहृताश्वस्य अन्वेषणे ससम्भ्रमान्, उर्वीभिदः = भूमिखानिनः, अमर्षात् = रोषात्, कपिलमहसा = कपिलतेजसा, प्लुष्टान् = दग्धान्, प्रपितामहान् = षष्टिसहस्रसङ्ख्यकान् सगरपुत्रान्, भगीरथः, अगणिततनूतापं = उपेक्षितशरीरदुःखं, तपांसि तप्त्वा = तपश्चरित्वा, हे भगवति ! तव = भवत्याः, अद्भिः = जलेन, स्पृष्टान् = आमृष्टान्, चिरात् = बहुकालाऽनन्तरम्, उददीधरत् = उद्धारयामास ॥ २३ ॥

सा त्वम् अम्ब = तादृशी हे मातः ! स्नुषायां = पुत्रवध्वां सीतायाम्, अरुन्धतीव = वसिष्ठपत्नीव, शिवानुध्याना = कल्याणचिन्तनतत्परा भव ।

अत्र उदात्तालङ्कारः । हरिणी वृत्तम् । तदुक्तम्—'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा ।' (एतच्च दशरूपककारादिमते बीजानुगुणप्रोत्साहनारूपं सन्ध्यङ्गं वेदितव्यम् । तदुक्तम्—'बीजानुगुणप्रोत्साहनं भेदः ।' केचित्तु 'भेदः प्रोत्साहना' इति वदन्ति । परन्तु तन्मते बीजार्थस्य प्ररोहरूपत्वात् उद्भेदनामकं सन्ध्यङ्गमवधातव्यम् । तथाहि दर्पणे 'बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः' इति लक्षणात्—जीवानन्दः ।)

सगरस्य अध्वरे, उर्वीभिदः—उर्वीं भिन्दन्तीति । उर्वी + √भिद् + क्विप् । प्रसन्नः—प्र + √सद् + क्त । विचयः—वि + √चि + अच् । प्लुष्टः—√प्लुष् + क्त । उददीधरत्—उद् + √धृ + णिच् + लुङ् ।

शारीरिक कष्टों का विचार किये बिना भगीरथ ने तपस्या करके हे भगवति ! तुम्हारे जल के स्पर्श से चिरकाल के पश्चात् उद्धार किया ॥ २३ ॥

वह तू हे माता ! पुत्रवधू सीता के लिए अरुन्धती के समान मङ्गलकामना में तत्पर हो ।

सगर—वैवस्वत मनु के वंश में सगर नामक राजा हुए । उनकी केशिनी और सुमति दो पत्नियाँ थीं । महर्षि भृगु के वरदान से केशिनी को असमञ्जस और सुमति के साठ हजार पुत्र हुए । असमञ्जस से अंशुमान्, अंशुमान् से दिलीप और दिलीप से भगीरथ उत्पन्न हुए । सगर के परामर्श से अंशुमान् ने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसमें सुमति के साठ हजार पुत्रों ने अश्व की रक्षा की । इन्द्र अश्व का अपहरण करके पाताल में तपोमग्न कपिल के समीप उसे अवस्थित कर चम्पत हो गये । सुमति के पुत्र कपिल के समीप ही अश्व को देखकर उन्हीं को अपहर्ता मानकर उनकी निन्दा करने लगे । कपिल मुनि कुपित हो गये और उनके तेज से सगर के सभी साठ हजार पुत्र जल गये । बहुत दिन बाद भगीरथ ने कठोर तप से विष्णु और भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करके गङ्गा जी को मर्त्यलोक में लाकर अपने पूर्वजों का उद्धार कर दिया ।

शिवानुध्याना भव—यह मुखसन्धि का 'उद्भव' नामक अंग है ।

'बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः' ।

लक्ष्मणः—अयमसौ भरद्वाजावेदितश्चित्रकूटयायिनि वर्त्मनि वनस्पतिः कालिन्दीतटे वटः श्यामो नाम ।

(रामः सस्पृहमवलोकयति)

सीता—सुमरेदि वा एदं पदेसं अज्जउत्तो । [स्मरति वैतं प्रदेशमार्यपुत्रः ।]

रामः—अयि कथं विस्मर्यते ?

अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि-
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥ २४ ॥

लक्ष्मणः—अयमसौ भरद्वाजावेदितः = भरद्वाजमुनिना कथितः, चित्रकूटयायिनि = चित्रकूटपर्वतगामिनि, वर्त्मनि = मार्गे, कालिन्दीतटे = यमुनातीरे, श्यामो नाम = श्यामः इति नाम्ना प्रसिद्धः वटः ।

(रामः सकौतुकं पश्यति)

सीता—स्मरतीवार्यपुत्र ! एतं प्रदेशं किमु ?

रामः—कथं विस्मर्यते = विस्मर्तुं कथं शक्यते ?

अन्वयः—यत्र त्वम् अध्वसञ्जातखेदात्, अलसलुलितमुग्धानि, अशिथिलपरिरम्भैः

भरद्वाजावेदितः = भरद्वाजेन आवेदितः; आवेदितः—आ + √विद् + णिच् + क्त । चित्रकूटयायिनि—चित्रकूटं याति इति चित्रकूटयायि, तस्मिन् । वनस्पतिः—वनस्य

लक्ष्मण—यह भारद्वाज मुनि द्वारा बतलाया गया चित्रकूट जाने वाले मार्ग में यमुना-तट पर स्थित श्याम नामक वटवृक्ष है ।

(राम सस्पृह देखते हैं)

सीता—आर्यपुत्र ! क्या आप उस प्रदेश का स्मरण कर रहे हैं ।

राम—अरे ! वह कैसे भुलाया जा सकता है ?

जहाँ मार्गोत्पन्न परिश्रम से आलस्ययुक्त, क्लान्त तथापि मनोहर, दृढ़ आलिङ्गन से मर्दित, सम्यक् सम्पीडित कमलनाल के सदृश कृश, सुकुमार अङ्गों को मेरे वक्षःस्थल पर रखकर तुम सो गई (उसे कैसे विस्मृत किया जा सकता है ।) ॥ २४ ॥

भरद्वाज—भरद्वाज मुनि का आश्रम प्रयाग में था, जहाँ इन्होंने वनवासी राम, लक्ष्मण तथा सीता का स्वागत किया था । इन्होंने ही राम को चित्रकूट जाने वाला मार्ग बतलाया—

'दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि ।
चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसन्निभः ॥'

(रामायण, अयो० सर्ग ५४।२८-२९)

वटः श्यामो नाम—कालिदास ने भी श्याम नामक वट का उल्लेख किया है—

'त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति' ॥ (रघु० १३।५३)

अलस······अवाप्ता—'मृणालीदुर्बलानि' इस अंश में लुप्तोपमा अलङ्कार है ।

लक्ष्मणः—एष विन्ध्याटवीमुखे विराधसंरोधः ।

दत्तसंवाहनानि, परिमृदितमृणालीदुर्बलानि अङ्गकानि मम उरसि कृत्वा निद्राम् अवाप्ता ॥ २४ ॥

अलसेति । यत्र = यस्मिन् प्रदेशे, अध्वसञ्जातखेदात् = मार्गोत्पन्नपरिश्रमात्, अलसलुलितमुग्धानि = प्रसरणाकुञ्चनासमर्थानि, क्लान्तानि, सुन्दराणि । अशिथिलपरिरम्भैः = दृढतरालिङ्गनैः, दत्तसंवाहनानि = कृतमर्दनानि, परिमृदितमृणालीदुर्बलानि = परिमृदिताऽल्पमृणालकृशानि, अङ्गकानि = निजगात्राणि, मम = मे, उरसि = वक्षःस्थले, कृत्वा = निधाय, निद्राम् अवाप्ता = त्वं सुप्ताऽभूः ॥ २४ ॥

"अयं भावः—पूर्वमध्वसम्पातखेदः, ततो ललितत्वसौकुमार्यद्विगुणीभावः, ततस्तद्दर्शनवशादशिथिलालिङ्गनबाहुल्यम्, ततश्च तत्संवाहनता, ततः स्वधारणसामर्थ्यविरहदौर्बल्यम्, ततो रामवक्षःस्थल एव लग्नता, ततस्तदीयसौकुमार्यपारवश्यात्तत्रैव निद्रावाप्तिरिति ।' (वी०) । जीवा०—'केचित्तु अत्र कथं विस्मर्यते' इति चूर्णकस्य हेतुरूपत्वेन श्लोकस्यास्य निर्देशात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । अपरे तु अस्मिन् चित्रदर्शनव्यापारे पूर्वानुभूततत्तद्विषयाणां स्मृतेः स्मरणालङ्कारं वदन्ति । अत्र ब्रूमः—प्रथममध्वखेदः, तेन च लुलितत्वद्वैगुण्यं, ततः आलिङ्गनबाहुल्यं, ततश्च संवाहनता, तेन च वक्षःस्थललग्नत्वं, ततश्च निद्रावाप्तिरिति परं परं प्रति पूर्वपूर्वस्य हेतुतया अवस्थितेः कारणमालाऽलङ्कारः । तथाहि 'परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता । तदा कारणमाला स्यात्' इति । 'मृणालीदुर्बलानि' इत्यत्र च लुप्तोपमा, इत्येतयोः सङ्करः ।" वृत्तं मालिनी । तल्लक्षणञ्च यथा—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ।

लक्ष्मणः—एषः = चित्रे निर्दिष्टः, विन्ध्याटवीमुखे = विन्ध्यवनस्य प्रवेशद्वारे, विराधसंरोधः = विराधराक्षसकर्तृकोऽस्मदीयोऽवरोधः ।

पतिः, पारस्करादित्वात् सुट् । अध्वसञ्जातखेदात्—अध्वना सञ्जातः खेदः तस्माद्धेतोः (हेतौ पञ्चमी) । दत्तसंवाहनानि = दत्तानि संवाहनानि येभ्यस्तथाभूतानि । परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि—परिमृदिता या मृणाली तद्वद् दुर्बलानि अङ्गकानि । अवाप्ता—अव + √आप् + क्तः । संरोधः—सम् + √रुध् + घञ् ।

लक्ष्मण—यह विन्ध्याटवी के प्रवेश-स्थान में राक्षस विराध द्वारा किया हुआ (हमारा) निरोध है ।

विराध—यह एक भयङ्कर राक्षस था । तुम्बरु नामक गन्धर्व को रम्भा में आसक्त होने के कारण कुबेर ने शाप दे दिया था । वह राक्षस होकर दण्डकारण्य में निवास करने लगा । उसने विन्ध्यवन में प्रवेश के समय राम और लक्ष्मण को पकड़ लिया था—

'तावारोप्य ततस्कन्धं राघवौ रजनीचरः ।
विराधो निनदन् घोरं जगामाभिमुखो वनम् ॥' (रामायण, अरण्यकाण्ड)

संरोधः—इसके स्थान पर 'संवादः' ऐसा पाठ भी मिलता है । 'विराधसंवादः' का अर्थ होगा—विरोध का वृत्तान्त ।

सीता--अलं दाव एदिणा । पेक्खामि दाव अज्जउत्तसहत्तधरिदतालवुन्तादवत्तनिवारिदादपं अत्तणो दक्खिणारण्णप्पवेसारम्भम् । [अलं तावदेतेन । प्रेक्षे तावदार्यपुत्रस्वहस्तधृततालवृन्तातपत्रनिवारितातपमात्मनो दक्षिणारण्यप्रवेशारम्भम् ।]

रामः— एतानि तानि गिरिनिर्झरिणीतटेषु
वैखानसाश्रिततरूणि तपोवनानि ।
येष्वातिथेयपरमा यमिनो भजन्ते
नीवारमुष्टिपचना गृहिणो गृहाणि ॥ २५ ॥

सीता—अलं तावदेतेन = एतेन विरोधेनालम्, तावत् = इदानीम्, आर्यपुत्रस्वहस्तधृततालवृन्तातपत्रनिवारितातपम्—आर्यपुत्रेण = श्रीरामेण, स्वहस्तेन = निजपाणिना, धृतं = गृहीतं, तालवृन्तं = व्यजनं तदेव आतपत्रं = छत्रं, तेन निवारित आतपः यस्मिन् तम्, आत्मनः = निजस्य, दक्षिणारण्यप्रवेशारम्भम्, प्रेक्षे = पश्यामि ।

अन्वयः—गिरिनिर्झरिणीतटेषु वैखानसाश्रिततरूणि एतानि तानि तपोवनानि, येषु आतिथेयपरमा नीवारमुष्टिपचना यमिनो गृहिणो गृहाणि भजन्ते ॥ २५ ॥

एतानीति--गिरिनिर्झरिणीतटेषु = पर्वतनदीतीरेषु, वैखानसाश्रिततरूणि = वानप्रस्थाधिष्ठिततरूणि, एतानि = चित्रलिखितानि, तानि तपोवनानि सन्ति येषु = तपोवनेषु, आतिथेयपरमा = अतिथिसत्कारपराः, नीवारमुष्टिपचना = मुष्टिपरिचित-

---

आतपत्रम्—आतपात् त्रायते यत् तत् आतपत्रम् । निवारितः—नि + √वृ + णिच् + क्त ।

निर्झरिणी—निर्झरः अस्ति अस्याः इति; निर्झर + इनि + ङीप् । वैखानसाश्रिततरूणि—वैखानसैः आश्रिताः तरवः येषु तथोक्तानि । आतिथेयः—अतिथि + ढञ् ।

सीता—अरे ! इसे मत दिखाइए । अब मैं आर्यपुत्र द्वारा निजकर में गृहीत व्यजन रूपी छत्र से निवारण की गई है धूप जिसमें ऐसा, अपना दक्षिण वन में प्रवेश का उद्योग देखती हूँ ।

राम—पर्वत की नदियों के तटों पर वानप्रस्थ मुनियों से सेवित वृक्षों वाले ये वे तपोवन हैं, जिनमें अतिथि-सत्कारपरायण, मुट्ठी भर नीवार पकाने वाले, (तथा) यम-नियमों का पालन करने वाले सपत्नीक मुनिजन गृहों में वास करते हैं ॥ २५ ॥

दक्षिणारण्यप्रवेशारम्भम्—यहाँ 'आरम्भ' शब्द का अर्थ 'उद्योग' है। वीरराघव ने 'आत्मनोऽत्याहितं दक्षिणारण्यपथिकत्वम्' ऐसा पाठ रखा है। अत्याहित का दो अर्थ है—'जीवनापेक्षि कर्म' (प्राणों की उपेक्षा करके किया हुआ कर्म, साहस) तथा 'अत्याहितं महाभीतिः कर्म जीवनापेक्षि' (महाभय)। सम्पूर्ण वाक्यांश का अर्थ है—साहस रूप अथवा महाभय को प्राप्त कराने वाला दक्षिणवन में मार्ग-गमन ।

वैखानस—'वैखानसो वानप्रस्थः। विखनसा प्रोक्तेन मार्गेण वर्तत इति। तेन हि स आश्रमः प्राधान्येन प्रतिपादितः।' (गौतमधर्मसूत्र ३।२ पर हरदत्त की टीका।)

यमिनः—यमाः सन्ति येषां ते। 'अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमाः।'

गृहिणः—गृहस्थाश्रम के बाद कभी-कभी पत्नी के साथ भी वानप्रस्थाश्रम में जाने का विधान है। जो पत्नी के साथ ही वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, वे ही 'गृही' की संज्ञा से अभिहित किये जायेंगे, क्योंकि 'गृह' जहाँ घर का पर्याय है, वहीं कलत्र का भी।

लक्ष्मणः—अयमविरलानोकहनिवहनिरन्तरस्निग्धनीलपरिसरारण्यपरिणद्धगोदावरीमुखरकन्दरः सततमभिष्यन्दमानमेघमेदुरितनीलिमा जनस्थानमध्यगो गिरिः प्रस्रवणो नाम।

रामः—

स्मरसि सुतनु ! तस्मिन् पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
स्मरसि सरसनीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥ २६ ॥

मुन्यन्नपाचकाः, यमिनः = यमनियमशीलाः, गृहिणः = गृहस्थधर्मावलम्बिनः, गृहाणि = भवनानि, भजन्ते = सेवन्ते ॥ २५ ॥

यमाश्च—'अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः' (भगवान् पतञ्जलिः) । वसन्ततिलकावृत्तम् । तल्लक्षणञ्च—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' ।

लक्ष्मणः—जनस्थानमध्यवर्तिनं पर्वतं दर्शयति—अयं = चित्रार्पितः, अविरलाः = सघनाः, ये अनोकहाः = पादपाः, तेषां निवहः = समूहः, तेन निरन्तरं = निरवकाशं, स्निग्धं = मसृणं, नीलं = श्यामं च यत् परिसरारण्यम् = पर्यन्तवनं, तेन परिणद्धा = परिवेष्टिता, या गोदावरी नाम नदी, तया मुखराणि = शब्दायमानानि, कन्दराणि यस्य तादृशः, तथा च यः सततम् = सन्ततम्, अभिष्यन्दमानाः = वर्षन्तः, ये मेघाः = पयोदाः, तैः मेदुरितः = स्निग्धीकृतः, नीलिमा = श्यामलत्वं यस्य सः, जनस्थानस्य मध्ये अवस्थितः प्रस्रवणो नाम गिरिः ।

अन्वयः—हे सुतनु ! तस्मिन् पर्वते लक्ष्मणेन प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोः (आवयोः)

अनोकहः—अनसां (शकटानाम्) अकं (गतिं) हन्ति इति अनोकहः; अनस् + अक् + √हन् + ड । परिणद्धः—परि + √नह् + क्त । मुखरः—मुख + र, 'खमुखकुञ्जेभ्यो वक्तव्यम्' (वा०) इति रः । अभिष्यन्दमानः—अभि + √स्यन्द् + शानच् । मेदुरितः—मेदुरं करोति मेदुरयति, 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्, 'मेदुरय्' इति नामधातोः कर्मणि क्तः । नीलिमा—नीलस्य भावः; नील + इमनिच् ।

लक्ष्मण—यह सघन वृक्षसमूह से निरन्तर मसृण तथा श्यामवर्ण पर्यन्तभूमि से परिवेष्टित गोदावरी की ऊर्मियों से आस्फालित होने के कारण शब्दायमान कन्दराओं से युक्त तथा निरन्तर वृष्टि करते हुए मेघों से अत्यन्त स्निग्ध नीलिमा-सम्पन्न जनस्थान के मध्यभाग में अवस्थित प्रस्रवण नामक पर्वत है ।

हे सुन्दरि ! उस प्रस्रवण पर्वत पर लक्ष्मण द्वारा की गई सेवा से प्रसन्न (हम दोनों के) उन दिनों का स्मरण करती हो ? वहाँ मधुर जल वाली गोदावरी का स्मरण करती हो ? अथवा उसके तटों पर हम दोनों के विहार का स्मरण करती हो ? ॥ २६ ॥

जनस्थान—दण्डकारण्य का एक भाग, यह वर्तमान नासिक क्षेत्र के समीप अवस्थित है ।

प्रस्रवण—गोदावरी के तट पर औरङ्गाबाद की पहाड़ियाँ । इन्हें रामायण में 'माल्यवान्' भी कहा गया है ।

अपि च—किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥ २७ ॥

तनि अहानि स्मरसि ? तत्र सरसनीरां गोदावरीं वा स्मरसि ? तदुपान्तेषु आवयोः वर्तनानि च स्मरसि ? ॥ २६ ॥

स्मरसीति । हे सुतनु !=हे सुन्दरावयवे !, तस्मिन् पर्वते=पूर्वोक्ते प्रस्रवणाख्ये पर्वते, लक्ष्मणेन प्रतिविहितसपर्या=क्षुधातृषाभयादिनिवारणरूपा सेवा, सुस्थयोः=प्रकृतिस्थयोः, (आवयोः) तानि अहानि=तानि दिनानि, स्मरसि ? सरसनीरां=स्वाभाविकमधुररसयुक्तजलवतीं, गोदावरीं वा स्मरसि ? तदुपान्तेषु=गोदावर्या तटेषु, आवयोः वर्तनानि=आवयोः निवास-क्रीडा-भ्रमणादीनि वा स्मरसि ? ॥ २६ ॥

"अत्र देशरूपविभावेन उपनिबध्यमानं काव्यं शृङ्गाररसास्वादनाय प्रभवति इत्युक्तं दशरूपके, तथाहि—'रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः । प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योऽन्यरक्तयोः । प्रहृष्यमाणा शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ।' इति । यतः नव्यमते सीतारूपालम्बनविभावेन रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षादिभिरनुभावैरावेगहर्षादिभिः व्यभिचारिभिः भावैश्च विभाविता रतिः, सम्भोगशृङ्गारास्वादतामापन्ना । अत्र एकस्य 'त्वम्' इति कर्तुः तिसृभिः 'स्मरसि' इति क्रियाभिः, अन्वयात् दीपकम् अलङ्कारः—'अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्' इति दर्पणोक्तलक्षणात् ।" (जीवा०) । मालिनी वृत्तम् ।

अन्वयः—आसत्तियोगात् अविरलितकपोलम् अक्रमेण मन्दं मन्दं किमपि किमपि जल्पतोः, तथा अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोः अविदितगतयामा रात्रिः एव व्यरंसीत् ॥ २७ ॥

प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोः—प्रतिविहिता या सपर्या तया सुस्थयोः; प्रतिविहित—प्रति–वि + √धा + क्त; सुस्थयोः—सु + √स्था + क । वर्तन—वृत् + ल्युट् ।

आसत्तिः—आ + √सद् + क्तिन् । अविरलितकपोलम्=अविरलितौ कपोलौ यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा । जल्पतोः—√जल्प् + शतृ, षष्ठी, द्विव० । अशिथिल-

---

और भी—

सामीप्य योग से परस्पर कपोल सटाकर, धीरे-धीरे तथा बिना किसी क्रम के चाहे जो कुछ बातें करते हुए और एक-दूसरे की भुजाओं के दृढ आलिङ्गन में बँधकर हम दोनों की, नहीं जाने गये हैं बीते हुए प्रहर जिसके, ऐसी निशा ही समाप्त हो गयी ॥ २७ ॥

यह श्लोक नितान्त भावपूर्ण है। इसमें दाम्पत्य-जीवन का स्वाभाविक, किन्तु मर्यादापूर्ण चित्र चित्रित किया गया है। यह श्लोक सम्भोग-शृङ्गार का उत्कृष्ट उदाहरण है। रति इसका स्थायीभाव है, जो 'अविरलितकपोलं' से व्यंग्य है।

लक्ष्मणः--एषा पञ्चवट्यां शूर्पणखा ।

सीता--हा अज्जउत्त, एत्तिअं दे दंसणं । [हा आर्यपुत्र ! एतावत् ते दर्शनम् ।]

रामः--अयि विप्रयोगत्रस्ते ! चित्रमेतत् ।

किमपीति । आसत्तियोगात् = सामीप्यसम्बन्धात्, अविरलितकपोलं = परस्पर-संश्लिष्टकपोलम्, अक्रमेण = पौर्वापर्यराहित्येन, मन्दं मन्दम् = अतिसूक्ष्माक्षरं, किमपि किमपि = यत्किञ्चित्, जल्पतोः = वार्तालापं कुर्वतोः, अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैक-दोष्णोः = एकैकभुजेन सुदृढतया समालिङ्गने समासक्तयोः, आवयोः अविदितगतयामा रात्रिरेव = निशा एव, व्यरंसीत् = विरता ॥ २७ ॥

'....तथाहि किमपि किमपीत्यस्य सुरतकालीनवक्तव्यजातमेवार्थः । गुप्तकथनादेवं च किमपि किमपि जल्पतोरित्यत्र मन्दं मन्दम् अविरलितकपोलमित्युभयत्र जल्पनेऽन्वेति । अक्रमेणेत्यपि तथा । एवं च सुरतकालीनजल्पनस्य मान्द्यातिशयोक्तिकथनादार्द्रवाक्त्वं सीताया गम्यत इत्युक्ताद्रतिविशेषात्फुल्लजृम्भिताख्यबन्धविशेषौ सूच्येते ।' (वीरराघवः) । मालिनीवृत्तम् ।

लक्ष्मणः—एषा = चित्रलिखिता, पञ्चवट्यां शूर्पणखा नाम्ना प्रसिद्धा रावण-भगिनी ।

सीता—हा आर्यपुत्र ! एतावन्मात्रमेव तव दर्शनमासीत् ।

रामः—अयि विप्रयोगत्रस्ते = वियोगभीते ! एतत् चित्रम् ।

परिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोः=अशिथिलपरिरम्भेषु व्यापृतः दोः ययोः तयोः, व्यरंसीत्—वि + √रम् + लुङ् ।

पञ्चवटी—पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी, (समाहारद्विगुः) । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इस वार्तिक के अनुसार अकारान्त समाहार द्विगु स्त्रीलिङ्ग

लक्ष्मण—यह पञ्चवटी में शूर्पणखा है ।

सीता—हाय आर्यपुत्र ! यहीं तक आपका दर्शन हुआ ।

राम—अयि वियोगभीते ! यह चित्र है ।

एव—किंवदन्ती है कि भवभूति का लिखा मूल पाठ 'एवं' था । कालिदास के निर्देश पर उन्होंने अनुस्वार हटा दिया ।

पञ्चवटी—यहाँ 'पञ्चवटी' शब्द दण्डकारण्य के एक भाग के लिए प्रयुक्त है । वनवास काल में राम, लक्ष्मण तथा सीता यहाँ चिरकाल तक रहे । यहीं सीताहरण हुआ था । सम्भवतः अश्वत्थ, बिल्व, वट, आँवला तथा अशोक इन पञ्चवटों के कारण ही इस प्रदेश का नाम पञ्चवटी पड़ गया हो ।

शूर्पणखा—खर तथा दूषण के साथ रहने वाली, रावण की बहिन ।

एतावत् ते दर्शनम्—शूर्पणखा दृश्य का अवलोकन करके सीता भयभीत हो गई । उनके मानसपटल पर अतीतकालीन घटनाएँ चित्रित हो गईं । शूर्पणखा-काण्ड के अनन्तर ही सीता-हरण हुआ था । सीता का यह वाक्य उनके भावी निर्वासन के निमित्त भविष्यवाणी जैसा है ।

सीता—जहा तहा होदु। दुज्जणो असुहं उप्पदेइ। [यथा तथा भवतु। दुर्जनोऽसुखमुत्पादयति ।]

रामः—हन्त ! वर्तमान इव मे जनस्थानवृत्तान्तः प्रतिभाति।

लक्ष्मणः— अथेदं रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना
तथा वृत्तं पापैर्व्यथयति यथा क्षालितमपि।
जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै-
रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् ॥ २८ ॥

सीता—आर्यपुत्र ! यथा भवेत् तथैव, दुर्जनः = असाधुः, असुखं = दुःखम्, उत्पादयति = जनयति।

रामः—जनस्थानस्य वृत्तान्तः वर्तमान इव = प्रत्यक्षीभूत इव, मे प्रतिभाति = प्रतीयते ॥ २८ ॥

अन्वयः—अथ पापैः रक्षोभिः कनकहरिणछद्मविधिना इदं तथा वृत्तं यथा क्षालितमपि व्यथयति। शून्ये जनस्थाने विकलकरणैः आर्यचरितैः ग्रावा अपि रोदिति, वज्रस्य अपि हृदयं दलति।

अथेदमिति। अथ = शूर्पणखावृत्तान्तानन्तरम्, पापैः = पापाऽऽचारैः, रक्षोभिः = राक्षसैः, कनकहरिणछद्मविधिना = स्वर्णमृगव्याजकरणेन, इदं = चित्रनिर्दिष्टं सीताहरणं, तथा = तादृशं, वृत्तं = निष्पन्नं, यथा = यादृशं, क्षालितमपि = प्रतिकृतमपि,

---

में होता है। अतः 'द्विगोः' सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय होने पर पञ्चवटी रूप है। शूर्पणखा—'शूर्पवत् नखाः यस्याः सा' इस विग्रह में 'स्वाङ्गात्०' सूत्र से विकल्प से ङीप् प्राप्त था, किन्तु 'नखमुखात्०' सूत्र से निषेध होकर केवल टाप् होकर शूर्पनखा और 'पूर्वपदात्०' सूत्र से णत्व होने पर 'शूर्पणखा' बना।

छद्म = छाद्यतेऽनेन रूपमिति छद्म; √छाद् (णिजन्त) + मानिन्, ह्रस्व। चरितम्—√चर् + क्तः।

सीता—आर्यपुत्र ! जो कुछ भी हो, दुर्जन दुःख ही उत्पन्न करता है।

राम—खेद है। जनस्थान का वृत्तान्त वर्तमान-सा ही प्रतीत हो रहा है।

शूर्पणखा वृत्तान्त के अनन्तर पापी राक्षसों द्वारा स्वर्णमृग के कपटविधान से ऐसा किया गया, जो प्रतिकार किये जाने पर भी व्यथित ही कर रहा है। निर्जन जनस्थान में विकल इन्द्रियों वाले आर्य श्रीरामचन्द्रजी के चरितों से पाषाण भी विलाप करता है तथा वज्र का भी हृदय विदीर्ण होता है ॥ २८ ॥

अपि ग्रावा रोदिति०—करुणरसाचार्य भवभूति का यह श्लोक नितान्त मार्मिक है। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी के विलाप से पत्थर भी पिघल उठे तथा वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो गया। गोवर्द्धनाचार्य ने आर्यासप्तशती में ठीक ही कहा है—

'भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥'

सीता—(सास्रमात्मगतम्) अयि देव रहुकुलाणन्द, एव्वं मम कालणादो किलन्तो आसि । [अयि देव रघुकुलानन्द ! एवं मम कारणात् क्लान्त आसीः ।]

लक्ष्मणः—(रामं निर्वर्ण्य साकूतम्) आर्य किमेतत् ?

अयं ते बाष्पौघस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन् धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः ।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः ॥ २९ ॥

व्यथयति=दुःखं जनयति । शून्ये=निर्जने, जनस्थाने=दण्डकारण्ये, विकलकरणैः=स्वस्वव्यापारशून्यानि इन्द्रियाणि येषु तथोक्तैः, आर्यचरितैः=आर्यस्य रामस्य मूर्च्छाप्रभृतिव्यापारैः, ग्रावा अपि=शिलापि, रोदिति=रोदनं करोति, वज्रस्य अपि=कुलिशस्यापि, हृदयं=मध्यप्रदेशः, दलति=द्विधा भिन्नं भवति ॥ २८ ॥

अत्र ग्राववज्रादिषु रोदनदलनादीनां सम्बन्धाऽसत्त्वेऽपि तत्सम्बन्धस्य सिद्धत्वेन कविप्रौढोक्त्याऽध्यवसानात् असम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिद्वयस्य सजातीयसाङ्कर्य्यम् । एतेन रामस्य शोकावेगमसहमानस्य मर्म्मस्पृक् विरहः क्रकचधारापात इव अनवरतं हृदयं दलयति स्म, इत्यपि वस्तु व्यज्यते, इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः । शिखरिणी वृत्तम्—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनभसला: गः शिखरिणी' इति लक्षणात् (जीवा०) ।

सीता—(सास्रम्=अश्रुभिः सह, आत्मगतम्=स्वगतम्) अयि देव रघुकुलानन्द !=रघुवंशहर्षदायक !, एवम्=इत्थं, मम कारणात्=मम कृते, क्लान्त आसीः=खिन्नः अभवः ।

लक्ष्मणः—(रामं निर्वर्ण्य=विलोक्य, साकूतम्=साभिप्रायम्) आर्य ! किमेतत्=साम्प्रतमपि भवान् रोदिति ।

अन्वयः—अयं ते बाष्पौघः त्रुटितः मुक्तामणिसरः इव धाराभिः विसर्पन् जर्जरकणः धरणीं लुठति । भराध्मातहृदयः आवेगः निरुद्धः अपि स्फुरदधरनासापुटतया परेषाम् उन्नेयः भवति ॥ २९ ॥

क्लान्तः—√क्लम् + क्त, दीर्घश्च । विसर्पन्—वि + √सृप् + शतृ । निरुद्धः—नि + √रुध् + क्त । आवेगः—आ + √विज् + घञ । स्फुरत्—√स्फुर् + शतृ ।

सीता—(अश्रुसहित, स्वगत) हे रघुवंश को आनन्दित करने वाले देव ! मेरे कारण इस प्रकार क्लेशयुक्त हुए ।

लक्ष्मण—(राम को सम्यक् देखकर साभिप्राय) आर्य यह क्या है ? यह आपका अश्रु-समूह टूटे हुए मुक्तामणियों के हार के सदृश धाराओं से फैलता हुआ, बिखरे हुए कणों वाला (होकर) पृथ्वी पर लोट रहा है । अतिशय भरे हुए गद्गद शब्द युक्त कण्ठवाला शोकावेग निरुद्ध भी प्रस्फुरित अधर और नासापुटों से दूसरों के लिए अनुमेय होता है ॥ २९ ॥

रामः—वत्स !

तत्कालं प्रियजनविप्रयोगजन्मा तीव्रोऽपि प्रतिकृतिवाञ्छया विसोढः ।
दुःखाग्निर्मनसि पुनर्विपच्यमानो हृन्मर्मव्रण इव वेदनां करोति ॥ ३० ॥

अयमिति । अयं=पुरतो दृश्यमानः, ते=तव, वाष्पौघः=अश्रूणां सङ्घातः, त्रुटितः=छिन्नः, मुक्तामणिसरः इव=मुक्तामणिहार इव, धाराभिः=प्रवाहैः, विसर्पन्=प्रसरन्, जर्जरकणः धरणीं=पृथिव्यां, लुठति=पतति, भराध्मातहृदयः=अतिशयेन आपूरितहृदयः, आवेगः=शोकावेगः, निरुद्धः अपि=अन्तःसंयमितोऽपि, स्फुरदधरनासापुटतया=परिस्फुरतामधरादीनां विलासेन हेतुना (नासिकाधरस्फुरणेन), परेषाम्=अन्येषाम्, उन्नेयः=अनुमेयः भवति ॥ २९ ॥

'अत्र परिस्फुरतामधरादीनां विलासेन हेतुना, साध्यीभूतस्य प्रयत्नसङ्गोपितत्वेनाप्रत्यक्षायमाणस्य शोकावेगप्रसरस्य प्रौढोक्तिसिद्धविच्छित्तिवशेनानुमीयमानत्वेनानुमानालङ्कारः—'अनुमानन्तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्' इति लक्षणात्, स च पूर्वार्द्धगतयोपमया संसृज्यते इति ध्येयम् ।' (जीवा०) शिखरिणी वृत्तम् ।

रामः—वत्स लक्ष्मण !

अन्वयः—प्रियजनविप्रयोगजन्मा तीव्रोऽपि प्रतिकृतिवाञ्छया तत्कालं विसोढः दुःखाग्निः पुनर्मनसि विपच्यमानः हृन्मर्मव्रण इव वेदनां तनोति ॥ ३० ॥

तत्कालमिति । प्रियजनविप्रयोगजन्मा=सीतावियोगोत्पन्नः, तीव्रोऽपि=तीक्ष्णोऽपि, प्रतिकृतिवाञ्छया=प्रतीकारेच्छया, तत्कालं=तस्मिन् काले, विसोढः=मर्षितः, दुःखाग्निः=शोकाऽनलः, पुनः=भूयोऽपि, मनसि=चित्ते, विपच्यमानः=विपाकं प्राप्तः, हृन्मर्मव्रण इव=हृदयमर्मस्थाने समुद्भूतो व्रण इव, वेदनां=पीडां, तनोति=जनयति ॥ ३० ॥

'अत्र दुःखाग्निसहनस्य हेतुत्वेन प्रतिकृतिवाञ्छया निर्देशात् काव्यलिङ्गम्, दुःखाग्निरित्यत्र रूपकम्, विपचनस्य अहेतुकत्वात् विभावना, हृन्मर्मव्रण इव इत्यत्र उपमा, एषाम् अङ्गाङ्गिभावेन साङ्कर्य्यम्, स च दुःखाग्नेः तीव्रतरत्वात् पूर्वादप्यसहत्वं

परेषाम्—उन्नेयकृत्य है, अतः इसके योग में विकल्प से 'कृत्यानां कर्तरि वा' सूत्र से षष्ठी होगी, परैः भी हो सकता है । उन्नेय—उद् + √नी + यत् ।

प्रियजनविप्रयोगजन्मा—प्रियजनेन (प्रियजनस्य वा) यो विप्रयोगः तस्माज्जन्म यस्य, व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । विसोढः—वि + √सह् + क्त । दुःखाग्निः—दुःखम् अग्निरिव इति उपमितकर्मधारयः । विपच्यमानः—वि + √पच् + शानच् ।

राम—वत्स लक्ष्मण !

प्रियजन (सीता) के विरह से उत्पन्न, तीक्ष्ण भी प्रतीकार की इच्छा से उस समय सहा गया शोकानल फिर मन में परिपक्व होता हुआ हृदय के मर्मस्थल में उत्पन्न फोड़े के सदृश वेदना को बढ़ा रहा है ॥ ३० ॥

सीता—हद्धी हद्धी । अहं वि अदिभूमिं गदेण रणरणएण अज्जउत्तसुण्णं विअ अत्ताणं पेक्खामि । [हा धिक् हा धिक् ! अहमप्यतिभूमिं गतेन रणरणकेन आर्यपुत्रशून्यमिवात्मानं पश्यामि ।]

लक्ष्मणः—(स्वगतम्) भवत्वन्यतः क्षिपामि । (चित्रं विलोक्य प्रकाशम्) अथैतन्मन्वन्तरपुराणगृध्रराजस्य तत्रभवतस्तातजटायुषश्चरित्रविक्रमोदाहरणम् ।

गमयित्वा व्यतिरेकध्वनिमुत्थापयति' । (जीवा०) प्रहर्षिणीवृत्तम् । तल्लक्षणञ्च—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ।'

सीता—हा धिक् ! हा धिक् ! अहमपि अतिभूमिं=सीमातिरेकं, गतेन=अतिवृद्धेन, रणरणकेन=उत्कण्ठातिशयेन, आर्यपुत्रशून्यमिव=रामविरहितमिव, आत्मानं=स्वम्, पश्यामि=अवलोकयामि ।

लक्ष्मणः—(स्वगतम्) भवतु=अस्तु, अन्यतः क्षिपामि=एतस्माद् वृत्तादन्यत्र सञ्चारयामि । चित्रे जटायुं निरीक्ष्य आह—एतत् समीपतरवर्तिमन्वन्तरप्राचीनस्य तत्रभवतः=पूज्यस्य, गृध्रराजस्य जटायोः चरित्रविक्रमस्योदाहरणम् । तेन रावणेन सह युद्धं कृत्वा यादृशं विक्रमचरित्रं दर्शितं तदिदमालोक्यताम् ।

रणरणकः—रण्यते शब्द्यते यत्र इति रणः, √रण्+अप् 'वशिरण्योरुपसख्यानम्' वा०), रणः शब्दः, तत्सदृशः रणरणः (प्रकारे द्वित्वम्), ततः संज्ञायां कन् ।

सीता—हा धिक् हा धिक् ! मैं भी अत्याधिक्य को प्राप्त उद्वेग के कारण आर्यपुत्र से विरहित की भाँति स्वयं को समझती हूँ ।

लक्ष्मण—(स्वगत) अच्छा, दूसरी ओर (इनके मन को आकृष्ट करता हूँ) **(चित्र का अवलोकन करके, प्रकट)**। अब यह एक मन्वन्तर पुराने पूज्य जटायु के चरित्र और पराक्रम का उदाहरण है ।

रणरणक—उत्कण्ठा । 'औत्सुक्ये रणरणकः स्मृतः' ।

आर्यपुत्रशून्यमिव०—यहाँ सीता के इस वाक्य में अचिरभाविनी विपत्ति की छाया है ।

मन्वन्तर—पुराणों में चौदह मनु का उल्लेख है । प्रत्येक मनु के अधिकार-काल को मन्वन्तर कहते हैं । स्वायम्भुव मनु प्रथम थे । अब तक ६ मनुओं का अधिकार-काल बीत गया है । सम्प्रति वैवस्वत मनु का अधिकारकाल है । मनु का शासनकाल ३०८४४८००० मानवीय वर्ष का है । वैवस्वत मन्वन्तर के प्रारम्भ में ही कश्यप तथा विनता के पुत्र अरुण के दो पुत्र हुए—सम्पाति तथा जटायु । इसीलिए जटायु अतिपुराण कहे गये हैं ।

जटायु—कश्यपमुनि की पत्नी विनता से उत्पन्न अरुण का पुत्र तथा सम्पाती का अनुज । प्रसिद्ध है कि एक बार इसने महाराज दशरथ की सहायता की थी, जिसके कारण उनका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था । अतएव अपने पिता के मित्र के प्रति राम, लक्ष्मण और सीता जी का 'तात' शब्द का प्रयोग करना सर्वथा समीचीन है ।

सीता—हा ताद, णिव्वूढो दे अवच्चसिणेहो। [हा तात! निर्व्यूढस्तेऽपत्यस्नेहः।]

रामः—हा तात काश्यप शकुन्तराज! क्व नु खलु पुनस्त्वादृशस्य महतस्तीर्थस्य साधोः सम्भवः।

लक्ष्मणः—अयमसौ जनस्थानस्य पश्चिमतश्चित्रकुञ्जवान्नाम दनुकबन्धाधिष्ठितो दण्डकारण्यभागः। तदिदमृष्यमूकपर्वते मतङ्गस्याश्रमपदम्। इयञ्च श्रमणा नाम सिद्धा शबरतापसी। तदेतत् पम्पाभिधानं पद्मसरः।

सीता—हा तात! तव अपत्यस्नेहः = सन्तानस्नेहः, निर्व्यूढः = सम्पन्नः।

रामः—हा तात काश्यप = कश्यपकुलोत्पन्न! शकुन्तराज = पक्षिराज! त्वादृशस्य = त्वत्तुल्यस्य, साधोः = परोपकारशीलस्य, सम्भवः = उत्पत्तिः, कुत्र स्यात्? एवंविधाः सर्वदा सर्वत्र न भवन्ति।

लक्ष्मणः—अयं जनस्थानस्य पश्चिमतः=पश्चिमभागे, 'चित्रकुञ्जवान्' इति नाम्ना प्रसिद्धः, दनुकबन्धाधिष्ठितः = दनुनामकेन शिरोरहितेन केनचिद्राक्षसेन अध्युषितः,

---

निर्व्यूढः—निस्–वि + √वह् + क्त, सम्प्रसारण। काश्यपः–कश्यपस्य गोत्रापत्यं पुमान् (अण्)। त्वादृशः—त्वत् + √दृश् + कन्। तीर्थ—√तृ + थक्। साधु—साध्नोति परकार्यम्; √साध् + उण्। सम्भवः—सम् + √भू + अप्। जनस्थानस्य पश्चिमतः—'पश्चिमतः' अतसुच् प्रत्ययान्त शब्द है। इसीलिए उसके योग में 'जनस्थानस्य' यहाँ षष्ठी विभक्ति आयी है। अधिष्ठितः—अधि + √स्था + क्त।

सीता—हा तात! आपने अपने अपत्य-प्रेम का सम्यक् निर्वाह किया।

राम—हा तात काश्यप! पक्षिराज! आपके सदृश महान्, पवित्र साधु का जन्म कहाँ होता है?

लक्ष्मण—यह वही जनस्थान के पश्चिम में चित्रकुञ्ज की संज्ञा से अभिहित दनुकबन्ध से अधिष्ठित दण्डकारण्य का भाग है। यह वही ऋष्यमूक पर्वत पर मतंगमुनि का आश्रमस्थल है।

तीर्थस्य—यहाँ तीर्थ शब्द का अर्थ गुरु (हितोपदेष्टा) अथवा पुण्यक्षेत्र के समान अत्यन्त पवित्र है।

दनुकबन्ध—यह 'श्री' अप्सरा का पुत्र 'विश्वावसु' नामक गन्धर्व था। स्थूलशिरस् नामक महर्षि के शाप से यह राक्षस हो गया। इसके बाद 'इन्द्र' ने एक बार उस पर वज्र का प्रहार किया, जिसके कारण उसका सिर पेट में घुस गया। 'कबन्ध' (धड़) मात्र ही रह जाने के कारण उसका यह नाम पड़ गया।

मतङ्गस्याश्रमपदम्—यह पम्पासरोवर के पश्चिम में अवस्थित था—

तत्रस्तद्राम पम्पायास्तीरमाश्रित्य पश्चिमम्।
आश्रमस्थानमतुलं गुह्यं काकुत्स्थ! पश्यसि॥
ऋषेस्तस्य मतङ्गस्य विधानात्तत्र काननम्।
मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन॥

(रामा० अरण्य० ७३।२८-३०)

सीता—एत्थ किल अज्जउत्तेण विच्छिण्णामरिसधीरत्तणं पमुक्ककण्ठं रुण्णं आसि ।" [अत्र किलार्यपुत्रेण विच्छिन्नामर्षधीरत्वं प्रमुक्तकण्ठं रुदितमासीत् ।]

रामः—देवि ! रमणीयमेतत्सरः ।

एतस्मिन्मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः ।
बाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले सन्दृष्टाः कुवलयिनो मया विभागाः ॥३१॥

दण्डकारण्यभागः=दण्डकारण्यस्य एकदेशः । ऋष्यमूकपर्वते मतङ्गस्य इदम् आश्रमपदम् =आश्रमस्थानम् । इयं च 'श्रमणा' इति नाम्ना प्रसिद्धा, सिद्धा=सिद्धिं प्राप्ता, शबरतापसी=शबरजातीया तापसी । एतत् पम्पाभिधानं पद्मसरः ।

सीता—यत्र आर्यपुत्रः विच्छिन्नामर्षधीरतया प्रमुक्तकण्ठं=सुचिरं मुक्तकण्ठो, रुदितमासीत्=रुरोद, तदेवेदं स्थानम् ।

रामः—देवि ! एतत्=इदं, सरः=पम्पाख्यं सरः, परं रमणीयम्=अत्यन्तं मनोहरम् ।

अन्वयः—एतस्मिन् मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः कुवलयिनो विभागाः मया बाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले सन्दृष्टाः ।

एतस्मिन्निति । एतस्मिन्=पम्पासरसि, मदेन=उद्दामयौवनजनितेन, कलः=अव्यक्तमधुरशब्दः येषां ते, तादृशा ये मल्लिकाक्षाः=हंसविशेषाः, तेषां पक्षैः=

विच्छिन्नः—वि+√छिद्+क्त । रुदितम्—√रुद्+क्तः ।
व्याधूतः—वि-आ+√धू+क्त ।

यह 'श्रमणा' नाम से प्रसिद्ध शबरजातीया सिद्धा तापसी है । यह वही 'पम्पा' नामक पद्म-सरोवर है ।

सीता—जहाँ आपने अमर्ष और धीरता का परित्याग करके फूट-फूटकर विलाप किया था ।

राम—देवि ! यह सरोवर अत्यन्त रमणीय है । इसमें हर्ष अथवा यौवनमद के कारण अव्यक्त और मधुर कूजन करने वाले मल्लिकाक्ष नामक हंसों से कम्पित और सुशोभित नालदण्डों

श्रमणा—मतङ्ग नामक महामुनि के आश्रम में रहने वाले शिष्यों की बड़ी सेवा करती थी । कालान्तर में मतङ्ग जी की शिष्या बन गई । उसकी श्रीरामचन्द्रजी में अटूट भक्ति थी । सीता की खोज में संलग्न राम-लक्ष्मण का दर्शन कर वह मुक्त हो गई थी । रामायण में इसका नाम 'शबरी' दिया गया है ।

टीकाकारों ने इस श्लोक की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है । कुछ विद्वान् 'मदकल' का 'मत्'+'अकल' यह पदच्छेद करते हैं । मत्=मेरे कारण अर्थात् मुझे कष्ट न हो इसलिए । अकल=कलकूजन रहित । इस प्रकार यह अर्थ होगा—मेरे चित्त को खेद न हो, इसीलिए मानों वे हंस भी मौन रहकर (विरहोत्पादक) कमलों को विनष्ट कर रहे थे । इसी प्रकार मैंने अश्रुयुक्त नेत्रों से उन नीलकमलमय प्रदेशों को देखा था । अथवा—मल्लिकाक्ष हंसों के श्वेतवर्ण पङ्खों से प्रकम्पित श्वेतकमल युक्त प्रदेशों को अश्रुयुक्त लोचनों से नीलकमलमय-सा देखा था ।

मल्लिकाक्ष—हलायुध में इसके सम्बन्ध में कहा गया है—

पतत्रैः, व्याधूतानि = प्रकम्पितानि, स्फुरन्ति = शोभमानानि, उरुदण्डानि = बृहत् मृणालनालानि, पुण्डरीकाणि = श्वेतकमलानि, येषु ते तथैव कुवलयिनः = नीलकमल-युक्ताः, विभागाः = प्रदेशाः, मया = रामेण, वाष्पाम्भसाम् = नेत्रजलबिन्दूनां, परि-पतनस्य = स्खलनस्य, उद्गमस्य = आविर्भावस्य, अन्तराले = मध्ये, सन्दृष्टाः = विलोकिताः ।

अयम्भावः—इदं पम्पाख्यं सरः अत्यन्तं मनोहरम् । अस्मिन् पम्पासरसि उद्दाम-यौवनजनितेन हर्षेण अव्यक्तं मधुरञ्च कूजन्तः मल्लिकाक्षाः हंसविशेषाः निवसन्ति । यदा मल्लिकाक्षाः विचरन्ति तदा तेषां पतत्रैः मृणालनालानि कम्पन्ते, नीलोत्पलयुक्तानां विभागानाञ्च शोभां विलोक्य मम रामस्य लोचनाभ्यां वाष्पोद्गमो भवति स्म, यावदेव लोचनाभ्यां जलं निःसृतम्, पृथिव्यां च न पतितं, तस्मिन्नेव क्षणे क्लिन्नचक्षुषा मया रामेण ते प्रदेशाः विलोकिताः ।

'केचित्तु मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीका विभागा वाष्पाम्भः-परिपतनोद्गमान्तराले कुवलयिनो दृष्टा इत्यन्वयमुक्त्वा वाष्पाम्भःप्रसरणमलिनीकृत-पुण्डरीकाः कुवलयन्तो दृष्टा इत्यर्थमाहुः । परे तु मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरु-दण्डपुण्डरीकाः कुवलयिनश्च विभागाः । विभज्यन्त इति विभागाः । परस्परसङ्कीर्णप्रदेशा वाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले सन्दृष्टा एकीकृत्य दृष्टाः । समित्येकीकारे । अविभागेन दृष्टा इत्याहुः । इतरे तु 'ननु रमणीयमेतत् पद्मसरः' इत्युक्तं त्वया तत्कथमुपपद्यते विरहोद्दीपककलकूजितयुक्तहंसाधिष्ठितपुण्डरीकयुक्तस्य सरसो द्रष्टुमशक्यत्वादित्यत्राह—एतस्मिन्मदकलेति । मत् अकलेति पदच्छेदः । मदिति पञ्चम्येकवचनम् । पृथक्पदं समस्तं वा । मन्मन्निमित्तं विरहव्यथातुरमद्धेतोर्न विद्यते कलं कूजितं येषां ते तेषां मल्लिका-क्षाणां हंसविशेषाणां पक्षैर्व्याधूतानि कम्पितानीति यावत् । अतएव स्फुरदुरुदण्डानि निवृत्ताधारतया चलदुरुदण्डानि पुण्डरीकाणि येषु तथोक्ताः कुवलयिनः पुण्डरीकवद्दिवा विकासाद्यभावेनाकिञ्चित्करत्वाद्धंसैर्व्याधूततया कुवलयसत्तामात्रवन्तः । एतस्मिन्विभागा वाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले सन्दृष्टाः सम्यग्दृष्टाः । परिहाससम्भावितत्वादव-मल्लिकाक्षाः खलु विरहोद्विग्नस्य मम कृते स्वयं विरहसमुद्दीपकं कूजितं व्यक्त्वा तदु-द्दीपकानि पुण्डरीकाण्यप्यनाशयन् । ततोऽहं निवृत्तोपप्लवतया सम्यग्दृष्टा इति भावः । पर्यन्तं तान्विहङ्गान्दृष्टवानिति भावः । युक्तं चैतत् । विरहखिन्नं रामं प्रति मल्लिका-

वाले श्वेतकमलों से युक्त नीलकमलमय प्रदेशों को मैंने आँसुओं के गिरने और निकलने के मध्य समय में देखा ॥ ३१ ॥

"आताम्रै राजहंसाः स्युर्धार्त्तराष्ट्राः सितेतरैः ।
मलिनैर्मल्लिकाक्षाश्च कथ्यन्ते चरणाननैः ॥"

पुण्डरीक=श्वेतकमल—'पुण्डरीकं सिताम्भोजम् ।' (अमर०)

कुवलय=नीलकमल—'स्यादुत्पलं कुवलयम् ।' (अमर०)

लक्ष्मणः—अयमार्यो हनूमान् ।

सीता—एसो सो चिरणिव्विण्णजीवलोअपच्चुद्धरणगुरुओवआरी महानुभावो मारुदी । [एष स चिरनिर्विण्णजीवलोकप्रत्युद्धरणगुरूपकारी महानुभावो मारुतिः] ।

रामः— **दिष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्धनः ।**
यस्य वीर्येण कृतिनो वयञ्च भुवनानि च ॥ ३२ ॥

क्षाणां 'अपि ग्रावा रोदिति' इति न्यायेन करुणायाः सम्भवात् । दृष्टचक्रवाकशापदर्शनेन चक्रवाकशापदाता रामोऽस्माकमपि शापं दास्यतीति भीत्या शब्दासम्भवात् 'कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे पुंस्कोकिलानां रुतम्' इत्यादिविषयविशेषैस्तिरश्चामपि विरहिजनानुरोधः प्रसिद्धश्चेति वदन्ति ।।' (वीर०) ।

'अत्र व्याख्याने विविधप्रसूनाकरस्य पम्पासरसः कुत्रचित् पुण्डरीकवत्त्वात् कुत्रचिच्च कुवलयवत्त्वात् प्रस्तुतस्य पुण्डरीकवतः भूविभागस्य अन्यस्य कुवलयिनः तादात्म्याध्यासात् पुण्डरीकवदितरभिन्नत्वेनाऽपरिचयात् उभयोस्तुल्यगुणतया प्रतीतेः भेदाग्रहनिबन्धनः सामान्यालङ्कारः, न तु भ्रान्तिमान्, अतस्मिन् तद्बुद्धेरनुदयात्—'सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैः गुणैः' इति लक्षणात्......दण्डपुण्डेत्यादौ संयुक्तव्यञ्जनयोः स्वरूपतः क्रमतश्च साम्यात् छेकानुप्रासः । (जीवा०) । वृत्तं प्रहर्षिणी ।

लक्ष्मणः—अयं = पुरोदृश्यमानः, आर्यः = पूज्यः हनूमान् ।

सीता—एषः = चित्रे अङ्गुल्या निर्दिष्टः, चिरनिर्विण्णस्य = बहुकालदुःखितस्य, जीवलोकस्य = जीवानाम्, प्रत्युद्धरणेन = कष्टविमोचनेन, गुरूपकारी = महान् उपकर्त्ता, महानुभावः = महाप्रभावः, मारुतिः = मरुत्तनयः हनूमान् अस्ति ।

अन्वयः—दिष्ट्या अयं सः महाबाहुः अञ्जनानन्दवर्धनः यस्य वीर्येण भुवनानि वयं च कृतिनः ।

हनूमान्—प्रशस्तौ हनू अस्य स्तः, हनु + मतुप् । निर्विण्णः—निर् + √विद् + क्त । मारुतिः—मरुतोऽपत्यं पुमान्; मरुत + इञ् । वर्धनः—वृध् + ल्युः । वीर्य—वीर + यत् । कृतिन्—कृत + इनि ।

लक्ष्मण—यह आर्य हनूमान् हैं ।

सीता—ये वे, चिरकाल से व्यथित प्राणियों का उद्धार करने वाले, महान् उपकारी, महाप्रभावशाली, मरुत्-तनय (हनूमान्) हैं ।

राम—हर्ष है, यह वही विशाल बाहु वाले (अथवा महा पराक्रमशाली), माता अञ्जना के आनन्द को बढ़ाने वाले (हनूमान् हैं) जिनके पराक्रम से हम और समस्त लोक कृतार्थ हो गये ॥ ३२ ॥

दिष्ट्या—प्रसन्नतासूचक अव्यय ।

अञ्जना०—'पवनेनाहितबीजायाः केशरिपत्न्या अञ्जनायाः प्रीतिवर्धनः तनयः' इत्यर्थः । (जीवा०) ।

सीता—वच्छ, एसो कुसुमिदकदम्बतरुतण्डविअबंहिणो किंणामहेओ गिरि जत्थ अणुभाव सोहग्गमेत्तपरिसेसधूसरसिरी मुच्छदो तुए परुदिएण अवल बिदो तरुअले अज्जउत्तो आलिहिदो ? [वत्स ! एष कुसुमितकदम्बतरुताण्डवित बर्हिणः किन्नामधेयो गिरिर्यत्रानुभावसौभाग्यमात्रपरिशेषधूसरश्रीर्मूर्छस्त्वया प्ररुदितेनाव लम्बितस्तरुतल आर्यपुत्र आलिखितः ?]

दिष्टयेति । अयं = पुरोदृश्यमानः, महाबाहुः = दीर्घभुजः (अपारवीर्यवान्), अञ्जनानन्दवर्धनः = अञ्जनायाः आनन्दस्य वर्धकः हनूमानस्ति, यस्य वीर्येण = यस्य हनुमतः पराक्रमेण, वयं कृतिनः = वयं कृतार्थाः सञ्जाताः स्म, सर्वाणि च भुवनानि = जगन्ति कृतार्थानि सन्ति ।

अत्र उपकृतिक्रियायां महतश्चरित्रव्याख्यानात् उदात्तालङ्कारः । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ।

सीता—वत्स = वत्स लक्ष्मण ! एषः = चित्रे दृश्यमानः, कुसुमितेषु = सञ्जातपुष्पेषु, कदम्बतरुताण्डवितबर्हिणः = कदम्बपादपेषु ताण्डवनृत्ययुक्ता मयूरा यस्मिन् एवंविधः, किन्नामधेयो गिरिः = किन्नामधेयः पर्वतोऽयम् ? यत्र = यस्मिन् पर्वते, अनुभावसौभाग्यमात्रपरिशेषधूसरश्रीः = प्रभाववशवतः सौभाग्यमात्रस्य परिशेषेण ईषत्पाण्डुरा शोभा यस्य सः, मूर्च्छः = मूर्च्छामापद्यमानः, प्ररुदितेन त्वया = रोदनकर्त्रा त्वया लक्ष्मणेन, अवलम्बितः = धृतः, तरुतले = वृक्षस्याधोभागे, आर्यपुत्रः आलिखितः = चित्रितः ।

ताण्डविताः—'ताण्डवं प्रकृताः इति ताण्डविताः' ताण्डव + णिच् (नामधातु) + क्त, 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' (पा० ३।४।७१), अथवा 'ताण्डवानि सञ्जातानि येषां ते ताण्डविताः' 'तदस्य सञ्जातं तारकादि०' (पा० ५।२।३६) से इतच् प्रत्यय । बर्हिणः—बर्हमस्यास्तीति, बर्ह + इनच् । प्ररुदितः = प्र + √रुद् + क्त, प्रकृष्टं रुदितं यस्य सः ।

सीता—वत्स ! यह पुष्पित कदम्बपादपों पर नृत्य करते हुए मयूरों से युक्त कौन-सा पर्वत है ? जहाँ प्रभाव के सौभाग्य मात्र से अवशिष्ट ईषत्पाण्डुर शोभा से युक्त, मूर्च्छा को प्राप्त, (तथा) रोते हुए तुम्हारे द्वारा अवलम्बित, वृक्ष के नीचे आर्यपुत्र चित्रित हैं ।

ताण्डवित—तण्डु मुनि ने ताण्डवनृत्य का आविष्कार किया । 'उद्धतकरणाङ्गहारनिर्वर्त्यमारभटीवृत्तिप्रधानं गीतकानुसारित्वादादौ तण्डुमुनिना प्रणीतं ताण्डवम् ।' (क्षी० स्वा०)। आरम्भ में 'ताण्डव' विशेष नृत्य को कहते थे, किन्तु कालान्तर में यह 'नृत्य' का पर्यायवाची बन गया । पुरुष-नृत्य को ताण्डव तथा स्त्री-नृत्य को लास्य कहते हैं, ऐसा भी उल्लेख है ।

'पुंनृत्यं ताण्डवं प्रोक्तं स्त्रीनृत्यं लास्यमुच्यते ।'

बर्हिणः—'मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक् ।

शिखावलः शिखी केकी मेघनादानुलास्यपि ॥' (अमर० २।५।३०)

लक्ष्मणः—सोऽयं शैलः ककुभसुरभिर्माल्यवान्नाम यस्मि-
न्नीलः स्निग्धः श्रयति शिखरं नूतनस्तोयवाहः ।
आर्येणास्मिन्…………
रामः—…………विरमविरमातः परं न क्षमोऽस्मि
प्रत्यावृत्तः पुनरिव स मे जानकीविप्रयोगः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—'अयं सः ककुभसुरभिः माल्यवान् नाम शैलः, यस्मिन् नीलः स्निग्धः नूतनः तोयवाहः शिखरं श्रयति। अस्मिन् आर्येण……विरम विरम, अतः परं क्षमः न अस्मि, सः मे जानकीविप्रयोगः पुनः प्रत्यावृत्तः इव ॥ ३३ ॥

सोऽयमिति । अयं = पुरो दृश्यमानः, सः = प्रसिद्धः, ककुभसुरभिः = अर्जुनपुष्पैः सुगन्धितः, शैलः = पर्वतः, यस्मिन् = यस्योपरिभागे, नीलः = श्यामवर्णः, स्निग्धः = मसृणः, नूतनः = नवीनः, तोयवाहः = मेघः, शिखरं = शृङ्गं, श्रयति = अवलम्बते, अस्मिन् = अस्मिन् पर्वते, आर्येण = पूज्येन रामेण…… ।

……विरम विरम = विरामं कुरु विरामं कुरु, अतः परम् = अस्मादधिकम्, मम दशावर्णनं मा कुरु । अहमिदानीं श्रोतुमसमर्थोऽस्मि । क्षमः = समर्थः, न अस्मि = न भवामि, सः = पूर्वानुभूतः, जानकीविप्रयोगः = सीताविरहः, पुनः = भूयः, प्रत्यावृत्तः इव = प्रत्यागतः इव ॥ ३३ ॥

'एतद्धि सीताविरहरूपं भाव्यर्थमभिसन्धाय कौतूहलबहुलानां माल्यवदुपवर्णनविषयिकाणां वाचामभिधानात् 'परिभावना' नाम मुखसन्धेरङ्गं वेदितव्यम् । 'कुतूहलोत्तराः

शैलः—शिलानाम् अयं, शिलाः सन्त्यस्येति वा, शिला + अण् । ककुभः—ककुभस्तु प्रसेवकः' (अमर० १।७।७) 'नदीसर्जो वीरतरुरिन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः ।' तोयवाहः—तोयं वहति तोयवाहः, कर्मण्यण् । प्रत्यावृत्तः—प्रति–आ + √वृत् + क्त ।

लक्ष्मण—यह वही अर्जुन पुष्पों से सुरभित माल्यवान् नामक पर्वत है, जहाँ श्यामवर्ण, मसृण तथा नवीन मेघ शिखर पर आश्रय लेते हैं । आर्य ने यहाँ…

राम—रुको, रुको, इससे अधिक सुनने में समर्थ नहीं हूँ । वह मेरा सीता-विरह फिर मानों लौट आया है ॥ ३३ ॥

प्रस्तुत श्लोक की पदशय्या नितान्त सुकुमार है । इसकी तुलना 'रघुवंश' के निम्नलिखित श्लोक से की जा सकती है—

'एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तात् प्रादुर्भवत्यम्बरलेखिशृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च, त्वद्विप्रयोगाश्रुसमं विसृष्टम् ॥'

ककुभसुरभिः—अर्जुनपुष्प से सुगन्धित, तुलनीय—
'एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः' (रामा०, किष्किन्धा० २८।९)
प्रस्तुत श्लोक में 'मुखसन्धि' के 'परिभावना' अङ्ग का वर्णन है ।
भावी सीता-विरह की सूचना यहाँ दी गई है ।
विरम-विरम—सम्भ्रमे द्विरुक्तिः ।

लक्ष्मणः--अतः परमार्यस्य तत्रभवतां राक्षसानां चापरिसङ्ख्यातान्युत्तरोत्तराणि कर्माश्चर्याणि। परिश्रान्ता चेयमार्या। तद्विज्ञापयामि विश्राम्यतामिति।

सीता--अज्जउत्त, एदिणा चित्तदंसणेण पच्चुप्पण्णदोहलाए अत्थि मए विण्णावणिज्जं। [आर्यपुत्र ! एतेन चित्रदर्शनेन प्रत्युत्पन्नदोहदाया अस्ति मम विज्ञापनीयम्।]

रामः--नन्वाज्ञापय।

सीता--जाणे पुणोवि पसण्णगंभीरासु वणराइसु विहरिअ पवित्तणिम्मलसिसिरसलिलं भअवदिं भाईरहिं ओगाहिस्सं ति। [जाने पुनरपि प्रसन्नगम्भीरासु वनराजिषु विहृत्य पवित्रनिर्मलशिशिरसलिलां भगवतीं भागीरथीमवगाहिष्य इति।]

वाचः प्रोक्ता तु परिभावना' इति दर्पणोक्तेः। अत्र पूर्ववाक्यं प्रति परार्द्धस्य हेतुतयोपन्यासात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं पुनरसम्भवापातस्यातीततद्विरहस्य पुनरागमनसंशयैककोटिकतया उत्थापनादुत्प्रेक्षा, इति तयोः सङ्करः।' (जीवा०) मन्दाक्रान्ता वृत्तम्। 'मन्दाक्रान्ताऽम्बुधिरसनगैर्मो भनौ गौ ययुग्मम्' इति लक्षणात्।

लक्ष्मणः-- अतः परम् = अस्मादनन्तरम्, आर्यस्य = भवतः, लङ्कादौ विद्यमानानां राक्षसानां च, अपरिसङ्ख्यानि=अपरिमितसङ्ख्यानि, उत्तरोत्तराणि=परं परं प्रकृष्टानि, कर्माश्चर्याणि = अद्भुतकर्माणि, आलिखितानि। इयं पूज्या सीता परिश्रान्ता=क्लान्ता, तस्माद् विज्ञापयामि = निवेदयामि, विश्राम्यताम् = विश्रामः क्रियताम्।

सीता--प्रत्युत्पन्नदोहदायाः = उत्पन्नाभिलाषायाः, उत्पन्नमनोविकारायाः, मम = मे, विज्ञापनीयम् = निवेदनीयमस्ति। 'एतद्धि प्रोक्तप्राप्तिरूपबीजसन्ध्यङ्गस्य विवृतिरूपत्वमवगन्तव्यम्' (जीवा०)।

रामः--आज्ञापय = आदिश।

सीता--एतेन चित्रदर्शनेन जाने = अवगच्छामि, प्रसन्नगम्भीरासु वनराजिषु =

प्रत्युत्पन्नदोहदायाः--प्रत्युत्पन्नः दोहदः यस्यास्तस्याः। पवित्रनिर्मलशिशिरसलिलां--पवित्रं निर्मलं शिशिरं सलिलं यस्यास्ताम्। प्रसन्नः--प्र + √सद् + क्त। पवित्रः--√पू + इत्र।

लक्ष्मण--इसके अनन्तर आर्य के और राक्षसों के अगणित, क्रमशः उत्कृष्ट, आश्चर्यजनक कर्म (चित्रित) हैं। ये आर्या भी थक गई हैं, अतएव निवेदन करता हूँ कि 'विश्राम करें'।

सीता--आर्यपुत्र ! इस चित्रदर्शन से उत्पन्न मनोरथ वाली मेरा कुछ निवेदन है।

राम--हाँ, आदेश दीजिए।

सीता--सोचती हूँ एक बार पुनः प्रसन्न एवं गम्भीर वनश्रेणियों में विचरण करके पवित्र, निर्मल तथा शीतल जल से युक्त गङ्गा जी में अवगाहन करूँ।

जाने पुनरपि०--सीता के इन शब्दों में भावी निर्वासन की सूचना है।

रामः--वत्स लक्ष्मण !

लक्ष्मणः--एषोऽस्मि ।

रामः--वत्स ! अचिरादेव संपादनीयो दौर्हृद इति सम्प्रत्येव गुरुभिः सन्दिष्टम् । तदस्खलितसुखसम्पातं रथमुपस्थापय ।

सीता--अज्जउत्त, तुम्हेहिं वि आअन्दव्वं । [आर्यपुत्र ! युष्माभिरप्यागन्तव्यम् ।]

रामः--अयि कठिनहृदये ! एतदपि वक्तव्यमेव ।

सीता--तेण हि पिअं मे । [तेन हि प्रियं मे ।]

लक्ष्मणः--यथाज्ञापयत्यार्यः । (इति निष्क्रान्तः)

अरण्यपङ्क्तिषु, विहृत्य = विहारं कृत्वा, पवित्रं = पूतं, निर्मलं = स्वच्छं, शिशिरं = शीतलं, सलिलं = जलं = यस्यास्तां भागीरथीं = गङ्गाम्, अवगाहिष्ये = अवगाहनं करिष्यामि, स्नास्यामि ।

रामः—वत्स लक्ष्मण !

लक्ष्मणः—एषोऽस्मि = अयमस्मि ।

रामः—प्रिय लक्ष्मण ! अचिरादेव = शीघ्रमेव, दौर्हृदः = सीतायाः अभिलाषः, सम्पादयितव्यः = पूरयितव्यः, इति = अनेन प्रकारेण, सम्प्रत्येव = इदानीमेव, गुरुभिः सन्दिष्टं = गुरुजनैः सन्देशः प्रहितः । तस्माद्धेतोः अस्खलितः = भ्रंशरहितं, सम्पातः = गमनं यस्य तं रथमुपस्थापय = स्यन्दनमानय । ('एष गूढप्रकाशनादुद्भेदः') (वी०) । एतद्धि सीताविवासनरूपबीजार्थस्य प्ररोहीभूततया उद्भेदरूपं बीजरन्ध्यङ्गं वेदितव्यम् । 'बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः' इति लक्षणात् (जीवा०) ।

सीता—आर्यपुत्र ! भवद्भिरपि समागन्तव्यम् ।

रामः—अतिकठोरहृदये ! प्रिये ! किमु एतदपि त्वया वक्तव्यम् ?

सीता—तेन हि प्रियं मे ।

लक्ष्मणः—यदा आज्ञापयति आर्यः । (इति निष्क्रान्तः)

अस्खलितसम्पातम्—अस्खलितः सम्पातः यस्य तम् । वक्तव्यम्—√वच् + तव्यत् ।

राम—वत्स लक्ष्मण !

लक्ष्मण—मैं उपस्थित हूँ ।

राम—वत्स ! शीघ्र ही इनका मनोरथ पूर्ण किया जाय, ऐसा अभी गुरुजनों ने आदेश दिया है । अतएव अबाध गति वाला रथ लाओ ।

सीता—आर्यपुत्र ! आपको भी वहाँ चलना चाहिए ।

राम—अतिकठोर हृदये ! क्या यह भी कहने की बात है ?

सीता—तब तो हमें प्रिय ही है ।

लक्ष्मण—आर्य की जैसी आज्ञा । **(ऐसा कहकर चले जाते हैं ।)**

रामः--प्रिये ! अत्र वातायनोपकण्ठे संविश्य भव ।

सीता--एवं होदु । ओहरिदम्हि परिस्समणिद्दाए । [एवं भवतु । अपहृतास्मि परिश्रमजनितया निद्रया ।]

रामः--तेन हि निरन्तरमवलम्बस्व मामत्र शयनाय ।

जीवयन्निव ससाध्वसश्रमस्वेदबिन्दुरधिकण्ठमर्प्यताम् ।
बाहुरैन्दवमयूखचुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः ॥ ३४ ॥

रामः—प्रिये ! वातायनोपकण्ठे = गवाक्षनिकटे, संविष्टा = शयाना भव ।

सीता—एवं भवतु । अपहृतास्मि परिश्रमनिद्रया = चित्रदर्शनजन्यक्लमेन स्वापेन आकृष्टास्मि ।

अन्वयः—ससाध्वसश्रमस्वेदबिन्दुः ऐन्दवमयूखचुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः जीवयन्निव बाहुः अधिकण्ठम् अर्प्यताम् ॥ ३४ ॥

जीवयन्निति । साध्वसं = भयं, श्रमः = चित्रदर्शनेनोत्पन्न आयासः, ताभ्यां ये स्वेदबिन्दवः = घर्मबिन्दवः, तैः सहितः, अत एव ऐन्दवाः = चन्द्रसम्बन्धिनः, ये मयूखाः = किरणाः, तैः चुम्बितः = स्पृष्टः, अत एव जलस्रावयुक्तः यः चन्द्रमणिहारः = चन्द्रकान्तमणिनिर्मितहारः, तस्य इव विभ्रमः = विलासः, यस्य तथाभूतः बाहुः = स्वभुजः, समाश्वासयन्निव अधिकण्ठं = मदीये कण्ठे, अर्प्यताम् = निधीयताम् ॥ ३४ ॥

"अत्र ऐन्दवेत्यादिना सादृश्यमुक्त्वा जीवयन्निति विशेषस्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः 'व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः' इति" (वीरराघव) । अत्र भयश्रमस्वेदादयः

वातायनोपकण्ठे—वातस्य अयनं यस्मात् तद् वातायनं, तस्योपकण्ठे ।

निरन्तरम्—निर्गतमन्तरं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । ससाध्वसश्रमस्वेदबिन्दुः—साध्वसं च श्रमश्च ताभ्यां जनितो यः स्वेदस्तस्य बिन्दवः तैः सहितः । ऐन्दवमयूख-चुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः = इन्दोरिमे ऐन्दवा ये मयूखास्तैः चुम्बिता अत एव स्यन्दिनो ये चन्द्रमणयस्तेषां हारस्येव विभ्रमो यस्य तथाभूतः ।

राम—प्रिये ! खिड़की के निकट सो जाओ ।

सीता—ऐसा ही हो । थकावट की नींद से अभिभूत हूँ ।

राम—अतः यहाँ शयन करने के लिए भली-भाँति मेरा आश्रय ले लो ।

भय तथा परिश्रम के कारण स्वेदबिन्दुओं से युक्त, चन्द्रकिरणों के स्पर्श से द्रवित होने वाले चन्द्रकान्तमणि के हार की-सी शोभा वाले तथा मुझे जीवित करते हुए की तरह अपने बाहु को मेरे कण्ठ में अर्पित करो ॥ ३४ ॥

प्रस्तुत श्लोक 'मालतीमाधव' (८।३) में भी है ।

लुप्तोपमा तथा क्रियोत्प्रेक्षालङ्कार । वीरराघव के अनुसार व्यतिरेकालङ्कार; जीवानन्द 'निदर्शना' भी स्वीकार करते हैं ।

(तथा कारयन् सानन्दम्) प्रिये, किमेतत् ?

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा ।
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ॥
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो-
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च ॥ ३५ ॥

सात्त्विकभावाः—'तथाहि वैदेह्याः सुकोमलाङ्गलावण्यादीनि उद्दीपनविभावाः, निद्रा-स्वप्नजडत्वादयः व्यभिचारिणः, तैः परिपुष्टः अत्र आलम्बनविभावभूतायां सीतायां समुत्पन्नः राघवस्य रतिरूपस्थायिभावसम्भोगश्रृङ्गाररसरूपतां लभते । अपि च चन्द्र-किरणस्पृष्टार्द्रचन्द्रकान्तमणिहारधर्मस्य सीताभुजलतया धारणासम्भवाद् तदीयविभ्रम-सदृशविभ्रममवगमयतः बाहोः मणिहारादेश्च बिम्बप्रतिबिम्बबोधात् असम्भवद्वस्तु-सम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः, जीवयन्निवेत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, तदनयोः संसृष्टिः ।' (जीवा०) । रथोद्धतावृत्तम्—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ।

अन्वयः—तव स्पर्शे स्पर्शे परिमूढेन्द्रियगणः विकारः मम चैतन्यं भ्रमयति सम्मील-यति च । (अतोऽयं विकारः) सुखं वा दुःखं वा प्रमोहो वा निद्रा वा विषविसर्पः किमु, मदः किमु इति विनिश्चेतुं न शक्यः ॥ ३५ ॥

विनिश्चेतुमिति । श्रीरामः सीताया हस्तं स्वकण्ठे धारयित्वा सुखमनुभवन् कथयति—हे सीते ! तव स्पर्शे स्पर्शे = त्वदीय यावत्स्पर्शेषु, मूढेन्द्रियगणः=स्वस्वविषय-ग्रहणासमर्थः चक्षुरादीन्द्रियसमूहः येन सः, तथोक्तो मम विकारः = आन्तरावस्थाविशेषः, मम चैतन्यं = मदन्तरात्मानं, प्रतिकूलतया भासमानः सन्, भ्रमयति = क्षुब्धं करोति, अनुकूलतया भासमानः सन् सम्मीलयति = उल्लासयति च । अस्मात् कारणात् अयं विकारः सुखमिति वा दुःखमिति वा, प्रकृष्टमूर्च्छा वा स्वापो वा, विषस्य प्रसरणं किम् ? मदः किम् ? इति निर्णेतुं न शक्यः ॥ ३५ ॥

प्रमोहः—प्र + √मुह + घञ् । विसर्पः—वि + √सृप् + घञ् । स्पर्शे स्पर्शे—वीप्सा में द्विरुक्ति है । परिमूढेन्द्रियगणः—परिमूढः इन्द्रियगणः येन सः । परिमूढः—परि + √मुह् + क्त । विकारः—वि + √कृ + घञ् । सम्मीलयति—सम् + √मील् + णिच् + लट् ।

(वैसा कराते हुए आनन्दपूर्वक) प्रिये, यह क्या ?

तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रियसमूह को मूढ करने वाला विकार मेरे चैतन्य को विक्षुब्ध करता है और उल्लसित करता है । (अतएव यह विकार) सुख है अथवा दुःख है, प्रमोह है अथवा निद्रा है, विष का प्रसार है अथवा मद है ? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है ॥ ३५ ॥

यह श्लोक सम्भोग-शृङ्गार के उदाहरण के रूप में दशरूपक में उद्धृत है । (तुलनीय मालती० १।३३) यह श्लोक भवभूति के अनेक भावों को एक साथ व्यक्त करने की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की क्षमता का उत्कृष्ट उदाहरण है । सीता के स्पर्श से राम की मानसिक स्थिति का कैसा अभिराम चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

सीता—स्थिरप्पसादा तुम्हे, इदो दाणिं किं अवरं । [स्थिरप्रसादा यूयम्, इत इदानीं किमपरम् ?]

रामः—म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ॥ ३६ ॥

'अत्र पूर्वार्द्धे सुखदुःखाद्यनुभवस्य अतिप्रियस्वप्रियतमाङ्गस्पर्शेन सुखविमुग्धमानसस्य रामस्य तात्त्विकतया प्रतिभासनात् प्रतिमोत्थितत्वाभावात् वितर्कमात्रं, न तु सन्देहालङ्कारः । परार्द्धे तु बोधतिरोधानजनकबोधविकाशजनकक्रिययोः विरोधवदापाततो भासनात् प्रियास्पर्शजनितविकारत्वेन च समाधानात् विरोधालङ्कारः, तथा विकारस्य स्पर्शहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गञ्च, इत्येतयोः साङ्कर्यम्' (जीवा०) । शिखरिणी वृत्तम् ।

सीता—आर्यपुत्र ! भवतां धीरप्रसादता मयि प्रेमातिरेकः, इदानीं भवदनुग्रहात् अन्यत् किम् ?

अन्वयः—हे सरोरुहाक्षि ! एतानि ते सुवचनानि म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि, सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि, कर्णामृतानि मनसः रसायनानि च ॥ ३६ ॥

म्लानस्येति । सरोरुहाक्षि = कमलनयने ! एतानि तव सुवचनानि = सुरम्याणि वचनानि, म्लानस्य = हर्षक्षयवतः, जीवकुसुमस्य = जीवपुष्पस्य, विकासनानि = विकासजनकानि (हर्षोत्पादकानि), सन्तर्पणानि = तृप्तिजनकानि, सकलेन्द्रियमोहनानि = सर्वेषाम् इन्द्रियाणां स्वव्यापारनिरोधीनि, कर्णामृतानि = कर्णयोः अमृतप्रदाने समर्थानि, मनसः = चित्तस्य, रसायनानि = रसायनतुल्यानि ॥ ३६ ॥

'अत्र जीवे कुसुमत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः, कुसुमविकासनत्वस्य तथेन्द्रियादिसन्तर्पणत्वादीनां जानकीवचनेषु प्रमाज्ञानविषयत्वेनाविद्यमानतया आहार्यज्ञानेन चाभेदप्रतीतेर्मालारूपकालङ्कारश्च ।' (जीवा०) वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

प्रसादः—प्र + √सद् + घञ् । म्लान = √म्लै + क्त । जीवकुसुमस्य—जीव एव कुसुमं तस्य । विकासनानि—वि + √कस् + णिच् + ल्यु । सन्तर्पणानि—सम् + √तृप् + णिच् + ल्यु । सरोरुहाक्षि—सरोरुहे इव अक्षिणी यस्याः सा सरोरुहाक्षी, तत्सम्बुद्धौ हे सरोरुहाक्षि ! रसायनानि—आप्यते आनीयतेऽनेनेत्ययनम्, रसस्य अयनमिति रसायनम् तानि प्र०, ब० व० ।

सीता—मुझ पर आपका अचल अनुग्रह है, अब इसके अतिरिक्त क्या चाहिए ?

राम—हे कमललोचने ! यह तुम्हारे मृदुवचन मुरझाये हुए जीवन पुष्प को विकसित करने वाले हैं, संतृप्त करने वाले, समस्त इन्द्रियों को विह्वल करने वाले, कानों के लिए अमृतोपम तथा मन के लिए रसायन हैं ॥ ३६ ॥

सीता—पिअंवद, एहि संविसम्हा [प्रियंवद, एहि संविशावः ।] (इति शयनाय समन्ततो निरूपयति)

रामः—अयि किमन्वेष्टव्यम् ?

आविवाहसमयाद् गृहे वने शैशवे तदनु यौवने पुनः ।
स्वापहेतुरनुपाश्रितोऽन्यया रामबाहुरुपधानमेष ते ॥ ३७ ॥

सीता—(निद्रां नाटयन्ती) अत्थि एदं अज्जउत्त अत्थि एदं । [अस्त्येतदार्यपुत्र अस्त्येतत् ।] (इति स्वपिति)

सीता—प्रियंवद = प्रियभाषणशील ! एहि संविशावः = स्वपिवः (इति शयनाय = शयितुं, समन्ततः = परितः, निरूपयति = अन्विष्यति) ।

रामः—अयि ! किमन्वेष्टव्यम् = अयि ! किमन्विष्यते भवत्या ?

अन्वयः—आविवाहसमयात् शैशवे गृहे तदनु पुनः यौवने वने स्वापहेतुः, अन्यया अनुपाश्रितः एष रामबाहुः ते उपधानं (वर्तते) ॥ ३७ ॥

आविवाहसमयात् = विवाहसमयादारभ्य, शैशवे = बाल्ये, गृहे = भवने, तदनु = तदनन्तरं, पुनः = भूयः, यौवने = यौवनसमये, वने = अरण्ये, स्वापहेतुः = शयनकारणं, अन्यया = त्वद्भिन्नया स्त्रिया, अनुपाश्रितः = अनालम्बितः, एषः = अयं, रामबाहुः मम भुजः, ते = तव, उपधानम् = शिरोधानमस्ति ॥ ३७ ॥

अत्र रामबाहौ तादात्म्येनोपाधानत्वरोपात् शयनोपयोगित्वप्रतीतेश्च परिणामालङ्कारः । रथोद्धता वृत्तम् । 'रात् परैर्नरलगैः रथोद्धता' इति लक्षणात् ।

सीता—(निद्रां नाटयन्ती = स्वापमभिनयन्ती) एतत् अस्ति = भवत्कथनं सत्यम् आर्यपुत्र ! भवत्कथनं सत्यम् ।

प्रियंवद—'प्रियं वदति' इति प्रियंवदः; प्रिय + √वद् + खच्, मुमागमः । अन्वेष्टव्यः—अनु + √इष् + तव्य । शैशवम्—शिशु + ष्यञ्, शिशोर्भावः । यौवनं = यूनो भावः, युवन् + अण् । स्वापः—स्वप् + घञ् । उपधानम्—उपधीयतेऽस्मिन् शिरः, उप + √धा + ल्युट् ।

नाटयन्ती—√नट् + णिच् + शतृ + ङीप् । स्पर्शः—√स्पृश् + घञ् ।

सीता—हे प्रियभाषणशील ! आइये, शयन करें । **(ऐसा कहकर सोने के लिए चारों ओर देखती हैं ।)**

राम—अरे क्या ढूँढना है ?

विवाह के समय से लेकर शैशव में, गृह में, उसके अनन्तर पुनः यौवन में, वन में शयन का साधन किसी दूसरी स्त्री से अनाश्रित यह राम की भुजा तुम्हारा शिरोधान है ॥ ३७ ॥

सीता—(निद्रा का अभिनय करती हुई) ऐसा ही है, आर्यपुत्र ! ऐसा ही है । **(ऐसा कहकर सो जाती है ।)**

अनुपाश्रितोऽन्यया—राम की इस उक्ति से उनके एकपत्नीव्रत की सूचना मिलती है ।

रामः—कथं प्रियवचना मे वक्षसि प्रसुप्तैव। (निर्वर्ण्य सस्नेहम्)

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥ ३८ ॥

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—देव, उवट्ठिदो। [देव ! उपस्थितः।]

रामः—प्रियवचना = मृदुभाषिणी सीता, मे वक्षसि = उरसि, कथं = किं, प्रसुप्तैव निद्रितैव (सस्नेहं निर्वर्ण्य = विलोक्य)।

अन्वयः—इयं गेहे लक्ष्मीः, इयं नयनयोः अमृतवर्तिः, अस्याः असौ स्पर्शः, वपुषि बहुलः चन्दनरसः, अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणः मौक्तिकसरः। अस्याः किं न प्रेयः यदि परं विरहः असह्यः तु ॥ ३८ ॥

इयमिति। इयं = सीता, गेहे = गृहे, लक्ष्मीः = लक्ष्मीसदृशी, नयनयोः अमृतवर्तिः = नेत्रयोः अमृतशलाका, नयनानन्दकरीत्यर्थः, अस्याः असौ स्पर्शः वपुषि = शरीरे, बहुलचन्दनरसः = सघनः श्रीखण्डद्रवः, अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणः = शीतलमृदुलः, मौक्तिकसरः = मुक्ताहारः, किं बहुना ? अस्याः सर्वमपि प्रियतरम् किन्तु विरहः = वियोगः सोढुमशक्यः ॥ ३८ ॥

'अस्मिन् श्लोके आभिमानिकी रतिः, इति कण्ठाभरणम्। अत्र सीतायां लक्ष्मीत्वामृतवर्तित्वयोः अभेदारोपात् निरङ्गं रूपकं, तथा तत्स्पर्शे चन्दनरसत्वारोपात् अपरं रूपकम्, एवं तद्भुजे मौक्तिकसरत्वारोपात् निरङ्गञ्च रूपकम्, अपि च एकस्या एव सीतायाः गृहनेत्रत्वविषयभेदात् अनेकधोल्लेखात् उल्लेखः, चतुर्थपादे च विरहस्य असहनीयत्वेऽपि यच्छब्दबलात् आहृतेन सहनत्वारोपेण सीतायां सर्वविधप्रियत्वासम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिश्च।' (जीवा०) शिखरिणी वृत्तम्।

(प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा)

प्रतीहारी—देवः = महाराज ! उपस्थितः = समायातः।

राम—क्या प्रियभाषिणी मेरे वक्षःस्थल पर सो गई। **(देखकर, स्नेहपूर्वक)** यह घर में लक्ष्मी है, यह नेत्रों के लिए अमृत की अञ्जनशलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर में प्रचुर चन्दन का रस है, यह भुजा कण्ठ में शीतल तथा स्निग्ध मुक्ताहार है, इसकी कौन-सी वस्तु प्रिय नहीं है ? परन्तु इसका विरह सर्वथा असह्य है ॥ ३८ ॥

(प्रवेश करके)

प्रतीहारी—देव ! उपस्थित है।

देव उपस्थितः—रामचन्द्रजी के मुख से 'विरहः' निकलते ही प्रतीहारी सद्यः 'उपस्थितः' कहकर 'विरह' की समीपता द्योतित करती है। यह पताकास्थानक है।

रामः--अयि:, कः ?

प्रतिहारी--आसण्णपरिआरओ देवस्य दुम्मुहो। [आसन्नपरिचारको देवस्य दुर्मुखः।]

रामः--(स्वगतम्) शुद्धान्तचारी दुर्मुखः। स मया पौरजानपदेष्वपसर्पः प्रहितः। (प्रकाशम्) आगच्छतु। (प्रतिहारी निष्क्रान्ता)

प्रतिहारीशुद्धान्तरक्षिका काचित् वेत्रवती नारी; तथाहि--'सन्धिविग्रहसम्बद्धं नानाकार्यसमुत्थितम्। निवेदयति या कार्यं प्रतीहारी तु सा स्मृता'।

एतद्धि भाविविरहस्य समासन्नतासूचनाय उपन्यस्तम्। सीताविवासनरूपं प्रस्तुत-सङ्क्रान्तमर्थोपक्षेपकमेतत् तृतीयं पताकास्थानमवधेयम्। तथाहि--'इयं गेहे लक्ष्मीः' इति श्लोकस्य चतुर्थपादान्ते 'परमसह्यस्तु विरहः' इत्युक्तं राघवेण, ततः प्रतिहार्या प्रोक्तं 'देव उपस्थितः' इति, एतेन सीताविरहः भवन्तम् अचिरादेव उपस्थास्यति इति अव्यक्तार्थम् अर्थोपक्षेपकं वस्तु, विशनिश्चयप्राप्तिसहितं सदेवात्र प्रत्युत्तरोपेतसंस्थितम्। तथा चोक्तं दर्पणे--

'अर्थोपक्षेपकं वस्तुलीनं सविनयं भवेत्।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते॥'

.........धनिकमते तु--उत्तरचरितमेतत् गण्डनामकं प्रस्तावनाऽङ्गं वेदितव्यम्। प्रस्तुतस्य सीताविवासनस्य सम्बद्धतया विरहस्य सहसाऽभिधानात्। एतद्धि प्रस्तावनाऽङ्ग-भूततयाऽभिहितं मूलकृता धनञ्जयेन; तथाहि--'गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसो-दितम्।' इति। (जी०७०)

रामः--अयि कः समायातः ?

प्रतीहारी--आसन्नपरिचारकः--निकटवर्तीसेवकः दुर्मुखनामकः।

आसन्नः--आ + √सद् + क्त। परिचारकः--परि + √चर् + ण्वुल्। शुद्धान्तः--शुद्धेन अम्यते गम्यते यत्र, अथवा शुद्धाः रक्षकाः अन्ते समीपे यस्य। पौराः--पुरे

राम--अरे कौन ?

प्रतीहारी--महाराज का निकटवर्ती सेवक दुर्मुख।

राम--(स्वगत) यह अन्तःपुर में विचरण करने वाला दुर्मुख है। उसको मैंने नगरवासी और देशवासी लोगों में गुप्तचर बनाकर भेजा था। **(प्रकाश)** आये। **(प्रतीहारी चली गई)**

'यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत्॥' (साहित्यदर्पण)

धनिक इसे 'गण्ड' कहते हैं--

'गण्डः प्रस्तुतसम्बन्धि भिन्नार्थं सहसोदितम्।' (दशरूपक)

दुर्मुखः--यह गुप्तचर का नाम है। यह गुप्तचर अमङ्गलजनक तथा कष्टप्रद समाचार लाया था। इसके लाये हुए समाचार का फल यह हुआ कि श्रीरामचन्द्र जी को सीता-परित्याग करना पड़ा। ऐसे दूत को दुर्मुख कहना ही उपयुक्त है। 'रामायण' में इसका नाम भद्र है।

शुद्धान्तचारी--जो महल में विचरण कर सकता है। रानियों के महल को शुद्धान्त कहते

(प्रविश्य)

दुर्मुखः—(स्वगतम्) हा कहं दाणिं देवीमंतरेण ईरिसं अचिन्तणिज्जं जणाववादं देव्वस्स कहइस्सं। अहवा णिओओ क्खु मह मंदभाअहेअस्स एसो। [हा कथमिदानीं देवीमन्तरेण ईदृशमचिन्तनीयं जनापवादं देवस्य कथयिष्यामि ? अथवा नियोगः खलु मम मन्दभागधेयस्यैषः।]

सीता—(उत्स्वप्नायते) हा अज्जउत्त कहिं सि ? [हा आर्यपुत्र ! कुत्रासि ?]

रामः—सैवेयं रणरणकदायिनी चित्रदर्शनाद्विरहभावना देव्याः स्वप्नोद्योगं करोति। (सस्नेहमङ्गमस्याः परामृशन्)

रामः—(स्वगतम् = आत्मगतम्) शुद्धान्तचारी=अन्तःपुरसञ्चरणशीलः दुर्मुखः। सः मया, नगरे देशे वा मदीयां स्तुतिं निन्दां वा कीदृशीं कुर्वन्ति लोकाः, इति गुप्तरूपेण ज्ञातुं प्रेषितः। (प्रकाशम्) आगच्छतु।

(प्रतीहारी निष्क्रान्ता = निर्गता)

दुर्मुखः—दुर्मुखः प्रविश्य स्वगतमाह—हा ! देव्याः विषये अधुना केन प्रकारेण ईदृशं चिन्तयितुमपि अशक्यं जनापवादं = लोकापवादं महाराजस्य निवेदयिष्यामि ? सर्वथा अकथनीयः अयं संवादः अथवा मम मन्दभागधेयस्य = अल्पभागस्य ईदृशः नियोगः = अधिकारः।

सीता—(उत्स्वप्नायते = स्वप्नदर्शनेन प्रलपति) हा आर्यपुत्र ! कुत्रासि ?

रामः—सा = पूर्वानुभूता एव, इयम् = एषा, रणरणकदायिनी = विक्षोभकारिणी, चित्रदर्शनात् विरहभावना = वियोगचिन्ता देव्याः स्वप्नोद्योगम् = निद्रायां वचनादिप्रयत्नं करोति। (सस्नेहं=प्रेमपूर्वकम्, अस्याः = सीतायाः, परामृशन्=शरीरं स्पृशन्)

भवाः, पुर + अण्। अपसर्पः—अप पृष्ठतः (प्रच्छन्नं) सृपति चरति; अप + √सृप् + अप्। प्रहितः—प्र + √हि + क्त। प्रतीहारी—प्रतिह्रियते निवार्यते प्रवेशोऽनया, प्रति + हृ + घञ्। देवीमन्तरेण—'अन्तरान्तरेण युक्ते' इति द्वितीया। नियोग—√नि + युज् + घञ्। उत्स्वप्नायते—उत्स्वप्न इव आचरति; उत्स्वप्न + क्यङ्। परामृशन्—परा + √मृश् + शतृ।

(प्रवेश कर)

दुर्मुख—(स्वगत) हा ! अब मैं कैसे देवी सीता के इस अचिन्तनीय लोकापवाद को महाराज से निवेदन करूँ ? अथवा मुझ अभागे का यह कर्तव्य ही है।

सीता—(स्वप्न में बड़बड़ाती हैं) आर्यपुत्र ! आप कहाँ हैं ?

राम—चित्रदर्शन के कारण उत्पन्न, विक्षुब्ध करने वाली वियोग-चिन्ता देवी सीता के स्वप्न में भी उद्योग करती है। **(स्नेहपूर्वक सीता का अङ्ग स्पर्श करते हुए)**

हैं, क्योंकि उसमें शुद्ध चरित्र वाली देवियाँ ही निवास करती हैं। वहाँ किसी दुश्चरित्र का प्रवेश सम्भव नहीं है। दुर्मुख को शुद्धान्तचारी कहने का तात्पर्य यह है कि यह उत्कृष्ट चरित्र का व्यक्ति है। जो समाचार यह लाया है वह अवश्यमेव सत्य होगा !

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते ॥ ३९ ॥

अन्वयः—यत् सुखदुःखयोः अद्वैतं, सर्वासु अवस्थासु अनुगतं, यत्र हृदयस्य विश्रामः, यस्मिन् रसः जरसा अहार्यः, यत् कालेन आवरणात्ययात् परिणते प्रेमसारे स्थितं तस्य सुमानुषस्य तत् एकं भद्रं कथमपि हि प्रार्थ्यते ॥ ३९ ॥

अद्वैतमिति। यत्=दाम्पत्यं, अद्वैतं=द्वैतरहितं सुखदुःखयोः अभिन्नम्। सर्वासु अवस्थासु=सम्पत्सु विपत्सु च, अनुगतम्=सहचरितम्, यत्र=यस्मिन् दाम्पत्ये, हृदयस्य=मनसः, विश्रामः=श्रमापनयनकरसुखविशेषानुभवः, यस्मिन्=दाम्पत्ये, रसः=अनुरागः, जरसा=वृद्धावस्थया, अहार्यः=हर्तुमशक्यः, यत्=दाम्पत्यं, कालेन=समयेन, आवरणात्ययात्=विवाहादारभ्य मरणपर्यन्तम्, सङ्कोचादिरूपप्रति-

---

अद्वैतम्—अविद्यमानं द्वैतं यस्मिन्, द्वयोर्भावः द्विता तत्र भवं द्वैतम् अथवा द्वे इते यस्मात्तद् द्वीतं तत्र भवं द्वैतम्। विश्रामः—यह अपाणिनीय प्रयोग है, किन्तु कतिपय विद्वानों ने इसका समाधान इस प्रकार किया है—श्रम एव श्रामः, 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्यण्। अत्ययः—अति + √इ + अच्।

जो दाम्पत्य सुख और दुःख में एक रूप है, सभी अवस्थाओं में अनुसरण करने वाला है, जिसमें हृदय का विश्राम है, जिसमें वृद्धावस्था से अनुराग छीना नहीं जा सकता है, जो समय पाकर आवरण के नष्ट हो जाने के कारण (संकोचों के समाप्त हो जाने के कारण) अथवा विवाह से लेकर मरणपर्यन्त परिपक्व उत्कृष्ट प्रेम में अवस्थित है, उस दाम्पत्य का वह एक कल्याण किसी प्रकार (बड़े पुण्य से) प्राप्त किया जाता है ॥ ३९ ॥

पवित्र प्रेम के उपासक भवभूति का प्रेम उपासना के स्तर से बहुत ही ऊँचा है। इस श्लोक के सम्बन्ध में प्रो० काले का मत द्रष्टव्य है—

'What a grand ideal of conjugal love, the poet gives us here! Rama's words are not an effusion of youthful passion untried or inexperienced, but passion tempered down by experience and long association. It is impossible to describe a husband's love and regard for his wife more effetively or naturally than the poet has done here'.

प्रस्तुत श्लोक की विभिन्न टीकाकारों ने विभिन्न व्याख्या प्रस्तुत की है। इसके प्रकृत विषय के सम्बन्ध में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। वीरराघव के अनुसार इसमें 'दाम्पत्य' का वर्णन है। इसके विपरीत घनश्याम के अनुसार 'सौजन्य' का वर्णन है।

आवरणात्ययात्……स्थितम्—इसके दो अर्थ हैं—१. जो अनुराग-समय व्यतीत होने पर संकोच आदि के हट जाने से परिपक्व होता है और २. जो विवाह से मृत्यु-पर्यन्त परिपक्वावस्था में रहता है।

प्रेमसारे—इसमें 'वीरराघव' ने यह ध्वनि निकाली है—'प्रेमसारे स्थितमित्यनेन मधुकटाहनिक्षिप्तरसालफलसादृश्यं कथ्यते।

दुर्मुखः—(उपसृत्य) जेदु देव्वो । [जयतु देवः ।]

रामः—ब्रूहि यदुपलब्धम् ।

दुर्मुखः—उवत्थुवन्ति देवं पौरजाणपदा विसुमरिदा अम्हे महाराअदसरहस्स रामभद्देणत्ति । [उपस्तुवन्ति देवं पौरजानपदाः विस्मारिता वयं महाराजदशरथस्य रामभद्रेणेति ।]

रामः—अर्थवाद एषः । दोषं तु मे कञ्चित्कथय येन स प्रतिविधीयते ।

दुर्मुखः—(सास्रम्) सुणादो देओ । (कर्णे) एव्वं विअ । इति । [श्रृणोतु देवः । (कर्णे) एवमिव ।]

बन्धकस्य अपगमात् वा । परिणते = परिपक्वे, प्रेमसारे = उत्तमे प्रेम्णि, स्थितं = परिनिष्ठितं, तस्य = पूर्वोक्तस्य, सुमानुषस्य = दाम्पत्यस्य, तत् = प्रसिद्धम्, एकं = मुख्यं, भद्रं = कल्याणं, कथमपि = सर्वात्मना, प्रार्थ्यते = अभिलष्यते ॥ ३९ ॥

अत्र फलविषयकौत्सुक्यप्रतिपादनादारम्भ उक्तः । तदुक्तम्—'औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे' । अत्र प्रस्तुतायाः सीतायाः इति वक्तव्ये 'सुमानुषस्य' इति कथनात् अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारः, स च चतुर्थपादं प्रति हेतुत्वेनोपेतानां पादत्रयाणां वाक्यभूतानां निष्पादकत्वात् समुद्भूतेन काव्यलिङ्गेन सङ्कीर्यते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः स गुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।'

दुर्मुखः—विजयतां महाराजः ।

रामः—कथय यत् ज्ञातम् ।

दुर्मुखः—जनाः महाराजस्य स्तुतिं कुर्वन्ति, कथयन्ति च यत् महाराजदशरथस्य अपि राज्ये एवंविधं सुखं नास्ति ।

रामः—मम स्तुतिः अर्थवादरूपैवास्ति । (स्तुतिनिन्दापरकं वाक्यम् 'अर्थवादः' इति कथ्यते ।) दोषन्तु मम वद । येन तस्य समाधानं कृत्वा प्रजासहानुभूतिं प्राप्नुयामः ।

उपलब्धं—उप् + √लभ् + क्त ।

दुर्मुख—(समीप जाकर) महाराज की जय हो ।

राम—कहो, जो ज्ञात किया है ।

दुर्मुख—नगरवासी महाराज की प्रशंसा करते हैं कि महाराज राम के कारण हम लोग महाराज दशरथ को भूल गये हैं ।

राम—यह तो प्रशंसा मात्र हुई । मेरे दोष को भी कहो, जिससे प्रतीकार किया जाय ।

दुर्मुख—(अश्रुपूर्वक) महाराज सुनें । (कान में) इस प्रकार ।

अर्थवाद—यह 'पूर्वमीमांसा' दर्शन का पारिभाषिक शब्द है । इसमें सामान्यतया किसी वैदिक विधि के प्रयोजन का कथन अथवा उसकी प्रशंसा होती है । अतएव कालान्तर में 'अर्थवाद' शब्द प्रशंसा मात्र के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा । श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्रशंसा नहीं अपितु यथार्थ आलोचना सुनना चाहते हैं । यह उनके चरित्र का वैशिष्ट्य है ।

रामः—अहह ! तीव्रसंवेगो वाग्वज्रः । (इति मूर्च्छति)

दुर्मुखः—आस्ससदु देव्वो । [आश्वसितु देवः ।]

रामः—(आश्वस्य)

हा हा धिक् ! परगृहवासदूषणं यद्वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतैरुपायैः ।
एतत्तत्पुनरपि दैवदुर्विपाकादालर्कं विषमिव सर्वतः प्रसक्तम् ॥ ४० ॥

दुर्मुखः—(अश्रुभिः सह) महाराजः शृणोतु । (कर्णे) अनेन प्रकारेण ।

(कर्णे—'अर्थस्त्वेकेन विज्ञेयः पश्चाज्ज्ञात्वा प्रसङ्गतः ।
कर्णे एवमित्युक्त्वा काव्यबन्धे प्रयुज्यते ॥')

रामः—अतिदुःसहः वाग्वज्रः (वागेव वज्रः, 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति रूपकसमासः) (इति मूर्च्छति) ।

दुर्मुखः—आश्वसितु देवः=सुस्थितो भवतु महाराजः ।

अन्वयः—हा हा धिक् ! वैदेह्याः यत् परगृहवासदूषणम् अद्भुतैः उपायैः प्रशमितं दैवदुर्विपाकात् तत् एतत् पुनरपि आलर्कं विषमिव सर्वतः प्रसक्तम् ॥ ४० ॥

हा हा धिगिति । आश्वासं प्राप्य रामः आह—हा हा कष्टम् ! सीतायाः यत् परगृहवासदूषणं=परपुरुषभवननिवासदूषणम्, अद्भुतैः उपायैः=अग्निशुद्ध्यादिरूपैः,

---

आलर्कं—अलर्कस्येदम्, अलर्क+अण् ।

राम—ओह ! यह वाणी रूपी वज्र दुःसह वेग वाला है । **(मूर्च्छित हो जाते हैं)**

दुर्मुख—महाराज ! आश्वस्त हों ।

राम—**(आश्वस्त होकर)**

हाय ! हाय !! धिक्कार है ! सीता का जो परगृह-निवासरूप दोष (अग्निशुद्धिरूप) विचित्र उपायों से शान्त किया गया था, भाग्य के दुष्परिणाम से वही पागल कुत्ते के विष के समान चारों ओर फैल गया है ॥ ४० ॥

एवमिव—रामायण में लोकापवाद का वर्णन निम्नलिखित श्लोकों में किया गया है—

'कीदृशं हृदये तस्य, सीता सम्भोगजं सुखम् ।
अङ्कमारोप्य तु पुरा, रावणेन बलाद्धृताम् ॥
लङ्कामपि पुरीं नीतामशोकवनिकां गताम् ।
रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न कुत्सति ?
अस्माकमपि दारेषु, सहनीयं भविष्यति ।
यथा हि कुरुते राजा प्रजा तमनुवर्तते ॥
एवं बहुविधा वाचो वदन्ति पुरवासिनः ।
नगरेषु च सर्वेषु, राजन् ! जनपदेषु च ॥'

अद्भुतैः उपायैः—अग्नि-परीक्षा रूप अद्भुत उपायों से । इसका वर्णन रामायण में निम्नलिखित श्लोकों में किया गया है—

'एवमुक्त्वा तु वैदेही परिक्रम्य हुताशनम् ।
विवेश ज्वलनं दीप्तं निःशङ्केनान्तरात्मना ॥

रामः—तत्किमद्य मन्दभाग्यः करोमि। (विमृश्य सकरुणम्) अथवा किमेतत्?

सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं व्रतम्।
यत्पूरितं हि तातेन मां च प्राणांश्च मुञ्चता ॥ ४१ ॥

सम्प्रत्येव च भगवता वसिष्ठेन सन्दिष्टम्। अपि च—

विचित्रैः उपायैः, प्रशमितं = दूरीकृतम्, दैवदुर्विपाकात् = भाग्यस्य दुष्परिणामात् तत् एतत् भूयोऽपि, आलर्कं विषमिव = कुक्कुरदंशविषमिव, प्रसक्तं = सर्वत्र संसक्तम्।

एकत्र स्पर्शः कालान्तरेण सर्वतः प्रसरणमिति भावः। अत्र उपमालङ्कारः। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ४० ॥

लोकापवादस्य सर्वतः प्रसक्तत्वात् अस्मिन् विषये, मन्दभाग्यः = हीनभाग्यः अहं, किं करोमि = सम्पादयामि। (विमृश्य सकरुणं = विचार्य सशोकम्) अथवा किं विचारणीयम्?

अन्वयः—केनापि कार्येण लोकस्य आराधनं सतां व्रतम्। यत् तातेन मां च प्राणांश्च मुञ्चता पूरितम् ॥ ४१ ॥

सतामिति। केनापि=येन केनापि प्रकारेण, लोकस्य आराधनं=लोकस्य अनुरञ्जनं, सतां व्रतं = सज्जनानामवश्यकरणीयं कर्म। यद् व्रतं, तातेन = पित्रा मां च प्राणांश्च = असून् च, मुञ्चता = त्यजता, पूरितं = परिपूर्णं कृतम् ॥ ४१ ॥

'अत्र सतां केनाप्युपायेन प्रकृतिरञ्जनं करणीयमिति सामान्येनाऽप्रस्तुतेन मया येन केनापि तत् करणीयमेवेति विशेषावगतिः अप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः, मया जनरञ्जनं करणीयमित्यस्य पुत्रजीवितयोरत्ययेनापि पितृकर्तृकजनरञ्जनकृतत्वरूपस्वकारणेन समर्थनादर्थान्तरन्यासालङ्कारश्च; तथा मोचनक्रियाऽभिसम्बद्धयोः प्रस्तुतयोः माञ्च प्राणांश्चेत्यनयोरन्वयादङ्गाङ्गिभावेन तुल्ययोगिता सङ्कीर्णौ।' (जीवा०) अनुष्टुप् वृत्तम्।

सम्प्रति इति। सम्प्रत्येव = इदानीमेव, कुलगुरुणा वसिष्ठेन, सन्दिष्टं = सन्देशः प्रेषितः। अपि च—

विमृश्य—वि + √मृश् + ल्यप्। आराधनम्—आ + राध् + ल्युट्। पूरितं—√पुर् + क्तः।

तो इस सम्बन्ध में भाग्यहीन मैं क्या करूँ? (**विचार करके करुणा के साथ**) किसी भी उपाय से लोकानुरञ्जन ही सज्जनों का व्रत है, जिसे पिता ने मुझको तथा प्राणों को छोड़ते हुए पूरा किया ॥ ४१ ॥

अभी भगवान् वसिष्ठ ने सन्देश दिया है। और भी—

विधूयाथ चितां तां तु वैदेहीं हव्यवाहनः।
उत्तस्थौ मूर्तिमानाशु गृहीत्वा जनकात्मजाम् ॥
अब्रवीत्तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः।
एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते ॥'

यत्साविन्नैर्दीपितं भूमिपालैर्लोकश्रेष्ठैः साधु चित्रं चरित्रम्।
मत्सम्बन्धात्कश्मला किंवदन्ती स्याच्चेदस्मिन्हन्त धिङ्मामधन्यम् ॥ ४२ ॥

रामः--हा देवि देवयजनसम्भवे ! हा स्वजन्मानुग्रहपवित्रितवसुन्धरे ! हा मुनिजनकनन्दिनि ! हा पावकवसिष्ठारुन्धतीप्रशस्तशीलशालिनि ! हा राममयजीविते ! हा महारण्यवासप्रियसखि ! हा तातप्रिये ! हा स्तोकवादिनि ! कथमेवंविधायास्तवायमीदृशः परिणामः ?

अन्वयः--लोकश्रेष्ठैः सावित्रैः भूमिपालैः यत् चित्रं चरित्रं साधुदीपितम्, अस्मिन् मत्सम्बन्धात् कश्मला किंवदन्ती स्यात् चेत् हन्त ! अधन्यं मां धिक् ॥ ४२ ॥

यदिति । लोकश्रेष्ठैः=भुवनश्रेष्ठैः, सावित्रैः=सूर्यात् जायमानैः, भूमिपालैः=नृपतिभिः, यत् चित्रम्=अद्भुतं, चरित्रं=वृत्तं, साधु दीपितं=प्रकाशितम्, अस्मिन्=चरित्रे, मत्सबन्धात्=मत्सम्पर्कात्, कश्मला=हेया किंवदन्ती, चेत्=यदि स्यात्, अधन्यं=पुण्यरहितं, मां=रामं धिक् । 'सावित्रैः' इत्यनेन अभिजन उक्तः । 'भूमिपालैः' इत्यनेन क्षत्रधर्मभूतभूमिपालनात्मकवृत्तमुक्तम् ।

एतस्मिन् शोकरूपस्थायिभावः करुणरसतां भजते । अत्र प्रसिद्धैः भूमिपालैः महनीयैः कर्मभिः उद्दीपिते अधन्येन स्वेन च सीतावनवासरूपातिजुगुप्सितकर्मणा कौलीनारोपणात् दूषिते सवितुरेकस्मिन् वंशे पूतत्वकश्मलत्वयोरन्योऽन्यविरुद्धधर्मयोः सङ्घटनाद् विषमालङ्कारः । शालिनीवृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' ॥ ४२ ॥

हा देवीति । स्वतो निर्दोषेत्याह—हा देवि ! उत्पत्तिवंशदोषोऽपि नास्तीत्याह—देवयजनसम्भवे=देवाः इज्यन्ते अस्मिन्निति देवयजनं=यज्ञभूमिः, तस्मात् सम्भवः=

सावित्रैः—सवितृ+अण्, सवितुः अपत्यानि पुमांसः इति सावित्राः, तैः । भूमिपालैः—भूमिं पालयन्ति तैः; भूमि-√पाल्+अण् । कश्मला—√कश्+कल्+मुट् । किंवदन्ती—किम्+√वद्+अच्+ङीप् । अधन्यम्—न धन्यः अधन्यः ।

वसुन्धरा—वसून् धारयति, वसु+√धृ+खच् । पवित्रितः—पवित्रं करोति

लोकश्रेष्ठ सूर्यवंशी महीपतियों द्वारा जो विचित्र चरित्र भली-भाँति प्रकाशित किया गया, उस चरित्र में मेरे कारण हेय जनापवाद यदि हो जाय तो कष्ट है, मुझ पुण्यहीन को धिक्कार है ॥४२॥

हा देवि ! यज्ञभूमि से उत्पन्न होने वाली ! हा अपने जन्म रूप अनुग्रह से वसुन्धरा को पवित्र करने वाली ! हा विदेहानन्दकारिणि ! हा अग्नि, वसिष्ठ और अरुन्धती द्वारा प्रशंसनीय

द्रष्टव्य है कि राम जनापवाद के सम्बन्ध में प्रजा को दोष नहीं दे रहे हैं, अपितु अपने कर्त्तव्य पर ही विचार कर रहे हैं।

देवयजनसम्भवे—इससे सीताजी की परमपवित्रता ध्वनित होती है।

स्वजन्मानुग्रहपवित्रितवसुन्धरे—इससे 'तुम्हारा जन्म पृथ्वी के कल्याण के निमित्त ही हुआ है'—यह अर्थ व्यञ्जित होता है।

मुनिजनकनन्दिनि—इससे परमपवित्रता व्यक्त होती है।

पावकवसिष्ठारुन्धतीप्रशस्तशीलशालिनि—इससे भी उत्तम चरित्रता व्यञ्जित होती है।

त्वया जगन्ति पुण्यानि त्वय्यपुण्या जनोक्तयः।
नाथवन्तस्त्वया लोकास्त्वमनाथा विपत्स्यसे ॥ ४३ ॥

उत्पत्तिस्थानं, यस्याः सा देवयजनसम्भवा, तत्सम्बुद्धौ हे देवयजनसम्भवे = यज्ञभूमिसमुत्पन्ने ! स्वोत्पत्तिभूमेरपि शुद्धिजननीत्याह—स्वजन्मानुग्रहपवित्रितवसुन्धरे—स्वजन्म एव अनुग्रहः = प्रसादः, तेन पवित्रिता = पवित्रीकृता, वसुन्धरा = भूमिः, यया तत्सम्बुद्धौ। सम्पर्कवशदोषोऽपि नास्तीत्याह—मुनिजनकनन्दिनि = मुनिजनकानन्दकारिणि ! नन्दीनीत्यनेन औरसकन्यापेक्षयाभिमतेति व्यज्यते। गुरुदेवताभिमतेत्याह—पावकवसिष्ठारुन्धतीप्रशस्तशीलशालिनि = पावकवसिष्ठारुन्धतीभिः प्रशस्तं = स्तुतं, यत् शीलं = स्वभावः, तेन शालते = शोभते, तत्सम्बुद्धौ। तद्विवृणोति—राममयजीविते—राममयं जीवितं यस्यास्तत्सम्बुद्धौ। अनेन रावणस्मरणमपि दूरोत्सारितमिति व्यज्यते। पातिव्रत्यं निदर्शयति—महारण्यवासप्रियसखि = महावनवासे प्रियसहचरि ! हा तातप्रिये = पितुर्दशरथस्याभिमते ! 'वधू चतुष्केऽपि' इत्यादिवक्ष्यमाणरीत्येति भावः। स्तोकवादिनि = अल्पभाषिणि ! निमित्तलेशाभावेऽपि कथमयं परिणामः ?

अत्र समुदायवाक्ये तु एतेषामेव प्रकृतार्थपरिपोषणाभिप्रायेण प्रयुक्तानां विशेषणसङ्घानां साभिप्रायकतया परिकरालङ्कारः। तल्लक्षणम्—'उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः।'

अन्वयः—त्वया जगन्ति पुण्यानि (सन्ति), त्वयि अपुण्या जनोक्तयः (सन्ति)। त्वया लोकाः नाथवन्तः (सन्ति), त्वम् अनाथा विपत्स्यसे ॥ ४३ ॥

त्वयेति। त्वया = सीतया, जगन्ति = भुवनानि, पुण्यानि = पुण्यवन्ति, त्वयि = तव विषये, अपुण्याः = अपवित्राः, जनोक्तयः = लोकस्य उक्तयः सन्ति। त्वया लोकाः = भुवनानि, नाथवन्तः = स्वामिवन्तः। अहं लोकानामधीशः, मम त्वं नाथा। तथा च—'यस्यैते तस्य तद्धनम्' इति न्यायेन लोकानामपि त्वमेव मार्गदर्शिका इत्याशयः। त्वम् अनाथा = स्वमिरहिता, विपत्स्यसे = विपन्ना भविष्यसि।

अत्र विरोधाभासोऽलङ्कारः। तल्लक्षणञ्च यथा—'जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः। क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ॥ विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः'। अनुष्टुप्छन्दः ॥ ४३ ॥

पवित्रयति, 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्, ततः कर्मणि क्तः। शालिनी—शालते शोभते, ताच्छील्ये णिनिः, ततो ङीप्। परिणामः—परि + √नम् + घञ्, णत्व।

चरित्र वाली ! हा राममय जीवन वाली ! हा भयङ्कर वनवास की प्रिय सहचरि ! हा पिताजी की स्नेहभाजन ! हा स्वल्पभाषिणि ! ऐसी होने पर भी (इन उपर्युक्त गुणों के विद्यमान होने पर भी) तुम्हारा ऐसा परिणाम ?

तुमसे समस्त संसार पवित्र है, (किन्तु) तुम्हारे विषय में अपवित्र जनापवाद है। तुमसे समस्त लोक सनाथ है, (परन्तु) तुम अनाथ होकर विपत्ति झेलोगी ॥ ४३ ॥

विरोधाभास अलङ्कार। वीरराघव के अनुसार विभावना अलङ्कार तथा जीवानन्द के अनुसार विषम अलङ्कार।

(दुर्मुखं प्रति) दुर्मुख ! ब्रूहि लक्ष्मणम्। एष नूतनो राजा रामः समाज्ञापयति । (कर्णे) एवमेवम् । इति ।

दुर्मुखः—हा कहं दाणिं अग्गिपरिसुद्धाए गब्भट्ठिदपवित्तरहुउलसंताणाए देइए दुज्जणवअणादो एव अणज्जं अज्झवसिदं देव्वेण । [हा कथमिदानीमग्निपरिशुद्धाया गर्भस्थितपवित्ररघुकुलसन्तानाया देव्या दुर्जनवचनादेवमनार्यमध्यवसितं देवेन ?]

रामः—शान्तं पापम्, शान्तं पापम्, दुर्जना नाम पौरजानपदाः ।

इक्ष्वाकुवंशोऽभिमतः प्रजानां जातं च दैवाद्वचनीयबीजम् ।
यच्चाद्भुतं कर्म विशुद्धिकाले प्रत्येतु कस्तद्यदि दूरवृत्तम् ॥ ४४ ॥

दुर्मुखमुद्दिश्य कथयति श्रीरामचन्द्रः—दुर्मुख ! लक्ष्मणस्य सविधे गत्वा ममादेशं श्रावय—एष नूतनः=नवीनः, राजा रामचन्द्रः समाज्ञापयति=समादिशति । अत्र नूतनपदेन अनुल्लङ्घनीयाज्ञत्वमिति व्यज्यते । (कर्णे) 'पञ्चवटीवने सीता नेतव्या, तत्रैव परित्याज्या च' इति दुर्मुखकर्णे कथितं लक्ष्मणं प्रति रामवचनमनुसन्धेयम् ।

दुर्मुखः—केन हेतुना सम्प्रति अग्निपरिशुद्धायाः=वह्निपवित्रायाः, गर्भस्थितपूतरघुवंशसन्तानायाः, देव्याः=राजमहिष्याः सीतायाः सम्बन्धे, दुर्जनवचनात्=दुष्टवाक्यात्, एवमनार्यम्=इदं त्यागरूपं कर्म, देवेन=महाराजेन, अध्यवसितं=निश्चितम् ।

दुर्मुखस्य मुखात् 'दुर्जनवचनात्' इति निशम्य श्रीरामः आह—मैवं भण । केन हेतुना पुरवासिनः दुष्टाः ? ते सज्जनाः सन्ति ।

अन्वयः—इक्ष्वाकुवंशः प्रजानाम् अभिमतः दैवात् वचनीयबीजं च जातम् । विशुद्धिकाले च यत् अद्भुतं कर्म, तत् यदि दूरवृत्तं कः प्रत्येतु ? ॥ ४४ ॥

अभिमतः—अभि + √मन् + क्तः । जातं—√जन् + क्तः ।

(दुर्मुख से) दुर्मुख ! लक्ष्मण से कहो । यह नवीन राजा राम आदेश देता है । (कान में) इस प्रकार ।

दुर्मुख—हा ! कैसे अग्नि द्वारा परिशुद्ध, गर्भस्थ रघुवंश की पवित्र सन्तान धारण करने वाली महारानी सीता के लिए दुष्टों के कहने से आपने ऐसा निश्चय कर लिया ?

पाप शान्त हो, पाप शान्त हो । नागरिक और देशवासी दुर्जन हैं ?

इक्ष्वाकुवंश प्रजाओं का प्रिय है, परन्तु दुर्भाग्यवश उसमें जनापवाद का कारण हो गया है । विशुद्धि के समय जो अद्भुत कर्म हुआ, तो भी अतिदूर प्रदेश में किये गये उसका कौन विश्वास करे ? ॥ ४४ ॥

नूतनः राजा—अपने प्रति राम की व्यंग्योक्ति है । नवीन पद पर प्रतिष्ठित होने के कारण राम कोई भी आदेश दे सकते हैं । प्रारम्भिक दिनों में शासक अत्यधिक कठोर होता है । कोई भी उसका विरोध नहीं कर सकता है । अथवा 'नूतन राजा' का अर्थ अनूठा राजा भी हो सकता है । बिना किसी अपराध के पत्नी-परित्याग करने वाले राम अनूठे नहीं हैं तो क्या है ?

दुर्जना नाम पौरजानपदाः ?—श्रीराम का अपनी प्रजा के प्रति इतना अनुराग है कि वे उसकी कोई भी शिकायत सुनने को तैयार नहीं हैं । स्वयं महान् से महान् त्याग कर देंगे, किन्तु प्रजा के प्रति कोई भी अपशब्द उन्हें सह्य नहीं है ।

तद्गच्छ ।

दुर्मुखः—हा देई । [हा देवि !]

(इति निष्क्रान्तः)

रामः—हा कष्टम् । अतिबीभत्सकर्मा नृशंसोऽस्मि संवृत्तः ।

शैशवात्प्रभृति पोषितां प्रियां सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम् ।
छद्मना परिददामि मृत्यवे सौनिके गृहशकुन्तिकामिव ॥ ४५ ॥

इक्ष्वाकुवंश इति । इक्ष्वाकुकुले प्रजानां प्रीतिः सदैव आसीत् । अद्य दैवात्=दैवदुर्विपाकात्, वचनीयस्य=निन्दायाः, बीजं=कारणं, जातम्=उपस्थितम् । परीक्षासमये यत् आश्चर्ययुक्तं कार्यं तत् यदि दूरदेशे ज्ञातं कः पुरुषः प्रत्येतु=विश्वसितु ? न कोऽपीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

('अत्र वचनीयबीजं प्रति प्रजानुरक्तिर्दैवायत्तत्वात् दूरवृत्तत्वादिरूपाणां भूयसां कारणानां खले कपोतिकान्यायात् तत्करत्वेनाभिधानात् समुच्चयालङ्कारः, अपि च प्रत्ययाभावरूपकार्यं प्रति दूरवृत्तत्वपदार्थस्य हेतुत्वेनोत्कीर्त्तनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमित्यनयोरन्योऽन्यसापेक्षतया सङ्करः'—जीवा०) इन्द्रवज्रावृत्तम् । 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति लक्षणात् ।

रामः—हा कष्टं वर्तते । अतिबीभत्सकर्मा=अतिघृणितकर्मा, नृशंसः=अतिक्रूरः, संवृत्तः=जातोऽस्मि ।

अन्वयः—शैशवात् प्रभृति पोषितां सौहृदात् अपृथगाश्रयाम् इमां प्रियां सौनिके गृहशकुन्तिकामिव छद्मना मृत्यवे परिददामि ॥ ४५ ॥

अतिबीभत्सकर्मा—अतिशयेन बीभत्सं कर्म यस्य सः । बीभत्स—√बध् + सन् + अच् । नृशंस—नृ + √शस् + अच् । सौहृदात्—शोभनं हृदयं यस्य सः सौहृदः । 'सुहृदस्य भावः' इस विग्रह में सुहृदय + अण् 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु (पा० ६।३।५०) सूत्र के अनुसार अण् प्रत्यय परे रहने पर हृदय शब्द को हृद आदेश होने पर सौहृद शब्द बनता है, किन्तु 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' (पा० ७।३।१९)

तो जाओ ।

दुर्मुख—हा देवि ! (चला जाता है)

राम—हाय कष्ट है ! अत्यन्त घृणित कार्य करने वाला मैं क्रूर हो गया हूँ ।

बचपन से लेकर पाली गयी, अतिशय प्रीति के कारण अभिन्न आश्रयवाली प्रिय सीता को, मांसविक्रयी हिंसाजीवी के लिए घर की पालतू चिड़िया के समान, छलपूर्वक मृत्यु के लिए अर्पित कर रहा हूँ ॥ ४५ ॥

जातं च दैवात् वचनीयबीजम्—दुर्भाग्यवश लोकापवाद का कारण उत्पन्न हो गया है । रावण ने सीता को दस मास तक बलपूर्वक अपने घर पर रखा था ।

अतिदूरवृत्तम्—यह अग्निशुद्धि रूप अद्भुत कर्म अयोध्या से अतिदूर लंकाद्वीप में हुआ ।

कुछ पुस्तकों में 'प्रिया' के स्थान पर 'प्रियैः' पाठ स्वीकार किया गया है । अर्थ होगा—प्रियजनों द्वारा परिपालित ।

तत्किमस्पृश्यः पातकी देवीं दूषयामि ? (इति सीतायाः शिरः समुन्नमय्य बाहुमाकृष्य)

अपूर्वकर्मचण्डालमयि मुग्धे ! विमुञ्च माम् ।
श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमम् ॥ ४६ ॥

शैशवादिति । शैशवात्प्रभृति = बाल्यकालात् आरम्य, पोषितां = वर्द्धितां, सौहृदात् प्रेमवशात्, अपृथगाश्रयाम् = पृथगाश्रयरहितामिमां शयानां, प्रियां = सीतां, सौनिके = जीवहिंसाजीविनि, गृहशकुन्तिकामिव = गृहपालितां पक्षिणीमिव, छद्मना = छलेन, मृत्यवे = कालाय, परिददामि = अर्पयामि ॥ ४५ ॥

'पोषितामि'त्यनेन 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' इति न्यायः स्फोर्यते । छद्मना—सीताभिलषितवनप्रस्थापनव्याजेनेत्यर्थः । अत्र पूर्णोपमालङ्कारः । रामस्यातीव क्रौर्य्यं ध्वन्यते, इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः । रथोद्धता वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'रात्परैर्नरलगै रथोद्धता ।'

तदा कथं पवित्रां सीतां स्वगात्रसंसर्गेण दूषयामि । इति सीतायाः शिरः समुन्नमय्य = समुन्नतं कृत्वा आह—

अन्वयः—अयि मुग्धे ! अपूर्वकर्मचण्डालं मां विमुञ्च । चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमं श्रिता असि ॥ ४६ ॥

इस सूत्र के अनुसार उभय पद की वृद्धि होकर 'सौहार्द' शब्द होना चाहिए और इस प्रकार पञ्चमी एकवचन में 'सौहार्दात्' होना चाहिए । काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति (२।८३) में वामन ने 'सौहृददौर्हृदशब्दावण्यहृदभावात्' ऐसा कहकर उभय पद वृद्धि नहीं मानी है, अपितु आदि अच् की वृद्धि ही मानी है । अतः उन्होंने सौहृदात् को शुद्ध रूप बतलाया है । ऐसा प्रतीत होता है कि 'सुहृदः (मित्रस्य) भावः सौहार्दम्' और 'सुहृदयस्य (शोभनहृदयस्य) भावः सौहृदम्' ही रूप होंगे । सौनिके

तब क्यों स्पर्श न किये जाने योग्य, पापी मैं देवी को अपने स्पर्श से दूषित करूँ ?

(ऐसा कहकर सीता का शिर सम्यक् उठाकर और भुजा खींच कर)

अयि सरलहृदये ! अपूर्व कर्म करने वाले चण्डाल-सदृश मुझको छोड़ दे । चन्दन वृक्ष के धोखे से परिणाम में भयंकर विषवृक्ष का तुमने अवलम्बन किया है ॥ ४६ ॥

अपूर्वकर्मचण्डालं—जिस प्रकार का बीभत्स तथा क्रूर कर्म रामचन्द्रजी ने सम्पादित करने का निश्चय किया है, इस प्रकार का कर्म इस कुल के किसी भी नृप ने अथवा स्वयं रामचन्द्र जी ने इसके पूर्व नहीं किया था । इसीलिए यहाँ 'अपूर्व' विशेषण प्रयुक्त है ।

चाण्डाल दो प्रकार के होते हैं—एक जन्म-चाण्डाल और दूसरा कर्म-चाण्डाल । सीताजी के परित्यागरूप कर्म करने का निश्चय करने के कारण श्रीरामचन्द्रजी ने स्वयं को कर्मचाण्डाल कहा है । वसिष्ठ ने चार प्रकार के कर्मचाण्डालों का उल्लेख किया है—

'असूयकः पिशुनश्च कृतघ्नो दीर्घरोषकः ।
चत्वारः कर्मचाण्डालाः, जन्मनश्चापि पञ्चमः ॥'

(उत्थाय) हन्त हन्त ! विपर्यस्तो जीवलोकः । अद्यावसितं जीवितप्रयोजनं रामस्य । शून्यमधुना जीर्णारण्यं जगत् । असारः संसारः । काष्ठप्रायं शरीरम् । अशरणोऽस्मि । किं करोमि ? का गतिः ? अथवा—

दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमागतम् ।
मर्मोपघातिभिः प्राणैर्वज्रकीलायितं हृदि ॥ ४७ ॥

अपूर्वेति । अयि ! मुग्धे = मूढे ! पत्न्याः परित्यागरूपेण, अपूर्वकर्मचण्डालं = चण्डालसदृशं, मां = रामं, विमुञ्च = परित्यज । चन्दनभ्रान्त्या = चन्दनवृक्षस्य भ्रमेण, दुर्विपाकं = अनुचितपरिमाणं, विषद्रुमं = विषवृक्षं, श्रिता = समाश्रिता असि ।

अत्र चन्दनभ्रान्त्या विषद्रुमाश्रयणस्यासम्भवात् असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शना, मोचनक्रियायामुत्तरार्द्धवाक्यस्य हेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं चेति द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । अनुष्टुपछन्दः ॥ ४६ ॥

हन्तेति दुःखे । सम्प्रति = अधुना सीताविरहे, जीवलोकः = प्राणिलोकः, विपर्यस्तः = अन्यथाभूतः । 'यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना' इति रामायणोक्तरीत्या जीवलोकस्य स्वर्गत्वम् । वियोगे तु नरकत्वमेवेति । अद्य रामस्य जीवनफलम्, अवसितं = समाप्तम् । जीवितप्रयोजनं = सीताविरहितजीवितं, शून्यं = निष्प्रयोजनमित्यर्थः । अधुना = इदानीं, रामस्य कृते जगत् प्राचीनं वनमेवास्ति । असारः संसारः = जगत् साररहितः । काष्ठप्रायं शरीरं = शरीरं काष्ठमिव नीरसम् । 'ज्योत्स्नेव हिमदीधितेः' इत्युक्त्या यथा चन्द्रस्य कौमुद्यभावे काष्ठप्रायता तद्वत्स्वस्येति भावः । अशरणोऽस्मि = शरणरहितोऽस्मि । अद्य पूर्ववत् 'सुग्रीवं शरणं गतः' 'सागरं शरणं गतः' इत्यादिकस्य नावकाशः । किं करोमि ? अद्य पूर्ववद्रावणवधादिरूपप्राप्यं नास्ति । का गतिः = क्व गच्छामि ? किमरण्यं गच्छामि उत पातालविवरम् ? किं वा मरणं गच्छामि ?

अन्वयः—दुःखसंवेदनाय एव रामे चैतन्यम् आगतम् । मर्मोपघातिभिः प्राणैः हृदि वज्रकीलायितम् ॥ ४७ ॥

—'सूना'—प्राणिवधस्थानम्, 'तत्र नियुक्तः' सूत्र से ठक् (इक्) प्रत्यय होकर सौनिक रूप, सप्तमी एकवचन 'सौनिके' है । शकुन्तिका—शकुन्त + कन् (स्त्री०) ।

दुर्विपाकम्—दुर् + वि + √पच् + घञ् ।

विपर्यस्तः—वि + परि + √अस् + क्त । अवसितम्—अव + √सो + क्त ।

(उठकर) हाय ! हाय !! अब समस्त प्राणिलोक ही बदल गया है । आज राम के जीवन का प्रयोजन समाप्त हो गया । अब जीवलोक जीर्णवन के सदृश सुनसान है । संसार सार रहित है । शरीर काष्ठ सदृश है । निराश्रय हूँ । क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? अथवा—

दुःखानुभूति के निमित्त ही राम में चैतन्य आ गया है । मर्मस्थल पर आघात पहुँचाने वाले प्राणों द्वारा हृदय में वज्रशङ्कु सदृश आचरण किया गया है ॥ ४७ ॥

हा अम्ब अरुन्धति ! हा भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ ! हा भगवन् पावक ! हा देवि भूतधात्रि ! हा तात जनक ! हा तात ! हा मातः ! हा प्रियसख सुग्रीव ! हा सौम्य हनूमन् ! हा परमोपकारिन् लङ्काधिपते विभीषण ! हा सखि त्रिजटे ! परिमुषिताःस्थ परिभूताःस्थ रामहतकेन । अथवा को नाम तेषामहमिदानीमाह्वाने ?

दुःखेति । दुःखसंवेदनाय एव = दुःखमनुभवितुमेव, हतभाग्ये रामे चैतन्यमागतं = चैतन्यसम्प्राप्तिः । मर्मोपघातिभिः = अरुन्तुदैः, प्राणैः = असुभिः, हृदि = हृदये, वज्रकीलायितं = वज्रशङ्कुवत् आचरितम् ।

'आगतम्' इत्यनेन दुर्मुखवाक्यश्रवणानन्तरं गतं चैतन्यं पुनरागतमिति व्यज्यते यद्वा शक्तिप्रहारादिषु गतं पुनरागतमिति वा । 'वज्रकीलः वज्रमयः शङ्कु इत्यर्थः, तेनेवाचरितं न तु वंशदण्डादिवत् भुग्नमिति ध्वनिः । अहो ! कठिनता प्राणानां यन्मर्माहता अपि न देहान्निर्गता इति भावः । 'अथवा' पदेन अन्वयात् आक्षेपालङ्कारः, तथा वज्रकीलायितमित्यत्र तु क्यङा सादृश्यबोधनात् उपमालङ्कारः । अनुष्टुप्-छन्दः ॥ ४७ ॥

हा अम्बेति—हे अम्ब = मातः अरुन्धति ! अरुन्धतीकृतसीतापातिव्रत्यानुमोदनं न प्रमाणीकृतमिति भावः । भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ ! भवतां ज्ञानशक्तिमपि खला न पश्यन्तीति भावः । भगवन् पावक = अग्ने ! तव वचनप्रवेशौ व्यर्थाविति भावः । हा देवि भूतधात्रि = पृथिवि ! त्वत्सुतायामनिमित्तदोषवादिनो जनान् कथं बिभर्षीति

असारः—अ + √सृ + घञ् । संसारः—संसरन्त्यस्मिन्निति संसारः, सम् + √सृ + घञ् ।

संवेदनम्—सम् + √विद् + ल्युट् । मर्मोपघातिभिः—मर्माणि उपघ्नन्ति ये, तैः । मर्मन् + उप + √हन् + णिनि । वज्रकीलायितम्—वज्रस्य कीलः वज्रकीलः, वज्रकील इव आचरति इति वज्रकीलायते, वज्रकील + क्यङ् (नामधातु) + क्त ।

भूतधात्रि—भूतानां धात्री इति भूतधात्री, तत्सम्बुद्धौ हे भूतधात्रि ! प्रियसख—प्रियश्चासौ सखा च प्रियसखः ('राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् समासान्तः) तत्सम्बोधनम् । उपकारिन्—उप + √कृ + णिनि, परिमुषिताः—परि + √मुष् + क्त । रामहतकेन—हत इव हतकः (इवार्थे कन्), रामश्चासौ हतकश्च (कर्मधा०); 'कुत्सितानि कुत्सनैः' (पा० २।१।५३) इति समासः, विशेष्यस्य पूर्वनिपातश्च । आह्वान—आ + √ह्वे + ल्युट् ।

हा माता अरुन्धती ! भगवान् वसिष्ठ और विश्वामित्र ! भगवन् अग्निदेव ! हा देवि वसुन्धरे ! हा तात जनक ! हा माता ! हा प्रियमित्र महाराज सुग्रीव ! हा सदाशय हनूमान ! हा महान् उपकार करने वाले लङ्काधिराज विभीषण ! हा सखि त्रिजटे ! हतप्राय राम द्वारा तुम सभी लूट लिये गये हो, तुम सभी तिरस्कृत किये गये हो । अथवा अब मैं उनको पुकारने वाला कौन हूँ ?

ते हि मन्ये महात्मानः कृतघ्नेन दुरात्मना ।
मया गृहीतनामानः स्पृश्यन्त इव पाप्मना ॥ ४८ ॥

योऽहम्—

विस्रम्भादुरसि निपत्य जातनिद्रा-
मुन्मुच्य प्रियगृहिणीं गृहस्य लक्ष्मीम् ।
आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं
क्रव्याद्भ्यो बलिमिव दारुणः क्षिपामि ॥ ४९ ॥

भावः । हा तात जनक ! हा मातः ! हा प्रियसख, महाराज सुग्रीव ! सौम्य=सदाशय, हनूमन् ! सीतावृत्तान्तकथनजनितानन्दप्रयुक्तमत्कृतालिङ्गनमद्विज्ञातशरीरसौभगभवदीयप्रयासो व्यर्थ इति भावः । महोपकारिन् लङ्काधिपते विभीषण ! हा सखि त्रिजटे ! परिमुषिताः स्थ = सर्वतो वञ्चिताः स्थ, परिभूताः स्थ = पराजिताः स्थ, रामहतकेन = हतप्रायेण रामेण तिरस्कृताः स्थ ।

अन्वयः—हि ते महात्मानः कृतघ्नेन दुरात्मना मया गृहीतनामानः पाप्मना स्पृश्यन्ते इव, मन्ये ॥ ४८ ॥

ते हीति । हि = यतः, ते महात्मानः = पवित्रचरिताः, महाभागवसिष्ठविश्वामित्रादयः, कृतघ्नेन = अकृतज्ञेन, दुरात्मना = दुर्वृत्तेन मया, गृहीतनामानः = उच्चारितनामाक्षराः, पाप्मना = किल्बिषेण, स्पृश्यन्ते इव = संसृज्यन्ते इव, मन्ये = चिन्तयामि ॥ ४८ ॥

कृतघ्नलक्षणमाह स्कन्दपुराणे—'कृतस्य दोषं वदति सकामान्न करोति यः । न स्मरेच्च कृतं यस्तु ह्याश्रमान् यस्तु दूषयेत् । ससर्वास्तान्नृषिभिः सार्द्धं कृतघ्नानब्रवीन्मनुः ॥' इति । तस्य चाऽनिष्कृतिमाह अन्यत्र—'ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे च गुरुतल्पगे । निष्कृतिर्विहिता सद्भिः, कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥' अत्र 'स्पृश्यन्ते इवे'-त्यत्र वाच्याक्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः । अनुष्टुप् छन्दः ।

अन्वयः—दारुणः विस्रम्भात् उरसि निपत्य जातनिद्राम् आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं गृहस्य लक्ष्मीं प्रियगृहिणीम् उन्मुच्य क्रव्याद्भ्यो बलिम् इव क्षिपामि ॥ ४९ ॥

कृतघ्नः—कृतं (उपकारं) हन्ति, कृत + √हन् + √क । स्पृश्यन्ते—√स्पृश् + कर्मणि लट् । विस्रम्भः—वि + √स्रम्भ् + घञ् । निपत्य—नि + √पत् + ल्यप् । उन्मुच्य—उद् + √मुच् + ल्यप् । आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीम्—आतङ्केन स्फुरितः कठोरो

क्योंकि वे महानुभाव, कृतघ्न तथा दुष्ट स्वभाव वाले मेरे द्वारा नाम लिये जाने पर पापयुक्त से हो रहे हैं ॥ ४८ ॥

जो मैं कठोर, विश्वास से वक्षःस्थल पर पड़कर सोई हुई, (चित्रदर्शनजनित अथवा स्वप्नदर्शनजनित) उद्वेग से कम्पित परिपूर्ण गर्भ से भारवती, गृह की शोभा, प्रिय गृहिणी को छोड़कर हिंस्र पशुओं को ग्रासोपहार के सदृश फेंक रहा हूँ ॥ ४९ ॥

(सीतायाः पादौ शिरसि कृत्वा) देवि ! अयं पश्चिमस्ते रामशिरसि पादपङ्कजस्पर्शः । (इति रोदिति)

(नेपथ्ये) अब्रह्मण्यम्, अब्रह्मण्यम् ।

रामः—ज्ञायतां भोः ! किमेतत् ?

(पुनर्नेपथ्ये)

ऋषीणामुग्रतपसां यमुनातीरवासिनाम् ।
लवणत्रासितः स्तोमः शरण्यं त्वामुपस्थितः ॥ ५० ॥

विस्रम्भादिति । दारुणः = कठोरः, विस्रम्भात् = विश्वासपूर्वकम्, उरसि = वक्षसि, निपत्य = निपतनं कृत्वा, जातनिद्रां = प्रसुप्ताम्, आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं = चित्रदर्शनजनितत्रासेन कम्पितः पूर्णः यो भ्रूणः तेन आलस्योपेताम्, गृहस्य लक्ष्मीं = गेहस्य शोभां, प्रियगृहिणीं = प्रियां पत्नीम्, उन्मुच्य = त्यक्त्वा, क्रव्याद्भ्यः = मांसभक्षकेभ्यः, बलिमिव = ग्रासोपहारमिव, क्षिपामि = ददामि ॥ ४९ ॥

विस्रम्भादन्तरङ्गत इति ज्ञानादिति भावः । गुर्वीमित्यनेन यमलत्वं सूचयति । अत्रोपमालङ्कारः, प्रहर्षिणी वृत्तम् ।

(सीतायाः पादौ = चरणौ, स्वशिरसि कृत्वा = संस्थाप्य) अयं पश्चिमस्ते = अन्तिमो रामस्य शिरसि ते, पादपङ्कजस्पर्शः = चरणकमलस्य स्पर्शः । (इत्युक्त्वा रोदिति)

(नेपथ्ये) अब्रह्मण्यम् = ब्राह्मणानामत्याहितम्, ब्राह्मणानामत्याहितम् ।

रामः—ज्ञायताम् । एतत् किम् ?

अन्वयः—यमुनातीरवासिनाम् उग्रतपसाम् ऋषीणां स्तोमः लवणत्रासितः (सन्) शरण्यं त्वाम् उपस्थितः ॥ ५० ॥

यो गर्भस्तेन गुर्वीम् । आतङ्कः—आ + √तङ्क + घञ् । क्रव्याद्भ्यः—क्रव्यमाममांसमदन्तीति क्रव्यादाः, क्रव्य + √अद + विट्—'क्रव्ये च' चतुर्थी सम्प्रदाने ।

पश्चिमः—पश्चात् + डिमन् । अब्रह्मण्यम्—ब्रह्मणे हितं ब्रह्मण्यं, (ब्रह्मन् +

(सीता के चरणों को शिर में रखकर) देवि ! राम के शिर में तुम्हारे चरण-कमलों का यह अन्तिम स्पर्श है । **(ऐसा कहकर रोते हैं)**

(नेपथ्य में) अवध्य ब्राह्मण मारे जा रहे हैं, अवध्य ब्राह्मण मारे जा रहे हैं ।

राम—पता लगाओ, यह क्या बात है ?

(पुनः नेपथ्य में)

यमुना के तट पर रहने वाले महातपस्वी मुनियों का समुदाय लवण नामक राक्षस से त्रस्त होकर रक्षक आपके समीप आया है ॥ ५० ॥

अब्रह्मण्यम्—'अब्रह्मण्यम्' का अर्थ है—ब्राह्मणों पर विपत्ति किन्तु यह विपत्ति से बचने के लिए 'पुकार' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है ।

लवण—यह मधु नामक दैत्य तथा रावण की भगिनी 'कुम्भीनसी' का पुत्र था ।

रामः—आः ! कथमद्यापि राक्षसत्रासः ? तद्यावदस्य दुरात्मनो कुम्भीनसी-पुत्रस्योन्मूलनाय शत्रुघ्नं प्रेषयामि । (कतिचित्पदानि गत्वा पुनर्निवृत्य) हा देवि! कथमेवंगता भविष्यसि ? भगवति वसुन्धरे ! सुश्लाघ्यां दुहितामवेक्षस्व जानकीम् ।

जनकानां रघूणां च यत्कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम् ।
यां देवयजने पुण्ये पुण्यशीलामजीजनः ॥ ५१ ॥

(इति रुदन्निष्क्रान्तः)

ऋषीणामिति । यमुनातीरवासिनां = यमुनातीरे निवसताम्, उग्रतपसां = कठिन-तपश्चारिणाम्, ऋषीणां स्तोमः = मुनीनां समुदायः, लवणत्रासितः = लवणेन नाम राक्षसेन त्रासितः सन्, शरण्यं = रक्षितारं, त्वां = भवन्तम्, उपस्थितः = समायातः । अत्र—पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ५० ॥

रामः—विचारयति यत् कथमद्यापि = कथमधुनाऽपि, राक्षसत्रासः = राक्षसेभ्यः भयम् । न केवलं सीताविश्लेषदुःखप्राप्तिः किन्तु राक्षसभयं चेति समुच्चयार्थः । तद्या-वदस्य = तस्मात्, दुरात्मनः = दुर्बुद्धेः, कुम्भीनसीपुत्रस्य = रावणभगिन्याः कुम्भीनस्याः सुतस्य, उन्मूलनाय = मूलेन सहोत्पाटनाय, शत्रुघ्नं प्रेषयामि = शत्रुघ्नं प्रेषयिष्यामि । (कतिचित्पदानि गत्वा पुनर्निवृत्य) हा देवि । कथमेवंगता भविष्यसि = ईदृशीं दशा-मापन्ना केन प्रकारेण जीविष्यसि । भगवति वसुन्धरे = देवि पृथिवि ! सुश्लाघ्यां = निर्दोषां निरुपप्लवां वा, दुहितां = जनकनन्दिनीम् अवेक्षस्व ।

अन्वयः—यत् जनकानां रघूणां च कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम्, पुण्यशीलां यां पुण्ये देव-यजने (त्वम्) अजीजनः ॥ ५१ ॥

यत्), न ब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम् ।

त्रासितः—√त्रस् + क्तः । शरण्यं—शरणे साधुः शरण्यः तम्; शरण + यत् । उपस्थितः—उप + √स्था + क्तः ।

कुम्भीनसी—कुम्भीव नासिका यस्याः, 'पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्-

---

राम—ओह ! क्या अब भी राक्षसों से भय है । तो सर्वप्रथम कुम्भीनसी के पुत्र इस दुरात्मा (लवण) का उन्मूलन करने के लिए शत्रुघ्न को भेजता हूँ । **(घूमकर तथा पुनः लौटकर)** हा देवि ! इस अवस्था को प्राप्त तुम कैसे जीवन धारण करोगी ? देवि पृथिवि ! अपनी प्रशंसनीय पुत्री जानकी का ध्यान रखना—

जो 'जनक' और 'रघु'—दोनों वंशों के समस्त मंगल का प्रतीक है, और जिस पवित्र आचरण वाली को पवित्र देवयज्ञ स्थान में तुमने उत्पन्न किया है ॥ ५१ ॥

(इस प्रकार रोते हुए निकल गये)

यहाँ 'बिन्दु' नामक अर्थप्रकृति है । जो कथासूत्र को विच्छिन्न होने से बचाये रहे, उसे 'बिन्दु' अर्थप्रकृति कहते हैं ।

सीता—हा सोम्य अज्जउत्त कहिं सि ? (सहसोत्थाय) हद्धी हद्धी दुस्सिविणेन विप्पलद्धा अहं अज्जउत्तं आक्कन्दामि। (विलोक्य) हद्धी हद्धी एआइणिं मं पसुत्तं उज्झिअ गदो अज्जउत्तो ! किं दाणी एदं। होदु से कुप्पिस्सं जइ तं पेक्खती अत्तणो पहविस्सं। को एत्थ परिअणो ? [हा सौम्य आर्यपुत्र ! कुत्रासि ? हा धिक्, हा धिक्, दुःस्वप्नेन विप्रलब्धाऽहमार्यपुत्रमाक्रन्दामि। हा धिक्, हा धिक्, एकाकिनीं मां प्रसुप्ताम् उज्झित्वा गत आर्यपुत्रः। किमिदानीमेतत् ? भवतु तस्मै कोपिष्यामि, यदि तं प्रेक्षमाणा आत्मनः प्रभविष्यामि। कोऽत्र परिजनः ?]

(प्रविश्य)

दुर्मुखः—देइ, कुमारलक्खणो विण्णवेदि—सज्जो रहो, तं आरुहदु देईत्ति। [देवि ! कुमारलक्ष्मणो विज्ञापयति—सज्जो रथः, तदारोहतु देवीति।]

जनकानामिति। यत् जनकानां = जनकवंशोत्पन्नानां, रघूणां = रघुवंशरत्नानां च राज्ञामियं, कृत्स्नं = सम्पूर्णं, गोत्रमङ्गलं = वंशकल्याणम्, पुण्यशीलां = प्रशंसनीयचरित्रां यां, देवयजने = पवित्रे देवयज्ञस्थाने, अजीजनः = त्वमुत्पादितवती असि।

अत्र बिन्दुर्नाम सन्ध्यङ्गमुक्तम्। 'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।' अत्र रूपकालङ्कारः। पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ ५१ ॥

दुःस्वप्नपरिखेदिता सीता आह—हा सौम्य आर्यपुत्र ! कुत्रासि ? (सहसोत्थाय) हा धिक्, हा धिक्, दुःस्वप्नेन, विप्रलब्धा = वञ्चिता अहम्, आर्यपुत्रं = स्वामिनं रामम् आह्वयामि। (दृष्ट्वा) एकाकिनीम् = असहायां प्रसुप्तां माम्, उज्झित्वा = त्यक्त्वा, आर्यपुत्रः गतः। किमिदानीमेतत् ? भवतु, तस्मै = रामाय, कोपिष्यामि = प्रणयकोपं करिष्यामि, यदि तं प्रेक्षमाणा = अवलोकयन्ती, आत्मनः = स्वस्य विषये, प्रभविष्यामि = समर्था भविष्यामि। परिजनस्य मध्ये कोऽत्र सन्निहितः ? 'तस्मै कोपिष्यामि' इत्यत्र 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' इति चतुर्थी।

दुर्मुखः—देवि ! कुमारलक्ष्मणः, विज्ञापयति = निवेदयति यद् गमनाय रथः, सज्जः = सन्नद्धः। तदारोहतु देवी।

छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु' (पा० ६।१।६३) इति सूत्रेण नसादेशः, स्त्रियां ङीप् च निपात्यते।

विप्रलब्धा—वि + प्र + √लभ् + क्त + टाप्। एकाकिनी—एक + आकिनिच् + ङीप्। प्रेक्षमाणा—प्र + √ईक्ष् + शानच् + टाप्।

सीता—हा सौम्य आर्यपुत्र ! कहाँ हो ? **(सहसा उठकर)** हा धिक्, हा धिक्, बुरे स्वप्न से ठगी हुई मैं आर्यपुत्र को पुकार रही हूँ। **(देखकर)** हा धिक्, हा धिक्, अकेली सोयी हुई मुझको छोड़कर आर्यपुत्र कहाँ चले गये ? अच्छा, उन पर (प्रणय) कोप करूँगी, यदि उनको देखती हुई अपने पर नियंत्रण रख सकी। यहाँ कौन परिजन है ?

(प्रवेश करके)

दुर्मुख—हे देवि ! कुमार लक्ष्मण निवेदन करते हैं कि रथ सुसज्जित है, अतः आप आरूढ़ हों।

सीता—इअं आरूढम्हि । (उत्थाय परिक्रम्य) फुरइ मे गब्भभारो । सणिअं गच्छम्ह । [इयमारूढास्मि । स्फुरति मे गर्भभारः । शनैर्गच्छामः]

दुर्मुखः—इदो इदो देई । [इत इतो देवी ।]

सीता—णमो रहुउलदेअदाणं । [नमो रघुकुलदेवताभ्यः ।]

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महाकवि-श्रीभवभूतिविरचित उत्तररामचरिते
चित्रदर्शनो नाम प्रथमोऽङ्कः ।

सीता—(उत्थाय परिक्रम्य) इयमारूढास्मि । मे गर्भभारः = गुरुगर्भः, स्फुरति = स्पन्दते । शनैः = मन्दं गच्छामः ।

दुर्मुखः—इतो इतो देवी = देवी अस्मात् स्थानात् अस्मिन् स्थाने आगच्छतु ।

सीता—रघुकुलदेवताभ्यः नमः । 'आदित्यमण्डले विष्णुं ध्यात्वा यात्रां प्रवर्तयेत्' इति स्मरणादिति भावः ।

(सर्वेऽपि नटा अभिनयशालातो बहिर्भवन्ति)

सीता—अच्छा चढ़ती हूँ । **(उठकर तथा घूमकर)** मेरा गर्भभार फड़क रहा है । धीरे-धीरे चलें ।

दुर्मुख—महारानी जी ! इधर से, इधर से ।

सीता—रघुकुल के देवताओं को मेरा प्रणाम ।

(अन्त में सब निकल जाते हैं ।)

महाकवि श्रीभवभूति विरचित उत्तररामचरित में 'चित्रदर्शन'
नामक प्रथम अङ्क समाप्त ।

रघुकुलदेवताभ्यः—'रघुकुलदेवते लक्ष्मीनारायणाविति प्रसिद्धमेव । तन्नमस्कारो यात्राकाले विहितः । 'आदित्यमण्डले विष्णुं ध्यात्वा यात्रां प्रवर्तयेत्' इति स्मरणात् ।''—(वीरराघव)

द्वितीयोऽङ्कः

(पञ्चवटीप्रवेशः)

(नेपथ्ये)

स्वागतं तपोधनायाः ।

(ततः प्रविशत्यध्वगवेषा तापसी)

तापसी —अये ! वनदेवता फलकुसुमगर्भेण पल्लवार्घ्येण दूरान्मामुपतिष्ठते ।

(प्रविश्य)

वनदेवता (अर्घ्यं विकीर्य)—

(नेपथ्ये —'कुशीलवकुटुम्बस्य स्थलीनेपथ्यमिष्यते' इत्युक्तत्वात् जवनिकातिरोहितं नटवेशभूषा परिग्रहस्थानं नेपथ्यमुच्यते ।) तपोधनायाः, स्वागतं = शोभनमागमनम् ।

(ततः = अनन्तरम्, अध्वगवेषा = पान्थवेषा, तपःपरायणा नारी प्रविशति ।)

तापसी —अये ! वनदेवता = वनस्य अधिष्ठात्री देवता, फलकुसुमगर्भेण = फलपुष्पयुक्तेन, पल्लवार्घ्येण = पल्लवयुक्तपूजाद्रव्येण, दूरात् मामुपतिष्ठते = मामर्चयति ।

वनदेवता (प्रविश्य) अर्घ्यं विकीर्य = अर्घ्यं दत्त्वा आह—

तपोधनायाः—तप एव धनं यस्याः सा तपोधना तस्याः । अध्वगः—अध्वन् + √गम् + ड, टिलोप । तापसी—तपोऽस्यास्तीति तापसः, तपस् + अण्; तापस + ङीप् । अर्घ्यम् = अर्घ + यत्, 'पादार्घाभ्यां च' इति यत् । उपतिष्ठते—'उपाद् देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इत्यात्मनेपदम् ।

(नेपथ्य में)

तपस्विनी का स्वागत है ।

(तदनन्तर पथिक वेष में तापसी प्रवेश करती है ।)

तापसी—अरे ! वनदेवता फल-पुष्प से परिपूर्ण पल्लवयुक्त अर्घ्य द्वारा दूर से ही मेरी पूजा कर रही है ।

(प्रवेश कर)

वनदेवता—(अर्घ्य देकर)

नेपथ्य—जहाँ नट वेश-परिवर्तन करते हैं, उसे 'नेपथ्य' कहते हैं । 'नेपथ्यं तु प्रसाधने । रङ्गभूमौ वेषभेदे' इति हैमः ।

स्वागतं तपोधनायाः—नेपथ्य में कही गयी यह उक्ति 'तापसी' के प्रवेश की सूचना दे रही है । इस प्रकार की पात्र-प्रवेश की सूचना को 'चूलिका' कहते हैं । 'अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका' । (सा० द०) ।

इस अङ्क में वर्णित घटनाओं का स्थल 'जनस्थान' है । प्रथम अङ्क की तथा इस द्वितीय अङ्क

यथेच्छाभोग्यं वो वनमिदमयं मे सुदिवसः
सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति ।
तरुच्छाया तोयं यदपि तपसां योग्यमशनं
फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः ॥ १ ॥

तापसी—किमत्रोच्यते ?

अन्वयः—इदं वनं वः यथेच्छाभोग्यम्, अयं मे सुदिवसः, हि सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि पुण्येन भवति । तरुच्छाया तोयं यदपि तपसां योग्यम् अशनं फलं वा मूलं वा तदपि इह वः न पराधीनम् ॥ १ ॥

यथेच्छेति । इदं वनं = पुरोदृश्यमानं विपिनं, वः = युष्माकम्, यथेच्छाभोग्यं = इच्छानिवृत्तिपर्यन्तसङ्कोचेनोपभोगार्हम्, अयं मे = मम, सुदिवसः = शुभावसरः, हि = यतः, सतां = सज्जनानां, सद्भिः = साधुपुरुषैः सह, सङ्गः = सम्पर्कः, कथमपि = केनापि, पुण्येन = सुकृतेनैव भवति । अत्रत्या तरुच्छाया = पादपच्छाया, तोयं = जलं, यदपि, तपसां = नियमवतां, योग्यं = समुचितम्, अशनं = भोजनं फलं वा मूलं वा, तदपि इह = अस्मिन् कानने, वः = युष्माकं, न पराधीनं = परायत्तं नास्ति ॥ १ ॥

अर्घ्यद्रव्याणि यथा—'आपः क्षीरं कुशाग्राणि दधि सर्पिश्च तण्डुलाः । यवाः सिद्धार्थकाश्चैवमष्टाङ्गार्घ्यं प्रकीर्तितम् ॥' '····रक्तबिल्वाक्षतैः पुष्पैः दधिदूर्वा-कुशैस्तिलैः । सामान्यः सर्वदेवानामर्घोऽयं परिकीर्तितः ॥' इति देवीपुराणम् ।

अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् । 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी ।'

तापसी—किमत्र उच्यते = अस्मिन् विषये न किमपि वक्तव्यमिति भावः ।

विकीर्य—वि + √कृ + ल्यप् । यथेच्छाभोग्यम्—इच्छामनतिक्रम्य यथेच्छम्, भोक्तुं योग्यं भोग्यम्, यथेच्छम् आभोग्यं यथेच्छाभोग्यम् । अशनम् = √अश् + ल्युट् ।

यह वन आपकी इच्छानुसार उपभोग योग्य है । यह मेरा शुभ दिन है, क्योंकि सज्जनों का सज्जनों के साथ सम्पर्क किसी प्रकार पुण्य से होता है । वृक्षों की छाया जल तथा जो कुछ तपस्या के योग्य भोजन—फल अथवा मूल वह सब यहाँ तुम्हारे लिए पराधीन नहीं है ॥ २ ॥

तापसी—इस विषय में कहना ही क्या है ?

की घटनाओं में बारह वर्ष का व्यवधान है । इन बारह वर्ष के समय की घटनाओं का संक्षेप में निर्देश करने के निमित्त अङ्क के प्रारम्भ में यह विष्कम्भक दिया गया है ।

सतां सद्भिः सङ्गः—तुल० 'गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः ।'
(शिशु० १।१४)

तुल०—'वदनं प्रसादसदनं, सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः ।
करणं परोपकरणं, येषां केषां न ते वन्द्याः ॥"

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते॥ २॥

(उपविशतः)

वनदेवता---कां पुनरत्रभवतीमवगच्छामि ?

तापसी--आत्रेय्यस्मि।

अन्वयः—प्रियप्राया वृत्तिः, विनयमधुरः, वाचि नियमः, प्रकृत्या कल्याणी मतिः, अनवगीतः परिचयः, इदं तत् पुरो वा पश्चाद्वा अविपर्यासितरसम् अनुपधि विशुद्धं साधूनां रहस्यं विजयते॥ २॥

प्रियप्रायेति। प्रियप्रायावृत्तिः = अतिशयप्रीतिकरः कायिकव्यापारः, विनयमधुरः = विनयेन हृद्यः, वाचि नियमः = सत्याय मितभाषित्वं, प्रकृत्या = स्वभावतः, कल्याणी मतिः = श्रेयस्विनी बुद्धिः, अनवगीतः परिचयः = अनिन्दितः संस्तवः, इदं तत् = उक्त-प्रकारकं वृत्तिवाग्विनियमादिपरिचयसमुदायरूपं प्रसिद्धं, पुरो वा पश्चाद्वा भूत-भविष्यत्कालयोः, अविपर्यासितरसम् = अन्यूनस्वभावम्, अनुपधि = निर्व्याजं, विशुद्धं = निर्दोषं, साधूनां = सज्जनानां, रहस्यं = चरितं, विजयते = सर्वोत्कर्षेण वर्तते। अत्र अप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम्॥ २॥

वनदेवता—कां पुनरत्रभवतीम् अवगच्छामि = अत्रभवती का ? इति विज्ञातु-मिच्छामि।

तापसी—आत्रेय्यास्मि = अहं नाम्ना आत्रेयी अस्मि।

प्रियप्राया--प्रायेण बाहुल्येन प्रिया; सुप्सुपेति समासः, 'एकविभक्ति चापूर्व-निपाते' (पा० १।२।४४) इति 'प्राय' शब्दस्य परनिपातः। वाचि–विषयाधिकरणे सप्तमी। नियमः---नि + √यम् + अप् (वैकल्पिकः), पक्षे घञ् नियामः। प्रकृत्या कल्याणीमतिः---'प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्' इति तृतीया। अवगीतः—अव + √गै + क्त। परिचयः--परि + चि + अच्। रहस्यं---रहसि भवं, रहस् + यत्। विजयते–'विपराभ्यां जेः' (पा० १।३।१९) इत्यात्मनेपदम्।

अतिशय प्रीतिकर व्यवहार, विनय से मधुर वाक् संयम, स्वभावतः कल्याणकारिणी बुद्धि, अनिन्दित परिचय--यह प्रसिद्ध, पहले अथवा बाद में अपरिवर्तित अनुराग वाला, कपट रहित, विशुद्ध सज्जनों का चरित्र सर्वोत्कृष्ट होता है॥ २॥

(दोनों बैठती हैं)

वनदेवता—तो पुनः आप पूजनीया को मैं कौन समझूँ ? (अर्थात् आपका शुभ नाम क्या है ?)

तापसी—(मैं) आत्रेयी हूँ।

कां पुनरत्रभवतीम्···—संस्कृत में नाम पूछने का यह बहुत ही सभ्य और शिष्ट ढंग है।

वनदेवता—आर्ये आत्रेयि ! कुतः पुनरिहागम्यते ? किम्प्रयोजनो वा दण्डकारण्योपवनप्रचारः ?

आत्रेयी—

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति ।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि ॥ ३ ॥

वनदेवता—आर्ये आत्रेयि ! कुतः=कस्मात् स्थानात् पुनरिहागम्यते ? किं प्रयोजनो दण्डकारण्योपवनसञ्चारः ।

अन्वयः—अस्मिन् प्रदेशे अगस्त्यप्रमुखाः भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति, तेभ्यो निगमान्तविद्याम् अधिगन्तुम् इह वाल्मीकिपार्श्वात् पर्यटामि ॥ ३ ॥

अस्मिन्निति । अस्मिन् प्रदेशे=दण्डकारण्ये, अगस्त्यप्रमुखाः=अगस्त्यप्रभृतयः, भूयांसः=बहवः, उद्गीथविदः=ब्रह्मवेत्तारः, वसन्ति=निवसन्ति । तेभ्यः अगस्त्या-

---

आत्रेयी—अत्रेरपत्यं स्त्री आत्रेयी, अत्रि + ढक् + ङीप् । प्रचारः—प्र + √चर् + घञ् । उद्गीथः—उच्चैर्गीयते इत्युद्गीथः, उद् + √गै + थक् । अधिगन्तुम्—अधि + √गम् + तुमुन् ।

वनदेवता—आर्ये आत्रेयि ! यहाँ कहाँ से आ रही हैं ? दण्डकारण्य के उपवन से । इस भ्रमण का क्या उद्देश्य है ?

आत्रेयी—इस प्रदेश में अगस्त्य आदि अनेक उद्गीथ को जानने वाले निवास करते हैं। उन्हीं लोगों से वेदान्तविद्या को जानने के लिए वाल्मीकि ऋषि के पास से यहाँ भ्रमण कर रही हूँ ॥ ३ ॥

आत्रेय्यस्मि—आत्रेयी का उत्तर विनम्रता से परिपूर्ण है । वह अपना विस्तृत परिचय प्रस्तुत न करके केवल नाम ही बतलाती है । अत्रिगोत्र में जन्म लेने के कारण इसी नाम से यह विख्यात हुई । 'आत्रेयी' शब्द रूढ भी है । ब्राह्मणोचित संस्कारों से संस्कृता स्त्री 'आत्रेयी' संज्ञा से अभिहित की जाती है । 'जन्मप्रभृतिसंस्कारैः संस्कृता मन्त्रवच्च या । गर्भिणी वा तथा वा स्यात् तामात्रेयीं विनिर्दिशेत् ॥"

दण्डकारण्य—मल्लिनाथ ने 'दण्डकारण्य' की व्याख्या इस प्रकार की है—'दण्डकारण्यं दण्डकानामभार्गवकन्यया युतं वनम्' । यह प्रसिद्ध प्रदेश दक्षिण में नर्मदा तथा गोदावरी के मध्य में अवस्थित था ।

उद्गीथविदः—उद्गीथ जानने वाले । 'ॐ' रूपी त्रिगुणात्मक एकाक्षर ब्रह्म को 'उद्गीथ' कहते हैं । छान्दोग्योपनिषद् में इसका उल्लेख किया गया है—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत', 'ओमित्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्' । सामवेद के एक भाग को भी 'उद्गीथ' कहते हैं । यज्ञ में उद्गाता इसका गान करता है । यहाँ 'उद्गीथविदः' का अर्थ है—वेद-वेदान्त को जानने वाले ।

तेभ्योऽधिगन्तुम्—जिससे नियमपूर्वक विद्या ग्रहण की जाती है, उसमें पञ्चमी होती है, 'आख्यातोपयोगे' (पा० १।४।२९)

निगमान्तविद्या—वेदान्त विद्या । निगम शब्द का अर्थ है 'वेद' । वेद 'मन्त्र' और 'ब्राह्मणों'

वनदेवता--यदा तावदन्येऽपि मुनयस्तमेव हि पुराणब्रह्मवादिनं प्राचेतसमृषिं ब्रह्मपारायणायोपासते, तत्कोऽयमार्यायाः प्रवासः ?

आत्रेयी--तस्मिन् हि महानध्ययनप्रत्यूह इत्येष दीर्घप्रवासोऽङ्गीकृतः ।

वनदेवता--कीदृशः ?

आत्रेयी--तस्य भगवतः केनापि देवताविशेषेण सर्वप्रकाराद्भुतं स्तन्यत्यागमात्रके वयसि वर्तमानं दारकद्वयमुपनीतम् । तत्खलु न केवलं तस्य, अपि तु तिरश्चामप्यन्तःकरणानि तत्त्वान्युपस्नेहयति ।

दिभ्यः, निगमान्तविद्याम्=वेदान्तविद्याम्, अधिगन्तुं=ज्ञातुमिह=दण्डकारण्ये, वाल्मीकिपार्श्वात्=वाल्मीकिसमीपात्, पर्यटामि=भ्रमामि । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ३ ॥

वनदेवता--यदा अन्येऽपि=बहवो मुनयः तमेव, पुराणब्रह्मवादिनं=पुरातनवेदाध्यापकं, प्राचेतसमृषिं=वाल्मीकिम् ऋषिं, ब्रह्मपारायणाय=वेदान्तविद्याध्ययनाय, उपासते, तत्कोऽयमार्यायाः प्रवासः देशान्तरगमनम् ? कथं वनक्लेशं वहति ?

आत्रेयी--तस्मिन् हि महान् अध्ययने प्रत्यूहः=विघ्नः, इत्येष दीर्घप्रवासोऽङ्गीकृतः ।

वनदेवता--कीदृशः प्रत्यूहः ?

आत्रेयी--तस्य भगवतः वाल्मीकेः हस्ते केनापि=अज्ञातनाम्ना देवताविशेषेण, सर्वप्रकाराद्भुतं=सर्वथा आश्चर्यजनकं, स्तन्यत्यागमात्रके वर्तमानं=मातुःस्तन्यत्यागसमे वयसि स्थितम्, दारकद्वयं=शिशुद्वयम्, उपनीतं=न्यासीकृतम् । तत् खलु न केवलं

ब्रह्मवादिनं--ब्रह्म वदति, ताच्छील्ये णिनिः । प्राचेतसः--प्रचेतसोऽपत्यं पुमान्, प्रचेतस्+अण् । ब्रह्मपारायणाय--ब्रह्मणः पारायणं ब्रह्मपारायणं, तस्मै । प्रवासः--प्र+√वस्+घञ् । अध्ययनम्--अधि+√इङ्+ल्युट् । प्रत्यूहः--प्रतीपम् ऊहनं, प्रति+√ऊह्+क । स्तन्यत्यागमात्रके--त्यजनं त्यागः; भावे घञ्, स्तनयोर्भवं स्तन्यं 'शरीरावयवाच्च' इति यत्, स्तन्यत्यागः मात्रा (परिमाणम्) यस्य तत् स्तन्यत्याग-

---

वनदेवता--जब कि अन्य मुनि भी उसी पुरातन ब्रह्मवादी वाल्मीकि ऋषि की वेदान्तविद्या के अध्ययन के लिए सेवा करते हैं, तब आर्या का क्यों प्रवास है ?

आत्रेयी--वहाँ अध्ययन में बड़ा विघ्न है, इसीलिए मैंने यह दीर्घ प्रवास स्वीकार किया है ।

वनदेवता--कैसा (विघ्न) है ?

आत्रेयी--वहाँ भगवान् वाल्मीकि के पास किसी देवता ने सभी प्रकार से अद्भुत तथा (माता के) दूध छोड़ने योग्य अवस्था में वर्तमान, शिशु-युगल ला दिया है । वह शिशु-युगल न केवल महर्षि के ही अपितु पशु-पक्षियों के भी अन्तःकरण रूप तत्त्व को स्नेह युक्त कर देता है ।

का संकलन है । ब्राह्मणों के अन्तिम भाग को 'आरण्यक' कहते हैं, जिसमें उपनिषद् समाविष्ट हैं । उपनिषदों में स्थित विद्या को वेदान्त अथवा निगमान्त विद्या कहते हैं ।

पुराणब्रह्मवादिनम्--पुराणश्चासौ ब्रह्मवादी तम् । ब्रह्म वदतीति ब्रह्मवादी । तुल० 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।" (श्वेताश्वतर०)

प्राचेतसः--वाल्मीकि प्रचेतस् (वरुण) के दशम पुत्र थे ।

वनदेवता—अपि तयोर्नाम संविज्ञानमस्ति ?

आत्रेयी—तयैव किल देवतया तयोः कुशलवाविति नामनी प्रभावश्चाख्यातः ।

वनदेवता—कीदृशः प्रभावः ?

आत्रेयी—तयोः किल सरहस्यानि जृम्भकास्त्राण्याजन्मसिद्धानीति ।

वनदेवता—अहो ! नु भोश्चित्रमेतत् ।

आत्रेयी—तौ च भगवता वाल्मीकिना धात्रीकर्मतः परिगृह्य पोषितौ

तस्य = तच्च दारकद्वयं न केवलं वाल्मीकेः अपितु स्वव्यापारेण तिरश्चामपि = मृगाणामपि, अन्तःकरणानि तत्त्वानि = हृदयरूपाणि पदार्थान्, उपस्नेहयति = संविधानी करोति । अत्र प्रतिमुखसन्धिः ।

वनदेवता—अपिशब्दः प्रश्नार्थकः, तयोः दारकयोः नाम्नोः संविज्ञानम्, नामनी तयोर्जानासि किम् ? इति प्रश्नार्थः ।

आत्रेयी—किल इति वार्तायाम्, जनाः कथयन्ति इत्यर्थः । प्रभावश्च = सामर्थ्यं च, आख्यातः = कथितः । तौ नामभ्यां कुशलवौ प्रभावशालिनौ च स्त इति भावः ।

वनदेवता—कीदृशः प्रभावः ?

आत्रेयी—तयोः किल कुशलवयोः सरहस्यानि = प्रयोगसंहारमन्त्रसहितानि जृम्भकाख्यानि दिव्यास्त्राणि, जन्मसिद्धानि = जन्मनः आरभ्य सिद्धानि ।

वनदेवता—अहो इति आश्चर्ये, नु इत्युत्प्रेक्षायाम् । चित्रम् आश्चर्यम् ।

आत्रेयी—तौ दारकौ भगवता वाल्मीकिना = प्राचेतसेन, धात्रीकर्मतः = उप-

---

मात्रकं, तस्मिन्; समासान्तः कप् । उपस्नेहयति—स्नेहवन्ति करोति, स्नेहवच्छब्दात् 'तत्करोती'ति णिच् मतुब्लोपश्च ।

प्रभावः—प्र + √भू + घञ् । आख्यातः—आ + √चक्ष् + क्त । आजन्मसिद्धानि—जन्मनः आ इति आजन्म, मर्यादायाम् अव्ययीभावः, आजन्मसिद्धानि इति आजन्मसिद्धानि (सुप्सुपा समासः) ।

वनदेवता—क्या उनके नाम का सम्यक् ज्ञान है ?

आत्रेयी—उन्हीं देवता ने उन दोनों का 'कुश' और 'लव' यह नाम और प्रभाव भी बतलाया है ।

वनदेवता—कैसा प्रभाव ?

आत्रेयी—उन दोनों को मंत्र सहित जृम्भकास्त्र जन्म से ही सिद्ध है ।

वनदेवता—अहो ! यह तो आश्चर्य है ।

आत्रेयी—भगवान् वाल्मीकि ने धात्री का कर्म स्वीकार करके उन दोनों का पोषण और

धात्रीकर्मतः परिगृह्य पोषितौ रक्षितौ च—धात्री का कर्म स्वीकार करके उनका पोषण और रक्षण किया है अथवा धात्री के कार्य से लेकर आचार्य तक का कार्य सम्पादित करके पोषण और रक्षण किया है अथवा जिस वय में धात्री का कर्म अपेक्षित होता है, उस वय से ही उनको लेकर उनका पोषण और रक्षण किया है ।

रक्षितौ च। निर्वृत्तचौलकर्मणोस्तयोस्त्रयीवर्जमितरास्तिस्रो विद्याः सावधानेन परिनिष्ठापिताः। तदनन्तरं च भगवतैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय त्रयीविद्यामध्यापितौ। न त्वेताभ्यामतिदीप्तिप्रज्ञाभ्यामस्मदादेः सहाध्ययनयोगोऽस्ति। यतः—

मातृव्यापारेण, परिगृह्य = स्वीकृत्य, पोषितौ = क्षीरादिना वर्धितौ, व्याधिप्रभृतिभ्यः रक्षितौ च। निर्वृत्तचौलकर्मणोः = निष्पन्नचूडासंस्कारयोः, तयोः = कुशलवयोः, त्रयीवर्जं = वेदं वर्जयित्वा, इतरास्तिस्रो विद्याः = आन्वीक्षिकी वार्ता दण्डनीतिश्च, सावधानेन = तत्परतया, परिनिष्ठापिताः = सम्यङ्निष्पादिताः। तदनन्तरं भगवता एकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेन = विधिना, उपनीय = उपनयनं कृत्वा, मुनिः तौ त्रयीविद्यां = वेदविद्याम् अपाठयत्। ताभ्यां दीप्तिप्रज्ञाभ्यां = प्रतिभा बुद्धिभ्यां सह, अस्मदादेः = अस्मद्विधानामध्ययनं नैव सम्भवति।

चूडाकर्मणो विधाने शास्त्रे नियमः परिकल्पितः—'चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥' (मनुस्मृतौ) विद्याश्चतुर्विधाः। तथा हि—'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती। विद्या ह्येताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः॥' उपनयनकालश्च यथोक्तो भगवता मनुना—'गर्भाऽष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥'

निर्वृत्त—निस् + √वृत् + क्त। निर्वृत्तचौलकर्मणोः—निर्वृत्तं चौलकर्म ययोस्तौ निर्वृत्तचौलौ, तयोः। परिनिष्ठापिताः—परि + नि + √स्था + णिच् + क्त। विधि वि + √धा + कि। अध्यापितौ—अधि + √इङ् + णिच + क्त। सहाध्ययनम्—सह अध्ययनम् इति सहाध्ययनम्, 'सुप्सुपा' समासः।

रक्षण किया। चूडाकर्म सम्पन्न होने के अनन्तर वेदों को छोड़कर अन्य तीनों विद्याएँ सावधानीपूर्वक सम्यक् पढ़ा दी गई हैं। तदनन्तर भगवान् वाल्मीकि ने ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रियोचित विधि से उपनयन-संस्कार करके उन्हें वेद पढ़ाया। किन्तु अत्यन्त प्रतिभा और ज्ञान से युक्त इन दोनों के साथ हम लोगों के अध्ययन का संयोग नहीं बैठ पाता है। क्योंकि—

चौलकर्म—इसी को चूडाकर्म भी कहते हैं। इसी को आजकल मुण्डन कहा जाता है। द्विज-बालकों का यह संस्कार प्रथम वर्ष में अथवा तृतीय वर्ष में किया जाता है—'चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्॥' (मनु०)।

त्रयीवर्जम्—वेदत्रयी को छोड़कर। वेदत्रयी में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की गणना होती है। उपनयन के पूर्व वेदाध्ययन का अधिकार नहीं होता है।

इतराः तिस्रः विद्याः—इतर तीनों विद्याएँ—आन्वीक्षिकी (न्याय अथवा आत्मविद्या), वार्ता (कृषि, व्यापार इत्यादि) तथा दण्डनीति (राजनीतिशास्त्र)। वीरराघव के अनुसार आयुर्वेद, धनुर्वेद और गान्धर्ववेद—ये तीन विद्याएँ हैं।

एकादशे वर्षे—'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥' (मनु० २।३६)

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा ।
भवति हि पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः ॥ ४ ॥

वनदेवता—अयमध्ययनप्रत्यूहः ?

आत्रेयी—अन्यश्च ।

अन्वयः—गुरुः यथा प्राज्ञे तथैव जडे विद्यां वितरति, तयोः ज्ञाने शक्तिं तु न करोति वा न अपहन्ति । पुनः फलं प्रति हि भूयान् भेदः भवति । तद् यथा शुचिः मणिः बिम्बग्राहे प्रभवति, न मृदादयः ॥ ४ ॥

वितरतीति । गुरुः=आचार्यः, यथा=येन प्रकारेण, प्राज्ञे=प्रज्ञावति शिष्ये, तथैव=तेन प्रकारेणैव, जडे=मन्दबुद्धौ, विद्यां वितरति=ददाति । तयोः=प्राज्ञजडयोः; प्राज्ञस्य ज्ञाने अपूर्वां शक्तिं न जनयति, जडस्य ज्ञाननिष्ठां शक्तिं न नाशयति, किन्तु फलं प्रति भूयान् भेदः भवति=स्फुटं प्रतीयते । यथा शुचिः=निर्मलः मणिः, बिम्बग्राहे=प्रतिबिम्बज्ञानोत्पादने, प्रभवति=समर्थो भवति, न मृदादयः=मृत्तिकाप्रभृतयः, न समर्था भवन्ति । अत्र उपमा दृष्टान्तश्चालङ्कारौ । हरिणी वृत्तम् । 'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' ॥ ४ ॥

वनदेवता—अध्ययनप्रत्यूहः=पठनविघ्नः अयम् ।

आत्रेयी—अन्यश्च ।

भूयान्—बहु+ईयसुन् । फलं प्रति—'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया ।

गुरु जिस प्रकार प्रतिभा-सम्पन्न छात्र को, उसी प्रकार मन्दबुद्धि छात्र को भी विद्या प्रदान करता है । उन दोनों के ज्ञान में न तो शक्ति-संचार ही करता है और न तो शक्ति को विनष्ट ही करता है, तथापि फल के प्रति महान् अन्तर होता है । जैसे निर्मल मणि प्रतिबिम्ब ग्रहण में समर्थ होता है, किन्तु मिट्टी आदि पदार्थ नहीं ॥ ४ ॥

वनदेवता—यही अध्ययन में विघ्न है ?

आत्रेयी—और भी है ।

भाव-साम्य के लिए निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

'फलद्भिरुष्णांशुकराभिमर्शाद्, कार्शानवं धाम पतङ्गकान्तैः ।
शशंस यः पात्रगुणाद्गुणानां सङ्क्रान्तिमाक्रान्तगुणातिरेकाम् ॥' (शिशु० ४।१६)
'पात्रविशेषे न्यस्तं, गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः ।
पय इव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥' (मालविका० १।६)
'क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ।' (रघु० ३।२९)
'नीयते बालिशस्यापि, सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।
न शालेः स्तम्बकारिता, वप्तुर्गुणमपेक्षते ॥' (मुद्रा० १।३)

वनदेवता—अथापरः कः ?

आत्रेयी—अथ स ब्रह्मर्षिरेकदा माध्यन्दिनसवनाय नदीं तमसामनुप्रपन्नः। तत्र युग्मचारिणोः क्रौञ्चयोरेकं व्याधेन वध्यमानं ददर्श। आकस्मिकप्रत्यवभासां देवीं वाचमानुष्टुभेन छन्दसा परिणतामभ्युदैरयत्।

वनदेवता—अथ अपरः=अन्यः कः ?

आत्रेयी—अथ स ब्रह्मर्षिः=वाल्मीकिः, एकदा, माध्यन्दिनसवनाय=मध्याह्नस्नानाय, नदीं तमसामनुप्रपन्नः=तमसायाः तीरे गतः (प्राप्तः)। तत्र=तमसायाः तीरे, युग्मचारिणोः=मिथुनभावेन स्थितयोः क्रौञ्चयोः, एकम्=एकतरं, व्याधेन=पुलिन्देन, वध्यमानं ददर्श। आकस्मिप्रत्यवभासां=निर्हेतुकाविर्भावाम्, देवीं वाचं=वाग्देवीम्, आनुष्टुभेन छन्दसा, परिणतां=जातपरिणामाम्, अभ्युदैरयत्=उच्चारयामास।

माध्यन्दिनम्—मध्यं दिनस्य इति मध्यन्दिनं (एकदेशितत्पुरुषसमास, अलुक्), मध्यन्दिने भवम् इति माध्यन्दिनम् (अण्)। सवनं—√सु+ल्युट्। अनुप्रपन्नः—अनु+प्र+√पद्+क्त। आकस्मिकप्रत्यवभासाम्—आकस्मिकः प्रत्यवभासः यस्यास्ताम्। अभ्युदैरयत्—अभि+उद्+√ईर्+लङ्।

वनदेवता—वह और कौन-सा विघ्न है ?

आत्रेयी—तदनन्तर एक दिन ब्रह्मर्षि मध्याह्नकालीन स्नान के लिए तमसा नदी पर गये। वहाँ जोड़े के रूप में विचरण करने वाले क्रौञ्च पक्षियों में से एक को व्याध द्वारा मारा जाता हुआ देखा। उन्होंने अकारण आविर्भूत अनुष्टुप् छन्द में परिणत वाग्देवी का उच्चारण किया।

माध्यन्दिनसवनाय—मध्याह्नकालिक स्नान तथा संध्या के लिए। 'सवन' शब्द का अर्थ है—स्नान तथा यज्ञ आदि धार्मिक कृत्य। दिन में तीन सवन का विधान था—१. प्रातः-सवन, २. माध्यन्दिन-सवन तथा ३. सायन्तन-सवन। 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनं रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनमादित्यानाञ्च विश्वेषां देवानाञ्च तृतीयसवनम्।' (छान्दोग्योप० २।२४।१)

'अभिपूज्य तदा हृष्टा, सर्वे चक्रुः यथाविधि।
प्रातःसवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुङ्गवाः॥
ऐन्द्रश्च विधिवद्दत्तो, राजा चाभिषुतोऽनघः।
माध्यन्दिनञ्च सवनं, प्रावर्त्तत यथाक्रमम्॥
तृतीयसवनं चैव, राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः॥'
(रामायण, बालकाण्ड, १४।५।७)

तमसाम्—एक नदी, जो गङ्गा के समीप ही प्रवाहित होती थी।

'जगाम तमसातीरं, जाह्नव्यास्त्वविदूरतः॥' (रामायण, बालकाण्ड)

अनुष्टुभ छन्द—यह चार चरणों वाला छन्द है। इसका निम्नलिखित लक्षण है—

'पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः।
गुरु षष्ठं तु पादानां शेषेष्वनियमो मतः॥' (छन्दोमञ्जरी)

आनुष्टुभेन छन्दसा परिणताम्—तुल०—'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥' (रघु० १४।७०)

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे निषाद ! त्वं शाश्वतीः समाः प्रतिष्ठां मा अगमः, यत् क्रौञ्चमिथुनात् काममोहितम् एकम् अवधीः ॥ ५ ॥

मा निषादेति । हे निषाद=व्याध ! त्वं शाश्वतीः समाः=त्वमनन्तवर्षाणि, प्रतिष्ठां=स्थितिम् (शान्ति), मा अगमः=न प्राप्नुहि । यत्=यतः, क्रौञ्चमिथुनात्=क्रौञ्चपक्षिद्वन्द्वात्, काममोहितं=कामासक्तचेतसम्, एकं=पुमांसम्, अवधीः=हतवानसि ।

'यद्वा—श्लोकोऽयं रामायणस्य बीजभूतत्वेन व्याख्यायते । तथाहि—मा लक्ष्मीः निषीदति अस्मिन्निति घञ् । मा निषाद ! लक्ष्मीपते ! राम ! भगवतः रामस्य विष्णोरंशभूतत्वात् सीतायाश्च लक्ष्मीरूपत्वादिति भावः । यत् यस्मात् त्वं क्रौञ्चमिथुनात् मन्दोदरीरावणरूपात् राक्षसद्वन्द्वात् काममोहितम् एकं रावणम् अवधीः हतवानसि, तस्मात् शाश्वतीः समाः वत्सरान् यावत्संसारमिति भावः, प्रतिष्ठां नित्यसुखाभिव्यक्तिसमयाखण्डानन्दमित्यर्थः, अगमः लभस्व ।''''अथवा हे अनिषाद ! निषादसदृश ! क्रौञ्चमिथुनात् इति सङ्केतेन तारावालिनोः सूचना । भ्रातृपत्न्यां रुमायां रममाणत्वात् तस्य काममोहितत्वं वेदितव्यम् । अपरञ्च—नितरां सादयति ध्वंसयति लोकानिति निषादः रावणः, तत्सम्बुद्धौ हे निषाद ! रावण ! यत् यस्मात् त्वं क्रौञ्चमिथुनात् अल्पीभावार्थात् क्रुञ्चतेः पचाद्यचि क्रुञ्चः ततः स्वार्थे अण् प्रत्ययेन क्रौञ्चः इति सिद्ध,

---

प्रतिष्ठा—प्रति + √स्था + अङ्, षत्व । मा अगमः—यह आर्ष प्रयोग है । 'न माङ्योगे' (पा० ६।४।७४) नियम से 'माङ्' के योग में अट् का आगम सम्भव नहीं है । अतः 'मा गमः' शुद्ध प्रयोग है । कतिपय टीकाकारों ने 'मा त्वमगमः' का पदच्छेद 'मा + तु + अम + गमः' इस प्रकार करके इस अनुपपत्ति को दूर करने का प्रयत्न किया है । शाश्वतीः समाः—'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० २।३।५) इस नियम से द्वितीया ।

हे निषाद ! तू अनन्त वर्षों तक प्रतिष्ठा को मत प्राप्त कर, क्योंकि क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से काम से मोहित एक (नर) को मार दिया ॥ ५ ॥

प्रस्तुत श्लोक रामायण का बीज है । इस श्लोक के तीन अर्थ किये जाते हैं । एक अर्थ निषाद के पक्ष में, दूसरा भगवान् राम के पक्ष में और तीसरा रावण के पक्ष में । भगवान् राम के पक्ष का अर्थ निम्नलिखित है—हे मा निषाद—मा लक्ष्मीः निषीदत्यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ हे मा निषाद, यत् क्रौञ्चमिथुनात् मन्दोदरीरावणरूपात् काममोहितं रावणरूपमेकमवधीर्हतवानसि, तत् त्वं शाश्वतीः समा अनेक संवत्सरान् प्रतिष्ठामगमः प्राप्नुहि ।

रावण के पक्ष का अर्थ निम्नलिखित है—नितरां सादयति त्रैलोक्यं पीडयतीति निषादस्तत्सम्बुद्धौ हे निषाद हे रावण ! यत् त्वं क्रौञ्चमिथुनात् सीतारामरूपात् काममोहितं सीतारूपमेकमवधीर्वधाभ्यधिकां पीडां प्रापितवानसि तत् त्वं लङ्कायां प्रतिष्ठां मा गमः ।

वनदेवता—चित्रमाम्नायादन्यो नूतनश्छन्दसामवतारः।

आत्रेयी—तेन खलु पुनः समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतशब्दप्रकाशमृषिमुपसङ्गम्य भगवान् भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत्—'ऋषे! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि

तयोर्मिथुनं तस्माद् राज्यक्षयवनवासादिदुःखेन परं कार्श्यं गतात् स्त्रीपुंसयुगलात् सीतारामरूपादित्यर्थः, एकं काममोहितं पतिरतं स्त्रीजनं सीतामित्यर्थः, अवधीः हरणादिना वधतुल्यमतिघोरदुःखं प्रापितवानसि, तस्मात् त्वं शाश्वतीः समाः प्रतिष्ठां स्वस्त्रीसाहित्येनेहलोकस्थितिमित्यर्थः, मा अगमः न प्राप्नुहि, अचिरेण स्त्रिया वियुज्य म्रियस्वेति काव्यार्थः सूचितः। यथा भगवान् रामभद्रः त्वया सीताविरहितः कृतः, सा च सती रामं विना कृता, तथा त्वमपि स्वभार्यया विरहितो भव, सा च त्वया विरहिता चिरं वियोगशोकार्ता भूयादिति तु निर्गलितार्थः॥ ५॥

अत्र करुणो रसः, आलम्बनविभावः क्रौञ्चः, तस्य च निषादकृतः वधः उद्दीपनविभावः, मद्दूरेराक्रन्दितञ्च अनुभावः, विषादचिन्तादयश्च व्यभिचारिणः, एतैश्चायं रसः परिपोषत्वमगात् इति। तथा हि ध्वनिकारः—

> 'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
> क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥' (जीवा०)

वनदेवता—चित्रम् = आश्चर्यम्, आम्नायात् = वेदात्, अन्यः = भिन्नः, नूतनश्छन्दसाम् = अनुष्टुबादीनाम्, नवीनवृत्तानाम्, अवतारः = आविर्भावः।

आत्रेयी—समयेन = कालेन, भगवान् = ऐश्वर्यादिसम्पन्न, भूतभावनः = सर्वजगतां समुत्पादकः, पद्मयोनिः = भगवन्नाभिकमलजातः, आविर्भूतशब्दप्रकाशम् = प्रादुर्भूत-

---

आम्नाय—आ + √म्ना + घञ्, युक् का आगम (आतो युक् चिण्कृतोः)।

वनदेवता—आश्चर्य है! वेद से अन्यत्र (लोक में भी) छन्दों का नूतन आविर्भाव हो गया।

आत्रेयी—इतने में ही, जिनमें शब्दरूप ब्रह्म का प्रकाश प्रकट हो चुका था, उन भगवान् ऋषि (वाल्मीकि) के पास आकर संसार के रचयिता भगवान् ब्रह्मा बोले—'हे ऋषि जी! तुम

आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः—रामायण से पूर्व वेद में ही छन्द थे, लोक में नहीं। व्याध द्वारा शरविद्ध नर क्रौञ्च को छटपटाते और मादा क्रौञ्च को अपने प्रिय के वियोग में बिलखते देखकर करुणार्द्रहृदय ऋषि वाल्मीकि के मुख से लौकिकछन्द (अनुष्टुप्) में 'मा निषाद' इत्यादि कविता प्रस्फुटित हुई, उसी को वनदेवता ने वेद से अन्यत्र लोक में भी छन्दों का नया आविर्भाव कहा है, जो सचमुच आश्चर्य का विषय है। यह अवधेय है कि यद्यपि वेद में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग है (जैसे पुरुषसूक्त में), किन्तु वैदिक अनुष्टुप् में लघु-गुरु का क्रम नियत नहीं है। वाल्मीकि कृत रामायण में प्रयुक्त अनुष्टुप् में ही हमें लघु-गुरु के नियत क्रम का सर्वप्रथम दर्शन होता है। इस लौकिक अनुष्टुप् में भी वैदिक अनुष्टुप् के समान ही चार चरण और प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं, किन्तु अन्तर यह है कि लौकिक अनुष्टुप् में प्रत्येक चरण का पञ्चम वर्ण लघु तथा छठा वर्ण दीर्घ होता है एवं द्वितीय-चतुर्थ चरण का सप्तम वर्ण लघु और प्रथम-तृतीय चरण का दीर्घ होता है।

ब्रह्मणि ! तद् ब्रूहि रामचरितम् । अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु। आद्यः कविरसि' इत्युक्त्वान्तर्हितः । अथ स भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय ।

शब्दज्योतिष्कम्, तं भगवन्तं = माहात्म्यशालिनम्, उपसङ्क्रम्य = समुपेत्य, अवोचत् = अकथयत्, वागात्मनि ब्रह्मणि = शब्दब्रह्मणि, प्रबुद्धोऽसि = प्रकृष्टज्ञानवानसि, ब्रूहि = वर्णय, अव्याहतज्योतिः = अव्याहतप्रकाशम्, आर्षम् = योगजन्यं, ते = तव, चक्षुः = नेत्रम् (ज्ञानम्), प्रतिभातु = प्रकाशितं भवतु, आद्यः = प्रथमः, अन्तर्हितः = प्रच्छन्नोऽभूत्, प्राचेतसः = वाल्मीकिः, शब्दब्रह्मणः = शब्दरूपस्य ब्रह्मणः, विवर्तम् = परिणामविशेषम्, इतिहासं = पुरावृत्तम्, रामायणं = रामायणाख्यं महाकाव्यं, प्रणिनाय = निर्मितवान् ।

अयम्भावः—आत्रेयीवचनमाकर्ण्य **वनदेवता** साश्चर्यमाह यद्—वेद एव छन्दांस्यासन् न तु लोके, सम्प्रति तत्रापि छन्दसामाविर्भावोऽजायत । छन्दसां नवावतार एष सत्य-

---

अव्याहत—न व्याहतः; वि + आ + √हन् + क्त । आर्षम्=ऋषेरिदमित्यार्षम्; ऋषि + अण् (तस्येदम्) । आद्यः—आदौ भवः आद्यः, आदि शब्द से 'दिगादिभ्यो यत्' सूत्र से यत् प्रत्यय । अन्तर्हितः—अन्तर् + √धा + क्त (कर्त्तरि); धा को हि आदेश (दधातेर्हिः) । इतिहासः—इति ह आसीत् यत्र स इतिहासः । इति = ऐसा, ह = निश्चय रूप से, आसीत् = था, अर्थात् लोक में परम्परा से चली आती हुई कथाएँ

शब्दरूप ब्रह्म में पूर्ण ज्ञानसम्पन्न हो गये हो, अतः रामचरित का वर्णन करो । अप्रतिहत प्रकाश वाला आर्ष (ऋषि-सम्बन्धी) ज्ञान (चक्षु) तुम्हें प्रकाशित हो । तुम आदिकवि हो ।' ऐसा कहकर वे अदृश्य हो गये । तब भगवान् वाल्मीकि ने मनुष्यों में सर्वप्रथम शब्दब्रह्म का वैसा रूपान्तर (विवर्त) रामायण नामक इतिहास बनाया ।

आद्यः कविः—लोक में सर्वप्रथम 'रामायण' महाकाव्य की रचना करने के कारण वाल्मीकि को आदिकवि तथा उनकी कृति 'रामायण' को आदिकाव्य कहा जाता है ।

शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तम्—वैयाकरण शब्द को शब्दब्रह्म कहते हैं । भवभूति ने 'शब्दब्रह्म' शब्द-प्रयोग के साथ-साथ रामायण के लिए 'विवर्त' शब्द का प्रयोग किया है । 'विवर्त' वेदान्त का पारिभाषिक शब्द है । अविद्या के कारण स्वरूप का परित्याग किये बिना वस्तु की अन्यथा प्रतीति होना विवर्त है, जैसे रज्जु में सर्प की प्रतीति (इसमें रज्जु अधिष्ठान है और सर्प उस अधिष्ठान में विवर्त) । इस प्रकार ब्रह्म (अधिष्ठान) में जगत् की मिथ्या प्रतीति हो रही है । इस विवर्त का विद्या द्वारा उच्छेदन हो जाता है । यह अवधेय है कि भवभूति ने यहाँ रामायण के लिए विवर्त शब्द का प्रयोग इस अर्थ में न करके 'परिणाम' (रूपान्तरण) अर्थ में किया है । कारण का अपने स्वरूप को त्याग कर कार्यरूप में परिणत हो जाना 'परिणाम' कहलाता है—'प्रकृतिस्वरूपोपमर्देन रूपान्तरोत्पत्तिः परिणामः' । हाँ, इसी नाटक के अंक ३ (श्लोक ४७) तथा अंक ६ (श्लोक ६) में विवर्त शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

रामायणम्—'रामस्य अयनं चरितम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः' । राम का चरित वर्णित होने के कारण अभेदोपचार से वह महाकाव्य भी रामायण कहा जाता है ।

वनदेवता--हन्त ! तर्हि मण्डितः संसारः।

आत्रेयी--तस्मादवोचं तत्र हि महानध्ययनप्रत्यूह इति।

वनदेवता--युज्यते।

आत्रेयी--विश्रान्तास्मि भद्रे ! सम्प्रत्यगस्त्याश्रमस्य पन्थानं ब्रूहि।

मेव महदाश्चर्यं जनयति। आत्रेयी पुनः कथाक्रममारभमाणाऽकथयद्यत्तदानीं सर्वजगतामुत्पादकः कमलजन्मा ब्रह्मा प्रादुर्भूतशब्दप्रकाशं तं भगवन्तं वाल्मीकिमुपसङ्गम्योक्तवान्--'ऋषे ! शब्दब्रह्मणि तव प्रकृष्टं ज्ञानं सम्पन्नमतो रामस्य चरितं वर्णय। अव्याहतप्रकाशं योगजन्यं ते ज्ञाननेत्रं प्रकाशितं भवतु, लोके त्वमेवाद्यः कविरसि' इत्युक्त्वा परोक्षतां गतः। तदनन्तरं स भगवान् वाल्मीकिः प्रथमं लोके शब्दात्मकस्य ब्रह्मणो रूपान्तरं पुरावृत्तरूपं करुणरसप्रधानं रामायणाख्यं महाकाव्यं रचयामास।

वनदेवता--तर्हि मण्डितः संसारः=वाल्मीकिकृतरामायणेनालङ्कृतः संसार इति मे महान् हन्त=हर्षः, हन्त इति हर्षसूचकमव्ययम्।

आत्रेयी--तस्मादवोचं=तस्मादेवाहमुक्तवती, तत्र=वाल्मीकेराश्रमे, रामायणविरचनव्यापृततया तस्य सविधेऽध्यापनार्थं समय एव नास्ति, तस्मादध्ययनप्रत्यूहः=अध्ययने विघ्नं दृष्ट्वाऽत्र समागतास्मि।

वनदेवता--युज्यते=त्वयाऽध्ययनविघ्ने यो हेतुरुक्तः स युक्त एव।

आत्रेयी--भद्रे=शुभे ! विश्रान्तास्मि=अपगतो मे मार्गजनितखेदः, जिगमिषामि सम्प्रति, तदगस्त्याश्रमस्य मार्गं, ब्रूहि=निर्दिश। अपीति प्रश्ने।

जिस शास्त्र में बनायी गयी हों, उसे इतिहास कहते हैं। इति ह + √आस् + घञ् (अधिकरणे)। रामायणम्--राम + अयनम्, 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (८।४।३) सूत्र से नकार को णकार हो गया। प्रणिनाय--प्र + √नी + लिट् 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) सूत्र से 'निनाय' के पूर्व नकार को णकार।

विश्रान्ता--वि + √श्रम् + क्त (कर्तरि) + टाप्। पञ्चवटीम्--पञ्चानां वटानां

वनदेवता--हर्ष है, तब तो संसार अलङ्कृत हो गया।

आत्रेयी--तभी तो मैंने कहा था कि वहाँ अध्ययन में बड़ा विघ्न है।

वनदेवता--(तुम्हारा कथन) ठीक (ही) है।

आत्रेयी--कल्याणि ! मैं विश्राम कर चुकी। अब अगस्त्य जी के आश्रम का मार्ग बतलाइये।

वनदेवता--यहाँ से पञ्चवटी में प्रवेश कर गोदावरी के इस किनारे से जाइये।

हन्त--यहाँ यह अव्यय पद हर्ष का द्योतक है। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः। मण्डितः संसारः=संसार भूषित हो गया, अर्थात् श्रीरामायण संसार का भूषण है। 'मण्डितः' के स्थान पर 'पण्डितः' पाठ भी है, जिसका अर्थ है--तब तो सांसारिक जन भी (रामकथा) के पण्डित हो जायेंगे।

वनदेवता—इतः पञ्चवटीमनुप्रविश्य गम्यतामनेन गोदावरीतीरेण ।

आत्रेयी—(सास्रम्) अप्येतत् तपोवनम् । अप्येषा पञ्चवटी । अपि सरिदियं गोदावरी । अप्ययं गिरिः प्रस्रवणः । अपि जनस्थानदेवता वासन्ती त्वम् ।

वनदेवता—तथैव तत्सर्वम् ।

आत्रेयी—हा वत्से जानकि !

स एष ते वल्लभबन्धुवर्गः प्रासङ्गिकीनां विषयः कथानाम् ।
त्वां नामशेषामपि दृश्यमानः प्रत्यक्षदृष्टामिव नः करोति ॥ ६ ॥

वनदेवता—इतः पञ्चवटीमनुप्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, अनेन गोदावरीतीरेण गम्यताम् ।

आत्रेयी—(सास्रम् = रामपरित्यक्तायाः सीतायाः स्मरणादश्रूणि विमुच्येत्यर्थः ।) एतत्तपोवनं किम् ? एषा पञ्चवटी किम् ? इयं सरित् = गोदावरी किम् ? अयं प्रस्रवणः गिरिः किम् ? त्वं जनपदस्थानदेवता वासन्ती किम् ?

वनदेवता—'तथैव तत्सर्वमि'त्याह ।

सीतास्मरणविह्वलाऽऽत्रेयी प्राह—वत्से सीते !

अन्वयः—प्रासङ्गिकीनां कथानां विषयः सः एषः ते वल्लभबन्धुवर्गः दृश्यमानः नामशेषामपि त्वां नः प्रत्यक्षदृष्टामिव करोति ।

समाहारः पञ्चवटी, ताम् (समाहारद्विगु) । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' सूत्र से समास और 'संख्यापूर्वो द्विगुः' सूत्र से उसकी द्विगु संज्ञा हुई । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इस वचन से 'द्विगोः' सूत्र से ङीप् ।

वल्लभबन्धुवर्गः—वल्लभाश्च ते बन्धव इति वल्लभबन्धवः (कर्मधारय), तेषां

आत्रेयी—(आँखों में आँसू भर कर) क्या यह तपोवन है ? क्या यह पञ्चवटी है ? क्या यह गोदावरी नदी है ? क्या यह प्रस्रवण गिरि है ? क्या आप जनस्थान की देवता वासन्ती है ?

वनदेवता—(जैसा आप कह रही हैं) यह सब वैसा ही है ।

आत्रेयी—हे वत्से जानकि !

प्रासङ्गिक बात-चीत के विषय और दिखलायी देते हुए तुम्हारे ये ही ये बन्धु लोग (यहाँ का तपोवन, पञ्चवटी, प्रस्रवण गिरि, गोदावरी नदी आदि) नाम मात्र से अवशिष्ट भी तुमको हमारे लिए प्रत्यक्ष देखी हुई-सी कर रहे हैं (इन्हें देखते ही तुम्हारी सलोनी सूरत हमारी आँखों के सामने नाचने लगी) ॥ ६ ॥

अप्येतत्—यहाँ वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त होने से 'अपि' प्रश्नसूचक है ('गर्हा-समुच्चय-प्रश्न-शङ्का-सम्भावनास्वपि' इत्यमरः) । वनदेवता के मुख से तपोवन, गोदावरी, पञ्चवटी का नाम सुनकर सीता का स्मरण आ जाने से आँखों में आँसू भरकर आत्रेयी पूछती है—क्या यह तपोवन है ? क्या यह पञ्चवटी है ? आदि ।

नामशेषाम्—कवि ने इस शब्द का प्रयोग कर एक ओर सीता के निर्वासन की सूचना दी है, दूसरी ओर इसी शब्द के आधार पर वासन्ती और आत्रेयी का सीता के विषय में संलाप आरम्भ हो जाता है ।

वासन्ती—(सभयं स्वगतम्) कथं नामशेषामित्याह। (प्रकाशम्) आर्ये! किमत्याहितं सीतादेव्याः?

आत्रेयी—न केवलमत्याहितं सापवादमपि। (कर्णे) एवमेवम्।

लेति। प्रासङ्गिकीनां कथानां=प्रसङ्गप्राप्तसंलापानां, विषयः=विषयभूतः, सः एषः=सोऽयं, ते=तव, वल्लभबन्धुवर्गः=तपोवनादिप्रियबन्धुसमूहः, तपोवन-पञ्चवटीगोदावरीप्रस्रवणवासन्तीप्रभृतय इत्यर्थः, 'वल्लभशाखिवर्गः' इति पाठे वल्ल-भानां=प्रियाणां, शाखिनाम्=वृक्षाणां, वर्गः=समूहः, इत्यर्थः कार्यः, सीतया जल-सेचनात् परिवर्द्धितत्वात्तेषां प्रियबन्धुत्वं बोध्यम्। दृश्यमानः=मयाऽवलोक्यमानः सन्, नामशेषामपि=मृतामपि (उपरताम् अपि), त्वां=सीताम्, नः=मम (अस्माकं), प्रत्यक्षदृष्टामिव=साक्षादवलोकितामिव, 'प्रत्यक्षदृश्यामि'ति पाठे चक्षु-र्ग्राह्यामित्यर्थः; करोति=विदधाति। तदेवेदं तपोवनं, तामेवेमां पञ्चवटीं, गोदावरीं तमेवेमं गिरिं प्रस्रवणं, तामिवेमां वासन्तीं, तानेव त्वत्करपल्लववर्धितान् वृक्षांश्च दृष्ट्वा नामशेषाया अपि तव लावण्यमयी मूर्तिर्मन्नेत्रयोः पुरतो नृत्यतीति भावः।

अत्र भूतस्य सीतारूपपदार्थस्य प्रत्यक्षायमाणत्वेन वर्णनाद् भाविकालङ्कारः। तल्लक्षणं यथा—'अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः। यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥' इति। इवेति पदोपादानेनोत्प्रेक्षा च। तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मिश्रणादुपजातिर्वृत्तम् ॥ ६ ॥

वासन्ती—(सभयं स्वगतं=सीतामरणसम्भावनाजन्यभयसहितं स्वमनसि ब्रूते—इयमात्रेयी कथं सीतां नामशेषामिति वदति?) (प्रकाशम्) आर्ये=आत्रेयि! किं अत्याहितं=सीतायाः प्राणसङ्कटं जातम्? ('अत्याहितं महाभीतिः कर्म जीवानपेक्षि च' इत्यमरः।)

आत्रेयी—न हि केवलं प्राणसङ्कटं, सापवादमपि=लोकापवादसहितमपि; प्राण-सङ्कटमेव नास्ति, लोकनिन्दापि सञ्जातेति भावः। सूचयति च (कर्णे) एवमिति। लोकापवादप्रयुक्तेन रामस्यादेशेन लक्ष्मणो हिंस्रसङ्कुलेऽरण्य एकाकिनीं सीतां परि-त्यक्तवानित्यात्रेयी सूचितवतीति भावः।

वर्गः (तत्पुरुष)। प्रासङ्गिकी—प्रसङ्ग + ठक्, ततः स्त्रियां ङीप्। दृश्यमानः=√दृश् + शानच् (कर्मणि)। प्रत्यक्षदृष्टाम्—प्रत्यक्षं दृष्टा ताम्; √दृश् + क्त, ततः स्त्रियां टाप्। अत्याहितम्—अति + आ + √धा + क्त (धा को हि)। निर्माणभागः-

---

वासन्ती—(डर के साथ मन ही मन) क्यों नाम शेष (मृत) कह रही है? **(प्रकाश भाव से)** कैसा महाभय सीता देवी को हुआ?

आत्रेयी—केवल महाभय ही नहीं, साथ-साथ लोकापवाद भी; **(कान में)** ऐसा।

वासन्ती—यह वनदेवता का नाम है, जिसकी सूचना आत्रेयी और वनदेवता की बात-चीत से मिल चुकी है। अतः यहाँ से वनदेवता के लिए 'वासन्ती' शब्द का प्रयोग हुआ है।

वासन्ती—अहह ! दारुणो दैवनिर्घातः। (इति मूर्च्छति)

आत्रेयी—भद्रे ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि।

वासन्ती—हा प्रियसखि ! हा महाभागे ! ईदृशस्ते निर्माणभागः। हा रामभद्र ! अथवा अलं त्वया। आर्ये आत्रेयि ! अथ तस्मादरण्यात् परित्यज्य निवृत्ते लक्ष्मणे सीतादेव्याः किं वृत्तमिति काचिदस्ति प्रवृत्तिः ?

आत्रेयी—नहि नहि।

वासन्ती—अहह=हा ! खेदद्योतकमव्ययम् ('अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः) दारुणो दैवनिर्घातः=दुर्दैवेन कठोरः प्रहारः कृतः (इति मूर्च्छति=मूर्च्छां गता)।

आत्रेयी—भद्रे=शुभे ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि=धैर्यमवलम्बस्व, धैर्यमवलम्बस्व।

वासन्ती—हा प्रियसखि ! सीते ! हा महाभागे ! ते=सीतायाः, ईदृशः=एतादृशः, निर्माणभागः=जीवनपरिणामोऽभूत्। हा रामभद्र ! (इत्यादिवाक्येन रामस्योपालम्भे प्रवर्तमाना पुनः कथयति) अलं त्वया=अथवा ! नास्ति तवोपालम्भेन कोऽपि लाभः। (इत्युक्त्वाऽऽत्रेयीं पृच्छति) आत्रेयि ! तस्मिन्नरण्ये सीतां परित्यज्य ततो लक्ष्मणे निवृत्ते सीतायाः किं वृत्तम्=किं निष्पन्नम् ? काचिदस्ति प्रवृत्तिः=तत्रास्ति कश्चिद् वृत्तान्तः ? ('वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः।)

आत्रेयी—नहि नहि=नास्ति काचिद् वार्ता।

निर्माणस्य सृष्टेः, भागः फलम् इति निर्माणभागः=सृष्टि का फल अर्थात् क्या इसी लिए तुम्हारी सृष्टि हुई ? अथवा 'निर्माणे भागः' इति निर्माणभागः (सप्तमी तत्पुरुष) यहाँ 'भाग' शब्द भाग्यवाचक है। तात्पर्य यह है कि तुम्हारी सृष्टि के समय विधाता ने तुम्हारा ऐसा ही भाग्य लिखा था। दोनों प्रकार से अर्थ करने पर भी भाव में कोई तात्विक भेद नहीं पड़ता है। निर्घातः—निर् + √हन् + घञ् (भावे)।

वासन्ती—हा ! दुर्दैव का कठोर प्रहार है। **(ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाती है)**

आत्रेयी—शुभे ! धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो।

वासन्ती—प्रिय सखि (सीते) ! तुम्हारे जीवन का ऐसा परिणाम हुआ। हा रामभद्र ! अथवा तुम (राम) को क्या कहूँ। आत्रेयि ! सीता जी को छोड़कर उस जंगल से लक्ष्मण जी के लौटने पर सीता का क्या हुआ, इस विषय में कुछ खबर है ?

आत्रेयी—नहीं, नहीं।

निर्घातः—आकाश में हवा के झोंकों के टकराने का शब्द। यहाँ प्रहार से तात्पर्य है, जो वज्रपात की तरह दारुण है।

हा रामभद्र—वासन्ती श्रीराम को उलाहना देना शुरू करती है, किन्तु 'हा रामभद्र'—इतना ही कहकर रुक जाती है और कह उठती है—'अलं त्वया'। अर्थात् तुम राम को क्या कहूँ। इतने से ही वासन्ती के हृदय का सारा गुबार अभिव्यक्त हो उठा है।

वासन्ती—हा ! कष्टम् । अरुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठितेषु रघुकदम्बकेषु जीवन्तीषु च प्रवृद्धासु राज्ञीषु कथमिदं जातम् ?

आत्रेयी—ऋष्यशृङ्गाश्रमे गुरुजनस्तदासीत् । सम्प्रति तु परिसमाप्तं तद्द्वादशवार्षिकं सत्रम् । ऋष्यशृङ्गेण च सम्पूज्य विसर्जिता गुरवः । ततो भगवत्यरुन्धती नाहं वधूविरहितामयोध्यां गमिष्यामीत्याह । तदेव राममातृभिरनुमोदितम् । तदनुरोधाद्भगवतो वसिष्ठस्य परिशुद्धा वाचो वाल्मीकितपोवनं गत्वा तत्र वत्स्याम इति ।

आत्रेयीमुखात् सीताविवासनं ज्ञात्वा **वासन्ती** प्राह—हा कष्टमिति । 'कष्टम्' इति दुःखातिशयेऽव्ययम् । रघुकदम्बकेषु=श्रेष्ठरघुवंशीयेषु अरुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठितेषु=पूज्यारुन्धतीवसिष्ठाभ्यां कर्त्तव्योपदेशैरनुशासितेषु सत्सु, जीवन्तीषु वृद्धासु राज्ञीषु=वयोवृद्धासु ज्ञानवृद्धासु च नृपपत्नीषु कौसल्यादिषु विद्यमानासु (सर्वत्र भावे सप्तमी) । इदं=सीताविवासनरूपं घोरकृत्यं कथं जातम् ?

आत्रेयी प्राह—तदा=तस्मिन् समये, गुरुजनः=वसिष्ठकौसल्यादिः पूज्यवर्गः, ऋष्यशृङ्गाश्रमे ह्यासीत् । सम्प्रति तु=अधुना तद्द्वादशवार्षिकं, सत्रं=यज्ञं परि-

---

रघुकदम्बकेषु—रघूणां कदम्बकानि वृन्दानि रघुकदम्बकानि तेषु (ष० त०); अथवा—रघवः कदम्बकानि कदम्बपुष्पाणीवेति तेषु 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इत्युपमितसमासः । जीवन्तीषु—√जीव्+शतृ+ङीप्+नुम् । भावे सप्तमी । द्वादशवार्षिकम्—द्वादशवर्षाणि व्याप्य भूतमिति द्वादशवार्षिकम् । 'तमधीष्टो भृतो भूतो भावी' (पा० ५।१।८०) सूत्र से 'ठञ्' तद्धितप्रत्यय । 'अनुशतिकादीनाञ्च' (पा० ७।३।२०) सूत्र से उभयपदवृद्धि । तद्धितार्थ में द्विगु समास । अनुमोदितम्—अनु+√मुद्+णिच्+क्त । अनुरोधः—अनु+√रुध्+घञ् । वत्स्यामः—√वस् (निवासे)+लृट् ।

वासन्ती—हाय, दुःख है ! श्रेष्ठ रघुवंशियों के अरुन्धती और वसिष्ठ से (उनके कर्त्तव्योपदेश द्वारा) संचालित होते हुए, बड़ी बूढ़ी रानियों के जीते जी यह कैसे हो गया ?

आत्रेयी—गुरुजन उस समय ऋष्यशृङ्ग के आश्रम में थे । अब उनका बारह वर्ष तक चलने वाला यज्ञ पूरा हो गया और ऋष्यशृङ्ग ने सम्यक् प्रकार से समादृत कर गुरुजनों को विदा किया । तब भगवती अरुन्धती ने कहा—'वधू (सीता) से सूनी अयोध्या में मैं नहीं जाऊँगी । वही राम की माताओं से भी अनुमोदित किया गया । उसके अनुरोध से भगवान् वसिष्ठ के परिशुद्ध स्पष्ट वचन थे कि हम लोग वाल्मीकि के तपोवन में जाकर वहाँ रहेंगे ।

रघुकदम्बकेषु—'कदम्बक' शब्द का अर्थ 'समूह' और 'कदम्बपुष्प' दोनों होता है । पुष्पवाची कदम्बक शब्द समास में उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त होने पर श्रेष्ठार्थक होता है; जैसे व्याघ्र, पुङ्गव आदि शब्द । वासन्ती का आशय है कि अरुन्धती, वसिष्ठ, रघुवंशियों, कौसल्यादि रानियों के रहते हुए ऐसा कैसे हो गया ।

वधूः—'वधू' का अर्थ पत्नी, पुत्रवधू तथा नारी होता है । अरुन्धती ने सीता को वधू अर्थात्

वासन्ती--अथ स राजा किमाचारः सम्प्रति ?

आत्रेयी--तेन राज्ञा क्रतुरश्वमेधः प्रक्रान्तः ।

वासन्ती--हा धिक् ! परिणीतमपि ।

समाप्तम् । ऋष्यश्रृङ्गेण च सम्पूज्य = सत्कृत्य, गुरवः = वसिष्ठकौसल्यादयः, विसर्जिताः = स्वस्थानगमनार्थमनुमताः । ततः = तदनन्तरं भगवत्याऽरुन्धत्योक्तम्---'सीताशून्यामयोध्यां नाहं यास्यामीति ।' तदेव कौसल्यादिभिः श्रीराममातृभिरपि तदनुमोदनं कृतम् । तदनुरोधात् तदानीं वसिष्ठस्यातीवनिर्दोषा वाच आसन् 'वाल्मीकितपोवनं गत्वा तत्र वयं वत्स्याम' इति ।

वासन्ती---सीताविवासनानन्तरं सम्प्रति स राजा = रामः, किमाचारः = किमाचरति ? 'किमारम्भः' इति पाठे किं कर्म करोति साम्प्रतम् ।

आत्रेयी---तेन राज्ञा = रामेण, अश्वमेधो नाम क्रतुः = यज्ञः, प्रक्रान्तः = प्रारब्धः । पत्नीं विना यज्ञानुष्ठानासम्भवाद्रामेण विवाहोऽपि कृत इति मत्वा वासन्ती प्राह---हा धिक् (राममिति शेषः) ! तेन परिणीतमपि = विवाहोऽपि कृतः ।

किमाचारः---क आचारो यस्य सः (ब० व्री०) । प्रक्रान्तः---प्र + √क्रम् + क्तः (कर्मणि), 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' (६।४।१५) इति उपधादीर्घः । परिणीतम्---परि + √नी + क्त (भावे) 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) इति णत्वम् ।

वासन्ती---इसके बाद अब वह राजा (राम) क्या कर रहा है ?

आत्रेयी---उस राजा ने अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ किया है ।

वासन्ती---हा, छिः छिः । उसने विवाह भी कर लिया ।

पुत्रवधू कहा है, जिससे सीता के प्रति उसकी प्रगाढ आत्मीयता और स्नेह प्रकट होता है एवम् अयोध्या जाने से इनकार करती है ।

स राजेति---आदरपूर्वक 'रामभद्र' ऐसा नाम न लेकर केवल 'राजा' शब्द से वासन्ती ने राम का जो निर्देश किया है, उससे उसका राम के प्रति आक्रोश व्यक्त होता है । उसके वचन का आशय है कि जो राजा सीता जैसी पवित्र और पतिव्रता पत्नी को वन भेजने का दुष्कृत्य कर सकता है, वह उसके बाद भी अपनी बेहूदा हरकतों से बाज नहीं आयेगा । अतएव वह जानना चाहती है कि सीता-विवासन के बाद अब उसका आचरण कैसा है ?

अश्वमेधः---'अश्वं मेध्यते हिंस्यतेऽत्रेति' । अश्वमेध क्रतु प्राचीन काल में राजा लोग अपनी सार्वभौमता सिद्ध करने के लिए किया करते थे । यद्यपि क्रतु और यज्ञ शब्द पर्याय माने जाते हैं फिर भी दोनों में अन्तर है । क्रतु में बलिदान आवश्यक है, यज्ञ में नहीं । अश्वमेध क्रतु में राज-चिह्न से अलंकृत एक घोड़ा छोड़ दिया जाता था । उसके पीछे सेना चलती थी । घोड़े को पकड़ने वाले राजा से युद्ध होता था । उस राजा की हार हो जाने पर घोड़ा आगे बढ़ता था । इस प्रकार पृथ्वी पर जब कोई राजा उस घोड़े को पकड़ रखने में सफल नहीं होता था तब उस घोड़े की बलि दे दी जाती थी ।

परिणीतमपि---यजमान को सपत्नीक यज्ञ करना चाहिए । बिना पत्नी के किया हुआ

आत्रेयी—शान्तं पापम् । नहि नहि ।

वासन्ती—का तर्हि यज्ञे सहधर्मचारिणी ?

आत्रेयी—हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः ।

वासन्ती—हन्त भोः !

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥ ७ ॥

आत्रेयी—शान्तं पापम्, ईदृग्विचिन्तनमपि पापं, तन्निवृत्तं भवेत् । नहि नहि= रामेण विवाहः न कृतः ।

वासन्ती—यदि न परिणीतं तदा यज्ञे का सहधर्मिणी ? पत्नीं विना यज्ञानुष्ठाना-सम्भवः ।

आत्रेयी—सीतास्थाने हिरण्मयी = सुवर्णमयी, सीताप्रतिकृतिः = सहधर्मिणी ।

वासन्ती—हन्त ! = हर्षद्योतकमव्ययम् । भोः = सम्बोधनार्थकमव्ययम् ।

अन्वयः—वज्रादपि कठोराणि (तथा) कुसुमादपि मृदूनि लोकोत्तराणां चेतांसि कः नु विज्ञातुमर्हति ? ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्रेण स्वकर्त्तव्यपरायणतया प्राकृतलोकापवादमात्रेण वह्निपरिशुद्धापि सीता परित्यक्ता, पुनश्च स्नेहशीलत्वाद्यज्ञनिर्वहणाय सीताप्रतिकृतिरेव सहधर्मचारिणी-स्थानेऽङ्गीकृतेति विज्ञाय वासन्ती सहर्षं कथयति—**वज्रादपीत्यादि** । लोकोत्तराणां

सहधर्मचारिणी—(पत्या) सह धर्मं चरितुं शीलमस्या इति सहधर्मचारिणी (उपपदसमास); √चर + णिनिः (ताच्छील्ये) । हिरण्मयी—हिरण्य शब्द से विकारार्थ में मयट् (मय), टित्त्वात् स्त्रियां ङीप्, निपातन से 'य' का लोप । लोकोत्तराणाम्—लोकेभ्यः उत्तराः श्रेष्ठाः तेषाम् (शेषे षष्ठी) । व्यवस्था

आत्रेयी—पाप शान्त (हो) । नहीं, नहीं ।

वासन्ती—तो यज्ञ में सहधर्मचारिणी (पत्नी) कौन है ? (क्योंकि पत्नी का होना यज्ञा-नुष्ठान के लिए आवश्यक है) ।

आत्रेयी—सीता की स्वर्णमयी प्रतिमूर्ति (सहधर्मचारिणी है) ।

वासन्ती—ओह ! असाधारणजन (अर्थात् महापुरुषों) के वज्र से भी कठोर और पुण्य से भी कोमल हृदयों को भला कौन जान सकता है ? ॥ ७ ॥

यज्ञ निष्फल होता है । सीता-परित्याग के बाद राम के यज्ञारम्भ से वासन्ती ने अनुमान कर लिया कि उन्होंने दूसरा विवाह भी कर लिया ।

हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः—राम के हृदय में सीता के प्रति भावदोष नहीं था । उन्होंने सीता का परित्याग मात्र लोकाराधन के लिए किया था । उन्होंने बारह वर्ष बीत जाने पर भी दूसरा विवाह न कर अश्वमेध क्रतु में सीता की सुवर्णमयी प्रतिमा को ही जो सहधर्मचारिणी का स्थान दिया, उससे उनके चरित्र पर प्रकाश पड़ता है ।

वज्रादपि···अर्हति—भवभूति का यह श्लोक संस्कृत-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है । कवि ने

आत्रेयी--विसृष्टश्च वामदेवाभिमन्त्रितो मेध्योऽश्वः। उपकल्पिताश्च यथाशास्त्रं तस्य रक्षितारः। तेषामधिष्ठाता च लक्ष्मणात्मजश्चन्द्रकेतुरवाप्तदिव्यास्त्रसम्प्रदायश्चतुरङ्गसाधनान्वितोऽनुप्रहितः।

चेतांसि=अलौकिकमहापुरुषाणां हृदयानि, (कर्त्तव्यानुरोधात्) वज्रादपि=कुलिशादपि कठोराणि=कठोरतराणि जायन्ते (स्नेहमयत्वात्), तथा कुसुमादपि=पुष्पादपि मृदूनि=कोमलतराणि च भवन्ति। तेषां तादृशानि चेतांसि कः नु विज्ञातुमर्हति=कोऽप्यवगन्तुं न समर्थः। 'नु' इति वितर्के। सीतापरित्यागश्रवणकाले श्रीरामहृदयस्य काठिन्यमेव मयाऽवगतम्। तस्मिन्मार्दवमपि वर्तत इति न विज्ञातं तदेति वासन्तीवचनस्याशयः। अत्र रामस्य हृदयं विज्ञातुमशक्यमिति विशेषे प्रस्तुते, सामान्यमभिहितमित्यप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः, कठोरमृद्वोर्विरूपयोः सङ्घटनाच्च विषमालङ्कारः। तयोरङ्गाङ्गिभावेन संवलनात् सङ्करः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ७ ॥

आत्रेयी--वामदेवाभिमन्त्रितः=वामदेवनाम्ना केनचिदृषिणा मन्त्रेण संस्कृतः। ('अनुमन्त्रितः' इति पाठे अनुज्ञातः) मेध्यः=यज्ञीयः। अश्वः=तुरङ्गमः। विसृष्टः

(उत्तरदिशा) अर्थ न होने के कारण 'उत्तर' शब्द सर्वनामसंज्ञक नहीं है, अतः 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' से सुट् का आगम—'उत्तरेषाम्' रूप नहीं हुआ।

विसृष्टः—वि + √सृज् + क्तः (कर्मणि)। मेध्यः—मेधाय हित इति मेध्यः,

---

आत्रेयी—और वामदेव (ऋषि) के द्वारा मन्त्रों से पवित्र किया यज्ञीय अश्व छोड़ा गया। शास्त्रानुसार उसके रक्षक भी नियुक्त किये गये हैं। उनका अधिनायक लक्ष्मण का पुत्र, जो दिव्यास्त्रों का परम्परागत उपदेश प्राप्त कर चुका है तथा जो चतुरङ्गिणी सेना से युक्त है, (उस घोड़े के) पीछे भेजा जा चुका है।

असाधारण महानुभावों के हृदयों की गूढ़ता, उनके स्वभाव की रहस्यात्मकता पर पूर्ण प्रकाश डाला है। उनके कार्यकलाप से ही उनके हृदय को 'इदमित्थम्' निश्चित कर लेना समीचीन नहीं होगा, क्योंकि उनका हृदय विरोधी गुणों एवं धर्मों का अधिष्ठान होता है। सीता-परित्याग को देखकर श्रीराम के हृदय को कठोर घोषित कर देना भ्रान्ति से खाली नहीं होगा, क्योंकि उनका सीता की प्रतिकृति से ही यज्ञ सम्पन्न करना उनके हृदय की स्नेहजन्य लोकोत्तर मृदुता को भी प्रकट करता है। भाव-समानता के लिए द्रष्टव्य—

'सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम्। आपत्सु च महाशैलशिलासङ्घातकर्कशम् ॥'

(भर्तृहरि, नीतिशतक ६६)

वामदेव—ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के सूक्तों के द्रष्टा वामदेव ऋषि के नाम का उल्लेख वसिष्ठ के साथ रामायण में अनेकत्र मिलता है। यह तो विदित ही है कि सीता-विवासन के बाद ऋष्यशृङ्ग के आश्रम से विदा होने पर वसिष्ठ जी कौसल्यादि के साथ वाल्मीकि के आश्रम में रहने लगे थे, अतः उनकी अनुपस्थिति में राम के अश्वमेध यज्ञ में वामदेव ऋषि ऋत्विज् बनाये गये।

सम्प्रदाय—गुरुद्वारा सम्यक् विद्या-प्रदान अर्थात् गुरुपरम्परागत उपदेश।

वासन्ती—(सस्नेहकौतुकास्रम्) कुमारलक्ष्मणस्यापि पुत्रः। हन्त ! मातर्जीवामि ।

=विमुक्तः । यथाशास्त्रम् =यथाविधि । तस्य =अश्वस्य । रक्षितारः =रक्षकाः । उपकल्पिताः =नियुक्ताः । तेषाम् =रक्षकाणाम् । अधिष्ठाता =अधिनायकः । अवाप्तदिव्यास्त्रसम्प्रदायः =अधिगतदिव्यास्त्रोपदेशः । चतुरङ्गसाधनान्वितः =हस्त्यश्वरथपदातिसैन्यानुगतः । लक्ष्मणात्मजः =लक्ष्मणपुत्रः । चन्द्रकेतुः =चन्द्रकेतुरिति नाम्ना प्रसिद्धः । अनुप्रहितः =अनुप्रेषितः ।

वासन्ती—सहर्षकौतुकास्रम् =हर्षकौतुकाश्रुभिः सहितं यथा स्यात्तथा । लक्ष्मणनामश्रवणाद्धर्षः, तस्यापि पुत्रवत्तया कौतुकम्, लक्ष्मणस्मरणेन परित्यक्तायाः सीतायाः स्मरणादस्रमिति बोध्यम् । हन्त ! =हर्षद्योतकमव्ययम् । मातः =जननि ! जीवामि =प्रत्युज्जीवितास्मि ।

अयम्भावः--श्रीरामचन्द्रेण प्रक्रान्तस्याश्वमेधस्य वृत्तान्तं निवेदयन्त्यात्रेयी **वासन्तीं** प्राह—वामदेवनामकेन ऋषिणाऽभिमन्त्रितो यज्ञीयाश्वो विमुक्तः । शास्त्रानुसारं रक्षकाश्च नियुक्ताः । लक्ष्मणपुत्रश्चन्द्रकेतुर्येन दिव्यास्त्राणां गुरुपरम्परागत उपदेशोऽधिगतः, हस्त्यश्वरथपदातिसैन्येनानुगतः, अश्वरक्षकाणामधिष्ठातृत्वेनाश्वस्य पृष्ठतः प्रेषितः ।

आत्रेयीवचो निशम्य **वासन्ती** सहर्षकौतुकास्रं प्राह—कुमारलक्ष्मणस्यापीत्यादि । यो लक्ष्मणोऽत्र कुमार आसीत्तस्यापि पुत्रः सञ्जात इति वासन्त्या हर्षः, स एव लक्ष्मणपुत्रो रक्षकाणामधिनायक इति कौतुकम्, लक्ष्मणस्मरणेन परित्यक्तायाः सीतायाः स्मरणादस्रम् । लक्ष्मणस्यापि पुत्र इति श्रवणेन मातः आत्रेयि ! सन्तापातिशयान्मृतेवाहं प्रत्युज्जीवितास्मि । आत्रेय्या ब्राह्मणजातित्वेन 'मातः' इति सम्बोधनं सङ्गच्छते, स्त्रीणामियं स्वाभाविक्युक्तिरेव वेति ।

मेध + यत् (तस्मै हितम्) । उपकल्पिताः—उप + √क्लृप् + णिच् + क्तः (कर्मणि) । अधिष्ठाता—अधितिष्ठतीत्यधिष्ठाता; अधि + √स्था + तृच् (ण्वुल्तृचौ), षत्व ('उपसर्गात्सुनोति'—इत्यादिना) । अन्वितः—अनु + √इ + क्तः । अनुप्रहितः —अनु + प्र + √हि पू प० + क्तः ।

वासन्ती—(स्नेह, हर्ष तथा आँसुओं के साथ) कुमार लक्ष्मण के भी पुत्र हैं ! **हर्ष है,** माता, मैं जी गयी ।

चतुरङ्गसाधनान्वितः—साधन का अर्थ यहाँ सेना है—'साधनं मृतसंस्कारे सैन्ये सिद्धौषधे गतौ' इति मेदिनी । सेना के चार अङ्ग हैं—हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल ।

मातर्जीवामि—'मातर्जीवामीति द्राविडस्त्रीस्वभावोक्तिः । एवं वदता कविना निजं द्राविडत्वं प्रकटीकृतम् (घनश्याम टीका)' । अर्थात् द्राविड स्त्रियाँ स्वभावतः 'मातर्जीवामि' ऐसा बोला करती हैं । इसका प्रयोग कर कवि ने अपना द्राविड होना व्यक्त किया है ।

आत्रेयी—अत्रान्तरे ब्राह्मणेन मृतं पुत्रमुत्क्षिप्य राजद्वारे सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषितम् । ततो न राजापचारमन्तरेण प्रजास्वकालमृत्युः सञ्चरतीत्यात्मदोषं निरूपयति करुणामये रामभद्रे सहसैवाशरीरिणी वागुदचरत्—

शम्बूको नाम वृषलः पृथिव्यां तप्यते तपः ।
शीर्षच्छेद्यः स ते राम तं हत्वा जीवय द्विजम् ॥ ८ ॥

आत्रेयी वृत्तान्तरं वासन्त्यै निवेदयति—अत्रान्तरे केनचिद् ब्राह्मणेन मृतं=गतप्राणं पुत्रं, राज्ञो रामस्य राजद्वारे=प्रासादद्वारे समारोप्य, सोरस्ताडं=वक्षःस्थलं कराघातैस्ताडयता अब्रह्मण्यमुद्घोषितम्—'ब्राह्मणामत्याहितम्' इत्युच्चैरुच्चारितम्। ततः=तच्छ्रवणानन्तरं, राजापचारमन्तरेण=राजापराधं विना, प्रजासु=जनेषु नाकालमृत्युः, सञ्चरति=प्रसरतीति, दयामये श्रीरामचन्द्रे निजापराधं निरूपयति सति सहसैव अशरीरिणीवाक्=आकाशवाणी, उदचरत्=समुद्गता ।

अन्वयः—शम्बूको नाम वृषलः पृथिव्यां तपः तप्यते । हे राम ! स ते शीर्षच्छेद्यः तं हत्वा द्विजं जीवय ॥ ८ ॥

शम्बूक इति । शम्बूको नाम, वृषलः=शूद्रः, पृथिव्यां=भुवि, तपः तप्यते=तपश्चरति । हे राम ! स ते=तव, शीर्षच्छेद्यः=शिरश्छेदार्हः, त्वया शिरश्छेदनेन

राजापचारमन्तरेण—राज्ञः अपचार इति राजापचारस्तम् । 'अन्तरेण' के योग में 'अन्तरान्तरेण युक्ते' सूत्र से द्वितीया । अपचारः—अप + √चर + घञ् ।

अशरीरिणी—शरीरमस्त्यस्या इति शरीरिणी, शरीर + इनि ('अत इनिठनौ') ततः स्त्रियां ङीप् ('ऋन्नेभ्यो ङीप्') न शरीरिणी इत्यशरीरिणी । इसका अर्थ है—शरीर रहित, अपार्थिव, स्वर्गीय । इसका प्रयोग प्रायः वाक्, बाणी आदि के साथ 'आकाशवाणी' के अर्थ में होता है ।

उदचरत्—उद् + √चर्; परस्मैपदी होने के कारण अकर्मक है, किन्तु सकर्मक होने पर आत्मनेपदी होती है—'उदश्चरः सकर्मकात्' (१।३।५३) धर्ममुच्चरते

आत्रेयी—इसी बीच में (एक) ब्राह्मण द्वारा मरे हुए पुत्र को राजद्वार पर डाल कर छाती पीट पीट कर 'ब्राह्मण पर महान् संकट आ पड़ा है, रक्षा करो' ऐसी दुहाई दी गयी । तब 'राजा के धर्मविरुद्ध आचरण के बिना प्रजाओं में अकालमृत्यु का संचार नहीं होता है'—अतः करुणामय रामभद्र के आत्मदोष का निरूपण करते रहने पर सहसा ही आकाशवाणी उद्गत हुई—

शम्बूक नामक शूद्र पृथिवी पर तप कर रहा है । हे राम ! तुम्हारे द्वारा वह शिर काटे जाने योग्य है । उसे मार कर ब्राह्मण (के पुत्र) को जीवित करो ॥ ८ ॥

अब्रह्मण्यम्—अब्राह्मणोचित कार्य या जो ब्राह्मण के लिए योग्य न हो । नाटकों में यह शब्द प्रायः दुहाई देने के अर्थ में प्रयुक्त होता है—अर्थात् 'रक्षा करो', 'सहायता करो' 'एक अत्यन्त भीषण और जघन्य कर्म हो गया है ।'

अपचार—वर्णाश्रमधर्मविरुद्ध आचरण । तुलना के लिए—'राजन् ! प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते ।' (रघुवंश १५।४७) ।

इत्युपश्रुत्यैवाकृष्टकृपाणपाणिः पुष्पकं विमानमारुह्य सर्वा दिशो विदिशश्च शूद्रतापसान्वेषणाय जगत्पतिः सञ्चरितुमारब्धवान् ।

वासन्ती—शम्बूको नाम धूमपः शूद्रोऽस्मिन्नेव जनस्थाने तपश्चरति । तदपि नाम रामभद्रः पुनरपीदं वनमलङ्कुर्यात् ।

आत्रेयी—भद्रे ! गम्यतेऽधुना ।

स दण्डनीय इत्याशयः । तं शम्बूकं, हत्वा=निहत्य, द्विजं=ब्राह्मणपुत्रं जीवय । नास्त्यन्यः कोऽप्यभ्युपायस्तस्य पुनरुज्जीवनायेति भावः ॥ ८ ॥

इति=एवम्, उपश्रुत्यैव=समाकर्ण्यैव, आकृष्टकृपाणपाणिः=कोषादुद्धृतं खड्गमादाय जगदीश्वरो रामः पुष्पकविमानमारुह्य शूद्रतापसान्वेषणाय='कुत्र सः शूद्रः तपश्चरति' इति मार्गणाय, दिशो विदिशः=प्राच्यादिका आग्नेय्यादिकाः कोणदिशः, लक्ष्यीकृत्य सञ्चरितुं=परिभ्रमितुमारब्धवान्=प्रचक्राम ।

आत्रेयीवचः श्रुत्वा वासन्ती प्राह—धूमपः=धूमपानकर्ता, शम्बूको नाम शूद्रोऽस्मिन्नेव जनस्थाने तपश्चरति । तदपि=तस्मादपि, नाम रामभद्रः पुनरपीहागमनेनेदं वनं अलङ्कुर्यात्=विभूषयेत् ।

आत्रेयी—भद्रे=कल्याणि ! गम्यतेऽधुना=अधुना मां गन्तुमनुजानीहि ।

धर्ममुल्लङ्घ्य गच्छति तपः तप्यते—यहाँ 'तप्' धातु अर्जनार्थक है, उसका कर्म 'तपः' है, अतः 'तपस्तपःकर्मकस्यैव' (३।१।८८) सूत्र के द्वारा कर्ता का कर्मवद्भाव हो गया अर्थात् उस कर्ता के योग में क्रिया का रूप कर्मवाच्य में 'तप्यते' हो गया ।

शीर्षच्छेद्यः—शिरसश्छेद इति शीर्षच्छेदः (ष० त०, निपातन से 'शिरस्' का शीर्ष), शीर्षच्छेदं नित्यमर्हतीति शीर्षच्छेद्यः 'शीर्षच्छेदाद् यच्च' (५।१।६५) से यत् । आकृष्टकृपाणपाणिः—आकृष्टश्चासौ कृपाण इत्याकृष्टकृपाणः (कर्मधा०)

ऐसा सुनते ही (म्यान से) खींची गयी तलवार हाथ में लिए जगदीश्वर राम ने पुष्पक विमान पर चढ़कर शूद्र तापस की तलाश करने के लिए सभी दिशाओं-विदिशाओं में घूमना आरम्भ कर दिया है ।

वासन्ती—धूममात्र पीने वाला (वह) शूद्र शम्बूक (तो) इसी जनस्थान में तप कर रहा है । तो संभव है, रामभद्र दुबारा भी इस वन को सुशोभित करें ।

आत्रेयी—कल्याणि ! अब मैं चलती हूँ ।

अशरीरिणी वाक्—आकाशवाणी । यद्यपि कालिदास द्वारा 'रघुवंश' में इसका उल्लेख हुआ है किन्तु रामायण में नहीं मिलता है । रामायण के अनुसार शम्बूक की तपस्या के विषय में नारद ने राम को सूचना दी थी ।

पुष्पकम्—यह तो सर्वविदित ही है कि यह विमान रावण के पास था । उसने इसे कुबेर से छीन लिया था । रावण को मारने के बाद राम इसी विमान से अयोध्या लौटे थे और इसे कुबेर के पास भेजते समय उन्होंने इसे चिन्तन किये जाने पर पुनः उपस्थित होने के लिए कहा था । क्योंकि इसकी विशेषता थी कि स्मरणमात्र से यह आकर उपस्थित हो जाता था ।

वासन्ती—आर्ये आत्रेयि ! एवमस्तु । कठोरीभूतस्तु दिवसः ।

कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभि-
र्घर्मस्रंसितबन्धनैः स्वकुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम् ।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः ॥ ९ ॥

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ते)

इति शुद्धविष्कम्भः ।

वासन्ती—तर्हि भवत्या गम्यताम्, मध्याह्नवेलापि सञ्जाता । तथाहि—कठोरीभूतः = पूर्णतां गतः ('कठोरी पूर्णकठिनौ' इति हैमः) ।

अन्वयः—छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले (स्थिताः) कुलायद्रुमाः कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभिः घर्मस्रंसितबन्धनैः स्वकुसुमैः गोदावरीम् अर्चन्ति ॥ ९ ॥

कण्डूलेत्यादि । उपस्किरमाणाः = भक्ष्यार्थं चञ्च्वा भूमिं लिखन्तः । विष्किराः = वायसादयः पक्षिणः । व्याकृष्टाः = बहिर्निष्कासिताः । कण्डूलाः = कण्डूयुक्ताः । द्विपाः = गजाः । गण्डपिण्डकषणम् = पिण्डाकारकपोलघर्षणम् । सम्पातिभिः = पतनशीलैः ।

आकृष्टकृपाणः पाणौ यस्य सः (व्यधिकरण बहुव्रीहि) 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' वार्तिक से सप्तम्यन्त 'पाणि' का परनिपात । धूमपः—धूमं पिबतीति धूमपः; √पा + क (आतोऽनुपसर्गे कः) ।

कण्डूलः (वि०)—कण्डू + लच् । द्विपः—द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबतीति द्विपः । 'सुपि स्थः' (३।२।४) यहाँ 'सुपि' ऐसा योगविभाग करते हैं, जिसकी व्याख्या है—'सुप्युपपदे आदन्तात् कः स्यात्' । यहाँ इसी से 'क' प्रत्यय होकर 'द्विपः' पद व्युत्पन्न होता है । गण्डपिण्डाः–गण्डाः पिण्डा इवेति गण्डपिण्डाः (उपमितसमासः) । कषणः–√कष् + ल्युट् । उत्कम्पेन–उत् + √कम्प + घञ् । सम्पातिभिः–सम्पतन्तीति सम्पातिनस्तैः । सम् + √पत् + णिनिः । स्रंसित—√स्रंस् + णिच् + क्तः (कर्मणि) ।

वासन्ती—आर्ये आत्रेयि ! ऐसा ही हो, दिन (भी) कठोर हो गया है (धूप तेज हो गयी है) । छाया में (चोंचों से, भक्ष्यार्थ) कुरेदते हुए पक्षियों की चोंचों द्वारा खींचकर कीट जिनसे बाहर कर दिये गये हैं, ऐसी छालों वाले तथा जिन पर (धूप के कारण) खिन्न कबूतरों और मुर्गों का समुदाय बोल रहा है, तट पर स्थित तथा पक्षियों के घोंसलों से युक्त वृक्ष, गजों के खुजलाहट-

---

इस श्लोक में अनुप्रास की छटा देखने योग्य है । अन्तिम पद में प्रत्येक शब्द ककार से आरम्भ होने वाले हैं और साथ में 'ल' वर्णों की ध्वनि सुन्दर गति और अपूर्व माधुर्य की सृष्टि कर रही है । 'अपस्किरमाण' एवं 'विष्किर' जैसे प्रयुक्त शब्दों से कवि की व्याकरणमर्मज्ञता सूचित होती है । कवि का शब्द-चयन वर्ण्य-विषय के अनुरूप है ।

शुद्ध विष्कम्भक—विष्कम्भक किसी भी अङ्क के आदि में आने वाला वह भाग है, जिसमें भूत या भविष्यत् के ऐसे कथांशों की सूचना दी जाती है, जिनका निबन्धन अङ्क में इस कारण से

घर्मस्रंसितबन्धनैः = आतपशिथिलवृन्तैः । कुलायद्रुमाः = पक्षिभिः कृतनीडा वृक्षाः । अर्चन्ति = पूजयन्ति ॥ ९ ॥

अयम्भावः—गोदावरीकूले बहवो वृक्षाः स्थिताः, तेषां कोटरेषु कृतनीडाः पक्षिणश्छायासु भक्ष्यसङ्ग्रहार्थं चञ्चुभिरवलिखन्तो वृक्षाणां त्वग्भ्यः कीटान् बहिर्निष्कासयन्ति, किञ्च तेषु वृक्षेषु सन्तापखिन्नाः कपोतकुक्कुटादयो रुवन्ति । वन्या गजाः समागत्य स्वगण्डस्थलकण्डूतिं दूरीकर्तुं वृक्षान् घर्षन्ति, तद्घर्षणेन परिकम्पितेभ्यो वृक्षेभ्यो घर्मातिरेकाच्छिथिलवृन्ततया पुष्पाणि परिपतन्ति गोदावरीप्रवाहे, मन्ये ह्येते तरवः स्वपुष्पैर्भगवतीं गोदावरीं पूजयन्तीति भावः । अत्रेवादिवाचकशब्दाभावात्प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ९ ॥

इतीति—इति = अनन्तरम्, परिक्रम्य = इतस्ततः किञ्चित् सञ्चर्य, निष्क्रान्ते = निर्गते (आत्रेयीवासन्त्यौ) । शुद्धविष्कम्भकः—विष्कम्भको नाम भूतानां भाविनां च कथांशानां निदर्शकः । स चात्र मध्यमाभ्यामात्रेयीवासन्तीरूपाभ्यां पात्राभ्यां सम्प्रयोजितत्वात् शुद्धविष्कम्भकः । तल्लक्षणं यथा—'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥ मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः । शुद्धः स्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥' इति । तथा चात्र सीतानिर्वासनादिभूतवृत्तानां, शम्बूकवधार्थं श्रीरामचन्द्रस्य पञ्चवटीप्रवेशादिभाविवृत्तानां सूचना दत्ता ।

अपस्किरमाण—अप + √कॄ + शानच् । यहाँ जीविकाकरण के अर्थ में 'कॄ' धातु 'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वाच्यम्' इस वार्तिक के अनुसार आत्मनेपद हुआ है, अतएव उससे 'शानच्' आदेश हुआ और उसी अर्थ में 'अप' से परे 'कॄ' धातु के सुट् का आगम हुआ है । 'अपाच्चतुष्पाच्छकुनिषु आलेखने' (६।१।१४२) तथा इसी सूत्र पर वार्तिक—'हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वाच्यम्' । विष्किरः—वि + √कॄ + क, सुट्, षत्व । ('विष्किरः शकुनौ वा' ६।१।१५०) सुडभावपक्षे विकिरः । क्लान्तः—√क्लम् + क्तः ।

युक्त गण्डस्थलों के रगड़ने के कारण हिलने से गिरने वाले और घाम के कारण शिथिल वृन्तों से युक्त पुष्पों से गोदावरी की अर्चना करते हैं ।

(घूमकर दोनों बाहर निकल जाती हैं)

शुद्ध विष्कम्भक समाप्त ।

नहीं किया जा सकता कि वे या तो रञ्जक नहीं हैं अथवा एक दिन में अभिनय के लिए असंभवनीय होते हैं । विष्कम्भक के दो प्रकार हैं—(१) शुद्ध विष्कम्भक—इसमें मध्यमप्रकृति का एक पात्र अथवा दो पात्र होते हैं, उनकी भाषा संस्कृत होती है । जैसे यहाँ वासन्ती और आत्रेयी दोनों मध्यमपात्र हैं और उनकी भाषा संस्कृत है, अतएव यह शुद्ध विष्कम्भक है । (२) मिश्र या संकीर्ण विष्कम्भक—इसमें मध्यम और नीच दोनों कोटि के पात्र होते हैं, अतएव संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाएँ होती हैं ।

(ततः प्रविशति पुष्पकस्थः सदयोद्यतखड्गो रामः)

रामः— रे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ॥ १० ॥

पुष्पकस्थः = पुष्पकारूढः । सदयोद्यतखड्गः = दयया सहितं यथा स्यात्तथा शूद्रमुनिं हन्तुमुत्थापितः कृपाणो येन स तथाभूतः ।

अन्वयः—रे दक्षिणहस्त ! द्विजस्य मृतस्य शिशोः जीवातवे शूद्रमुनौ कृपाणं विसृज । निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः रामस्य गात्रमसि, ते करुणा कुतः ॥ १० ॥

ततः सदयं खड्गमुद्यम्य रामः प्रविशति, शूद्रमुनौ प्रहर्त्तुं च दक्षिणं करं व्यापारयन् वदति—रे हस्तेत्यादि । 'रे' इत्यनादरद्योतकमव्ययम् । हृदयानुवर्तिन् इत्यप्यर्थो गम्यः । रे दक्षिणहस्त = वामेतर कर ! 'रे' इति सम्बोधनपदेन हस्ते रामस्यानादरो व्यज्यते । त्वं मे यथा दक्षिणो हस्तस्तथैव मद्धृदयानुवर्तितया क्रूरकर्मस्वपि दक्षिणः कुशलोऽसि क्रूरकर्म कर्तुमुद्यते मयि त्वं सदा दक्षिणः अनुकूलो भवसि, तव दक्षिण इति विशेषणं युज्यत एवेति रामस्याशयः । द्विजस्य = विप्रस्य, मृतस्य = पञ्चत्वं गतस्य, शिशोः = स्वबालकस्य, जीवातवे = जीवयितुं ('जीवातुरस्त्रियां भक्ते जीविते जीवनौषधे' इति मेदिनी), शूद्रमुनौ = शूद्रतापसे शम्बूके कृपाणं = खड्गं, विसृज = विमुञ्च—तथाकर्तुं कथं नोत्सहसे ? त्वं निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः = क्रूरकर्म-

---

उद्यतः—उद् + √यम् + क्त । खिन्नः = √खिद् + क्त ।

(तदनन्तर पुष्पक विमान पर आरूढ, करुणापूर्वक तलवार ताने हुए राम का प्रवेश)

राम—अरे दक्षिण हस्त ! तू मरे हुए ब्राह्मण-बालक को जिलाने के लिए शूद्र मुनि पर तलवार का प्रहार कर (इसमें हिचकता क्यों है ?) । अरे ! तू तो परिपूर्ण गर्भ से खिन्न (प्रियतमा) सीता का परित्याग करने में निपुण राम का अङ्ग है, फिर तुझे दया कहाँ से (आयी) ?

'रे'—इस अनादरसूचक सम्बोधन पद के प्रयोग से राम की आत्मग्लानि स्पष्ट परिलक्षित हो रही है।

दक्षिण हस्त—शूद्र मुनि पर प्रहार करने के लिए राम ने अपने हाथ के लिए 'दक्षिण' विशेषण प्रयुक्त किया है, जिसमें विविध भाव निहित हैं। मान्य विद्वानों ने अपनी प्रतिभा के बल से अनेक भाव निकाले हैं। किन्तु उनमें जो राम की मनःस्थिति और प्रसङ्ग से मेल खाते हैं, वे ही स्वीकरणीय है। यथा—कृपाण का प्रहार दाहिने हाथ से ही हो सकता है, बाँयें से नहीं। यदि 'दक्षिण' विशेषण न लगाते तो भी सामान्यतः दाहिने का ही बोध होता, फिर भी भगवान राम ने उसे 'दक्षिण' कहकर अपने हृदय को खोलकर रख दिया है। भवभूति की भावाभिव्यक्ति की पटुता आश्चर्यजनक है। राम ने सीता का परित्याग लोकाराधन के लिए कर तो दिया, किन्तु उससे जो आत्मग्लानि हुई, वह उन्हें अहर्निश सन्ताप की भट्ठी में जलाती चली आ रही है।

(कथञ्चित् प्रहृत्य) कृतं रामसदृशं कर्म । अपि जीवेत् स ब्राह्मणपुत्रः ।

(प्रविश्य)

दिव्यपुरुषः—जयतु जयतु देवः ।

निरतस्य मादृशस्य समधिकगर्भभरालससीताप्रवासनकुशलस्य रामस्य, गात्रम्= अङ्गमसि ('गात्रमङ्गशरीरयोः' इति हेमः) । अङ्गिनोऽकरुणत्वात्तदङ्गस्यापि करुणा न सम्भवति तन्निःशङ्कं प्रहर । यद् वा त्वं पूर्णगर्भभरालसायाः सीताया विवासन-मादिश्य यत्पूर्वमपूर्वक्रूरकर्मकौशलं प्रदर्शितवानसि तत्स्वकौशलं शूद्रमुनिमपि हत्वा प्रदर्शय । न च मुनिवधस्य शास्त्रविरुद्धत्वं शङ्कनीयं मुनिकर्मव्यापृतस्य शूद्रस्य मर्यादाभञ्जकत्वात् । अपि च गर्भभरालसस्त्रीविवासनजनितपापापेक्षया शूद्रमुनिवध-जन्यपापं तु स्वल्पतरमेवेति भावः । काव्यलिङ्गमलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥१०॥

कथञ्चिदिति । कथञ्चित्=केनापि प्रकारेणातिकृच्छ्रेणेति भावः । प्रहृत्य=प्रहारं कृत्वा । रामसदृशम्=क्रूरकर्मपरायणस्य रामस्य सदृशमनुरूपमतिनिष्ठुरमित्यर्थः । कर्म=कार्यम् । अपि जीवेत्=जीवनं प्राप्नुयात् स मृतः ब्राह्मणपुत्रः ।

प्रहृत्य—प्र + √हृ + ल्यप्, तुक् ।

(किसी-किसी तरह प्रहार करके) (निष्ठुर) राम के अनुरूप काम कर दिया । संभवतः ब्राह्मण का पुत्र जी जाय ।

(प्रवेश करके)

दिव्यपुरुष—जय हो, महाराज की जय हो ।

इधर आकाशवाणी के अनुरोध से लोकाराधन के लिए ही—मृत द्विज-पुत्र को जीवित करने के लिए एक शूद्र किन्तु मुनि की हत्या-जैसा दारुण पापकर्म करने के लिए उन्हें विवश होकर उद्यत होना पड़ रहा है । इस स्थिति में उनकी आत्मग्लानि सीमा पार कर गयी । वे अपने दाहिने हाथ को व्यङ्ग्यवचनों से धिक्कारते हुए अपनी ही निन्दा कर अपना जी कुछ हलका कर लेना चाहते हैं । 'दक्षिण' विशेषण से राम का अभिप्राय है कि तू मेरा दक्षिण हाथ है । तू आगे बढ़ कर सीता-निर्वासन के लिए आदेश देने जैसे कठोर कार्य में दक्षिण (चतुर) ही है । तू इस माने में भी दक्षिण (हृदयानुवर्ती) रहा कि मैंने गर्भभरालसा सीता के परित्याग की बात सोची ही थी कि तूने हृदयानुगामिता के कारण उचित-अनुचित का ध्यान न कर मेरे प्रति दक्षिण (अनुकूल) रहना ही अपना धर्म समझा । ठीक ही है, आखिर तू भी तो अधम एवम् अकरुण राम का ही अङ्ग है । तो ले, शूद्रमुनि का भी वध कर, तू अपनी 'दक्षिण' (कुशल) पदवी के निर्वाह में करुणा अपना कर कोर-कसर न रहने दे ।

अन्य बहुत से भाव हैं, किन्तु चमत्कारपूर्ण होते हुए भी मनोविज्ञानानुकूल न होने के कारण अग्राह्य हैं ।

प्रहृत्य—रङ्गमञ्च पर युद्ध, वध, मृत्यु आदि दिखलाना नाट्यशास्त्र में निषिद्ध है, किन्तु भवभूति ने यहाँ इस नियम का उल्लङ्घन किया है ।

कृतं रामसदृशं कर्म—"रामसदृशं कर्म न तु दशरथसदृशं कर्म । दशरथो ह्यबुद्धिपूर्वकं शूद्रतापसवधं कृतवान् । तथा च 'पितुः शतगुणः पुत्रः' इति न्यायेन दोषविषय एव न तु गुण-विषय इति स्वोपालम्भ इह व्यज्यते ।" (वीरराघवः) ।

दत्ताभये त्वयि यमादपि दण्डधारे
सञ्जीवितः शिशुरसौ मम चेयमृद्धिः ।
शम्बूक एष शिरसा चरणौ नतस्ते
सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्रमाशंसमानो दिव्यरूपधारी शम्बूकः प्रविश्य स्वकृतज्ञतां प्रकाशयति—देव ! सदैवास्तु विजयो भवतः ।

अन्वयः—यमादपि दत्ताभये त्वयि दण्डधारे (सति) असौ शिशुः सञ्जीवितः, मम च इयम् ऋद्धिः । एष शम्बूकः शिरसा ते चरणौ नतः, सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति ॥ ११ ॥

दत्ताभय इति । यमादपि = यमराजादपि । दत्ताभये = वितीर्णाभये । त्वयि = रामे । दण्डधारे = दण्डधारके, वर्णधर्मोल्लङ्घनकारिणं दण्डयति सतीत्यर्थः । असौ = विप्रकृष्टस्थः । शिशुः = बालकः, द्विजस्येति भावः । सञ्जीवितः = प्रत्यागतप्राणः । मम = शम्बूकस्य । इयम् = पुरो दृश्यमाना । ऋद्धिः=दिव्यरूपप्राप्तिस्वरूपा समुन्नतिः । सत्सङ्गजानि = साधुजनसम्पर्कप्राप्तानि । निधनानि = मरणानि । तारयन्ति = तरणं कारयन्ति, संसारसिन्धोरिति भावः ।

अयम्भावः—यमराजादप्यभयं ददानस्य, वर्णधर्मोल्लङ्घनकारिणं दण्डयतश्च भवतोऽनुग्रहेणैवासौ ब्राह्मणशिशुः सञ्जीवितः मम चेयं पुरःस्था दिव्यरूपप्राप्तिस्वरूपा समुन्नतिः सञ्जाता । नमस्यति भवतश्चरणौ शिरसैव शम्बूकः । भवतः करेण मन्मरणं मन्मुक्तिकारणं जातं, तस्मात्सत्यमेवेयमुक्तिः—'साधुजनसंसर्गजातं मरणमपि संसार-सिन्धुतरणाये'ति ।

यमात्—अपादाने पञ्चमी (भीत्रार्थानां भयहेतुः) । दत्ताभये—दत्तमभयं येन तस्मिन् (बहुव्रीहि) । दण्डधारे—दण्डं धारयतीति दण्डधारस्तस्मिन्, कर्मण्यण्, उपपदतत्पुरुष । सञ्जीवितः—सम् + √जीव् + क्त । नतः—√नम् + क्त । तार-यन्ति—√तॄ + णिच् + लट् ।

यमराज से भी अभय देने वाले आपके दण्डधारण करने पर वह (ब्राह्मण का) बालक जी उठा है तथा मेरी यह (दिव्यरूपप्राप्ति स्वरूपा) समृद्धि (हुई) । यह शम्बूक शिरसा आप के चरणों को प्रणाम करता है । सत्सङ्ग से प्राप्त मरण भी (प्राणियों को) तार देते हैं ॥ ११ ॥

दिव्यपुरुष—यह पर शम्बूक के लिए आया है, क्योंकि भगवान् राम के हाथ से मरने के कारण उस शूद्रदेह को छोड़ कर उसने दिव्य रूप धारण कर लिया है ।

इस श्लोक में प्रथम दो चरणों में दण्डरूप कारण से उसके विरुद्ध समृद्धिरूप कार्योत्पत्ति होने से कारण-विरुद्ध कार्योत्पत्तिरूप विषमालंकार है । प्रथम दो चरणों के वाक्यार्थ, तृतीय चरण के वाक्यार्थ के हेतु रूप में उपन्यस्त हैं, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । चतुर्थ चरण के सामान्य अर्थ से द्वितीयार्धगत दण्ड के समृद्धिदायकत्व रूप विशेषार्थ का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है । परस्पर अङ्गाङ्गिभाव से संवलित होने के कारण तीनों का सङ्कर है ।

रामः—द्वयमपि प्रियं नः। तदनुभूयतामुग्रस्य तपसः फलम्।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुण्याश्च सम्पदः।
वैराजा नाम ते लोकास्तैजसा सन्तु ते शिवाः॥ १२॥

शम्बूकः—स्वामिन्! युष्मत्प्रसादादेवैष महिमा। किमत्र तपसा। अथवा महदुपकृतं तपसा।

अत्र कारणदण्डात् 'कारणगुणा हि कार्यगुणमारभन्ते' इति स्थितेर्विरुद्धा समृद्धेरुत्पत्तिः। तस्मात्कारणविरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः। तस्य च प्रथमार्द्धगतस्य विशेषार्थस्य द्वितीयार्द्धगतेन सामान्येन समर्थनादर्थान्तरन्यासः। तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। अत्र वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ११॥

रामः—द्वयस्य=विप्रबालकस्य सञ्जीवनं शम्बूकस्य दिव्यरूपप्राप्तिं च तन्मुखाद् विज्ञाय प्रसन्नो रामभद्रोऽनुभूयतामुग्रस्य=तीव्रस्य तपसः फलमित्युक्त्वा तदेव निर्दिशति—

अन्वयः—यत्र आनन्दाश्च (यत्र) मोदाश्च यत्र पुण्याः सम्पदश्च, ते तैजसाः शिवाः वैराजाः नाम लोकाः ते सन्तु इत्यन्वयः॥ १२॥

यत्रेत्यादिना। यत्रत्यैः आनन्दाः=सुकृतिभिरात्मानुभवजन्यसुखानि, मोदाश्च=दिव्यविषयानुभवजन्यहर्षाश्च, यत्र पुण्याः=पवित्राः, सम्पदश्च=अणिमादिविभूतयश्च भुज्यन्ते, ते तैजसाः शिवा वैराजाः=नित्यालोकमयाः (तेजोमयाः) मङ्गलकारिणो ब्रह्मसम्बन्धिनः, लोकाः=ब्रह्मलोकास्ते सन्तु=भवन्तु। 'ध्रुवाः' इति पाठे ते ब्रह्मलोकास्तव सम्बन्धे स्थिरा भवन्तु, न कदापि तेभ्यस्ते परिभ्रंशो भवत्विति भावः। समुच्चयाऽलङ्कारः अनुष्टुब्वृत्तम्॥ १२॥

वैराजाः—विराज्+अण् (तस्येदमित्यण्)। तैजसाः—तेजस्+अण्।

महिमा—महत्+इमनिच् (भावे) यह शब्द संस्कृत में पुंल्लिङ्ग है, जब कि हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग के रूप में प्रयुक्त होता है।

राम—दोनों (बातें) हमें प्रिय हैं। अतः अत्यन्त कठोर तप के फल का उपभोग करो—

जहाँ आध्यात्मिक तथा दिव्यविषयों के भोग का सुख है, जहाँ पवित्र (अणिमादि) सम्पत्तियाँ हैं, वे नित्यालोकमय कल्याणकारी वैराज नामक लोक (ब्रह्मलोक) तुम्हारे हों (अर्थात् तुम्हें प्राप्त हों)॥ १२॥

शम्बूक—स्वामिन्! आपके अनुग्रह से ही यह उत्कर्ष है। इसमें तप से क्या? अथवा तप ने बड़ा उपकार किया—

पुण्याः—पवित्र अर्थात् जिनसे किसी का अहित नहीं होता है।

वैराजाः—विराजः ब्रह्मण इमे। इसे ब्रह्मलोक या सत्यलोक भी कहते हैं। इस लोक को प्राप्त कर लेने पर आत्मा को पुनः शरीर धारण करने से मुक्ति मिल जाती है।

प्रसादोपादानः (पाठान्तर)—प्रसाद उपादानं यस्य, इस महिमा का मुख्य कारण आप का अनुग्रह है। संभवतः मूल पाठ यही रहा होगा। कालिदास ने भी इसी तरह का वाक्य प्रयुक्त किया है—'प्रकृष्टपुण्यपरिपाकोपादान एष महिमा' (मालविका॰ ४)।

अन्वेष्टव्यो यदसि भुवने भूतनाथः शरण्यः
मामन्विष्यन्निह वृषलकं योजनानां शतानि ।
क्रान्त्वा प्राप्तः स इह तपसां सम्प्रसादोऽन्यथा तु
क्वायोध्यायाः पुनरुपगमो दण्डकायां वने वः ॥ १३ ॥

'अनुभूयतामुग्रस्य तपसः फलमि'त्युक्तवन्तं रामं प्रति वदति देवरूपधारी शम्बूकः—स्वामिन् ! युष्मत्प्रसादात् = भवदनुग्रहात् । एष महिमा = महत्त्वम्, दिव्यशरीरप्राप्तिरूपम् । अत्र = अस्मिन्, दिव्यशरीरप्राप्तौ । किं तपसा = न किमपि तपसा कृतमित्यर्थः । अथवा=पक्षान्तरे । महत्=अत्यर्थम् । उपकृतम् = उपकारः कृतः । कथमिति चेत्तत्राह—

अन्वयः—भुवने अन्वेष्टव्यः भूतनाथः शरण्यः माम् वृषलकम् अन्विष्यन् योजनानां शतानि क्रान्त्वा यदिह सम्प्राप्तः असि सः तपसां प्रसादः, अन्यथा तु अयोध्यायाः दण्डकायां वने क्वः पुनः उपगमः ? ॥ १३ ॥

अन्वेष्टव्य इति । भुवने = जगति । अन्वेष्टव्यः = श्रुतिस्मृत्युक्तोपायैरन्वेष्टुं योग्यः । भूतनाथः = प्राणिनां पतिः । शरण्यः = शरणागतपालकः । माम् = शम्बूकम् । वृषलकम् = शूद्राधमम् । अन्विष्यन् = विचिन्वन् । योजनानां शतानि = बहूनि योजनानीत्यर्थः । क्रान्त्वा = अतिक्रम्य । यत् इह = अस्मिन् वने । प्राप्तः = आगतः । सः = भवदागमः । तपसाम् = मन्नियमाचाराणाम् । सम्प्रसादः = अनुग्रहः फलमित्यर्थः ।

अन्वेष्टव्यः—अनु + √इष् (गतौ) + तव्य । शरण्यः—शरणे साधुः । शरण + यत् ('तत्र साधुः' पा० ४।४।९८) । क्रान्त्वा—√क्रम् + क्त्वा विकल्प से उपधा 'अ' को दीर्घ (क्रमश्च क्त्वि ६।४।१८) । पक्ष में क्रन्त्वा । यह धातु उदित् है अर्थात् धातुपाठ में इसका स्वरूप 'क्रमु' है और उकार की इत्संज्ञा हो जाती है।

लोक में ढूँढने चराचराधिपति, शरणागतवत्सल (आप) मुझ अधम शूद्र को (स्वयम्) खोजते हुए सैकड़ों योजन लाँघ कर जो यहाँ आये हैं, वह तपस्याओं का फल है, नहीं तो अयोध्या से इस दण्डकारण्य में आपका पुनः आगमन कहाँ होता ? ॥ १३ ॥

अन्वेष्टव्यः—तुलना कीजिये—'य आत्मा अपहतपाप्मा······सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छान्दोग्योपनिषद् ८।७।१)

वृषलक—कुत्सितो वृषलः वृषलकः । 'कुत्सिते' (५।३।७४) सूत्र से कन् । अथवा अज्ञातः वृषलः वृषलकः 'अज्ञाते' (५।३।७३) से 'क' प्रत्यय । शम्बूक अपने धर्म 'द्विजातिशुश्रूषा' के विरुद्ध आचरण करने से धर्मोच्छेदक था, अतः 'वृषं धर्मं लुनातीति वृषलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका 'वृषल' विशेषण उपयुक्त ही था ।

'वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥' (मनुस्मृति)

योजनानां शतानि—अयोध्या से दण्डकारण्य की दूरी तो निश्चित हो सकती थी, किन्तु 'पृथिव्यां तप्यते तपः' इस आकाशवाणी के अनुसार भूतल पर यत्र-तत्र ढूँढते हुए सैकड़ों योजन का चक्कर लगाने के बाद राम दण्डकारण्य में पहुँचे थे ।

दण्डकायां वने वः—यह वाक्यांश कथा को आगे बढ़ाने के कारण महत्त्वपूर्ण है ।

रामः—किं नाम दण्डकेयम् ? (सर्वतोऽवलोक्य) हा कथम्—

स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षाः
स्थाने स्थाने मुखरककुभो झाङ्कृतैर्निर्झराणाम् ।
एते तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्तकान्तारमिश्राः
सन्दृश्यन्ते परिचितभुवो दण्डकारण्यभागाः ॥ १४ ॥

अन्यथा तु=तपसामनुग्रहाभावे तु । अयोध्यायाः=अयोध्यानगरीतः । दण्डकायां वने=दण्डकारण्ये । वः=युष्माकम् । पुनः=भूयः । उपगमः=आगमनम् । क्व=कुत्र ? कुतो भवेदित्यर्थः ।

अयम्भावः—सकलप्राणिनां नाथः शरणागतवत्सलस्त्वं सततप्रयत्नशीलैर्महामुनिभिः श्रुतिस्मृत्युक्तोपायैर्लोके गवेषणीयोऽसि । तथाविधस्त्वं स्वयमेव मां शूद्राधममन्विष्यन् बहूनि योजनानि लङ्घयित्वा यदत्र वने समागतोऽसि स भवदागमस्तपसामेव फलम्, अन्यथा तु क्वायोध्या क्व चैतद्दण्डकारण्यं महावनम् ? नात्र भवतः पुनरागमनं कथमपि भवेत् ।

अत्रैकस्मिन्नेव रामचन्द्रे सकलजनान्वेष्टव्यत्ववृषलकान्वेषकत्वरूपविरुद्धधर्मयोः समावेशाद् विरूपयोः सङ्घटनारूपो विषमाऽलङ्कारः । अपि च वधार्थं भगवदागमनस्य वधोद्देश्यकस्य तपःफलभूततयाऽध्यवसितत्वाद् भेदेऽभेदाध्यवसानरूपातिशयोक्तिः । अपि च चतुर्थपादस्य पादत्रयवाक्यानां हेतुत्वेनाभिधानाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । इत्येषामङ्गाङ्गिभावात् सङ्करः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ १३ ॥

शम्बूकमुखात् 'दण्डकायां वने वः' इति दण्डकाशब्दमाकर्ण्य सञ्जातस्मृतिः श्रीरामभद्रो दण्डकारण्यं वर्णयन्नाह—

अन्वयः—क्वचित् स्निग्धश्यामाः, अपरतः भीषणाभोगरूक्षाः, स्थाने स्थाने

तब 'उदितो वा' (७।२।५६) सूत्र से विकल्प से इट् भी होता है और इट् होने पर 'क्रमित्वा' भी होता है । सम्प्रसादः—सम् + प्र √सद् + घञ् । उपगमः—उप + √गम् + अप् ('ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' ३।३।५८) ।

स्निग्ध—√स्निह् + क्त । आभोगः—आ + √भुज् + घञ् । मुखर—मुख + र

राम—क्या यह दण्डका है ? **(सभी ओर देख कर)** हाय, कैसे—

कहीं रमणीय और खूब हरे-भरे, दूसरी ओर भयावह और विपुल विस्तार के कारण रूखे (वीरान), स्थान-स्थान पर झरनों के झङ्कारयुक्त अव्यक्त शब्दों से प्रतिध्वनित दिशाओं वाले तीर्थों, आश्रमों, पर्वतों, नदियों, खड्डों और दुर्गम पथों से युक्त ये परिचित भूमि वाले दण्डकारण्य के प्रदेश दिखलायी दे रहे हैं ! ॥ १४ ॥

किं नाम दण्डकेयम्—राम ने पुष्पक से शम्बूक की तपःस्थली पर पहुँचाने के लिए कहा था । उसने उन्हें वहाँ पहुँचा दिया । शम्बूक के मारने से राम विक्षुब्ध थे, अतएव राम ने यह सोचा तक नहीं कि मैं दण्डकारण्य में हूँ; अतः राम का ऐसा पूछना युक्त ही है ।

इस श्लोक का अन्वय इस प्रकार भी हो सकता है—'एते…दण्डकारण्यभागाः परिचितभुवः सन्दृश्यन्ते'—ये दण्डकारण्य के भाग परिचित भूमि वाले दिखलायी दे रहे हैं ।

शम्बूकः—दण्डकैवैषा। अत्र किल पूर्वं निवसता देवेन—

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
त्रयश्च दूषणखरत्रिमूर्धानो रणे हताः ॥ १५ ॥

निर्झराणां झाङ्कृतैः मुखरककुभः, तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्तकान्तारमिश्राः एते परिचितभुवः दण्डकारण्यभागाः सन्दृश्यन्ते ॥ १४ ॥

स्निग्धेति। स्निग्धश्यामाः—स्निग्धाः=मसृणाः, दृष्टिसुभगा इत्यर्थः, श्यामाः=नीलाः। भीषणाभोगरूक्षाः—भीषणेन=भयावहेन, आभोगेन=विस्तारेण, रूक्षाः=चित्तविक्षोभकराः। मुखरककुभः—मुखराः=प्रतिध्वनिताः, ककुभः=दिशो येषु ते तथोक्ताः (ब० व्री०)। तीर्थानि=पुण्यक्षेत्राणि। आश्रमाः=ऋषिनिवासस्थानानि। गिरयः=पर्वताः। सरितः=नद्यः। गर्ताः=कन्दर्याः, खातानि अवटा वा ('धनुः सहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते। न ता नदीशब्दधरा गर्त्तास्ताः परिकीर्तिताः' ॥)।

अयम्भावः—तरुलतादीनां सद्भावात् कुत्रचित् स्निग्धा रमणीया इत्यर्थः, नीलाश्च, अपरतः भयावहासीमविस्तारेणोद्वेगजनकाः, प्रतिस्थानं येषु निर्झरामधःपतनजनितझाङ्कारैर्दिशः प्रतिध्वनिताः सन्ति, पुण्यक्षेत्रैः, मुनिनिवासस्थानैः, गिरिभिः नदीभिः, गर्तैः, दुर्गममार्गैश्च संवलिताः, येषां भूमश्च मम पूर्वपरिचितास्तादृशा इमे दण्डकारण्यप्रदेशाः पुरतो दृश्यन्ते। अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ १४ ॥

यत्र दण्डकायां पूर्वं रामकृतं कर्म स्मारयन् शम्बूको दण्डकैवेयमिति दृढीकरोति—

शम्बूकः—किलेति वार्तायाम्। देवेन=महाराजेन, भवता रामेणेत्यर्थः।

अन्वयः—भीमकर्मणां रक्षसां चतुर्दशसहस्राणि त्रयश्च दूषणखरत्रिमूर्धानः रणे हताः ॥ १५ ॥

('खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्' वा०)। सन्दृश्यन्ते—सम् √दृश् + कर्मणि लट्। रक्षसाम्—रक्ष्यते हविरस्मादिति रक्षः। √रक्ष् + असुन्। भीमकर्मणाम्—

शम्बूक—यह दण्डका ही है। कहते हैं कि यहाँ पहले निवास करते हुए महाराज द्वारा चौदह हजार क्रूरकर्मा राक्षस तथा खर, दूषण और त्रिशिरा ये तीन (राक्षसों के नायक) भी मारे गये (थे) ॥ १५ ॥

चतुर्दशसहस्राणि—शूर्पणखा के नाक-कान लक्ष्मण द्वारा काट लिये जाने पर राक्षसों ने राम पर धावा बोल दिया और राम के द्वारा उनका वध हुआ था। 'चतुर्दशसहस्राणि चतुर्दश च राक्षसाः'—ऐसा पाठ भी मिलता है। इसके अनुसार पहिले महाबल चौदह राक्षस आये। उनके मार दिये जाने पर खर द्वारा दूषण १४००० राक्षसों के साथ भेजा गया। उन सबके मारे जाने पर शेष त्रिशिरा और खर भी राम के द्वारा मार दिये गये। (द्रष्टव्य—रामायण, अरण्यकाण्ड १९-३०)।

रक्षसाम्—रक्षस् शब्द नपुंसकलिङ्ग है, किन्तु रक्षस् शब्द से अण् प्रत्यय होकर निष्पन्न राक्षस शब्द पुँल्लिङ्ग है।

दूषणखरत्रिमूर्धानः—दूषणश्च खरश्च त्रिमूर्धा चेति तथोक्ता। त्रिमूर्धा—त्रीणि मूर्धानि यस्य सः त्रिमूर्धा। यहाँ यद्यपि 'द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः' (५।४।११५) से 'ष' प्रत्यय होकर 'नस्तद्धिते' से

येन सिद्धक्षेत्रेऽस्मिञ्जनस्थाने मादृशामपि जानपदानामकुतोभयः सञ्चारो जातः ।

रामः—न केवलं दण्डका, जनस्थानमपि ।

शम्बूकः—बाढम् । एतानि खलु सर्वभूतरोमहर्षणान्युन्मत्तचण्डश्वापदकुल-सङ्कुलगिरिगह्वराणि जनस्थानपर्यन्तदीर्घारण्यानि दक्षिणां दिशमभिवर्तन्ते ।

चतुर्दशेति—अत्र पूर्वं निवसता महाराजेन भवता भीमकर्मणां रक्षसां चतुर्दश-सहस्राणि = क्रूरकर्माणश्चतुर्दशसहस्रराक्षसाः, दूषणः, खरः, त्रिमूर्धा चेति त्रयो राक्षस-नायकाश्च रणे हताः = विनाशिताः, सैवेयं दण्डकास्ति ॥ १५ ॥

येन = राक्षसहननेन । सिद्धक्षेत्रे = सिद्धिप्रदे पुण्यक्षेत्रे । मादृशाम्=मत्सदृशानाम् । अकुतोभयः = निर्भयः । सञ्चारः = विचरणम् । जातः = भूतः । भवता राक्षसानां विनाशेनैवास्मिन् सिद्धक्षेत्रे जनस्थाने मादृशा अपि जनपदनिवासिनः सम्प्रति निर्भयं सञ्चरन्ति, पूर्वं तु राक्षसभयान्न कोऽप्यत्र समागन्तुमुत्सहते स्मेति महदुपकृतं भवतेति भावः ।

रामः—नेदं केवलं दण्डकारण्यं जनस्थानमपीति पृष्टवन्तं रामं प्रत्याह ।

शम्बूकः—बाढम् = आम् ! जनस्थानमेवेदमस्ति । एतानि खलु = पुरतो दृश्य-मानानि, सर्वभूतरोमहर्षणानि = भयात् सर्वेषां प्राणिनां रोमाञ्चजनकानि, जनस्थान-पर्यन्तदीर्घारण्यानि=जनस्थानसीम्निस्थितानि विस्तृतवनानि, दक्षिणां दिशमभिवर्त-मानानि सन्ति, येषु उन्मत्तचण्डश्वापदकुलसङ्कुलगिरिगह्वराणि = पर्वतानां गुहा मदो-न्मत्तैरतिशयक्रुद्धैर्व्याघ्रादिहिंस्रजन्तुभिः समाक्रान्ता अत एव भीषणाः सन्ति ।

भीमानि भीषणानि क्रूराणीत्यर्थः, कर्माणि येषां तेषाम् (ब० व्री०) । हताः—√हन् + क्त ।

जिससे इस सिद्धक्षेत्र जनस्थान में मेरे जैसे जनपदवासियों का भी भयरहित विचरण सम्भव हुआ ।

राम—न केवल दण्डका (ही) अपितु जनस्थान भी (है) ?

शम्बूक—जी हाँ, निश्चय ही ये (दर्शनमात्र से) प्राणियों के रोंगटे खड़े कर देने वाले, मदोद्धत भयानक हिंस्र (व्याघ्रादि) पशुओं से आकीर्ण पर्वतों की भीषण गुफाओं वाले, जन-स्थान की सीमा में स्थित अत्यन्त विस्तृत वन दक्षिण दिशा की तरफ वर्तमान हैं ।

'अन्' (टि) का लोप होकर 'त्रिमूर्धः' होना चाहिए, फिर भी समासान्तविधि के अनित्य होने के कारण 'ष' प्रत्यय न हो सकने से 'त्रिमूर्धा' यही पाठ रखा गया है, द्वन्द्वसमास होने से 'दूषणखरत्रिमूर्धानः' ऐसा ही होगा । काणे आदि विद्वान् 'दूषणखरत्रिमूर्धा नः' (दूषणखरत्रिमूर्धाः + नः) ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं, अर्थात् 'ष' प्रत्ययान्त त्रिमूर्ध शब्द का ग्रहण समीचीन मानते हैं । ऐसी स्थिति में 'नः' का अर्थ—'अस्माकं समरे भवत्कृतसमरे'—ऐसा करते हैं । कुछ विद्वान् 'दूषणखरत्रिमूर्धा नो'······में 'नो' को प्रश्नवाचक मानकर दूषण, खर और त्रिमूर्ध क्या रण में नहीं मारे गये ? अर्थात् मारे ही गये । कुछ विद्वान् 'दूषणखरत्रिमूर्धानः' पाठ में च्युतसंस्कृति दोष मानकर उसके परिहार के लिए '···त्रिमूर्धाः समरे हताः' ऐसा पाठ स्वीकार करते हैं ।

तथाहि—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरघोरभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।
सीमानः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ॥ १६ ॥

तेषामेव दीर्घारण्यानां भयङ्करतां प्रतिपादयति शम्बूकस्तथाहीति ।

अन्वयः—क्वचित् निष्कूजस्तिमिताः, क्वचित् प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः, स्वेच्छासुप्तगभीरघोरभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः प्रदरोदरेषु विलसत्स्वल्पाम्भसः सीमानः (सन्ति) यासु तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैः अयम् अजगराणां स्वेदद्रवः पीयते ॥ १६ ॥

निष्कूजस्तीति । निष्कूजस्तिमिताः = पक्षिकूजनरहिताः शान्ताश्च । प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः—प्रोच्चण्डः = अत्युग्रः, सत्त्वानां = जन्तूनां, श्वापदानामिति भावः; स्वनः = शब्दो यासु तास्तथोक्ताः । स्वेच्छासुप्तेत्यादिः—स्वेच्छया = यथेच्छं, सुप्ताः = निद्रिताः, गभीराः = विशालाः, घोराः = भयङ्कराः, ये भुजगाः = सर्पास्तेषां श्वासैः = निश्वासमारुतैः, प्रदीप्ताः = प्रज्वलिताः, अग्नयः = दावानलः, यासु तथाभूताः । प्रदरोदरेषु = विवराभ्यन्तरेषु । विलसत्स्वल्पाम्भसः—विलसन्ति = दृश्यमानानि, स्वल्पानि अम्भांसि = जलानि, यासु तास्तथोक्ताः । सीमानः = प्रान्तभूमयः । तृष्यद्भिः = तृषातुरैः । प्रतिसूर्यकैः = कृकलासैः, 'गिरगिट' इति हिन्दीभाषायां प्रसिद्धैः ('सरटः कृकलासः स्यात् प्रतिसूर्यशयानकौ' इति हलायुधः) स्वेदद्रवः = प्रस्वेदजललवः ।

सुप्तः—√स्वप् + क्त । विलसत्—वि + √लस् + शतृ । तृष्यत्—√तृष् + शतृ । पीयते—√पा पाने + कर्मणि लट् ।

वह इस प्रकार—

किसी भाग में निश्शब्द और स्तब्ध (प्रान्तभूमियाँ) हैं तो कहीं अत्यन्त उग्र हिंस्र जन्तुओं के शब्दों वाली, यथेच्छ सोये हुए विशाल एवं भयंकर साँपों के निश्वास वायु से उद्दीप्त आग वाली, विवरों में झिलमिलाते थोड़े से जल वाली प्रान्तभूमियाँ (हैं) जिनमें प्यासे गिरगिटों के द्वारा (जल न मिलने के कारण) यह अजगर के पसीने की बूँदें पी जा रही हैं ॥ १६ ॥

ये वर्णन राम की मनःस्थिति का परिचय दे रहे हैं। जहाँ वे दीर्घकाल तक रहे, उन्हीं स्थानों को ऐसा भूल गये कि शम्बूक के बतलाने पर ही उनको पहिचान पाते हैं।

स्तिमित—वात रहित, हवा न चलने के कारण जहाँ एक पत्ता भी न हिल रहा हो। 'गभीरभोग-' (पाठान्तर) यहाँ भोग का अर्थ शरीर या फण है। 'घोष'—(पाठान्तर) गभीरो घोषो येषां, जो साँस लेते समय गभीर शब्द करते हैं।

प्रतिसूर्यकः—गिरगिट। हलायुध की 'अभिधानरत्नमाला में कहा गया है—'सरटः कृकलासः स्यात् प्रतिसूर्यशयानकौ'। गिरगिट को शयानक भी कहते हैं। कुछ विद्वान् उक्त कोष में 'प्रतिसूर्यशयानकः' पाठ स्वीकार कर गिरगिट का पूरा नाम प्रतिसूर्यशयानक मानते हैं—सूर्यं प्रति (लक्ष्य) शयानः। उनका मत है कि बाद में लाघव की दृष्टि से 'शयानक' शब्द का लोप हो गया। हमारे विचार से गिरगिट के वाचक प्रतिसूर्य या प्रतिसूर्यक और शयानक दोनों अलग-अलग शब्द हैं। उक्त कोष में 'प्रतिसूर्यशयानकौ' पाठ अधिक उपयुक्त लगता है। वामन

रामः— पश्यामि च जनस्थानं भूतपूर्वखरालयम् ।
प्रत्यक्षानिव वृत्तान्तान्पूर्वाननुभवामि च ॥ १७ ॥

(सर्वतोऽवलोक्य) प्रियारामा हि सर्वथा वैदेह्यासीत् । एतानि तानि नाम कान्ताराणि । किमतः परं भयानकं स्यात् ?

अयम्भावः—एषु भयङ्करेषु वनेषु कुत्रचित्प्रान्तभूमिषु पक्षिणामपि शब्दो न श्रूयते, तस्मात् तत्र स्तब्धतासाम्राज्यं वर्त्तते । अपरतः कुत्रचित्प्रान्तभूमिषु हिंस्रजन्तूनां व्याघ्रादीनामत्युग्रो नादः श्रूयते, विशाला भयङ्कराः सर्पाः यथेच्छं शयानाः सन्ति । तेषां निश्वासमारुतैर्दावानल उज्जृम्भते, विवरेषु स्वल्पमेव जलं दृश्यते । तृषातुराः कृकलासा जलाभावादजगरप्रस्वेदबिन्दून् पिबन्तीति भावः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १६ ॥

जनस्थानवृत्तान्तान् स्मृत्वा श्रीरामभद्रोऽप्याह—

अन्वयः—भूतपूर्वखरालयं जनस्थानं च पश्यामि । पूर्वान् वृत्तान् प्रत्यक्षानिव अनुभवामि च ॥ १७ ॥

पश्यामीति । भूतपूर्वखरालयम्—पूर्वं भूतो यः खरस्य=खरनाम्नो राक्षसस्य, आलयः=निवासस्थानं तम् । जनस्थानम्=दण्डकायाः प्रदेशविशेषम् । पूर्वान् वृत्तान्तान् =शूर्पणखासमागमम्, तस्या नासाकर्णच्छेदनम्, खरादिसंहारम्, सीताहरणमित्येवमादीन् । प्रत्यक्षानिव=साक्षाद्दृश्यमानानिव ।

अयम्भावः—यत्र पूर्वं खरस्य निवासस्थानमासीत् तदिदं जनस्थानं च पश्यामि । पूर्वान् शूर्पणखासमागमादिरूपान् वृत्तान्तान् पुरोवर्तमानानिवानुभवामि च । चकारद्वयं जनस्थानदर्शनस्य पूर्ववृत्तान्तानुभवस्य च यौगपद्यं द्योतयति ।

भूतपूर्वः—पूर्वं भूतः इति भूतपूर्वः, सुप्सुपेति समासः । 'भूतपूर्वे चरट्' (५।३।५३) इस सूत्र के निर्देश से—सूत्र में पूर्व शब्द का परत्व देखे जाने से भूत शब्द का पूर्वनिपात । आरामः—आ + √रम् + घञ् ।

राम—मैं खर के भूतपूर्व निवासस्थान जनस्थान को देख रहा हूँ तथा साथ ही पूर्व के वृत्तान्तों को भी प्रत्यक्ष-सा अनुभव कर रहा हूँ ॥ १७ ॥

(सभी ओर देखकर) निश्चय ही, सभी प्रकार से सीता वनों के प्रति प्रेम रखने वाली थी । यही (वे) वन हैं । इससे बढ़ कर भयानक क्या हो सकता है ?

शिवराम आप्टे ने भी अपने कोष में दोनों शब्दों को अलग-अलग रख कर दोनों का 'गिरगिट' अर्थ किया है । 'प्रति' उपसर्ग का संज्ञा शब्दों से पूर्व 'सादृश्य' या 'प्रतिस्पर्धा' अर्थ में प्रयोग होता है । अतः गिरगिट सूर्य-किरणों के रंगों के समान रंग बदलता रहता है, अतः इसे 'प्रतिसूर्य' (सूर्य से समानता या प्रतिस्पर्धा करने वाला) कहना उपयुक्त ही है ।

अजगर—अजं गिरति—अजगरः । यह विशाल किन्तु निर्विष सर्प है, जो बकरों को निगल जाता है, इसलिए इसे अजगर कहा गया है ।

प्रियारामा—आराम शब्द का अर्थ उपवन (कृत्रिम वन) होता है । ('आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव तत्' अमरकोष) यह अर्थ मानने पर 'प्रियारामा' का अर्थ होगा—जिसको

(सास्रम्) त्वया सह निवत्स्यामि वनेषु मधुगन्धिषु।
इतीहारमतैवासौ स्नेहस्तस्याः स तादृशः ॥ १८ ॥

अत्र 'प्रत्यक्षानिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा। दर्शनानुभवनक्रिययोरेकस्मिन् कर्तरि रामेऽन्वयाद् दीपकालङ्कारः। अपि च भूतविषयाणां प्रत्यक्षायमाणत्वेन वर्णनाद् भाविकमलङ्कारः। तेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १७ ॥

(सर्वतोऽवलोक्य) रामो भूयोऽप्याह—सीतायाः सर्वथा = सर्वप्रकारेण। प्रियारामा—प्रियाः आरामाः = उपवनानि, यस्याः सा। प्रीतिकराण्यासन्। तान्येवेमानि कान्ताराणि = महावनानि सन्ति। किमतः परं भयानकं स्यात् = एतद्दर्शनादधिकं किं भयानकं भवेत्, सीताविरहेऽसह्यमेतद्दर्शनम्।

(अश्रुभिः सह) **श्रीरामभद्रः** प्राह—

अन्वयः—त्वया सह मधुगन्धिषु वनेषु निवत्स्यामि, इति असौ इह आरमत एव, तस्याः स स्नेहः तादृशः ॥ १८ ॥

त्वयेति। 'नाथ! त्वया सह मधुगन्धिषु वनेषु=पुष्परसगन्धयुक्तेष्वरण्येष्वपि, सुखं निवत्स्यामीत्योध्यातो निर्गमनकाले वदन्ती वैदेही मया सहात्रागत्य प्रीतैव सञ्जाता, मद्विनाऽयोध्यायामपि स्थातुं नैच्छत्। तथाविधोऽनिर्वाच्यः तस्याः स्नेह आसीत् ॥ १८ ॥

त्वया—सहयोगे तृतीया। निवत्स्यामि—नि + √वस् + लृट्।

(आँसुओं के साथ)—'तुम्हारे साथ मकरन्द के मधुर गन्ध से सुरभित वनों में निवास करूँगी' इस प्रकार (कहती हुई) वह (सीता) यहाँ (वन में) प्रसन्न और आनन्दित ही होती थी। वैसा (अनिर्वचनीय) उसका वह स्नेह था ॥ १८ ॥

(अयोध्या में) उपवन बहुत प्रिय थे, किन्तु वह मेरे कारण वन में आयी। अच्छा यह होगा कि आराम का अर्थ लक्षणा से कुञ्ज किया जाय। लतादि के कुञ्ज वनों में भी होते हैं, जो नैसर्गिक होते हैं।

प्रियरामा—(पाठा०)—जिसे राम प्रिय था। यह पाठ किसी विशेषता को नहीं प्रकट करता है, अतः स्पृहणीय नहीं है।

मधुगन्धिषु—मधुनः पुष्परसस्य गन्धः एषाम् एषु वा इति मधुगन्धिनस्तेषु। मधुगन्ध+इनिः (तद्धित प्रत्यय)। यह विशेषण वनों में भीनी-भीनी गन्ध वाले तथा मकरन्द युक्त खिले पुष्पों के होने के कारण दिया गया है।

इस श्लोक की तुलना रामायण के निम्न श्लोकों से कीजिये—

'सुखं वने निवत्स्यामि, यथैव भवने पितुः।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥
शुश्रूषमाणा ते नित्यं, नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर! वनेषु मधुगन्धिषु ॥' (अयो० २७।१२–१३)

स्नेहस्तस्याः स तादृशः—इस कथन से राम का अभिप्राय यह है कि सीता का उनके प्रति इतना अगाध स्नेह था कि उसने अयोध्या के उपवनों में विचरने का चाव छोड़कर उनके साथ भयंकर अरण्यों में भी रहना पसन्द किया और वहाँ उनके साथ रहने में उसे अत्यन्त प्रसन्नता और सुख का अनुभव होता था।

न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ १९ ॥

सीता मया सह वने निवासं कुर्वाणा कथं न दुःखमनुभवतिस्मेत्यत्र हेतुं प्रदर्शयति रामः—

अन्वयः—यः यस्य प्रियः जनः, तत् तस्य किमपि द्रव्यम् (सः) किञ्चिदपि न कुर्वाणः, सौख्यैः हि दुःखान्यपोहति ॥ १९ ॥

न किञ्चिदपीति । प्रियः = प्रीतिमान् प्रीतिविषयो वा । न किञ्चिदपि कुर्वाणः = दुःखनिवृत्तिहेतुव्यापारलेशशून्यः । सौख्यैः—सुखान्येव सौख्यानि तैः = स्वीयसुखैः करणैः । अपोहति = नाशयति । तत् = दुःखनाशहेतुभूतः प्रियो जनः (विधेय-प्राधान्यात् नपुंसकत्वम्) । तस्य = अपोह्यमानदुःखस्य जनस्य । किमपि = विलक्षणम् । द्रव्यम् = भव्यवस्तु ।

अयम्भावः—यो यस्य प्रियो वल्लभः प्रीतिभाजनं जनः, तत् प्रियो जनः (विधेय-प्राधान्यान्नपुंसकत्वम्), तस्य किमपि असाधारणं विलक्षणं वा द्रव्यं वस्तु अस्तीति शेषः । हि यतः स प्रियो जनः न किञ्चिदपि कुर्वाणः तद्दुःखनिवृत्तिहेतुव्यापारशून्यः सन्नपि, स्वीयसुखैः करणैः (तस्य) दुःखान्यपोहति नाशयति—प्रियं जनं सुखितं पश्यन् स्वीयदुःखं किञ्चिदपि नानुभवति, प्रिये सुखिनि सति सोऽपि सुखमेवानुभवति न दुःखमित्यभिप्रायः । अथवा प्रियो जनः स्वसन्निधानमात्रजनितैः सुखसन्तानैर्दुःखानि निरस्यति । तत्स्वरूपेणैव दुःखनिवृत्तिहेतुतया प्रियो जनोऽनिर्वचनीयं वस्तु भवतीति भावः । अहं सीताया दुःखनिवृत्त्यर्थं सुखप्रदानार्थं वा न किञ्चिदपि करोमि स्म, किन्तु मयि तस्यास्तादृशी प्रीतिरासीद्यत् मत्सन्निधानमात्रेण सकलानि दुःखानि विस्मरन्ती सततमनिर्वचनीयसुखान्यनुभवति स्मेति श्रीरामभद्रोक्तेराशयः ।

अत्राप्रस्तुतात् प्रियसामान्याद् रामरूपप्रियविशेषस्य प्रस्तुतस्य प्रतीतेरप्रस्तुत-प्रशंसाऽलङ्कार. । अपि चानिर्वचनीयद्रव्यभुतेन प्रियवस्तुना कारणभूतेन, तद्दर्शन-जनितसुखसन्तानैर्दुःखापोहनरूपकार्यस्य समर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । एतयोः परस्परसापेक्ष्येण संस्थितेः सङ्करः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १९ ॥

अकिञ्चिदपि कुर्वाणः (पाठा०)—यहाँ नञ् (न) का अन्वय 'किञ्चित्' के साथ नहीं 'कुर्वाणः' के साथ है, फिर भी 'असूर्यम्पश्या' इत्यादि की तरह 'अकिञ्चित्' यह नञ्तत्पुरुष युक्त मान लिया गया है । तत्—यहाँ विधेय 'किमपि द्रव्यम्' नपुंसक है, उसी की प्रधानता है, अतः 'तत्' नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है । सौख्य—सुख + ष्यञ् (स्वार्थे) । अपोहति—अप + √ऊह् + लट्—पाक्षिक परस्मैपद

राम—जो जिसका प्रीतिपात्र है, वह (प्रीतिपात्र) उसका अनिर्वचनीय द्रव्य होता है । वह कुछ भी न करता हुआ सुखों से (उसके) दुःखों को दूर करता है ॥ १९ ॥

न किञ्चिदपि कुर्वाणः—सीता जी के लिए राम कुछ करते नहीं थे, किन्तु सीता का उनमें अकृत्रिम प्रेम होने के कारण राम के दर्शन से ही उन्हें अलौकिक सुख प्राप्त होता रहता था ।

शम्बूकः—तदलमेभिर्दुरासदैः । अथैतानि मदकलमयूरकण्ठकोमलच्छविभिरवकीर्णानि पर्वतैरविरलनिविष्टनीलबहलच्छायातरुषण्डमण्डितान्यसम्भ्रान्तविविधमृगयूथानि पश्यतु महाभागः प्रशान्तगम्भीराणि मध्यमारण्यकानि ।

इह समद-शकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।

सीतास्मरणेन सञ्जातदुःखं रामं विज्ञाय शम्बूकस्तच्चित्तविनोदार्थं प्राह—तदलमिति । दुरासदैः = दुर्धर्षैर्दुर्गमैरित्यर्थः, एभिर्वनैरलम् = एभिः किञ्चिदपि साध्यं नास्तीत्यर्थः । महाभागः = महान् भागो यस्य स तादृशो भवान्, 'महानुभावः' इति पाठान्तरे महाप्रभाव इत्यर्थः । अथेति वाक्यारम्भे, एतानि = समीपतरवर्तिनि, मदेन = हर्षेण, कलानाम् = मधुरं कूजतां, मयूराणां = कण्ठानामिव, कोमला = स्निग्धा, छविः = कान्तिर्येषां तादृशैः पर्वतैरवकीर्णानि = व्याप्तानि, 'पर्यन्तैः' इति क्वाचित्कः पाठस्तत्र समीपप्रदेशैरित्यर्थो बोध्यः । अविरलम् = निबिडं यथा स्यात्तथा, निविष्टाः = स्थिताः, नीलाः = श्यामवर्णाः, बहलाः = सान्द्राः, ये छायातरवः = छायाप्रधाना वृक्षास्तेषां षण्डाः = समूहाः ('कदम्बे षण्डमस्त्रियामि'त्यमरः), तैः मण्डितानि = अलङ्कृतानि । अपि च असम्भ्रान्तानि = अत्रस्तानि भयादिरहितत्वात् स्वच्छन्दचारीणि, विविधमृगाणाम् = अनेकप्रकारकहरिणानां, यूथानि = समूहाः, येषु तथाभूतानि, प्रशान्तानि = अनुद्वेगजनकानि निरुपद्रवाणि वा, गम्भीराणि = गहनानि च, मध्यमारण्यकानि = जनस्थानमध्यस्थानि वनानि, पश्यतु = अवलोकयतु ।

अन्वयः—इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोयाः, फल-

---

('उपसर्गादस्य त्यूह्योर्वेति वाच्यम्'—वार्तिक) ।

दुरासदैः—दुःखेन आसत्तुं योग्यानि दुरासदानि तैः; दुर् + आ + √ सद् + खल् ('ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्') । अलमेभिर्दुरासदैः—'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्ती प्रयोजिका' इति गम्यमानक्रियानुरोध से करण-कारक होने से तृतीया । अवकीर्णः—अव + √कॄ + क्त । निविष्टः—नि + √विश् + क्त । प्रशान्तः—प्र + √शम् + क्त ।

आक्रान्तः—आ + √क्रम् + क्त (कर्मणि) । वीरुध्—वि + √रुध् + क्विप्,

---

शम्बूक—अतः इन दुर्गम (अरण्यों) को रहने दें । अब महाभाग ! (आप) इन हर्ष से अव्यक्त मधुर ध्वनि करने वाले मयूरों के कण्ठों की-सी स्निग्ध कान्ति वाले पर्वतों से व्याप्त, घने भाव से उगे हुए नीले और सान्द्र छायावृक्षों के समूहों से अलङ्कृत, निर्भीक विविध मृगों के समूहों वाले, अनुद्वेगजनक एवं गहन जनस्थान के मध्यवर्ती अरण्यों को देखें ।

यहाँ हर्ष से युक्त पक्षियों से अधिष्ठित वेतसलताओं के पुष्पों से सुवासित, शीतल और स्वच्छ

पर्वतैः—इसके स्थान पर 'पर्यन्तैः' पाठ भी मिलता है, किन्तु 'अवकीर्णानि' के साथ इसकी संगति न बैठ पाने के कारण यह पाठ ठीक नहीं जँचता है ।

यूथ—पशु-पक्षियों के समूह को यूथ कहा जाता है । ('यूथं तिर्यक्समूहेऽस्त्री' इति मेदिनी) ।

फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः ॥ २० ॥

अपि च—

दधति कुहरभाजामत्र भल्लकयूना-
मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि ।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीना-
मिभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः ॥ २१ ॥

भरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसः निर्झरिण्यः वहन्ति ॥ २० ॥

'अत्र निर्झरिण्योऽपि वहन्ति' इत्यपि पश्यतु महाभागः इत्याशयेन शम्बूकः प्राह—इहेति । इह = अत्र मध्यमारण्यकेषु, समदाः = हर्षयुक्ताः, ये शकुन्ताः = पक्षिणस्तैराक्रान्ताः = अधिष्ठिताः, या वानीरवीरुधः=वेतसलताः, तासां प्रसवैः=पुष्पैः, शकुन्ताश्रयणादुत्कम्पिताभ्यो वेतसलताभ्यः पतितैः पुष्पैरित्यर्थः; सुरभीणि = सुवासितानि, शीतानि = शीतलानि, स्वच्छानि = निर्मलानि, तोयानि=जलानि, यासां तास्तथोक्ताः, फलभरस्य = फलराशेः, परिणामेन = परिपाकेन, श्यामाः = कृष्णवर्णाः, ये जम्बूनिकुञ्जाः = जम्बूवृक्षगुल्माः, तेषु स्खलनेन = वेगप्रतिघातेन, मुखराणि = शब्दायमानानि, भूरीणि = बहूनि, स्रोतांसि = प्रवाहाः, यासां तादृश्यो निर्झरिण्यः = नद्यः वहन्ति = स्यन्दते ।

अयन्भावः—वेतसानां शाखासु हर्षयुक्ताः पक्षिण आगत्योपविशन्ति हर्षेण चोच्छलन्ति कूर्दन्ति च, ततस्तेभ्यः पुष्पाणि जले निपतन्ति, तेषां गन्धसम्पर्कात् स्वभावशीतलं

उपसर्ग को दीर्घ । निर्झरिणी—निर्झरः कारणत्वेन विद्यतेऽस्याः; निर्झर + इनि + ङीप् । वहन्ति—अर्थान्तरवृत्तित्वेनात्र वहधातोरकर्मकत्वम्. 'तदुक्तम्'—'धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ।

कुहरभाजाम्—कुहरं भजन्तीति कुहरभाजस्तेषाम् (उपपदतत्पु०) । 'भजो ण्विः' से ण्वि प्रत्यय । अनुरसितम्—अनु + √रस् + क्त (भावे) । स्त्यानम्—√स्त्यै शब्द-

---

जल वाली तथा फलों के पकने से श्यामवर्ण वाले जामुन वृक्षों के कुञ्जों में टकरा कर गिरने से शब्दायमान बहुतेरे प्रवाहों वाली नदियाँ बहती हैं ॥ २० ॥

और भी—

इन(वनों)में गुफाओं में रहने वाले युवाभालुओं की प्रतिध्वनियों से गम्भीर थूकने का थूत्कारात्मक शब्द वृद्धि को प्राप्त हो रहा है और गजों द्वारा मसली गयीं अतएव इधर-उधर बिखरी हुईं सल्लकी नामक लताओं की गाँठों के रस का शीतल, तीखा और सुगन्धित गन्ध फैल रहा है ॥ २१ ॥

यह श्लोक कवि के अन्य नाटक 'महावीरचरित' में भी पाया जाता है । देखें—अङ्क ५ का ४०वाँ श्लोक ।

यही श्लोक भवभूति के ही 'मालतीमाधव' नाटक के नवम अङ्क में छठी संख्या पर है तथा 'महावीरचरित' में भी आया है (५।४१) ।

रामः—(सबाष्पस्तम्भं) भद्र ! शिवास्ते पन्थानो देवयानाः । प्रलीयस्व पुण्येभ्यो लोकेभ्यः ।

मधुरं च पयः सुवासितं सम्पद्यते । अपि च फलानां परिपाकेन श्यामवर्णेषु जम्बूवृक्षगुल्मेषु प्रवाहाः स्खलन्ति, येन तेषु महान् कलकलो भवति । एतादृश्यो गिरिनद्यो वहन्ति । ताः=पश्यतु महाभाग इति सरलार्थः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ २० ॥

अन्वयः—अत्र कुहरभाजां भल्लूकयूनाम् अनुरसितगुरूणि अम्बूकृतानि स्त्यानम् दधति । सल्लकीनां शिशिरकटुकषायः इभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः स्त्यायते ॥ २१ ॥

शम्बूको मध्यमारण्यकेषु वैशिष्ट्यान्तरमपि वर्णनीयमस्तीत्याशयेन प्राह—दधतीति । अत्र=मध्यमारण्यकेषु । कुहरभाजाम्=गुहावर्तिनाम् । भल्लूकयूनाम्=ऋक्षाणाम् । अनुरसितगुरूणि—अनुरसितेन=अनुरणनेन, गुरूणि=महान्ति । अम्बूकृतानि=निष्ठीवनशब्दाः, थूत्कारात्मका इत्यर्थः । ('अम्बूकृतं सनिष्ठीवम्' इत्यमरः) । स्त्यानम्=वृद्धिम् । दधति=धारयन्ति । सल्लकीनाम्=गजभक्ष्याणां लताविशेषाणाम् । शिशिरकटुकषायः=शीतलः, तीक्ष्णः, सुरभिश्च । इभदलित०—इभैः=गजैः, दलिताः=मर्दिताः, अत एव विकीर्णाः=इतस्ततः पर्यस्ताः, ग्रन्थयः=पर्वाणि ('ग्रन्थिर्ना पर्वपरुषी' इत्यमरः), तेषां निष्यन्दः=स्वरसद्रवः, तस्य गन्धः=आमोदः ('गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः'), स्त्यायते=वर्द्धते ।

अयम्भावः—एषु मध्यमारण्यकेषु गुहावर्तिनो युवानो भल्लूका उच्चैर्निष्ठीवन्ति । तेषामिमे थूत्कारात्मकाः शब्दाः प्रतिध्वनिभिर्महान्तो भूत्वा वृद्धिं प्राप्नुवन्ति ।

सङ्घातयोः + ल्युट् । विकीर्णः—वि + √कृ + क्त । निष्यन्दः—नि + √स्यन्द् + घञ् । स्त्यायते—√स्त्यै + लट् । यह धातु परस्मैपदी है (देखें—सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादिप्रकरण धातुसं०—९१०), किन्तु भवभूति ने यहाँ इसे आत्मनेपद में प्रयुक्त किया है । संभवतः इसी प्रयोग को देखकर वामनशिवराम आप्टे ने अपने कोष में इसे उभयपदी लिख दिया है ।

प्रलीयस्व—प्र + ली (दिवादिगणीय, आत्मनेपद) + लोट् (थास्) । पुण्येभ्यो

राम—(आँसू रोककर) भद्र ! तुम्हारे लिए देवयान नामक मार्ग कल्याणकारी हों । पुण्यलोकों को प्राप्त करने के लिए विलीन हो जाओ ।

देवयानाः—गीता और छान्दोग्योपनिषद् में मरणोपरान्त परलोकगमन के दो मार्ग कहे गये हैं—(१) देवयान मार्ग, (२) पितृयान । निष्काम भाव से तपस्या करने वाले आत्मज्ञानी देवयान मार्ग से गमन कर ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं और फिर वे लौट कर नहीं आते । सकामभाव से यज्ञ तथा दान इत्यादि करने वाले लोग पितृयान से गमन कर चन्द्रलोक प्राप्त करते हैं, किन्तु पुण्यकर्मों के फलों को भोग लेने के पश्चात् पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः उन्हें इस लोक में आना पड़ता है ।

शम्बूकः—यावत्पुराणब्रह्मवादिनमगस्त्यऋषिमभिवाद्य शाश्वतं पदमनुप्रविशामि ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

तथा च सल्लकीति नाम्ना प्रसिद्धा गजभक्ष्या लता हस्तिभिर्विदलिता अत एव पारतः पर्यस्ता वर्तन्ते । तासां ग्रन्थिरसस्यामोदः सर्वत्र वने प्रसरति यः शिशिरः कटुः सुरभिश्चास्ति । अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ २१ ॥

सीतास्मरेण निर्गच्छतामश्रूणामवरोधं यथाकथञ्चिद्विधाय श्रीरामः शम्बूकं प्रत्याह—भद्रेति । सबाष्पस्तम्भम्=सीतास्मरेणनोद्गतानामश्रूणां निरोधपूर्वकम् । भद्र ! तव देवयानाः=देवयाननामकाः पन्थानः, शिवाः=कल्याणकारकाः सन्तु । पुण्यान् लोकेभ्यः=लोकाननुभवितुं प्रलीयस्व=विलीनो भव ।

शम्बूकः—यावत् अवधारणार्थकमव्ययम् । प्रथमं पुराणम्=पुरातनं, ब्रह्मवादिनम् =ब्रह्मोपदेष्टारमृषिमगस्त्यम्, अभिवाद्य=प्रणम्य, ततो शाश्वतं पदम्=नित्यं स्थानम्, ब्रह्मलोकमिति यावत्, अनुप्रविशामि=अनन्तरं प्रवेक्ष्यामि । (वर्तमानसामीप्ये लट्) 'देवयानं प्रतिपद्यस्व' इति पाठे देवयानं=तन्नामकं मार्गं, प्रतिपद्यस्व=स्वीकुरु, प्राप्नुहि । यद्वा देवयानं=विमानं प्रतिपद्यस्व, लोकान्तरं गन्तुं विमानारोहणं कुरु इत्यर्थो बोध्यः ।

लोकेभ्यः—पुण्यान् लोकान् गन्तुम् । तुमन्त कृदन्त (गन्तुम्) का लोप करने पर उसके कर्म पुण्यलोक से चतुर्थी विभक्ति हुई है (क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः) ।

शम्बूक—पहले पुरातन ब्रह्मवादी ऋषि अगस्त्य का अभिवादन करके, उसके बाद अक्षयलोक (अर्थात् ब्रह्मलोक) में प्रवेश करता हूँ (करूँगा) ।

(ऐसा कहकर चला गया)

कतिपय विद्वान्—'शिवास्ते पन्थानो देवयानाः' पाठ को समीचीन नहीं मानते । उनका कहना है कि 'देवयानाः' का बहुवचन में प्रयोग उसके विरुद्ध जाता है, क्योंकि वह मार्ग तो केवल एक ही है । इस विषय में यह अवधेय है कि कोई व्यक्ति जब अपनी यात्रा के लिए प्रस्थान करता है, उस समय विदा करने वाले आत्मीयजन मङ्गलकामना से 'शिवास्ते सन्तु पन्थानः' शुभाशंसनात्मक वाक्य का प्रयोग करते हैं, जो एक मुहावरा बन गया है । यहाँ रामचन्द्रजी ने भी शम्बूक के लिए इसी मुहावरे का प्रयोग किया है और 'पन्थानः' के अनुरोध से 'देवयान' मार्ग का बहुवचन से निर्देश किया है, अतः उक्त आपत्ति निरस्त हो जाती है ।

शाश्वतं पदम्—अनश्वर स्थान अर्थात् ब्रह्मलोक । देवयान मार्ग से गमन कर ब्रह्मलोक में पहुँच कर पुण्यात्मा जन सदा मुक्तावस्था में वहीं रहते हैं, वे पुनः इस नश्वर जगत् में कभी लौट कर नहीं आते । 'स एतान् ब्रह्म गमयति एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छान्दोग्य उपनिषद् ४।१५।६) । गीता (१४।४) भी द्रष्टव्य है ।

पुण्यलोक—पुण्यात्माओं को जो लोक प्राप्त होता है । ये लोक सात हैं, जो उत्तरोत्तर एक दूसरे से उत्कृष्ट हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य । इनमें सत्यलोक सर्वोत्कृष्ट है, इसी को ब्रह्मलोक भी कहते हैं ।

रामः— एतत्तदेव हि वनं पुनरद्य दृष्टं
यस्मिन्नभूम चिरमेव पुरा वसन्तः।
आरण्यकाश्च गृहिणश्च रताः स्वधर्मे
सांसारिकेषु च सुखेषु वयं रसज्ञाः॥ २२॥
एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि।

अन्वयः—तदेव हि एतत् वनं पुनः अद्य दृष्टम्; यस्मिन् वसन्तः वयं स्वधर्मे रताः आरण्यकाः सांसारिकेषु रसज्ञाः गृहिणश्च अभूम॥ २२॥

शम्बूके निर्गते, तद्दर्शनावलोकनेन तत्र वनवासकाले सीतया सहानुभूतसुखानि स्मृत्वा सञ्जातखेदो रामः प्राह—एतत्तदेवेति। तदेव = पूर्वपरिचितम्, हि = निश्चयेन, एतत् = पुरोवर्ति, वनमरण्यं, पुनः = प्राक्तनवनवासानन्तरं द्वितीयवारम्, अद्य = अस्मिन् दिने, दृष्टम्; यस्मिन् = वने, पुरा = पूर्वं दण्डकारण्यवासकाले, चतुर्दशवर्षाणि वसन्तः = निवसन्तः, वयं स्वधर्मे रताः = पितुराज्ञापालनरूपस्वधर्मे तत्पराः, आरण्यकाः = मुनिव्रतपरायणा वानप्रस्थाः, सहैव सांसारिकेषु = संसारसम्बन्धिसुखेषु, रसज्ञाः = ज्ञातस्वादाः, गृहिणश्च = गृहस्थाश्च अभूम।

अयम्भावः—पितुराज्ञया वनवासिनोऽपि वयं सीतया सह तासु तासु वनस्थलीषु विहरन्तो गृहस्थोचितसकलभोगसाधनमुपभुञ्जानाः सुखेन कालं गमयन्तश्चिरं न्यवसाम, तदेवेदं बहुकालानन्तरमद्य पश्यतामस्माकं मनस्तत्सीतायाः स्मरणेन व्याकुलतां यातीति रामोक्तेराशयः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ २२॥

दृष्टम्—√दृश् + क्त (कर्मणि)। अभूम—√भू + लुङ् (उ० पु० ब० व०)। √वस् + शतृ। आरण्यकाः—अरण्ये वसन्तीति आरण्यकाः; अरण्य + वुञ्। गृहिणः—गृह + इनि ('अत इनिठनौ')। रताः—√रम् + क्त। सांसारिकेषु—संसारे भवानि तेषु; संसार + ठञ् ('अध्यात्मादेष्ठञिष्यते'—वार्तिक)। रसज्ञाः—रसं जानन्तीति रसज्ञाः; रस् + √ज्ञा + क ('आतोऽनुपसर्गे कः')।

राम—वही यह वन पुनः आज देखा, जिसमें पहले बहुत दिनों तक रहते हुए हम अपने धर्म में रत वानप्रस्थ और गृहस्थ दोनों एकसाथ होकर सांसारिक सुखों में रस लेने वाले हुए थे॥ २२॥

आरण्यकाश्च गृहिणश्च—दो चकार के प्रयोग से क्रियाओं का यौगपद्य सूचित किया गया है। वन में सीता के साथ रहते हुए श्रीराम वानप्रस्थ के साथ-साथ गृहस्थ भी थे।

स्वधर्मे रताः—पुत्र के रूप में पिता का आज्ञापालन रूप धर्म-निर्वाह करने के लिए वनवासी बने। वानप्रस्थ के रूप में फलमूलादि से जीवनयापन करते हुए मुनि-व्रतपरायण हुए। क्षत्रिय के रूप में राक्षसों से मुनियों की रक्षा करते हुए क्षत्रियोचित धर्म में तत्पर रहे। इस प्रकार राम प्रत्येक दृष्टि से स्वधर्म में रत थे।

रसज्ञाः—सांसारिक सुखों का रसास्वादन करने वाले।

आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि ॥ २३ ॥
मेघमालेव यश्चायमारादपि विभाव्यते।
गिरिः प्रस्रवणः सोऽयं यत्र गोदावरी नदी ॥ २४ ॥

अन्वयः—एते ते एव विरुवन्मयूराः गिरयः, तानि एव मत्तहरिणानि वनस्थलानि; अमूनि च तानि आमञ्जुवञ्जुललतानि नीरन्ध्रनीलनिचुलानि सरित्तटानि (सन्ति) ॥ २३ ॥

पुनरपि श्रीरामस्तत्रत्यानि वस्तूनि निरीक्ष्य परिचिन्वन्नाह—एत इति। विरुवन्मयूराः—विरुवन्तः = कूजन्तः, मयूरा येषु ते तथोक्ताः। मत्तहरिणानि—मत्ताः = मदयुक्ताः, हरिणा येषु तानि तथोक्तानि। आमञ्जुवञ्जुललतानि—आ = समन्तात्, मञ्जवः = मनोज्ञाः, वञ्जुललताः = वेतसलताः, येषु तानि। नीरन्ध्रनीलनिचुलानि—नीरन्ध्राः = घनप्ररूढाः, नीलाः = श्यामाः, निचुलाः = हिज्जलवृक्षाः, येषु तानि।

अयम्भावः—एते त एव पर्वता यत्र पूर्ववत् सम्प्रत्यपि कूजन्तो मयूराः सन्ति। तान्येव चेमानि वनस्थलानि यत्र मत्तहरिणा अद्यापि सानन्दं निवसन्ति। एतानि नदीनां तटान्यपि तान्येव यत्र पूर्ववत् अतिमनोज्ञा वेतसलताः घनप्ररूढाः श्यामा हिज्जलवृक्षाश्च शोभन्ते। अत्र प्रस्तुतानां गिरिवनस्थलीसरित्तटपदार्थानामेकेन क्रियारूपधर्मेणान्वयात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—अयं च यः आरादपि मेघमालेव विभाव्यते, सोऽयं प्रस्रवणः गिरिः, यत्र गोदावरी नदी ॥ २४ ॥

विरुवन्तः—वि√रु + शतृ—उवङ् आदेश।
विभाव्यते—वि + √भू + णिच् + लट् (कर्मणि)।

ये वे ही कूजते हुए मयूरों वाले पर्वत हैं, वही मदयुक्त हिरनों वाली वनभूमियाँ हैं और ये (दूरस्थ) अतिशय मनोज्ञ वेतसलताओं वाले तथा सघन एवं श्याम हिज्जल वृक्षों वाले नदियों के तट हैं ॥ २३ ॥

यह जो समीप होकर भी (ऊँचे शिखरों के कारण) मेघपंक्ति के समान (नीलवर्ण) प्रतीत हो रहा है, यह वही प्रस्रवण पर्वत है, जिस पर्वत के समीप गोदावरी नदी बहती है ॥ २४ ॥

निचुल—'निचुले हिज्जलोऽम्बुजः' (अमरकोष २।४।६१)। इस पर रामाश्रम ने 'वाकीरे कविभेदे स्यान्निचुलः स्थलवेतसे इति शब्दार्णवात्-' ऐसा कहा है। वामनशिवराम आप्टे ने अपने कोष में निचुल का अर्थ एक प्रकार का नरकुल और एक कवि का नाम, जो कालिदास का मित्र था, बतलाया है।

मेघमालेव—प्रस्रवण पर्वत समीप से भी मेघमाला के समान दिखलायी दे रहा है। कारण, उसके ऊँचे-ऊँचे शिखरों का होना है।

आरादपि—यहाँ 'अयम्' तथा 'अपि' शब्द के कारण आरात् का अर्थ समीप है, यद्यपि इस शब्द का 'दूर' अर्थ भी होता है। अन्य पर्वत तो दूर से देखने पर ही मेघमाला-सदृश

अस्यैवासीन्महति शिखरे गृध्रराजस्य वास-
स्तस्याधस्ताद्वयमपि रतास्तेषु पर्णोटजेषु ।
गोदावर्याः पयसि विततश्यामलानोकहश्री-
रन्तःकूजन्मुखरशकुनो यत्र रम्यो वनान्तः ॥ २५ ॥

रामः पुनः प्रस्रवणनामानं पर्वतं पश्यन्नाह—मेघमालेति । मेघमालेव=मेघपङ्क्तिसदृशः । विभाव्यते=विज्ञायते । आरादपि=समीपस्थः अपि ('आराद् दूरसमीपयोरि'त्यमरः) । प्रस्रवणः=तन्नामा पर्वतः ।

अयम्भावः—यश्चायं समीपस्थोऽपि नीलवर्णो मेघसमूह इव प्रतीयते सोऽयं प्रस्रवणनामकः पर्वतोऽस्ति, अत्रैव सा प्रसिद्धा गोदावरी नदी वर्तते । 'मेघमालेवे'त्यत्रोपमा ॥ २४ ॥

अन्वयः—अस्य एव महति शिखरे गृध्रराजस्य वासः आसीत् । तस्य अधस्तात् वयम् अपि तेषु पर्णोटजेषु रताः, यत्र गोदावर्याः पयसि विततश्यामलानोकहश्रीः (किञ्च) अन्तःकूजन्मुखरशकुनः रम्यः वनान्तः ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्रः पुनराह—**अस्यैवासीन्निति** । महति=उन्नते । अधस्तात्=अधःप्रदेशे । पर्णोटजेषु=पर्णशालासु । रताः=सुखेन स्थिताः । यत्र=येषु, लक्षणया येषां समीप इत्यर्थः । पयसि=जले । विततश्यामलानोकहश्रीः—वितता=विस्तीर्णा, प्रति-

---

गृध्रराजः—गृध्राणां राजा इति गृध्रराजः (षष्ठीतत्पु०) 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति समासान्तः टच् । वासः—उष्यतेऽस्मिन्निति वासः; √वस्+घञ् (अधिकरणे) । विततश्यामलानोकहश्रीः—वितता—वि+√तन्+क्त (कर्मणि)+टाप् (स्त्रियाम्) । अनोकहाः—अनसः शकटस्य अकं गतिं घ्नन्तीत्यनोकहाः वृक्षाः ('अन्येष्वपि दृश्यते' इति ड प्रत्ययः) वितता श्यामलानामनोकहानां श्रीर्यत्र सः । रताः—√रम्+क्त । रम्यः—√रम्+यत् ('पोरदुपधात्') ।

इसी (प्रस्रवण गिरि) के ऊँचे विशाल शिखर पर गृध्रराज जटायु का निवास था । उसके नीचे हम भी उन पर्णशालाओं में रमते थे (सुख से रहते थे), जिन (पर्णशालाओं) के समीप वह रम्य वनप्रदेश है, जहाँ गोदावरी के जल में फैली हुई (प्रतिबिम्बित) समधिक हरे-भरे वृक्षों की कान्ति है और जिसमें (पत्तों के) भीतर कूजते हुए पक्षी गा रहे हैं ॥ २५ ॥

प्रतीत होते हैं, किन्तु इस पर्वत के शिखर इस कदर ऊँचे हैं कि यह समीप से भी मेघमाला के समान प्रतीत हो रहा है । इस नाटक के प्रथम अङ्क में इस पर्वत की स्थिति जनस्थान के बीच में बतलायी गयी है, किन्तु रामायण (किष्किन्धाकाण्ड २७) में किष्किन्धा के समीप ।

यत्र—यस्मिन् । यहाँ आधार का अर्थ लक्षणा से 'गङ्गायां घोषः' की तरह 'सामीप्य' लेना उचित है ।

पर्णोटजेषु—उटज शब्द का 'पर्णशाला' अर्थ तो होता ही है, फिर भी उटज के साथ पर्ण शब्द का प्रयोग वैसे ही किया गया है, जैसे कुण्डल के लिए श्रवणकुण्डल शब्द का प्रयोग होता है, यद्यपि कुण्डल श्रवण का ही आभूषण है । जीवानन्द का कथन है—'अत्रोटजशब्दस्य पर्णशालार्थकत्वेऽपि पर्णग्रहणं कुटीरस्य प्रचुरवर्णविरचितत्वद्योतनार्थम् ।'

अत्रैव सा पञ्चवटी, यत्र चिरनिवासेन विविधविश्रम्भातिप्रसङ्गसाक्षिणः प्रदेशाः, प्रियायाः प्रियसखी च वासन्ती नाम वनदेवता। किमिदमापतितमद्य रामस्य। सम्प्रति हि—

चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित्संवेगात् प्रचल इव शल्यस्य शकलः।

बिम्बिता इत्यर्थः, श्यामलानाम् = समधिकहरितानाम्, अनोकहानाम् = वृक्षाणाम्, श्रीः = शोभा, यस्मिन् स तादृशः। अन्तःकूजन्मुखरशकुनः—अन्तः = पत्रमध्ये, कूजन्तः मुखराः = गीतपराः, शकुनाः = पक्षिणः, यस्मिन् तादृशः। रम्यः = रमणीयः। वनान्तः = वनप्रदेशः।

अयम्भावः—अस्यैव प्रस्रवणपर्वतस्य समुन्नते शृङ्गे गृध्रराजो जटायुर्निवसतिस्म। तस्याधःप्रदेशे तासु पर्णशालासु वयं सुखेन स्थिता आस्म; यासां पर्णशालानां समीपं एव रमणीयो वनप्रदेशोऽस्ति, यस्मिन् गोदावरीजले प्रतिबिम्बिता समधिकहरितवृक्षशोभा किञ्च पत्राणां मध्ये कूजन्तो गीतपराः पक्षिणः सन्ति। मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥२५॥

रामो भूयोऽप्याह—**अत्रैवेति**। अत्रैव = अस्मिन्नेव, सा = पूर्वानुभूता पञ्चवटी, विद्यते, यत्र चिरनिवासेन = दीर्घकालव्यापिना निवासेन, विविधविश्रम्भातिप्रसङ्गसाक्षिणः—विविधानाम् = नानाप्रकाराणाम्, विश्रम्भाणाम् = स्वैरविलासानाम्, अतिप्रसङ्गस्य = अतिविस्तारस्य, साक्षिणः = साक्षाद्द्रष्टारः, आधारभूता इति यावत्; प्रदेशाः सन्ति, तेष्वेव स्थानेषु स्वैरविलासाः कृता इति भावः। अत्रैव प्रियायाः = सीतायाः, प्रियसखी वासन्तीति नाम्ना प्रसिद्धा वनदेवता प्रतिवसति। एतान् प्रदेशान् तां वासन्तीं च दृष्ट्वा विदीर्णहृदयो भविष्यामीति मनसि निधाय श्रीराम आह—**किमिति**। मम रामस्य किमिदमापतितम् = किमप्यतिदुःसहमुपस्थितमित्यर्थः। तदेव प्रतिपादयति—

पञ्चवटी—पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी (समाहारद्विगुः) 'द्विगोश्च' इति ङीप्। विश्रम्भः—वि + √श्रम्भ् + घञ्। विश्रम्भ के स्थान पर 'विस्रम्भ' भी प्रयुक्त होता है—वि + √स्रम्भ् + घञ्। अतिप्रसङ्गः—अति + प्र + √सञ्ज् + घञ्।

यही वह पञ्चवटी है, जहाँ चिरकाल तक निवास करने के कारण (किये गये) स्वैर विलासों के अत्यधिक विस्तार को साक्षाद् देखने वाले स्थान हैं (अर्थात् जहाँ के स्थानों में विश्रब्ध विलास किये गये थे) और जहाँ प्रिया (सीता) की प्रियसखी वासन्ती नामक वनदेवता रहती है। आज राम पर यह क्या आ पड़ा ? क्योंकि इस समय—

बहुत समय के बाद वेग से आरम्भ होने वाले, (शरीर में) फैले हुए दुःसह विषरस-सा, किसी भी कारण से अत्यन्त जोर से हिले हुए शल्यखण्ड-सा, प्ररूढ गाँठ वाले (किसी-किसी तरह

'अन्तःकूजन्मुखरशकुनः'—इसकी एक दूसरे प्रकार से भी व्याख्या की जाती है—मुखराः शकुना यत्र सः, अत एव अन्तःकूजन्निव। दोनों पद इस प्रकार 'वनान्तः' के विशेषण हैं और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलंकार है।

चिराद्वेगारम्भी—इसका अन्वय 'शोकः' पद के साथ भी किया जा सकता है।

व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुन-
र्घनीभूतः शोको विकलयति मां मूर्च्छयति च ॥ २६ ॥

तथापि तान् पूर्वसुहृदो भूमिभागान् पश्यामि । (निरूप्य) अहो! अनवस्थितो भूमिसन्निवेशः । तथा हि—

अन्वयः—चिराद् वेगारम्भी प्रसृतः तीव्रः विषरसः इव, कुतश्चित् संवेगात् प्रचलः शल्यस्य शकल इव, रूढग्रन्थिः पुनः स्फुटितः हृन्मर्मणि व्रण इव, घनीभूतः शोकः मां विकलयति मूर्च्छयति च ॥ २६ ॥

चिरादिति । चिरात् = बहोः कालात् परम् । वेगारम्भी—वेगेन = जवेन, आरम्भः = प्रक्रिया, विद्यतेऽस्येति तथोक्तः । प्रसृतः = शरीरावयवेषु व्याप्तः । तीव्रः = दुःसहः । विषरसः = विषद्रवः, तत्सदृश इत्यर्थः । कुतश्चित् = कुतोऽपि निमित्तवशात् । संवेगात् = अतिवेगात् । प्रचलः = प्रचलितः । शल्यस्य = बाणाग्रस्य । शकलः = खण्डः । रूढग्रन्थिः = विरोपितः । स्फुटितः = विदलितः । हृन्मर्मणि = हृदयमर्मस्थले । घनीभूतः = गाढतामापन्नः । शोकः = प्रियाविरहजनितसन्तापः । माम् = रामम् । विकलयति = विकलं करोति । मूर्च्छयति = सम्मोहयति ।

अयम्भावः—बहुकालात्परं वेगेनारम्भवान् (चिरोद्वेगारम्भीति पाठे चिरं = बहुकालं यावत्, उद्वेगं = हृदयदाहम्, आरभते = उत्पादयति तादृशः) शरीरावयवेषु व्याप्तो दुःसहो विषरससदृशः, अपि च कुतोऽपि निमित्तवशादतिशयवेगात् प्रचलितः (निहित इति पाठे अन्तःप्रविष्ट इत्यर्थः) शल्यखण्ड इव, तथा च विरोपितः किन्तु पुनः स्फुटितो हृदयमर्मस्थाने व्रण इव, गाढतामापन्नः प्रियाविरहजनितशोको मां रामं विकलं करोति सम्मोहयति च । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २६ ॥

रूढः—रुह् + क्त । घनीभूतः—अघनो घनो भूतः इति घनीभूतः; घन + च्वि + भूतः । विकलयति—विकलं करोति । 'तत्करोति तदाचष्टे' (गणसूत्र) इति णिच् ।

अनवस्थितः—नञ् + अव + √स्था + क्त । बहोः कालात्—अनन्तर के अर्थ में पञ्चमी ।

भरे) किन्तु पुनः फटे हुए हृदयमर्मस्थल के घाव-सा प्रगाढ शोक मुझे व्याकुल और चेतनाविहीन कर रहा है ॥ २६ ॥

तो भी उन पुराने मित्र भूमिप्रदेशों को देखूँगा । **(देखकर)** भूमि की संस्थिति (कितनी) अनियत है (यह आश्चर्य की बात है)। वह इस प्रकार—

रूढग्रन्थिः—जिसमें गाँठें पड़ चुकी हैं अर्थात् किसी-किसी तरह अभी भर पाया है। यह विशेषण यह बतलाता है कि अभी घाव पूर्णरूप से भरा नहीं था कि बीच में वह पुनः फट गया।

घनीभूतः—अघनः घनः सम्पन्नः । पंचवटी के देखने से तथा पूर्ववृत्तान्तों के स्मरण आ जाने से राम का शोक सीमा पार कर गया ।

पूर्वसुहृदः—राम उन भूभागों में चिरकाल तक रह चुके थे, अतएव वे भाग उन्हें मित्रसदृश ही प्रिय थे, अतः उन्हें **'पूर्वसुहृद्'** कहा गया है ।

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम् ।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥ २७ ॥

रामः—हन्त ! परिहरन्तमपि मामितः पञ्चवटीस्नेहो बलादाकर्षतीव ।

तथेति । तथापि = तेषां शोकोद्दीपकत्वेऽपि । पूर्वसुहृदः = प्राचीनमित्राणि । भूमिभागान् = भूप्रदेशान् । पश्यामि = अवलोकयामि । अहो !, इत्याश्चर्यद्योतकमव्ययम् । अनवस्थितः = अनियतः । भूमिसन्निवेशः = भूभागानां विन्यासः, अवस्थानम् । तथाहि—

अन्वयः—पुरा यत्र स्रोतः (आसीत्) तत्र अधुना सरितां पुलिनम् (अस्ति) । क्षितिरुहां घनविरलभावः विपर्यासं यातः । बहोः कालाद् दृष्टम् इदं वनम् अपरमिव मन्ये । शैलानां निवेशः 'इदं तत्' इति बुद्धिं द्रढयति ॥ २७ ॥

पुरेति । स्रोतः = प्रवाहः । अधुना = सम्प्रति । पुलिनम् = तटम् । क्षितिरुहाम् = वृक्षाणाम् । घनविरलभावः = घनत्वं विरलत्वं च । विपर्यासम् = वैपरीत्यम् । यातः = गतः । अपरम् = अन्यम् । निवेशः = (पूर्ववत्) अवस्थानम् । बुद्धिं द्रढयति = ज्ञानं दृढीकरोति ।

अयम्भावः—श्रीरामचन्द्रः शोकोद्दीपकानपि तान् भूमिभागान् वनवासकाले तत्र निवासेन चिरपरिचिततया विलोकयितुमैच्छत्, निरूप्य च तद्भूमिभागविपर्यासं साश्चर्यं प्राह—मद्वनवासकाले यत्र नदीनां प्रवाह आसीत् तत्र सम्प्रति पुलिनं वर्तते, प्रवाहस्य दूरे गतत्वात् तत्स्थाने पुलिनं जातम् । यत्र वृक्षा घना आसन् तत्र विरला अभवन्, यत्र च विरला आसन् तत्र घनाः सञ्जाताः । इत्थं बहुकालात्परं दृष्टमिदं वनं किमप्यपरमिव वनं, मन्ये—पुरा यत्राहं न्यवसम्, नहीदं तद्वनम्, किमप्यन्यद्वनमागतोऽस्मीति मे भ्रान्तिर्जाता । ततः गिरीणामपरिवर्तितमवस्थानमेव दृष्ट्वा तदेवेदं वनमिति निर्णेतुमशकम् । अत्र पञ्चवटीवनेऽपरवनत्वोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । तथा तस्मिन्नेव वनेऽन्यवनवद् बुद्धिं प्रति प्रथमद्वितीयपादगतवाक्यार्थद्वयस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । अपि च तद्वनगतशैलानां पूर्ववदवस्थानेन 'तदेवेदं वनम्' इति प्रतीतेरनुमानालङ्कारः । एतेषामलङ्काराणामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २७ ॥

द्रढयति—दृढां करोतीति द्रढयति । दृढ + णिच् ('तत्करोति तदाचष्टे' गणसूत्र)—ऋकार को रकार । परिहरन्तम्—परि + √हृ + शतृ ।

पहले जहाँ नदियों की धारा थी, इस समय वहाँ तट है। वृक्षों की सघनता और विरलता उलट गयी (जहाँ घने वृक्ष थे वहाँ विरल हो गये हैं, जहाँ विरल थे वहाँ घने हो गये हैं) । बहुत समय के बाद देखा गया यह वन दूसरे (वन)-जैसा लग रहा है। यह (तो) पर्वतों की पूर्ववत् स्थिति है, जो इस प्रकार की बुद्धि को दृढ-पुष्ट कर रही है कि यह वही (वन) है ॥ २७ ॥

विषाद का विषय है कि अतिक्रमण कर यहाँ से जाते हुए भी मुझे पञ्चवटी का स्नेह बलपूर्वक आकृष्ट-सा कर रहा है।

(सकरुणम्)

यस्यां ते दिवसास्तया सह मया नीता यथा स्वे गृहे
यत्सम्बन्धिकथाभिरेव सततं दीर्घाभिरास्थीयत।
एकः सम्प्रति नाशितप्रियतमस्तामद्य रामः कथं
पापः पञ्चवटीं विलोकयतु वा गच्छत्वसम्भाव्य वा ॥ २८ ॥

हन्तेति । हन्त = विषादद्योतकमव्ययम् । परिहरन्तम् = परित्यजन्तम्, अतिक्रम्य गच्छन्तमित्यर्थः ।

रामः पञ्चवटीमतिक्रम्य गन्तुमिच्छति तथापि पञ्चवटीस्नेहस्तं बलपूर्वकमाकर्षतीव । तदवस्थः श्रीरामः सकरुणमाह—

अन्वयः—यस्यां ते दिवसाः तया सह मया यथा स्वे गृहे नीताः, दीर्घाभिः यत्सम्बन्धिकथाभिः एव सततम् आस्थीयत, सम्प्रति तां पञ्चवटीं नाशितप्रियतमः पापः रामः एकः कथं विलोकयतु, असम्भाव्य वा (कथं) गच्छति ॥ २८ ॥

यस्यामिति । यस्याम् = पञ्चवट्याम् । ते = पूर्वानुभूताः दिवसाः, तया सह = सीतया समम् । यथा स्वे गृहे = आत्मीयभवन इव । नीताः = अतिवाहिताः, यापिताः । दीर्घाभिः = विस्तृताभिः । नाशितप्रियतमः—नाशिता = लक्ष्मणद्वारा वननिर्वासनेन विनाशं प्रापिता, प्रियतमा = सीता येन सः । पापः = पापात्मा । असम्भाव्य = अनादृत्य ।

अयम्भावः—यस्यां पञ्चवट्यां तया प्रियतमया सीतया सह स्वकीये राजभवन इव ते सुखमया दिवसा अतिवाहिताः, इतोऽयोध्यामासाद्य च तया प्रियतमया सह यस्याः पञ्चवट्याः एव सम्बन्धिनीश्चर्चाः कुर्वता चिरं मयाऽऽस्थितम्, तामेव पञ्चवटीं, सम्प्रति लक्ष्मणद्वारा वननिर्वासनेन तामेव प्रियतमां विनाशं प्रापय्य नृशंसकर्मा प्रियाशून्यो रामोऽयं कथं विलोकयतु ? अविलोक्य तामनादृत्य कथं गच्छतु ? सीतया सह पूर्वानुभूतां पञ्चवटीं प्रति गमनं तत्परिहारश्चैतद्द्वयमपि मत्कृते सम्प्रति दुष्करमिति रामोक्तेरभिप्रायः ।

नीताः—√नी + क्त (कर्मणि) । आस्थीयत—आ + स्था + लङ् (भावे) । पापः—पापमस्त्यस्येति पापः, पाप + अच् (अर्शआदिभ्योऽच्) । असम्भाव्य—न सम्भाव्य; सम् + √भू + णिच् + ल्यप् । तया–सहयोगे तृतीया ।

(करुणा के साथ) जिस (पञ्चवटी) में वे (सुखमय) दिन, उस (सीता) के साथ मेरे द्वारा (ऐसे) बिताये गये जैसे अपने घर में; तथा जिस (पञ्चवटी) के सम्बन्ध की लम्बी-लम्बी बातें (उस सीता के साथ) करते हुए (अयोध्या) में रहा गया; अब उस पञ्चवटी को, प्रियतमा का विनाशक पापी राम आज अकेला कैसे देखे ? अथवा (बिना देखे) अनादृत करके कैसे जाय ? ॥ २८ ॥

पापः—इस शब्द से रामचन्द्र की आत्मग्लानि प्रकट होती है ।

यथा स्वे गृहे—यथा के स्थान पर 'पुनः' पाठ मानने पर वाक्य 'नीताः' पर समाप्त हो जाता है तथा 'स्वे गृहे' का अन्वय अगले शब्दों के साथ होगा ।

(प्रविश्य)

शम्बूकः—जयतु जयतु देवः। देव ! भगवानगस्त्यो मत्तः श्रुतभवत्सन्निधानस्त्वामाह—परिकल्पितविमानावतरणमङ्गला प्रतीक्षते वत्सला लोपामुद्रा सर्वे च महर्षयः। तदेहि सम्भावयास्मान्। अथ प्रजविना पुष्पकेण स्वदेशमुपगम्याश्वमेधाय सज्जो भविष्यसीति।

अत्र 'यथा स्वे गृहे' इत्यत्रोपमालङ्कारः। अपि च रामस्य पापवत्तायां 'नाशितप्रियतमः' इति पदार्थस्य हेतुतयोपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तयोर्मिथोऽनपेक्षया संस्थितेः संसृष्टिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २८॥

शम्बूकः—जयतु = सर्वोत्कर्षेण वर्तताम्। देवः = भगवान् रामः। भगवान् = सकलैश्वर्यसम्पन्नः। मत्तः = मत्सकाशात्, शम्बूकादिति भावः। श्रुतभवत्सन्निधानः—श्रुतं ज्ञातमित्यर्थः, भवतः = रामस्य, सन्निधानम् = समीपावस्थानं, येन तादृशः। परिकल्पितविमानावतरणमङ्गला—परिकल्पितम् = सज्जीकृतं, विमानात् अवतरणस्य मङ्गलम् = माङ्गलिकमनुष्ठानं यया सा। लोपामुद्रा = लोपामुद्रानाम्नी अगस्त्यपत्नी। वत्सला = वात्सल्ययुक्ता। प्रतीक्षते = भवद्दर्शनार्थमवतिष्ठते। सम्भावय = आगमनेन सम्मानय। प्रजविना = समधिकवेगशालिना। अश्वमेधाय = अश्वमेधं सम्पादयितुम्। सज्जः = तत्परः।

मत्तः—अस्मद् + तसिल्। 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७।२।९८) के अनुसार एकार्थवाची अस्मद् के 'अस्म्' भाग को 'म' आदेश; मद् + तस् = मत्तः। परिकल्पितः—परि + √क्लृप् + णिच् + क्त। वत्सला—कामवान्-स्नेहवान् अर्थ में वत्स शब्द से मतुबर्थक लच् प्रत्यय; वत्स + लच् + टाप् ('वत्सांसाभ्यां कामबले' ५।२।९८); अथवा—वत्सं लाति; √ला + क + टाप्; वत्सला = बच्चों को प्यार करनेवाली, बच्चों के प्रति स्नेहशील।

(प्रवेश करके)

शम्बूक—महाराज की जय हो। जय हो महाराज! मुझ से आपके समीपागमन को सुन कर भगवान् अगस्त्य जी ने आपके लिए कहा है—विमान से उतरने के समय का माङ्गलिक अनुष्ठान आयोजित कर वात्सल्यमयी लोपामुद्रा आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं तथा सब महर्षि लोग भी। अतः आइए और (आतिथ्य स्वीकार कर) हमारा मान बढ़ाइए। उसके बाद द्रुतगामी पुष्पक विमान से अयोध्या पहुँच कर अश्वमेध यज्ञ में तत्पर हो जाइएगा।

लोपामुद्रा—विदर्भराज की एक कन्या, अगस्त्यमुनि की पत्नी। कहा जाता है कि अपने मनोनुकूल पत्नी पाने के लिए ही मुनि ने स्वयं विभिन्न जन्तुओं के अत्यन्त सुन्दर भागों से इस कन्या का निर्माण किया था। बाद में चुपचाप इसे विदर्भराज के महल में पहुँचा दिया गया, जहाँ यह राजा की अयोनिजा पुत्री के रूप में पलती रही और बाद में अगस्त्य मुनि के साथ इसका विवाह हो गया।

अवतरणमङ्गल—माङ्गलिक वस्तुओं से कल्याणार्थ परछन करना, आरती उतारना इत्यादि।

रामः—यथाज्ञापयति भगवान् ।

शम्बूकः—इतस्तर्हि देवः प्रवर्तयतु पुष्पकम् ।

रामः—(पुष्पकं प्रवर्तयन्) भगवति पञ्चवटि ! गुरुजनोपरोधात् क्षम्यतामयमतिक्रमो रामस्य ।

शम्बूकः—देव ! पश्य पश्य—

कूजत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघूत्कारवत्कीचक-
स्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चावतोऽयं गिरिः ।
एतस्मिन् प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः ॥ २९ ॥

अयम्भावः—प्रविश्य शम्बूको महर्षेरगस्त्यस्य सन्देशं रामाय निवेदयति—विजयतां महाराजः, मन्मुखाद्भवतः शुभागमनमाकर्ण्य भगवानगस्त्यो भवन्तं समादिशत्—'वात्सल्ययुक्ता लोपामुद्रा भवन्तं पूजयितुं पूजामाङ्गलिकवस्तूनि सज्जीकृत्य भवद्दर्शनार्थमवतिष्ठते, अन्ये महर्षयोऽपि च भवद्दर्शनसमुत्सुकाः प्रतीक्षन्ते, तदत्रागत्यातिथ्यं स्वीकृत्यास्मान् सम्मानय । अस्मत्सम्मानानन्तरं प्रकृष्टवेगशालिना पुष्पकेणायोध्यां प्राप्याश्वमेधयज्ञानुष्ठानपरायणो भविष्यसीति ।

रामः—यथाज्ञापयति भगवान् = भगवानगस्त्यो यथाज्ञापयति तथैवानुतिष्ठामि । **शम्बूकः**—इतस्तर्हि देवः = तदनेन मार्गेण भवान् पुष्पकं प्रवर्तयतु = चालयतु । (पुष्पकं प्रवर्तयन् = प्रेरयन्) **रामः** पञ्चवटीं प्रार्थयते—भगवति पञ्चवटि ! गुरुजनोपरोधात्—गुरुजनस्य = पूज्यस्य अगस्त्यस्य, उपरोधात् = आज्ञानुसरणात्

प्रवर्तयतु—प्र + वृत् + णिच् + लोट् । अतिक्रमः—अति + √क्रम् + घञ् । कुटीरः—ह्रस्वा कुटी कुटीरः । कुटी शब्द से 'कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः' (५।३।८८) से ह्रस्व अर्थ में 'र' प्रत्यय । प्रचलाकिन् (मयूर)—प्रचलाकः शिखण्ड अस्त्यस्येति

राम—भगवान् (अगस्त्य जी) की जैसी आज्ञा ।

शम्बूक—तो महाराज इधर को पुष्पक चलायें ।

राम—**(पुष्पक को प्रेरित करते हुए)** भगवति पञ्चवटि ! गुरुजनों के अनुरोधवश राम का (किया हुआ) यह शिष्टाचाररहित उपेक्षापूर्ण गमन क्षणभर क्षमा किया जाय ।

शम्बूक—महाराज ! देखिए, देखिए—

यह कुञ्जकुटीरों में कूजते हुए उल्लू पक्षियों के समूहों के 'घू-घू' शब्दों से युक्त, कीचकों के प्रकाण्डों की तुमुलध्वनि से (डरने के कारण) मूक बने हुए काक-समूहों वाला 'क्रौञ्चावत' नामक गिरि है । इसमें इधर-उधर चलते हुए मयूरों की केकाध्वनि से भयभीत किये गये भयंकर विषैले सर्प पुराने चन्दनवृक्षों के तनों पर इधर-उधर रेंग रहे हैं (आत्मरक्षा के लिए उसे नहीं छोड़ रहे हैं) ॥ २९ ॥

क्षम्यतामयमतिक्रमः—राम पञ्चवटी की उपेक्षा कर अगस्त्याश्रम को जा रहे हैं। वे इसे अपना एक गुरुतर अपराध समझ कर पञ्चवटी से क्षमा माँग रहे हैं। इससे भगवान् राम की शिष्टता और सहृदयता अभिव्यक्त हो रही है।

महर्षेरगस्त्यस्यादेशपालनायेत्यर्थः, सम्प्रति अतिक्रमः = त्वामुल्लङ्घ्य तदाश्रमं यामि, क्षणं = स्वल्पकालं यावत्, क्षम्यतां = मृष्यताम्, ममैषोऽपराधः, क्षणानन्तरमेव त्वां द्रष्टुं पुनरायास्यामि ।

शम्बूको राममाह—महाराज ! पश्य, पश्य—

अन्वयः—अयं कूजत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघूत्कारवत्कीचकस्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चावतः गिरिः । एतस्मिन् प्रचलतां प्रचलाकिनां कूजितैः उद्वेजिताः कुम्भीनसाः पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु उद्वेल्लन्ति ॥ २९ ॥

कूजदिति । कूजत्कुञ्ज०—कूजन्तः=अव्यक्तशब्दं कुर्वन्तः, कुञ्जकुटीरेषु—कुञ्जाः =लतादिपिहितस्थानान्येव, कुटीराः = अल्पाः कुट्यः ('अल्पा कुटी कुटीरः स्यात्' इत्यमरः), तेषु ये कौशिकाः = उलूकपक्षिणस्तेषां घटाः = समूहास्तासां यो घूत्कारः = 'घूत्' इत्याकारको योऽव्यक्तशब्दः, तद्वन्तः = तादृशशब्दयुक्ताः, ये कीचकाः = वेणुविशेषाः ('कीचका वेणवस्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः), तेषां ये स्तम्बाः= काण्डाः, तेषाम् आडम्बरेण = तुमुलध्वनिना, मूकानि = निःशब्दानि, भीतत्वादिति भावः; मौकुलिकुलानि = काकसमूहो, यस्मिन् स तथोक्तः । क्रौञ्चावतः = क्रौञ्चावतो नाम गिरिः । प्रचलताम् = परिधावताम् । प्रचलाकिनाम् = मयूराणाम् । कूजितैः = केकाभिः । उद्वेजिताः = उद्वेगं नीताः, सन्त्रस्ता इति यावत् । कुम्भीनसाः = भयङ्करसर्पविशेषाः । पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु—पुराणाः = प्राचीनाः, ये रोहिणतरवः = चन्दनद्रुमाः, तेषां स्कन्धेषु = प्रकाण्डदेशेषु ('रोहिणश्चन्दनद्रुम' इति हारावली), उद्वेल्लन्ति = इतस्ततश्चलन्ति, आत्मत्राणाय तान् रोहिणतरून् न त्यजन्तीति भावः ।

अयम्भावः—अयं पुरः क्रौञ्चावतो नाम गिरिर्वर्तते । अस्मिन् पर्वते कीचकानां प्रकाण्डेषु कौशिकाः कूजन्ति । तेषां घूत्कारध्वनिं श्रुत्वा भीताः काका मूकभावमालम्ब्य स्थिताः सन्ति । अपि चेतस्ततः परिधावतां मयूराणां केकाध्वनिमाकर्ण्य

विग्रहे; प्रचलाक + इनि ('अत इनिठनौ') । प्रचलताम्—प्र + √चल् + शतृ + ष० ब० व० । उद्वेजिताः—उद् + √विज् + णिच् + क्त (कर्मणि) । कूजितैः—√कूज् + क्त (भावे) । उद्वेल्लन्ति—उद् + √वेल्ल चलने + लट् (झि) । कुम्भीनसाः—कुम्भी लघुजलपात्रम्, सेव नासिका येषां ते कुम्भीनसाः । 'अज् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् (५।४।११८) के अनुसार समासान्त अच् प्रत्यय, नासिका को 'नस' आदेश । ऐसा तभी होता है, जब उस समास से किसी संज्ञा का बोध हो और 'स्थूल' शब्द पूर्व में न हो ।

घटा—इस शब्द का अर्थ 'हाथियों का समूह' है ('करिणां घटना घटा'—अमरकोष), किन्तु यहाँ केवल 'समूह' अर्थ है । कौशिकघटा=उल्लूपक्षियों का समूह । दे०—प्रलयघनघटा (कादम्बरी), मातङ्गघटा (शिशुपालवध १।६४), कुञ्जरघटा (उत्तररामचरित ५।६) ।

पुराणरोहिणतरु—पुराना चन्दन वृक्ष अधिक सुगन्धयुक्त हो जाता है, अतएव उसे सर्प मयूरों से डरे हुए होने पर भी नहीं छोड़ते, उन पर रेंगते रहते हैं ।

अपि च—

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दाक्षिणाः ।
अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलै-
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः ॥ ३० ॥

विषधरा भयङ्कराः सर्पाः प्राचीनचन्दनतरूणां प्रकाण्डेषु परिचलन्ति, ते स्वत्राणाय तान् प्राचीनचन्दनतरून् न त्यजन्तीति सरलार्थः ।

अत्र क्रौञ्चावतगिरिवर्णनव्याजेन संसारस्य स्वरूपं प्रादर्शयत् । संसारेऽस्मिन् सर्वेऽपि प्राणिनः परस्परं भीता इव निवसन्ति । रूपकाऽलङ्कारः स्वभावोक्तिश्च, तयोरङ्गाङ्गिभावेन स्थितेः सङ्करः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयः, मेघालम्बितमौलि-नील-शिखराः दाक्षिणाः क्षोणीभृतः । इमे ते अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलैः उत्तालाः गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः ॥ ३० ॥

शम्बूकः पुनर्दक्षिणदिशि विद्यमानाना पर्वतानां नदीसङ्गमानां च वर्णनं करोति—**एत इति ।** कुहरेषु = गुहासु । गद्गदनदद्गोदावरीवारयः—गद्गदम् = अव्यक्तं, यथा तथा नदन्ति = शब्दायमानानि, गोदावरीवारीणि = गोदावरीजलानि येषु ते । मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः—मेघैः आलम्बिताः = आक्रान्ताः, मौलयः = अग्रभागाः, तैः नीलानि शिखराणि येषां तथाविधाः । दाक्षिणाः = दक्षिणदिग्वर्तिनः । क्षोणीभृतः = पर्वताः । अन्योन्य०—अन्योऽन्येषाम् = परस्परेषाम्, प्रतिघातेन = सङ्घर्षेण, सङ्कुलाः= निबिडाः, चलन्तो ये कल्लोलाः = महातरङ्गाः, तेषां कोलाहलैः = कलकलशब्दैः । उत्तालाः = मुखराः विकराला वा । गभीरपयसः—गभीराणि = अगाधानि, पयांसि = जलानि येषां ते । पुण्याः = पवित्राः । सरित्सङ्गमाः—नदीसङ्गमाः ।

अयम्भावः—एते ते पूर्वपरिचिता दक्षिणदिग्भवाः पर्वताः सन्ति, यत्र गुहासु गोदावरीजलानि गद्गदमव्यक्तध्वनिं कुर्वन्ति; एतेषां पर्वतानामग्रभागा मेघैराक्रान्ता अत एव शिखराणि नीलवर्णानि दृश्यन्ते । एतेन पर्वतानामुच्छ्रायाधिक्यं द्योतितम् ।

क्षोणीभृतः—क्षोणीं पृथ्वीं बिभ्रति धारयन्तीति क्षोणीभृतः = पर्वताः । क्षोणी + √भृ + क्विप्, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् का आगम । प्रतिघातः—प्रति + √हन् + घञ् ।

और भी—ये वे (पूर्व परिचित) दक्षिण दिशा में स्थित पर्वत हैं, जहाँ गुहाओं में गोदावरी के जल अव्यक्त शब्द कर रहे हैं तथा शिखरों के अग्रभाग मेघों से आक्रान्त हैं, अतएव जिनके शिखर नीलवर्ण के दिखलायी दे रहे हैं । ये वे अगाध जल वाले पवित्र नदियों के संगम हैं, जो परस्पर के प्रतिघात से निबिड एवं चञ्चल महातरङ्गों से मुखर अथवा विकराल हैं ।

मौलिनीलशिखराः—वीरराघव के अनुसार मौलि का अर्थ है—शिखरों का अग्रभाग तथा शिखर का अर्थ है—पर्वत का अग्रभाग ।

(इति निष्क्रान्तौ)

इति महाकवि-श्रीभवभूतिप्रणीते उत्तररामचरितनाटके
पञ्चवटीप्रवेशो नाम द्वितीयोऽङ्कः ।

इमे ते पूर्वपरिचिता अगाधजलाः पवित्रा नदीसङ्गमाः परस्पराघातेन समधिकचञ्चल-महातरङ्गाणां कलकलनादैर्मुखरा विकराला वा सन्ति ।

अत्र शिखराणां जलदचुम्बितमौलितया स्वकीयवर्णपरित्यागेन मेघगतनीलत्व-ग्रहणकथनात् तद्गुणो नामालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३० ॥

(दोनों चले जाते हैं)

इति महाकवि भवभूति विरचित उत्तररामचरित में
'पञ्चवटी-प्रवेश' नामक द्वितीय अङ्क समाप्त

विशेष—अंक के लक्षण में कहा गया है—'किञ्चित्संलग्नबिन्दुकः' (साहित्यदर्पण ६।१३)। इसका अभिप्राय है—नाटक के पूर्व और उत्तर अवच्छेदों का सम्बद्धार्थक होना। अर्थात् अंक में अग्रिम इतिवृत्त की आकांक्षा के उत्थापक वृत्त की सूचना दी गयी रहती है। तदनुसार इस अन्तिम श्लोक से नीलशिखरगिरि के द्वारा 'तृतीय' अङ्क में राम के प्रवेश तथा नदियों के सङ्गम से 'तमसा' 'मुरला' आदि नदियों के समागम की सूचना मिलती है। इस प्रकार अङ्क के लक्षण तथा 'नामुचितं विशेत् पात्रम्' इस सिद्धान्त की रक्षा की गयी है।

इस अङ्क के दृश्यों का स्थान पञ्चवटी है। अङ्क का आरम्भ तमसा और मुरला नामक दो नदियों के संवाद से होता है, जिससे चार बातों की सूचना मिलती है—(१) लोपामुद्रा का सन्देश, (२) वन में त्याग कर दिये जाने के बाद का सीता-विषयक वृत्तान्त, (३) लव-कुश की वर्षगाँठ तथा (४) गंगा के प्रभाव से सीता जी की अदृश्यता।

तृतीयोऽङ्कः

(छाया)

(ततः प्रविशति नदीद्वयम्)

एका—सखि मुरले ! किमसि सम्भ्रान्तेव ?

मुरला—सखि तमसे ! प्रेषितास्मि भगवतोऽगस्त्यस्य पत्न्या लोपामुद्रया सरिद्वरां गोदावरीमभिधातुम् । जानास्येव यथा वधूपरित्यागात् प्रभृति—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥ १ ॥

अथ तृतीयाङ्के कविः नदीद्वयं प्रवेशयति । तत्रैका द्वितीयामाह—सखि मुरले ! त्वं सम्भ्रान्तेव किमसि = त्वरितेव दृश्यसे, तत्किमत्र कारणम् ?

ततो द्वितीया (**मुरला**) प्रथमां (तमसाम्) प्रत्याह—सखि तमसे ! अहं भगवतोऽगस्त्यस्य धर्मपत्न्या लोपामुद्रया सन्दिष्टं गोदावरीम् अभिधातुं प्रापयितुं (वक्तुम्) गच्छामि । तत्राह लोपामुद्रा गोदावरीम्—'जानास्येव यथा वधूपरित्यागात्प्रभृति = सीताविवासनमारभ्य ('वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः) ।

अन्वयः—गभीरत्वाद् अनिर्भिन्नः (अत एव) अन्तर्गूढघनव्यथः, रामस्य करुणो रसः पुटपाकप्रतीकाशः (अस्ति) ॥ १ ॥

सम्भ्रान्ता—सम् + √भ्रम् + क्त (उपधा को दीर्घ) + टाप् । प्रेषिता—प्र + इष् + क्त (कर्मणि) + टाप् । अभिधातुम्—अभि + √धा + तुमुन् । वधूपरित्यागात्प्रभृति—प्रभृति शब्द के योग में पञ्चमी होती है । भाष्य में 'कार्तिक्याः प्रभृति' ऐसा प्रयोग देखा जाता है । अनिर्भिन्नः—नञ् + निर् + √भिद् + क्त । गूढः—√गुह् + क्त । पाकः—√पच् + घञ् (कर्मणि) । प्रतीकाशः—प्रति + √काश् + घञ् । प्रति को विकल्प से दीर्घ होने से 'प्रतिकाशः' भी होता है ।

(तदनन्तर दो नदियों का प्रवेश)

एक—सखि मुरले ! क्यों घबड़ाहट-वश उतावली-सी हो रही हो ?

मुरला—सखि तमसे ! भगवान् अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा के द्वारा मैं नदीश्रेष्ठ गोदावरी को (यह) कहने के लिए भेजी गयी हूँ—आप जानती ही हैं कि वधू (सीता) के परित्याग के समय से—

गाम्भीर्य के कारण बाहर अप्रकाशित, भीतर ही भीतर छिपी हुई गाढ व्यथा वाला राम का करुण रस (सीतावियोगजन्य शोकावेग) पुटपाक के समान है ॥ १ ॥

पुटपाक—वैद्य लोग दो पात्रों (शराव आदि) के अन्दर कोई औषध अथवा सुवर्ण आदि रखकर ऊपर से मिट्टी का लेपकर आग में रख देते हैं, जिससे भीतर ही भीतर उसका परिपाक

तेन च तथाविधेष्टजनकष्टविनिपातजन्मना प्रकर्षगतेन दीर्घशोकसन्तापेन सम्प्रत्यतितरां परिक्षीणो रामभद्रः। तमवलोक्य कम्पितमिव मे सबन्धनं हृदयम्। अधुना च प्रतिनिवर्तमानेन रामभद्रेण नियतमेव पञ्चवटीवने वधू-

---

अनिर्भिन्न इति। गभीरत्वात् = गाम्भीर्यात्, धैर्याधिक्यवशात्, पुटपाकपक्षे समधिकाभ्यन्तरस्थितत्वात्। अनिर्भिन्नः = निर्भेदमप्राप्तः, बहिरप्रकाशितः। अन्तर्गूढघनव्यथः—अन्तः = अभ्यन्तरे, हृदये, पक्षे—पुटपाकाभ्यन्तरे, गूढा = गुप्ता, घना = गाढा, व्यथा = वेदना, पक्षे सन्तापो यस्य सः। करुणो रसः = सीतावियोगजन्यः शोकः। पुटपाकप्रतीकाशः—पुटे = बहिर्मृद्विलेपावरुद्धपात्रविशेषे, पाकः = पचनं, यस्य सः पुटपाकः = औषधविशेषः, तत्प्रतीकाशः = तत्तुल्यः।

अयम्भावः—रामस्य सीतावियोगजन्यः शोकातिशयः पुटपाकद्रव्यवत् प्रतीयते। यथा पुटपाकद्रव्यमत्यन्ताभ्यन्तरस्थितत्वाद् बहिर्न प्रकाशते, तस्य गाढः सन्तापः पुटाभ्यन्तर एव निलीनस्तिष्ठति, तथैव श्रीरामस्य सीताविरहजन्यः शोको धैर्यातिशयवशाद् बहिरप्रकाशित एव वर्तते, तस्य गाढा वेदना हृदय एव निलीना तिष्ठति। तादृशः सीतावियोगजन्यः शोकातिशयो रामं भृशं तापयतीति भावः। उपमालङ्कारः॥ १॥

इष्टः—√इष् (इच्छायाम्) + क्त (कर्मणि)। अतितराम्—अति + तरप् + आम्। 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (५।४।११) से तरप् के बाद आमु (आम्) जुड़ता है। परिक्षीणः—परि + √क्षि + क्त (कर्तरि) 'क्षि' को दीर्घ, 'क्त' के 'त्' को 'न'। अवलोक्य—अव + √लोक् + ल्यप्। कम्पितम्—√कम्प् + क्त (कर्तरि)।

(मुरला लोपामुद्रा के सन्देश के विषय में आगे कहती है) वैसे प्रियजन (सीता) पर विपत्ति पड़ने से उत्पन्न एवं पराकाष्ठा को प्राप्त दीर्घकालव्यापी शोक की ज्वाला से इस समय रामभद्र बहुत अधिक कृश हो गये हैं। उनको देखकर मेरा (लोपामुद्रा का) बन्धनों के सहित हृदय काँप-सा गया। और अब (अगस्त्याश्रम से अयोध्या को) लौटते हुए रामभद्र पञ्चवटी वन

होता है। उसके तैयार हो जाने पर उसे 'रस' की संज्ञा दी जाती है। ठीक यही दशा श्रीराम जी की भी है। सीता का वियोग उनके हृदय को भीतर ही भीतर जला रहा है। गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति होने के कारण अपनी व्यथा किसी के समक्ष अभिव्यक्त कर हृदय को हलका भी नहीं कर पाते हैं।

प्रतीकाश—तुल्य। प्रतीकाश शब्द समास के अन्त में उपमावाचक होता है। 'स्युरुत्तरपदे त्वमी। निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' (अमरकोष)।

करुणो रसः—यहाँ करुण रस की करुण शब्द से ही उक्ति होने के कारण 'रसस्योक्तिः स्वशब्देन' के अनुसार 'रसस्य स्वशब्दवाच्यता' दोष प्रतीत होता है, किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि यह दोष वहाँ होता है, जहाँ विभावादि से व्यङ्ग्य रस का स्वशब्द से कथन किया जाय। यहाँ तो वह वस्तुरूप से ही स्थित है, अतः दोष की शङ्का नहीं की जानी चाहिए।

सबन्धनम्—बन्धनों के सहित। यहाँ बन्धनों से स्नायुओं का अभिप्राय है, जो हृदय को सुदृढ रखने में सहायक होती हैं। हृदय के काँपने के साथ स्नायुओं का बन्धन भी शिथिल हो

सहवासविस्रम्भसाक्षिणः प्रदेशा द्रष्टव्याः । तेषु च निसर्गधीरस्याप्येवंविधायामवस्थायामतिगम्भीराभोगशोकक्षोभसंवेगात् पदे पदे महान्ति प्रमादस्थानानि शङ्कनीयानि रामभद्रस्य । तद्भगवति गोदावरि ! तत्र त्वया सावधानया भवितव्यम् ।

तेनेति । तथाविधेष्टजनकष्टविनिपातजन्मना—तथाविधः = तादृशः, अनुपम इत्यर्थः, इष्टजनः = प्रियजनः, सीतारूप इति भावः, तस्य कष्टविनिपातः = दुःखप्राप्तिः, तस्माज्जन्म = उत्पत्तिर्यस्य स तेन । प्रकर्षगतेन = परकाष्ठां प्राप्तेन । दीर्घशोकसन्तापेन—दीर्घशोकस्य = चिरकालव्यापिनो दुःखस्य, सन्तापेन = ज्वालया । वधूसहवासविस्रम्भसाक्षिणः—वध्वाः = सीतायाः, सहवासे = सहनिवासे, ये विस्रम्भाः = स्वच्छन्दविलासाः, तत्साक्षिणः = तद्द्रष्टारः । अतिगम्भीराभोगशोकक्षोभसंवेगात्—अतिगम्भीरः = अतिगहनः, आभोगः = विस्तारो, यस्य तादृशो यः शोकः तस्माद् यः क्षोभः = चित्तविकारः, तस्य संवेगात् = प्राबल्यात् । प्रमादस्थानानि—प्रमादस्य = संज्ञालोपस्येति भावः, स्थानानि = अवसराः । शङ्कनीयानि = सम्भावनीयानि ।

अयम्भावः—अनुपमप्रियजनस्य सीतारूपस्य दुःखप्राप्त्या रामचन्द्रस्य हृदये यो दीर्घकालव्यापी शोकः समजायत, स इदानीं पराकाष्ठां गतः, तस्य ज्वालया सम्प्रति नितरां कृशो जातो रामभद्रः । तथाविधं राममवलोक्य मम (लोपामुद्रायाः) बन्धनैः सहितं हृदयं कम्पितमिव । अधुना चागस्त्याश्रमादयोध्यां प्रतिगच्छता रामभद्रेण निश्चितमेव वधूसहवासे कृतानां स्वच्छन्दविलासानां द्रष्टारो वनोद्देशा द्रष्टव्याः ।

प्रतिनिवर्तमानेन—प्रति + नि + √वृत् + शानच् = प्रतिनिवर्तमानः, ततस्तृतीया । भवितव्यम्—भू + तव्य (भावे) ।

में, वधू के साथ रहने के समय किये गये स्वच्छन्द विलासों के साक्षात् द्रष्टा उन प्रदेशों को अवश्य देखेंगे । और उन प्रदेशों में ऐसी अवस्था में स्वभावतः धैर्यशाली रामभद्र के लिए भी अत्यन्त प्रवृद्ध विस्तार वाले शोक के कारण क्षोभ के प्रबल हो उठने से पग-पग पर संज्ञाशून्यता के घोर अवसरों की संभावना है, अतः भगवति गोदावरि ! वहाँ राम के विषय में तुम्हें सावधान रहना चाहिए ।

गया । अथवा हृदय को स्थिर रखने में मन और बुद्धि बन्धन का काम करती हैं, अतः बन्धन का अभिप्राय मन और बुद्धि से है अर्थात् हृदय आशंकाओं से भर गया और मन तथा बुद्धि उन आशंकाओं की पुष्टि करके भयभीत हो उठे ।

यहाँ यह शङ्का उठती है कि शीतल, सुगन्धित और मन्द पवन तो विरहियों को कष्ट ही प्रदान करते हैं, उनसे तृप्ति कैसे मिल सकती है ? इसका समाधान वीरराघव के शब्दों में इस प्रकार है—'अत्र स्वैरमित्युक्त्वा सुरभिशीतलमृदुवाता अपि विरहिणामनर्थकारिण इति न शङ्कनीयम् । विरहिणां चैतन्यदशायामेव दुःसहा इमे, मूर्च्छितानां तु प्राणप्रतिष्ठापनकरा एव । नातस्त्वयातिशङ्का कर्तव्येति व्यज्यते ।' अर्थात् शीतल, सुगन्धित मन्द पवन चैतन्यदशा में ही विरहियों के लिए अनर्थकारी होते हैं; मूर्च्छितों के लिए तो वे प्राणप्रतिष्ठापक ही होते हैं ।

वीचीवातैः शीकरक्षोदशीतैराकर्षद्भिः पद्मकिञ्जल्कगन्धान्।
मोहे मोहे रामभद्रस्य जीवं स्वैरं स्वैरं प्रेरितैस्तर्पयेति ॥ २ ॥

तमसा—उचितमेव दाक्षिण्यं स्नेहस्य। सञ्जीवनोपायस्तु मौलिक इव रामभद्रस्याद्य सन्निहितः।

मुरला—कथमिव ?

तेषु प्रदेशेषु च प्रकृत्या धीरस्यापि रामभद्रस्यातिप्रवृद्धशोकजनितक्षोभाधिक्यात् पदे पदे संज्ञालोपावसराः सम्भावनीयाः। तस्मात् तत्र हे भगवति गोदावरि ! श्रीराम-परिरक्षणे त्वया सावधानया भवितव्यम्।

अन्वयः—शीकरक्षोदशीतैः पद्मकिञ्जल्कगन्धान् आकर्षद्भिः स्वैरं स्वैरं प्रेरितैः वीचीवातैः रामभद्रस्य जीवं मोहे मोहे तर्पय इति ॥ २ ॥

सावधानया गोदावर्या किं करणीयमस्तीति निर्दिशति—**वीचीवातैरिति।**

शीकरक्षोदशीतैः—शीकराणाम् = अम्बुकणानां, क्षोदैः = चूर्णैः, शीतैः = शीतलैः। पद्मकिञ्जल्कगन्धान् = कमलकेसराणां गन्धान्। आकर्षद्भिः = हरद्भिः। स्वैरं स्वैरम् = मन्दं मन्दम्। प्रेरितैः = प्रेषितैः। वीचीवातैः = तरङ्गवायुभिः। रामभद्रस्य जीवम् = जीवनम्, चेतनाम्। मोहे मोहे = प्रतिमोहम्, प्रतिमोहावस्थमिति भावः; तर्पय = प्रीणय। इति = वाक्यजातसमाप्तिसूचकमव्ययम्।

अयम्भावः—यदा यदा तेषां प्रदेशानां दर्शनेन सीताविरहसन्तापाधिक्याद्रामभद्रो मूर्च्छितो भविष्यति तदा तदा जललवानां चूर्णसम्पर्केण शीतलैः, कमलकेसरगन्धा-कर्षकतया सुगन्धयुक्तैर्मन्दं मन्दं प्रेरितैस्तरङ्गवायुभिस्तं रामभद्रं प्रकृतिस्थं करिष्यसीति सन्देशः। शालिनी नाम वृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'मात् तौ गौ चेच्छालिनी वेद-लोकैः' इति ॥ २ ॥

तमसा—लोपामुद्राया दाक्षिण्यम् = ईदृशमौदार्यं, स्नेहस्य अनुरूपमेव; किन्तु सञ्जीवनोपायस्तु = संज्ञाप्रत्यानयनोपायस्तु, मौलिकः = मूलतः सीताया आगत एव

वीची—वीचि + ङीष् (कृदिकारादक्तिनः)। क्षोदः—√क्षुद + घञ्। आकर्षद्भिः—आ + √कृष् + शतृ + तृतीया ब० व०। जीवम्—जीवनं जीवः तम्; √जीव् + घञ् (भावे)। प्रेरितैः—प्र + √ईर् + क्त।

दाक्षिण्यम्—दक्षिणस्य भावः; दक्षिण + ष्यञ्। मौलिकः—मूलादागतः; मूल + ठक् (इक)। सन्निहितः—सम् + नि + √धा + क्त ('धा' को 'हि')।

(मुरला, लोपामुद्रा के सन्देश का अवशिष्ट अंश कहती है)—जलकणों के चूर्णों से शीतल, कमलकेसर के गन्ध को हरने वाले (अतएव सुगन्धित) तथा मन्द मन्द प्रेरित तरङ्गवायुओं से रामभद्र की चेतना को प्रत्येक मूर्च्छा में तृप्त करना-उन्हें होश में लाना ॥ २ ॥

तमसा—(लोपामुद्रा की) उदारता (उनके) स्नेह के अनुरूप ही है, किन्तु होश में लाने का उपाय तो आज मौलिक रूप में रामचन्द्र के समीप स्थित है।

मुरला—(वह) कैसे ?

तमसा—श्रूयताम् । पुरा किल वाल्मीकितपोवनोपकण्ठात् परित्यज्य निवृत्ते लक्ष्मणे सीतादेवी प्राप्तप्रसववेदनम् अतिदुःखसंवेगादात्मानं गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती । तदैव तत्र दारकद्वयं प्रसूता । भगवतीभ्यां पृथ्वीभागीरथीभ्यामभ्युपपन्ना रसातलं च नीता । स्तन्यत्यागात् परेण च दारकद्वयं तस्याः प्राचेतसस्य महर्षेर्गङ्गादेवी स्वयमर्पितवती ।

रामभद्रस्याद्य निकटस्थो विद्यते ।

मुरला—कथमिव = कीदृशः सञ्जीवनोपायः सन्निहितः ? इति मुरलाप्रश्नस्याशयः ।

तमसा—श्रूयताम् = आकर्ण्यताम् । पुरा = पूर्वम् । किलेति वार्तायाम् । वाल्मीकितपोवनोपकण्ठात्—वाल्मीकेराश्रमस्य समीपवर्तिदेशात् । परित्यज्य = त्यक्त्वा (सीताम्) । निवृत्ते = गते । प्राप्तप्रसववेदनम् = प्राप्ता प्रसववेदना येन तम् । आत्मानम् = स्वम् । अतिदुःखसंवेगात् = दुःसहक्लेशस्य वेगातिशयाद्धेतोः । दारकद्वयम् = शिशुद्वयम् । प्रसूता = प्रसोतुमारेभे इत्यर्थः (आदिकर्मणि कर्तरि क्तः) । अभ्युपपन्ना = अनुगृहीता । रसातलम्—रसायाः = पृथिव्याः, तलम् = अधःस्थानम्, पातालम् । स्तन्यत्यागात्परेण = दुग्धत्यागादनन्तरम् । प्राचेतसस्य = वाल्मीकेः ।

अयम्भावः—सीतां परित्यज्य लक्ष्मणे वाल्मीकेराश्रमस्य समीपप्रदेशाद् गते सति

उपकण्ठात्—उपगतः कण्ठम् उपकण्ठः, तस्मात्, 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' से अत्यादिसमास । उपकण्ठ का अर्थ है—पार्श्ववर्ती स्थान, पड़ोस । निक्षिप्तवती—नि + √क्षिप् + क्तवतु + स्त्रियां ङीप् । प्रसूता—प्र + √सू + क्त + टाप् । अभ्युपपन्ना—अभि + उप + √पद् + क्त (कर्मणि) । स्तन्यम्—स्तने भवम्; स्तन + यत् । स्तन्यत्यागात् परेण—दूध छोड़ने के बाद । कर्मकारक, करणकारक और अधिकरणकारक के एकवचन के 'पर' शब्द के रूप क्रियाविशेषण की भाँति प्रयुक्त होते हैं । अपादान के साथ प्रयुक्त 'परेण' का अर्थ होता है—'के बाद' ।

तमसा—सुनिए । कहा जाता है कि पूर्वकाल में (सीता को) छोड़कर, वाल्मीकि के आश्रम के समीप से लक्ष्मण के लौट जाने पर सीता देवी ने प्रसवपीडा से अभिभूत अपने को अत्यन्त दुःख के संवेग के कारण गङ्गा की धारा में फेंक दिया । तभी वहाँ (उन्होंने) दो शिशुओं को जन्म दिया । भगवती पृथ्वी और गङ्गा से अनुगृहीत (सीता) पाताल को पहुँचा दी गयीं । दूध छोड़ने के बाद उनके दोनों बच्चों को गङ्गा देवी ने स्वयं महर्षि वाल्मीकि को सौंप दिया ।

अभ्युपपन्ना—जिस पर दया की गयी, जिसे सान्त्वना दी गयी, जिसे कष्ट से मुक्त किया गया । अभि + उप + √पद् का अर्थ होता है—दया करना, सान्त्वना देना, आराम पहुँचाना, तरस खाना, अनुग्रह करना, कष्ट से मुक्त करना आदि ।

श्लोक का तात्पर्य यह है कि असाधारण व्यक्तियों की सभी बातें असाधारण होती हैं, उन्हें बुरे समय में भी दैवी सहायता मिल जाती है; उनके लिए सर्वत्र सुखसाधनसम्पत्ति सुलभ होती है । भगवान् राम और सीता पर दारुण विपत्ति आयी तो वहाँ भी पृथ्वी, गङ्गा और वाल्मीकि जैसे लोग स्वयं उनकी सहायता के लिए पहुँच गये ।

मुरला (सविस्मयम्)—

ईदृशानां विपाकोऽपि जायते परमाद्भुतः।
यत्रोपकरणीभावमायात्येवंविधो जनः ॥ ३ ॥

तमसा—इदानीं तु शम्बूकवृत्तान्तेन सम्भावितजनस्थानागमनं रामभद्रं सरयूमुखादुपश्रुत्य भगवती भागीरथी यदेव भगवत्या लोपामुद्रया स्नेहादा-

---

सीता प्रसववेदनाभिभूतमात्मानं गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती। तदैव तत्र सा शिशुद्वयं प्रसूता। पृथिव्या गङ्गया चानुगृहीता सीता रसातलं नीता। स्तन्यत्यागानन्तरं तद् दारकद्वयं गङ्गा स्वयमेव गत्वा वाल्मीकेरर्पितवती।

अन्वयः—ईदृशानां विपाकोऽपि परमाद्भुतः जायते। यत्र एवंविधो जनः उपकरणीभावम् आयाति ॥ ३ ॥

तमसामुखात् सीतावृत्तान्तमाकर्ण्य मुरला सविस्मयं प्राह—**ईदृशानामिति**। ईदृशानाम् = एतादृशानां सीतारामसदृशानां महानुभावानां सम्पदस्तु का कथा, विपाकोऽपि = विषमः परिणामोऽपि, दशाविपर्यासोऽपि, परमाद्भुतः जायते = परमविचित्रो भवति, यत्र एवंविधो जनः = पृथ्वीगङ्गावाल्मीकिसदृशो लोकः, उपकरणीभावम् आयाति = स्वयं साहाय्यं करोति।

अयम्भावः—सीता दुःखाधिक्यात् प्रसववेदनाभिभूतमात्मानं गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती। तदैव तत्र सुतद्वयं सा प्रासूत। पृथ्वीगङ्गाभ्यां सा रसातलं नीता। स्तन्यत्यागानन्तरं गङ्गा स्वयं शिशुद्वयं वाल्मीकेरर्पितवती। एतेन ज्ञायते महानुभावानां कृते सर्वत्र सुखसाधनसम्पत्तिः सुलभा भवतीति भावः। अत्र विपाकस्य परमाद्भुतत्वं प्रत्युत्तरार्द्धवाक्यार्थस्य हेतुतयोपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ ३ ॥

विपाकः—वि + √पच् + घञ्। उपकरणीभावम्—उप + कृ + ल्युट् (करण में अथवा बाहुलकात् कर्ता में) = उपकरणम् उपकरणो वा। अनुपकरणस्य उपकरणस्य वा भावः—उपकरणीभावः तम्; उपकरण + च्वि + √भू + घञ्।

सम्भावितम्—सम् + √भू + णिच् + क्त (कर्मणि)। सरयूमुखात्—'आख्या-

---

मुरला—(विस्मय के साथ) ऐसों (महानुभाव लोगों) का दशा-विपरिणाम भी अत्यन्त आश्चर्यजनक होता है, जिसमें इस प्रकार के लोग (पृथ्वी-गङ्गा-वाल्मीकि सदृश) उपकारक होते हैं ॥ ३ ॥

इस समय तो शम्बूक के (तपश्चरण रूप) वृत्तान्त के कारण (उसे मारने के लिए) जनस्थान में राम के आगमन की संभावना सरयू के मुख से सुनकर भगवती गङ्गा, लोपमुद्रा के द्वारा

शम्बूकवृत्तान्त—शम्बूक के तपश्चरण का वृत्तान्त, जो आकाशवाणी के द्वारा रामचन्द्र को बतलाया गया था (अङ्क २, श्लोक ८)।

भवभूति ने यहाँ इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन किया है कि मनुष्य जब विविध कार्यों में व्यस्त रहता है तो उसके शोकजन्य मनःक्षोभ नियन्त्रित रहते हैं, किन्तु जब वह निठल्ला रहता है, उस समय उसका शोक उद्दीप्त हो उठता है और चित्त-विक्षेप के बढ़ जाने से

शङ्कितं तदेवाशङ्क्य सीतासमेता केनचिदिव गृहाचारव्यपदेशेन गोदावरीं विलोकयितुमागता ।

मुरला—सुचिन्तितं भगवत्या भागीरथ्या राजधानीस्थितस्यास्य खलु तैस्तै-र्जगतामाभ्युदयिकैः कार्यैर्व्यापृतस्य रामभद्रस्य नियताश्चित्तविक्षेपाः । अव्य-ग्रस्य पुनरस्य शोकमात्रद्वितीयस्य पञ्चवटीप्रवेशो महाननर्थ इति । तत्कथ-मिदानीं सीतादेव्या रामभद्र आश्वासनीयः स्यात् ?

तमसा—इदानीं = सम्प्रति तु, शम्बूकवृत्तान्तेन = शम्बूकस्य तपश्चरणरूपवृत्तान्तेन हेतुना, तद्धननार्थं सम्भावितजनस्थानागमनम्—सम्भावितम् = उत्प्रेक्षितं, जनस्थाने आगमनं यस्य तम्; रामो जनस्थानमागच्छेदिति उपश्रुत्य = आकर्ण्य, सरयूमुखाद्विज्ञाय, ज्ञात्वेत्यर्थः, भगवती भागीरथी, भगवत्या लोपामुद्रया यदेव = राममोहादि, स्नेहाद् = वात्सल्यादाशङ्कितं तदेवाशङ्क्य केनचिद् गृहाचारव्यपदेशेन = गृहकार्यव्याजेन, गोदावरीं विलोकयितुं = द्रष्टुं, सीतया सह आगता = समागता ।

मुरला—सुचिन्तितम् = शोभनं विचारितम् । राजधानीस्थितस्य = अयोध्यायां विद्यमानस्य । तैस्तैः = अत्यन्तप्रसिद्धैः । आभ्युदयिकैः = समृद्धिकारकैः । व्यापृतस्य = व्यापारयुक्तस्य । चित्तविक्षेपाः—चित्तस्य = मनसः, विक्षेपाः = क्षोभाः । नियताः = निय-न्त्रिताः । अव्यग्रस्य = प्रजापालनकार्येऽव्यापृतस्य । शोकमात्रद्वितीयस्य = शोक एवेति शोकमात्रम्, तद् द्वितीयं सहायो यस्य स तस्य, अनर्थः = अनिष्टकारकः । आश्वासनीयः = आश्वासयितुं शक्यः ।

अयमाशयः—भगवत्या भागीरथ्या सुष्ठु चिन्तितम्; यतः श्रीरामो राजधान्यां

तोपयोगे' (१।४।२९) से पञ्चमी । उपश्रुत्य—उप + √श्रु + ल्यप्, 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् का आगम । व्यपदेशः—वि + अप + √दिश् + घञ् ।

आभ्युदयिकैः—अभ्युदयः प्रयोजनमेषां तैः । अभ्युदय + ठञ् ('प्रयोजनम्' ५।१। १०९); अभ्युदयः—अभि + उद् + √इ (गतौ) + अच् (भावे) । व्यापृतः—वि + आ + √पृ + क्त । नियताः—नि + √यम् + क्त (कर्मणि) । विक्षेपाः—वि + √क्षिप् + घञ् ।

वात्सल्यवश जिस बात (राम के मोहादि) की आशङ्का थी, उसी बात की आशङ्का कर सीता के साथ, मानों किसी गृहकार्य के बहाने से गोदावरी के पास मिलने आयी हैं ।

मुरला—भगवती भागीरथी ने बहुत अच्छा सोचा, क्योंकि राजधानी में रहते हुए लोगों के अभ्युदय के निमित्त किये जाने वाले कामों में व्यस्त रामभद्र के मन के क्षोभ नियन्त्रित रहते हैं, किन्तु इस समय (अयोध्या से जनस्थान में आने के कारण) वे कार्यों में अव्यापृत हैं और मात्र शोक उनका साथी है (ऐसी स्थिति में) उनका पञ्चवटी में प्रवेश महान् अनर्थकारी सिद्ध होगा। तो अब सीता देवी के द्वारा रामभद्र कैसे आश्वस्त किये जा सकेंगे ?

वह मानसिक सन्तुलन खो बैठता है। पञ्चवटी में प्रवेश करने पर राम की इसी स्थिति की संभा-वना की गयी है ।

तमसा—उक्तमत्र भगवत्या भागीरथ्या—'वत्से देवयजनसम्भवे सीते ! अद्य खल्वायुष्मतोः कुशलवयोर्द्वादशस्य जन्मसंवत्सरस्य सङ्ख्यामङ्गलग्रन्थिरभिवर्तते । तदात्मनः पुराणश्वशुरमेतावतो मानवस्य राजर्षिवंशस्य प्रसवितारं सवितारमपहतपाप्मानं देवं स्वहस्तावचितैः पुष्पैरुपतिष्ठस्व । न च त्वामवनिपृष्ठचारिणीमस्मत्प्रभावाद् वनदेवता अपि द्रक्ष्यन्ति किं पुनर्मर्त्याः' इति । अहमप्याज्ञापिता—'तमसे ! त्वयि प्रकृष्टप्रेमैव वधूर्जानकी । अतस्त्वमेवास्याः प्रत्यनन्तरीभव' इति । साऽहमधुना यथादिष्टमनुतिष्ठामि ।

प्रजानामुन्नतिजनकैस्तैस्तैः कर्मभिर्हेतुभिरासक्तचेतास्तिष्ठति, येन तस्य मनःक्षोभा नियन्त्रिता विद्यन्ते किन्त्वधुनाऽयोध्यातो जनस्थाने समागतोऽयं प्रजापालनकार्येऽव्यापृतः सन् शोकमात्रसहायत्वेनावश्यमेव शोचिष्यति, तदस्यां स्थितौ तस्य पञ्चवटीप्रवेशो महाननर्थकरः सेत्स्यति । तस्मादिदानीं द्वयोर्भिन्नदेशस्थितत्वात् सीता कथं राममाश्वासयेत् ?

तमसा—सीतादेव्या रामभद्रः कथमाश्वासयितुं शक्य इति विषये भगवती भागीरथी प्राह—वत्से देवयजनसम्भवे = यज्ञभूमिसमुत्पन्ने सीते ! (एतेन सीताया अयोनिजत्वं पावनत्वं च सूचितम्) आयुष्मतोः=चिरजीविनोः, कुशलवयोर्जन्मसंवत्सरादारभ्य द्वादशस्य वत्सरस्य सङ्ख्यामङ्गलग्रन्थिरभिवर्तते = सङ्ख्याबोधकमङ्गलग्रन्थिकालोऽभि-

---

आयुष्मतोः—प्रशस्तमायुर्ययोस्तयोः; आयुष् + मतुप् (प्राशस्त्य के अर्थ में) । द्वादशस्य—द्वादशानां पूरणो द्वादशः, तस्य; 'तस्य पूरणे डट्' से डट् प्रत्यय; द्वादशन् + डट् (अ) डित्वात् 'टि' (अन्) का लोप—द्वादशः । मानवस्य—मनोरयं मानवस्तस्य । 'तस्येदम्' सूत्र से अण्; मनु + अण् (अ) > मानो + अ > मानवः । प्रसवितारम्—प्र + √सू + तृच् । उपतिष्ठस्व—उप-पूर्वक स्था धातु यहाँ देवपूजा के

तमसा—इस विषय में भगवती भागीरथी ने कहा—'वत्से, यज्ञभूमि से उत्पन्न होने वाली सीते ! आज चिरंजीवी कुश और लव की बारहवीं माङ्गलिक वर्षगाँठ का दिन है अतः अपने पुरातन ससुर, वैवस्वत मनु से उत्पन्न, इतने बड़े राजर्षियों के वंश के प्रवर्तक, सकलदुरितक्षयकारक सूर्यदेव की तुम अपने हाथ से चुने हुए पुष्पों से पूजा करो। और तुम्हें भूतल पर चलते समय मेरे प्रभाव से मनुष्य क्या, वनदेवता भी नहीं देखेंगे।' मुझे भी आज्ञा दी गयी है—तमसे ! वधू जानकी का तुझमें अत्यधिक प्रेम है, अतः तू ही (उसकी सहायता के लिए) साथ रहो। वह मैं अब आदेशानुसार करती हूँ।

संख्यामङ्गलग्रन्थिः—संख्याबोधको मङ्गलार्थो ग्रन्थिः । यह बच्चों के प्रति जन्मदिवस पर मनाया जाने वाला एक उत्सव है । इस दिन स्त्रियाँ एक डोरे में उतनी ही गाँठे लगाती हैं जितने वर्ष का बच्चा हो चुका हो और उस डोरे को बच्चे की कलाई में गुग्गुल, निम्ब, सफेद सरसों, दूर्वा और गोरोचन आदि मङ्गलवस्तुओं के सहित बाँध देती हैं । आज भी इस उत्सव को लोक में जन्मगाँठ या वर्षगाँठ कहते हैं । इसके सम्बन्ध में विद्यासागर कहते हैं—'संख्याबोधको मङ्गलार्थो ग्रन्थिः, अतीतवर्षसमसङ्ख्याकग्रन्थिमत् सूत्रमिति यावत् । जन्मतिथौ हस्ते सूत्रमाबध्यते तच्च सूत्रं जन्मग्रन्थिरुच्यते ।'

मुरला—अहमप्येतं वृत्तान्तं भगवत्यै लोपामुद्रायै निवेदयामि। रामभद्रोऽप्यागत एवेति तर्कयामि।

तमसा—तदियं गोदावरीह्रदान्निष्क्रम्य—

वर्तते=अभिविद्यते, अभिबध्यते इति पाठे अभिग्रथ्यते इत्यर्थः। तदात्मनः पुराणश्वशुरम्=तस्मात्त्वं स्वस्याद्यं श्वशुरमतिविस्तृतस्य मानवस्य राजर्षिवंशस्य वैवस्वतमनुजातस्येक्ष्वाकुप्रभृतिराजर्षीणां वंशस्य प्रसवितारम्=जनयितारम्, अपहृतपाप्मानम्—अपहृतः=विनाशितः, पाप्मा=पापं, येन तम्=दुरितक्षयकारकं, देवं सवितारं=सूर्यं, स्वहस्तावचितैः-स्वहस्तेन=निजकरेण, अवचितैः=लूनैः, सङ्गृहीतैरित्यर्थः; स्वकरसङ्गृहीतैः पुष्पैः उपतिष्ठस्व=पूजय। अवनिपृष्ठचारिणीं=भूतले विचरन्तीं, त्वाम् अस्मत्प्रभावात्=मत्सामर्थ्याद्, वनदेवता अपि न द्रक्ष्यन्ति=द्रष्टुं न शक्ष्यन्ति, किं पुनर्मर्त्याः=का कथा मानवानाम्? अहमप्याज्ञापिता=भगवती भागीरथी माम् (तमसाम्) अप्याज्ञापितवती—तमसे! त्वयि वध्वाः=स्नुषायाः सीतायाः, प्रकृष्टप्रेमा=प्रकृष्टं प्रेम यस्याः सा वर्तते, रामस्य पुत्रस्थानीयत्वात् तत्पत्नी सीता गङ्गायाः स्नुषा संवृत्तेत्याशयः। अतस्त्वम्=तस्मात् त्वमेवास्याः प्रत्यनन्तरीभव=निकटवर्तिनी भव, सहाया भव इति। साऽहं सम्प्रति यथादिष्टमनुतिष्ठामि=करोमि।

मुरला—तदहमप्येतं वृत्तान्तं भगवत्यै लोपामुद्रायै निवेदयामि=निवेदयितुं यामि, रामभद्रोऽप्यागत एव इति तर्कयामि=अनुमिनोमि।

अर्थ में आत्मनेपदी हो गया—('उपाद् देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्')। प्रत्यनन्तरीभव—प्रत्यनन्तरः=सन्निहितः, अप्रत्यनन्तरा प्रत्यनन्तरा सम्पद्यते इति प्रत्यनन्तरी भवति (लोट् मध्यमपुरुषैकवचन में प्रत्यनन्तरीभव); प्रत्यनन्तरा + च्वि + √भू + लोट् (सिप्)।

निष्क्रम्य—निस् + √क्रम् + ल्यप्।

मुरला—मैं भी यह वृत्तान्त भगवती लोपामुद्रा से निवेदन करती हूँ। रामभद्र भी आ ही गये हैं, ऐसा अनुमान करती हूँ।

तमसा—लो, गोदावरी के अगाध जलवाले भाग (ह्रद) से निकल कर—

'वीरराघव' की व्याख्या इस प्रकार है—'सङ्ख्यापूर्तिहेतुकमङ्गलग्रन्थिः। वत्सरे वत्सरे शिशूनां जन्मनक्षत्रे शान्त्युत्सवं कृत्वा मङ्गलार्थं करे पट्टसूत्रादिना स्त्रियो ग्रन्थिं कुर्वन्ति। स तु करे वलयरूपेण तिष्ठतीत्युपदिशः।

घाटे शास्त्री का मत है कि बच्चे के जन्मवर्ष के दिन सूत्र में वर्षगणना के उद्देश्य से एक गाँठ लगा दी जाती है, ऐसा आचार है, किन्तु वह सूत्र बच्चे के हाथ में बाँधा नहीं जाता है—'बालजन्मवर्षदिने सूत्रे एको ग्रन्थिर्वर्षगणनाय बध्यत इत्याचारः। बालहस्ते बध्यत इति व्याख्यानं भ्रममूलकमेव'। जो भी हो, प्राचीन भारत में इस उत्सव को मनाने की प्रथा बहुत प्रचलित थी, भले ही देश-भेद से उसकी पद्धति में विभिन्नता रही हो। आज-कल इस उत्सव की प्रथा बहुत कम हो गयी है।

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी ॥ ४ ॥

मुरला—इयं हि सा—

तमसा—तत् = तस्मात्। गोदावरीह्रदात् = गोदावर्याः अगाधजलाशयमध्यात् ('अगाधजलो ह्रदः' इत्यमरः)। निष्क्रम्य = बहिरागत्य।

अन्वयः—परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं विलोलकबरीकम् आननं दधती करुणस्य मूर्तिः अथवा शरीरिणी विरहव्यथेव जानकी वनमेति ॥ ४ ॥

परीति। परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरम्—परिपाण्डू = विरहातिशयेन परितः ईषत्-पीतवर्णौ, दुर्बलौ = क्षीणौ, यौ कपोलौ ताभ्यां सुन्दरम्। विलोलकबरीकम्—विलोला = संस्काराभावात् चञ्चला, कबरी = केशपाशः, यस्मिन् तादृशम्। आननम् = मुखम्। दधती = धारयन्ती। करुणस्य मूर्तिः = मूर्तिमान् करुणरस इव। शरीरिणी = मूर्तिमती। वनमेति = पञ्चवटीं प्रविशति।

अयमाशयः—तद् गोदावर्या अगाधजलमध्यान्निष्क्रम्य विरहेण पीताभ्यां कृशाभ्यां च कपोलाभ्यामुपलक्षितमपि स्वभावसुन्दरं, 'क्रीडां शरीरसंस्कारं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका' इति नियमात् संस्काराभावादसंयतकेशपाशेन युक्तं मुखं धारयन्ती मूर्तिमान् करुणरस इवाथवा मूर्तिमती विरहव्यथेवेयं सीता पञ्चवटीं प्रविशति। उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ४ ॥

पञ्चवटीं प्रविशन्तीं सीतां विलोक्य मुरलाऽवदत्—

दधती—√धा + शतृ + ङीप्। विलोलकबरीकम्—विलोला कबरी यस्मिंस्तत् (बहुव्रीहि) 'नद्यृतश्च' सूत्र से 'कप्' समासान्त प्रत्यय; 'न कपि' सूत्र से ह्रस्व का निषेध। शरीरिणी—शरीर + इनि (मतुबर्थे) + ङीप्।

(विरह से) पूर्णतया पीले एवं कृश कपोलों से उपलक्षित, फिर भी (निसर्गतः) सुन्दर कपोलों वाले, बिखरे केशों से युक्त मुख को धारण किये हुए यह जानकी मूर्तिमान् करुण रस अथवा मूर्तिमती विरहव्यथा-सी पञ्चवटी में प्रविष्ट हो रही है ॥ ४ ॥

मुरला—यही वह (सीता) है—

मञ्जुभाषिणी वृत्त है—'सजसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी'। 'मञ्जुभाषिणी' वृत्त के प्रत्येक चरण में सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु के क्रम से कुल १३ वर्ण होते हैं, छठें और तेरहवें वर्ण पर यति होती है।

विलोलकबरीकम्—वियोगिनी सीता केशों को सँवारना और वेणीरूप में बाँधना नियम-विरुद्ध होने के कारण त्याग चुकी थीं, अतएव मुख पर बिखरे हुए केश चञ्चल हो रहे थे।

इयं हि सा—यह वाक्य यहीं पर समाप्त हो जाता' परन्तु प्रो० काणे इस वाक्य का अन्व[illegible] अगले श्लोक के प्रथम चरण से कर अर्थ करते हैं—यह वह सीता है, जो अपने वृन्त से टूटे हु[illegible] किसलय के समान है। वे प्रथम चरण को 'शरीर' का विशेषण मानने में दूरान्वय दोष मानते हैं। परन्तु प्रो० काले प्रथम चरण 'किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनम्' को शरीर का ही विशेष[illegible] मानते हुए 'परिपाण्डु शरीर' की 'वृन्तच्युत किसलय' से तुलना को बहुत सुन्दर मानते हैं।

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद् विप्रलूनं
हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरं
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—हृदयकुसुमशोषी दारुणः दीर्घशोकः बन्धनाद् विप्रलूनं मुग्धं किसलयमिव अस्याः परिपाण्डु क्षामं शरीरं शरदिजः घर्मः केतकीगर्भपत्रमिव ग्लपयति ॥ ५ ॥

किसलयमिति । हृदयकुसुमशोषी—हृदयं कुसुममिव कमलेति पाठे कमलमिव (उपमितसमासः)। हृदयमेव कुसममिति रूपकसमासो वा । हृदयकुसुमं शोषयति इति हृदयकुसुमशोषी । दारुणः = दुःसहः । दीर्घशोकः = चिरस्थायी विरहजन्यः शोकः । बन्धनात् = वृन्तात् । विप्रलूनम् = छिन्नम् । मुग्धम् = सुन्दरम्, कोमलमिति यावत् । किसलयम् = नूतनपल्लवम् । परिपाण्डु = (रामविरहेण) समग्रतया पीतम्। क्षामम् = कृशम् । शरदिजः = शरत्कालीनः । घर्मः = आतपः । केतकीगर्भपत्रम्—केतक्याः = केतकीपुष्पस्य, गर्भपत्रम् = आभ्यन्तरस्थितं दलमिव, ग्लपयति = म्लानिं प्रापयति ।

अयम्भावः—इयं पुरतो दृश्यमाना निश्चयेन सा पूर्वदृष्टा सीतैव । हृदयकुसुमशोषको रामविरहजनितो दीर्घकालव्यापी दुःसहः शोको वृन्ताच्छिन्नं कोमलं नवपल्लव-

---

मुग्धम्—√मुह् + क्त । विप्रलूनम्—वि + प्र + √लूञ् छेदने + क्त (कर्मणि)। शोषी—√शुष् + णिच् + णिनि (ताच्छील्ये)। ग्लपयति—√ग्लै (ग्ला) + णिच् + लट्, पुक् का आगम; 'ग्लास्नावनुवमां च' से वैकल्पिक मित्त्व होने से पाक्षिक ह्रस्व, अतएव ग्लपयति और ग्लापयति दोनों रूप होते हैं । क्षामम्—√क्षै + क्त ('क्षायो मः' से निष्ठा 'त' को म)। शरदिजः—शरदि जातः; 'सप्तम्यां जनेर्डः' से ड प्रत्यय, 'जन्' के टि (अन्) का लोप । 'प्रावृट्शरत्कालदिवां जे' से सप्तमी का अलुक् ।

हृदयकुसुम को सुखाने वाला दारुण चिरस्थायी शोक, वृन्त से टूटकर अलग हुए सुन्दर कोमल नवपल्लव के समान समग्रतया पीतवर्ण तथा कृश इस (सीता) के शरीर को, शरत्कालिक धूप जैसे केतकीपुष्प की भीतरी पँखुड़ी को वैसे ही म्लान कर रहा है ॥ ५ ॥

श्रीब्रह्मानन्द शुक्ल इसका समाधान करने के लिए 'इयं हि सा' को प्रश्नवाचक मानते हैं। उनका कहना है कि मुरला ने सीता को पहले कभी देखा नहीं है, अतः सीता-विषयक सूचना देने वाले प्रधान पात्र तमसा के द्वारा दर्शन होने पर मुरला की आश्चर्यमयी जिज्ञासा होनी स्वाभाविक ही है।

केतकीगर्भपत्रम्—केतकी के भीतर का पत्र अत्यन्त कोमल तथा पाण्डुवर्ण का होता है। सीता के परिपाण्डु तथा क्षाम शरीर का उपमान केतकीगर्भपत्र है तथा दीर्घशोक का उपमान शरदिज घर्म है। दीर्घशोक पहले भीतर हृदयकुसुम को ही सुखा रहा था, अब बाहर शरीर को भी सुखा रहा है।

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ते)

शुद्धविष्कम्भकः ।

(नेपथ्ये)

प्रमादः प्रमादः ।

(ततः प्रविशति पुष्पावचयव्यग्रा सकरुणौत्सुक्यमाकर्णयन्ती सीता)

सीता—अम्हहे, जाणामि पिअसही मे वासंदी वाहरदिति [अहो ! जानामि प्रियसखी मे वासन्ती व्याहरतीति]

(पुनर्नेपथ्ये)

सीतादेव्या स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रै-
रग्रे लोलः करिकलभको यः पुरा वर्धितोऽभूत् ।

मिव साकल्येन पीतवर्णं कृशमस्याः शरीरं तथैव म्लानं करोति यथा शरत्कालिक आतपः केतकीपुष्पस्याभ्यन्तरदलं म्लानिं प्रापयतीति भावः । उपमाऽलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ५ ॥

प्रमादेति । प्रमादः = अनिष्टापातः, सम्भ्रमे द्विरुक्तिः । पुष्पावचयव्यग्रा—पुष्पावचये = पुष्पाणां सङ्ग्रहे, व्यग्रा = व्यापृता । सकरुणौत्सुक्यम्—करुणया=दयया, औत्सुक्येन = उत्कण्ठया च सहितं यथा स्यात्तथा, क्रियाविशेषणमेतत् । आकर्णयन्ती = शृण्वती । व्याहरति = वदति ।

अवचयः—अव + चि + अच् ('एरच्' ३।३।५६)। आकर्णयन्ती—आ + √ कर्ण (चुरादि) + णिच् + शतृ + ङीप् ।

(इस प्रकार घूमकर दोनों निकल गयीं)

शुद्ध विष्कम्भक समाप्त ।

(नेपथ्य में)

विपत्ति ! विपत्ति !

(तदनन्तर फूल चुनने में लगी हुई, करुणा और उत्सुकता के साथ सुनती हुई सीता का प्रवेश)

सीता—अरे, जान पड़ता है कि मेरी प्रियसखी वासन्ती बोल रही है।

(पुनः नेपथ्य में)

सीता देवी के द्वारा अपने हाथों से दिये गये सल्लकी वृक्ष के कोमल पत्तों के अग्रभागों से,

---

शुद्ध विष्कम्भक—संस्कृतात्मक विष्कम्भ । भूत तथा भावी घटनाओं की सूचना विष्कम्भक में दी जाती है। यहाँ मुरला तथा तमसा मध्यमपात्रों का संवाद केवल संस्कृत भाषा में है, अतः यह शुद्धविष्कम्भक है।

नेपथ्य—वह स्थान जहाँ रंगमञ्च के समीप पर्दे के पीछे नट लोग अपनी वेषभूषा धारण किया करते हैं। 'कुशीलवकुटुम्बस्य स्थलं नेपथ्यमुच्यते'। कुशीलवाः नटाः, तेषां कुटुम्बस्य वृन्दस्य स्थलं वेषपरिग्रहस्थानं नेपथ्यम् ।

अवचय—'हस्तादाने चेरस्तेये' सूत्र से घञ् होकर 'अवचायः' होना चाहिए।

सीता--किं तस्स--[किं तस्य--]

वध्वा सार्धं पयसि विहरन्सोऽयमन्येन दर्पा-
दुद्दामेन द्विरदपतिना सन्निपत्याभियुक्तः ॥ ६ ॥

अन्वयः—पुरा सीतादेव्या यः अग्रे लोलः करिकलभकः स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रैः वर्धितोऽभूत्, सोऽयं वध्वा सार्धं पयसि विहरन् अन्येन उद्दामेन द्विरदपतिना दर्पात् सन्निपत्य अभियुक्तः ॥ ६ ॥

सीतेति। पुरा=पूर्वम्। अग्रे=पुरतः। लोलः=चञ्चलः, पल्लवग्रहणाय, शैशवाद्वेति भावः। करिकलभकः=गजशावकः (अनुकम्पायां कन्)। स्वकरकलितैः=निजहस्तदत्तैः। सल्लकीपल्लवाग्रैः—सल्लकीनां=गजभक्ष्यलताविशेषाणाम्, पल्लवाग्रैः=किसलयाङ्कुरैः। वर्धितः=पोषितः। वध्वा सार्धम्=स्वस्त्रिया (करेणुकया) सह। पयसि=जले। विहरन्=क्रीडां कुर्वन्। अन्येन=अपरेण। उद्दामेन=उच्छृङ्खलेन। द्विरदपतिना=गजेन्द्रेण। दर्पात्=बलावलेपात्। सन्निपत्य=वेगेन अभिद्रुत्य। अभियुक्तः=आक्रान्तः।

अयम्भावः—पुरा वनवाससमये सीता पुरतः पल्लवग्रहणार्थं चपलं यं गजशावकं स्वहस्तेन दत्तैः सल्लकीपल्लवाङ्कुरैर्वर्धितवती, तमेवेनं स्वकरेणुकया सह जलक्रीडां कुर्वन्तमपरो दुर्धर्षो गजेन्द्रो वेगेनाभिद्रुत्याक्रान्तवानिति भावः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥६॥

कलितैः—√कल्+क्त (कर्मणि)। करिकलभकः—करिकलभ+कन् (अनुकम्पायाम्)। वर्धितः—√वृध्+णिच्+क्त (कर्मणि)। वध्वा—'सार्धम्' पद के योग में तृतीया। विहरन्—वि+√हृ+शतृ। द्विरदपतिना—द्वौ रदौ दन्तौ येषां ते द्विरदाः गजास्तेषां पतिः, तेन; 'पतिः समास एव' सूत्र से घिसंज्ञक होने के कारण तृतीयैक वचन 'टा' को 'ना' हो गया ('आङो नाऽस्त्रियाम्'), केवल पति शब्द का तृतीया में 'पत्या' रूप होता है। सन्निपत्य—सम्+नि+√पत्+ल्यप्। अभियुक्तः—अभि+√युज्+क्त (कर्मणि)।

जो (सीता देवी के) आगे (पल्लवों को लेने के लिए) चपल (बना हुआ) बेचारा गजशावक पहले (वनवास के समय में) पाला पोसा गया था।

सीता—क्या हुआ उसको ?

वही यह (अपनी) वधू के साथ जल में विहार करता हुआ किसी दूसरे मत्त गजेन्द्र के द्वारा दर्प के कारण वेग से झपट कर आक्रान्त कर लिया गया है ॥ ६ ॥

स्वकरकलितैः—अपने हाथों से गृहीत अर्थात् अपने हाथों से दिये गये।

करिकलभकः—'कलभः करिशावकः' (अमरकोष) तदनुसार 'कलभ' शब्द से हाथी के ही बच्चे का बोध होता है, फिर भी 'करि' पद का यहाँ जो ग्रहण किया है, उससे 'कलभ' शब्द का सामान्य अर्थ शावक मात्र लिया जाना चाहिए। इस विषय में वामनसूत्र द्रष्टव्य है—'विशिष्टवाचकपदानां सति विशेषणसमभिव्याहारे विशेष्यमात्रपरत्वं करिकलभादिशब्दवत्।'

सीता—(ससम्भ्रमं कतिचित्पदानि गत्वा) अज्जउत्त ! परित्ताहि, परित्ताहि मह तं पुत्तअम् । (स्मृतिमभिनीय सवैक्लव्यम्) हद्धी हद्धी । ताइं ज्जेव्व चिर-परिचिदाइं अक्खराइं पञ्चवटीदंसणेन मं मन्दभाइणिं अणुबंधंति । हा अज्जउत्त ! (इति मूर्च्छति) [आर्यपुत्र ! परित्रायस्व परित्रायस्व मम तं पुत्रकम् । (........) हा धिक्, हा धिक् ! तान्येव चिरपरिचितान्यक्षराणि पञ्चवटीदर्शनेन मां मन्दभागिनीमनुबध्नन्ति । हा आर्यपुत्र (........)]

सीता—ससम्भ्रमम् = सत्वरम् । परित्रायस्व = रक्ष । पुत्रकम् = अनुकम्पनीयं पुत्रम् (अनुकम्पायां कन्) । (स्मृतिमभिनीय = परित्यागवृत्तान्तस्य स्मरणमभिनयेन दर्शयित्वा) चिरपरिचितानि = दीर्घकालमभ्यस्तानि । अक्षराणि = 'आर्यपुत्र' इत्येवं-रूपा वर्णाः । अनुबध्नन्ति = अनुसरन्ति । चिरादभ्यासवशादद्यापि तान्येवाक्षराणि मन्मुखात् सहसा निष्क्रामन्तीत्यर्थः ।

अयम्भावः—सीता पुत्राभियोगं श्रुत्वा सत्वरं कतिचित्पदानि गत्वा प्राह—'आर्यपुत्र ! मम तं विपद्ग्रस्तं पुत्रं परित्रायस्व परित्रायस्व ।' ततो रामचन्द्रकृतस्व-परित्यागं स्मृत्वा सखेदं सीता पुनराह—'हा धिक् ! हा धिक् ! चिरकालाभ्यस्ततया 'आर्यपुत्र' इत्येवाक्षराणि पञ्चवटीदर्शनेन मम मन्दभागिन्या मुखात् सहसा सम्प्रति परित्यागकालेऽपि निर्गच्छतीति भावः ।'

मन्दभागिनीम्—मन्दश्चासौ भागश्चेति मन्दभागः (कर्मधारयः), सोऽस्त्यस्या इति मन्दभागिनी, ताम् । यद्यपि यहाँ कर्मधारय से मत्वर्थीय इनि प्रत्यय करना नियम विरुद्ध है, क्योंकि इस प्रकार यहाँ दो वृत्तियाँ करनी पड़ती है । कहा भी गया है कि 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः' अर्थात् यदि बहुव्रीहि से ही उसके अर्थ का बोध हो जाता हो तो कर्मधारय से मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं करना चाहिए; किन्तु यहाँ सीता जी के मन्दभाग का नित्य योग दिखलाना है, अतः ऐसा करने में दोष नहीं माना जाना चाहिए । 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥'

सीता—(घबड़ाहट के साथ कुछ पग चलकर) आर्यपुत्र ! मेरे उस बेचारे पुत्र को बचाइए, बचाइए । **(रामचन्द्र कृत परित्याग के स्मरण का अभिनय कर)** छिः ! छिः ! वे ही (आर्यपुत्र शब्द रूप) चिरकाल तक बार-बार प्रयुक्त अक्षर आज भी पञ्चवटी के दर्शन से मुझ मन्दभागिनी का अनुसरण करते हैं (मुझ मन्दभागिनी के मुख से सहसा निकल आते हैं) हा आर्यपुत्र ! **(ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाती है)**

पुत्रकम्—पुत्र शब्द से 'अनुकम्पा' अर्थ में कन्, अनुकम्पनीय बेचारे पुत्र को । पुत्रक का अर्थ यहाँ कृत्रिम पुत्र भी हो सकता है, क्योंकि वह गजशावक सीता का कृत्रिम पुत्र ही तो था । तब 'इवे प्रतिकृतौ' (५।३।९६) सूत्र से कन् प्रत्यय होगा ।

आर्यपुत्र ! परित्रायस्व—सीता जी घबड़ाहट में भूल गयीं कि रामचन्द्र उनका परित्याग कर चुके हैं और अपने हाथी के बच्चे की रक्षा के लिए उन्हीं को पुकारती हैं । परित्याग वाली बात का उन्हें बाद में स्मरण होता है ।

(प्रविश्य)

तमसा- वत्से ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

(नेपथ्ये)

विमानराज ! अत्रैव स्थीयताम् ।

सीता—(समाश्वस्य ससाध्वसोल्लासम्) अम्हहे जलभरभरिअमेहमंथरत्थणिअगंभीरमंसलो कुदो णु एसो भारईणिग्घोसो भरंतकण्णविवरं मं वि मंदभाइणिं अत्ति उस्सु आवेइ ? [अहो ! जलभरभरितमेघमन्थरस्तनितगम्भीरमांसलः कुतो न्वेष भारतीनिर्घोषो भ्रियमाणकर्णविवरां मामपि मन्दभागिनीं झटित्युत्सुकयति]

(नेपथ्ये) विमानराज = व्योमयानश्रेष्ठ ! पुष्पकं प्रति रामस्योक्तिरियम् ।

सीता—ससाध्वसोल्लासम्—साध्वसेन = भयेन, उल्लासेन = हर्षेण च सहितं यथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषणमिदम्) । जलभर०—जलस्य भरेण = भारेण, भरितः = पूर्णो, यो मेघः, तस्य मन्थरम् = मन्दं, स्तनितम् = गर्जितम्, तदिव गम्भीरः = धीरः, मांसलः = पुष्टश्च । भारतीयनिर्घोषः = वर्णोच्चारणध्वनिः । नु इति वितर्के । भ्रियमाणकर्णविवराम्—भ्रियमाणम् = पूर्यमाणं, कर्णयोः विवरम् = छिद्रं यस्यास्तथोक्ताम् । उत्सुकयति = उत्कण्ठितां करोति ।

अयमाशयः—तमसा सीतां समाश्वासयति । तदानीमेव श्रीरामो नेपथ्ये पुष्पकं प्रत्याह—विमानराज ! अत्रैव स्थीयताम् । रामस्य शब्दनिर्घोषमाकर्ण्य समाश्वस्ता सीता भयेन हर्षेण च सहितमाह—'कुतो न्वेष जलपूर्णमेघस्य मन्दगर्जितमिव गम्भीरः स्फीतश्च वर्णोच्चारणध्वनिः श्रूयते यो मत्कर्णविवरं पूरयन्मां मन्दभागिनीमप्युत्कण्ठितां करोति ?'

स्थीयताम्—√स्था + लोट् (भावे) । समाश्वसिहि—सम् + आ + √श्वस् + लोट् (सिप् = हि) । भरितः—भर + इतच् । स्तनितम् = √स्तन् + क्त (भावे) । भ्रियमाणम्—√भृ + कर्मणि लट् (शानच्) । उत्सुकयति—उत्सुकां करोतीत्युत्सुकयति 'तत्करोति तदाचष्टे' से णिच् ।

(प्रवेश करके)

तमसा—वत्से ! धैर्य धरो, धैर्य धरो ।

(नेपथ्य में)

विमानराज ! यहीं रुका जाय ।

सीता—(आश्वस्त होकर, भय और हर्ष के साथ) जल-भार से भरे मेघ के मन्दगर्जन के समान गम्भीर एवं स्फीत यह वाणी की ध्वनि, भरे जाते हुए कर्णविवर वाली मुझ मन्दभागिनी को भी कहाँ से (आकर) तुरन्त उत्कण्ठित बना रही है ?

ससाध्वसोल्लासम्—मुझ परित्यक्ता को देखकर राम क्या कहेंगे ? मैं उनके सामने कैसे पड़ूँ ? यह सोचकर सीताजी को एक तरफ भय हो रहा था और दूसरी तरफ बहुत समय (बारह वर्षों) के बाद होने वाले प्रिय के दर्शन की आशा से उल्लास भी हो रहा था ।

तमसा—(सस्नेहास्रम्) अयि वत्से !

अपरिस्फुटनिस्वाने कुतस्त्येऽपि त्वमीदृशी ।
स्तनयित्नोर्मयूरीव चकितोत्कण्ठितं स्थिता ॥ ७ ॥

सीता—भअवदि किं भणासि अपरिप्फुडेत्ति । मए उण सरसंजोएण पच्चभिआणिदं अज्जउत्तो एव्व वाहरदित्ति । [भगवति ! किं भणस्यपरिस्फुटेति । मया पुनः स्वरसंयोगेन प्रत्यभिज्ञातमार्यपुत्र एव व्याहरतीति ।]

अन्वयः—स्तनयित्नोः अपरिस्फुटनिस्वाने मयूरी इव त्वं कुतस्त्येऽपि अपरिस्फुटनिस्वाने त्वम् ईदृशी चकितोत्कण्ठितं स्थिता ॥ ७ ॥

तमसा सीतां प्रत्यवदत्—'वत्से !. स्तनयित्नोः=मेघस्य, अपरिस्फुटनिस्वाने=अस्पष्टनिर्घोषे, मयूरीव, वक्तुः स्वरूपमदृष्ट्वैव 'विमानराज ! अत्रैव स्थीयताम्' इत्याकारके कुतस्त्ये=कस्मादपि कारणात्, अविज्ञातनिमित्तादित्यर्थः, कस्माच्चित्प्रदेशाद्वा समुद्भूते, कुतश्चित्प्रदेशादागते अस्पष्टनिर्घोषे । चकितोत्कण्ठितं स्थिता=त्वमीदृशी साश्चर्यं सोत्कण्ठं च विद्यमाना सती वर्तसे' ? नैतदनुरूपं भवत्या इति भावः । उपमालङ्कारः ॥ ७ ॥

सीता तमसां प्रत्याह—भगवति !=तमसेत्यर्थः, अपरिस्फुटेति=अविस्पष्टेति किं भणसि=कथं कथयसि ? मया तु स्वरसंयोगेन=स्वरप्रकारेण, स्वरसम्बन्धेन वा, आर्यपुत्र एव व्याहरति=वदतीति प्रत्यभिज्ञातम्=तदिदमिति विदितम् ।

निस्वानः—नि+√स्वन्+घञ् । 'अप' प्रत्यय होकर 'निस्वनः' भी होता है । कुतस्त्यः—कुतो भव इति कुतस्त्यः । कुतस्+त्यप् ('अव्ययात्त्यप्') । स्तनयित्नुः—√स्तन् (चुरादि)+इत्नुच् (उणा०) । प्रत्यभिज्ञातम्—प्रति+अभि+√ज्ञा+क्त (कर्मणि) । व्याहरति—वि+आ+हृ+लट् ।

तमसा—(स्नेहाश्रु से युक्त होकर) अरी बेटी !
कहीं से भी उत्पन्न अस्पष्ट ध्वनि में तुम मेघ के शब्द में मयूरी के समान ऐसी चकित और उत्कण्ठित हो रही हो ! ॥ ७ ॥

सीता—भगवति ! 'अस्पष्ट'—ऐसा क्यों कहती हैं ? (मेरे कानों से उस) स्वर का सम्बन्ध होने से—चिर परिचय होने से मैंने तो पहचान (ही) लिया है कि आर्यपुत्र ही बोल रहे हैं ।

सस्नेहास्रम्—सीता की दशा देखकर तमसा की आँखों में स्नेहवश आँसू छलक आये । 'सस्मितास्रम्' (पाठा०)—राम के शब्द को सुनकर सीता को जो उत्सुकता हुई, उसे देखकर तमसा मुस्करा उठी ।

चकितोत्कण्ठितम्—सहसा राम के कण्ठ का स्वर सुनने से सीता चकित हो गयीं तथा उनके आगमन से चरणदर्शन की सम्भावनावश उन्हें उत्कण्ठा भी हुई । उत्कण्ठा का लक्षण है—'रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या । संशोषणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः ।'

स्वरसंयोगेन—सीता के कहने का आशय है कि मेरे कान आर्यपुत्र के स्वर से चिरपरिचित हैं, अतः कान में उस स्वर के पड़ते ही मैंने निश्चित रूप से जान लिया कि यह स्वर आर्यपुत्र का ही है ।

तमसा—श्रूयते तपस्यतः किल शूद्रस्य दण्डधारणार्थमैक्ष्वाको राजा जनस्थानमागत इति ।

सीता—दिट्ठिआ अपरिहीणराअधम्मो क्खु सो राआ । [दिष्टचा अपरिहीनराजधर्मः खलु स राजा ।]

(नेपथ्ये)

यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे
यानि प्रियासहचरश्चिरमध्यवात्सम् ।
एतानि तानि बहुनिर्झरकन्दराणि
गोदावरीपरिसरस्य गिरेस्तटानि ॥ ८ ॥

तथा सम्भावयन्ती तमसा वदति—श्रूयते, किल तपस्यतः = तपस्यां कुर्वतः शम्बूकनामकस्य शूद्रस्य दण्डधारणार्थम् = अपराधानुकूलशिक्षार्थम्, ऐक्ष्वाकः = इक्ष्वाकुकुलोद्भवो राजा = रामचन्द्रो जनस्थानमागत इति ।

सीता तमसोक्तिमाकर्ण्य प्रहृष्टा सती तमसामवदत्—दिष्टचा = भाग्येन । अपरिहीनराजधर्मः = अन्यूनराजधर्मः, यथाशास्त्रमनुष्ठितसकलराजकार्य इति भावः । हर्षस्यायं विषयो यत् स राजा यथाशास्त्रं सकलराजकार्याण्यनुतिष्ठतीति भावः ।

श्रीरामो नेपथ्ये प्राह—

अन्वयः—यत्र द्रुमाः अपि मृगाः अपि मे बन्धवः, यानि प्रियासहचरः चिरम्

तपस्यतः—तपश्चरति तपस्यति (नामधातु), तपस् शब्द से चरण (करना) के अर्थ में 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' (३।१।१५) से क्यङ् प्रत्यय होता है । क्यङ् के ङित् होने पर भी 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' के अनुसार आत्मनेपद न होकर 'तपसः परस्मैपदं च' वार्तिक से परस्मैपद होता है । 'तपस्य' नामधातु से शतृ होकर षष्ठचन्त 'तपस्यतः' होता है । ऐक्ष्वाकः—इक्ष्वाकोः गोत्रापत्यं पुमान् ऐक्ष्वाकः; इक्ष्वाकु + अण्, 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् 'इ' को वृद्धि 'ऐ' । 'दाण्डिनायन'-(६।४।१७४) के अनुसार निपातन से 'टि' (उ) का लोप ।

तमसा—ऐसी बात सुनी जाती है कि तपस्या करने वाले शूद्र (शम्बूक) के दण्डविधान के लिए इक्ष्वाकुवंशी राजा जनस्थान में आया है ।

सीता—भाग्य से उस राजा ने राजधर्म छोड़ा नहीं है ।

ऐक्ष्वाको राजा—राम के लिए राजा शब्द का प्रयोग कर सीतानिर्वासनजनित अपना क्षोभ तमसा व्यक्त कर रही है । यह वाक्य व्यङ्ग्यपूर्ण है । व्यङ्ग्य यह है कि एक बार तो उसने निरपराध पत्नी का निर्वासन कर अपने राजधर्म का प्रकर्ष दिखलाया, वह अब पुनः (शूद्र ही सही) तपस्या करने वाले व्यक्ति का वध करने को उद्यत है । ऐसा वह क्यों न करे ? आखिर अपने पूर्वज इक्ष्वाकु का नाम कैसे रौशन करेगा ?

दिष्टचा—'दिष्टि' शब्द का तृतीयैकवचनान्त विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है । इसका प्रयोग इन अर्थों में होता है—भाग्य से, सौभाग्य से, ईश्वर का धन्यवाद, मैं कितना प्रसन्न हूँ, कितना सौभाग्यशाली, शाबास (हर्ष या बधाई का उद्गार) ।

सीता--(दृष्ट्वा) हा कहं पहादचंदमंडलापंडुरपरिक्खामदुब्बलेन आआरेण अअं णिअसोह्मगम्भीराणुभावमेत्तपच्चहिजाणिज्जो अज्जउत्तो एव्व। भअवदि तमसे धारेहि मम्। (इति तमसामाश्लिष्य मूर्च्छति)। **[हा कथं प्रभातचन्द्रमण्डलापाण्डुरपरिक्षामदुर्बलेनाकारेणायं निजसौम्यगम्भीरानुभावमात्रप्रत्यभिज्ञातव्य आर्यपुत्र एव। भगवति तमसे ! धारय माम्।]**

अध्यवात्सम्, तानि एतानि गोदावरीपरिसरस्य गिरेः बहुनिर्झरकन्दराणि तटानि (विद्यन्ते) ॥ ८ ॥

यत्रेति। यत्र = येषु तटेषु। द्रुमाः = वृक्षाः। मृगाः = पशवः, हरिणा वा। बन्धवः बन्धुतुल्या इति भावः। प्रियासहचरः = सीतासमेतः। चिरम् = बहुकालपर्यन्तम्। अध्यवात्सम् = उषितवानस्मि। बहुनिर्झरकन्दराणि—बहवः निर्झराः कन्दराश्च येषु तानि तथोक्तानि। गोदावरीपरिसरस्य—गोदावरी नाम नदी परिसरः=पर्यन्तभूः, यस्य तस्य; गोदावरीसमीपवर्तिन इत्यर्थः। ('पर्यन्तभूः परिसरः' इत्यमरः) तटानि = प्रदेशा इत्यर्थः।

अयम्भावः—यत्र वृक्षा अपि पशवोऽपि मम बन्धुतुल्याः प्रिया आसन्, यत्र च सीतासमेतोऽहं बहुकालपर्यन्तं न्यवसम्, त एवेमे गोदावरीसमीपवर्तिनः पर्वतस्य समधिकनिर्झरकन्दरायुक्ताः प्रदेशा विद्यन्ते इति। यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धव आसन् तत्र तपोधनानां का कथेत्येतस्यार्थस्य दण्डापूपिकया लाभादर्थापत्तिरलङ्कारः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८ ॥

सीता—प्रभातचन्द्र०—प्रभाते चन्द्रमण्डलमिव आ = समन्तात्, पाण्डुरः = श्वेतपीतवर्णः, अतिम्लान इति यावत्, परिक्षामः = कृशः, दुर्बलः = बलहीनः, तेन आकारेण

अध्यवात्सम्--अधि + √वस् + लुङ् (मिप्)। 'उपान्वध्याङ्वसः' सूत्र के अनुसार आधार की कर्म संज्ञा और कर्म में द्वितीया विभक्ति (यानि तटानि)।

परिक्षाम--परि + √क्षै + क्त ('क्षायो मः' से मकारादेश)। आकारेण—यहाँ

(नेपथ्य में)

जहाँ वृक्ष भी, मृग भी मेरे बन्धु (थे), जिनमें मैं प्रिया (जानकी) के साथ लम्बे समय तक रहा, वे ही ये गोदावरी के समीपवर्ती पर्वत के बहुत से झरनों और कन्दराओं वाले प्रदेश हैं ॥८॥

सीता—(देखकर) हाय ! क्यों ? प्रभातकालीन चन्द्रमण्डल के समान विवर्ण, अत्यन्त क्षीण एवं दुर्बल आकार से उपलक्षित यह अपने सौम्य एवं गम्भीर प्रभाव मात्र से ही पहचाने जाने योग्य आर्यपुत्र ही हैं। भगवति तमसे ! मुझे पकड़ो (सहारा दो)।

(इस प्रकार तमसा का आलिङ्गन कर मूर्च्छित हो जाती है)

परिसरः—तट, किनारा, सामीप्य, किसी नदी या पर्वत का पर्यावरण (मिली या जुड़ी हुई भूमि)।

तटानि—इसका अर्थ लक्षणा से 'प्रदेश' है।

निजसौम्यगम्भीरानुभवमात्रप्रत्यभिज्ञातव्यः—सीता के कहने का आशय है कि आर्यपुत्र (राम) का शरीर इतना विवर्ण, कृश एवं दुर्बल हो गया है कि आकार से उन्हें पहचाना

तमसा—वत्से ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

(नेपथ्ये) अनेन पञ्चवटीदर्शनेन—

अन्तर्लीनस्य दुःखाग्नेरद्योद्दामं ज्वलिष्यतः ।
उत्पीड इव धूमस्य मोहः प्रागावृणोति माम् ॥ ९ ॥

=आकृत्या (उपलक्षितः) । निजसौम्य०—निजः=स्वकीयः, सौम्यः=शान्त गम्भीरः=धीरः, अनुभावः=प्रभावः, तन्मात्रेण प्रत्यभिज्ञातव्यः=सोऽयमिति ज्ञातव्यः। धारय=गृहाण, येनाहं नो पतेयम् (इति तमसामाश्लिष्य मूर्च्छति) ।

अयम्भावः—सीता रामं दृष्ट्वा प्राह—'हा ! कथं प्रभातचन्द्रमण्डलमिवातिम्लानः कृशो दुर्बलश्च य आकारस्तेनोपलक्षितोऽयमार्यपुत्र एव । स एवायमिति तादृशेनाकारेण न प्रत्यभिज्ञायते । स्वकीयसौम्यतेजोविशेषेणैव प्रत्यभिज्ञायते । भगवति तमसे ! मां गृहाण येनाहं नो पतेयमिति भावः' ।

तमसा सीतां समाश्वासयति ।

नेपथ्ये श्रीरामः प्राह—

अन्वयः—अन्तर्लीनस्य अद्य उद्दामं ज्वलिष्यतः दुःखाग्नेः धूमस्य उत्पीड इव मोहः मां प्राक् आवृणोति ॥ ९ ॥

अन्तर्लीनस्येति । अन्तर्लीनस्य=अन्तःकरणे प्रच्छन्नं स्थितस्य । अद्य=अस्मिन् दिने, उद्दामम्=अत्यन्तम् । ज्वलिष्यतः=उद्दीपिष्यमाणस्य । दुःखाग्नेः=दुःखमग्नि-

---

'उपलक्षितः' परिशेषलभ्य है । अतः 'इत्थम्भूतलक्षणे' (२।३।२१) से तृतीया हुई है । अनुभावः—अनु + √भू + णिच् + घञ् । प्रत्यभिज्ञातव्यः—प्रति + अभि + √ज्ञा + तव्य । लीनः—√ली + क्त (कर्तरि) । दुःखाग्नेः—दुःखमग्निरिव, तस्य (उपमित समास) । ज्वलिष्यतः—√ज्वल् + लृट् (शतृ) ष० ए० व० ।

तमसा—बेटी आश्वस्त हो, आश्वस्त हो ।

(नेपथ्य में) पञ्चवटी के इस दर्शन से—

अन्तःकरण में छिपा शोकानल आज अनियन्त्रित भाव से भड़कने वाला है; उसके धूमसंघात के समान मोह (मूर्च्छा) मुझे पहिले ही आच्छादित (अभिभूत) कर रहा है ॥ ९ ॥

नहीं जा सकता । केवल उनके सौम्य एवं गम्भीर विशेष तेज को देखने पर ही यह निश्चय प्रतीति होती है कि ये वही (राम) हैं ।

अनेन पञ्चवटीदर्शनेन—इसका अन्वय आगे के श्लोक के साथ करना चाहिए ।

दुःखाग्नेः—'ज्वलिष्यतः' पद की संगति के लिए दुःखमेवाग्नि इति दुःखाग्निः, ऐसा रूपक समास होना चाहिए । किन्तु 'धूमस्य उत्पीड इव' इस वाक्यांश को देखते हुए 'दुःखमग्निरिवेति दुःखाग्निः' ऐसा उपमित समास मानना ही उचित प्रतीत होता है ।

उत्पीड इव धूमस्य—आग के भड़कने के पहिले उसका धुआँ चारों ओर छा जाता है, उसी प्रकार राम के हृदय में छिपे हुए दुःख के बाहर प्रकट होने से पहिले मोह (मूर्च्छा) उन्हें आच्छादित कर रहा है ।

'हा प्रिये जानकि !

तमसा—(स्वगतम्) इदं तदाशङ्कितं गुरुजनेन ।

सीता—(समाश्वस्य) हा कहं एदं । [हा कथमेतत् ?]

(पुनर्नेपथ्ये)

हा देवि दण्डकारण्यवासप्रियसखि विदेहराजपुत्रि ! (इति मूर्च्छति)

सीता—हद्धी हद्धी । मं मंदभाइणिं वाहरिअ आमीलंतणेत्तणीलुप्पलो मुच्छिदो एव्व अज्जउत्तो । हा कहं धरणिपिट्ठे णिरुद्धणिस्सासणीसहं विपल्हत्थो । भअवदि तमसे परित्ताए हि परित्ताए हि । जीवावेहि अज्जउत्तम् । (इति पादयोः पतति) । [हा धिक्, हा धिक् ! मां मन्दभागिनीं व्याहृत्यामीलन्नेत्रनीलोत्पलो मूच्छित एवार्यपुत्रः । हा कथं धरणिपृष्ठे निरुद्धनिःश्वासनिःसहं विपर्यस्तः । भगवति तमसे ! परित्रायस्व परित्रायस्व । जीवयार्यपुत्रम् ।]

रिव, तस्य (उपमितसमासः) । उत्पीडः = राशिः । मोहः = मूर्च्छा । माम् = रामम् । प्राक् = पूर्वम् । आवृणोति = आच्छादयति ।

अयम्भावः—कार्यान्तरव्यापृततयाऽन्तःकरणे निगूढो दुःखाग्निरस्मिन् दिने पञ्चवटीदर्शनेन समधिकं ज्वलिष्यति । यथाऽग्नेर्ज्वलनात् पूर्वं धूमराशिः समन्तत आच्छादयति तथैव दुःखप्रसरणात् पूर्वं दुःखजनिता मूर्च्छा मां सञ्छादयतीति भावः ॥ ९ ॥

हा प्रिये जानकी ! इति ।

तमसा स्वमनसि कथयति—इदं तत् = रामस्य शोकाभिभवमोहादिकं, गुरुजनेन = पूज्यजनेन, गङ्गालोपामुद्राप्रभृतिजनेनेत्यर्थः, चाशङ्कितम् '

सीता—(समाश्वस्य) हा कथमेतत् = आर्यपुत्रस्य शोकाभिभवो मोहश्च कथम् ?

श्रीरामः पुनर्नेपथ्ये—हा दण्डकारण्यवासप्रियसखि = दण्डकारण्ये यो वासस्तत्र प्रियसखी प्रियसहचरि वा, तत्सम्बुद्धौ ।

सीता—व्याहृत्य = उद्दिश्योच्चार्य । आमीलन्नेत्रनीलोत्पलः—आमीलती = मुद्रिते, नेत्रनीलोत्पले = नेत्रनीलकमले यस्य सः । धरणिपृष्ठे = भूतले । निरुद्धनिःश्वास-

---

व्याहृत्य—वि + आ + √हृ + ल्यप् । आमीलत्—आ + √मील् + शतृ ।

हा प्रिये जानकि !

तमसा—(स्वगत) गुरुजन (लोपामुद्रा और गङ्गा) के द्वारा इसी बात की आशङ्का की गयी थी ।

सीता—(आश्वस्त होकर) हाय, यह (शोकाभिभव और मूर्च्छा) कैसे ?

(पुनः नेपथ्य में)

हा देवि दण्डकारण्य में साथ रहने वाली जानकि ! **(ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं)**

सीता—हाय, हाय ! मुझ अभागिनी को पुकार कर, नीलकमल के समान बन्द होते हुए

निरुद्धनिःश्वासनिःसहम्—निरुद्धनिःश्वासम् तथा निःसहम् ये दोनों पद क्रियाविशेषण हैं, 'सुप्सुपा' से समास हुआ है ।

परित्रायस्व, परित्रायस्व—संभ्रम में द्विरुक्ति है ।

तमसा—त्वमेव ननु कल्याणि सञ्जीवय जगत्पतिम् ।
प्रियस्पर्शो हि पाणिस्ते तत्रैष निरतो जनः ॥ १० ॥

निःसहम्—निरुद्धः = प्रवृत्तिहीनः, निःश्वासः यस्मिन्कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा । विपर्यस्तः = अधोमुखत्वेन पतितः । परित्रायस्व = रक्ष (मामिति शेषः) । आर्यपुत्रं जीवय = जीवितं कुरु, क्रियतां तथाविधः कोऽप्यभ्युपायः, तज्जीवनेनैव मद्रक्षणं सम्भवति ।

अयम्भावः—हा दण्डकारण्यवाससहचरि ! इति सीतामुद्दिश्योच्चार्य मुद्रितकमललोचनो मूर्च्छामगमत् । तथाविधं धरणितलेऽधोमुखत्वेन पतितं श्रीराममवलोक्य सीता तमसां प्रत्याह—'भगवति तमसे ! जीवय आर्यपुत्रं तथाविधं कमप्यभ्युपायं कृत्वा मां रक्ष, आर्यपुत्रजीवनेनैव मद्रक्षणं सम्भवती'ति भावः ।

तमसा सीतोक्तिमाकर्ण्य सीतामेवानुज्ञापयति—

अन्वयः—ननु कल्याणि ! त्वमेव जगत्पतिं सञ्जीवय, हि ते पाणिः प्रियस्पर्शः तत्र एषः जनः निरतः ॥ १० ॥

ननु = अनुज्ञाद्योतकमव्ययम् ('प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः) । कल्याणि = शुभे ! प्रियप्रबोधस्य सीतास्पर्शाऽधीनतया 'कल्याणि' इति तत्सम्बोधनपदं युक्तमेव । जगत्पतिम् = लोकनाथम्, श्रीराममित्यर्थः । हि = यतः । पाणिः = करः । प्रियस्पर्शः—प्रियः = अभीष्टः (रामस्येति भावः) स्पर्शः = आमर्शनं यस्य सः । तत्र = तस्मिन् त्वत्करस्पर्शे । एष जनः = श्रीरामः । निरतः = समनुरक्तः ।

अयम्भावः—'कल्याणि ! श्रीरामस्य प्रबोधस्तु परित्यक्ताया अपि तवैव करस्पर्शाधीनः, तस्मात् त्वमेव लोकनाथं सचेतनं कुरु । तादृशेन परित्यागेन स्वपतिबुद्ध्या नोज्जीवयितुमुत्सहसे चेत्तर्हि तस्य लोकनाथतया लोककल्याणायैवत्वं कल्याणी तं रामं

निरुद्धः—नि + √रुध् + क्त । निःसहम्—निस् + √सह् + अच् । विपर्यस्तः—वि + परि + √अस् (क्षेपणे) + क्त । निरतः—नि + √रम् + क्त ।

नेत्रों वाले आर्यपुत्र मूर्च्छित ही हो गये हैं । हाय, रुकी हुई साँस वाले तथा अशक्त होकर भूतल पर कैसे अधोमुख गिरे पड़े हैं ? भगवति तमसे ! (मुझे) बचाओ, बचाओ । आर्यपुत्र को जीवित करो । **(ऐसा कहकर पैरों पर गिरती है)** ।

तमसा—हे कल्याणि ! तुम ही जगत् के स्वामी (राम) को होश में लाओ; क्योंकि तुम्हारे ही हाथ का स्पर्श (उन्हें) प्रीतिकारक है, अतः उसी में वे (राम) अनुरक्त हैं ॥ १० ॥

कल्याणि सञ्जीवय जगत्पतिम्—यह वाक्य व्यञ्जना से भरा हुआ है । तमसा के कथन का आशय है कि मानती हूँ कि राम ने तुम्हें निर्वासित कर दिया है, उन्हें होश में लाने के लिए तुम अपने हाथ से उनका स्पर्श करने का साहस कैसे कर सकती हो ? किन्तु यह भी सोचो कि तुम कल्याणी हो, लोक-कल्याण की दृष्टि से वैसा करना तुम्हारा परम कर्त्तव्य हो जाता है । राम जगत् के स्वामी हैं, उनके जीवित होने पर ही जगत् का जीवन सम्भव है । तमसा पुनः कहती है कि दूसरी बात यह है कि मैं परायी स्त्री राम का स्पर्श कैसे कर सकती हूँ ! प्रियस्पर्शो······जनः । तुम्हारे हाथ का स्पर्श उन्हें सदा आनन्द देता रहा था, अत एव उनका अनुराग चिरकाल से उसी तुम्हारे करस्पर्श में बना हुआ है, अतः तुम्हीं राम को होश में लाने का स्वकर्त्तव्य पालन करो ।

सीता—जं होदु तं होदु । जह भअवई आणवेइ (इति ससम्भ्रमं निष्क्रान्ता)
[यद् भवतु तद् भवतु । यथा भगवत्याज्ञापयति ।]

(ततः प्रविशति भूम्यां निपतितः सास्रया सीतया स्पृश्यमानः
साह्लादोच्छ्वासो रामः ।)

सीता—(किञ्चित्सहर्षम्) जणे उण पच्चा अदं विअ जीविअं तेलोअस्स ।
[जाने पुनः प्रत्यागतमिव जीवितं त्रैलोक्यस्य ।]

सञ्जीवय, येन तस्मिञ्जीवति जगतः समुज्जीवनं सम्भवेदिति भावः । अपि च—आर्यस्य श्रीरामस्य तवैव करस्पर्शे अभीष्टः, अत्रैव चिरात् सोऽभ्यस्तोऽस्ति । अन्या स्त्री तं कथं स्पृशेत् ? तस्य त्वत्पाणिस्पर्शे चिराभ्यस्ततया त्वमेव तदुज्जीवने समर्थाऽसीत्याशयः । अत्रोत्तरार्द्धस्य पूर्वार्द्धे हेतुतयोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १० ॥

तमसाया अनुज्ञामाकर्ण्य सीता प्राह—निर्वासिताया मम करस्पर्शादार्यपुत्रः सञ्जातकोपः प्रसन्नो वा भवत्वित्यविगणय्य भगवत्यास्तमसाया आज्ञां शिरसि कृत्वाऽऽर्यपुत्रमुज्जीवयितुं पाणिना स्पृशामीत्युक्त्वा सत्वरं तथाकर्तुं निष्क्रान्ता ।

(ततो रामस्य भूमिनिपतनेन सास्रया=अश्रुसहितया, सीतया स्पृश्यमानो भूमौ निपतितो साह्लादोच्छ्वासः=हर्षेण श्वाससञ्चारेण च सहितो रामचन्द्रः प्रविशति ।)

सीता—(किञ्चित्सहर्षम्) त्रैलोक्यस्य = स्वर्गमर्त्यपातालरूपलोकत्रयस्यापि जीवितं=जीवनं राममयम् । तद्रामजीवने त्रैलोकस्यापि जीवनम् । तस्माद्रामे जीवति त्रैलोक्यस्यापि जीवनं प्रत्यागतमिव=पुनरागतमिव मन्ये ।

स्पृश्यमानः—√स्पृश् + लट् (कर्मणि)-शानच् । प्रत्यागतम्—प्रति-आ + √गम् + क्त । जीवितम्—√जीव् + क्त (भावे) । त्रैलोक्यम्—त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी, त्रिलोक्येव त्रैलोक्यम्; स्वार्थे ष्यञ् ।

सीता—जो हो वह हो । भगवती की जैसी आज्ञा । (**ऐसा कहकर घबराहट युक्त त्वरा के साथ निकल जाती है**) ।

**(तब भूमि पर पड़े हुए, आँखों में आँसू भरे सीता के द्वारा सहलाये
जाते हुए तथा हर्ष और श्वाससंचारयुक्त राम का प्रवेश ।)**

सीता—(कुछ हर्ष के साथ) मैं समझती हूँ कि तीनों लोकों का जीवन मानों फिर लौट आया है ।

यद् भवतु तद् भवतु—जो हो सो हो । सीता का अभिप्राय है कि निर्वासित मेरे हाथ के स्पर्श से आर्यपुत्र मुझ पर चाहे कुपित हों, चाहे प्रसन्न, यह मुझे नहीं सोचना है । भगवती तमसा के आज्ञानुसार मुझे उनके कल्याणकर कार्य में हिचकिचाहट छोड़कर लग जाना है ।

त्रैलोक्यस्य जीवनम्—सकल जीवलोक के आधारभूत राम के ही जीवन पर तीनों लोकों का जीवन निर्भर है, अतः राम के होश में आ जाने पर सीता ने कहा कि मेरी समझ में मानों तीनों लोकों का जीवन फिर लौट आया है ।

रामः—हन्त ! भोः किमेतत्—

आश्च्योतनं नु हरिचन्दनपल्लवानां
निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेकः ।
आतप्तजीवितपुनः परितर्पणोऽयं
सञ्जीवनौषधिरसो नु हृदि प्रसिक्तः ॥ ११ ॥

रामः—हन्त = हर्षसूचकमव्ययपदम् । एतत् = स्पर्शनम् । किम् = कतमत् ?

अन्वयः—हरिचन्दनपल्लवानामाश्च्योतनं नु ? निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजः सेकः नु ? अयम् आतप्तजीवितपुनःपरितर्पणः सञ्जीवनौषधिरसः हृदि प्रसिक्तः नु ? ॥११॥

आश्च्योतनमिति । हरिचन्दनपल्लवानाम्—हरिचन्दनस्य = सुरतरुविशेषस्य, पल्लवानाम् = किसलयानाम् । आश्च्योतनम् = रसक्षरणम् । नु इति वितर्के । निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजः—निष्पीडिताः = निष्पिष्टा ये इन्दुकरकन्दलाः = चन्द्रकिरणनवाङ्कुरास्तेभ्यो जातः । सेकः = सेचनं नु ? आतप्तजीवितपुनःपरितर्पणः—आतप्तम्—आ = समन्तात्, तप्तम् = दग्धं, यत् जीवितं = जीवनं, तस्य पुनः परितर्पणः = परितृप्तिकारकः । 'आतप्तजीवितमनःपरितर्पणः' इति पाठे आतप्तयोः = जीवितमनसोः परितर्पणः इति विग्रहस्तथा च 'आतप्तजीविततरोः' इति पाठे आतप्तः जीवितमेव तरुः जीविततरुस्तस्येति विग्रहादिकं बोध्यम् । सञ्जीवनौषधिरसः = प्राणप्रदौषधिद्रवः । प्रसिक्तः = प्रलिप्तः ।

अयम्भावः—सीताकरस्पर्शतः प्रत्याश्वस्तः श्रीरामः प्रहृष्टः सन्नाह—अये ! मम हृदये केनचित् हरिचन्दनवृक्षस्य किसलयानां रसक्षरणं कृतम् ? आहोस्वित् निष्पिष्टेभ्यश्चन्द्रकिरणनवाङ्कुरेभ्यो जातं सेचनं कृतम् ? अथवा विरहदग्धस्य जीवनस्य पुनः परितृप्तिकारकः प्राणप्रदौषधेर्द्रवः प्रलिप्तः किम् ? किमिदमिति नाहं निश्चेतुं पारयामीति भावः । शुद्धसन्देहालङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ११ ॥

आश्च्योतनम्—आ + √श्च्युत् + ल्युट् । सेकः—सिच् + घञ् । परितर्पणः—परि + √तृप् + ल्यु (अन) ('नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः') अथवा 'कृत्यल्युटो बहुलम्' के अनुसार कर्ता में ल्युट् (अन)–परि + √तृप् + णिच् + ल्युट् (अन) 'णेरनिटि' से णिच् का लोप, लघूपधगुण—परितर्पणः ।

राम—अहा ! अरे, यह क्या ? क्या (मेरे) हृदय पर हरिचन्दन के किसलयों का रस छिड़क दिया गया ? अथवा निचोड़े हुए चन्द्रकिरणरूप नवांकुरों के रस से सेचन किया गया ? या सन्तप्त जीवन को पुनः परितृप्त करने वाला संजीवनी ओषधि का रस छिड़क दिया गया है ? ॥ ११ ॥

हरिचन्दन—हरिचन्दन एक देव वृक्ष है । एक विशेष प्रकार के चन्दन को हरिचन्दन कहते हैं । यह काटने पर तो लाल रंग का दिखलायी देता है, किन्तु घिसने पर पीले रंग का होता है—'छेदे रक्तं कषे पीतं हरिचन्दनमुच्यते' । सीता के कर-स्पर्श से रामचन्द्र जी को अनिर्वचनीय आनन्द हुआ, जिसके कारण का वे अनेक प्रकार से अनुमान करते हैं ।

अपि च— स्पर्शः पुरा परिचितो नियतं स एव
सञ्जीवनश्च मनसः परितोषणश्च ।
सन्तापजां सपदि यः परिहृत्य मूर्च्छा-
मानन्दनेन जडतां पुनरातनोति ॥ १२ ॥

सीता—(ससाध्वसोत्कम्पमपसृत्य) एत्तिअ एव्व दाणिं मे बहुदरं । [एताव-देवेदानीं मे बहुतरम्] ।

अन्वयः—पुरा परिचितः सञ्जीवनो मनसः परितोषणश्च नियतं स एव स्पर्शः । यः सन्तापजां मूर्च्छां परिहृत्य सपदि आनन्दनेन पुनर्जडताम् आतनोति ॥ १२ ॥

रामः पुनरपि स्वानुभवमाह—स्पर्श इति । पुरा=पूर्वकाले । परिचितः=संस्तुतः, अनुभूत इति यावत् । सञ्जीवनः=सम्यग्जीवनहेतुः । परितोषणः=आह्लादजनकः । 'परिमोहनश्च' इति पाठे परिमोहजनकश्चेत्यर्थः । नियतम्=निश्चितम् । स एव=पूर्वानुभूत एव । सन्तापजाम्=विरहदुःखजाताम् । मूर्च्छाम्=चेतनाशून्यताम् । परिहृत्य=अपनीय । सपदि=तत्कालम् । आनन्दनेन=आह्लादनेन । पुनः=भूयः । जडताम्=आनन्दाधिक्यप्रयुक्तचेतनाशून्यताम् । आतनोति=विस्तारयति, करोतीत्यर्थः ।

अयमाशयः—नियतमयं पूर्वपरिचित एव स्पर्शः, येन मम सञ्जीवनं सञ्जातं मनसश्च परितुष्टिर्जाता । अनेन मोहप्रयुक्तप्रज्ञाशून्यतामपनीय तत्क्षणमेवानन्दप्रदानेन काचिदनिर्वचनीया जडता समुत्पादिता । सम्प्रति करस्पर्शजनितपरमानन्दनिमग्नोऽहं प्रज्ञाशून्योऽस्मीति भावः । मूर्च्छां परिहृत्य जडतामातनोतीति विरुद्धार्थाभिधानात् विरोधालङ्कारः । जडताशब्दस्यानन्दविह्वलतार्थकतया तत्परिहारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

सीता—(ससाध्वसोत्कम्पम्=रामेणाहं प्रत्यभिज्ञातेति भयजनितोत्कम्पेन सहितं यथा स्यात्तथा, 'ससाध्वसकरुणमि'ति पाठे—साध्वसेन=भयेन, करुणया=दयया च

सञ्जीवनः—सम्+√जीव्+णिच्+ल्युट् (कर्तरि) 'कृत्यल्युटो बहुलम्' । इसी प्रकार परि+√तुष्+णिच्+ल्युट् (कर्तरि) । परिहृत्य—परि+√हृ+ल्यप्, तुगागम । आनन्दनम्—आ+नन्द् (टुनदि समृद्धौ)+ल्युट् (भावे) ।

और भी—निश्चय ही समाश्वस्त करने वाला और मन को आह्लाद देने वाला यह वही पूर्व परिचित स्पर्श है, जो विरहसन्तापजनित मूर्च्छा को तत्काल दूर कर आनन्दविधान से पुनः जड़ता (विह्वलता) समुत्पन्न कर रहा है ॥ १२ ॥

सीता—(भय और कम्पन के साथ हटकर) इतना ही इस समय मुझे बहुत अधिक है (अर्थात् इस निर्वासिता में अब भी स्नेह रखते हैं, मेरे कर-स्पर्श को बहुत मानते हैं, आज की परिस्थिति में इतना ही मेरे लिए बहुत है—यह कम सौभाग्य की बात नहीं है) ।

संजीवनः—सम्यक् जीवन देने वाला । **परितोषण**—परितोष देने वाला । इस श्लोक में 'स्पर्श मूर्च्छा को दूर कर जड़ता फैला रहा है' यह कथन होने से विरोध अलंकार है । जड़ता का अर्थ 'आनन्दविह्वलता' होने से उसका परिहार हो जाता है ।

रामः--(उपविश्य) न खलु वत्सलया सीता देव्याऽभ्युपपन्नोऽस्मि ?

सीता—हद्धी ! हद्धी ! किं त्ति मं अज्जउत्तो मग्गिस्सदि ? [हा धिक् ! हा धिक् ! किमिति मामार्यपुत्रो मार्गिष्यते ?]

रामः—भवतु, पश्यामि ।

सीता—भअवदि तमसे ! ओसरह्म दावं । मं पेक्खिअ अणब्भणुण्णादेण संणिहाणेण राआ अहिअं कुपिस्सदि । [भगवति तमसे ! अपसरावस्तावत् । मां प्रेक्ष्यानभ्यनुज्ञातेन सन्निधानेन राजाऽधिकं कोपिष्यति ।]

सहितं यथा स्यात्तथेत्यर्थः । अपसृत्य = रामस्य पार्श्वाद् दूरं गत्वा) सीता आह—एतावदेव = प्रियस्पर्शनमेव, रामः मे = मम निर्वासितायाः सीतायाः, स्पर्शं बहुतरम् = अधिकतरम्, मन्यते, इदानीमपि = सम्प्रति निर्वासकालेऽपि, मयि स्निह्यति, एतावदेव सम्प्रति निर्वासिताया मम बहुतरम् इति सीतोक्तेरभिप्रायः ।

रामस्तु सीतया संस्पृष्टोऽहमिति सीतां द्रष्टुमना उपविश्य प्राह—वत्सलया = स्निग्धतया, मम दोषं सहमानया सीतया देव्या किं स्वकरस्पर्शेनाहमभ्युपपन्नोऽस्मि = अनुगृहीतोऽस्मि ? ('अभ्युपपत्तिरनुग्रहः' इत्यमरः) ।

प्रोक्तां रामोक्तिमाकर्ण्य सीताऽऽत्मानं भर्त्सयन्ती सशोकं प्राह—हा धिक् ! हा धिक् !–हेति शोके, धिगिति स्वभर्त्सने, किमिति मामार्यपुत्रः मार्गिष्यते = अन्वेषिष्यति ?

रामः—भवतु पश्यामि = अन्वेषणेन तत्त्वतो निरूपयामि ।

ततो राममन्वेष्टुकामं दृष्ट्वा सीता तमसामुपगम्य प्राह—'भगवति तमसे' अपसरावस्तावत् = आवामितो दूरं गच्छावस्तावत् । तत्र कारणमाह—अनभ्यनुज्ञातेन = अननुमतेन, अनुज्ञां विनैव, मत्कर्तृकतत्सन्निधानेन = समीपावस्थानेन, मां प्रेक्ष्य = दृष्ट्वा, प्रजारञ्जनार्थं मन्निर्वासको राजा कोपिष्यति = कोपं करिष्यति ।

अपसृत्य—अप + √सृ (गतौ) + ल्यप्, तुक् । अभ्युपपन्नः—अभि + उप + √पद् (गतौ) + क्त । अनभ्यनुज्ञातः—नञ् (अन्) + अभि + अनु + √ज्ञा + क्त । संनिधान—सम् + नि + √धा + ल्युट् (भावे) ।

राम—(बैठकर) (कहीं) स्नेहशील सीता देवी के द्वारा तो मैं अनुगृहीत नहीं किया गया हूँ ?

सीता—हा धिक् ! हा धिक् ! (कहीं) आर्यपुत्र मुझे ढूँढेंगे क्या ?

राम—अच्छा, देखता हूँ ।

सीता—भगवति तमसे ! अब हम दोनों यहाँ से हट चलें । मुझे देखकर बिना अनुमति के, समीप स्थित होने से राजा अधिक क्रोध करेंगे ।

राजाऽधिकं कोपिष्यति—यहाँ राम के लिए सीता जी के द्वारा प्रयुक्त राजा शब्द ध्यान देने योग्य है । राम बड़ी कठोरता के साथ राजधर्म का पालन करने वाले राजा हैं, पत्नी तक का निर्वासन करने में राजधर्म ही उनका प्रेरक रहा है । अब सीता यदि उनकी अनुमति के बिना कहीं उनके समीप खड़ी मिल गयी तो उन (सीता) को उनका कोपभाजन अवश्य बनना पड़ेगा ।

तमसा—अयि वत्से ! भागीरथीप्रसादाद् वनदेवताऽप्यदृश्याऽसि संवृत्ता।

सीता—आं, अत्थि खु एदं। [आम् अस्ति खल्वेतत्।]

रामः—हा प्रिये जानकि !

सीता—(समन्युगद्गदम्) अज्जउत्त, असरिसं क्खु एदं वअणं इम एस वुत्तंतस्य (सास्रम्) अहवा किं त्ति वज्जमई जन्मंतरेसु वि पुणो असंभाविअ दुल्लहदंसणस्स मं एव्व मंदभाइणिं उद्दिसिअ वच्छलस्स एव्वं वादिणो अज्जउत्तस्स उवरि णिरणुक्कोसा भविस्सम ? अहं एव्व एदस्स हिअअं जाणामि, महवि एसो। [आर्यपुत्र ! असदृशं खल्वेतद्वचनमस्य वृत्तान्तस्य (······) अथवा किमिति वज्रमयी जन्मान्तरेष्वपि पुनरसम्भावितदुर्लभदर्शनस्य मामेव मन्दभागिनीमुद्दिश्य

तमसा सीतां प्रत्यवदत्—भागीरथीप्रसादात् = गङ्गाया अनुग्रहात्, त्वं वनदेवतानामप्यदृश्यासि संवृता = अदर्शनीया सञ्जाताऽसि, किमुत रामस्य ?

एतच्छ्रुत्वा तथाविधां गङ्गों... स्मृत्वा सीता प्राह—आम्, खल्वेतत्।

रामः—हा प्रिये जानकि !

सीता—समन्युगद्गदम्—मन्युः = प्रणयकोपः, तेन गद्गदः = वाण्या अस्फुटता, तेन सहितं यथा स्यात्तथा। एतत् = 'हा प्रिये जानकि' इति कथनम्। एतस्य वृत्तान्तस्य = मन्निर्वासनरूपवृत्तान्तस्य। असदृशम् = अयोग्यम्। सास्रम् = अश्रुसहितं यथा तथा। वज्रमयी = अतिशयकाठिन्ययुक्ता। जन्मान्तरेष्वपि = अन्येषु जन्मस्वपि। असम्भावितदुर्लभदर्शनस्य—असम्भावितम् = सम्भावनाया अविषयभूतम्, अत एव दुर्लभम् = दुष्प्राप्यम्, दर्शनं यस्य तादृशस्य। वत्सलतया = स्नेहशीलतया। एवंवादिनः

अदृश्या—नञ् (अ) + √दृश् + क्यप् + टाप्। वनदेवतानाम्—'कृत्यानां कर्तरि वा' के अनुसार कर्ता में षष्ठी।

तमसा—अरी बेटी, गङ्गा के अनुग्रह से वनदेवताओं के लिए भी तू अदृश्य हो चुकी है।

सीता—हाँ, वस्तुतः यही (बात) है।

राम—हा प्रिये जानकि !

सीता—(**प्रणयकोप के कारण अस्पष्ट उच्चारण के साथ**) आर्यपुत्र ! निश्चय ही (आप का 'हा प्रिये जानकि') यह वचन इस (मेरे परित्यागरूप) वृत्तान्त के अनुरूप है। (**आँसू भर**

असदृशं······वृत्तान्तस्य—इस वाक्य से सीता ने अपना प्रणयकोप व्यक्त किया है। उनके कहने का भाव यह है कि पहले तो आप ने मुझे निर्वासित कर दिया और अब स्नेह प्रदर्शित करते हुए विलाप भी कर रहे हैं। आप के दोनों कार्यों में अनुरूपता नहीं है। आपको मैं निष्ठुर समझूँ या स्नेहशील ?

अथवेति—सीता जी तुरन्त अपने प्रोक्त कथन को अनुचित एवं कठोरता द्योतक समझकर कहने लगती हैं—आपका दर्शन मुझे अन्य जन्मों में भी असंभव तथा दुर्लभ है। आपके वचन से आपकी स्नेहशीलता स्पष्ट सिद्ध है, अतः मैं आप पर अकरुण होकर वज्रमयी किस लिए बनूँ। मैं अपने वचन वापस लेती हूँ।

वत्सलतयैवंवादिन आर्यपुत्रस्योपरि निरनुक्रोशा भविष्यामि ? अहमेवैतस्य हृदयं जानामि, ममाप्येषः ।]

रामः—(सर्वतोऽवलोक्य) हा ! न किञ्चिदत्र ।

सीता—भअवदि तमसे ! तथा णिक्कारणपरिच्चाइणो वि एदस्स एव्वं-विधेण दंसणेण कीदिसो विअ मे हिअ आणुबंधोत्ति ण आणामि । [भगवति तमसे ! तथा निष्कारणपरित्यागिनोऽपि एतस्यैवंविधेन दर्शनेन कीदृश इव मे हृदयानुबन्ध इति न जानामि ।]

='हा प्रिये जानकि' इत्येवं कथयतः । किमिति=किमर्थम् ? निरनुक्रोशा=निर्दया । एतस्य=आर्यपुत्रस्य । सर्वतः=परितः । सनिर्वेदम्=सखेदम् ।

अयम्भावः—सीता—(सप्रणयकोपगद्गदम्) आर्यपुत्र ! 'हा प्रिये जानकि' इत्येवं भवतः कथनम्, मत्परित्यागरूपस्य वृत्तान्तस्याननुरूपम्; स्वयमेव मां निर्वास्य पुनर्मामुद्दिश्य भवतो विलपनं नोचितमिति भावः । अथवाऽतिशयकाठिन्ययुक्ताऽहम्, जन्मान्तरेष्वपि असम्भावितदुर्लभदर्शनस्य, मामेवोद्दिश्य निर्दोषत्वनिश्चयपूर्वकं मयि प्रीतिमत्तया 'हा प्रिये जानकि' इत्येवं कथयतः आर्यपुत्रस्योपरि किमर्थं निर्दया भविष्यामि । 'असदृशं खल्वेतद्वचनमस्य वृत्तान्तस्ये'त्येवं मया न वक्तव्यं मत्काठिन्यद्योतकत्वादपितु भवदीयामिमां दशां दृष्ट्वा मया रोदितव्यमन्यथा मद्धृदयकाठिन्यमेव सेत्स्यतीति सीतोक्तेरभिप्रायः । पुनः सीता कथयति—अस्यार्यपुत्रस्य हृदयमहमेव जानामि, ममापि हृदयमयं जानाति । आर्यपुत्रेण लोकानुरञ्जनार्थमेवाहं परित्यक्ता, न तु भावदोषादित्यहमेव जानामि, ममापि हृदये निर्वासनेन न हि भावदोषः समुद्भूतः पूर्ववदेव स्नेहो वरीवर्त्तते इति जानात्यार्यपुत्रः । आवयोर्हृदयभावं विज्ञातुं नहि कश्चित् साधारणो जनः समर्थः इति सीतोक्तेरभिप्रायः ।

रामः—(परितोऽवलोक्य सखेदम्) हा ! न किञ्चिदत्र=अस्मिन् स्थाने ।

उद्दिश्य—उत् + √दिश् + ल्यप् । अनुक्रोशः—अनु + √क्रुश् + घञ् । निर्वेदः—निर् + √विद् + घञ् ।

कर) अथवा (ऐसा वचन कह कर) अत्यन्त कठोर (वज्रमयी) मैं, अन्य जन्मों में भी जिनका दर्शन असंभव अतएव दुर्लभ है तथा मुझ अभागिन को ही लक्ष्य करके स्नेहशीलतावश (हा प्रिये जानकि !) ऐसा वचन बोलने वाले आर्यपुत्र के ऊपर क्यों निर्दय होऊँ ? मैं ही इनका हृदय जानती हूँ, और ये मेरा ।

रामः—(चारों ओर देखकर, खेद के साथ) यहाँ कुछ भी नहीं है ।

अनुक्रोश—किसी के प्रति करुण विलाप अर्थात् दया, करुणा, दयालुता । वीरराघव का इस पर कथन है—'अनुक्रोशपदेन रामदशामिमां दृष्ट्वा मुक्तकण्ठं मया रोदितव्यम्—तत् किमेवं कठिना भवामीति व्यज्यते' । 'अनुक्रोशति मुक्तकण्ठं रोदित्यनेनेति अनुक्रोशः' अमर-व्याख्या ।

अहमेवैतस्य हृदयं जानामि ममाप्येषः—रामायण-सुन्दरकाण्ड (१५।१२) में भी कहा गया है—'अस्या देव्या मनस्तस्मिंस्तस्य चास्यां प्रतिष्ठितम् । तेनेयं स च धर्मात्मा मुहूर्तमपि जीवति ॥'

तमसा—जानामि वत्से ! जानामि ।

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशा-
द्वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव ।
प्रसन्नं सौजन्याद् दयितकरुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥ १३ ॥

सीता स्वमनोदशां निवेदयन्ती तमसां प्रत्याह—भगवति तमसे ! तथा=तेन प्रकारेणाकरुणं निष्कारणपरित्यागिनः=अकारणं परित्यक्तवतोऽप्यार्यपुत्रस्यैवंविधेन= एतादृशेन शोकाकुलेन दर्शनेन, कीदृशी मे हृदयानुबन्धः=मनोऽवस्थेति न जानामि= विवरीतुं न शक्नोमि ।

तथा कथयन्तीं सीतां प्रत्याह **तमसा**—त्वं न जानासि, अहं तु वत्से ! जानाम्येव ।

अन्वयः—तव हृदयम् अस्मिन् क्षणे नैराश्यात् तटस्थमिव, विप्रियवशात् कलुषमिव, दीर्घे अस्मिन् वियोगे झटिति घटनात् स्तम्भितमिव, दयितकरुणैः गाढकरुणम्, प्रेम्णा द्रवीभूतमिव ॥ १३ ॥

तटस्थमिति—नैराश्यात्=पुनः समागमाशाया अभावात् । तटस्थमिव=उदासीनमिव, प्रसादकालुष्यादिरहितमिव । विप्रियवशात्=परित्यागरूपाप्रियवशात् । कलुषमिव=क्रोधयुक्तमिवेत्यर्थः । दीर्घे=चिरकालव्यापिनि । झटिति घटनात्=आकस्मिक-

---

परित्यागी—परि+√त्यज्+घिनुण् । अनुबन्धः—अनु+√बन्ध्+घञ् । नैराश्यात्—निराशस्य भावः नैराश्यं तस्मात्; निराश+ष्यञ् । घटनात्—√घट्+ल्युट् । प्रसन्नम्—प्र+√सद्+क्त । सौजन्यात्—सुजनस्य भावः कर्म वा सौजन्यं तस्मात्; सुजन+ष्यञ् । द्रवीभूतम्—अद्रवं द्रवं भूतमिति द्रवीभूतम्, अभूततद्भावे च्विः ।

सीता—भगवति तमसे ! उस प्रकार अकारण ही निर्वासित करने वाले के भी इस प्रकार के दर्शन से मेरी मनोदशा कैसी हो रही है, यह जानती नहीं हूँ ।

तमसा—जान रही हूँ बेटी, जान रही हूँ ।

तुम्हारा हृदय इस समय पुनः समागम की आशा न होने से उदासीन, किन्तु (परित्याग-रूप) अप्रिय (वृत्तान्त) से रोषयुक्त-सा, इस लम्बे वियोग में अप्रत्याशित समागम से विस्मय के कारण स्तब्ध सा, (राम के) सौजन्य से प्रसन्न, प्रिय की शोकाकुल दशा से अत्यन्त शोक युक्त, (प्रिय-विषयक) प्रेम से आर्द्र-सा है ॥ १३ ॥

हृदयानुबन्धः—अनुबन्ध का अर्थ यहाँ अबाध परम्परा, सातत्य आदि है, जैसे वैरानुबन्ध, प्रेमानुबन्ध आदि । हृदयानुबन्ध का अर्थ हुआ—हृदय के भावों की परम्परा-विशेष का अबाध रूप से बना रहना ।

इस श्लोक से कवि का मनोविज्ञान-पाण्डित्य सूचित होता है ।

कलुषं विप्रियवशात्—निष्कारण परित्याग रूप अहित के कारण कालुष्यपूर्ण-रोषयुक्त । राम ने सीता का अकारण परित्याग कर दिया था, जो विप्रिय कर्म ही कहा जा सकता है । उसके कारण सीता के मन में राम के प्रति रोष-क्षोभ होना स्वाभाविक था ।

रामः—देवि !

प्रसाद इव मूर्तस्ते स्पर्शः स्नेहार्द्रशीतलः ।
अद्याप्यानन्दयति मां त्वं पुनः क्वासि नन्दिनि ॥ १४ ॥

समागमात् । स्तम्भितम् = निश्चलम्, विस्मयादिति भावः । दयितकरुणैः—दयितस्य = प्रियस्य रामस्य, करुणैः = शोकाकुलावस्थाविशेषैः । गाढकरुणम् = दृढशोकयुक्तम् । सौजन्यात् = सुजनत्वात्, 'हा प्रिये जानकि' इति सम्बोधनादिति भावः । प्रसन्नम् = प्रसादयुक्तमिव । द्रवीभूतम् = रसमयमिव ।

अयम्भावः—अस्मिन् काले तव हृदयं समागमाशाया अभावात् तटस्थं प्रसाद-रोषादिरहितमिव, किन्त्वस्मिन् दीर्घे विरहे अकस्मात् सञ्जातसमागमाद् विस्मयेन निश्चलम्, परित्यागरूपाप्रियं स्मृत्वा रोषयुक्तमिव, प्रियस्य शोकाकुलदशां निरीक्ष्य दृढ-शोकयुक्तमिव, 'हा प्रिये जानकि' इति सम्बोधनरूपसौजन्यात् प्रसन्नमिव, स्नेहेन द्रवी-भूतमिवेत्थं विविधभावशबलं वरीवर्तते । अत्रोत्प्रेक्षापञ्चकस्य संसृष्टिः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—स्नेहार्द्रशीतलः ते स्पर्शः, मूर्त्तः प्रसाद इव अद्यापि माम् आनन्दयति । नन्दिनि त्वं पुनः क्वासि ? ॥ १४ ॥

सीतामदृष्ट्वा रामः प्राह—**प्रसाद इवेति** । स्नेहार्द्रशीतलः—स्नेहेन = प्रेम्णा, आर्द्रः = क्लिन्नः, अत एव शीतलः = सन्तापहारी । मूर्तः = मूर्तिमान् । प्रसादः = अनुग्रहः । अद्यापि = अस्मिन् क्षणेऽपि, स्पर्शोत्तरव्यवहितकालेऽपीति भावः । आनन्द-यति = आनन्दितं करोति । 'आर्द्रयति' इति पाठे आर्द्रं करोतीत्यर्थः । नन्दिनि = आनन्ददायिनि । पुनरिति वाक्यालङ्कारे ।

अयम्भावः—देवि ! स्नेहेनार्द्रतया शीतलः सन्तापहारी तव स्पर्शो मूर्तिमान् प्रसाद इव स्पर्शोत्तरव्यवहितकालेऽपि मां राममानन्दितं करोति । हे आनन्ददायिनि ! त्वं कुत्र असि ? अत्र 'मूर्तः प्रसाद इवे'त्युत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १४ ॥

प्रसादः—प्र + √सद् + घञ् । स्पर्शः—√स्पृश् + घञ् । आनन्दयति—आ + √नन्द् (टुनदि समृद्धौ) + लट् । नन्दिनी—√नन्द् + णिच् + णिनि । णिजन्त 'नन्दि' से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' से 'णिनि' प्रत्यय ।

राम—हे देवि !

स्नेह से आर्द्र (अतएव) शीतल तुम्हारा स्पर्श मूर्तिमान् अनुग्रह-सा इस समय भी मुझे आनन्दित कर रहा है । हे आनन्ददायिनि ! तुम कहाँ हो ?

नन्दिनी—प्रायः सभी प्रतियों में ऐसा ही पाठ मिलता है । नन्दिनि शब्द का प्रयोग प्रायः पुत्री के अर्थ में मिलता है । अतः घनश्याम ने 'नन्दयितुं शीलमस्या इति नन्दिनी' ऐसा अर्थ मानना उचित समझ कर प्रथमैकवचनान्त 'नन्दिनी' 'त्वम्' का विशेषणरूप पाठ रखा है । उन्होंने कहा है—'नन्दिनीति कवेश्चातुर्यम् । तथापि नन्दयतीति धातुबलादवान्तरभेद ऊह्यः । नन्दिनी प्रथमैकवचनम्, नन्दिनी त्वं पुनः क्वासि इत्यर्थः ।'

सीता—एदे क्खु ते अगाधदंसिदसिणेहसंभारा आणंदणिस्संदिणो सुहामआ अज्जउत्तस्स उल्लावा। जाणं पच्चएण णिक्कालणपरिणाअसल्लिदोवि बहुमदो मह जम्मलाहो। [एते खलु ते अगाधदर्शितस्नेहसम्भारा आनन्दनिष्यन्दिनः सुधामया आर्यपुत्रस्योल्लापाः। येषां प्रत्ययेन निष्कारणपरित्यागशल्यितोऽपि बहुमतो मम जन्मलाभः।]

रामः—अथवा कुतः प्रियतमा? नूनं सङ्कल्पाभ्यासपाटवोपादान एष रामभद्रस्य भ्रमः।

सीता—अगाधदर्शितस्नेहसम्भाराः—अगाधम्=अत्यन्तं यथा तथा, दर्शितः=प्रकटितः, स्नेहसम्भारः=स्नेहसङ्घातः, यैः येषु वा ते तथोक्ताः। आनन्दनिष्यन्दिनः=हर्षस्राविणः। सुधामयाः=अमृतमयाः। उल्लापाः=उच्चैर्विलापाः। प्रत्ययेन=ज्ञानेन, श्रावणेनानुभवेन। निष्कारणपरित्यागशल्यितः—निष्कारणपरित्याग एव शल्यम्=शङ्कु, तत् सञ्जातमस्य तथाविधः (तारकादित्वात् इतच्)। बहुमतः=अत्यभीष्टः, श्लाघ्य इति भावः।

अयम्भावः—सीता रामस्योच्चैर्विलापान् श्रुत्वा कथयति—आर्यपुत्रस्यैते वियोगभरिता विलापाः, अगाधमत्यन्तं यथा तथा प्रदर्शितः प्रकटितः स्नेहस्य अनुरागस्य सङ्घातो यैस्तथाविधा हर्षस्राविणोऽमृतमयाः सन्ति। एतान् श्रुत्वाऽहमनुभवामि यदकारणपरित्यागरूपशल्ययुक्तोऽपि मम जन्मलाभः सम्प्रति श्लाघ्य एव सञ्जातः।

रामः—सङ्कल्पाभ्यासपाटवोपादानः—सङ्कल्पस्य=सीताविषयकचिन्तनस्य, अभ्यासः=पुनः पुनरावृत्तिः, तस्य पाटवम्=पटुता, कल्पनानैपुण्यम्; तदेव उपादानम्=उत्पत्तिकारणम्, यस्य तथाविधः। एषः=सीताकरस्पर्शप्रतीतिः। भ्रमः=भ्रान्तिः।

सम्भारः—सम्+√भृ+घञ्। आनन्दनिष्यन्दिनः—आनन्दं निष्यन्दयन्तीति आनन्दनिष्यन्दिनः। नि+√स्यन्द्+णिच्+णिनि (ताच्छील्ये)। उल्लापः—उद्+√लप्+घञ्। बहुमतः—√मन्+क्त (वर्तमाने) 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च'। पाटवम्—पटोर्भावः; पटु+अण्। उपादानः—उप+आ+√दा+ल्युट्।

सीता—ये अत्यन्त प्रदर्शित स्नेहप्राचुर्य वाले, आनन्दस्रावी, अमृतमय आर्यपुत्र के तीव्र विलाप हैं, जिनके ज्ञान अथवा विश्वास से अकारण निर्वासन रूप शल्य से युक्त होकर भी मेरा जन्म लेना श्लाघ्य है।

राम—अथवा (यहाँ) प्रियतमा (सीता) कहाँ से (आयी)? निश्चय ही यह रामभद्र का (अर्थात् मेरा) भ्रम है, जिसका उत्पत्ति कारण (मेरे) सीता-विषयक चिन्तन की बार-बार आवृत्ति से उत्पन्न (मेरा) कल्पना-नैपुण्य (ही) है।

सङ्कल्पाभ्यासपाटवोपादानो···भ्रमः—पहले रामचन्द्र ने समझा कि सीता जी ने ही उन्हें स्पर्श किया, किन्तु इधर-उधर खोजने पर भी जब उन्हें सीता जी नहीं दिखलायी पड़ी तब उन्होंने सोचा कि उन्हें ऐसा भ्रम इस कारण हुआ कि वे निरन्तर सीताजी का चिन्तन किया करते हैं। किसी पदार्थ का निरन्तर चिन्तन करते रहने से कभी-कभी ऐसा भ्रम हो जाता है कि वह पदार्थ सामने उपस्थित मालूम पड़ता है, जब कि वस्तुतः वह रहता नहीं।

(नेपथ्ये)

अहो महान् प्रमादः प्रमादः। ('सीतादेव्या स्वकरकलितैः' इत्यर्धं पठ्यते।)

रामः—(सकरुणौत्सुक्यम्) किं तस्य ?

(पुनर्नेपथ्ये 'वध्वा सार्धं' इत्युत्तरार्द्धं पठ्यते।)

सीता—को दाणिं अहि उज्जिस्सदि ? [क इदानीमभियोक्ष्यते ?]

रामः—क्वासौ क्वासौ दुरात्मा यः प्रियायाः पुत्रकं वधूद्वितीयमभिभवति।

(इत्युत्तिष्ठति)।

अयम्भावः—सीतामदृष्ट्वा सीताऽरण्ये व्याघ्रादिना भक्षितेति मत्वा समागते रामः—अत्र प्रियतमा सीता कुतः सम्भवति ? असम्भविष्यच्चेत्तर्हि साऽवश्यमेवाद्रक्ष्यत। नूनं निश्चयेन सङ्कल्पस्य सीताविषयकचिन्तनस्य योऽभ्यासः पुनः पुनरावृत्तिस्तस्मात्सञ्जातं यद् पाटवं कल्पनाप्रवणत्वम्, तदेवोपादानम् उत्पत्तिकारणं यस्य तथाविधः एष सीताकरस्पर्शानुभवः, रामभद्रस्य मम भ्रमः। अनिशं सीतानुध्यानपरायणतयाऽहमेतावान् कल्पनाप्रवणो जातो यत्सीता मामस्प्राक्षीदिति मे प्रतीतिरभूत्, वस्तुतस्तु न मम भ्रान्तिरेवेति रामोक्तेराशयः।

अहो इति। प्रमादः = अनवधानता विपत्तिः वा।

रामः—सकरुणौत्सुक्यम्—करुणया = दयया, औत्सुक्येन = उत्कण्ठया च सहितं यथा तथा।

सीता—अभियोक्ष्यते = अभियोगं करिष्यति।

रामः—मत्पोषितकलभरक्षणाय कः प्रतिगजमाक्रमिष्यति ? वधूद्वितीयम् = पत्नीसमेतम्। अभिभवति = आक्रामति। सम्भ्रान्ता = त्वरासहिता सीतायाः पुत्रकलभस्य रक्षार्थमिति भावः।

अयम्भावः—नेपथ्ये वासन्ती 'सीतादेव्या स्वकरकलितैः' प्रागुक्तपद्यश्लोकस्यार्धं पठति। तच्छ्रुत्वा करुणयोत्कण्ठया च सहितं राम आह—तस्य किमभूत् ? पुनः नेपथ्ये—'वध्वा सार्धम्' इत्युत्तरार्द्धं वासन्त्या पठ्यते। सीता ततो रामोक्तिं श्रुत्वा वदति—क इदानीमभियोक्ष्यते ? मत्पोषितकलभरक्षणाय कः प्रतिगजमाक्रमिष्यतीति

(नेपथ्य में)

अहो बड़ी विपत्ति है, विपत्ति है। ('सीतादेव्या स्वकरकलितैः' इस प्रकार श्लोक का आधा भाग पढ़ा जाता है।)

राम—(करुणा और उत्कण्ठा के साथ) उसको क्या हुआ ?

(पुनः नेपथ्य में 'वध्वा सार्धं' ऐसा श्लोक का उत्तरार्द्ध भाग पढ़ा जाता है)

सीता—कौन इस समय (मेरे पुत्र की रक्षा के लिए) आक्रमण करेगा ?

राम—कहाँ है, कहाँ है वह दुष्ट (गज), जो प्रिया के सपत्नीक कृत्रिम पुत्र को आक्रान्त कर रहा है ?

(ऐसा कहकर उठ पड़ते हैं)

(प्रविश्य)

वासन्ती—(सम्भ्रान्ता) कथं देवो रघुनन्दनः ?

सीता—हा कहं मे पिअसही वासंती ? [हा कथं मे प्रियसखी वासन्ती ?]

वासन्ती—जयतु जयतु देवः ।

रामः—(निरूप्य) कथं देव्याः प्रियसखी वासन्ती ?

वासन्ती—देव ! त्वर्यतां त्वर्यताम् । इतो जटायुशिखरस्य दक्षिणेन सीतातीर्थेन गोदावरीमवतीर्य सम्भावयतु देव्याः पुत्रकं देवः ।

सीता—हा ताद जटाओ सुण्णं तुए विना इदं जणट्ठाणम् । [हा तात जटायो ! शून्यं त्वया विनेदं जनस्थानम् ।]

तदुक्तेरर्थः । ततो रामः कथयति—असौ दुष्टः कुत्र, कुत्रास्ति (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः) यः प्रियायाः सपत्नीकं पुत्रमाक्रामति ? इत्युक्त्वाऽऽक्रमणार्थमुत्तिष्ठति ।

वासन्ती—त्वर्यताम् = त्वरा क्रियताम्; सम्भ्रमे द्विरुक्तिः । इतः = अस्मात् स्थानात् । जटायुशिखरस्य = जटायुनाऽध्युषितस्य शृङ्गस्य । दक्षिणेन = दक्षिणस्यां दिशि (स्थितेन) । सीतातीर्थेन—सीतायाः तीर्थः = जलावतारः तेन । गोदावरीम् अवतीर्य = प्रविश्य । सम्भावयतु = सम्मानयतु, साहाय्यप्रदानेन तमनुगृह्णातु । पुत्रकम् = कृत्रिमं पुत्रम्, गजशावकमिति भावः ।

त्वर्यताम्—त्वर (सम्भ्रमे) धातु से भाव में लोट् । जटायुशिखरस्य दक्षिणेन—'दक्षिणेन' शब्द एनप्प्रत्ययान्त है । इसके योग में 'एनपा द्वितीया' सूत्र में 'एनपा' ऐसा योग-विभाग करके 'जटायुशिखरस्य' में षष्ठी हुई है । अवतीर्य—अव + √तॄ + ल्यप् । त्वया विना—'विना' के योग में 'त्वया' में तृतीया है ('पृथग्विना-नानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' २।३।३२) ।

(प्रवेश कर)

वासन्ती—(**घबड़ायी हुई**) क्या महाराज रघुनन्दन (राम हैं) ?

सीता—हा, क्या मेरी प्रियसखी वासन्ती (है) ?

वासन्ती—महाराज की जय हो, जय हो ।

राम—(**देखकर**) क्या देवी (सीता) की प्रियसखी वासन्ती है ?

वासन्ती—महाराज ! शीघ्रता की जाय, शीघ्रता की जाय । यहाँ से जटायुशिखर के दक्षिण (स्थित) सीता घाट से गोदावरी में उतर कर देवी (सीता) के कृतकपुत्र को (बचा कर) सम्मान दें ।

सीता—हा तात जटायो ! तुम्हारे बिना यह जनस्थान सूना (लग रहा) है ।

यहाँ यह अवधेय है कि वासन्ती और राम को न तो सीता दिखलायी पड़ रही है और न उसका संवाद ही उन्हें सुनायी दे रहा है, ऐसा गङ्गा जी के प्रभाव से हो रहा है ।

जटायुशिखरस्य—उस शिखर पर जटायु के निवास करने के कारण उसे जटायुशिखर कहते थे । जटायु शब्द यहाँ कवि के द्वारा उकारान्त रूप में प्रयुक्त किया गया है । यह शब्द षान्त (जटायुष्) भी प्रयुक्त मिलता है ।

रामः—अहह !! हृदयमर्मच्छिदः खल्वमी कथोद्घाताः।

वासन्ती—इत इतो देवः।

सीता—भअवदि, सच्चं एव्व वणदेवदा पि मं न पेक्खंदि। [भगवति ! सत्यमेव वनदेवता अपि मां न प्रेक्षन्ते।]

तमसा—अयि वत्से ! सर्वदेवताभ्यः प्रकृष्टतममैश्वर्यं मन्दाकिनीदेव्यास्तत् किमित्याशङ्कसे ?

रामः—हृदयमर्मच्छिदः—हृदयस्य मर्माणि = जीवनस्थानानि, छिन्दन्तीति तथोक्ताः। कथोद्घाताः = पुरावृत्तोपन्यासाः।

अयम्भावः—वासन्ती गजशावकरक्षार्थं रामं त्वरयन्ती प्राह—महाराजोऽस्मात् स्थानाद् दक्षिणस्यां दिशि स्थितेन सीताजलावतरणमार्गेण गोदावरीं प्रविश्य तं गजशावकं परित्राणेन सम्मानयतु। एतद्वासन्तीवचनं श्रुत्वा सीता रामश्च परिखेदं गतः। तत्र सीता प्राह—हा तात जटायो ! त्वया विरहितं जनस्थानमिदं शून्यमिव प्रतिभाति। रामोऽप्याह—नियतमेते पुरावृत्तोपन्यासा हृदयस्य मर्मस्थलानि छिन्दन्ति। जटायु-प्रभृतीनां शब्दानां श्रवणेन महती वेदना हृदये जायत इति तदुक्तेराशयः। वासन्ती च 'इत इतो देवः' इति मार्गं निर्दिशति।

सीता—वनदेवताः = वासन्तीप्रभृतयः। न प्रेक्षन्ते = न पश्यन्ति।

तमसा—प्रकृष्टतमम् = अतिशयेन प्रकृष्टम्, उत्कृष्टतममित्यर्थः। तत् = तस्माद्

हृदयमर्मच्छिदः—हृदयमर्माणि छिन्दन्ति ये ते तथोक्ताः। √छिद् + क्विप्। उद्घातः—उद् + √हन् + घञ्।

सर्वदेवताभ्यः—'पञ्चमी विभक्ते' (२।३।४२) से पञ्चमी। प्रकृष्टतमम्—यहाँ वास्तव में अन्य देवताओं के ऐश्वर्य की अपेक्षा गङ्गा के ऐश्वर्य का प्रकर्ष दिखलाया गया है, अतः 'तरप्' प्रत्यय जोड़ना चाहिए, तमप् नहीं।

राम—अहह !! निश्चय ही ये कथाप्रसङ्ग हृदय के मर्मस्थल को बेधने वाले हैं।

वासन्ती—महाराज ! इस ओर से, इस ओर से (चलें)।

सीता—भगवति (तमसे) ! सचमुच ही वनदेवताएँ भी मुझे नहीं देख रही हैं।

तमसा—अरी बेटी, गङ्गाजी का ऐश्वर्य सभी देवताओं से बढ़ा चढ़ा है, तो क्यों शङ्का करती हो ?

तात जटायो—जटायु सीता के श्वसुर दशरथ का मित्र था। उसने रावण द्वारा सीता का हरण होते समय सीता को रावण के चंगुल से छुड़ाने में अपने प्राण दे दिये थे। अतः सीता ने उसे स्मरण करते हुए तात शब्द से सम्बोधित किया।

सीतातीर्थेन—नदी में उतरने का स्थान (घाट) तीर्थ कहलाता है। सीता जी जिस स्थान पर गोदावरी में स्नानार्थ उतरा करती थीं, उसका नाम 'सीता तीर्थ' पड़ गया था।

यहाँ सीता और तमसा की उक्ति-प्रत्युक्ति से कथावस्तु में स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न किया गया है। प्रेक्षकों को जब यह मालूम हो जाता है कि मन्दाकिनी के प्रभाव से रामचन्द्र तथा वासन्ती आदि सीता जी को देख नहीं रहे हैं, तब सीताजी की उपस्थिति में ही उनके नाम से राम का रोना-धोना प्रेक्षकों के लिए विचित्र नहीं रह जाता है।

सीता—तदो अणुसरम्ह । [ततोऽनुसरावः ।] (इति परिक्रामति)

रामः—भगवति गोदावरि ! नमस्ते ।

वासन्ती—(निरूप्य) देव ! मोदस्व विजयिना वधूद्वितीयेन देव्याः पुत्रकेण ।

रामः—विजयतामायुष्मान् ।

सीता—अम्हहे ईदिसो मे पुत्तओ संवुत्तो । [अहो ! ईदृशो मे पुत्रकः संवृत्तः ।]

हेतोः । किमिति = किमर्थम् । आशङ्कसे = आर्यपुत्रवासन्तीप्रभृतयो मां पश्येयुरिति शङ्कां करोषीति भावः ।

सीता—ततः = तस्माद्धेतोः, अदृश्यत्वादिति भावः । अनुसरावः = आर्यपुत्र-वासन्त्योः पश्चाद् गच्छावः । (इत्युक्त्वा परिक्रामति)

अयम्भावः—सत्यमेव वासन्तीप्रभृतयो वनदेवता अपि मां न पश्यन्तीति सीतोक्ति-माकर्ण्य तमसा सीतामाह—वत्से ! सर्वाभ्यो देवताभ्यो गङ्गादेव्या ऐश्वर्यं प्रकृष्ट-तमं तत्त्वं किमिति गङ्गावचने शङ्कां करोषि ? ततः सीताऽवदत्—अदृश्यत्वादावां निःशङ्कमार्यपुत्रवासन्त्योः पश्चाद् गच्छावः ।

गोदावरीं नमस्कुर्वन्तं रामं निरूप्य = दृष्ट्वा, वासन्ती कथयति—देव ! = महाराज ! विजयिना = उद्दामद्विरदपतिपराभवकारिणा, वधूद्वितीयेन = भार्यान्वितेन, सीतादेव्याः पुत्रकेण = कृतकपुत्रेण, मोदस्व = हृष्टो भव, हर्षमनुभव ।

रामस्तदुक्तिं श्रुत्वा कथयति—आयुष्मानयं विजयताम् ।

सीताऽपि स्वकृतकपुत्रस्य विजयं विज्ञाय साश्चर्यं कथयति—अहो ! मम पुत्रकः ईदृशो बलशाली महाकायः संवृत्तः = सञ्जातः ।

सीता—तब हम (दोनों) अनुसरण करें ।

(ऐसा कहकर घूमती है)

राम—भगवति गोदावरि ! तुम्हें नमस्कार है ।

वासन्ती—(देखकर) महाराज ! सपत्नीक विजयी, देवी (सीता) के कृत्रिमपुत्र से आनन्दित हों ।

राम—आयुष्मान् ! सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त करे ।

सीता—अहो ! मेरा पुत्रक ऐसा (बलशाली और महाकाय) हो गया ।

यहाँ यह अवधेय है कि इस गजशावक की कथा की अवतारणा में कवि का उद्देश्य लव-कुश की ओर संकेत करना है ।

विजयिना—विजयोऽस्त्यस्येति विजयी, तेन । विजय+इनि (मत्वर्थे) ।

विजयताम्—वि+√जि+लोट् । 'विपराभ्यां जेः' के अनुसार 'वि' उपसर्गपूर्वक 'जि' धातु आत्मनेपदी हो जाता है ।

आयुष्मान्—प्रशस्तमायुरस्त्यस्येत्यायुष्मान् । आयुस्+मतुप् (प्राशस्त्य के अर्थ में) ।

रामः—हा देवि ! दिष्ट्या वर्धसे ।

येनोद्गच्छद्बिसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण
व्याकृष्टस्ते सुतनु ! लवलीपल्लवः कर्णमूलात् ।
सोऽयं पुत्रस्तव मदमुचां वारणानां विजेता
यत्कल्याणं वयसि तरुणे भाजनं तस्य जातः ॥ १५ ॥

रामः—हा देवि = सीते ! दिष्टया = भाग्येन वर्धसे ।

अन्वयः—सुतनु ! उद्गच्छद्बिसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण येन ते कर्णमूलात् लवलीपल्लवः व्याकृष्टः, मदमुचां वारणानां विजेता सोऽयं तव पुत्रः तरुणे वयसि यत् कल्याणं तस्य भाजनं जातः ॥ १५ ॥

येनोद्गच्छदिति । सुतनु—शोभना तनूः = शरीरं यस्याः सा सुतनूः, तत्सम्बुद्धौ हे सुतनु = हे सुन्दरि ! ('स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः) । उद्गच्छद्बिसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण—बिसकिसलये = मृणालपल्लवौ ('मृणालं बिसम्' इति 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इति चामरः ।) तद्वत् स्निग्धौ=मसृणौ ('उपमानानि सामान्यवचनैः' इति समासः) । उद्गच्छन्तौ=प्ररोहन्तौ, बिसकिसलयस्निग्धौ दन्ताङ्कुरौ यस्य तेन । येन = गजशावकेनेत्यर्थः । ते = तव, सीताया इत्यर्थः । कर्णमूलात् = श्रवणान्तिकात् । 'कर्णपूरात्' इति पाठे लवलीपत्रनिर्मितात् कर्णाभरणात् इत्यर्थः । लवलीपल्लवः = लवलीलतायाः किसलयः, अवतंसतया प्रयुक्त इति भावः । व्याकृष्टः = शुण्डादण्डेन

स्निग्धः = √स्निह् + क्त । व्याकृष्टः—वि + आ + √कृष् + क्त (कर्मणि) सुतनु—यहाँ शरीरार्थक स्त्रीलिङ्ग 'तनू' शब्द का प्रयोग है—शोभना तनूः यस्याः सा सुतनूः, सम्बोधन में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' से ह्रस्व होकर 'सुतनु' बना है । तनू शब्द की 'यूस्त्र्याख्यौ नदी' के अनुसार नदी संज्ञा है, अतः बहुव्रीहि समास में 'नद्यृतश्च' सूत्र के अनुसार समासान्त 'कप्' प्रत्यय होना चाहिए था, किन्तु समासान्त विधि के अनित्य होने के कारण वैसा नहीं हो सका । मदमुचाम्—मदं मुञ्चन्तीति मदमुचस्तेषाम् । मद + √मुच् + क्विप् । विजेता—वि + √जि + तृच् । (कर्तरि) । भाजनम्—भाजन शब्द नपुंसकलिङ्ग है । यह विधेय में आने के कारण पुंलिङ्ग पुत्र का विशेषण होने पर भी अपने लिङ्ग को नहीं छोड़ता है । जातः—√जन् + क्त ।

राम—हा देवि ! भाग्य से तुम बढ़ रही हो (अर्थात् तुम्हें बधाई है)

(पूर्वकाल में) सुन्दरि ! मृणालकिसलय के समान स्निग्ध निकलते हुए दाँतों वाले जिस (गजशावक) ने तुम्हारे कर्ण-प्रदेश से (अवतंसरूप से धारण किये गये) लवलीलता का पल्लव (अपनी सूँड़ से) खींच लिया था, वही यह तुम्हारा मतगजों का विजेता पुत्र (गजशावक) युवावस्था में जो कल्याण (अर्थात् समृद्धि) चाहिए, उसका पात्र हो चुका है ।

'दिष्ट्या वर्धसे'—'दिष्ट्या √वृध्' का अर्थ होता है बधाई देना । अतः 'दिष्ट्या वर्धसे' का हिन्दी अनुवाद होना चाहिए—तुम्हें बधाई है ।

सीता—अविउत्तो दाणि अअं दीहाऊ इमाए सोम्मदंसणाए होदु। [अवियुक्त इदानीमयं दीर्घायुरनया सौम्यदर्शनया भवतु।]

रामः—सखि वासन्ति! पश्य पश्य कान्तानुवृत्तिचातुर्यमपि शिक्षितं वत्सेन।

लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादिताः
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसङ्क्रान्तयः।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुन-
र्यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम्॥ १६॥

गृहीतः। मदमुचाम् = मदजलस्राविणाम्, मत्तानामित्यर्थः। वारणानाम् = गजानाम्। विजेता = विजयकर्त्ता। तरुणे वयसि = यौवने। कल्याणम् = मङ्गलसाधनम्, महाबलशालित्वं वध्वाऽनुगम्यमानत्वं च ('अपेक्ष्यते' इति शेषः) तस्य = कल्याणस्य। भाजनम् = पात्रम्। दीर्घायुः = आयुष्मान्। सौम्यदर्शनया—सौम्यम् = प्रियं, दर्शनं यस्यास्तया = स्वभार्यया करिण्येत्यर्थः। अवियुक्तः = अविरहितः। भवतु = भूयात्।

अयम्भावः—हा देवि! दिष्टया वर्धसे यतोऽयं तव पोषितो गजशावकोऽद्येदृशः सञ्जातः। प्ररोहन्तौ मृणालकिसलयाविव स्निग्धौ मसृणौ कोमलौ च दन्ताङ्कुरौ यस्य तेन, येन तव पुत्रेण, हे सुन्दरि! तव कर्णान्तिकात् अवतंसत्वेन धृतो लवलीलतायाः पल्लवः स्वकरेणाकृष्य पूर्वं गृहीतः सोऽयं मत्तगजानां विजेता तव पुत्रको यौवने यत्कल्याणं मङ्गलसाधनमपेक्ष्यते तस्य पात्रं सञ्जातः। यौवने महाबलशालित्वं वधूसाहाय्यं चापेक्ष्यते, अयमपि महाबलो वधूसहायश्च सञ्जात इत्याशयः। उपमाऽलङ्कारः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम्॥ १५॥

रामः—कान्तानुवृत्तिचातुर्यम्—कान्तायाः = प्रियायाः, स्वकरेणुकाया इति भावः, अनुवृत्तिः = चित्तरञ्जनम्, तत्र चातुर्यम् = नैपुण्यम्। वत्सेन = प्रियायाः पुत्रकेण गजकलभेन।

अवियुक्तः—न वियुक्तः। वि + √युज् + क्त।

चातुर्यम्—चतुरस्य भावः, चतुर + ष्यञ्। उत्खातः—उद + √खन् + क्त

सीता—अब यह दीर्घायु (अपनी) इस प्रियदर्शना (भार्या) से अविरहित होवे—कभी वियुक्त न होवे।

राम—सखी वासन्ती! देखो, देखो, बच्चे ने प्रिया के चित्त को रंजित करने की कला भी सीख ली है। क्योंकि—

अवियुक्त इदानीमयं ...... भवतु—सीता वियोग-वेदना का स्वयम् अनुभव कर चुकी है, अतः वे चाहती हैं कि संसार का कोई प्राणी वियोग का वह कष्ट न भोगे, जो उन्हें अथवा राम को भुगतना पड़ रहा है।

यह पद्य मालतीमाधव के नवें अङ्क में ३४वें श्लोक के रूप में भी आया है। वहाँ 'यत्' के स्थान पर 'न' है, बस केवल इतना भेद है।

सीता—भअवदि तमसे ! अयं दाव ईदिसो जादो । दे उण ण जाणामि कुसलवा एत्तिएण कालेण कीरिसा संवुत्तेत्ति । [भगवति तमसे ! अयं तावदीदृशो जातः । तौ पुनर्न जानामि कुशलवावेतावता कालेन कीदृशौ संवृत्ताविति ।]

अन्वयः—यत् स्नेहात् लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसः गण्डूषसङ्क्रान्तयः सम्पादिताः, शीकरिणा करेण कामं सेकः विहितः, पुनः विरामे अनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ॥ १६ ॥

लीलोत्खातेति । यत् = यस्मात् । स्नेहात् = अनुरागातिशयाद्धेतोः । लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु—लीलया = क्रीडारसेन, उत्खाताः = उद्धृताः, मृणालकाण्डाः = विसदण्डाः, ते एव कवलाः = ग्रासाः, तेषां छेदेषु = अवसानेषु (सत्सु), भावे सप्तमी । पुष्यत्पुष्करवासितस्य—पुष्यद्भिः = पुष्टिं गच्छद्भिः, विकसद्भिरिति यावत्, पुष्यद्भिरिति पाठेऽप्ययमेवार्थः, पुष्करैः = कमलैः, वासितस्य = सुरभीकृतस्य । पयसः = जलस्य । गण्डूषसङ्क्रान्तयः—गण्डूषाः = मुखपूरितजलांशाः, तेषां सङ्क्रान्तयः = सञ्चाराः । सम्पादिताः = कृताः । शीकरिणा = जलबिन्दुयुक्तेन । करेण = शुण्डादण्डेन । कामम् = यथेष्टम् । सेकः = सेचनम् । विहितः = कृतः । पुनः = भूयः । विरामे = अन्ते । अनरालनाल०—अनरालम् = अवक्रम्, सरलमित्यर्थः, नालम् = कमलदण्डो यस्य, एतादृशं यत् नलिनीपत्रम् = कमलपत्रं, तदेव आतपत्रम् = छत्रम् । धृतम् = आतपनिवारणार्थं प्रियायाः शिरसि विततमित्यर्थः ।

अयम्भावः—अयं प्रियायाः पुत्रकः करिकलभः स्वकरेणुकायाश्चित्तरञ्जनेऽपि निपुणः सञ्जातः । तथाहि—क्रीडारसेनानुरागातिशयान्मृणालदण्डानुत्पाट्य तन्मयग्रासा भक्षणार्थं प्रियायै दत्ताः । तेषामवसानेषु सत्सु विकसद्भिः कमलैः सुरभीकृतस्य जलस्य गण्डूषा अपि दत्ताः । एवं जलकणयुक्तेन शुण्डादण्डेन प्रियाया यथेष्टं सेचनं कृतम् । भूयोऽन्ते प्रियाया आतपनिवारणार्थं सरलनालयुक्तकमलपत्ररूपं छत्रं तच्छिरसि विततमिति भावः ।

अत्र स्वरूपतः कलभदम्पत्योस्तदानीन्तनावस्थावर्णनात् स्वभावोक्तिरलङ्कारः, तथा नलिनीपत्रस्यातपत्रस्वरूपतयोपवर्णनाद्रूपकालङ्कारश्चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १६ ॥

(कर्मणि) । सम्पादिताः—सम् + √पद् + णिच् + क्त (कर्मणि) । पुष्यत्—√पुष् + शतृ । संक्रान्तिः—सम् + √क्रम् + क्तिन् । सेकः—√सिच् + घञ् । विहितः—वि + √धा + क्त । शीकरिणा—शीकर + इनि (मतुबर्थक) ।

स्नेहवश (पहले तो इसने) क्रीडा का रस लेने के निमित्त उखाड़े गये कमलदण्डों के ग्रासों के समाप्त हो जाने पर खिले हुए कमलों से सुवासित जल को (अपने) मुँह में भर कर (प्रिया के मुख में) छोड़ा (पिलाया) । तदनन्तर जलकणों से पूर्ण सूँड द्वारा उसे पर्याप्त सिक्त किया—नहलाया और फिर अन्त में, एक सीधी नाल वाले कमलपत्र रूप छत्र को (धूप के निवारणार्थ प्रिया के सिर पर) तान दिया ॥ १६ ॥

तमसा—यादृशोऽयं तादृशौ तावपि।

सीता—ईदिसी अहं मंदभाइणी जाएण केवलं णिस्सहो अज्जउत्तविरहो पुत्तविरहो वि। [ईदृश्यहं मन्दभागिनी यस्या न केवलं निःसह आर्यपुत्रविरहः पुत्रविरहोऽपि।]

तमसा—भवितव्यतेयमीदृशी।

सीता—किं वा मए पसूदाए जेण तादिसं वि मह पुत्तआणं ईसि विरल-कोमलधवलदसणुज्जलकपोलं अणुबद्धमुद्धकाअलीविहसिदं णिबद्धकाकसिहंडअं अमलमुहपुंडरीअजुअलं ण परिचुम्बिअं अज्जउत्तेण। [किं वा मया प्रसूतया येन तादृशमपि मम पुत्रकयोरीषद्विरलकोमलधवलदशनोज्ज्वलकपोलमनुबद्धमुग्धकाकली-

---

करिकलभं विलोक्य कुशलवौ विचिन्तयन्ती सीता तमसामाह—भगवतीति। भगवति तमसे! अयं=गजकलभस्तु, तावदीदृशः=तारुण्येन बलेन च सम्पन्नो जातः, किन्तु कुशलवौ न जानामि, एतावता कालेन (द्वादशभिर्वर्षैः) कीदृशौ=किंविधौ, संवृत्तौ=सञ्जातौ; तारुण्येन बलेन च सम्पन्नौ जातौ न वेति भावः।

तमसा सीतां प्रत्यवदत्—'यादृशोऽयं गजशावकस्तारुण्येन बलेन च सम्पन्नो जातस्तादृशौ तौ=कुशलवावपि तारुण्यबलोपेतौ भवेताम्।' इति।

सीता—स्वदुर्भाग्यं भर्त्सयन्ती तमसां प्राह—अहमीदृशी मन्दभागिन्यस्मि, यस्या न केवलमार्यपुत्रविरहः=असह्यः पतिवियोगः, श्रीरामवियोग इति भावः; पुत्रवियोगोऽपि सञ्जातः।

तमसा—'भवितव्यता=भाग्यमेवेयमीदृशी' इत्युक्त्वा सीतामाश्वासयति।

सीता—वा=अथवा। प्रसूतया=प्रसवकर्त्र्या। मया किम्=मम पुत्रोत्पादनं निष्फलमित्यर्थः। येन=कारणेन। पुत्रकयोः=अनुकम्पितपुत्रयोः (कुशलवयोः)

एतावता—एतत् परिमाणमस्येति विग्रहे एतद्+वतुप्—एतावत्; एतावत्+टा (तृतीया एकवचन) एतावता। निःसहः—निस्+√सह्+खल्। भवितव्यता—भवितव्य+तल्+टाप्।

प्रसूतया—प्रसूता शब्द का तृतीयैकवचनान्त रूप है। प्रसूता शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है—(१) प्रसूत (भावे क्तः) विद्यतेऽस्या इति

सीता—हे भगवति तमसे! यह (गजशावक) ऐसा (बड़ा तथा बलवान्) हो गया है, नहीं मालूम कि इतने समय में वे कुश और लव कैसे (कितने बड़े) हुए होंगे?

तमसा—जैसा यह (हो चुका) है, वैसे ही वे भी (हुए होंगे)।

सीता—मैं ऐसी मन्दभागिनी हूँ, जिसको न केवल असह्य पति विरह ही हुआ है, (अपि तु) पुत्र-विरह भी।

तमसा—यह होनी ही ऐसी (थी)।

सीता—अथवा मुझ प्रसवकारिणी से क्या? जो मेरे उन दोनों अनुकम्पनीय पुत्रों के, ऐसे भी थोड़े-थोड़े विरल, कोमल एवं शुभ्र दाँतों से कान्तिमान् कपोलों से युक्त, सर्वदा सम्बद्ध मनोमोहक

विहसितं निबद्धकाकशिखण्डकम् अमलमुखपुण्डरीकयुगलं न परिचुम्बितमार्यपुत्रेण ।]

तमसा—अस्तु देवताप्रसादात् ।

'अनुकम्पायाम्' इति कन् । ईषद्विरल०—ईषद्विरला: = अनतिनिबिडा: कोमला: धवला: = शुभ्राश्च ये दशना: = दन्ता: तै: उज्ज्वलौ = कान्तिमन्तौ, कपोलौ यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । अनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितम्—काकली = मधुराऽस्फुटितध्वनि:, सा च विहसितम् = मधुरहास्यं चेति काकलीविहसिते । अनुबद्धे = निरन्तरं सम्बद्धे, मुग्धे = मनोहरे, काकलीविहसिते यत्र तत् । ('काकली तु कले सूक्ष्मे, ध्वनौ तु मधुराऽस्फुटे' इत्यमरः) । निबद्धकाकशिखण्डकम्—निबद्धा: = धृता:, काकशिखण्डका: = काकपक्षा: येन तत् । अमलमुखपुण्डरीकयुगलम् = निर्मलमुखकमलद्वयम् । परिचुम्बितम् = सम्यक् चुम्बितम् । आर्यपुत्रेण = रामेण ।

अयम्भाव:—पतिपुत्रविरहखिन्ना सीतादेवी तमसां प्रत्याह—मम पुत्रोत्पादनमेव निष्फलम्, यतो मम पुत्रयोर्मुखकमलद्वयमपि किञ्चिद्विरलकोमलशुभ्रदन्तै: कान्तिमत्कपोलोपेतम्, निरन्तरकाकलीमधुरहास्ययुक्तं काकपक्षधारकमार्यपुत्रेण न परिचुम्बितम् । पतिकर्तृकपुत्रमुखपरिचुम्बनेनैव पत्न्या: प्रसूतत्वं सफलमन्यथा तु विफलमेवेति भाव: ।

तथा सन्तप्तां सीतां **तमसा**ऽऽश्वासयति—देवताप्रसादात् = गङ्गापृथिव्यादीनां देवतानामनुग्रहाद्रामेण त्वत्पुत्रमुखकमलं परिचुम्बितम्, अस्तु = स्तात्, भूयात्, शीघ्रमेव पतिपुत्रवियोग: संयोगे परिणतो भूयादिति ममाशी: । आशिषि लोट्, वैकल्पिकत्वात् तातङभाव: ।

प्रसूता । प्रसूत (भाववाचक) शब्द से 'अर्शआदिभ्योऽच्' से मतुबर्थक अच् प्रत्यय—प्रसूत + अ; अब 'यस्येति च' सूत्र से तकारोत्तरवर्ती 'अ' का लोप—प्रसूत् + अ = प्रसूत । अब स्त्रीलिंग में टाप् (आ) करने से 'प्रसूता' शब्द बना । (२) 'सू' धातु के कर्म की अविवक्षा होने से अकर्मक मानकर उससे कर्ता के अर्थ में 'क्त' प्रत्यय और 'टाप्' लगा कर भी 'प्रसूता' शब्द की निष्पत्ति होती है । उज्ज्वल:—उद् + √ज्वल् + अच् । अनुबद्ध: अनु + √बन्ध् + क्त । मुग्ध:—√मुह् + क्त । विहसितम्—वि + √हस् + क्त (भावे) ।

तोतली बोली एवं मधुर हास वाले, नित्य प्रकाशमान मुखकमलद्वय का आर्यपुत्र ने परिचुम्बन (ही) नहीं किया ।

तमसा—देवताओं के अनुग्रह से (ऐसा ही) हो ।

न परिचुम्बितमार्यपुत्रेण—पति को पुत्र का मुख चूमते देखकर पत्नी को जो आनन्द का अनुभव होता है, उससे वह अपने को धन्य समझती है तथा प्रसवकाल के सारे कष्टों को भूलकर पुत्रोत्पादन को सफल मानती है । सीताजी को यह अनुभव करने का सदवसर नहीं मिला, अत एव वे पुत्रोत्पादन को निष्फल मान रही हैं ।

सीता—भअवदि तमसे ! एदिणा अवच्चसंसुमरणेण उस्ससिदपण्हुदत्थणी दाणिं वच्चाणं पिदुणो संणिहाणेण खणमेत्तं संसारिणीम्हि संवुत्ता । [भगवति तमसे ! एतेनापत्यसंस्मरणेनोच्छ्वसितप्रस्नुतस्तनी इदानीं वत्सयोःपितुः सन्निधानेन क्षणमात्रं संसारिण्यस्मि संवृत्ता ।]

तमसा—किमत्रोच्यते ? प्रसवः खलु प्रकर्षपर्यन्तः स्नेहस्य । परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः ।

सीता—अपत्यसंस्मरणेन—अपत्ययोः = पुत्रयोः, कुशलवयोरित्यर्थः, संस्मरणेन = ध्यानेन । उच्छ्वसितप्रस्नुतस्तनी—उच्छ्वसितौ = स्फीतौ, दुग्धागमनादिति भावः, प्रस्नुतौ = दुग्धनिष्यन्दिनौ, स्तनौ यस्याः तथाभूता । वत्सयोः पितुः—वत्सयोः = पुत्रयोः, पितुः = जनकस्य, रामचन्द्रस्येत्यर्थः । सन्निधानेन = समीपावस्थानेन । संसारिणी = गार्हस्थ्यसम्पन्ना ।

तमसा—प्रसवः = अपत्यम् । खलु = निश्चितम् । प्रकर्षपर्यन्तः—प्रकर्षस्य=अधिकस्य, पर्यन्तः = चरमसीमा । 'प्रकृष्टपर्यन्तः' इति पाठे 'सातिशयं परा कोटिः' इत्यर्थः ।

अयम्भावः—अपत्ययोः स्मरणेन श्रीरामस्य सन्निधानेन च सीता तमसायै स्वदशां निवेदयति—भगवति तमसे ! इदानीं पुत्रयोः कुशलवयोराध्यानेन हेतुना मम स्तनौ दुग्धागमात् स्फीतौ, दुग्धनिष्यन्दिनौ च जातौ, तथा तयोर्जनकस्य च सन्निधानेन मुहूर्तमात्रं पतिपुत्रवती गृहिणी सञ्जाताऽस्मि, अपत्यसंस्मरणेन पत्युः सन्निधानेन च गृहान्निर्वासिताऽपि क्षणमात्रं पतिपुत्रसुखमनुभवन्ती गृहिणी सञ्जाताऽस्मीति भावः ।

तमसाऽपत्यमाहात्म्यं सीतायै निवेदयति—अस्मिन् विषये किमु वक्तव्यम् । अपत्यं हि नाम वात्सल्यस्य पराकाष्ठा, अपि च पित्रोः जनन्याः जनकस्य च परस्परसंयोजन-

---

उच्छ्वसितः—उद् + √श्वस् + क्त । प्रस्नुतः -प्र + √स्नु + क्त (कर्तरि) । प्रसवः—प्रसूयते इति प्रसवः (अपत्यम्); प्र + √सू + क्त (कर्मणि) । संश्लेषणम् सम् + √श्लिष् + ल्युट् (करणे) । पित्रोः—माता च पिता च इति पितरौ, तयोः (एकशेषद्वन्द्व समास) ।

सीता—हे भगवति तमसे ! सन्तानों के इस स्मरण से उच्छ्वसित एवं दुग्धस्राव करने वाले स्तनों वाली मैं, बच्चों के पिता की समीप उपस्थिति से इस समय क्षण भर के लिए संसारिणी (पति-पुत्रवती गृहिणी) हो गयी हूँ ।

तमसा—इसमें क्या कहना है । निश्चय ही सन्तान वात्सल्य की पराकाष्ठा है और वह माता-पिता दोनों के परस्पर बन्धन का हेतु (भी) है ।

प्रकर्षपर्यन्तः—अपत्य के प्रति जितना बड़ा स्नेह होता है, उतना अन्य किसी के प्रति नहीं होता है । अतः अपत्य को स्नेह का प्रकर्षपर्यन्त (पराकाष्ठा) कहा गया है ।

परं च—'परम्' का अर्थ 'उत्कृष्ट' भी किया जा सकता है । तब यह शब्द 'संश्लेषण' का विशेषण होगा । संश्लेषण का अर्थ है—बाँधने का साधन ।

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते ॥ १७ ॥

वासन्ती—इतोऽपि देवः पश्यतु—

साधनम्, द्वयोर्हृदययोर्बन्धनग्रन्थिरिव भवति । तत्क्षणमात्रं संसारिणीदानीं संवृत्ताऽस्मीति त्वदुक्तिः समुचितैवेति भावः ।

अन्वयः—दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् अन्तःकरणतत्त्वस्य 'अपत्यम्' इति अयम् एकः आनन्दग्रन्थिः बध्यते ॥ १७ ॥

तमसा प्रागुक्तां स्वोक्तिं निरूपयति—अन्तःकरणतत्त्वस्येति । दम्पत्योः—जाया च पतिश्चेति दम्पती, तयोः = जायापत्योः । अन्तःकरणतत्त्वस्य = हृदयवस्तुनः । स्नेहसंश्रयात्—स्नेहस्य = वात्सल्यस्य, संश्रयात् = एकास्पदत्वात् । एकः = अद्वितीयः, अनुपम इत्यर्थः । आनन्दग्रन्थिः = आनन्दमयग्रन्थिः ।

अयम्भावः—जायापत्योर्वात्सल्यस्यैकास्पदत्वात् तयोरन्तःकरणरूपतत्त्वस्य हृदयपदार्थस्येत्यर्थः, अपत्यं नाम अयमनुपम आनन्दमयग्रन्थिर्विधात्रा बध्यते । अपत्यं नाम सोऽनुपम आनन्दमयग्रन्थिर्येन दम्पत्योर्हृदयेऽन्योन्येन सम्बध्येते । तेन बन्धनेन नित्यमानन्द एव दम्पतीभ्यामनुभूयते न तु दुःखमिति तद्बन्धनस्य वैलक्षण्यमिति तदुक्तेराशयः । अत्रानन्दग्रन्थेरपत्यात्मकतया परिणमनात् परिणामालङ्कारः ॥ १७ ॥

अन्वयः—अचिरनिर्गतमुग्धलोलबर्हं यं ते प्रिया अनुदिवसम् अवर्धयत्, स एव शिखण्डी वधूसखः (सन्) कदम्बे उच्छिखः मणिमुकुट इव नदति ॥ १८ ॥

दम्पत्योः—जाया च पतिश्चेति दम्पती, तयोः । जाया शब्द के 'दम्' अथवा 'जम्' आदेश निपातन से होता है । पक्ष में 'जम्पती' और 'जायापती' भी होता है । बध्यते—√बन्ध् + लट् (कर्मणि) ।

दम्पती के स्नेह का आश्रय होने के कारण उनके अन्तःकरणरूप तत्त्व की 'अपत्य' इस प्रकार की अनुपम गाँठ (विधाता के द्वारा) बाँधी जाती है ॥ १७ ॥

वासन्ती—इधर भी महाराज देखें ।

स्नेहसंश्रयात्—पति और पत्नी का वात्सल्य अपत्य में केन्द्रित रहता है, अतः अपत्य उनके ह का आश्रय अर्थात् आस्पद होता है । उनका वह स्नेह सर्वथा वासना से अकलुषित रहता है।

आनन्दग्रन्थिः—पति-पत्नी का हृदय अपत्य से बँधा हुआ नित्य अलौकिक आनन्द का नुभव करता है, अतः अपत्य को आनन्दमयी गाँठ कहा गया । अपत्य पति-पत्नी के हृदय को ांधे रहने वाली वह अनुपम गाँठ (बन्धन) है, जिससे अन्य बन्धनों की तरह दुःख का अनुभव नहीं होता है, बल्कि नित्य नूतन आनन्द मिलता है । भवभूति ने अपत्य की भारतीय संस्कृति के अनुरूप वह परिभाषा प्रस्तुत की है, जिससे कवि की अपत्य-विषयक उच्च एवं पवित्र भावना अभिव्यक्त हो रही है । 'न पतति वंशो येनेत्यपत्यम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'अपत्य' वैसी उच्च एवं पवित्र भावना का विषय होने का अधिकार भी रखता है । बध्यते—पाठा०—पठ्यते = कहा जाता है ।

अनुदिवसमवर्धयत् प्रिया ते यमचिरनिर्गतमुग्धलोलबर्हम् ।
मणिमुकुट इवोच्छिखः कदम्बे नदति स एष वधूसखः शिखण्डी ॥ १८ ॥

सीता—(सकौतुकस्नेहास्रम्) एसो सो एसो सो [एष स एष सः]

रामः—मोदस्व वत्स ! मोदस्व ।

सीता—एव्वं होदु । [एवं भवतु ।]

रामः— भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः
प्रचलितचटुलभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या ।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानं
सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि ॥ १९ ॥

वासन्ती पुरा सीतापरिपालितं मयूरं द्रष्टुं रामं प्रेरयन्ती मयूरावस्थां वर्णयति—अनुदिवसमिति । अचिरनिर्गत०—अचिरम् = प्रत्यग्रम्, निर्गतम् = उद्भिन्नम्, मुग्धम् = मनोज्ञम्, लोलम् = चञ्चलम्, बर्हम् = पिच्छम्, यस्य तं तथोक्तम् । यम् = शिखण्डिनम् । ते = तव रामस्येत्यर्थः । प्रिया = सीता । अनुदिवसम् = दिवसे दिवसे, प्रतिदिनमित्यर्थः (वीप्सायामव्ययीभावः), अवर्धयत् = अपोषयत् । शिखण्डी = मयूरः । वधूसखः = सपत्नीकः । कदम्बे = कदम्बाख्ये वृक्षे । उच्छिखः—उद्गता शिखा = चूडा यस्य सः; मणिमुकुटपक्षे—उद्गताः शिखाः = किरणा यस्य सः । नदति = कूजति ।

वासन्तीकथनस्यायमभिप्रायः—महाराज ! इमं मयूरमितः पश्यतु । अयं मयूरस्त्वतिप्रियया सीतया पूर्वं परिपालित आसीत्, सम्प्रति सद्य एवास्य मनोज्ञं लोलं च पुच्छं निरगच्छत् तथा चास्य शिरसि चूडोदगच्छत्, यया युक्तोऽयं उद्गतकिरणयुक्तो मणिखचितमुकुट इव शोभायमानः कदम्बतरौ स्वप्रियया सह केकाध्वनिं करोति । उपमाऽलङ्कारः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ १८ ॥

शिखण्डी—शिखण्डः (शिखा) अस्त्यस्येति शिखण्डी; शिखण्ड + इनि ।
भ्रमिः—(स्त्री०) √भ्रम् + इ । आवृत्तिः—आ + √वृत् + क्तिन् (भावे) ।

नयी निकली हुई सुन्दर एवं चञ्चल पूँछ वाले जिस (मयूर) को तुम्हारी प्रिया ने प्रतिदिन पाला पोसा था, वही यह उद्गत चूडा वाला मयूर उद्गत किरण युक्त मणिमुकुट के समान (लगता हुआ) कदम्ब वृक्ष पर अपनी वधू (मयूरी) के सहित बोल रहा है।

सीता—(कुतूहल तथा प्रेमाश्रु के साथ) यह वही है, यह वही है ।

राम—मुदित रहो बच्चे, मुदित रहो ।

सीता—ऐसा ही हो ।

राम—(तेरे द्वारा किये गये) चक्राकार भ्रमणों में (उसका अनुवर्तन करने के कारण) पलकों के भीतर किये गये मण्डलाकार आवर्तन वाले नेत्रों को चञ्चल एवं सुन्दर भौंहों के नर्तन

'अतरुणमदताण्डवोत्सवान्तेष्वयमचिरोद्गतमुग्धलोलबर्हः' यह पाठ भी मिलता है। अतरुणः = प्रौढो यो मदः = हर्षः, तेन ये ताण्डवोत्सवाः = उद्धतनृत्तप्रमोदाः, तेषामन्तेषु = अवसानेषु—ऐसा अर्थ करना चाहिए। किन्तु यह पाठ हृद्य नहीं है, क्योंकि इससे मयूर का सम्बन्ध सीता के साथ नहीं जुड़ पाने के कारण यह अप्रासङ्गिक प्रतीत होता है।

हन्त ! तिर्यञ्चोऽपि परिचयमनुरुन्धते ।

अन्वयः—भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः (कर्म) प्रचलितचटुलभ्रूलताताण्डवैः (करणैः) मण्डयन्त्या मुग्धया करकिसलयतालैः नर्त्यमानं त्वां सुतमिव वत्सलेन मनसा स्मरामि ॥ १९ ॥

वधूसखं केकारवं कुर्वन्तं सीतापरिवर्द्धितं मयूरं दृष्ट्वा तमुद्दिश्य **रामः** प्राह—**भ्रमिष्विति** । भ्रमिषु = चक्राकारभ्रमणेषु सत्सु । तन्मयूरकृतेष्विति भावः । कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः—कृता पुटस्य अन्तः = मध्ये, अक्षिकोटराभ्यन्तर इत्यर्थः, मण्डलावृत्तिः=मण्डलाकारेण भ्रमणं येन तत् तथोक्तं चक्षुः=नेत्रम् (कर्म) । प्रचलितचटुलभ्रूताण्डवैः—प्रचलिते = अतिचञ्चले, चटुले = सुन्दरे 'चतुरे' इति पाठे लीलानिपुणे, एतादृश्यौ ये भ्रुवौ, तयोः ताण्डवैः = नर्तनैः (करणैः), मण्डयन्त्या = भूषयन्त्या । मुग्धया = सरलया, सीतयेत्यर्थः । नर्त्यमानम् = कार्यमाणनृत्यम् । वत्सलेन = स्निग्धेन ।

अयम्भावः—सीतया कालक्रियामानार्थं दत्ताभिः करपल्लवतालिकाभिर्नर्त्यमानं सुतमिव त्वामिदानीमपि स्निग्धेन मनसा स्मरामि । तदानीं त्वत्कृतेषु चक्राकारभ्रमणेषु सत्सु, तदनुसरणात् तस्या नेत्रमपि स्वकीयावरणाभ्यन्तरे मण्डलाकारेणावर्तनं करोतिस्म, तादृशं नेत्रं सा समधिकचञ्चलयोर्मनोज्ञयोर्भ्रुवोर्नृत्याकारेण चालनैर्विभूषयति स्म । अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः । स्मरणालङ्कारोऽप्यत्रेति केचित् । 'करकिसलयः' इत्यत्र लुप्तोपमा, चतुर्थपादे च श्रौती उपमा, इत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । मालिनी वृत्तम् ॥ १९ ॥

मण्डयन्त्या—चुरादि√मण्ड + णिच् (स्वार्थे) + शतृ + ङीप्, तृ० ए० व० ।
नर्त्यमानम्—√नृत् + णिच् + शानच् (कर्मणि), द्वि० ए० व० ।

रो अलङ्कृत करती हुई मुग्धा (भोली) सीता के द्वारा करपल्लव के तालों से नचाये जाते हुए पुत्र की तरह तुमको स्नेहपूर्ण मन से स्मरण करता हूँ ॥ १९ ॥

राम—खेद है ! पशु-पक्षी भी परिचय का लिहाज रखते हैं । यह थोड़े से विकसित पुष्पों से युक्त कदम्ब प्रियतमा द्वारा (सीता के द्वारा) बड़ा किया गया था ।

कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षुः—मयूरों के नाचने की गति चक्राकार या मण्डलाकार होती है । सीता जी के नेत्र मयूर की चक्राकार गति पर टिके रहते थे । अतः उसके साथ ही सीता के नेत्र भी मण्डलाकार गति में घूमते जाते थे ।

चटुल—इस शब्द का अर्थ चपल या चञ्चल भी होता है, किन्तु यहाँ 'सुन्दर' अर्थ ही ग्राह्य है, क्योंकि 'प्रचलित' शब्द से 'चञ्चल' अर्थ सूचित हो रहा है ।

ताल—गीत, नृत्त और वाद्य में नियतमात्राओं पर ताली देना 'ताल' कहलाता है । 'तालः कालक्रियामानम्' इत्यमरः । 'तालः करतलेऽङ्गुष्ठमध्यमाभ्यां च सम्मिते । गीतकालक्रियामाने करास्फाले द्रुमान्तरे ॥' इति विश्वः ।

हन्त ! तिर्यञ्चोऽपि०—राम के कहने का आशय है कि परिचय का लिहाज करने वाले पशु-पक्षी भी अच्छे हैं किन्तु हम नहीं; जिसने परिचय का तनिक भी विचार न कर सीता को घर से निकाल दिया ।

कतिपयकुसुमोद्गमः कदम्बः
प्रियतमया परिवर्धितोऽयमासीत् ।

सीता—(निरूप्य सास्रम्) सुट्ठु पच्चहि आणिदं अज्जउत्तेण । [सुष्ठु प्रत्यभिज्ञातमार्यपुत्रेण ।]

रामः—   स्मरति गिरिमयूर इव एष देव्याः
स्वजन इवात्र यतः प्रमोदमेति ॥ २० ॥

हन्तेति । हन्त = विषादसूचकमव्ययपदम् । तिर्यञ्चः = पशुपक्षिणः । अनुरुन्धते = अनुसरन्ति । 'अनुरुध्यन्ते' इति दैवादिकपाठेऽप्ययमेवार्थः ।

अन्वयः—अयं कदम्बः प्रियतमया परिवर्द्धितः (सन्) कतिपयकुसुमोद्गम आसीत् इति श्लोकपूर्वार्द्धान्वयः ।

कतिपयेति । अयम् = पुरोवर्ती । कदम्बः = नीपतरुः । प्रियतमया = सीतयेत्यर्थः । परिवर्द्धितः = जलसेकादिना वृद्धिं प्रापितः । कतिपयकुसुमोद्गमः—कतिपयानाम् = कियतां स्वल्पानामित्यर्थः, कुसुमानाम् = पुष्पाणामुद्गमः = उत्पत्तिः, यस्मिन् स एतादृशः आसीत् ।

सीता—(निरूप्य = अवलोक्य, सास्रम्) सुष्ठु = सम्यक्प्रकारेण, प्रत्यभिज्ञातं = स एवायमिति स्मृतम् ।

अन्वयः—एषः गिरिमयूरः देव्याः स्मरति, यतः अत्र स्वजने इव प्रमोदम् एति इति श्लोकोत्तरार्द्धान्वयः ॥ २० ॥

स्मरतीति । एषः = पुरोवर्ती । गिरिमयूरः = पर्वतीयो मयूरः । देव्याः = सीताया इत्यर्थः, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी । स्मरति = स्मरणं करोति । यतः = यस्माद्धेतोः । अत्र = अस्मिन्, प्रागुक्ते कदम्बवृक्ष इत्यर्थः । स्वजन इव = आत्मबान्धव इव । प्रमोदम् = हर्षम् । एति = प्राप्नोति, अनुभवतीत्यर्थः ।

अयम्भावः—रामो मयूरदशां दृष्ट्वा सविषादं प्राह—पशुपक्षिणोऽपि परिचयमनुसरन्ति । अयं पुरोवर्ती कदम्बतरुः कतिपयकुसुमैरुपेतः प्रियतमया सीतया स्वयमेव

देव्याः स्मरति—'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' के अनुसार 'देव्याः' में षष्ठी हुई है । प्रमोदः – प्र + √मुद् + घञ् । परिवर्धितः—परि + √वृध् + णिच् + क्त । उद्गमः—उद् + √गम् + अप् ('ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' ३।३।५८) ।

सीता—(भली-भाँति देखकर, अश्रुसहित) आर्यपुत्र ने खूब पहिचाना ।

राम—यह पर्वतप्रिय मयूर देवी (सीता) का स्मरण करता है, क्योंकि (कदम्ब का भी परिवर्धन सीता के द्वारा ही होने से) इस (कदम्ब) में अपने बन्धु में जैसा हर्ष प्राप्त करता है ॥ २० ॥

स्मरति गिरिमयूरः—मोर और कदम्बवृक्ष दोनों का परिवर्धन सीताजी ने किया था, अतः दोनों एक-दूसरे के भाई की तरह थे । यही कारण था कि मोर उस वृक्ष में स्वजन की-सी प्रीति रखता था और उसे देखते ही उस(मयूर)को सीताजी का स्मरण हो आता था ।

वासन्ती--अत्र तावदासनपरिग्रहं करोतु देवः ।

(राम उपविशति)

वासन्ती— एतत्तदेव कदलीवनमध्यवर्ति
कान्तासखस्य शयनीयशिलातलं ते ।
अत्र स्थिता तृणमदाद् बहुशो यदेभ्यः
सीता ततो हरिणकैर्न विमुच्यते स्म ॥ २१ ॥

जलसेकादिना परिवर्धितोऽभूत् । इति रामोक्तिमाकर्ण्य सीता प्राह—सोऽयमेवेति सम्यगार्यपुत्रेण परिज्ञातम् । पुनरपि रामः प्राह—अयं कदम्बो मयूरश्च द्वावपि सीतया परिपालितौ, तस्मादावयोर्द्वयोरपि सीतैव मातेति विचार्य मयूरः सीतायाः स्मरति तथा भ्रातृतुल्यं कदम्बं प्राप्य हृष्यति, तस्मात् 'तिर्यञ्चोऽपि परिचयमनुरुन्धते' इति समर्थितं भवति ।

अत्र तृतीयपादगतवाक्यार्थं प्रति चतुर्थपादगतवाक्यार्थस्य हेतुतयोपन्यासात् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । 'स्वजन इव' इत्यत्रोपमा च, इत्यनयोः परस्परनिरपेक्षतया संसृष्टिः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ २० ॥

वासन्ती—अत्र तावत् = एतस्मिन्नेव । आसनपरिग्रहं करोतु = उपविशतु देवः ।

अन्वयः—कान्तासखस्य ते एतत् तदेव कदलीवनमध्यवर्ति शयनीयशिलातलम् । अत्र स्थिता सीता यद् एभ्यः बहुशः तृणम् अदात्, ततः (इदं) हरिणकैः न विमुच्यते स्म ॥ २१ ॥

वासन्तीप्रार्थनया राम आसनपरिग्रहमकरोत्, ततो वासन्ती रामस्य भूतपूर्वं शिलातलं दर्शयन्ती रामं प्राह—**एतदिति** । कान्तासखस्य = सीतासहचरस्य । ते =

कान्तासखस्य—कान्तायाः सखा इति कान्तासखः, तस्य । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से समासान्त टच् । शयनीयशिलातलम्—शेतेऽस्मिन्निति शयनीयम्, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से अधिकरण के अर्थ में √शी से अनीयर् प्रत्यय । शयनीयं च तत् शिलातलम् इति शयनीयशिलातलम् (कर्मधारयः) । बहुशः—बहु + शस् । विमुच्यते—वि + √मुच् + लट् (कर्मणि) ।

वासन्ती—यहीं महाराज आसन ग्रहण करें । **(राम बैठते हैं)**

वासन्ती—कान्ता (सीता) के साथ रहने वाले आपका यह वही कदली वन के बीच में विद्यमान शयनार्थ शिलातल है । क्योंकि इसी पर बैठी हुई सीता इन (मृगों) को प्रायः घास देती रहती थी, अतएव (यह) बेचारे मृगों से (आज भी) नहीं छोड़ा जाता है ॥ २१ ॥

एतत्तदेव कदलीवनमध्यवर्ति—नीरन्ध्रबाल० (पाठान्तर) नीरन्ध्राः (निर्गतं रन्ध्रं याभ्यस्ताः) छिद्रस्याप्यकाशाभावादत्यन्तनिबिडा इति भावः) ताश्च ता बालकदल्यः नवरम्भाः तासां वनस्य मध्ये वर्तते तच्छीलम् ।

न विमुच्यते स्म—इसे भूतकाल-बोधक मानने पर अर्थ होगा—सीता बेचारे हरिणों के द्वारा नहीं छोड़ी जाती थी—उनसे घिरी रहती थी ।

रामः—इदं तावदशक्यमेव द्रष्टुम् (इत्यन्यतो रुदन्नुपविशति)।

सीता—सहि वासंति ! किं तुए किदं अज्जउत्तस्स मह अ एदं दंसअंतीए। हद्धी हद्धी ! सो एव्व अज्जउत्तो। तं एव्व पञ्चवडीवणं। सा एव्व पिअसही वासंदी, दे एव्व विविहविस्सम्भसक्खिणो गोदावरीकाणणुद्देसा, दे एव्व जादणिव्विसेसा मिअपक्खिपाअवा, सा ज्जेव चाहं। मह उण मंदभाइणीए दीसंतं वि सव्वं एव्व एदं णत्थित्ति ता ईदिसो जीअलोअस्स परिवत्तो। [सखि वासन्ति ! किं त्वया कृतमार्यपुत्रस्य मम चैतद् दर्शयन्त्या। हा धिक् ! हा धिक् ! स एवार्यपुत्रः, सैव प्रियसखी वासन्ती, त एव विविधविस्रम्भसाक्षिणो गोदावरीकाननोद्देशाः, त एव जातनिर्विशेषा मृगपक्षिपादपाः, सैव चाहम्। मम पुनर्मन्दभाग्याया दृश्यमानमपि सर्वमेवैतन्नास्तीति तदीदृशो जीवलोकस्य परिवर्तः।]

तव, रामस्य। कदलीवनमध्यवर्ति—कदलीनां वनम्=विपिनं, तस्य मध्ये=अन्तरे वर्तते तच्छीलम्। शयनीयशिलातलम्=शयनप्रस्तरतलम्। अत्र=शयनीयशिलातले। स्थिता=उपविष्टा। यत्=यस्मात्। एभ्यः=पुरोवर्तिभ्यो हरिणकेभ्यः। बहुशः=बहुवारान्। तृणम्=शष्पम्। ततः=तस्मात्। हरिणकैः=अनुकम्पितैर्मृगैः। न विमुच्यते स्म=न त्यज्यते स्म।

अयम्भावः—अत्रैव कदलीवनान्तरे सीतासहचरस्य भवतः शयनशिलातलमस्ति। अत्रोपविष्टा सीता पुरोदृश्यमानेभ्यो मृगकेभ्यो बहुशः शष्पाण्यददात एव ते सम्प्रत्यपि खल्विदं स्थानं न परित्यजन्ति। स्मेति पादपूर्तौ। एतेन तिरश्चामपि परिचयानुरोधित्वं समर्थ्यते। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ २१॥

वासन्त्या उक्तिं श्रुत्वा रामः शयनीयशिलातलस्य द्रष्टुमशक्यत्वादन्यतो रुदन्नुपाविशत्।

सीता—वासन्तीमुद्दिश्य प्राह—सखि वासन्ति ! एतच्छिलातलमार्यपुत्रस्य मम च दर्शयन्त्या तद्दर्शनेनावयोः शोकमुद्दीपयन्त्या त्वया महदनिष्टं कृतम्। हा धिक्, हा

द्रष्टुम्—√दृश्+तुमुन्। अशक्यम्—नञ्+√शक्+यत्। दर्शयन्त्या—√दृश्+णिच्+शतृ+ङीप् (तृ० ए० व०) जातः—√जन्+क्त (कर्तरि)। परिवर्तः—परि+वृत्+घञ् (भावे)।

राम—यह तो देखा ही नहीं जा सकता। (ऐसा कहकर रोते हुए दूसरी ओर बैठ जाते हैं)।

सीता—सखि वासन्ति ! आर्यपुत्र को और मुझ को यह (शयनशिलातल) दिखलाती हुई तूने (यह) क्या कर दिया (अर्थात् बहुत बुरा किया)। हा धिक् हा धिक् ! वही आर्यपुत्र हैं, वही पञ्चवटी वन है, वही प्रियसखी वासन्ती है, वे ही (हम दोनों के) विविध विश्वस्त व्यापारों के (अधिकरण होने के कारण) प्रत्यक्षदर्शी गोदावरी नदी के वनप्रदेश हैं, वे ही पुत्र से अभिन्न

जीवलोकस्य परिवर्तः—सीताजी के लिए तत्तत्पदार्थ जो सुखकारक प्रतीत होते थे, वे ही अब दुःखोत्पादक बन गये हैं। वे स्वरूपतः सामने विद्यमान हैं, तथापि दुःखोत्पादक होने के कारण सीता के लिए नहीं के बराबर हैं। उनमें यही सब से बड़ा परिवर्तन हो गया है।

वासन्ती—सखि सीते ! कथं न पश्यसि रामभद्रस्यावस्थाम् ?

नवकुवलयस्निग्धैरङ्गैर्ददन्नयनोत्सवं
सततमपि नः स्वेच्छादृश्यो नवो नव एव यः ।
विकलकरणः पाण्डुच्छायः शुचा परिदुर्बलः
कथमपि स उन्नेतव्यस्तथापि दृशोः प्रियः ॥ २२ ॥

धिक् ! स एवार्यपुत्रः, तदेव पञ्चवटीवनम्, सैव प्रियसखी वासन्ती, ते एवावयोर्विविध-विस्रम्भसाक्षिणः = अनेकविश्वस्तव्यापाराणां साक्षाद्द्रष्टारः, गोदावरीकाननोद्देशाः = गोदावर्याख्यनदीवनप्रदेशाः, त एव जातनिर्विशेषाः = जातेभ्यः पुत्रेभ्यो निर्विशेषाः भेदरहिताः, पुत्रवल्लालिता इति भावः, मृगाः पक्षिणः पादपाश्च, सैव चाहम्, किन्तु मम मन्दभागिन्या दृश्यमानमप्येतत् सकलमेव सुखानुत्पादकतया अविद्यमानमिव प्रतिभाति, तन्मत्कृते जीवलोकस्य = भुवनस्येदृशो परिवर्तः = दशाविपर्यासो जातः ।

वासन्ती रामदशाविलोकनाय पुरतोऽविद्यमानामपि सीतां प्रीत्यतिशयवशात् प्रार्थयते—सखि सीते ! रामभद्रस्य अवस्थां = दशां, कथं न = कस्मान्न, पश्यसि = विलोकयसि ?

अन्वयः—नवकुवलयस्निग्धैः अङ्गैः नयनोत्सवं ददत्, सततमपि नः स्वेच्छादृश्यः अपि यः नवो नव एव (आसीत्), शुचा विकलकरणः पाण्डुच्छायः परिदुर्बलः, तथापि दृशोः प्रियः, सः कथमपि उन्नेतव्यः ॥ २२ ॥

नवकुवलयेति । नवकुवलयस्निग्धैः—नवकुवलयानि = नूतननीलकमलानि, तानीव स्निग्धैः = चिक्कणैः । अङ्गैः = पाणिपादादिभिरवयवैः । नयनोत्सवम् = नेत्रयोरानन्दम् । नः = अस्माकम्, वासन्तीप्रभृतीनामित्यर्थः । स्वेच्छादृश्यः—स्वेच्छया = यथेच्छमित्यर्थः,

---

ददत्—√दा + शतृ, 'नाभ्यस्ताच्छतुः' के अनुसार नुम् नहीं हुआ । उन्नेतव्यः—उन् + √नी + तव्य ।

मृग, पक्षी और वृक्ष हैं, वही मैं हूँ, (किन्तु इस समय) यह सब कुछ दिखलायी देते हुए भी मुझ अभागिन के लिए मानों है ही नहीं (नहीं के बराबर है), (मेरे सम्बन्ध में) संसार का ऐसा परिवर्तन हो गया ।

वासन्ती—हे सखि सीते ! रामभद्र की अवस्था (दशा) कैसे नहीं देखती हो ?

(पहले) जो नये नीलकमल के समान चिकने-कोमल अङ्गों से नेत्रों को आनन्द देते हुए, निरन्तर हमारे लिए यथेच्छ देखने योग्य (अर्थात् सुलभ दर्शन) होकर भी नये-नये ही (प्रतीत होते थे); (इस समय वे ही) शोक से विकलेन्द्रिय, धूसर कान्ति वाले तथा अत्यन्त दुर्बल होने पर भी नेत्रों के लिए प्रिय, किसी-किसी तरह 'वह' (हैं) ऐसा पहचान में आने योग्य है ॥ २२ ॥

सखि सीते इत्यादि—वासन्ती की यह उक्ति स्नेहाधिक्य के कारण सीता को लक्ष्य करके कही गयी है, उन्हें देखकर नहीं; क्योंकि गङ्गा के प्रभाव से सीता वासन्ती आदि के लिए उस समय अदृश्य थीं ।

नवो नव एव—सौन्दर्य का महत्त्व इसी में है कि उसे जितनी बार भी देखा जाय, उसकी चिर नवीनता की अनुभूति होती रहे, ताकि उसे देखकर मन कभी न भरे, अन्यथा वह सुन्दर कैसे रह जायगा ? माघ ने इसकी परिभाषा बड़े सुन्दर शब्दों में दी है, जो एक शाश्वत सत्य है—

सीता—पेक्खामि सहि, पेक्खामि। [प्रेक्षे, सखि ! प्रेक्षे।]

तमसा—पश्यन्ती प्रियं भूयाः।

सीता—हा देव्व एसो मए विना अहं वि एदेण विनेत्ति सिविणे वि केण संभाविदं आसि। ता मुहुत्तमेत्तं जम्मंतरादो विअ लद्धदंसणं बाहसलिलंतरेषु पेक्खामि दाव वच्छलं अज्जउत्तं। (इति पश्यन्ती स्थिता)। [हा दैव ! एव मया विनाऽहमप्येतेन विनेति स्वप्नेऽपि केन सम्भावितमासीत्। तन्मुहूर्तमात्रं जन्मान्तरादिव लब्धदर्शनं बाष्पसलिलान्तरेषु पश्यामि तावद् वत्सलमार्यपुत्रम्।]

दृश्यः = द्रष्टुं शक्यः, सुलभदर्शन इत्यर्थः। नवो नव एव = प्रतिक्षणं भिन्नरूप एव। विकलकरणः = विकलेन्द्रियः। पाण्डुच्छायः—पाण्डुः = धूसरा, छाया = कान्तिः यस्य सः, मलिनकान्तिरित्यर्थः। परिदुर्बलः = समधिककृशः। दृशोः प्रियः = नेत्रानन्दकरः। कथमपि = केनापि प्रकारेण, अतिकृच्छ्रेणेत्यर्थः। उन्नेतव्यः = प्रत्यभिज्ञातव्यः।

अयम्भावः—यो रामः पूर्वं नूतननीलकमलवच्चिक्कणैः पाणिपादादिभिरवयवैर्नेत्रयोरानन्दप्रद आसीत् तथा च निरन्तरं सुलभदर्शनोऽपि प्रतिक्षणं नवो नव एव प्रतिभाति स्म, स एव रामः सम्प्रति शोकेन विकलेन्द्रियः, मलिनकान्तिः समधिककृशोऽजायत तथापि नेत्रानन्दकर एवास्ति, किन्तु केनापि प्रकारेणातिकृच्छ्रेण, अयं पूर्वदृष्ट एव राम इति प्रत्यभिज्ञातव्यः। एवंविधां दशामापन्नो रामस्त्वयाऽवश्यमेवानुकम्पनीय इति भावः।

अत्र मलिनकान्तिकृशतादिकारणानां सत्त्वेऽपि दृशामप्रियत्वरूपकार्यस्याभावाद् विशेषोक्तिः। अथवा पाण्डुच्छायाकृशताद्यभावरूपकारणाभावेऽपि प्रियदर्शनत्वरूपकार्यस्योत्पत्तिकथनाद्विभावना; एवं विभावनाविशेषोक्तिमूलकः सन्देहसङ्करो नामालङ्कारः। 'नवकुवलयस्निग्धैः' इत्यत्र लुप्तोपमा च। हरिणीवृत्तम् ॥ २२ ॥

तमसा—प्रियम् = रामम्। पश्यन्ती = ईक्षमाणा। भूयाः = स्थेयाः।

वासन्तीवचनमाकर्ण्य खिन्ना **सीता** प्राह—**हा दैवेति**। हा = शोकव्यञ्जकमव्ययम्। दैव = विधातः। केन सम्भावितम् = केन चिन्तितम्, न केनापीत्यर्थः।

पश्यन्ती—√दृश् + शतृ + ङीप्, नुमागम।

सम्भावितम्—सम् + √भू + णिच् + क्त। लब्धः—√लभ् + क्त (कर्मणि)।

सीता—हे सखि ! देख रही हूँ, देख रही हूँ।

तमसा—प्रिय को (यों ही) देखती रहो।

सीता—हाय विधाता ! ये (राम) मेरे बिना और मैं भी इनके बिना (रह सकूँगी) ऐसा स्वप्न में भी किससे संभावना की गयी थी ? तो मानों दूसरा जन्म पा करके जिनका दर्शन मिला

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' पाठान्तर—नवं नवम्। ऐसा पाठ होने पर यह 'नयनोत्सवम्' का विशेषण होगा—'नये नये नेत्रानन्द को। 'नवो नवः' या 'नवं नवम्' यहाँ 'प्रकारे गुणवचनस्य' (८।१।१२) से प्रकार (सादृश्य) के अर्थ में द्विर्वचन हुआ है, अतः 'कर्मधारयवदुत्तरेषु (८।१।११) सूत्र से कर्मधारयवत् होने पर 'नवनवः' अथवा 'नवनवम्' ऐसा होना चाहिए था, किन्तु भवभूति ने इस नियम का उल्लङ्घन किया है। देखिए—'मन्दं मन्दमासत्तियोगात्' (१।२७) भी।

तमसा—(परिष्वज्य सास्रम्)

विलुलितमतिपूरैर्बाष्पमानन्दशोक-
प्रभवमवसृजन्ती तृष्णयोत्तानदीर्घा।
स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्यन्दिनी ते
धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः ॥ २३ ॥

तत्=तस्मात्, चिरविरहानन्तरं दर्शनलाभात्। मुहूर्तमात्रम्=अल्पकालम्। जन्मान्तरादिव—जन्मान्तरं प्राप्येव (ल्यब्लोपे पञ्चमी कर्मणि)। लब्धदर्शनम्—लब्धम्=प्राप्तम्, दर्शनं यस्य तम्। वत्सलम्=स्नेहवन्तम्। आर्यपुत्रम्=रामम्। बाष्पसलिलान्तरेषु=अश्रुजलानां पतनोद्गमान्तरालेषु। तावत्=इदानीम्। प्रेक्षे=पश्यामि।

अयम्भावः—हा विधातः! मया (सीतया) विना एषः (रामः) अवतिष्ठेत, अहम् (सीता) अपि एतेन विनाऽवतिष्ठेयेत्वं स्वप्नेऽपि केनापि न चिन्तितमासीत्। तद्विरहानन्तरं दर्शनलाभात्, अल्पकालं यावत्, जन्मान्तरं प्राप्येव यस्य दर्शनं लब्धं तं स्नेहवन्तमार्यपुत्रं (रामम्) सम्प्रति बाष्पसलिलानामश्रुजलानां पतनोद्गमान्तरालेषु पश्यामीति भावः।

श्रीरामचन्द्रं पश्यन्तीं सीतां **तमसा** सास्रम्=अश्रुभिः सह यथा स्यात्तथा, परिष्वज्य=आलिङ्ग्य, प्राह—

परिष्वज्य—परि + स्वञ्ज् + ल्यप्। प्रभवः—प्र + √भू + अप्। अवसृजन्ती—

है, उन स्नेही आर्यपुत्र को इस समय आँसुओं के (गिरने तथा पुनः निकलने के समय के) बीच के समयों में थोड़ी देर देख लूँ। **(ऐसा कहकर देखती हुई स्थित रहती है)**

तमसा—**(आलिङ्गन करके, आँसू भरकर)**

जन्मान्तरादिव—जन्मान्तरात्=जन्मान्तरं प्राप्य 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' वार्तिक से ल्यबन्त 'प्राप्य' के लोप होने पर कर्म (जन्मान्तर) से पञ्चमी हो गयी है (जन्मान्तरात्)। अर्थ है—दूसरा जन्म प्राप्त करके। सीता ने अपने इस जन्म में पुनः राम के दर्शन की आशा छोड़ ही दी थी; अतएव राम का दर्शन होने पर उन्होंने यही समझा कि मानों उनका दूसरा जन्म हो गया हो।

बाष्पसलिलान्तरेषु—'अन्तरम् अवकाशावधिपरिधान०' अमरकोशकार के इस वचन के अनुसार यहाँ अन्तर शब्द का 'अवकाश' (अर्थात् अन्तराल) अर्थ है। आँखों में आँसू भर जाने के कारण सीता जी को राम के दर्शन में बड़ी कठिनाई पड़ गयी; अतः आँसू गिरने के बाद पुनः जब तक वे आँखों में न आ जायें, उतना ही थोड़ा-सा समय उन्हें राम के दर्शन के लिए मिल सकता था, उसी को ही उन्होंने अपने लिए बहुत समझा।

दुग्धकुल्येव—प्रोषितभर्तृका होने के कारण सीताजी नेत्र में काजल नहीं लगाती थीं, अतएव उनकी दृष्टि अत्यन्त शुभ्र थी। इसी से दृष्टि को दूध की छोटी कृत्रिम नदी-सी कहा गया है। प्रोषितभर्तृका के लिए शरीर-संस्कार आदि वर्जित है—'क्रीडां शरीरसंस्कारं, समाजोत्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं, त्यजेत् प्रोषितभर्तृका'। (याज्ञवल्क्यस्मृति १।८४)

वासन्ती— दददु तरवः पुष्पैरर्घ्यं फलैश्च मधुश्च्युतः
स्फुटितकमलामोदप्रायाः प्रवान्तु वनानिलाः ।
कलमविरलं रज्यत्कण्ठाः क्वणन्तु शकुन्तयः
पुनरिदमयं देवो रामः स्वयं वनमागतः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अतिपूरैः विलुलितम् आनन्दशोकप्रभवं बाष्पम् अवसृजन्ती, तृष्णया उत्तानदीर्घा, धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव ते दृष्टिः स्नेहनिष्यन्दिनी (सती) हृदयेशं स्नपयति ॥ २३ ॥

विलुलितमिति । अतिपूरैः = अतिशयप्रवाहैः । विलुलितम् = विकीर्णम् । आनन्दशोकप्रभवम्—आनन्दशोकौ प्रभवौ = कारणे, यस्य तम् । बाष्पम् = अश्रु । अवसृजन्ती = पातयन्ती । तृष्णया = दर्शनोत्कण्ठया । उत्तानदीर्घा—उत्ताना = विस्फारिता, दीर्घा = आयता (विशेषणसमासः) । 'पक्ष्मलोत्तानदीर्घा' इति पाठे पक्ष्मला = प्रशस्ताक्षिलोमयुक्तेत्यर्थो ज्ञेयः । धवलबहलमुग्धा—धवलबहला = अतीव शुभ्रा, प्रोषितभर्तृकायाः शरीरसंस्कारनिषेधात् कज्जलाभावेनेति भावः, मुग्धा = मनोहारिणी । दुग्धकुल्येव = दुग्धस्य कृत्रिमनदीव ('कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः) । ते = तव, सीताया इत्यर्थः । स्नेहनिष्यन्दिनी = प्रेमवर्षिणी । हृदयेशम् = प्राणेश्वरम्, राममित्यर्थः ।

अयम्भावः—वत्से ! सम्प्रति तव दृष्टिरानन्दशोकाभ्यां जातमश्रु पातयति यदश्रु प्रवाहातिशयेनेतस्ततो विकीर्णं वर्तते । तादृशी तव दृष्टिः पतिदर्शनोत्कण्ठयोर्ध्वं प्रेक्षणेनोपरि विस्फारिता, दूरतोऽवलोकनेन च दीर्घा, कज्जलाभावादतीव शुभ्रा मनोहारिणी सती दुग्धकुल्येव प्रतीयते, सा च स्नेहं वर्षन्ती प्राणेश्वरं राममभिषिञ्चतीव । एतेन सीताया रामं प्रति गाढानुरागो व्यज्यते ।

'दुग्धकुल्येव' इत्यत्र प्रकृताया दृष्टे शुभ्रताऽतिशयसाम्याद् दुग्धकुल्यारूपेण सम्भावनादुत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । अपि च लोके यथा काचित् कञ्चित् स्नपनार्थं स्नेहद्रव्येण समभिलिप्य जलं वर्षति तद्वत् सीतादृष्टिरपि रामं स्नेहेन संयोज्य नेत्रजलं वर्षतीति दृष्टयां नायिकाव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः । तथा च दृष्टेः स्नपनकर्तृत्वाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धकथनादसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारश्चेत्येतेषां परस्परमङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । मालिनी वृत्तम् ॥ २३ ॥

अव + √सृज् + शतृ + ङीप्, नुमागम । स्नपयति—स्ना + णिच्, आकारान्त होने से धातु के पुक् का आगम—स्नापि, 'ग्लास्नावनुवमां च' से वैकल्पिक ह्रस्व—स्नपि, ततः लट्—स्नपयति । पक्ष में स्नापयति भी । स्नेहनिष्यन्दिनी—स्नेहं निष्यन्दयति तच्छीला; स्नेह + नि + स्यन्द् + णिच् + णिनि + ङीप् ।

बड़े-बड़े प्रवाहों से विकीर्ण, आनन्द एवं शोक से उत्पन्न आँसू को ढालती हुई, दर्शनोत्कण्ठा से ऊपर की ओर विस्तारित और (दूर तक डाली जाने के कारण) लम्बी अतिशुभ्र एवं मनोज्ञ (अत एव) दूध की छोटी कृत्रिम नदी-सी तेरी दृष्टि स्नेह की वर्षा करती हुई हृदयेश्वर (राम) को नहला रही है ॥ २३ ॥

अन्वयः—मधुश्च्युतः तरवः पुष्पैः फलैश्च अर्घ्यं ददतु, स्फुटितकमलामोदप्रायाः वनानिलाः प्रवान्तु; रज्यत्कण्ठाः शकुन्तयः अविरलं कलं क्वणन्तु। अयं देवो रामः स्वयम् इदं वनं पुनः आगतः ॥ २४ ॥

सम्प्रति वासन्ती रामस्यातिथ्यं कर्तुं तत्रत्यान् वृक्षादीन् प्रेरयति—**ददत्विति।** मधुश्च्युतः—मधूनि = मकरन्दान्, श्च्योतन्ति = क्षरन्ति इति मधुश्च्युतः = पुष्परसवर्षिणः ('श्चुतिर् क्षरणे' इत्यस्माद्धातोरन्तर्भावितण्यर्थात् कर्तरि क्विप्)। तरवः = वृक्षाः। अर्घ्यम् = पूजोपहारम्। ददतु = वितरन्तु। स्फुटितकमलामोदप्रायाः—स्फुटितानि = विकसितानि, यानि कमलानि, तेषाम् आमोदः = सौरभम्, प्रायः = बहुलो येषु ते तादृशाः। वनानिलाः = वनवाताः। प्रवान्तु = प्रवहन्तु, रामतापापनोदनार्थमिति भावः। रज्यत्कण्ठाः—रज्यन्तः = रागयुक्ताः, कण्ठाः = गलाः येषां ते। 'रत्युत्कण्ठाः' इति पाठे रत्या = प्रेम्णा रामस्येति भावः, उत्कण्ठाः = उत्कण्ठिताः, (उत्कण्ठाशब्दात् 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यच् प्रत्ययः)। शकुन्तयः = पक्षिणः। अविरलम् = निरन्तरम्। कलम् = मधुरम्, यथा स्यात्तथा। क्वणन्तु = शब्दं कुर्वन्तु, गायन्तु इत्यर्थः। अयम् = सन्निकृष्टः। देवः = रामः। स्वयम् = आत्मनैव, अनन्यप्रेरित इति भावः। वनम् = विपिनम्। पुनः = भूयः। आगतः = आयातः (अस्ति)।

अयम्भावः—अयं महाराजो रामः स्वयमनन्यप्रेरितः सन् पुनरद्येदं वनमागतस्तत् सर्वेऽपि मधुवर्षिणो वृक्षाः पुष्पैः फलैश्चार्घ्यं ददतु, विकसितकमलानां सौरभमादाय वनवायवो रामतापापनयनाय प्रवहन्तु, पक्षिणोऽपि रागयुक्तकण्ठाः सन्तो मधुरं सततं कलरवं कुर्वन्तु। अत्र पूर्वपादत्रितयगतवाक्यबोधितान् अर्घ्यदानादीन् प्रति रामागमनरूपचतुर्थपादगतवाक्यार्थस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। हरिणी वृत्तम् ॥ २४ ॥

मधुश्च्युतः—मधु + √श्च्युत् + क्विप् (धातु में णिच् प्रत्यय के अर्थ का अन्तर्भाव है, अतः अर्थ होता है—मधु (मकरन्द) चुआने वाले। **अर्घ्यं**—अर्घाय हितम्, अर्घ् + यत्। **रज्यत्कण्ठाः**—रज्यन्तः ('रञ्ज रागे' दिवादि से शतृ) कण्ठा येषां ते।

वासन्ती—मकरन्द चुआने वाले वृक्ष पुष्पों और फलों से अर्घ्य दें, खिले हुए कमलों के सौरभ के आधिक्य से पूर्ण वनवायु बहें, राग युक्त कण्ठ वाले पक्षी सतत मधुर शब्द करें; यह महाराज राम स्वयं इस वन में पुनः पधारे हैं ॥ २४ ॥

वासन्ती वनाधिष्ठात्री देवी है, अतः देव राम के उस वन में आने पर वासन्ती के द्वारा उनके स्वागत का यह उपक्रम किया जाना युक्त ही है, क्योंकि कोई भी राजा अपने घर आये हुए दूसरे राजा का स्वागत वचनों से, फल-फूल-जलादिविरचित अर्घ्यपात्र तथा मधुपर्क से, शीतल सुरभित व्यंजन से तथा मागधों द्वारा उसकी कीर्ति के गान से उसको प्रसन्न करता है। इस सन्दर्भ में 'नागानन्द' नाटक द्रष्टव्य है—'मधुरमिव वदन्ति स्वागतं भृङ्गशब्दैर्नतिमिव फलनम्रैः कुर्वतेऽमी शिरोभिः। मम ददत इवार्घ्यं पुष्पवृष्टीः किरन्तः कथमतिथिसपर्यां शिक्षिताः शाखिनोऽपि ॥' (१।१२)

क्वणन्तु—'गीतवाद्यभेदेन शब्दं कुर्वन्तु, अत एव कूजन्त्विति नोक्तम्' (वीरराघव)।

रामः—एहि सखि वासन्ति ! नन्वितः स्थीयताम् ।

वासन्ती—(उपविश्य, सास्रम्) महाराज ! अपि कुशलं कुमारलक्ष्मणस्य ।

रामः—(अश्रुतिमभिनीय)—

करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पै-
स्तरुशकुनिकुरङ्गान्मैथिली यानपुष्यत् ।
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि
द्रव इव हृदयस्य प्रस्तरोद्भेदयोग्यः ॥ २५ ॥

रामः—एहि = इतः आगच्छ । ननु = अनुनयार्थोऽयम् । इतः = अस्मिन् स्थाने ।

वासन्ती—सास्रम् = अश्रुसहितं यथा तथा । अपि = प्रश्नार्थकोऽयम् ।

रामः—अश्रुतिम् = अनाकर्णनम् । अभिनीय = अभिनयं कृत्वा ।

अन्वयः—मैथिली यान् तरुशकुनिकुरङ्गान् करकमलवितीर्णैः अम्बुनीवारशष्पैः अपुष्यत्, तेषु दृष्टेषु, प्रस्तरोद्भेदयोग्यः हृदयस्य द्रव इव मम कोऽपि विकारः भवति ॥ २५ ॥

करकमलेति । मैथिली = सीता । तरुशकुनिकुरङ्गान्=वृक्षपक्षिमृगान् । करकमलवितीर्णैः—करौ कमले इव करकमले 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति उपमितसमासः । ताभ्यां वितीर्णानि = दत्तानि, तैः । अम्बुनीवारशष्पैः = जलनीवारतृणैः, अम्बुना वृक्षान्, नीवारैः पक्षिणः, शष्पैः कुरङ्गानिति यथासङ्ख्यम् । अपुष्यत् = अवर्धयत् । प्रस्तरोद्भेदयोग्यः—प्रस्तरस्य = पाषाणस्य, उद्भेदे = विदारणे, योग्यः = समर्थः । प्रस्रवोद्भेदयोग्यः—प्रस्रवणोत्पत्तियोग्यः इति पाठान्तरस्यार्थः । हृदयस्य =

एहि—आ + √इ (गतौ) + लोट् (सिप्) । स्थीयताम्—√स्था + लोट् (भावे) । उपविश्य—उप + √विश् + ल्यप् । अश्रुतिम्—नञ् + √श्रु + क्तिन् (भावे) । वितीर्णैः—वि + तॄ + क्त (कर्मणि) । मैथिली—मिथिलायां जाता; मिथिला + अण् ('तत्र जातः' सूत्र से) + ङीप् । विकारः—वि + √कृ + घञ् (भावे) । उद्भेदः—उद् + √भिद् + घञ् (भावे) ।

राम—हे सखि वासन्ति ! आओ, इधर बैठो ।

वासन्ती—(बैठकर, अश्रुसहित) महाराज ! कुमार लक्ष्मण का कुशल तो है ?

राम—(न सुनने का अभिनय कर) सीता ने जिन वृक्षों, पक्षियों तथा मृगों को (अपने) करकमलों से दिये गये जल, नीवार तथा कोमल घासों से पाला-पोसा था, उनके देखे जाने पर पत्थर को विदीर्ण करने में समर्थ हृदय के द्रव-सा मेरे कोई (अनिर्वचनीय) विकार उत्पन्न हो रहा है ॥ २५ ॥

द्रव इव हृदयस्य प्रस्तरोद्भेदयोग्यः—सीता द्वारा पोषित तरु आदि को देखकर राम के हृदय में जो अनिर्वचनीय विकार का उदय हुआ, उसने उनके हृदय को द्रवीभूत कर दिया । राम ने उस विकार को पत्थर को भी विदीर्ण करने में समर्थ कहकर अपने हृदय की कठोरता ध्वनित की है ।

वासन्ती—महाराज ! ननु पृच्छामि, अपि कुशलं कुमारलक्ष्मणस्येति ।

रामः—(आत्मगतम्) अये महाराजेति निष्प्रणयमामन्त्रणपदं सौमित्रिमात्रे च बाष्पस्खलिताक्षरः कुशलप्रश्नः । तथा मन्ये विदितसीतावृत्तान्तेयमिति । (प्रकाशम्) आं कुशलं कुमारस्य ।

वासन्ती—(रुदती) अयि देव ! किं परं दारुणः खल्वसि ?

चित्तस्य । द्रव इव = आर्द्रत्वमिव । मम = रामस्य । कोऽपि = अनिर्वचनीयः । विकारः = शोकादिजन्यविकृतिः । भवति = उत्पद्यते ।

अयम्भावः—उपवेशिताया वासन्त्या लक्ष्मणविषयकप्रश्नमश्रुतं विधाय रामः प्राह—सीता यानेतान् तरून्, पक्षिणो मृगांश्च स्वकरकमलदत्तैः क्रमशः जलैः नीवारैः शष्पैश्च अवर्द्धयत्, अद्य तेषु दृष्टेषु, पाषाणविदारणे समर्थो हृदस्य द्रव इव मम कापि शोकादिजन्यचित्तविकृतिरुत्पद्यते ।

अत्र प्रथमोद्दिष्टानामम्बुनीवारशष्पाणामनन्तरं यथाक्रमं तरुशकुनिकुरङ्गाणामुद्देशात् यथासङ्ख्यमलङ्कारः । स च 'प्रस्तरोद्भेदयोग्यो द्रव इव' इत्युत्प्रेक्षया 'करकमलवितीर्णैः' इत्यत्र करौ कमले इवेति समासगतयोपमया च संसृज्यते । 'प्रस्तरोद्भेदयोग्यः' इत्यनेन हृदये प्रस्तरवत्काठिन्यविद्योतनात् उपमालङ्कारश्चान्यो ध्वन्यते । मालिनी वृत्तम् ॥ २५ ॥

रामः—निष्प्रणयम् = प्रेमशून्यम् । आमन्त्रणपदम् = सम्बोधनशब्दः । सौमित्रिमात्रके = केवले लक्ष्मणे, बाष्पस्खलिताक्षरः—बाष्पेन = अश्रुणा, स्खलितानि = अस्पष्टानि, अक्षराणि = वर्णाः, यस्मिन् एतादृशः । तथा=तेन कारणेन । विदितसीतावृत्तान्ता—विदितः = ज्ञातः, सीताया वृत्तान्तः = निर्वासनरूपा वार्ता यया सा । आम् = स्वीकारसूचकमव्ययम् । कुमारस्य = लक्ष्मणस्य ।

वासन्ती—परम् = सातिशयं यथा स्यात्तथा । दारुणः = कठोरः ।

सौमित्रिः—सुमित्राया अपत्यं पुमान्; सुमित्रा + इञ् ('बाह्वादिभ्यश्च') ।

वासन्ती—महाराज ! अरे, मैं कुमार लक्ष्मण का कुशल पूछ रही हूँ ।

राम—(आत्मगत) अरे ! 'महाराज ! यह स्नेहशून्य सम्बोधन पद है । केवल लक्ष्मण के विषय में आँसू से अस्पष्ट अक्षर वाला कुशल प्रश्न है । इससे मैं समझता हूँ कि यह सीता के वृत्तान्त को जान चुकी है । **(प्रकाश)** हाँ, कुमार (लक्ष्मण) का कुशल है ।

वासन्ती—(रोती हुई) हे देव ! हे महाराज ! क्यों आप अत्यन्त कठोर हैं ?

मन्ये विदितसीतावृत्तान्ता—वासन्ती ने रामचन्द्र को महाराज शब्द से सम्बोधित किया, जिससे राम के प्रति उसका उदासीन-भाव प्रकट हो रहा था । उसने केवल लक्ष्मण के विषय में कुशल-प्रश्न पूछा, सीता के विषय में नहीं और लक्ष्मण का नाम लेते ही उसके नेत्रों में आँसू आ गये, जिससे प्रश्नाक्षर भी अस्पष्ट थे । इन बातों से राम ने समझ लिया कि वासन्ती को सीता-निर्वासन की पूरी जानकारी है ।

सीता—सहि वासंदि, किं तुमं एव्वंवादिणी होसि। पिआरुहो क्खु सव्वस्स अज्जउत्तो विसेसदो मह पिअसहीए। [सखि वासन्ति ! किं त्वमेवं-वादिनी भवसि ? प्रियार्हः खलु सर्वस्यार्यपुत्रो विशेषतो मम प्रियसख्याः।]

वासन्ती— त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥ २६ ॥
(इति मुह्यति)

सीता—एवंवादिनी='परं दारुणोऽसि'। इत्येवं कठोरभाषिणी। प्रियार्हः—प्रियम्=प्रियवचनमर्हतीति प्रियार्हः=प्रियवचनयोग्यः। 'पूजार्हः' इति पाठे पूजा-योग्यः।

अयम्भावः—वासन्ती रामं प्रत्यवदत्—'महाराज ! कुमारलक्ष्मणस्य कुशलं पृच्छामि।' अनेन कुशलप्रश्नविधिना रामो मनस्यचिन्तयत्—वासन्ती 'सखे' इत्यादिकं सौहार्दद्योतकं शब्दमप्रयुज्य 'महाराज' इत्यभिधाय केवले लक्ष्मणे न तु सीतायामपि स-बाष्पगद्गदं कुशलमपृच्छत्, तेन सम्भावयामि जानातीयं सीतानिर्वासनरूपं वृत्तान्तम्।' इति विचिन्त्य वासन्तीं प्राह—आं कुशलमस्ति कुमारलक्ष्मणस्य। ततो वासन्ती रामं प्राह—महाराज ! कथमत्यन्तं कठोरोऽसि, यस्त्वं गर्भिणीं तादृशीं प्राणप्रियां सीतामपि निर्वासितवानसि। वासन्तीकथनं निशम्य वासन्तीमुद्दिश्य सीता प्राह—'सखि वासन्ति ! कथं त्वं 'परं दारुणोऽसि' एतादृशं कठोरं वचोऽभिदधासि; आर्यपुत्रस्तु सर्वस्य प्रियसम्भाषणयोग्योऽस्ति विशेषतः प्रियसख्या भवत्याः।

अन्वयः—त्वं जीवितं, त्वं मे द्वितीयं हृदयमसि, त्वं नयनयोः कौमुदी, त्वम् अङ्गे अमृतम् इत्यादिभिः प्रियशतैः मुग्धाम् अनुरुध्य तामेव……अथवा शान्तम्, इह उत्तरेण किम् ? ॥ २६ ॥

वासन्ती राममुपालभते—त्वं जीवतमिति। त्वम्=सीतेत्यर्थः। जीवितम्=जीवनम् (असि)। मे=मम, रामस्येत्यर्थः। कौमुदी=चन्द्रिका, तद्वन्नेत्रानन्द-

---

एवंवादिनी—एवं वदितुं शीलमस्याः; एवम्+√वद्+णिनि (ताच्छील्ये)+ङीप्। प्रियार्हः—अर्हतीति अर्हः, पचादित्वादच् (√अर्ह्+अच्=अर्हः), प्रियस्य अर्हः इति प्रियार्हः (षष्ठीतत्पुरुष)। जीवितम्—√जीव्+क्त (भावे)।

सीता—हे सखी वासन्ती ! तुम क्यों इस प्रकार बोलने वाली हो रही हो ? आर्यपुत्र सबके, विशेष कर मेरी प्रियसखी के प्रियवचनों के योग्य हैं।

वासन्ती—'तुम (मेरा) जीवन हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों के लिए कौमुदी हो, तुम मेरे अङ्गों में अमृत हो' इत्यादि सैकड़ों चापलूसी-भरे वाक्यों से भोली-भाली (सीता) को फुसला कर आपने उसी को……अथवा बस रहने दो, अगले वाक्य से क्या लाभ ?

(ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाती है)।

तमसा—स्थाने वाक्यनिवृत्तिर्मोहश्च ।

रामः—सखि ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

वासन्ती—(समाश्वस्य) तत्किमिदमकार्यमनुष्ठितं देवेन ?

कारिणीत्यर्थः । प्रियशतैः—प्रियाणां=प्रियवचनानां, शतैः=अनन्तसङ्ख्याभिः, असङ्ख्यचाटूक्तिभिरिति भावः ('शतं सहस्रमयुतं सर्वमानन्त्यवाचकम्') । मुग्धाम् = सरलहृदयाम् । अनुरुध्य = अनुनीय । तामेव = तथोक्तां सीतामेव । अथवा = आक्षेपार्थकोऽयं शब्दः । शान्तम् = अलम् । इह = अस्मिन् विषये । उत्तरेण = परवर्तिना वाक्येन । किम् = किं फलम् ।

अयम्भावः—त्वं (सीता) मम (रामस्य) जीवनमसि, जीवनवत् प्रियतमाऽसि, नाहं त्वया विना जीवितुं शक्नोमि, त्वं मे द्वितीयं हृदयम्–हृदयवन्मदीयं सर्वं भावं जानासि; त्वं चन्द्रिकावन्नेत्रानन्दकारितया मे नेत्रयोः कौमुदी असि, त्वमङ्गे अमृतमसि—तव स्पर्शो मां जीवयति, एवंविधाभिरनन्तचाटूक्तिभिस्तस्याः सरलहृदयायाश्चित्तरञ्जनं कृत्वा तामेव···अथवाऽलं त्वामुपालभ्य, अस्मिन् विषये किं फलमुत्तरवर्तिना वाक्येन । अत्र रूपकातिशयोक्त्याक्षेपालङ्काराणां साङ्कर्यम् ॥ २६ ॥

(इति = एवमुक्त्वा वासन्ती मोहं गच्छन्ति)

तमसा—स्थाने इति—युक्तार्थकमव्ययपदम्, वासन्त्या वाक्यनिवृत्तिः = वाग्व्यापारनिरोधः, मोहश्च = मूर्च्छा च, युज्यत एव, तस्याः सीतायां स्नेहाधिक्यादित्याशयः ।

रामः—सखि ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि = समाश्वस्ता भव, समाश्वस्ता भव (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः) ।

वासन्ती—तत् = तस्मात्, किमिदमकार्यम् = केन कारणेन देवनेदमनुचितं सीतानिर्वासनरूपं कार्यम्, अनुष्ठितं = कृतम् ?

निवृत्तिः—नि + √वृत् + क्तिन् (स्त्रियां भावे) । मोहः—√मुह् + घञ् । अनुष्ठितम्—अनु + √स्था + क्त (कर्मणि) ।

तमसा—वाणी का निरोध और मूर्च्छा उचित ही है ।

राम—सखि ! समाश्वस्त हो, समाश्वस्त हो ।

वासन्ती—**(समाश्वस्त होकर)** तो महाराज ने यह अनुचित कार्य कैसे किया ?

शान्तम्—बस, और कुछ नहीं कहना चाहिए । वासन्ती आगे कहना चाहती थी कि 'तुमने घर से निकाल दिया' परन्तु सीता-निर्वासन की बात उसके लिए हृदयविदारक होने के कारण इतनी असह्य हो गयी कि मुख से निकल न सकी, अतः वाक्य पूरा किये बिना ही वह बीच में ही रुक गयी ।

स्थाने—यह अव्यय पद है, जो 'स्थान' शब्द के अधिकरण का रूप है, इसका अर्थ होता है—ठीक या उपयुक्त स्थान पर । यहाँ वासन्ती की वाणी जो रुक गयी और उसे मूर्च्छा आ गयी, वह युक्त ही है; क्योंकि वासन्ती का सीता में विशेष स्नेह था ।

सीता—सहि वासंदि ! विरम विरम [**सखि वासन्ति ! विरम विरम**]

रामः—लोको न मृष्यति ।

वासन्ती—कस्य हेतोः ?

रामः—स एव जानाति किमपि ।

तमसा—चिरादुपालम्भः ।

वासन्ती—

अयि कठोर यशः किल ते प्रियं किमयशो ननु घोरमतः परम् ।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः कथय नाथ कथं बत मन्यसे ॥ २७ ॥

सीता—सखि वासन्ति ! विरम = तूष्णीं भव, आर्यपुत्रं मा उपालभस्व ।

रामः—सीताया मम गृहेऽवस्थानं न मृष्यति = न सहते लोकः = जनः ।

वासन्ती—कस्य हेतोः = कस्माद्धेतोर्लोको न सहते भवतो गृहे सीताऽवस्थानम् ?

रामः—किमपि = अस्माभिरज्ञातं निमित्तं लोक एव जानाति न कश्चिदन्यः ।

तमसा—चिरात् = बहुकालानन्तरम्, उपालम्भः = तिरस्कारः । रामचन्द्रमुखाल्लोकं प्रतीदमुपालम्भसूचकं वाक्यं द्वादशवर्षानन्तरं निरगच्छत्, तदिदानीं व्यर्थमेवेति तमसोक्तेरभिप्रायः ।

अन्वयः—अयि कठोर ! ते यशः प्रियं किल, ननु अतः परं घोरम् अयशः किम् (स्यात्) ? विपिने हरिणीदृशः किम् अभवत् ? हे नाथ ! कथय कथं बत मन्यसे ? ॥ २७ ॥

विरम—'व्याङ्परिभ्यो रमः' से परस्मैपद । कस्य हेतोः—हेतु शब्द के प्रयोग में षष्ठी (षष्ठी हेतुप्रयोगे) । उपालम्भः—उप + आ + √लभ् + घञ्, 'लभेश्च' सूत्र से नुम् का आगम । अतः—एतद् शब्द से पञ्चमी के अर्थ में तसिल् (तस्) प्रत्यय. एतद् को अन् (अ) आदेश ।

सीता—सखि वासन्ति ! रुको, रुको ।
राम—लोग सहन नहीं करते ।
वासन्ती—किस कारण से ?
राम—वह (लोक) ही कुछ (कारण) जानता है ।
तमसा—बहुत समय बाद उपालम्भ (दिया) है ।
वासन्ती—हे कठोर ! तुम्हें यश प्यारा है, ऐसी प्रसिद्धि है; किन्तु इससे बढ़कर घोर अपयश क्या (हो सकता) है ? जङ्गल में मृगाक्षी का क्या हुआ ? हे नाथ ! कहिए, खेद है, कैसा समझते हैं ? ॥ २७ ॥

चिरादुपालम्भः—तमसा के कहने का आशय है कि श्रीरामचन्द्र के मुख से लोक के प्रति उपालम्भ पूर्ण वाक्य तो निकला; किन्तु बहुत देर के बाद । अब इसकी क्या उपयोगिता है ? लोक सीता को अकारण ही बदनाम कर रहा है—यह बात उन्हें पहिले ही समझनी चाहिए थी ।
पाठा०—उचितस्तदुपालम्भः—राम जो लोक को उलाहना दे रहे हैं, वह उचित ही है ।

सीता--तुमं एव्व सहि वासंदि, दारुणा कठोरा अ जा एव्वं अज्जउत्तं पलित्तं पदीवेसि। [त्वमेव सखि वासन्ति ! दारुणा कठोरा च यैवमार्यपुत्रं प्रदीप्तं प्रदीपयसि।]

लोको मम गृहे सीताऽवस्थानं न सहते तस्मात् सा निर्वासितेति रामवचः श्रुत्वा वासन्ती रामं प्राह—**अयीति**। अयि कठोर=भोः कठिन हृदय ! ते=तव, रामस्येत्यर्थः। यशः=कीर्तिः। प्रियम्=अभीष्टम्। किलेति प्रसिद्धौ। ननु=आक्षेपद्योतकमव्ययपदम्। अतःपरम्=अस्मादधिकम्। अयशः=अपकीर्तिः; लोकापवाद इति यावत्। किम्=किमस्ति, न किमपीति भावः। हरिणीदृशः=हरिण्या इव दृशौ नेत्रे यस्यास्तयाः, मृगलोचनायाः सीताया इत्यर्थः। विपिने=अरण्ये, किम् अभवत्, कथय=ब्रूहि। कथं मन्यसे=किं विचारयसि। बतेति खेदे।

अयम्भावः—भोः कठोरहृदय ! तव प्रजावर्गकृतगुणानुकीर्तनरूपं यशः प्रियमिति प्रसिद्धिः, किन्तु सीतानिर्वासनादधिकमयशो न किमप्यस्ति, यशःप्राप्त्यर्थं त्वया सीता निर्वासिता, किन्तु स सीतापरित्यागो वस्तुतस्त्वदयशोहेतुरेव सञ्जातः, नास्ति तत्र यशोलेशोऽपीति भावः। मृगलोचनायाः सीताया अरण्ये किमभवत्, सा जीवति मृता वेति जानासि किमु ? एतस्मिन् विषये नाथ ! त्वं किं विचारयसि ? प्रजानुरञ्जनार्थं सीतामपि परित्यजता त्वया सीतापरित्यागेन यशो भविष्यत्यशो वेति न विचारितमिति भावः।

अत्र यशोलाभाशया सीतानिर्वासनं रामेण कृतम्, किन्तु तद्वैपरीत्येनासन्नप्रसवायास्तस्या निर्वासनाल्लोकापवाद एवाजनि इति विषमो नाम अलङ्कारः–'यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः' इति तल्लक्षणात्। 'हरिणीदृशः' इत्यत्र समासगता लुप्तोपमा चेत्यनयोः परस्परनैरपेक्ष्येण संस्थितेः संसृष्टिः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

सीता—दारुणा भीषणा। कठोरा=कठिना। प्रदीप्तम्=सन्तप्तम्। प्रदीपयसि=सन्तापयसि। पाठा०—विलपन्ती प्रदीपयसि=परिदेवनं कुर्वती सन्तापयसि।

सीता—हे सखि वासन्ति ! तुम्हीं दारुण और कठोर हो; जो इस प्रकार सन्तप्त आर्यपुत्र को सन्तप्त कर रही हो।

अयि कठोर—यह सम्बोधन पद साभिप्राय है। वासन्ती ने इस सम्बोधन पद से अपना यह अभिप्राय प्रकट किया है कि यश के अभिलाषी जनों ने दूसरों के लिए अपने प्राणों तक का परित्याग किया है, आपने भी प्राणों से भी अधिक प्रिय सीता को प्रजा के अनुरञ्जन के लिए त्याग कर यही समझा होगा कि आपने उन्हीं महापुरुषों के व्रत का पालन कर महान् यश अर्जित कर लिया, किन्तु आप इस कृत्य से संसार की दृष्टि में कठोर और अपकीर्ति के भाजन ही सिद्ध हुए हैं।

नाथ—यह सम्बोधन भी व्यङ्ग्यपूर्ण है। वासन्ती का अभिप्राय है कि आप तो सीता के नाथ हैं। उसे निर्वासित कर देने पर भी उसके कुशल-क्षेम का उत्तरदायित्व आप पर आता है, किन्तु आज तक आप ने उसकी खोज-खबर भी नहीं ली, फिर आप कैसे नाथ हैं ?

तमसा—प्रणय एवं व्याहरति शोकश्च ।

रामः—सखि ! किमत्र मन्तव्यम् ?

> **त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे-**
> **स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः ।**
> **ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा**
> **क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता ॥ २८ ॥**

तमसा—प्रणयः = वासन्त्यास्त्वद्विषयकं प्रेम । शोकः = त्वद्दशाजनितो मन्युः । व्याहरति = कथयति ।

अयम्भावः—सन्तप्तमपि रामं वचोभिर्भृशं सन्तापयन्तीं वासन्तीं प्रति 'त्वमेव दारुणा कठोरा चे'ति । खिन्नायाः सीताया वचनं निशम्य तमसा सीतां प्रत्याह—वासन्ती त्वद्विषयकप्रेम्णा त्वन्निर्वासनजनितशोकेन च रामं प्रति सोपालम्भं वचनं वदति तन्नात्र खेदस्त्वया कार्य इति तमसोक्तेरभिप्रायः ।

अन्वयः—त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टेः, परिस्फुरितगर्भभरालसायाः तस्याः ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा अङ्गलतिका नियतं क्रव्याद्भिः विलुप्ता ॥ २८ ॥

'कथं मन्यसे' इति वासन्त्याः प्रश्नं समादधानो रामः प्राह—**त्रस्तैकहायनेति** । त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टेः—त्रस्तः = भीतः, एकहायनः = एकवर्षदेशीयः, कुरङ्गः

क्रव्याद्भिः—क्रव्यम् आममांसम् अदन्ति इति क्रव्यादस्तैः; क्रव्य + √अद् + विट् ('क्रव्ये च' ३।२।६९), विट् का सर्वापहारी लोप । लतिका—ह्रस्वा लता लतिका; लता शब्द से अल्पार्थ में 'अल्पे च' सूत्र से 'क' प्रत्यय, 'केऽणः' सूत्र से 'लता' के आ को ह्रस्व, टाप् 'प्रत्ययस्थात्कात्०' से 'त' के 'अ' को इकारादेश । मृणालकल्पा—मृणालादीषदूना—मृणाल शब्द से 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' से कल्पप् प्रत्यय, ततः टाप् । कल्पप् आदि प्रत्यय तुल्यार्थ में पर्यवसित होते हैं (दण्डी) ।

तमसा—स्नेह और शोक (ही) इस प्रकार कह रहा है ।

राम—सखि ! इसमें विचारना क्या है ?

डरे हुए एक वर्ष वाले मृग की जैसी अतिचञ्चल दृष्टि वाली, स्पन्दमान गर्भ के भार से अलसायी हुई उस(सीता)की चन्द्रिकामयी-सी, कोमल नवीन कमलदण्ड के समान अङ्गलता को निश्चय ही मांसभक्षी जन्तुओं ने विलुप्त कर दिया होगा (खा डाला होगा) ॥ २८ ॥

सीता के अङ्ग की लता, ज्योत्स्ना, मृदु-नूतनमृणाल से समता देकर कवि ने उसकी सौन्दर्यातिशयशीलता तो अभिव्यक्त ही की है, कवि का यह भी अभिप्राय है कि उसके शरीर को विनष्ट करने में हिंस्र जन्तुओं को विलम्ब भी न लगा होगा । 'त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टेः' पद से सीता के नेत्रसौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उसकी कातरता और दैन्यावस्था की अभिव्यंजना की गयी है । 'परिस्फुरितगर्भभरालसायाः' पद से सीता की ऐसी विवशता अभिव्यक्त की गयी है कि वह अपनी रक्षा के लिए अन्यत्र भागने में भी असमर्थ थी ।

सीता—अज्जउत्त, धरामि एसा धरामि । [आर्यपुत्र ! ध्रिये एषा ध्रिये ।]

रामः—हा प्रिये जानकि ! क्वासि ?

सीता—हद्धी ! हद्धी ! अण्णो विअ अज्जउत्तो प्रमुक्ककण्ठं रोइदि । [हा धिक् ! हा धिक् ! अन्य इवार्यपुत्रः प्रमुक्तकण्ठं रोदिति ।]

तमसा—वत्से ! साम्प्रतिकमेवैतत् । कर्त्तव्यानि खलु दुःखितैर्दुःखनिर्वापणानि ।

=मृगः, तस्येव विलोले=अतिचञ्चले, दृष्टी=नेत्रे, यस्यास्तस्याः । परिस्फुरितगर्भभरालसायाः—परिस्फुरितः=प्रसवकालतया स्पन्दमानः, गर्भः=गर्भस्थशिशुः, तस्य भरेण=भारेण, अलसायाः=धावनेऽसमर्थाया इत्यर्थः । तस्याः=सीतायाः । ज्योत्स्नामयी=चन्द्रिकानिर्मिता, अतिशुभ्रेत्यर्थः । मृदुबालमृणालकल्पा—मृदु=कोमलम्, यत् बालमृणालम्=नवोद्गतो बिसदण्डः, तस्मादीषदूना तद्वत् कोमला अत एव मृणालवत्सुखभक्ष्या इति भावः । अङ्गलतिका=देहलता । नियतम्=निश्चितम् । क्रव्याद्भिः—हिंस्रजन्तुभिः । विलुप्ता=नाशिता, भक्षितेत्यर्थः ।

अयम्भावः—सखि वासन्ति ! सीताविषये विचारणीयं किमस्ति ? तत्तु विचारितमेव, स्वभावेन भीरुतया यस्या नेत्रे भीतस्यैकवर्षदेशीयस्य मृगस्येव चञ्चले, या च प्रसवकालतया स्पन्दमानस्य गर्भस्थशिशोर्भारेणात्मानं त्रातुं पलायनेऽसमर्था तस्याः सीताया नवोद्गतमृणालतुल्यं तस्मात् सुखेन भक्ष्यं चन्द्रिकावदतिशुभ्रं लतामप्यतिशयानं शरीरमवश्यमेव हिंस्रजन्तुभिर्भक्षितमित्येव सम्भावयामीति भावः । उपमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २८ ॥

श्रीराममुखात् स्वविलोपवार्तां निशम्य सीताऽऽह—आर्यपुत्र ! ध्रिये=अवतिष्ठे, जीवामीत्यर्थः । सम्भ्रमे द्विरुक्तिः । 'धरामि' इति पाठे धारयामीति तदर्थः । यां क्रव्याद्भिर्विलुप्तां मन्यसे तामङ्गलतिकां धारयामीति भावः । न तु क्रव्याद्भिर्विलुप्ताऽस्मि ।

तथा च रामे विलापं कुर्वति सति सीतात्मानं निन्दति—हा धिगिति । हा धिक् (माम्) यतो मत्कारणादेवार्यपुत्रोऽपि साधारणजन इव प्रमुक्तकण्ठम्=अत्युच्चैःस्वरं यथा स्यात्तथा रोदिति । कण्ठपदस्य कण्ठस्वरूपार्थे लक्षणा । 'रोदिति' इत्यस्य स्थाने 'प्ररुदितो भवति' इति पाठेऽपि स एवार्थः । रुदधातोरकर्मकत्वात् कर्तरि क्तः ।

ध्रिये—'धृङ् अवस्थाने' धातु से लट् (उत्तमपुरुष एकवचन में इट् विभक्ति) ।

सीता—आर्यपुत्र ! जी रही हूँ, यह मैं जी रही हूँ ।

राम—हाय, प्रिये जानकि ! (तुम) कहाँ हो ?

सीता—हाय (मुझे) धिक्कार है, धिक्कार है । (जिसके कारण) अन्य (साधारण) जन की भाँति आर्यपुत्र मुक्तकण्ठ से रो रहे हैं ।

तमसा—पुत्री ! यह उचित ही है । दुःखी लोगों के द्वारा दुःख का उपशमन किया जाना ही चाहिए ।

पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥ २९ ॥

विशेषतो रामभद्रस्य यस्य बहुतरप्रकारकष्टो जीवलोकः।

सीताया इदं वचनमाकर्ण्य तमसा रामविलापस्यौचित्यं प्रतिपादयति—वत्से जानकि! एतत् प्रमुक्तकण्ठं रोदनं तु साम्प्रतिकम्=युक्तमेव; यतः सञ्जातदुःखैर्जनैः दुःखनिर्वापणानि=दुःखोपशमनानि कर्त्तव्यान्येव। 'दुःखनिर्धारणानि' इति पाठे दुःखासह्यत्वनिश्चया इति तदर्थः।

अन्वयः—तटाकस्य पूरोत्पीडे परीवाहः प्रतिक्रिया। शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥ २९ ॥

तमसा 'कर्त्तव्यानि खलु दुःखितैर्दुःखनिर्वापणानि' इति स्वोक्तिं स्फुटीकर्तुमाह—पूरोत्पीड इति। तटाकस्य=जलाशयस्य। पूरोत्पीडे—पूरस्य=जलप्रवाहस्य, उत्पीडे=आधिक्ये। परीवाहः=प्रणाल्या जलनिःसारणम्। प्रतिक्रिया=प्रतीकारः, तटभङ्गरक्षणोपाय इत्यर्थः। शोकक्षोभे—शोकेन=इष्टजनविनाशजन्यदुःखेन, क्षोभे=अस्थैर्ये। प्रलापैः=मुक्तकण्ठं रुदितैः। धार्यते=रक्ष्यते।

अयम्भावः—यथा जलाशयस्य जलप्रवाहाधिक्ये सति प्रणाल्या जलनिःसारणमेव तटभेदनिवारणोपायोऽस्ति तथैवेष्टजनविनाशजन्यदुःखेन प्रकृतिविपर्यासे सति हृदयं मुक्तकण्ठं रुदितैरेव व्यवस्थाप्यते, अन्यथा शोकावेगेन भिद्येत।

अत्र पूरोत्पीडेन शोकक्षोभस्य, तटाकेन हृदयस्य; परीवाहेण प्रलापानां प्रणिधानगम्यसाम्यतया दृष्टान्तो नामालङ्कारः ॥ २९ ॥

तमसा पुनरग्रे प्राह—विशेषतः=अन्यापेक्षया विशेषेण, बहुप्रकारकष्टः—बहवः=अनेके, प्रकाराः=भेदाः, यस्मिंस्तद् बहुप्रकारं कष्टम्=दुःखं, यस्मिन् सः। जीव-

---

साम्प्रतिकम्—साम्प्रतमेव साम्प्रतिकम् (स्वार्थे ठक्)। निर्वापणानि—निर्+√वा+णिच्, पुक् का आगम+ल्युट्। दुःखितैः—दुःख+इतच् ('तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्')। परीवाहः—परि+√वह्+घञ् (भावे) 'उपसर्गस्य घञ्य-

---

तडाग की जलवृद्धि अधिक हो जाने पर (नाली द्वारा) जल को निकाल देना (ही) प्रतीकार है। शोक से विक्षोभ होने पर प्रलापों (रोना-पीटना) के द्वारा ही हृदय धारण किया जाता है ॥ २९ ॥

विशेष रूप से रामभद्र के लिए (रोना युक्त ही है), जिनका संसार (अर्थात् सांसारिक जीवन) बहुत प्रकार के कष्टों से युक्त है।

दुःखनिर्वापणानि—निर्वापण का अर्थ 'बुझाना' होता है, दुःख की तुलना अग्नि से की जाती है, अतः उसके लिए निर्वापण शब्द का प्रयोग समीचीन है।

पूरोत्पीडे—पूर शब्द का अर्थ है—जल का बढ़ना ('पूरः स्यादम्भसां वृद्धौ' इति है॰),
उत्पीड का अर्थ है—आधिक्य।

परीवाहः—परिवाह्यत इति परीवाहः=प्रणाली आदि के द्वारा जल को निकालना।

इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा
प्रियाशोको जीवं कुसुममिव घर्मो ग्लपयति।
स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभ-
स्तदद्याप्युच्छ्वासो भवति ननु लाभो हि रुदितम्॥ ३०॥

लोकः = जीवानां लोकः, संसार इत्यर्थः। अन्यापेक्षया विशेषेण रामभद्रस्य हृदयं तु प्रलापैरेव धार्यते, यतो रामभद्रस्य जीवनं बहुप्रकारकष्टयुक्तमस्तीति भावः।

अन्वयः—अभियुक्तेन मनसा इदं विश्वं विधिवत् परिपाल्यम्; प्रियाशोकः घर्मः कुसुममिव जीवं ग्लपयति, स्वयं त्यागं कृत्वा विलपनविनोदः अपि असुलभः, तत् अद्यापि उच्छ्वासो भवति, ननु रुदितं लाभो हि॥ ३०॥

इदमिति। अभियुक्तेन = सावधानेन। पाल्यम् = रक्षणीयम्। प्रियाशोकः = सीतावियोगजन्यं दुःखम्। घर्मः = आतपः। जीवम् = जीवनम्, प्राणानित्यर्थः। ग्लपयति = शोषयति। विलपनविनोदः—विलपनेन = परिदेवनेन। विनोदः = शोकापनयनम्। असुलभः = दुर्लभः। तत् = तथापि। उच्छ्वासः = प्राणधारणम्। रुदितम् = रोदनम्। लाभः = लाभायैवेत्यर्थः।

अयम्भावः—क्षत्रियधर्मानुसारेण प्रजापालनस्यावश्यकत्वादयं संसारः सावधानेन

मनुष्ये बहुलम्' सूत्र से उपसर्ग 'परि' को दीर्घ। प्रतिक्रिया—प्रति + √कृ + श (भावे)-रिङ् आदेश, इयङ् + टाप्। धार्यते—√धृ + णिच् + लट् (कर्मणि)। विशेषतः—विशेषेण; सार्वविभक्तिकः तसिः।

पाल्यम्—√पाल् + ण्यत् (ऋहलोर्ण्यत्)। विधिवत्—विधिमर्हति; विधि + वति (तदर्हम्)। अभियुक्तेन—अभि + √युज् + क्त। ग्लपयति—√ग्लै + णिच्,

---

सावधान मन से इस संसार का विधिवत् पालन करना पड़ता है, प्रिया (सीता) का शोक पुष्प को आतप की तरह (उनके) जीवन को म्लान करता रहता है, (तुम सीता का) स्वयं (स्वेच्छा से) त्याग कर विलापों द्वारा शोक का अपनोदन भी (उन्हें) दुर्लभ है; फिर भी प्राण धारण किये हुए हैं, निश्चय ही रोदन लाभप्रद है॥ ३०॥

इस श्लोक में 'सावधान मन से विश्वपालन रूप' कारण राम के जीवन की कष्टमयता के प्रदर्शनार्थ उपनिबद्ध किये जाने पर भी 'खले कपोतिकान्यायेन' प्रियाशोक तथा विलापदौर्लभ्यादि कारणों का उपन्यास होने से 'समुच्चय' अलङ्कार है। 'कुसुममिव घर्मः' यहाँ उपमाऽलंकार है। इन दोनों अलङ्कारों का संकर है।

असुलभः—यहाँ कवि को 'न सुलभः' पद का प्रयोग करना चाहिए था, क्योंकि तभी 'सुलभ होने' के विपरीत 'नहीं सुलभ होने' का अभिप्राय, जो कि यहाँ 'नञ्' का प्रसज्यप्रतिषेधरूप अभिप्राय है, प्रधान रूप से प्रकाशित हो सकता था, किन्तु समास में पड़ जाने से यह अभिप्राय अप्रधान बन गया है, जिससे यहाँ 'अविमृष्टविधेयांश' रूप दोष उपस्थित हो गया है। नञ् के प्रसज्यप्रतिषेध (प्राप्ति के विपरीत निषेध) अभिप्राय में विध्यंश की अप्रधानता और प्रतिषेध अंश की प्रधानता होती है और नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ रहता है—

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता। प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥'

रामः—कष्टं भोः! कष्टम्।

दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्॥ ३१॥

मनसा रामेण परिपालनीयोऽस्ति; अपरतो यथाऽऽतपः कुसुमं तथा सीतावियोगजन्यशोको रामस्य जीवनं म्लानं करोति। प्राक् स्वयमेव सीतायास्त्यागं कृत्वा पश्चात्तदर्थं परिदेवनेन लोको मामुपहसिष्यतीति विचिन्त्य विलापैः शोकापनोदनेऽपि रामोऽसमर्थस्तथाप्यद्यापि प्राणधारणं भवति, निश्चितं रोदनं रामस्य लाभायैवेति भावः॥ ३०॥

अन्वयः—गाढोद्वेगं हृदयं दलति, द्विधा तु न भिद्यते। विकलः कायः मोहं वहति चेतनां न मुञ्चति। अन्तर्दाहः तनूं ज्वलयति, भस्मसात् न करोति। मर्मच्छेदी विधिः प्रहरति, जीवितं न कृन्तति॥ ३१॥

समधिकशोकवेदनामसहमानो रामः स्वदशां प्रतिपादयति—**दलतीति**। गाढोद्वेगम्—गाढः=प्रबलः, उद्वेगः=शोकव्यथा, यस्मिंस्तत्। हृदयं दलति=हृदयं स्फुटति। द्विधा न भिद्यते=द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां न भिन्नं भवति, हृदयस्य शकलद्वयं न जायते। गाढोद्वेगमित्यस्य स्थाने 'गाढोद्वेगः' इति पाठे तत्रेदं कर्तृपदं हृदयमिति च

आत्व-पुक् का आगम (ग्लापि) ('ग्लास्नावनुवमां च' गणसूत्र १९१) वैकल्पिक मित्त्व होने से ह्रस्व, (ग्लपि)+लट् (तिप्)-ग्लपयति; पक्ष में 'ग्लापयति' भी। विनोदः—वि+√नुद्+घञ् (भावे)। असुलभः—नञ्+सु+√लभ्+खल् (अ)—'ईषद्दुःसुषुकृच्छ्रार्थेषु खल्' सूत्र से। उच्छ्वासः—उद्+√श्वस्+घञ् (भावे)।

उद्वेगः—उद्+√विज्+घञ्। भिद्यते—कर्मकर्तरि लट्। ज्वलयति—√ज्वल्+णिच्+लट्; 'मितां ह्रस्वः' से उपधा को ह्रस्व। भस्मसात्—भस्मन्+साति ('विभाषा साति कार्त्स्न्ये' ५।४।५२)। मर्मच्छेदी—मर्मन्+√छिद्+णिनि।

राम—अरे! कष्ट है, कष्ट है।

गाढ व्यथा-सम्पन्न हृदय फटता (तो) है, किन्तु दो खण्डों में विभक्त नहीं होता; शोकविह्वल शरीर मूर्च्छा को धारण (तो) करता है, किन्तु चेतना को नहीं छोड़ता; हृदय का सन्ताप शरीर को जलाता (तो) है, किन्तु भस्म नहीं करता, मर्मान्तिक पीडा देने वाला दैव प्रहार (तो) करता है, किन्तु जीवन को काटता नहीं (समाप्त नहीं करता)॥ ३१॥

इस श्लोक में दलनादि रूप कारण के होने पर भी द्विधाभेदनादि रूप फल के न होने से विशेषोक्ति अलङ्कार है। कतिपय विद्वान् प्रत्येक चरण में विरोधाभास अलङ्कार मानते हैं, कतिपय 'परिसंख्या' अलङ्कार मानते हैं। यह श्लोक 'मालतीमाधव' (अङ्क ९, श्लोक १२) में भी आया है।

सीता—एव्वं ण्णेदं [एवं न्विदम्]

रामः—हे भगवन्तः पौरजानपदाः !

न किल भवतां देव्याः स्थानं गृहेऽभिमतं तत-
स्तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता ।

कर्मपदं, क्रियापदस्यापि 'विदारयती'त्यर्थो बोध्यः । 'शोकोद्वेगात्' इति पाठे—शोकेन = इष्टवियोगजनितमन्युना, य उद्वेगः = व्याकुलत्वं, तस्मादित्यर्थो बोध्यः। विकलः = शोकविह्वलः । कायः = शरीरम् । मोहम् = मूर्च्छाम् । वहति = धारयति। चेतनाम् = चैतन्यम् । न मुञ्चति = न त्यजति । अन्तर्दाहः = अन्तःकरणतापः। तनूम् = शरीरम् । ज्वलयति = सन्तापयति । भस्मसात् न करोति = भस्मीभूतां न करोति । मर्मच्छेदी—मर्माणि = जीवितस्थानानि, छिनत्ति = विदारयति इति तादृशः। विधिः = भाग्यम् । प्रहरति = प्रहारं करोति । जीवितम् = जीवनम् । न कृन्तति = न छिनत्ति ।

अयम्भावः—प्रबलशोकोद्वेगसम्पन्नतया हृदयं स्फुटति, किन्तु स्फुटितत्वेऽपि तस्य शकलद्वयं न भवति, भवेच्चेत्तर्हि दुःखमेतादृशं न भवेत्; शोकविह्वलं शरीरं मूर्च्छां धारयति किन्तु धृतमूर्च्छत्वेऽपि चैतन्यं न मुञ्चति, चैतन्यत्यागरूपे मरणे सञ्जाते नैतादृशं दुःखमनुभवेयम्; मनस्तापः शरीरं सन्तापयति किन्तु भस्मसात् न करोति, मनस्तापः शरीरं भस्मसादकरिष्यच्चेत्तर्ह्येतादृशो विरहसन्तापो नाभविष्यत् । मर्मभेदी विधिः प्रहारं करोति किन्तुं जीवनं न छिनत्ति, विधिना जीवनविनाशे कृते तु मुहुर्मुहुरेतादृशं वियोगजनितदुःखं नानुभवेयमिति भावः ।

अत्र दलनादौ कारणे सत्यपि द्विधाभेदनादिरूपफलाभावात् चतुर्ष्वपि चरणेषु विशेषोक्त्यलङ्काराणां मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । हरिणीवृत्तम् ॥ ३१ ॥

अपि च रामः पौरान् जानपदांश्च सम्बोध्य प्राह—भगवन्तः = महानुभावाः ! पौरजानपदाः—पौराः = पुरवासिनः, जानपदाः = जनपदवासिनः !

अभिमतम्—अभि + √मन् + क्त । त्यक्ता—√त्यज् + क्त + टाप् । अनु-

---

सीता—यह बात ऐसी ही है ।

राम—हे महानुभाव पुरवासियो और जनपदवासियो !

देवी (सीता) का (मेरे) घर में रहना आप लोगों को अभिमत नहीं है—ऐसा सुना गया, अतः वह तृण के समान निर्जन वन में त्याग दी गयी और उसके लिए शोक भी नहीं किया गया,

---

इस श्लोक में एक स्थान पर 'माम्' ऐसा एकवचनान्त और दूसरी जगह 'अस्माभिः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग युक्त नहीं लगता, किन्तु ऐसे अयुक्त प्रयोग से राम का चित्त विक्षेप सूचित होता है, जो विप्रलम्भश्रृङ्गार का पोषक है, अतः कोई दोष नहीं है । इसी प्रकार 'तृणमिव' में उपमानोपमेय के लिङ्गभेद से उपमा में दोष नहीं है, ऐसा प्रयोग प्रायः देखने में आता है—'हंसीव धवलश्चन्द्रः' 'छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ।'

चिरपरिचितास्ते ते भावाः परिद्रवयन्ति मा-
मिदमशरणैरद्यास्माभिः प्रसीदत रुद्यते ॥ ३२ ॥

वासन्ती—(स्वगतम्) अतिगम्भीरमापूरणं मन्युसम्भारस्य। (प्रकाशम्) देव ! अतिक्रान्ते धैर्यमवलम्ब्यताम् ।

अन्वयः—देव्याः गृहे स्थानं भवतां न अभिमतं किल, ततः शून्ये वने तृणमिव त्यक्ता, न चापि अनुशोचिता, चिरपरिचिताः ते ते भावाः मां परिद्रवयन्ति, अशरणैः अस्माभिः इदं रुद्यते, प्रसीदत ॥ ३२ ॥

न किलेति । देव्याः=सीताया इत्यर्थः । स्थानम्=स्थितिः । न अभिमतम्=नेष्टम् । किलेति वार्तायाम् । ततः=तस्माद्धेतोः । तृणमिव=तृणमिव व्यर्थप्राया मन्यमानेत्यर्थः । शून्ये=निर्जने । अनुशोचिता=सीतार्थमनुशोकोऽपि न कृत इत्यर्थः । चिरपरिचिताः=सीतया सह सुचिरमनुभूताः । भावाः=पदार्थाः । परिद्रवयन्ति=द्रवीभूतं कुर्वन्ति । परिभ्रमयन्तीति पाठे विकलं कुर्वन्तीत्यर्थः । अशरणैः=रक्षकरहितैः, निरुपायैरिति यावत् ('शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः) । रुद्यते=रोदनं क्रियते । प्रसीदत=प्रसन्ना भवत ।

अयम्भावः—हे महानुभावाः पौराः जानपदाश्च ! देव्याः सीताया मम गृहेऽवस्थानं भवतां नाभिमतमिति मया श्रुतं तस्माद्धेतोः सा तृणमिव व्यर्थप्राया मन्यमाना निर्जने वने मया त्यक्ता, तस्याः कृते मनागपि शोको न कृतः, किन्त्वद्य सीतया सह सुचिरं पूर्वानुभूताः सर्वे ते तरुशकुनिकुरङ्गादयः गिरिकाननादयश्च पदार्थाः पुनर्दृष्टाः सन्तः मां राममार्द्रीकुर्वन्तो विलापयन्तीति निरुपायैरस्माभिरिदं रोदनकर्म क्रियते, युष्माकमभीप्सितं जातमिति यूयं प्रसन्ना भवतेति भावः ।

अत्र सीतात्यागरूपस्य कारणस्य सत्त्वेऽपि शोचनरूपस्य कार्यस्याभावाद्विशेषोक्तिरलङ्कारः । 'तृणमिवे'त्यत्रोपमा चेत्युभयोः सङ्करः । हरिणी वृत्तम् ॥ ३२ ॥

वासन्ती रामस्य मन्युसम्भारस्य=राशेः, 'शोकसागरस्य' इत्यपि पाठः; अतिगम्भीरम्=अतिशयगूढम्, 'अविगूरणमि'ति पाठे मर्यादामुल्लङ्घ्य गमनमित्यर्थो बोध्यः; आपूरणम्=परिपूर्णतां, स्वमनसि विचिन्त्य रामं प्रत्याह—महाराज ! अतिक्रान्ते=सीतानिर्वासनादिरूपेऽतीतविषये, धैर्यमवलम्ब्यताम्=धैर्यमाश्रीयताम्, धैर्यावलम्बनमेवोचितमनुशोचनेन नास्ति किमपि साध्यम्, गतं नानुशोचनीयमिति भावः ।

शोचिता—अनु + √शुच् + क्त + टाप् । परिद्रवयन्ति—परिद्रववन्तं करोति; परिद्रववत् + णिच्, इष्ठवद्भाव होने से मतुप् का लोप । अतिक्रान्ते—अति + √क्रम् + क्त (कर्तरि) ।

किन्तु चिरपरिचित वे-वे (सभी) पदार्थ (आज पुनः देखे जाने पर) मुझे द्रवित कर रहे हैं, (अतः) निरुपाय हम रो रहे हैं, अब प्रसन्न होइए ॥ ३२ ॥

वासन्ती—(स्वगत) शोकसंघात की अतिगम्भीर पूर्णता है। **(प्रकाश)** महाराज ! बीती बातों के विषय में धैर्य का अवलम्बन करें ।

रामः--सखि ! किमुच्यते धैर्यमिति ।

देव्या शून्यस्य जगतो द्वादशः परिवत्सरः ।
प्रनष्टमिव नामापि न च रामो न जीवति ॥ ३३ ॥

सीता—मोहिदम्हि एदेहिं अज्जउत्तवअणेहिं । [मोहितास्म्येतैरार्यपुत्रवचनैः।]

तमसा—एवमेव वत्से !

नैताः प्रियतमा वाचः स्नेहार्द्राः शोकदारुणाः ।
एतास्ता मधुनो धाराः श्च्योतन्ति सविषास्त्वयि ॥ ३४ ॥

रामस्तदुक्तिमाकर्ण्य प्राह—सखि ! किमुच्यते धैर्यम् = धैर्यमवलम्ब्यतामिति त्वया न वक्तव्यं मया तु धैर्यस्य पराकाष्ठा प्रदर्शिता ।

अन्वयः—देव्याशून्यस्य जगतः द्वादशः परिवत्सरः नामापि प्रनष्टमिव रामः च न जीवति ॥ ३३ ॥

देव्या इति । देव्या = सीतया, शून्यस्य = विरहितस्य, जगतः = लोकस्य, द्वादशः परिवत्सरः संवत्सरो वर्तते । सीतायाः नामापि = सीतेत्यभिधानमपि, प्रनष्टमिव = विलुप्तमिव, जातं तस्या दयादाक्षिण्यसहानुवर्तनादिगुणगणस्य तु का कथा ? एतादृशे व्यतिकरेऽपि रामो न जीवति इति न, अपि तु जीवत्येव, तदिदं मदीयं जीवनं धैर्यस्य पराकाष्ठैवेति रामोक्तेराशयः । प्रनष्टमिवेत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ३३ ॥

रामवचनानि निशम्य **सीता** तमसां प्रत्याह—एतैरार्यपुत्रवचनैर्मोहिताऽस्मि = विह्वलाऽस्मि ।

रामवचनैर्विह्वलां क्रियमाणां सीतां प्रति तमसाऽऽह—

अन्वयः—स्नेहार्द्राः शोकदारुणाः, एताः वाचः प्रियतमाः न । ताः एताः सविषाः मधुनः धाराः त्वयि श्च्योतन्ति ॥ ३४ ॥

द्वादशः—द्वादशानां पूरणः; 'तस्य पूरणे डट्' द्वादशन् + डट् (अ), डित्वाट्टिलोप—द्वादशः । प्रनष्टम्—प्र + √नश् + क्त (कर्तरि); 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' सूत्र से प्राप्त णत्व का 'नशेः षान्तस्य' सूत्र से निषेध हो गया। श्च्योतन्ति—√श्च्युत् (अथवा श्चुत्) + लट्–श्च्योतन्ति, श्चोतन्ति वा ।

राम—क्या कह रही हो, धैर्य ?

देवी से शून्य संसार का बारहवाँ वर्ष है, (उसका) नाम भी जैसे विलुप्त हो गया, राम नहीं जीवित है, (ऐसी बात) नहीं ॥ ३३ ॥

सीता—आर्यपुत्र के इन वचनों से मैं मोहित (विह्वल) हो रही हूँ ।

तमसा—वत्से ! ऐसा ही है ।

प्रेम से सिक्त और शोक से निष्ठुर राम के ये वचन निरतिशय प्रीतिकारक नहीं हैं । वे ये (राम के वचन) विष से सम्पृक्त मधु की धारा (के रूप में) तुम्हारे ऊपर चू रहे हैं (बरस रहे हैं) ॥ ३४ ॥

न च रामो न जीवति—जहाँ दो 'न' का प्रयोग होता है, वहाँ स्वीकारोक्ति ही होती है। 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' (काव्यालङ्कारसूत्र, ५।२।१९)

रामः—अयि वासन्ति ! मया खलु –

यथा तिरश्चीनमलातशल्यं प्रत्युप्तमन्तः सविषश्च दंशः।
तथैव तीव्रो हृदि शोकशङ्कुर्मर्माणि कृन्तन्नपि किं न सोढः॥ ३५॥

नैता इति । स्नेहार्द्राः—स्नेहेन = अनुरागेण, आर्द्राः = शीतलाः । शोकदारुणाः—शोकेन = त्वद्वियोगजन्यमन्युना, दारुणाः = निष्ठुराः । वाचः = वचनानि । प्रियतमाः = निरतिशयप्रीतिवहाः । मधुनः = पुष्परसस्य । सविषाः = गरलसहिताः । धाराः = प्रवाहाः । त्वयि = सीतायाम् । श्च्योतन्ति = स्रवन्ति ।

अयम्भावः—वत्से ! अनुरागसिक्ताः शोकेन दारुणाश्चैता वाचो निरतिशयप्रीतिवहा न सन्ति, अपि तु ताः तथाभूताः एताः रामवाचस्तवापवादरूपविषसम्पृक्ता मधुनो धारास्त्वयि स्रवन्ति, तत्स्नेहार्द्रा अपि शोकदारुणा एता वाचस्त्वां मोहयन्तीति भावः । अत्रापह्नुतिरलङ्कारः ।। ३४ ।।

अन्वयः—अन्तः प्रत्युप्तम् तिरश्चीनम् अलातशल्यं सविषः दंशश्च यथा, तथैव तीव्रः हृदि शोकशङ्कुः मर्माणि कृन्तन् अपि किं न सोढः ।। ३५ ।।

रामः पुनराह—**यथेति** । अन्तः = वक्षःस्थले । प्रत्युप्तम् = निखातम् । तिरश्चीनम् = तिर्यग्भूतम् । अलातशल्यम् = अङ्गारमयं लोहकीलकम् ('अङ्गारेऽलातमुल्मुकम्' इत्यमरः) । सविषः = गरलयुक्तः । दंशः = दन्तप्रवेशः, (सर्पादेः) । यथा = येन प्रकारेण (तीव्रः) । तथैव = तेनैव प्रकारेण । तीव्रः = तीक्ष्णः, नितरां दुःसहः । हृदि = हृदये (प्रत्युप्तः) । शोकशङ्कुः = शोकरूपकीलकम् । मर्माणि = मर्मस्थलानि । कृन्तन्नपि = छिन्दन्नपि । मया = रामेण । किं न सोढः = न व्यसह्यत किम् ? अपि तु सोढ एवेत्यर्थः ।

अयम्भावः—अयि वासन्ति ! यथा वक्षःस्थले निखातमङ्गारकीलकं तिर्यग्भूतं सत् कष्टप्रदं दुःसहं च भवति यथा वा सविषः सर्पादीनां दन्तप्रवेशो दुःखप्रदत्वेनासह्यो भवति तथैव नितरां दुःसहो हृदये प्रत्युप्तः शोकशङ्कुर्मर्मस्थलानि छिन्दन्नपि मया किं

तिरश्चीनम्—तिर्यगेव तिरश्चीनम् । तिरस् + √अञ्च् + क्विन् (क्विन् का सर्वापहारी लोप), तिरस् + अञ्च् + ख (ईन) स्वार्थ में; 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से अनुनासिक लोप, 'अचः' से अञ्च् के अकार का लोप–तिरस् च् ईन, श्चुत्व–तिरश्चीनम् । प्रत्युप्तम्—प्रति + वप् + क्त (कर्मणि), 'वचिस्वपियजादीनां किति' सूत्र से सम्प्रसारण; प्रति + उ + अप् + त–'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप, उ + अ = उ, यणादेश–प्रत्युप्तम् । कृन्तन्—√कृती छेदने + लट् (शतृ) । सोढः—√सह् + क्त (कर्मणि) ।

राम—अरी वासन्ति ! मैंने—

भीतर (हृदय में) गाड़ा हुआ तिरछा अङ्गारमय लोहकील और विष सहित (सर्पादि का) दन्तप्रवेश जिस प्रकार तीव्र (होता है) उसी प्रकार तीव्र, मर्मस्थलों को छेदता हुआ, हृदय में रहने वाला शोकशङ्कु क्या नहीं सहा ? ॥ ३५ ॥

सीता—एव्वं म्हि मंदभाइणी पुणोपि आआसआरिणी अज्जउत्तस्स।
[एवमस्मि मन्दभागिनी पुनरप्यायासकारिण्यार्यपुत्रस्य ।]

रामः—एवमतिनिष्कम्पस्तम्भितान्तःकरणस्यापि मम संस्तुततत्तत्प्रियवस्तुदर्शनादुद्दामोऽयमावेगः । तथा हि—

लोलोल्लोलक्षुभितकरुणोज्जृम्भणस्तम्भनार्थं
यो यो यत्नः कथमपि मयाऽऽधीयते तं तमन्तः ।
भित्त्वा भित्त्वा प्रसरति बलात् कोऽपि चेतोविकार-
स्तोयस्येवाप्रतिहतरयः सैकतं सेतुमोघः ॥ ३६ ॥

न सोढः ? अपि तु सोढ एव । तत्कथं वदसि धैर्यमवलम्ब्यतामिति । अत्रोपमारूपकयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः सङ्कररूपा उपजातिर्वृत्तम् ॥ ३५ ॥

रामस्य शोकावेगं दृष्ट्वा सीताऽऽत्मानं निन्दति—एवमस्मि = अहमीदृशी मन्दभागिनी, यदार्यपुत्रस्य पुनरपि आयासकारिणी = कष्टप्रदायिनी, कष्टं ददामीत्यर्थः ।

'यद्येवं भवान् धैर्यशाली तर्हि किमिति खिद्यते' इति शङ्कां निरस्यति रामः—अतिनिष्कम्पस्तम्भितान्तःकरणस्य—अतिनिष्कम्पम् = अतिनिश्चलं यथा तथा, 'अतिगूढम्' इति पाठे अतिगुप्तं यथा तथेत्यर्थः, स्तम्भितम् = रुद्धम्, अन्तकरणम् = चित्तं येन तस्य । संस्तुततत्तत्प्रियवस्तुदर्शनात्—संस्तुतानि = परिचितानि, सीतया सह पूर्वं साक्षात्कृतानीति यावत्, तानि तानि प्रियाणि वस्तूनि = तरुशकुनमृगादयः पदार्थाः, तेषां दर्शनात् । उद्दामः = संवृद्धः । आवेगः = चित्तविकारः ।

अयम्भावः—एवं पूर्वोक्तप्रकारेणातिनिश्चलं यथा तथा मया रुद्धेऽपि चित्ते, प्राक् सीतया सह साक्षात्कृतानां तत्तत्तरुशकुनिमृगगिरिकाननादीनां प्रियपदार्थानां पुनर्दर्शनान्ममायमनुभूयमानश्चित्तविकारः प्रवृद्धो जायते ।

अन्वयः—लोलोल्लोलक्षुभितकरुणोज्जृम्भणार्थं मया यो यो यत्नः कथमपि आधीयते तं तं कोऽपि चेतोविकारः तोयस्य अप्रतिहतरयः ओघः सैकतं सेतुमिव अन्तः बलात् भित्त्वा भित्त्वा प्रसरति ॥ ३६ ॥

संस्तुतः—सम् + √स्तु + क्त । उज्जृम्भणः—उद् + √जृम्भ + ल्युट् । आधीयते—आ + √धा + लट् (कर्मणि) । भित्त्वा—√भिद् + क्त्वा । सैकतम्—सिकता + अण् (सिकताशर्कराभ्यां च ५।२।१०४) ।

सीता—मैं ऐसी भी अभागिन हूँ, जो आर्यपुत्र के लिए पुनः क्लेशकारिणी हुई ।

राम—इस प्रकार मुझ अतिनिश्चल रूप से रुद्ध किये हुए अन्तःकरण वाले का भी, उन पूर्व परिचित वस्तुओं के देखने से यह चित्त-विकार अनियन्त्रित भाव से बढ़ गया । जैसा कि—

चञ्चल महातरङ्ग के समान क्षोभ को प्राप्त शोक की अभिवृद्धि को रोकने के लिए मुझ से किसी प्रकार जो-जो यत्न किया जाता है, उस-उसको बीच में ही बलपूर्वक छिन्न-भिन्न कर अनि-

---

अतिनिष्कम्पस्तम्भित०—'अतिनिष्कम्पम्' क्रिया-विशेषण है; अन्यथा स्तम्भित पद व्यर्थ हो जायेगा ।

सीता—एदिणा अज्जउत्तस्स दुव्वारदारुणारम्भेण दुक्खसंखोएण परिमुसिअणिअदुक्खं किंपि पमुद्धं मे हिअअं। [एतेनार्यपुत्रस्य दुर्वारदारुणारम्भेण दुःखसङ्क्षोभेण परिमुषितनिजदुःखं किमपि प्रमुग्धं मे हृदयम्।]

वासन्ती—(स्वगतम्) कष्टमभ्यापन्नो देवः। तदन्यतः क्षिपामि तावत्। (प्रकाशम्) चिरपरिचितानिदानीं जनस्थानभागानवलोकनेन मानयतु देवः।

इममेवार्थं द्रढयति—लोलोल्लोलेति। लोलोल्लोल०—लोलः=अतिचञ्चलः, यः उल्लोलः=महातरङ्गः, स इव क्षुभितः=क्षोभं प्राप्तः (वेलोल्लोलेत्यादिपाठे वेलायाः =मर्यादायाः, उल्लोलः=उद्गतः, क्षुभितः=क्षोभं प्राप्तः इत्यर्थो बोध्यः) यः करुणः =शोकः, तस्य उज्जृम्भणम्=अभिवृद्धिः, तस्य स्तम्भनार्थम्=तन्निवारणार्थम्। यत्नः=प्रयासः। कथमपि=केनापि प्रकारेण। आधीयते=क्रियते, 'समाधीयते' इति पाठेऽप्ययमेवार्थः। कोऽपि=अनिर्वचनीयः। चेतोविकारः=मनोविकृतिः। तोयस्य =जलस्य। अप्रतिहतरयः=अप्रतिरुद्धवेगः। ओघः=प्रवाहः। सैकतम्=बालुकामयम्। अन्तः=मध्ये, आधानस्तम्भनयोर्मध्ये। भित्त्वा भित्त्वा=पुनः पुनः भित्त्वा। प्रसरति= प्रवर्तते।

अयम्भावः—चञ्चलमहातरङ्ग इव क्षोभं प्राप्तो यः शोकस्तस्याभिवृद्धिनिवारणार्थं मया महता कृच्छ्रेण यो यो यत्नः क्रियते तं तं कोऽपि मनोविकारो मध्ये बलात् सञ्छिद्य प्रसरति यथा अप्रतिरुद्धवेगो जलस्य प्रवाहो बालुकामयं सेतुं भित्त्वा प्रवहति। शोकवेगं निरोद्धुं मम सर्वोऽपि यत्नो निष्फलो जायत इति भावः। उपमाऽलङ्कारः। मन्दाक्रान्तावृत्तम्॥ ३६॥

रामस्यावस्थां विलोक्यात्मनो दशां सीता प्रदर्शयति—आर्यपुत्रस्यैतेन दुर्वारो= निरोद्धुमशक्यः वारयितुमसमर्थः वा, अत एव दारुणः=भीषणः, आरम्भः=उपक्रमो, यस्यैतादृशेन दुःखसङ्क्षोभेण=शोकवेगेन, परिमुषितनिजदुःखम्=अपहृतस्वदुःखं, मे=मम, हृदयं किमपि=किञ्चिद्, प्रमुग्धं=विमूढं संवृत्तम्।

देवः=महाराजः, कष्टं=दुःखम्, अभ्यापन्नः=प्राप्तः, तत्=तस्माद्, अन्यतः= अन्यस्मिन् विषये, क्षिपामि=प्रेरयामि, तावदिति स्वगतम्=स्वमनसि, विचिन्त्य

दुर्वारः—दुर्+√वृ+णिच्+खल् (कर्मणि)। परिमुषितः—परि+√मुष् +क्त। प्रमुग्धः—प्र+√मुह्+क्त।

वचनीय हृदय-विकार इस प्रकार प्रसरित होता है, जैसे अप्रतिरुद्ध वेग वाला जलप्रवाह बालू से बने पुल को (ढहा कर फैलता है)॥ ३६॥

सीता—आर्यपुत्र के इस दुर्निवार दारुण आरम्भ वाले शोक-वेग से मेरे हृदय का अपना दुःख हर उठा और वह कुछ-कुछ विमूढ हो रहा है।

वासन्ती—(स्वगत) महाराज कष्ट में पड़ गये हैं। अतः इन्हें दूसरे विषय की ओर प्रेरित करती हूँ। **(प्रकाश)** महाराज अब चिरपरिचित जनस्थान के भागों को देखने से सम्मानित करें।

दुःखसंक्षोभेण—पाठा० दुःखसंयोगेन=दुःख के संयोग से।
परिमुषितनिजदुःखम्—यह हृदय का विशेषण है। राम के दुःख को देखकर सीता जी को

रामः—एवमस्तु (इत्युत्थाय परिक्रामति)

सीता—संदीवण एव्व दुक्खस्स पिअसहीए विणोदणोवाओ त्ति तक्केमि।
[सन्दीपन एव दुःखस्य प्रियसख्या विनोदनोपाय इति तर्कयामि ।]

वासन्ती—(सकरुणम्) देव देव !

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥ ३७ ॥

वासन्ती प्राह—देवः = महाराजः, इदानीम् = सम्प्रति, चिरपरिचितान् जनस्थानभागान् मानयतु = सम्भावयतु, अवलोकनेन = दर्शनेन ।

रामोऽपि तथाकर्तुमुत्थाय परिक्रामति ।

वासन्तीवचनं श्रुत्वा **सीता** प्राह—प्रियसख्याः = वासन्त्याः, आर्यपुत्रस्य विनोदनोपायाय = शोकापनोदनसाधनाय यश्चिरपरिचितजनस्थानभागावलोकनरूप उपायो रचितस्तेनार्यपुत्रस्य दुःखः = वियोगजनितशोकवेगो, न्यूनतां न गमिष्यति प्रत्युत सन्दीपनः = उद्दीपनहेतुः, वर्धिष्यत एव, चिरपरिचितानां शोकोद्दीपकत्वादिति तर्कयामि = जानाम्यहम् ।

अन्वयः—अस्मिन् एव लतागृहे त्वं तन्मार्गदत्तेक्षणः अभवः । सा गोदावरीसैकते हंसैः कृतकौतुका चिरम् अभूत् । आयान्त्या तया त्वां परिदुर्मनायितमिव वीक्ष्य कातर्यात् अरविन्दकुड्मलनिभः मुग्धः प्रणामाञ्जलिः बद्धः ॥ ३७ ॥

अभ्यापन्नः—अभि + आ + √पद् + क्त (कर्तरि) । सन्दीपनः—सम् + √दीप् + णिच् + ल्युट् (कर्तरि) 'कृत्यल्युटो बहुलम्' ।

आयान्त्या—आ + √या + शतृ + ङीप्, वैकल्पिकनुम्–आयान्ती, तृतीयैकवचन में–आयान्त्या । परिदुर्मनायितम्—परितः 'दुर्' दुःस्थं मनो यस्य स परिदुर्मनाः,

---

राम—ऐसा ही हो । **(उठकर घूमते हैं)**

सीता—प्रियसखी (वासन्ती) के विनोद का उपाय दुःख का उद्दीपक ही है, ऐसा समझती हूँ ।

वासन्ती—(शोक के साथ) महाराज, महाराज !

इसी लतागृह (निकुञ्ज) में उस (सीता) के मार्ग में दृष्टि रखने वाले आप थे (और) गोदावरी के रेतीले प्रदेश में हंसों के साथ क्रीडा कर चुकने वाली वह (सीता) देर तक थी;

अपना दुःख भूल गया । कहीं 'परिमुषित' के स्थान पर 'प्रस्फुटित' तथा 'परिस्फुरित' पाठ मिलता है ।

कष्टमभ्यापन्नः—कष्ट में पड़ गये हैं । पाठा०—कष्टमत्यासक्तः । कष्ट है, महाराज (सीता में) बहुत ही आसक्त हो गये हैं ।

चिरपरिचितान्०—पाद-टिप्पणी में दिये गये अन्य पाठों से भी अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है ।

देव देव—संभ्रम में द्विर्वचन है ।

सीता—दालुणासि वासंति ! दालुणासि, जा एदेहिं हिअअमम्मगूढसल्लसंघटनेहिं पुणो पुणो वि मं मंदभाइणिं अज्जउत्तं अ संदावेसि। [**दारुणासि वासन्ति ! दारुणासि, या एतैर्हृदयमर्मगूढशल्यसङ्घट्टनैः पुनः पुनरपि मां मन्दभागिनीमार्यपुत्रं च सन्तापयसि।**]

पुरतः स्थितं लतागृहं प्रदर्शयन्ती वासन्ती (सकरुणं=सशोकं) रामं प्राह—**अस्मिन्नेवेति**। लतागृहे=निकुञ्जे। तन्मार्गदत्तेक्षणः—तस्याः=सीतायाः, मार्गे=आगमनवर्त्मनि, दत्ते=स्थापिते, ईक्षणे=नेत्रे येन स तथाभूतः। अभवः=अतिष्ठः। सा=सीता। कृतकौतुका—कृतं कौतुकम्=विनोदः, यया सा तथाभूता। गोदावरीसैकते=गोदावरीतटे। चिरम्=बहुकालं यावत्। अभूत्=आसीत्। आयान्त्या=समीपमागच्छन्त्या। तया=सीतया। त्वाम्=रामम्। परिदुर्मनायितमिव=चिन्तितचेतसमिव। वीक्ष्य=दृष्ट्वा। कातर्यात्=स्वापराधप्रतिसन्धानजनितत्रासात्। अरविन्दकुड्मलनिभः=कमलकोरकसदृशः। मुग्धः=मनोहरः। प्रणामाञ्जलिः=नमस्कारसूचकः करपुटः। बद्धः=रचितः।

अयम्भावः—देव ! तदिदं लतागृहं पुरो वर्तते यस्मिन् कदाचिद् भवान् तस्या मार्गे दत्तदृष्टिस्तां प्रतीक्षतेस्म। सापि गोदावरीतटे हंसैः सह विनोदं कुर्वती विलम्बमकरोत्। अनन्तरमेतल्लतागृहं प्रतिनिवर्तमानया तया दूरत एव भवन्तं परिकुपितचेतसमिव स्थितं विलोक्य स्वापराधप्रतिसन्धानजनितत्रासाद् भवन्तं प्रसादयितुं कमलकोरकाकृतिर्मनोहरः प्रणामाञ्जलिर्विहितः आसीत्। तदिदं लतागृहं पश्यतु महाराजः।

अत्र 'अरविन्दकुड्मलनिभः' इत्यंशेऽरविन्दकुड्मलेनाञ्जलेः सादृश्यकथनादुपमानामालङ्कारः। 'परिदुर्मनायितमिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा चेत्यनयोः परस्परनिरपेक्षतया संसृष्टिः। शार्दूलविक्रीडितम्॥ ३७॥

'अपरिदुर्मनाः परिदुर्मनाः भूतः' इस अर्थ में 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' सूत्र से क्यङ् प्रत्यय और हल् (स्) का लोप हुआ, तब 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से नकारोत्तरवर्ती अकार को दीर्घ। परिदुर्मनाय+क्त (कर्तरि), इट् का आगम—परिदुर्मनायितम्। कातर्यात्—कातरस्य भावः कातर्यं, तस्मात् (हेतौ पञ्चमी); कातर+ष्यञ्। प्रणामाञ्जलिः—प्रणामस्य अञ्जलिः, अश्वघासादिवत् षष्ठीसमासः।

आती हुई उसने आपको अप्रसन्नचित्त-सा देखकर कातरता से कमलकली के समान सुन्दर प्रणामाञ्जलि बाँधी थी॥ ३७॥

सीता—कठोर हो, वासन्ति ! तुम कठोर हो, जो (तुम) हृदय के मर्मस्थलों में छिपे इन कीलों को बार बार हिला-हिला कर (बार बार पुराने प्रसङ्गों को उभार-उभार कर) मुझे और आर्यपुत्र को सन्तप्त कर रही हो।

आयान्त्या……मुग्धः प्रणामाञ्जलिः—इस वर्णन में घनश्याम पंडित के अनुसार कवि का अचातुर्य है—'अञ्जलिरिति कथनं कवेरचातुर्यम्। वेश्याजनक्रियमाणोऽयं विलासो न तु कुलाङ्गनानां सम्प्रदायः। कदाचिदपराधे सति सत्यः पादपीडनमेवाचरयन्तितराम्।' वीरराघव ने प्रणामाञ्जलि को उचित मानते हुए उसकी पुष्टि की है।

रामः—अयि चण्डि जानकि ! इतस्ततो दृश्यसे इव न चानुकम्पसे ।

हा हा देवि ! स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥ ३८ ॥

(इति मूर्च्छति)

सीता वासन्तीमुद्दिश्योपालभते—दारुणा = कठिनहृदया । हृदयमर्मगूढशल्यसङ्घट्टनैः—हृदयमर्मणि = जीवनस्थाने, गूढम् = गुप्तम्, यत् शल्यम् = लोहकीलम्, तस्य सङ्घट्टनैः = सञ्चालनैः । सन्तापयसि = व्यथयसि । चण्डि = अतिकोपने ! अनुकम्पसे = दयसे ।

अयम्भावः—वासन्ति ! त्वं कठिनहृदयाऽसि, या त्वं हृदयमर्मणि प्रच्छन्नस्य शल्यस्य सञ्चालनैरेतादृशैर्हृदयविदारकप्रसङ्गैः पुनः पुनरपि मां हतभागिनीमार्यपुत्रं च व्यथयसि ।

अन्वय.—हा हा देवि ! हृदयं स्फुटति, देहबन्धः ध्वंसते, जगत् शून्यं मन्ये अविरतज्वालम् अन्तः ज्वलामि । सीदन् विधुरः अन्तरात्मा अन्धे तमसि मज्जतीव, मोहः विष्वक् स्थगयति, मन्दभाग्यः कथं करोमि ॥ ३८ ॥

रामोऽपि खेदातिशयमनुभवन्नाह—हा हेति । हा हा—खेदसूचकमव्ययम् । देवि = सीते ! हृदयम् = उरः । स्फुटति = विदीर्यते । देहबन्धः=शरीरावयवसन्धिः । ध्वंसते = विशीर्णो भवति । जगत् = लोकम् । शून्यम् = प्राणिरहितम् । मन्ये=जानामि । अविरतज्वालम्—अविरताः = अविश्रान्ताः, ज्वालाः = अग्निशिखाः, यस्मिन् कर्मणि तद्यथा

सीदन्—√सद् + शतृ । विष्वक्—वि + सु + √अञ्च् + क्विन् । स्थगयति—√स्थग् (णिच्) + लट् ।

राम—अरी चण्डि जानकि ! तुम मुझे (यहाँ कण-कण में बसी हुई-सी लगने के कारण) इधर-उधर दिखलायी-सी दे रही हो, किन्तु (संभाषण आदि से) मुझ पर दया नहीं कर रही हो।

हाय ! हाय ! देवि ! हृदय फटा जा रहा है, देह का बन्धन विशीर्ण हो रहा है, संसार शून्य समझ रहा हूँ, निरन्तर ज्वालायुक्त भाव से भीतर-भीतर जल रहा हूँ, दुःखी होता हुआ विकल अन्तःकरण घोर अन्धकार में जैसे डूब रहा है, मूर्च्छा चारों ओर से घेर रही है, मैं अभागा क्या करूँ ? (कुछ सूझ नहीं रहा है) ॥ ३८ ॥

(ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं)

चण्डि जानकि—वीरराघव के अनुसार 'जानकि' सम्बोधन पद से यह अर्थ अभिव्यक्त किया गया—तुम परमदयालु जनकराज की पुत्री हो, तुम्हारा इस प्रकार निर्दय होना उचित नहीं है।

कथं''करोमि—वीरराघव के अनुसार इसकी व्याख्या है—'किं हृदयस्फोटादि निवारयामि, उत त्वदागमनार्थं लोकाननुनयामि, अथवा तान्निगृह्य त्वामानेष्यामि वा ?' जगद्धर के अनुसार इस श्लोक में शोकस्थायिभाव के पीडा, निर्वेद, दाह, ग्लानि, मोह आदि व्यभिचारिभावों का प्रकाशन बड़ी खूबी से हुआ है । यह पद्य 'मालती-माधव' (९।२०) में भी कुछ परिवर्तन के साथ आया है ।

सीता—हद्धी हद्धी पुणोवि पमूढो अज्जउत्तो। [हा धिक् ! हा धिक् ! पुनरपि प्रमूढ आर्यपुत्रः ।]

वासन्ती—देव ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

सीता—अज्जउत्त ! मं मंदभाइणि उद्दिसिअ सअलजीअलोअमंगलाधरस्स दे वारं वारं संसइदजीविअदालुणो दसापरिणामो त्ति हा हदम्हि। (इति मूर्च्छति) । [आर्यपुत्र ! मां मन्दभागिनीमुद्दिश्य सकलजीवलोकमङ्गलाधारस्य ते वारं वारं संशयितजीवितदारुणो दशापरिणाम इति हा हतास्मि ।]

स्यात्तथा । अन्तः = हृदये । ज्वलामि = दह्ये, सन्तापमनुभवामि । सीदन् = अवसन्नो भवन् । विधुरः = विकलः । अन्तरात्मा=अन्तःकरणम् । अन्धे तमसि = प्रगाढान्धकारे । मज्जतीव = मग्नो भवतीव । मोहः = मूर्च्छा । विष्वक् = समन्तात् । स्थगयति = छादयति । मन्दभाग्यः = अल्पभागः । कथम् = किम् । करोमि = विदधामि ?

अयम्भावः—हे कोपने जानकि ! त्वं मया दृश्यस इव, किन्तु सम्भाषणादिना न दयसे । हा हा देवि ! हृदयं विदीर्यते, देहस्य बन्धोऽधुना विशीर्णो भवति, सकलमपि संसारमहं शून्यमनुभवामि, निरन्तरशोकज्वालया हृदये ज्वलामि, दुःखमाप्नुवन् ममान्तरात्मा विधुरः सन् गाढान्धकारे निमग्नो भवतीव । हा ! समन्तान्मूर्च्छा मामावृणोति । मन्दभाग्योऽहं किं करोमि ? सीताविरहशोकातिशयस्य कमपि निवारणोपायं न पश्यामीति भावः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३८ ॥

रामं मूर्च्छितं दृष्ट्वा सीता प्राह—हा धिक्, हा धिक् ! आर्यपुत्रः पुनरपि प्रमूढः = मूर्च्छितः सञ्जातः ।

वासन्ती च रामं समाश्वासयति ।

सीता पुनराह—आर्यपुत्र ! मम मन्दभागिन्याः कृते सकलजीवलोकमङ्गलाधारस्य = अखिलजगन्मङ्गलाश्रयस्य, भवतो वारं वारं संशयितम् = सन्देहकोटिमापन्नं, शङ्काविषयभूतः, जीवितं = जीवनं, यस्मिन् स तथोक्तः, अत एव दारुणः = भीषणः, तादृशो मूर्च्छोपगमरूपो दशापरिणामः=अवस्थापरिवर्तः, इति हा हताऽस्मि । (इति मूर्च्छति)

परिणामः—परि + √नम् + घञ् । पक्ष में उपसर्ग का दीर्घ होने से 'परीणामः' भी ।

सीता—हा धिक् , हा धिक् ! आर्यपुत्र पुनः मूर्च्छित हो गये ।

वासन्ती—देव ! आश्वस्त होइए, आश्वस्त होइए ।

सीता—आर्यपुत्र ! मुझ मन्दभागिनी को उद्देश करके सम्पूर्ण संसार के कल्याण के आधारभूत आपके बार-बार संशयपूर्ण जीवन के कारण भीषण (यह) दशा का परिणाम है । अतः हाय मैं मारी गयी हूँ । **(इस प्रकार मूर्च्छित हो जाती है)**

सकलजीव०—पाठान्तर—सकलजीवलोकमाङ्गलिकजन्मलाभस्य—सकलजीवलोकानाम्=समस्तप्राणिसमूहानां माङ्गलिको जन्मलाभो यस्य सः, तस्य—जिनका जन्मलाभ सकल प्राणियों के मङ्गल के लिए हुआ है, उन(आप)का ।

तमसा--वत्से ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि। पुनस्त्वत्पाणिस्पर्श एव सञ्जीवनोपायो रामभद्रस्य।

वासन्ती--कथमद्यापि नोच्छ्वसिति। हा प्रियसखि सीते! क्वासि? सम्भावयात्मनो जीवितेश्वरम्।

(सीता ससम्भ्रममुपसृत्य हृदि ललाटे च स्पृशति)

वासन्ती—दिष्ट्या प्रत्यापन्नचेतनो रामभद्रः।

रामः—**आलिम्पन्नमृतमयैरिव प्रलेपैरन्तर्वा बहिरपि वा शरीरधातून्।**
संस्पर्शः पुनरपि जीवयन्नकस्मादानन्दादपरविधं तनोति मोहम् ॥३९॥

तमसा सीतां समाश्वासयन्ती तां प्रत्याह—'वत्से ! त्वत्करस्पर्श एव रामस्य सञ्जीवनोपायः=प्रयुज्जीवनसाधनम्।'

वासन्ती संज्ञामलभमानं रामं दृष्ट्वा सीतामुद्दिश्य प्राह—'हा प्रियसखि सीते! आत्मनः प्राणप्रियं सम्भावय=स्वोपस्थित्या सम्मानय।' अथवा सम्यक् भावय= प्रकृतिस्थं कुरु।

सीताकरस्पर्शेन लब्धसंज्ञं रामं विलोक्य प्रहृष्टा **वासन्ती** पुनराह—दिष्टया रामभद्रो प्रत्यापन्नचेतनः—प्रत्यापन्ना=पुनरागता, चेतना=संज्ञा, यस्य सः=लब्धसंज्ञो जातेति भावः।

अन्वयः—अन्तर्वा बहिरपि वा शरीरधातून् अमृतमयैः प्रलेपैः आलिम्पन् इव संस्पर्शः पुनरपि जीवयन् अकस्मात् आनन्दात् अपरविधं मोहं तनोति ॥ ३९ ॥

स्पर्शः—√स्पृश्+घञ्। प्रत्यापन्नः—प्रति+आ+√पद्+क्त (कर्मणि)। अमृतमयैः—अमृत+मयट् (तत्प्रकृतवचने मयट्)—प्राचुर्येण प्रस्तुतैरमृतैः, अमृतात्मकैरित्यर्थः। धातून्—दधति शरीरं पुष्णन्तीति धातवः; √धा+तुन् (औणादिक)। आलिम्पन्—आ+√लिप्+शतृ। संस्पर्शः—सम्+स्पृश्+घञ्।

तमसा—पुत्री ! आश्वस्त हो, आश्वस्त हो। पुनः तुम्हारे पाणि का स्पर्श ही रामभद्र के जीवन का उपाय है।

वासन्ती—क्यों अभी तक चेतना को नहीं प्राप्त हो रहे हैं? हाय, प्रियसखी सीता! कहाँ हो? अपने प्राणेश्वर को सम्मानित करो।

(सीता घबड़ाहट के साथ समीप जाकर हृदय और ललाट पर स्पर्श करती है)

वासन्ती—सौभाग्य से रामभद्र की चेतना पुनः लौट आयी।

राम—भीतर और बाहर स्थित शरीर की धातुओं को अमृतमय लेपों से आलिप्त करता हुआ-सा संस्पर्श, सहसा जीवित करता हुआ, आनन्द के कारण अन्य प्रकार की (सुखजन्य) मूर्च्छा (निश्चेष्टता) फैला रहा है ॥ ३९ ॥

शरीरधातून्--रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र--ये शरीर के सात धातुएँ हैं। 'बहिरपि' कथन से त्वक् (चर्म) को भी धातु मानना चाहिए। कथन का अभिप्राय है कि यह स्पर्श शरीर को भीतर और बाहर दोनों ओर से सुख दे रहा है।

(आनन्दनिमीलिताक्ष एव) सखि वासन्ति ! दिष्टया वर्धसे ।

वासन्ती—देव ! कथमिव ?

रामः—सखि ! किमन्यत् । पुनः प्राप्ता जानकी ।

वासन्ती—अयि देव रामभद्र ! क्व सा ?

रामः—(स्पर्शसुखमभिनीय) पश्य, नन्वियं पुरत एव ।

सीताकरकमलस्पर्शात् प्रत्यापन्नचेतनो रामभद्रः प्राह– **आलिम्पन्निति** । अन्तर्वा बहिरपि वा=अन्तर्बहिश्च । अमृतमयैः=सुधास्वरूपैः, 'चिन्मयम्' इत्यादाविव स्वार्थिको मयट् । प्रलेपैः=प्रकृष्टो लेपो यैस्तैः, प्रकृष्टलेपनसाधनद्रव्यैरित्यर्थः । शरीरधातून्=देहधारकान् त्वग्रक्तमांसास्थ्यादीन् । आलिम्पन्=लिप्तान् कुर्वन्निव । संस्पर्शः=अनुभूयमानमामर्शनम् । अकस्मात्=सहसा । जीवयन्=प्राणप्रतिष्ठामापादयन् । पुनरपि=भूयोऽपि । आनन्दात्=आह्लादवशात्, आनन्दमुत्पाद्य वा । अपरविधम्=दुःखजन्यपूर्वमूर्च्छाव्यतिरिक्तं सुखजन्यमित्यर्थः । मोहम्=मूर्च्छाम्, जडतामित्यर्थः । तनोति=विस्तारयति ।

अयमाशयः—अन्तःस्थितान् बहिःस्थितान् वा त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जादिरूपान् शरीरधातून् अमृतात्मकैरुत्कृष्टलेपनद्रव्यैर्लिप्तान् कुर्वन्निवायमनुभूयमानः संस्पर्शः सहसा मां प्रत्युज्जीवयन् भूयोऽपि दुःखजन्यपूर्वमूर्च्छाव्यतिरिक्तं मोहं विस्तारयति । यथा मूर्च्छायां निश्चेष्टता जायते, तथैवानन्दवशादपि निश्चेष्टतामनुभवामीति भावः ।

अत्रामृतमयैः प्रलेपैरालिम्पन्निवेत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । अपि च 'जीवयन् मोहं तनोति' इत्यत्र विरोधाभासश्चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । प्रहर्षिणीवृत्तम् ॥ ३९ ॥

(आनन्दनिमीलिताक्षः—आनन्देन=सीताकरस्पर्शजनितानन्देन, निमीलिते=मुकुलिते, अक्षिणी=नेत्रे यस्य स तथाभूतः, मुकुलितनेत्रो **रामभद्रो** वासन्तीं प्राह—सखि वासन्ति ! दिष्टया वर्धसे ।

कथमिवेति वासन्त्या पृष्टः पुनराह—सखि ! किमन्यत्=अपरं किं कथयामीति भावः, जानकी पुनः प्राप्ता ।

कुत्र सा ? इति पृच्छन्तीं वासन्तीं रामभद्रो पुनराह—पश्येयं पुरत एव ।

आनन्दनिमीलिताक्षः—बहुव्रीहिसमासः । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' इति 'षच्' समासान्तः ।

(आनन्द से आँखें बन्द किये हुए) सखी वासन्ती ! भाग्य से बढ़ रही हो ।

वासन्ती—महाराज ! वह कैसे ?

राम—सखी और क्या, सीता फिर मिल गयी ।

वासन्ती—अरे महाराज रामभद्र ! वह कहाँ ?

राम—**(स्पर्शसुख का अभिनय करके)** देखो, यह सामने ही है ।

अपरविधम्—अधिक आनन्द की अनुभूति होने पर भी निश्चेष्टता आ जाती है, अतः उसे भी एक भिन्न प्रकार का मोह कहा गया, जो दुःखानुभूति से उत्पन्न मोह से भिन्न है ।

वासन्ती—अयि देव ! किमिति मर्मच्छेददारुणैरेभिः प्रलापैः प्रियसखीदुःख-दग्धामपि मां पुनर्मन्दभाग्यां दहसि ?

सीता—ओसरिदुं इच्छम्मि। एसो उण चिरप्पणअसंभारसोम्मसीअलेण अज्जउत्तप्परिसेण दीहदारुणं वि झत्ति संदावं उल्लाहअंतेण वज्जलेहावणद्धो विअ परिअद्धवावारो आसंजिओ विअ मे अग्गहत्थो। [अपसर्तुमिच्छामि। एष पुनः चिरप्रणयसम्भारसौम्यशीतलेनार्यपुत्रस्पर्शेन दीर्घदारुणमपि झटिति सन्ताप-मुल्लाघयता वज्रलेपोपनद्ध इव पर्यस्तव्यापार आसञ्जित इव मेऽग्रहस्तः।]

वासन्ती सीतामपश्यन्ती रामोक्तिं प्रलापमेव मन्यमाना रामं प्राह—मर्मच्छेद-दारुणैः=हृदयाद्यवयवच्छेदेन हेतुना भीषणैः। प्रलापैः=अनर्थकवचनैः। प्रियसखी-दुःखदग्धाम्—प्रियसख्याः=सीतायाः, दुःखेन दग्धाम्=सन्तप्ताम्। मन्दभाग्याम्= हतभाग्याम्। दहसि=सन्तापयसि। देव ! प्रियसख्याः सीताया दुःखेनाहं सन्तप्तै-वास्मि, पुनरपि मर्मच्छेदेन हेतुना दारुणैरेतैः प्रलापैः किमिति मां मन्दभाग्यां सन्ता-पयसीति भावः।

सीता—अपसर्तुम्=दूरं गन्तुम्! चिरप्रणयसम्भारसौम्यशीतलेन—चिरप्रणयस्य= बहुकालानुरागस्य, सम्भारेण=समूहेन, सौम्यः=आह्लादकरः, तथा शीतलः=सन्ताप-हारकः तेन। दीर्घदारुणमपि—दीर्घः=आयतः, अत एव दारुणः=भीषणः, तम्। उल्लाघयता=लघूकुर्वता। वज्रलेपोपनद्धः—वज्रलेपेन=दृढलेपविशेषेण, उपनद्धः= बद्धः। पर्यस्तव्यापारः—पर्यस्तः=अपगतः, व्यापारः=क्रिया यस्य सः, निष्क्रिय इत्यर्थः। अग्रहस्तः=हस्ताग्रभागः। आसञ्जित इव=लग्न इव।

अयम्भावः—अहं दूरं गन्तुमिच्छामि, पुनश्चिरानुरागाधिक्यवशादाह्लादकरः

दग्धाम्—√दह्+क्त+टाप्। प्रणयः—प्र+√नी+अच्। उपनद्धः—उप+√नह्+क्त। पर्यस्तः—परि+√अस्+क्त।

वासन्ती—अरे महाराज ! मर्मस्थानों को बींधने के कारण दुःसह इन अनर्थक वचनों से क्यों भला, प्रियसखी के दुःखों से सन्तप्त भी मुझ अभागिन को बार-बार सन्तप्त कर रहे हो ?

सीता—दूर हट जाना चाहती हूँ; किन्तु बहुत समय के प्रेमाधिक्य से हर्ष करने वाला और शीतल, दीर्घ और दारुण सन्ताप को भी कम करने वाला जो आर्यपुत्र का स्पर्श है, उससे वज्रलेप से बँधे हुए की तरह निश्चेष्ट होकर मेरे हाथ का अग्रभाग मानों आर्यपुत्र में बुरी तरह चिपक गया है।

चिरप्रणय०—पाठा०—चिरसद्भावसौम्यशीतलेन—चिरसद्भावेन=चिरस्थायिना अनुरागेण सौम्यः शीतलश्च तेन—चिरकालिक अनुराग से आह्लादकारक और शीतल। उल्लाघयता—पाठा०—हरता=हरता हुआ।

'वज्रलेपोपनिबद्ध इव' के आगे अधिक पाठ—'स्विन्नःसहविपर्यस्तो वेपते अवश इव मे हस्तः'—स्विन्नः=स्वेदयुक्तः सन्, निःसहम्=असमर्थं यथा तथा, विपर्यस्तः=विरुद्धभावं प्राप्तः, निश्चेष्ट इत्यर्थः, अवशः=मदनाधीनः, वेपते=कम्पते। स्वेदयुक्त होता हुआ असद्भाव से निश्चेष्ट तथा मेरे वश में न होता हुआ मेरा हाथ काँप रहा है।

रामः—सखि ! कुतः प्रलापाः ?

गृहीतो यः पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधर-
श्चिरं स्वेच्छास्पर्शैरमृतशिशिरैर्यः परिचितः।

सीता—अज्जउत्त ! सो एव्व दाणिं सि तुमं ! [आर्यपुत्र ! स एवेदानीमसि त्वम् !]

रामः— स एवायं तस्यास्तुहिननिकरौपम्यसुभगो
मया लब्धः पाणिर्ललितलवलीकन्दलनिभः ॥ ४० ॥

(इति गृह्णाति)

सन्तापहारकश्च दीर्घं दारुणमपि सन्तापं लघूकुर्वन् आर्यपुत्रस्य योऽयं स्पर्शस्तेन वज्रलेपोपबद्धो निश्चेष्ट इव मेऽग्रहस्तः सम्प्रत्यार्यपुत्रस्य शरीरे लग्न इव वर्तते। आर्यपुत्रशरीरस्पर्शजन्यमानन्दमनुभवन् मेऽग्रहस्तो मया प्रयत्ने कृतेऽपि तच्छरीरं न परित्यजति, मन्ये स वज्रलेपोपबद्धो निश्चेष्टः सन् तच्छरीरे लग्न इव वर्तते इति सीतोक्तेरभिप्रायः।

अथ रामः 'किमिति प्रलापैर्मा दहसी'ति वासन्तीवाक्यस्योत्तरमाह—**सखीति**। सखि वासन्ति ! कुतः प्रलापाः ? न हि प्रलापान् करोमि प्रत्युत—

अन्वयः—पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधरः यः (पाणिः) गृहीतः, अमृतशिशिरैः स्वेच्छास्पर्शैः यः चिरं परिचितः—इति पूर्वार्द्धान्वयः।

गृहीत इति। पूर्वम्=प्राक्। परिणयविधौ=विवाहानुष्ठाने। कङ्कणधरः=ध्रियमाणविवाहसूत्रः। अमृतशिशिरैः—अमृतमिव शिशिराः=शीतलाः, आह्लादका इत्यर्थः, तैः। स्वेच्छास्पर्शैः—स्वच्छन्दतया मया प्राप्तव्यैर्निजस्पर्शैरित्यर्थः। यः=पाणिः। चिरम्=बहुकालं यावत्। परिचितः=परिज्ञातः।

अन्वयः—तुहिननिकरौपम्यसुभगः ललितलवलीकन्दलनिभः सः एवायं तस्याः पाणिः लब्धः—इत्युत्तरार्द्धान्वयः ॥ ४० ॥

स एवेति। तुहिननिकरौपम्यसुभगः—तुहिननिकरेण=हिमराशिना सह, यत् औपम्यम्=सादृश्यम्, तेन सुभगः=मनोरमः। ललितलवलीकन्दलनिभः=कोमललवलीलताङ्कुरसदृशः। स एव=प्राग्गृहीत एव। अयम्=स्पर्शेनानुभूयमानः। तस्याः=सीतायाः। पाणिः=हस्तः। मया=रामेण। लब्धः=आसादितः।

कङ्कणधरः—धरतीति धरः; √धृ+अच् (पचादित्वात्), कङ्कणस्य धर इति कङ्कणधरः। लब्धः—√लभ्+क्त।

राम—सखि ! प्रलाप कैसे ?

पूर्व समय में विवाह-संस्कार के अवसर पर वैवाहिक मङ्गलसूत्र धारण किये हुए जो (पाणि) मेरे द्वारा ग्रहण किया गया था तथा जो अपने अमृत के समान स्वच्छन्दता से प्राप्त होने वाले स्पर्शों से मेरा चिरपरिचित था।

सीता—आर्यपुत्र ! अब भी आप वही हैं !

राम—हिमराशि के समान सुहावना तथा लवलीलता के कोमल अङ्कुर के सदृश वही यह उसका हाथ मुझे प्राप्त हो गया है। **(ऐसा कहकर पकड़ते हैं)**

सीता—हद्धी हद्धी अज्जउत्तप्फरिसमोहिदाए पमादो क्खु मे संवुत्तो। [हा धिक् ! हा धिक् ! आर्यपुत्रस्पर्शमोहितायाः प्रमादः खलु मे संवृत्तः ।]

रामः—सखि वासन्ति ! आनन्दनिमीलितेन्द्रियः प्रियास्पर्शसाध्वसेन परवानस्मि । तत् त्वं तावदेनां धारय ।

अयम्भावः—'प्राक् परिणयावसरे धृतविवाहसूत्रो यो पाणिर्मया गृहीतो यश्चामृतशीतलैः मया स्वच्छन्दतया प्राप्तव्यैर्निजस्पर्शैर्बहुकालं व्याप्य मम परिचितः ।' इत्यर्थोक्त एव सीता प्राह—'आर्यपुत्र ! इदानीमपि भवान् स एव किम् ? मां प्रति तादृक्प्रीतिवानेव किम् ? रामोऽवशिष्टवाक्यं पूरयति—हिमराशिरिव मनोरमः किं च कोमललवलीलताङ्कुरसदृशः स पूर्वपरिचित एवायं तस्याः सीतायाः पाणिर्मयाऽऽसादितः। उपमाऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ४० ॥

रामेण गृहीतहस्ता सीता तत्र स्वप्रमादं मन्यमानाऽऽत्मानं निन्दती प्राह—हा धिगिति । हा धिक् ! हा धिक् ! आर्यपुत्रस्पर्शेन मोहिताया = विमूढायाः, मम महान् प्रमादः = अनवधानता, संवृत्तः = सञ्जातः । मयेदानीं किमनुष्ठेयमिति विस्मृतमेव, ममैव प्रमादो हस्तग्रहणे ।

वासन्तीं प्रति रामः प्राह—सखि इति । सखि वासन्ति ! आनन्देन = प्रियास्पर्शजनितहर्षेण, इन्द्रियाणि = मम हस्तपादादीनि सकलेन्द्रियाणि, निमीलितानि = मुद्रितानि, स्वस्वकार्येषु सर्वथाऽशक्तानीत्यर्थः; सञ्जातानि, अहमपि च प्रियास्पर्शसाध्वसेन = प्रियास्पर्शजनितविक्षोभवशात्, परवान् = नास्मि स्वाधीनस्तस्मात् त्वं तावदेनां सीतां गृहाण, येन सा पलायितुं न शक्नुयात् ।

मोहितः—√मुह + णिच् + क्त ।

सीता—हाय ! छिः ! छिः ! आर्यपुत्र के स्पर्श से विमुग्ध होने के कारण मुझसे असावधानी हो गयी ।

राम—हे सखी वासन्ति ! आनन्द से मेरी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गयीं हैं । आनन्दजनित विक्षोभ से मैं परवश हो गया हूँ, अतः तुम इस (सीता) को पहले सँभालो ।

आनन्दनिमीलितेन्द्रियः—पाठा०—आनन्दमीलितः = आनन्देन मीलितः मुद्रितलोचन इत्यर्थः ।

साध्वसेन—साध्वस शब्द का सामान्य अर्थ 'भय' होता है । व्याख्याकार विद्वानों ने 'श्रृङ्गारज भय' अर्थ भी किया है, किन्तु पूज्य कान्तानाथ शास्त्री तेलङ्ग के मतानुसार यहाँ 'साध्वस' शब्द का तात्पर्य अत्यानन्द के कारण हृदय में उत्पन्न होने वाली हलचल से है । यही 'मनोवेगजनित विक्षोभ' अर्थ समीचीन लगता है ।

तत्त्वं तावदेनां धारय—तत्त्वमपि मां धारय (पाठा०) अर्थात् तुम (वासन्ती) भी मुझे (राम को) पकड़ो ताकि आनन्दजन्य विह्वलता से मूर्च्छित हो गिर न जाऊँ । पहला पाठ अधिक उचित है, जिसका आशय है—'साध्वस (विक्षोभ) के कारण मैं सीता को पकड़ने में असमर्थ हूँ, अतः तुम (वासन्ती) इसे पकड़ो ।'

वासन्ती—कष्टम् ! उन्माद एव ।

(सीता ससम्भ्रमं हस्तमाक्षिप्यापसर्पति)

रामः—हा धिक् ! प्रमादः ।

करपल्लवः स तस्याः सहसैव जडो जडात्परिभ्रष्टः ।
परिकम्पिनः प्रकम्पी करान्मम स्विद्यतः स्विद्यन् ॥ ४१ ॥

वासन्ती तत्र सीतामनवलोक्येमां रामोक्तिं प्रलापमेव मत्वा प्राह—कष्टमिति । अहो ! कष्टम् = महद्दुःखमापतितम्, यद्रामस्योन्मादः संवृत्तः ।

ससम्भ्रमं = सत्वरं, हस्तमाक्षिप्य = आकृष्यापसृतायां = दूरं गतायां सीताया रामः प्राह—धिगिति । हा धिक् ! प्रमादः सञ्जातः ।

अन्वयः—तस्याः सः जडः प्रकम्पी स्विद्यन् करपल्लवः मम जडात् परिकम्पिनः स्विद्यतः करात् परिभ्रष्टः ॥ ४१ ॥

करपल्लवेति । तस्याः = सीतायाः, सः = प्रागृहीतः, जडः = स्तब्धः, प्रकम्पी = समधिककम्पनशीलः । स्विद्यन् = स्वेदयुक्तः सन् । करपल्लवः = पल्लवोपमः करः । मम = रामस्य । जडात् = निश्चेष्टात् । परिकम्पिनः = समधिककम्पमानात् । स्विद्यतः = स्वेदयुक्तात् । करात् = हस्तात् । परिभ्रष्टः = परिच्युतः (अभूत्) ।

अयम्भावः—यथा मम करो जडः, प्रकम्पशीलः स्वेदयुक्तः सञ्जातस्तथैव तस्या अपि करपल्लवो जडः, प्रकम्पमानः स्वेदयुक्तश्च संवृत्तस्तस्मान्मम करात् तस्याः करः परिच्युतोऽभूत् ।

अत्र करात् करपरिभ्रंशे जडत्वादीनां हेतुतयोपन्यासात् काव्यलिङ्गम् । 'करपल्लव' इत्यत्र च लुप्तोपमा । द्वयोः परस्परनैरपेक्ष्येण संसृष्टिः । आर्या जातिः । तल्लक्षणं यथा—'यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या' ॥ ४१ ॥

करपल्लवः—करः पल्लव इव, उपमित समास । परिभ्रष्टः—परि + √भ्रंश् + क्त । परिकम्पिनः—परि + √कम्प् + णिनिः (ताच्छील्ये) । अथवा घञन्त परिकम्प + इनि (मतुबर्थक) ।

वासन्ती—कष्ट है ! (महाराज को) उन्माद ही है । **(सीता शीघ्रता से हाथ खींचकर दूर हट जाती है)**

राम—हाय ! धिक्कार है ! असावधानी हो गयी ।

उस (सीता) का स्तब्ध, स्वेदयुक्त एवं काँपता हुआ किसलय-सदृश वह हाथ मेरे स्तब्ध, स्वेदयुक्त एवं काँपते हाथ से सहसा ही छूट गया ॥ ४१ ॥

करपल्लवः स तस्याः—यहाँ सीता और राम दोनों के स्तम्भ, वेपथु (कम्पन) और स्वेद इन तीन सात्त्विक भावों का वर्णन होने से रति नामक स्थायी भाव की पुष्टि होने के कारण विप्रलम्भ शृङ्गार रस है, जो नाटक के अङ्गी रस 'करुण' का पोषक है ।

सीता—हद्धी ! हद्धी ! अज्जवि अणुबद्धबहुघुम्मंतवेअणं ण संठावेमि अत्ताणम् । [हा धिक् ! हा धिक् ! अद्याप्यनुबद्धबहुघूर्णमानवेदनं न संस्थापयाम्यात्मानम् ।]

तमसा—(सस्नेहकौतुकस्मितं निर्वर्ण्य)

सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा ।
मरुन्नवाम्भःप्रविधूतसिक्ता कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव ॥ ४२ ॥

सीता स्वदशां निरूपयति—हा धिगिति । अनुबद्धबहुघूर्णमानवेदनम्—अनुबद्धा =निरन्तरा, बह्वी=अधिका, घूर्णमाना=उद्गच्छन्ती, वेदना=दुःखं, यस्य तम् । आत्मानम्=स्वम् । न संस्थापयामि=न स्थिरं करोमि ।

अयम्भावः—हा धिक् ! हा धिक् ! अहमद्याप्यात्मानं प्रकृतिस्थं कर्तुं न पारयामि यतोऽधुनापि मम हृदये समधिकवेदना सततं घूर्णते (उद्गच्छति) ।

सीताया एतादृशीं दशां विलोक्य स्नेहेन, कौतुकेन स्मितेन च सहितं यथा तथा **तमसा प्राह**—

अन्वयः—वत्सा प्रियस्पर्शसुखेन मरुन्नवाम्भःप्रविधूतसिक्ता स्फुटकोरका कदम्बयष्टिः इव सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी जाता ॥ ४२ ॥

सस्वेदेति । वत्सा=सीता । प्रियस्पर्शसुखेन—प्रियस्य=रामस्य, स्पर्शसुखेन=स्पर्शजनितानन्देन । मरुन्नवाम्भःप्रविधूतसिक्ता—मरुता=वायुना, नवाम्भसा=प्राथमिकवृष्टिजलेन च, यथाक्रमं प्रविधूता=परिकम्पिता, सिक्ता=आर्द्रीकृता च । स्फुटकोरका=प्रफुल्लकलिका ('कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरः) । कदम्बयष्टिरिव

रोमाञ्चितः—रोमाञ्च+इतच् 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ।' सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी—'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति वैकल्पिक ङीष् । प्रविधूत-प्र+वि+√धू+क्त । सिक्तः—√सिच्+क्त (कर्मणि) ।

सीता—छिः ! छिः ! अभी तक बहुत अधिक बार-बार उत्पन्न होने वाली वेदना से मुझे अपने को प्रकृतिस्थ नहीं कर पा रही हूँ ।

तमसा—(स्नेह, कौतुक और मुस्कराहट के साथ)

सीता प्रिय के स्पर्श के सुख से, वायु से कम्पित, नूतन जल से सिञ्चित, उद्गत कलियों से युक्त कदम्ब की डाली की तरह स्वेद, रोमाञ्च और कम्पन युक्त अङ्गों वाली हो गयी है ॥ ४२ ॥

अनुबद्ध०—पाठान्तर—अनवस्थितस्तिमितमूढघूर्णमाननयनो न पर्यवस्थापयत्यात्मानम्—अनवस्थिते प्राप्तसीताकरपरिभ्रंशात् अस्थिरे, स्तिमिते=स्पर्शसुखस्मृत्या निश्चले, मूढे=विषयग्रहणासमर्थे, घूर्णमाने=सीतादर्शनार्थतस्ततो भ्रमती नयने यस्य सः, एतादृशो रामः स्वं न पर्यवस्थापयति=न प्रकृतिस्थं करोति । इसमें राम की दशा का चित्रण है । इस पाठ का मेल तमसा की 'सस्वेदरोमाञ्चित०' अगली उक्ति से नहीं बैठता है, अतः समीचीन नहीं प्रतीत होता ।

वत्सा—पाठान्तर—'बाला' । 'वत्सा' पाठ अधिक युक्त है, क्योंकि स्नेहानुबन्ध के कारण तमसा सीता को पुत्री के समान मानती है, अतः उसके मुख से 'वत्सा' ऐसा कथन संगत ही है । सीता के लिए सर्वत्र उसने वत्सा शब्द का प्रयोग किया भी है ।

सीता—(स्वगतम्) अवसेन एदेण अत्ताणएण लज्जाविदह्मि भअवदीए तमसाए। किंति किल एसा मण्णिस्सदि–'एसो परिच्चाओ, एसो अहिसंगेत्ति। [अवशेनैतेनात्मना लज्जापितास्मि भगवत्या तमसया। किमिति किलैषा मंस्यते—'एष परित्याग एषोऽभिषङ्ग' इति।]

रामः—(सर्वतोऽवलोक्य) हा ! कथं नास्त्येव ? नन्वकरुणे वैदेहि !

सीता—अकरुणह्मि, जा एव्वं विहं तुमं पेक्खंदी एव्व जीवेमि। [अकरुणास्मि, यैवंविधं त्वां पश्यन्त्येव जीवामि।]

=कदम्बाख्यतरुशाखेव। सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी—सस्वेदानि=स्वेदयुक्तानि, रोमाञ्चितानि=रोमाञ्चयुक्तानि, कम्पितानि=कम्पयुक्तानि च, अङ्गानि=शरीरावयवा, यस्याः सा तथाभूता। जाता=सम्पन्ना।

अयम्भावः—पवनेन परिकम्पितः, प्राथमिकवृष्टिजलेन सिक्ता उद्गतकलिकाभिर्युक्ता च कदम्बाख्यतरुशाखेव वत्सा सीता प्रियस्पर्शसुखेन, स्वेदयुक्तानि पुलकितानि कम्पितानि चाङ्गानि यस्यास्तथाविधा सञ्जाता।

'कदम्बयष्टिरिव' इत्यत्रोपमा, 'मरुन्नवाम्भःप्रविधूतसिक्ता' इत्यत्र च यथासङ्ख्यम्। तयोरन्योन्यसापेक्षतया सङ्करः। इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मिश्रणादुपजातिर्नाम वृत्तम् ॥४२॥

तमसोक्त्या लज्जिता सीता स्वगतमाह—अवशेनेति। अवशेन=विवशेन, स्वव्यापाराक्षमेण। आत्मना=देहेन ('आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति कोषः)। लज्जापिताऽस्मि=लज्जां प्रापितास्मि। अभिषङ्गः=आसक्तिः। मदीयो देहस्तादृशः स्वेदरोमाञ्चकम्पयुक्तः स्वव्यापाराक्षमश्च सञ्जातो येन तमसा मा लज्जां नीतवती। सा किं स्वमनसि कथयिष्यति ? एकतो भर्त्रा निर्वासनम्, अपरतः स्पर्शमात्रेणेदृशः स्वेदादिजनन्यासक्तिरिति भावः।

रामः सीतां द्रष्टुं सर्वतो दृष्टिं निक्षिप्याह—कथं नास्त्येव। अयि अकरुणे=निर्दये वैदेहि !

सीता रामोक्तिं निशम्याह—सत्यमिति। सत्यमेवाकरुणाऽस्मि या त्वामेतदवस्थमपि विलोक्य जीवामि।

लज्जापिता—लज्जाम् आपिता इति लज्जापिता, द्वितीयातत्पुरुष। अभिषङ्गः—अभि+√सञ्ज+घञ्।

सीता—(स्वगत) विवश इस देह के कारण भगवती तमसा के द्वारा मैं लज्जित की गयी हूँ। वह (अपने मन में) क्या समझेगी; (कहाँ) यह (पति के द्वारा) तेरा परित्याग और (कहाँ) तेरी (पति में) यह आसक्ति।

राम—(सभी ओर देखकर) क्यों, है ही नहीं ? अरे अकरुणे वैदेहि !

सीता—मैं सचमुच अकरुण हूँ, जो इस प्रकार के आपको देखती हुई भी जी रही हूँ।

अपशेन—पाठा०—अवशं गतेन। अर्थ में अन्तर नहीं है।

रामः--क्वासि देवि ! प्रसीद । न मामेवंविधं परित्यक्तुमर्हसि ।

सीता--अयि अज्जउत्त, विवरीदं विअ एदं [आर्यपुत्र ! विपरीतमेवैतत् ।]

वासन्ती--देव ! प्रसीद प्रसीद । स्वेनैव लोकोत्तरेण धैर्येण संस्तम्भयातिभूमिं गतमात्मानम् । कुत्र मे प्रियसखी ?

रामः--व्यक्तं नास्त्येव । कथमन्यथा वासन्त्यपि तां न पश्येत् । अपि खलु स्वप्न एष स्यात् । न चास्मि सुप्तः । कुतो रामस्य निद्रा ? सर्वथा स एवैष भगवान् अनेकवारपरिकल्पनानिर्मितो विप्रलम्भः पुनः पुनरनुबध्नाति माम् ।

रामः पुनराह—देवि ! कुत्रासि ? प्रसीद=दर्शनदानेन मामनुगृहाण । ईदृशीं दशामापन्नोऽहं भवत्या परित्याज्यो नास्मि ।

सीता राममुद्दिश्य प्राह—अयि आर्यपुत्र ! त्वदुक्तं विपरीतमेवैतत्, यतस्त्वमेव मां परित्यक्तवान्, नाहं त्वां परित्यक्तवती ।

समधिकव्याकुलमानसं रामं वासन्ती सान्त्वयति—देवेति । देव ! प्रसन्नो भव। मर्यादाया अतिक्रमणं विधाय दूरं यावत् गतमात्मानं स्वेनैव=आत्मीयेनैव, लोकोत्तरेण=अलौकिकेन, धैर्येण संस्तम्भय=स्थिरीकुरु; न कोऽप्यन्यो भवन्तं स्थिरीकर्तुं समर्थः । मे प्रियसखी=सीताऽत्र नास्ति ।

वासन्तीवचनं सत्यं मत्वा राम आह—व्यक्तमिति । व्यक्तम्=स्पष्टमेव, नास्त्यत्र सीता, अन्यथा वासन्ती तां कथं न पश्येत् ? एष सीतास्पर्शः स्वप्नो भवेत् किम् ? किन्तु नास्मि सुप्तः, आं ज्ञातम्, सर्वथा=सर्वैः प्रकारैः, भगवान्=सामर्थ्यसम्पन्नः अनेकवारपरिकल्पनानिर्मितः—अनेकवारं परिकल्पना=सङ्कल्पः, तया निर्मितः=

स्वप्नः—√स्वप्+नन् (स्वपो नन्) । सुप्तः—√स्वप्+क्त, सम्प्रसारण (वचिस्वपियजादीनां किति) । विप्रलम्भः—वि+प्र+√लभ्+घञ् ।

राम—देवि ! कहाँ हो ? तुम्हें इस प्रकार के मुझ को छोड़ना उचित नहीं ।

सीता—हे आर्यपुत्र ! यह तो विपरीत-सा है (आपने मुझे छोड़ा है, मैंने तो आपको नहीं छोड़ा है) ।

वासन्ती—महाराज ! प्रसन्न हों, प्रसन्न हों । अपने ही लोकोत्तर धैर्य से सीमा लाँघ कर दूर चले गये अपने को स्थिर करो । मेरी प्रियसखी (यहाँ) कहाँ ?

राम—स्पष्टतः नहीं ही है । अन्यथा कैसे वासन्ती भी न देखती । सम्भव है यह स्वप्न हो, किन्तु मैं सोया नहीं हूँ । भला राम को नींद कहाँ ? सर्वथा वही यह बहुशः संकल्प-निर्मित सामर्थ्य-सम्पन्न भ्रम मुझे बाँध लेता है—मेरा अनुसरण करता है ।

विवरीदं विअ (विपरीतमिव)—पाठा०—विप्पदीवं विअ (विप्रतीपमिव) अर्थ में अन्तर नहीं है ।

अतिभूमिं गतम्—पाठा०—अतिभूमिगतविप्रलम्भम्—अतिभूमिगतः=सीमान्तं प्राप्तः विप्रलम्भः प्रियावियोगो यस्य तम् ।

अपि खलु स्वप्नः—'अपि' शब्द का प्रयोग 'संभावना' के अर्थ में हुआ है, 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावना स्वपि' (इत्यमरः) ।

सीता--मए एव्व दारुणाए विप्पलद्धो अज्जउत्तो [मयैव दारुणया विप्रलब्ध आर्यपुत्रः ।]

वासन्ती---देव ! पश्य पश्य---

पौलस्त्यस्य जटायुषा विघटितः कार्ष्णायसोऽयं रथ-
स्ते चैते पुरतः पिशाचवदनाः कङ्कालशेषाः खराः ।
खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिरितः सीतां चलन्तीं वह-
न्नन्तर्व्याकुलविद्युदम्बुद इव द्यामभ्युदस्थादरिः ॥ ४३ ॥

रचितः बहुशः सङ्कल्पनिर्मितो विप्रलम्भः=भ्रमः, सातत्येन माम्=रामम्, अनुबध्नाति=अनुसरति । भ्रम एव भूयोभूयः पुरतः सीतां संस्थाप्य तया सह मदीयं समागमं संसाध्य मां प्रतारयति ।

रामोक्ति निशम्य सीताऽऽह--मयैवेति । मयैव कठोरया करस्पर्शादार्यपुत्रः विप्रलब्धः=प्रतारितः ।

वासन्ती स्थानान्तरं प्रदर्शयन्ती रामं प्राह—देव पश्येति । महाराज ! इतः पश्य ।

अन्वयः—अयं जटायुषा विघटितः पौलस्त्यस्य कार्ष्णायसः रथः । पुरतः च ते एते पिशाचवदनाः कङ्कालशेषाः खराः । इतः खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिः अरिः चलन्तीं सीतां वहन् अन्तर्व्याकुलविद्युद् अम्बुद इव द्याम् अभ्युदस्थात् ॥ ४३ ॥

पौलस्त्यस्येति । अयम्=पुरो दृश्यमानः । जटायुषा=जटायुर्नामकगृध्रराजेन । विघटितः=भग्नः । पौलस्त्यस्य=पुलस्तिपौत्रस्य रावणस्य । कार्ष्णायसः=कृष्णायो

विप्रलब्धः—वि + प्र + √लभ् + क्त ।

पौलस्त्यः—पुलस्तेर्गोत्रापत्यं पुमान्; पुलस्ति + यञ् । पुलस्ति का नामान्तर 'पुलस्त्य' है, तब पुलस्त्य + अण् = 'पौलस्त्य' होगा । कार्ष्णायसः—कृष्णं च तदयः कृष्णायसम् (टच् समासान्त) कृष्णायसस्य विकारः कार्ष्णायसः, कृष्णायस + अण् (तस्य विकारः) । कृष्णायस एक उत्कृष्ट जाति का लोह है, जिसे इस्पात या फौलाद कहते हैं । पक्षतिः—पक्षस्य मूलम्; 'पक्षात् तिः' सूत्र से मूल के अर्थ में पक्ष

सीता—मुझ कठोर के द्वारा ही आर्यपुत्र प्रतारित किये गये हैं ।

वासन्ती—महाराज ! देखिए, देखिए—

यह जटायु के द्वारा भग्न किया हुआ रावण का कृष्णायस (फौलाद लोह) से बना रथ है, और आगे ये पिशाचों के मुख के समान मुख वाले वे (रावण के रथ को खींचने वाले) खच्चर हैं, जिनका अस्थिपंजर मात्र अवशेष रह गया है, इसी स्थान से जटायु के पक्ष मूल को तलवार

चलन्तीम्—मुक्ति के लिए अस्थिर, छटपटाती । पाठा०—ज्वलन्तीम्=अपने सतीत्व के तेज से देदीप्यमान ।

अन्तर्व्याकुल०—पाठान्तर–अन्तर्व्यापृत । विशालकाय और कृष्णवर्ण होने के कारण रावण मेघ के समान तथा स्वभावतः गौरवर्ण और रावण के फन्दे में पड़ने से चञ्चल (छटपटाती हुई) होने के कारण सीता विद्युत् के समान है । अतः सीता से युक्त रावण को उस मेघ के समान कहा गया है, जिसके भीतर बिजली चमक रही हो ।

सीता—(सभयम्) अज्जउत्त ! तादो वावादीअदि अहं वि अवहरिज्जामि । ता परित्ताहि परित्ताहि । [आर्यपुत्र ! तातो व्यापाद्यते अहमप्यपह्रिये। तस्मात् परित्रायस्व परित्रायस्व ।]

रामः—(सवेगमुत्थाय) आः पाप ! तातप्राणसीतापहारिन् ! क्व यासि ?

नाम लोहविशेषः, तेन निर्मितः । पिशाचवदना—पिशाचस्येव वदनं=मुखं येषां ते। कङ्कालशेषाः=शरीरास्थिपञ्जरमात्रावशिष्टाः । खराः=अश्वतराः, रावणरथवाहका इति यावत् । इतः=अस्मात् स्थानात् । खड्गच्छिन्न०—खड्गेन=असिना, छिन्ना जटायोः पक्षतिः=पक्षमूलं येन सः । अरिः=शत्रुः, रावण इत्यर्थः । चलन्तीम्=मुक्त्यर्थं विचेष्टमानाम् । अन्तर्व्याकुलविद्युत्—अन्तः=अभ्यन्तरे, व्याकुला=चञ्चला, विद्युत्=तडित्, यस्य तथाभूतः । अम्बुदः=मेघः । द्याम्=आकाशम् । अभ्युदस्थात्=अभ्युद्गतवान् ।

अयम्भावः—अयं पुरो दृश्यमानो जटायुषा भग्नो रावणस्य कृष्णलोहनिर्मितो रथो विद्यते । एते पिशाचमुखा रावणरथवाहकाः कङ्कालशेषा अश्वतराः पुरतो दृश्यन्ते । अस्मात् स्थानाद्रावणोऽसिना जटायोः पक्षतिं छित्त्वा, मुक्त्यर्थं विचेष्टमानां सीतां परिवहन्, अभ्यन्तरे चञ्चला विद्युद् यस्य तथाविधो मेघ इव आकाशमभ्युद्गतोऽभूत् । उपमाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४३ ॥

वासन्त्या उक्तिमाकर्ण्य सीता स्वहरणकाल एवात्मानं विद्यमानं मत्वा सभयमाह—आर्यपुत्र ! तातः=पिता जटायुर्निशाचरेण व्यापाद्यते=हन्यते, अहमपि चापहृत्य नीये, तस्मात् परित्रायस्व परित्रायस्व=रक्ष रक्ष (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः) ।

रामोऽपि वासन्तीवचनश्रवणादेव तथाकुर्वन्तं रावणं मत्वा सवेगमुत्थाय प्राह—आः—कोपव्यञ्जकमव्ययपदम्, पाप ! तातप्राणसीतापहारिन्—तातस्य=जटायोः,

---

शब्द से 'ति' प्रत्यय; पक्ष + ति=पक्षतिः । जटायुस्—यह सकारान्त और 'जटायु'—यह उकारान्त दोनों शब्द उसी गृध्रराज के वाचक हैं । इस श्लोक में भी ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं । जटा=पक्षमूलम्, आयुर्यस्य सः जटायुः (जटायुस्); जटया याति इति जटायुः (जटायु उकारान्त); जटा + √या + कु (औणादिक प्रत्यय)।

व्यापाद्यते—वि + आ + √पंद + णिच् + लट् (कर्मणि) । अपहारिन्—अप + √हृ + णिनि ।

से काटने वाला शत्रु (रावण) छटपटाती सीता को ले जाता हुआ, भीतर-भीतर चञ्चल विद्युत वाले मेघ के समान आकाश की ओर उड़ गया था ॥ ४३ ॥

सीता—(भय के साथ) आर्यपुत्र ! तात (जटायु) मारे जा रहे हैं, मैं भी हरी जा रही हूँ, अतः बचाइए, बचाइए ।

राम—(वेग से उठकर) आः पापी ! तात के प्राणों तथा सीता का अपहरण करने वाला (लङ्कापति) तू कहाँ जा रहा है ?

अन्य एव०—पाठा०—अन्वर्थ एवायमधुना प्रलापो वर्तते—अधुना=साम्प्रतम् । प्रलापः='आः पापे'त्यादिरूपमनर्थकं वचः, अन्वर्थः=सार्थकः, सीताया अभावाद्रावणादीनां च विनाशित

वासन्ती—अयि देव ! राक्षसकुलप्रलयधूमकेतो ! किमद्यापि ते मन्युविषयः ?

सीता—अम्हो अहं वि उब्भंतम्हि । [अहो ! अहमप्युद्भ्रान्तास्मि ।]

रामः—अन्य एवायमधुना विपर्ययो वर्तते ।

उपायानां भावादविरतविनोदव्यतिकरै-
र्विमर्दैर्वीराणां जगति जनिताद्भुतरसः ।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कथं तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं त्वप्रतिविधः ॥ ४४ ॥

प्राणान् सीतां च अपहरति, तत्सम्बुद्धौ । क्व = कुत्र यासि ? तिष्ठ तिष्ठ, अद्यैव त्वां हन्मि ।

वासन्ती तथाविधं क्रोधाविष्टं रामं दृष्ट्वाऽऽह—अयि देवेति । अयि दव = महाराज ! राक्षसकुलप्रलयधूमकेतो—राक्षसानां कुलस्य प्रलयाय = नाशाय, धूमकेतुः= विनाशसूचकः उत्पातविशेषः, तत्सम्बुद्धौ । किम् अद्यापि स रावणस्तव मन्युविषयः—मन्योः = कोपस्य, विषयः = पात्रम् ('मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः), कोपभाजनमस्ति ?

सीताऽपि वस्तुस्थितिं विज्ञायाह—अहो ! अहमपि उद्भ्रान्ता = समधिकभ्रान्तियुक्ताऽस्मि ।

रामः—अन्य एव = सीतापूर्ववियोगाद्विलक्षण एवेत्यर्थः । विपर्ययः = सीतावियोगरूपविपर्यासः ।

अन्वयः—उपायानां भावात् अविरतविनोदव्यतिकरैः वीराणां विमर्दैः जगति जनिताद्भुतरसः मुग्धाक्ष्याः सः वियोगः रिपुघातावधिः अभूत् खलु । अयं तु अप्रतिविधः निरवधिः कथं तूष्णीं सह्यः ? ॥ ४४ ॥

सम्प्रति सीतावियोगरूपोऽयं विपर्यासः सीतापूर्ववियोगाद्विलक्षण एव वर्तते, इति वदन् रामस्तद्वैलक्षण्यं प्रतिपादयति—**उपायानामिति** । उपायानाम् = वियोगनिवर्तक-

---

उद्भ्रान्ता—उद् + √भ्रम् + क्त + टाप् ।
विपर्ययः—वि + परि + √इ + अच् । विमर्दैः—वि + √मृद + घञ् । मुग्धाक्ष्याः—मुग्धे अक्षिणी यस्याः सा मुग्धाक्षी, तस्याः; बहुव्रीहि समास होने पर

वासन्ती—अयि महाराज ! राक्षसकुल के प्रलय के लिए धूमकेतु ! क्या आज भी (वह रावण) आपके कोप का भाजन है ?

सीता—आश्चर्य है ! मैं भी अत्यन्त भ्रान्त हो गयी थी ।

राम—इस समय यह (सीता-वियोगरूप) दशा-विपर्यास दूसरे ही प्रकार का है । उपायों के होने के कारण निरन्तर विनोद के सम्पर्कों वाले, वीरों के संग्रामों से जगत् में

त्वादनर्थकमेवेति भावः । सीता के अभाव तथा रावण के विनाश से यह मेरा प्रलाप अपने अर्थ के अनुसार सचमुच अनर्थक वचन है ।

सीता--णिरवधित्ति हा हदम्हि मंदभाइणी । [निरवधिरिति हा हतास्मि मन्दभागिनी ।]

रामः--हा कष्टम् !

हेतूनाम्, सेनादिसाधनानानामिति भावः । भावात् = सत्त्वात्, अविरतविनोदव्यतिकरैः—अविरताः = अविच्छिन्नाः, विनोदानाम् = दुःखविस्मरणहेतूनां, व्यतिकराः = सम्बन्धा येषु तैः । वीराणाम् = शूराणाम्, सुग्रीवादिप्रभृतीनाम् । विमर्दैः = सम्प्रहारैः, सङ्ग्रामैरित्यर्थः । जगति = लोके । जनिताद्भुतरसः—जनितः = उत्पादितः, अद्भुतरसः = विस्मयस्थायिको रसविशेषः येन सः । मुग्धाक्ष्याः—मुग्धे = सुन्दरे, अक्षिणी = नेत्रे यस्याः सा, तस्याः = सीताया इत्यर्थः । सः = पूर्वानुभूतः । वियोगः = विरहः । रिपुघातावधिः—रिपूणाम् = शत्रूणाम्, रावणादीनामित्यर्थः, घातः = वधः, अवधिः = सीमा, यस्य तथाविधः । तु = किन्तु । अयम् = सीताया वर्तमानवियोगः, अप्रतिविधः = प्रतीकाररहितः । निरवधिः = अवधिशून्यः, यावज्जीवनभावीत्यर्थः । कथम् = केन प्रकारेण । तूष्णीम् = प्रतीकाराभावाज्जोषम्भावेन । सह्यः = मर्षणीयः ।

अयम्भावः—सीतायाः पूर्ववियोगस्तादृश आसीद्येन सेनादिसाधनानां विद्यमानत्वादविच्छिन्नदुःखहेतुनिवर्तकयुद्धकौतुकानां सम्पर्कैः सुग्रीवप्रभृतीनां सङ्ग्रामैर्लोकेऽद्भुतरस उत्पादितः, समस्तलोको विस्मयान्वितः कृतः । एवंविधस्य तस्य वियोगस्यावधिः शत्रूणां वध एवासीत्, हतेषु शत्रुषु स वियोगः स्वयमेव समाप्तिमयासीत्, किन्त्वयं सीताया वियोगः प्रतीकारशून्यो यावज्जीवनभावितया निरवधिः केन प्रकारेण तूष्णीं मर्षणीयः, सर्वथायमसह्यो ममेति भावः ।

अत्रोपमानभूतप्राक्तनविरहादुपमेयस्वरूपेदानीन्तनविरहस्याधिकदुःसहत्वकथनाद् व्यतिरेकालङ्कारः, तथा विरहस्यासह्यत्वे निरवधित्वस्याप्रतिविधस्य च हेतुत्वेनोपन्यासात् काव्यलिङ्गालङ्कारश्चेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । शिखरिणी वृत्तम् ॥४४॥

राममुखादिदानीन्तनविरहस्य निरवधित्वमाकर्ण्य सीताऽऽह—**निरवधिरिति** । इदानीन्तनविरहस्य निरवधित्वेन तु हा हतास्मि, लोके मम जीवनं व्यर्थमेव सञ्जातम्, यावज्जीवं प्रियवियोगसत्त्वादिति भावः ।

'मुग्धाक्षि' शब्द से 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' समासान्त षकार और चकार का इत्संज्ञक होने से लोप, 'यस्येति च' से ईकार का लोप, 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीप् होकर 'मुग्धाक्षी' शब्द निष्पन्न होता है । अवधिः—अव + √धा + कि । सह्यः—√सह् + यत् ।

उत्पन्न किये गये अद्भुत रस से सम्पन्न, सुनयना (सीता) का वह वियोग शत्रु के विनाश तक ही था, किन्तु यह (वियोग) तो प्रतीकार शून्य और अवधि रहित (अत एव) चुपचाप कैसे सहन किया जा सकता है ? ॥ ४४ ॥

सीता—'अवधि रहित' ऐसा है; हाय मैं मन्दभागिनी विनष्ट हुई ।

राम—हाय, दुःख है ।

व्यर्थं यत्र कपीन्द्रसख्यमपि मे, वीर्यं हरीणां वृथा
प्रज्ञा जाम्बवतोऽपि यत्र न गतिः पुत्रस्य वायोरपि।
मार्गं यत्र न विश्वकर्मतनयः कर्तुं नलोऽपि क्षमः
सौमित्रेरपि पत्रिणामविषये तत्र प्रिये! क्वासि मे? ॥ ४५ ॥

अन्वयः—'यत्र मे कपीन्द्रसख्यपि व्यर्थम्, यत्र हरिणां वीर्यं वृथा, यत्र जाम्बवतोऽपि प्रज्ञा वृथा, यत्र वायोरपि पुत्रस्य गतिः न, यत्र विश्वकर्मतनयः नलः अपि मार्गं कर्तुं न क्षमः, सौमित्रेः अपि पत्रिणाम् अविषये तत्र मे प्रिये! क्व असि? ॥४५॥

सीतां सम्बोध्य रामः पुनराह—व्यर्थमिति। यत्र=यस्मिन् प्रदेशे, मे मम। कपीन्द्रसख्यमपि—कपीन्द्रेण=सुग्रीवेण, सख्यम्=मैत्री अपि। हरीणाम्=वानराणाम् ('शुकाऽहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः)। वीर्यम्=पराक्रमः। प्रज्ञा=युक्तायुक्तत्वनिश्चायिका बुद्धिः। वायोरपि पुत्रस्य=हनूमतोऽपि। गतिः=गमनम्। विश्वकर्मतनयः—विश्वकर्मा नाम देवशिल्पी, तस्य तनयः=पुत्रः। क्षमः=समर्थः। सौमित्रेः=लक्ष्मणस्य। पत्रिणाम्=शराणाम्। अविषये=अगोचरे।

अयम्भावः—यत्र मम सुग्रीवेण सह मैत्र्यपि निष्फला, कपीनां पराक्रमोऽपि व्यर्थः, जाम्बवतो युक्तायुक्तत्वनिश्चयात्मिका बुद्धिरपि वृथा, यत्र वायुपुत्रस्य हनूमतोऽपि प्रवेशो न सम्भाव्यः, देवशिल्पिनो विश्वकर्मणः पुत्रो नलोऽपि यत्र सेतुं कर्तुं न समर्थः, लक्ष्मणस्यापि शराणामगोचरे तस्मिन् प्रदेशे, मम प्रिये! त्वं कुत्रासि? प्राग्रावणहृतायास्तवान्वेषणार्थं सुग्रीवसख्यादिकं सफलं जातम्, इदानीं तु त्वदन्वेषणे तत्सर्वं साधनं निष्फलमेवेति भावः।

अत्र सीतावस्थानपरिज्ञाने कारणीभूतस्य सुग्रीवसख्यस्य व्यर्थतायामपि खलेकपोतन्यायेन वानराणां पराक्रमादीनां वैयर्थ्याभिधानात् समुच्चयो नामालङ्कारः। तेन च सावधिकात् पूर्वानुभूतविरहात् निरवधिकस्येदानीन्तनविरहस्य दुःसहत्वाधिक्यबोधनाद् व्यतिरेकालङ्कारो ध्वन्यते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥४५॥

सख्यम्—सख्युर्भावः सख्यम्; सखि+य ('सख्युर्यः' ५।१।१२६)। प्रज्ञा—प्र+√ज्ञा+अङ् (भावे)। सौमित्रिः—सुमित्राया अपत्यं पुमान् सौमित्रिः; अपत्यार्थ में इञ् प्रत्यय ('बाह्वादिभ्यश्च' ४।१।९६)।

जहाँ मेरी सुग्रीव के साथ मैत्री भी व्यर्थ है, वानरों का पराक्रम भी व्यर्थ है, जहाँ जाम्बवान् की बुद्धि भी नहीं (काम कर सकती), पवन पुत्र (हनुमान्) की भी जहाँ पहुँच नहीं है, जहाँ विश्वकर्मा के पुत्र नल भी मार्ग (पुल) बनाने में समर्थ नहीं है, लक्ष्मण के बाणों के लक्ष्य में न आने वाले उस प्रकार के मेरी प्रिया किस प्रदेश में हो? ॥ ४५ ॥

विश्वकर्मतनयो नलः—विश्वकर्मा देवशिल्पी के रूप में प्रसिद्ध ही है। वह कभी ऋतध्वज नामक मुनि के शाप से वानरयोनि को प्राप्त हो गया था। उस समय उसी के वीर्य से घृताची नामक अप्सरा में नल का जन्म हुआ था। इसी नल ने वह सेतु बनाया था, जिससे वानरसेना ने समुद्र को पार किया था।

सीता—बहुमाणदह्मि पुव्वविरहे [बहुमानितास्मि पूर्वविरहे ।]

रामः—सखि वासन्ति ! दुःखायैव सुहृदामिदानीं रामस्य दर्शनम् । कियच्चिरं त्वां रोदयिष्यामि तदनुजानीहि मां गमनाय ।

सीता—(सोद्वेगमोहं तमसामाश्लिष्य) भअवदि तमसे ! कहं गच्छदि एव्व अज्जउत्तो । (इति मूर्च्छति) । [भगवति तमसे ! कथं गच्छत्येवार्यपुत्रः ।]

तमसा—वत्से ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । नन्वावामप्यायुष्मतोः कुशलवयोर्वर्षवर्धनमङ्गलानि सम्पादयितुं भागीरथीपदान्तिकमेव गच्छावः ।

सीता—भअवदि ! पसीद । खणमेत्तं वि दाव दुल्लहदंसणं जणं पेक्खामि । [भगवति ! प्रसीद । क्षणमात्रमपि तावद् दुर्लभदर्शनं जनं प्रेक्षे ।]

राममुखात् पूर्वविरहे सुग्रीवसख्यादीनि साधनानि निशम्य सीताऽऽह—बहुमानितास्मि पूर्वविरहे=प्राक्तनवियोगे, मदर्थमेव सेतुनिर्माणादिकार्यानुष्ठादहं बहुसम्मानवत्यस्मि ।

गन्तुकामो **रामो** वासन्तीमाह—सखि वासन्ति ! रामस्य दर्शनमिदानीं=साम्प्रतम्, सुहृदां=मित्राणां, दुःखायैव=दुःखफलदमेव, तस्मात् कियच्चिरं त्वां रोदयिष्यामि=रुदन्तीं करोमि, तन्मां गमनाय=गन्तुमनुजानीहि=अनुमतिं कुरु ।

रामस्येमामुक्तिमाकर्ण्य सीता रामजिगमिषाजन्योद्वेगमोहाभ्यां सह तमसामाश्लिष्य- 'भगवति तमसे ! कथं गच्छत्येवार्यपुत्रः' इत्येवं वदन्ती मूर्च्छिता भवति ।

तमसा तां समाश्वासयन्ती प्राह—आयुष्मतोः कुशलवयोरुद्देशेन वर्षवर्धनमङ्गलानि =द्वादशवर्षपूर्तिनिमित्तकानि देवतापूजनादीनि शुभानि, सम्पादयितुम्=उत्पादयितुम्, आवां भागीरथीपदान्तिकम्=गङ्गासकाशमेव, तच्चरणसमीपमित्यर्थः; गच्छावः ।

कियच्चिरम् ('कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया) । अनुजानीहि—अनु+ √ज्ञा+लोट् (सि=हि) । वर्धनः—√वृध् (अन्तर्भावितण्यर्थः)+ल्युट् (कर्तरि) 'कृत्यल्युटो बहुलम्' ।

सीता—पहले के विरह में मैं बहुत सम्मानित हूँ ।

राम—सखि वासन्ति ! राम का दर्शन इस समय मित्रों के दुःख के लिए ही है । तुम्हें कितनी देर तक रुलाऊँगा । अतः मुझे जाने की अनुमति दो ।

सीता—(**उद्वेग और मोह के साथ तमसा का आलिङ्गन करके**) हे भगवति तमसे ! क्या आर्यपुत्र जा ही रहे हैं ? (**ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाती है**) ।

तमसा—पुत्री ! समाश्वस्त होओ, समाश्वस्त होओ । हम दोनो भी आयुष्मान् कुश तथा लव के (द्वादश) वर्षपूर्ति निमित्तक मङ्गलों के सम्पादन के लिए भागीरथी के चरणों के समीप ही चलें ।

सीता—हे भगवति ! प्रसन्न होओ, क्षणभर दुर्लभ दर्शन (प्रिय) जन (राम) को और देख लूँ ।

वर्षवर्धनमङ्गलानि—पाठा०—वर्षग्रन्थिमङ्गलानि । अर्थ में कोई अन्तर नहीं है । प्रत्येक वर्ष जन्म-दिन के अवसर पर दीर्घायुष्य के उद्देश्य से किये जाने वाले देवतापूजन आदि माङ्गलिक अनुष्ठान । 'द्वादशवर्षपूर्तिमङ्गलानि देवतापूजादीनि शुभानि' (वीरराघव) ।

रामः—अस्ति चेदानीमश्वमेधाय सहधर्मचारिणी मे ।

सीता—(सोत्कम्पम्) अज्जउत्त ! का ? [आर्यपुत्र ! का ?]

वासन्ती—परिणीतमपि किम् ?

रामः—नहि नहि । हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः ।

सीता—(सोच्छ्वासास्रम्) अज्जउत्त, दाणिं सि तुमम् । अम्हहे, उक्खाणिदं दाणिं मे परिच्चाअसल्लं अज्जउत्तेण । [आर्यपुत्र ! इदानीमसि त्वम् । अहो ! उत्खातमिदानीं मे परित्यागशल्यमार्यपुत्रेण ।]

रामः—तत्रापि तावद् बाष्पदिग्धं चक्षुर्विनोदयामि ।

खिन्ना सीता क्षणं स्थातुं प्रार्थयमाना तमसामाह—भगवति ! प्रसीद = प्रसादं कुरु, क्षणमात्रमपि तावद् दुर्लभदर्शनं = दुर्लभं दर्शनं यस्य तम्, प्रियमार्यपुत्रं प्रेक्षे = अवलोकयामि, पश्यामीत्यर्थः ।

सीताप्रतिकृतौ तावदश्रुबहुलचक्षुर्विनोदनं करिष्यामीत्यर्थकं वचो रामो ब्रवीति—इदानीमश्वमेधाय = अश्वमेधमनुष्ठातुं, मे सहधर्मचारिणी = सहधर्माचरणशीला, अस्ति ।

इत्यर्धोक्त एव **सीता वासन्ती** च विवाहान्तरमाशङ्क्य यथाक्रममाह—आर्यपुत्र ! सा का सहधर्मचारिणी ? परिणीतमपि किम् = विवाहोऽपि कृतः किम् ? इति ।

रामोऽपि वासन्तीप्रश्नस्योत्तरं ददानो वाक्यं पूरयति—नहि नहि, हिरण्मयी = सुवर्णनिर्मिता, प्रतिकृतिः = सीताप्रतिमा, मे सहधर्मचारिणी ।

एतद्वचो निशम्य सोच्छ्वासास्रं सीता प्राह—इदानीं = सम्प्रति, त्वम् आर्यपुत्रः = पतिशब्दवाच्यः असि । आर्यपुत्रेणेदानीं परित्यागशल्यमुत्खातम् = निर्वासनरूपं शल्यमुद्धृतम् । परिणयसौलभ्येऽपि भवता सहधर्मचारिणीस्थाने मम सुवर्णमयी प्रतिमा स्थापितेत्यनेन व्यवहारेण मम परित्यागदुःखं हृदयान्निष्कासितमिति सीतोक्तेरभिप्रायः ।

रामः पुनराह—तत्रापि = तस्यां हिरण्मयसीताप्रतिमायामेव, बाष्पदिग्धम् = अश्रुलिप्तं, चक्षुः विनोदयामि = विनोदयुक्तं करिष्यामि ।

अश्वमेधाय—अश्वमेधमनुष्ठातुम्, 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' सूत्र से चतुर्थी । उत्खातम्—उद् + √खन् + क्त । दिग्धम्—√दिह् + क्त ।

राम—और इस समय अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान के लिए मेरी सहधर्मचारिणी है ।

सीता—(काँप कर) आर्यपुत्र ! कौन ?

वासन्ती—विवाह भी कर लिया क्या ?

राम—नहीं नहीं, सुवर्ण की बनी हुई सीता की प्रतिमूर्ति ।

सीता—(उच्छ्वास और अश्रु के साथ) अब आप आर्यपुत्र (सच्चे पति) हैं । अहो, अब आर्यपुत्र ने परित्याग रूप कील को उखाड़ दिया ।

राम—और तब तक उसी में आँसुओं से लिप्त नेत्रों को बहलाऊँगा ।

सोत्कम्पम्—पाठा०—स्वगतं साक्षेपम्—आक्षेपेण भर्त्सनेन सहितं यथा तथा ।

सोच्छ्वासास्रम्—उच्छ्वास के साथ इसलिए कि यज्ञ सम्पादनार्थ विवाह के आवश्यक होने पर भी राम ने वैसा नहीं किया और अश्रु के साथ इसलिए कि राम ने सभी तरह के सुखों को उसी (सीता) के कारण छोड़ दिया ।

सीता—धण्णा खु सा जा एव्वं अज्जउत्तेण बहुमण्णीअदि जा अ अज्जउत्तं विणोदयंदी आसाणिबंधणं जादा जीअलोअस्स। [धन्या खलु सा यैवमार्यपुत्रेण बहुमन्यते या चार्यपुत्रं विनोदयन्त्याशानिबन्धनं जाता जीवलोकस्य।]

तमसा—(सस्मितस्नेहास्रं परिष्वज्य) अयि वत्से ! एवमात्मा स्तूयते।

सीता—(सलज्जमधोमुखी स्वगतम्) परिहसिदम्हि भअवदीए। [परिहसितास्मि भगवत्या]।

वासन्ती—महानयं व्यतिकरोऽस्माकं प्रसादः। गमनं पुनर्यथा कार्यहानिर्न भवतु तथास्ताम्।

रामः—तथास्तु।

सीता स्वप्रतिकृतिं स्तौति—धन्येति। सा = हिरण्मयी मत्प्रतिकृतिः, पुण्यवती या आर्यपुत्रेण चक्षुर्विनोदनहेतुत्वेनाधिकं सत्क्रियते, या चार्यपुत्रं विनोदयन्ति = विस्मृतदुःखं कुर्वन्ती, आशानिबन्धनम् = तज्जीवनप्रत्याशाहेतुतया जीवलोकस्याशाहेतुर्जाता, स्वस्वविषयकाशाहेतुरित्यर्थः।

तमसा स्मितेन, स्नेहेन अश्रुभिश्च सह यथा स्यात्तथा सीतां परिष्वज्य = आश्लिष्य प्राह—वत्से ! एवमात्मा स्तूयते = 'धन्या खलु सा' इत्यादि पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रतिकृतिस्तुत्या त्वमात्मानमेव स्तौषि, स्तुतिविषयीक्रियते इत्यर्थः।

तदाकर्ण्य सीता सलज्जमधोमुखीभूत्वा स्वगतमाह—भगवत्या = तमसया, परिहासितास्मि = मे परिहासः कृतः।

अथ वासन्ती 'अनुजानीहि मां गमनाय' इति रामस्य पूर्वोक्तिमनुसृत्य राममनुजानाति—अयं व्यतिकरः = एष समागमः, अस्माकं प्रसादः = अस्मद्विषयानुग्रहप्रयोजितः, यथा = येन प्रकारेण, कार्यहानिः = कर्त्तव्यलोपः, न आस्ताम् = भवतु, तथा = तेन प्रकारेण, गमनं क्रियताम्। रामेणाप्युक्तं तथास्त्विति।

धन्या—धनं लब्धा धन्यः, स्त्री चेद् धन्या; धन + यत् ('धनगणं लब्धा')। परिहसिता—परि + √हस् + क्त + टाप्। परि-पूर्वक 'हस्' धातु सकर्मक हो जाती है, यहाँ कर्म में क्त प्रत्यय है।

सीता—निश्चय वह (मेरी प्रतिकृति) धन्य है, जो इस प्रकार आर्यपुत्र के द्वारा संमानित है तथा जो आर्यपुत्र के दुःखों का अपनोदन करती हुई संसार की आशा का हेतु हो गई है।

तमसा—(मुस्कराहट, स्नेह तथा आँसू के साथ आलिङ्गन करके) अरी पुत्री, इस प्रकार अपनी ही स्तुति हो रही है।

सीता—(लजाकर, अधोमुखी होकर, स्वगत) भगवती तमसा के द्वारा मेरा परिहास किया जा रहा है।

वासन्ती—यह समागम हम लोगों पर बड़ा अनुग्रह है। जिस प्रकार कर्त्तव्य की हानि न हो, उस प्रकार गमन किया जाय।

राम—वैसा ही हो।

सीता--पडिऊला दाणि मे वासंती संवुत्ता [प्रतिकूलेदानीं मे वासन्ती संवृत्ता ।]

तमसा—वत्से ! एहि गच्छावः ।

सीता—(सकष्टम्) एव्वं करम्ह । [एवं करिष्यावः ।]

तमसा—कथं वा गम्यते ? यस्यास्तव—

प्रत्युप्तस्येव दयिते तृष्णादीर्घस्य चक्षुषः ।
मर्मच्छेदपरैर्यत्नैराकर्षो न समाप्यते ॥ ४६ ॥

सीता--णमो णमो अपुव्वपुण्णजणिददंसणाणं अज्जउत्तचलणकमलाणं (इति मूर्च्छति)। [नमो नमोऽपूर्वपुण्यजनितदर्शनाभ्यामार्यपुत्रचरणकमलाभ्याम् ।]

ततः सीता वासन्तीमुद्दिश्याह—सम्प्रति वासन्ती मम प्रतिकूला = अनिष्टकारिणीत्वाद्विपरीता, संवृत्ता = जाता, ययाऽऽर्यपुत्रो गमनायानुज्ञातः ।

अन्वयः—'तृष्णादीर्घस्य (अत एव) दयिते प्रत्युप्तस्येव (यस्याः तव) चक्षुषः आकर्षः मर्मच्छेदपरैः यत्नैः न समाप्यते ॥ ४६ ॥

सीतागमने विघ्नं सम्भावयन्ती तमसाऽऽह--प्रत्युप्तस्येवेति । तृष्णादीर्घस्य—तृष्णया = प्रियदर्शनलालसया, दीर्घस्य = आयतस्य, विस्फारितस्येति यावत् । प्रत्युप्तस्येव = निखातस्येव । मर्मच्छेदपरैः = हृदयादिमर्मस्थलकृन्तनकारिभिः । यत्नैः = गमनव्यापारैः, आकर्षः = आकर्षणम् । न समाप्यते = विरामं न नीयते । प्रियात् त्वन्नेत्राकर्षणं दुःशकं भवतीति भावः ।

अयम्भावः--त्वन्नेत्रं प्रियदर्शनलालसया विस्फारितमत एव प्रिये रामे कीलितमिवावतिष्ठते । प्रियाद्रामात् तस्याकर्षणं मर्मस्थलकृन्तनकारिभिर्गमनव्यापारैर्विरामं न

प्रत्युप्तस्य—प्रति + वप् + क्त (कर्मणि) । आकर्षः—आ + √कृष् + घञ् । समाप्यते—सम् + √आप् + लट् (कर्मणि) । चरणकमलाभ्याम्—नमः शब्द के योग में चतुर्थी ('नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषड्योगाच्च') ।

सीता—वासन्ती इस समय मेरे प्रतिकूल हो गयी है ।

तमसा—पुत्री, आओ चलें ।

सीता—(**कष्ट के साथ**) ऐसा (ही) करें ।

तमसा—अथवा कैसे चला जा सकता है ? जिस तुम्हारे (पतिदर्शन की) लालसा से दीर्घ (विस्फारित) अतएव प्रिय में गड़े हुए-से नेत्रों को (प्रिय की ओर से) खींचना मर्मस्थलों को भेदने वाले गमन प्रयत्नों द्वारा सम्पन्न नहीं हो पा रहा है ॥ ४६ ॥

सीता—अपूर्व पुण्यों से जिनके दर्शन हुए, उन आर्यपुत्र के चरणकमलों को बार-बार प्रणाम है । **(ऐसा कहकर मूच्छित हो जाती है)**

ममच्छेद०—पाठान्तर--मर्मच्छेदोपमैर्यत्नैः सन्निकर्षो निरुध्यते—तव चक्षुषः नेत्रस्य सन्निकर्षः दयिते सम्बन्धः मर्मच्छेदोपमैः = हृदयादिप्रदेशकृन्तनसदृशैः यत्नैः निरुध्यते निवर्त्यते । अर्थात् प्यारे राम में तुम्हारे नेत्रों का जो सम्बन्ध है, वह मर्मस्थलों में छेदन करने के सदृश गमनप्रयत्नों से निरुद्ध होता है ।

तमसा—वत्से ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

सीता—(समाश्वस्य) किअच्चिरं वा मेहंतरेण पुण्णिमाचंदस्स दंसणं।
[कियच्चिरं वा मेघान्तरेण पूर्णिमाचन्द्रस्य दर्शनम् ।]

तमसा—अहो संविधानकम् !

नीयते, तस्मात् त्वन्नेत्राकर्षणस्य दुःशकतया तव गमनं कठिनमेव मन्ये इति भावः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ ४६ ॥

प्रतिष्ठमानं रामं सीता प्रणमति—नमो नम इति । अपूर्वपुण्यजनितदर्शनाभ्याम्= अपूर्वपुण्येनैव ययोर्दर्शनं कारितं तादृशाभ्यामार्यपुत्रचरणकमलाभ्यां नमो नमः । (इति नमस्कृत्य मूर्च्छति) तमसा तां समाश्वासयति ।

समाश्वस्य च सीताऽऽह—कियच्चिरमिति । मेघान्तरेण=मेघावकाशेन, अपसरणेनेति यावत्, पूर्णचन्द्रस्य दर्शनं कियच्चिरं भवितुमर्हति ? मेघावृतस्य चन्द्रस्य दर्शनं संयोगवशादपसृते मेघे यथा स्वल्पकालमेव यावद्भवति, अचिरेणैव तस्य पुनरपि मेघावृतत्वात् तथैव ममापि यदृच्छयाऽऽर्यपुत्रदर्शनं जातमिति भावः ।

'ननु एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा' इति नियमेन नाटके शृङ्गारवीरान्यतरप्राधान्यम्, न च 'वीरशृङ्गारौ प्रायिकौ' इति वाच्यम्, सत्सु रसान्तरेषु करुणरसप्राधान्ये विनिगमकाभावात् । किञ्च करुणस्य दुःखात्मकत्वेन रसत्वमेव नास्ति, येन रसप्रधाने नाटके तस्योक्तिसम्भवः स्यात्, तत्कथं कविनाऽत्र करुणोऽङ्गीरसः कृतः ? इत्याशङ्कां **तमसामुखेन** कविर्निवारयति—**अहो संविधानकम्** इति । अहो=आश्चर्यम् !

संविधानकम्—सम् + वि + √धा + ल्युट् + कन् (स्वार्थे) ।

तमसा—पुत्री ! आश्वस्त होओ, आश्वस्त होओ ।

सीता—(आश्वस्त होकर) अथवा मेघ के अवकाश (थोड़ी देर के लिए हटने) से कितनी देर तक पूर्णिमा के चन्द्र का दर्शन (हो सकता है) ?

तमसा—अहो ! कैसा रचना-वैचित्र्य है ।

पूर्णिमाचन्द्रस्य दर्शनम्—पाठा०—पूर्णचन्द्रदर्शनम् । अर्थ में कोई अन्तर नहीं है । एक संस्करण में पाठ मिलता है—'मेघान्तरेण न पूर्णचन्द्रदर्शनम्' । यह पाठ प्रामादिक लगता है, क्योंकि इसकी संगति 'कियच्चिरं वा' से नहीं बैठती । सीता के कहने का अभिप्राय है—अथवा जिस प्रकार मेघों से आच्छादित पूर्णचन्द्र के दर्शन कभी-कभी क्षण भर के लिए मेघों के थोड़ी देर के लिए हट जाने पर ही जाते हैं, वैसे ही मेरे दुर्भाग्य रूप मेघ से छिपाये गये राम के दर्शन सौभाग्य वश कुछ क्षणों के लिए हो गये ।

अहो संविधानकम्—तमसा का अभिप्राय यह है कि सारी घटनाएँ जो अब तक घटी हैं, विचित्र एवम् आश्चर्यजनक हैं । इसका दूसरा अर्थ भी निकलता है; वह यह कि भवभूति अपने इस नाटक के विषय में सूचना दे रहे हैं कि इस नाटक में मनोभावों, कार्यों तथा घटनाओं का आश्चर्यजनक क्रम है तथा करुणरसप्रधान होना भी इस नाटक का वैलक्षण्य है, जो अपने आप में एक आश्चर्य है, क्योंकि नाट्यसाहित्य में प्रधानता की दृष्टि से अमान्य करुणरस को अङ्गी बनाकर रचा गया पूर्ण सफल यह नाटक अपनी कोटि का निराला नाटक है ।

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्‌बुदतरङ्गमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥ ४७ ॥

संविधानकम् = रचनावैचित्र्यम्, करुणरसप्रधानत्वादपूर्वोऽयं कथासन्निवेश इति यावत् । यद्वा शृङ्गारादीनां रसानां करुणरस एव पर्यवसानम् ।

अन्वयः—एक एव करुणः रसः निमित्तभेदाद् भिन्नः सन् पृथक् पृथग् विवर्तान् आश्रयते इव, यथा अम्भः आवर्तबुद्‌बुदतरङ्गमयान् विकारान् आश्रयते, तत्समग्रं तु सलिलमेव ॥ ४७ ॥

एक इति । एकः = एकाकी । करुणः = तदाख्यो हि शोकस्थायिभावकः । रसः = काव्यास्वाद एव । निमित्तभेदात् = सीतारामाद्यालम्बनरूपकारणभेदात् । भिन्नः = विलक्षणः (सन्), पृथक् पृथक् = भिन्नान् भिन्नान्, विवर्तान् = शृङ्गारादिपरिणामान्, आश्रयते = अवलम्बत इव । यथा = येन प्रकारेण । अम्भः = जलम् । आवर्तबुद्‌बुद-तरङ्गमयान्—आवर्तः = जलस्य भ्रमः, बुद्‌बुदः=कुड्मलाकारजलसंस्थानविशेषः, तरङ्गः = भङ्गः, तन्मयान् = तत्स्वरूपान् । विवर्तान् = परिणामान् । आश्रयते = अवलम्बत इव । तत् = पूर्वोक्तं जलभ्रमादिकम् । समग्रं तु = समस्तं तु । सलिलमेव = जलमेव ।

अयम्भावः—एकः करुण एव रसः सीतारामाद्यालम्बनरूपकारणभेदाद् विलक्षणः सन् भिन्नान् भिन्नान् शृङ्गारादीन् परिणामान् अवलम्बत इव, यथा जलम् आवर्तबुद्‌बुदतरङ्गस्वरूपान् विकारान् (परिणामान्) आश्रयत इव, परन्तु तत्समग्रमावर्तादिकं जलमेव नान्यत् किमपि । यथाऽऽवर्तादीनि जलस्यैव रूपान्तराणि तथा शृङ्गारादयो रसा एकस्य करुणरसस्यैव परिणामा इति भावः ।

विवर्तान्—वि + √वृत् + घञ् । इसी प्रकार आ + √वृत् + घञ् = आवर्तः । तरङ्गमयान्—स्वार्थे मयट् । विकारान्—वि + √कृ + घञ् । भिन्नः—√भिद् + क्त ।

एक ही करुणरस निमित्त के भेद से भिन्न होता हुआ पृथक् पृथक् (शृङ्गारादि) विवर्तों (परिणामों) का आश्रयण करता है, ऐसा मालूम पड़ता है; जैसे एक जल ही भँवर, बुद्‌बुद और तरङ्ग रूप विकारों का आश्रयण करता है, किन्तु वह तत्त्वतः जल ही है ॥ ४७ ॥

'एको रसः' इत्यादि—नाट्यशास्त्र के रस-सिद्धान्त के प्रवर्तनकाल से ही रसों के 'प्रकृति-विकृतिभाव' पर नाट्याचार्यों का विचार-विमर्श चलता आ रहा है । महाकवि लोग भी नवरसों में एकरसता की सूक्ष्म सूचना देते आ रहे हैं । जैसे—अभिनवगुप्त के अनुसार प्रकृतिभूत रस 'शान्त' है, अन्य शृङ्गारादि रस 'शान्त' के ही 'विकृति' रूप हैं । भोजराज के अनुसार शृङ्गारस प्रकृति-भूत रस है, तो विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह कविपण्डित नारायण की मान्यता है कि अद्‌भुत रस ही समस्त रसों की 'प्रकृति' है । प्रस्तुत श्लोक द्वारा भवभूति ने रसों के 'प्रकृतिविकृतिभाव' पर अपना मत व्यक्त किया है—'करुण' ही सभी रसों का प्रकृतिभूत रस है, अन्य शृङ्गारादि रस एक करुण के ही 'विवर्त' (विकृति) हैं और उसी प्रकार 'विवर्त' हैं, जिस प्रकार आवर्त-बुद्‌बुद-तरङ्ग आदि एक सलिल रूप तत्त्व के 'विवर्त' हुआ करते हैं ।

रसः करुण एव—यहाँ 'रसस्योक्तिः स्वशब्देन' उक्ति के अनुसार रस की स्वशब्द से उक्ति होने के कारण दोष नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि जहाँ विभावादि से व्यंजित रस स्वशब्द से कहा जाता है, वहीं दोष होता है । यहाँ पर तो वह वस्तु रूप से ही स्थित है, अतः दोष नहीं है ।

रामः—अयि विमानराज ! इत इतः ।

(सर्वे उत्तिष्ठन्ति)

तमसा-वासन्त्यौ—(सीतारामौ प्रति)

अवनिरमरसिन्धुः सार्धमस्मद्विधाभिः
स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता ।

इदमप्यत्रावधेयम्—'करुणस्य दुःखात्मकत्वेन रसत्वमेव नास्ति' इति यदुच्यते, तदप्ययुक्तम्; करुणस्यानुकार्ये रामादौ दुःखरूपत्वेऽपि सामाजिके त्वानन्दरूपत्वात्। यद्यस्य सहजदुःखात्मकत्वं स्यान्न कोऽपि सामाजिकस्तत्र प्रवर्तेत, ततश्च करुणैकरसानां रामायणादीनामुच्छेदप्रसङ्गः स्यात् । तस्माद्रसान्तरवत्करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेवेति।

अथवा रसः (रसशब्दवाच्यः) करुणः (अनुकार्यरामगतेष्टजनवियोगजन्यदुःखातिशयः) एक एव सन्नपि निमित्तभेदात् (सखित्व-पत्नीत्व-पतित्वाद्युपाधिभेदात्) भिन्नः इव (विलक्षण इव) पृथक् पृथग् विवर्तान् आश्रयते (वासन्तीसीतारामप्रभृतिषु परस्परविलक्षणावस्थाविशेषान् भजति) यथा जलं ह्यावर्तबुद्बुदतरङ्गस्वरूपान् विकारानाश्रयते, किन्तु तत्त्वतस्तदावर्तादिकं समस्तं जलमेव, नान्यत्किमपीति भावः। अत्रोपमोत्प्रेक्षयोः सङ्करः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अस्मद्विधाभिः सार्धम् अवनिः, अमरसिन्धुः, स च कुलपतिः यः छन्दसाम् आद्यः प्रयोक्ता, स च अनुयातारुन्धतीकः वसिष्ठो मुनिः भूयसे मङ्गलाय त्वयि भद्रं वितरतु ॥ ४८ ॥

सकलस्यापि तृतीयाङ्कस्य दुःखमयत्वात् प्रेक्षकाणां मनोविनोदार्थं शीघ्रमेव पृथ्वी-भागीरथी-वाल्मीकि-वसिष्ठादीनां सहकारितया सीतारामयोः समागमो भविष्यतीति सूचयितुं च शुभाशंसनात्मकं पद्यमङ्कान्ते कविरवतारयति—**अवनिरिति** । तमसा सीतां प्रति, वासन्ती च रामं प्रति शुभाशिषं प्रयुङ्क्ते—अस्मद्विधाभिः = तमसापक्षे—मुरला-गोदावरीप्रभृतिभिरित्यर्थः; वासन्तीपक्षे—अन्याभिर्देवताभिरित्यर्थः । सार्धम् = सह । अवनिः = पृथ्वी । अमरसिन्धुः = सुरसरित्, भागीरथीत्यर्थः । कुलपतिः = मुनीनां दशसाहस्रस्याध्यापयिता पालयिता च, छन्दसाम् = वेदप्रयुक्तछन्दोभ्यो भिन्नानां छन्दसा-

---

अस्मद्विधाभिः—'सार्धम्' के योग में तृतीया । आद्यः—आदौ भवः आदि+यत्। प्रयोक्ता—प्र+√युज्+तृच् ।

राम—अयि व्योमयानश्रेष्ठ (पुष्पक) ! इस तरफ, इस तरफ ।

(सब उठते हैं)

तमसा और वासन्ती—(सीता और राम के प्रति)

हम-जैसे लोगों के साथ ही पृथिवी, गङ्गा, वह कुलपति (वाल्मीकि) जो (वेद-प्रयुक्त छन्दों

---

(१) इस पद्य के द्वारा मध्य-मङ्गल किया गया है । 'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलमाचरेत्' इस उक्ति के अनुसार इस नाटक में तीनों प्रकार के मङ्गल किये गये हैं ।

(२) यहाँ 'अवनि' आदि का कल्याणवितरक के रूप में प्रयोग कर आगामी वृत्त की सूचना देते हुए संकेत किया है कि 'अवनि' आदि ये सभी सीता-राम के समागम में उपयोगी सिद्ध होंगे।

स च मुनिरनुयातारुन्धती को वसिष्ठ-
स्त्वयि वितरतु भद्रं भूयसे मङ्गलाय ॥ ४८ ॥
(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)
इति महाकवि-श्रीभवभूतिविरचिते उत्तररामचरिते
छाया नाम तृतीयोऽङ्कः ।

मित्यर्थः । आद्यः = प्रथमः । प्रयोक्ता = व्यवहर्ता, अवतारयितेत्यर्थः । अनुयातारुन्धतीकः—अनुयाता = अनुगता, अरुन्धती यं सः (द्वितीया बहुव्रीहिः) । भूयसे = महते । त्वयि = सीतायां रामे च । भद्रम् = कल्याणम् । वितरतु = प्रयच्छतु ।

अयम्भावः—अस्मद्विधाभिः सार्धं (तमसामुरलागोदावरीप्रभृतिभिर्नदीभिः सह, वासन्त्यादिदेवताभिश्च सह) पृथिवी, सुरसरिद् भागीरथी, वेदप्रयुक्तछन्दोभ्यो भिन्नानां छन्दसां प्रथमः प्रयोक्ता कुलपतिः (मुनीनां दशसाहस्रस्याध्यापयिता पालयिता च) मुनिर्वाल्मीकिः, अरुन्धतीसखो वसिष्ठश्च त्वयि (सीतायां रामे च) महते मङ्गलाय कल्याणं वितरतु (ददातु) । तुल्ययोगिताऽलङ्कारः । मालिनीवृत्तम् ॥ ४८ ॥

अनुयातारुन्धतीकः—अनुयाता अरुन्धती यं सः (द्वितीया बहुव्रीहि) समास होने पर 'नद्यृतश्च' से समासान्त कप्, 'न कपि' सूत्र से ह्रस्वनिषेध । त्वयि—वितरण क्रिया के योग में सप्तमी । यथा—'वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां तथैव जडे' (२।४) । भूयसे—बहु + ईयसुन् ('बहोर्लोपो भू च बहोः' सूत्र से ईयस् के इकार का लोप, 'बहु' को 'भू')

से भिन्न, लौकिक) छन्दों का प्रथम प्रयोक्ता है और अरुन्धती से अनुगत वसिष्ठ मुनि, तुममें महान् मङ्गल के लिए कल्याण वितरित करें ॥ ४८ ॥

(सभी चले गये) ।

महाकवि भवभूतिविरचित उत्तररामचरित में
छाया नामक तृतीय अङ्क समाप्त ।

---

(३) यहाँ अवनि-गङ्गा-वाल्मीकि-वसिष्ठादि के द्वारा दिये जाने वाले श्रेय रूप प्राप्त्याशावस्थानिबद्ध बीज का प्रकाशन होने से 'आक्षेप' नामक गर्भसन्ध्यङ्ग है—'आक्षेपो बीजप्रकाशनम्—प्राप्त्याशावस्थानिबद्धस्य बीजस्य मुखकार्योपायस्य प्रकाशनं प्रकर्षेणाविर्भावनमाक्षेपः ।" (नाट्यदर्पण) । साहित्यदर्पणकार ने इसी 'आक्षेप' को 'क्षिप्ति' कहा है—'रहस्यार्थस्य तद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्' । दोनों आचार्यों द्वारा दिये गये लक्षणों में तात्त्विक भेद नहीं है । प्राप्त्यावस्था के बीज का प्रकाशन रहस्यरूप इतिवृत्त का ही प्रकाशन है, अन्य कुछ नहीं ।

(४) इष्टजन की आशंसा अथवा अभ्युदय-कामना होने के कारण 'आशीः' नामक नाट्यालंकार है । 'आशीरिष्टजनाशंसा' (साहित्यदर्पण) ।

कुलपतिः—यह शब्द वाल्मीकि जी के लिए प्रयुक्त हुआ है । कुलपति का लक्षण है—'मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नपानादि पोषणात् । अध्यापयति विप्रर्षिः स वै कुलपतिः स्मृतः ॥' कुलपति शब्द का 'रघुकुल का स्वामी' (सूर्य) अर्थ सर्वथा यहाँ अयुक्त है ।

छन्दसाम्—इसका तात्पर्य 'अनुष्टप्' आदि लौकिक छन्दों से है, वैदिक छन्दों से नहीं ।

चतुर्थोऽङ्कः

(कौसल्याजनकयोगः)

(ततः प्रविशतस्तापसौ)

एकः—सौधातके ! दृश्यतामद्य भूयिष्ठसन्निधापितातिथिजनस्य समधिकारम्भरमणीयता भगवतो वाल्मीकेराश्रमपदस्य । तथा हि—

नीवारौदनमण्डमुष्णमधुरं सद्यःप्रसूताप्रिया-
पीतादभ्यधिकं तपोवनमृगः पर्याप्तमाचामति ।

द्वौ छात्रौ प्रविश्याश्रमे समागतानामतिथिजनानां विषये वार्तालापं कुरुतः, तत्रैकः (दण्डायनः) प्राह—सौधातके—सुधातुरपत्यं पुमान् सौधातकिः, तत्सम्बुद्धौ हे सौधातके ! भूयिष्ठसन्निधापितातिथिजनस्य—भूयिष्ठम् = बाहुल्येन, सन्निधापिताः = समुपस्थापिताः, अतिथिजनाः = अभ्यागताः, यस्मिँस्तस्य । समधिकारम्भरमणीयता—समधिकेन = प्रचुरेण, आरम्भेण = आयोजनेन, रमणीयता = सौन्दर्यम् ।

अयम्भावः—हे सौधातके ! अद्य भगवतो वाल्मीकेराश्रमपदे समुपस्थितानामतिथीनां सत्कारार्थं क्रियमाणकार्यकलापेनाश्रमस्य या रमणीयता जायते सा दृश्यताम् ।

अन्वयः—तपोवनमृगः सद्यःप्रसूताप्रियापीताद् अभ्यधिकम् उष्णमधुरं नीवारौदन-

---

सौधातकिः—सुधातुरपत्यं पुमान्; 'सुधातुरकङ् च' सूत्र के अनुसार सुधातृ शब्द से इञ् प्रत्यय और अकङ् आदेश होने पर 'सौधातकिः' शब्द निष्पन्न होता है। भूयिष्ठम्—बहु + इष्ठन् (अतिशायने), 'इष्ठस्य यिट् च' सूत्र के अनुसार 'इष्ठ' के इकार का लोप और यिट् का आगम, 'बहु' को 'भू' आदेश; भू + यि + ष्ठ =

(तदनन्तर दो तपस्वी प्रवेश करते हैं)

एक—हे सौधातकि ! इस समय अत्यधिक संख्या में समवेत अतिथियों वाले भगवान् वाल्मीकि के आश्रमस्थान की (अतिथि-सत्कारार्थं) प्रचुर आयोजन से होने वाली शोभा तो देखिए। वह इस प्रकार है—

आश्रम का मृग तत्काल प्रसूता प्रिया (मृगी) के पीने से बढ़े हुए (अवशिष्ट) गरम-गरम तथा मीठे-मीठे नीवार (तिन्नी) के भात के माँड़ को प्रचुर मात्रा में पी रहा है। घृत युक्त भात

सद्यःप्रसूताप्रियापीतात्—सद्यःप्रसूता चासौ प्रिया च तस्याः पीतात् (भावे क्तः)। 'प्रसूताप्रिया' में कर्मधारय समास है, अतः 'पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' सूत्र से 'प्रसूता' शब्द को पुंवद्भाव होने से 'सद्यःप्रसूतप्रियापीतात्' पाठ होना चाहिए था। 'स्त्रियाः पुंवत्–' (पा० ६।३।३४) सूत्र से पूरणीप्रियादि के पर रहने पर जो पुंवद्भाव के प्रतिषेध का विधान है, वह केवल बहुव्रीहि समास के लिए है।

गन्धेन स्फुरता मनागनुसृतो भक्तस्य सर्पिष्मतः
कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते ॥ १ ॥

सौधातकिः—साअदं अणेअपिआराणं जिण्णकुच्छाणं अणज्झाअकालणाणं तपोधणाणं । [स्वागतमनेकप्रकाराणां जीर्णकूर्चानामनध्यायकारणानां तपोधनानाम् ।]

मण्डं पर्याप्तम् आचामति । सर्पिष्मतः भक्तस्य स्फुरता गन्धेन मनाक् अनुसृतः कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते ॥ १ ॥

तमेव रमणीयतां प्रतिपादयति—**नीवारौदनेति** । सद्यःप्रसूताप्रियापीताद्–सद्यः = तत्कालमेव, प्रसूता = अपत्यं प्रसूतवती (कर्त्तरि क्तः), या प्रिया = मृगीत्यर्थः, तया पीताद् = आतृप्तेः निपीताद् । अभ्यधिकम् = अतिरिक्तम्, अवशिष्टमित्यर्थः । उष्णमधुरम्—उष्णं च तन्मधुरम् (विशेषणसमासः) । नीवारौदनमण्डम्—नीवारौदनस्य = तृणधान्यभक्तस्य, मण्डम् = निस्रावम् । पर्याप्तम् = यथेच्छम् । आचामति = पिबति । सर्पिष्मतः = प्रचुरघृतयुक्तस्य । भक्तस्य = ओदनस्य । स्फुरता = प्रसरता । मनाक् = ईषत् । अनुसृतः = अनुगतः, युक्त इत्यर्थः । कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः—कर्कन्धूफलैः = बदरीफलैः, मिश्राः = संयुक्ताः, ये शाकाः, तेषां पचनम् = पाकः, तस्य आमोदः = सौरभ्यम् । परिस्तीर्यते = सर्वतो विस्तीर्यते (वायुना) ।

अयम्भावः—सद्यःप्रसूता प्रिया (मृगी) प्रसवजन्यक्लेशं दूरीकर्तुं नीवारौदनस्योष्णं मधुरं च मण्डं यथेच्छं निपीतवती, ततोऽवशिष्टं तदुष्णमधुरं मण्डं तपोवनमृगो यथेच्छं पिबति । प्रचुरघृतसाधितस्यौदनस्य प्रसरता गन्धेनेषद्युक्तो बदरीफलयुक्तपच्यमानशाकस्य सुगन्धो वायुना सर्वतो विस्तीर्यते । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १ ॥

प्रियानध्यायःसौधातकिराह—**स्वागतमिति** । येषामत्रागमनेनाध्यायोऽद्याभूत् तेषां बहुविधानां जीर्णकूर्चानाम्—जीर्णाः = पलिताः, कूर्चाः = मुखलोमानि, श्मश्रूणि, येषां तेषाम् = पलितश्मश्रूणामतिथीनां स्वागतं प्रयुनज्मि ।

भूयिष्ठ । सन्निधापितः—सम् + नि + √धा + णिच् (धातु के पुक् का आगम) + क्त । रमणीयता—रमणीयस्य भावः; रमणीय + तल् + टाप् (तलन्तं स्त्रियाम्) । पीतम्—√पा + क्त (नपुंसके भावे) । आचामति—आ + √चम् + लट् (तिप्), धातु के अच् (अ) को दीर्घ (आङि चम इति वक्तव्यम्') । परिस्तीर्यते—परि + √स्तॄ + लट् (कर्मणि) ।

के उद्गत गन्ध से कुछ अनुगत (युक्त) बेर के फलों से मिश्रित शाक के पकाने की सुगन्ध चारों ओर (हवा से) फैल रही है ॥ १ ॥

सौधातकि—अत्यन्त पुरानी (पकी सफेद) दाढ़ी वाले अनध्याय के कारणभूत अनेक प्रकार के तपस्वियों का स्वागत है ।

प्रथमः—(विहस्य) अपूर्वः कोऽपि ते बहुमानहेतुर्गुरुषु सौधातके !

सौधातकिः—भो दंडाअण ! किंणामहेओ एसो महंतस्स त्थविरसत्थ धुरंधरो अज्ज अदिही आअदो ? [भो दाण्डायन ! किन्नामधेय एष महतः स्थविरसार्थस्य धुरन्धरोऽद्यातिथिरागतः ?]

दाण्डायनः—धिक् ! प्रहसनम् । नन्वयमृष्यशृङ्गाश्रमादरुन्धतीं पुरस्कृत्य महाराजदशरथस्य दारानधिष्ठाय भगवान् वसिष्ठः प्राप्तः । तत्किमेवं प्रलपसि

सौधातकेः परिहासगर्भं वचनमाकर्ण्य स्वयमपि विहस्य प्रथमः (दाण्डायनः) प्राह—अपूर्व इति । सौधातके ! गुरुषु = आदरणीयजनेषु, पूज्येष्वतिथिषु, बहुमानहेतुः = सम्मानस्य कारणम्, अपूर्वः = अद्भुतः, विलक्षणोऽयं जीर्णकूर्चानामिति प्रयोगः।

ततः सौधातकिः पृच्छति—दाण्डायन ! योऽद्य स्थविरसार्थस्य = वृद्धसमूहस्य धुरन्धरः = अग्रणीरतिथिरागतस्तस्य किं नामधेयम् ?

तच्छ्रुत्वा दाण्डायनः प्राह—धिगिति । धिक् प्रहसनम् = गुरुजनानामुपहासं करोषीति धिक् । भगवान् वसिष्ठः स्वधर्मपत्न्याऽरुन्धत्या सहितः दारानधिष्ठाय = दारानुद्दिश्य अधिष्ठानम्, नेतृत्वमधिगम्येत्यर्थः; कौसल्यादिदशरथपत्नीनामधिष्ठाता भूत्वा भगवत ऋष्यशृङ्गस्याश्रमात् समागतः । तत्किमेवं प्रलपसि = उपहासरूपमनर्थकं वचो ब्रवीषि, वदसीत्यर्थः ।

स्थविर—√स्था + किरच्, 'स्थव' आदेश । धुरन्धरः—धुरं धरतीति धुरन्धरः। धुर् + √धृ + खच् (निपातन से) । धिक् प्रहसनम्—'धिक्' के योग में द्वितीया। अधिष्ठाय—अधि + √स्था + ल्यप् ।

पहला—(हँसकर) हे सौधातके ! गुरुजनों (पूज्य अतिथियों) के विषय में आपकी सम्मान का कारण विलक्षण है ।

सौधातकि—हे दाण्डायन ! महान् वृद्धसमूह का अग्रणी किस नाम का यह अतिथि आज आया है ?

दाण्डायन—प्रहसन को धिक्कार है । अरे, अरुन्धती को आगे कर, महाराज दशरथ की पत्नियों को अधिष्ठित कर (उनका अधिष्ठाता होकर) ऋष्यशृङ्ग के आश्रम से यह भगवान् वसिष्ठ आये हैं । तो, क्यों इस प्रकार बेकार बातें करते हो ?

स्थविरसार्थस्य—पाठा०—स्त्रीसार्थस्य = स्त्री-समूह का ।

अरुन्धतीं पुरस्कृत्य—पाठा०—अरुन्धतीपुरस्कृतान्—अरुन्धती पुरस्कृता यैस्तान्; इस प्रकार यह 'दारान्' का विशेषण है ।

इस अवतरण में आये हुए दो पात्रों में सौधातकि का स्वभाव परिहासप्रिय है, अतएव वसिष्ठादि के लिए उसने 'जीर्णकूर्चानाम्' का प्रयोग किया है, किन्तु उनके आने से 'शिष्टे च गृहमागते (अनध्यायः)' याज्ञवल्क्य की इस उक्ति के अनुसार उसे जो आज पढ़ने से छुट्टी मिल गयी, उसकी खुशी में उनका स्वागत भी करता है । किन्तु दाण्डायन गम्भीर स्वभाव का है, अतः सौधातकि के परिहास का विरोध करता है । कुछ संस्करणों में 'भाण्डायन' नाम मिलता है ।

सौधातकिः—हुँ वसिट्ठो ? [हुं वसिष्ठः ?]

दाण्डायनः—अथ किम् ?

सौधातकिः—मया उण जाणिदं वग्घो वा विओ वा एसोत्ति [मया पुनर्ज्ञातं व्याघ्रो वा वृको वैव इति ।]

दाण्डायनः—आः किमुक्तं भवति ?

सौधातकिः—जेण परावडिदेण एव्व सा वराई कविला कल्लाणी मडमडाइआ । [येन परापतितेनैव सा वराकी कपिला कल्याणी मडमडायिता ।]

मुख्यातिथिर्वसिष्ठनामधेय इति दाण्डायनमुखात् सौधातकिर्विज्ञाय प्राह—'हुम्' इति पश्नसूचकम् ('हुं वितर्के परिप्रश्ने' इत्यमरः), मया तु ज्ञातमेष व्याघ्रो वा वृको वेति ।

तच्छ्रुत्वा दाण्डायनोऽपृच्छत्—किमुक्तं भवति = कथमेवमुच्यते ? कस्माद्धेतोरेवमुच्यते इति भावः ।

सौधातकिराह—येन हेतुना परापतितेनैव = आगतमात्रेणैव, समागतेनैव, सा वराकी = दीना, कपिला = कपिलवर्णा, कल्याणी = वत्सतरी, द्विहायनीति भावः; तेन मडमडायिता = मडमडशब्दयुक्ता कृता, आलब्धेति यावत्, मारितेत्यर्थः; तेन व्याघ्रो वा वृको वेति ज्ञातम् ।

परापतितेन—परा + √पत् + क्त (कर्तरि) । मडमडायिता—मड (अव्यक्तानुकरणात्मक) शब्द से 'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्' (५।४।५७) सूत्र के अनुसार डाच् प्रत्यय, 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' वार्तिक के अनुसार द्वित्व मडमडाकरोति, तदनन्तर 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' (३।१।१३) सूत्र से क्यष् प्रत्यय होकर 'मडमडाय' नामधातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय, ततः स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय होकर 'मडमडायिता' बना ।

सौधातकि—हूँ, वसिष्ठ ?

दाण्डायन—और क्या ?

सौधातकि—मैंने तो समझा था कि यह (कोई) व्याघ्र या भेड़िया है ।

दाण्डायन—आः, क्या मतलब है ?

सौधातकि—क्योंकि आते ही (इस वृद्ध अतिथि से) वह बेचारी कपिला दो वर्ष की बछिया मडमडशब्दयुक्त की गयी (मार डाली गयी) ।

मडमडायिता—मडमडशब्दयुक्त की गयी अर्थात् मार डाली गयी । वीरराघव का कथन है कि यह (मडमड) शब्द उस शब्द का अनुकरण है जो बछिया मारे जाने के समय करती है । प्राकृतव्याकरण के अनुसार 'मृद्' (अथवा 'मृध्') हिंसार्थक धातु को 'मड' आदेश हो जाता है । कुछ विद्वान् 'मडमडायिता' का अर्थ 'भक्षिता' अथवा 'चर्विता' भी करते हैं । इस अर्थ में 'मडमड' को अस्थिचर्वण के समय का अनुकरणात्मक शब्द माना जाता है ।

दाण्डायनः—'समांसो मधुपर्क' इत्याम्नायं बहुमन्यमानाः श्रोत्रियाभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा महाजं वा निर्वपन्ति गृहमेधिनः। तं हि धर्मं धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति।

सौधातकिः—भो णिगिहीदोसि [भो निगृहीतोऽसि।]

दाण्डायनः—कथमिव ?

सौधातकिः—जेण आअदेसु वसिट्ठमिस्सेसु वच्छदरी विससिदा। अज्ज एव्व पच्चाअदस्स राएसिणो जणअस्स भअवदा वम्मीइणा दहिमहूहिं एव्व णिव्वत्तिदो महुवक्को। वच्छदरी उण विसज्जिदा। [**येनागतेषु वसिष्ठमिश्रेषु**

दाण्डायनस्तद्गवालम्भनं शास्त्रोक्तरीत्या समर्थयते—समांस इति। मांसयुक्तो मधुपर्कः = दधि मधु घृतं च, इति आम्नायम् = वेदवचनं, बहुमन्यमाना = प्रमाणत्वेनाद्रियमाणाः, गृहमेधिनः = गृहस्थाः, श्रोत्रियाय अभ्यागताय = वेदविदेऽतिथये, वत्सरीं = द्विहायनीमित्यर्थः, महोक्षम् = महावृषभं वा, महाजम् = महाछागं वा, निर्वपन्ति = भोज्यार्थं प्रयच्छन्ति ('महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्' इति याज्ञवल्क्योक्तेः)। तं हि धर्मं मन्वादयो धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति = समुपदिशन्ति। अतो वसिष्ठागमनेन कपिलाया आलम्भने नास्ति कश्चिद् दोषः।

ततो दाण्डायनकृतसमाधानस्य **सौधातकिः** खण्डनं करोति—**येनागतेष्विति**। निगृहीतः = पराजितः। वसिष्ठमिश्रेषु—मान्यः वसिष्ठः वसिष्ठमिश्राः, तेषु (आदरे

मधुपर्कः—मधुना पृच्यतेऽसौ मधुपर्कः—मधु + √पृच् + घञ्। वत्सतरी—वत्स शब्द से तनुत्व के अर्थ में 'वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च' सूत्र से ष्टरच् (तर) प्रत्यय तथा प्रत्यय के षित् होने से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' सूत्र से ङीष्। महोक्षः—महान् उक्षा, 'अचतुरविचतुर'—सूत्र से अच् प्रत्ययान्त निपात। समामनन्ति—सम् + आ + √म्ना (अभ्यासे) + लट् (झि = अन्ति) 'म्ना' को मन् आदेश 'पाघ्राध्मा' (७।३।७८) सूत्र के अनुसार।

दाण्डायन—'मांसयुक्त मधुपर्क (होना चाहिए)' इस वेद-वाक्य का अत्यन्त आदर करते हुए गृहस्थ लोग वेदज्ञ अतिथि को बछिया अथवा भारी बैल अथवा भारी बकरा (भोज्यार्थ) प्रदान करते हैं। इस धर्म का उपदेश (मन्वादि) धर्मसूत्रकार करते हैं।

सौधातकि—(तब तो) तुम पराजित हो गये।

दाण्डायन—वह कैसे ?

सौधातकि—क्योंकि पूज्य वसिष्ठ के आने पर गवालम्भ किया गया। आज ही आये हुए

दाण्डायन और सौधातकि के पूरे संवाद का निष्कर्ष है—गृह्यसूत्रकारों के अनुसार आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक, राजा, प्रियजन आदि पूज्यजनों के आने पर गृहपति मधुपर्कादि से सत्कार करे। मधुपर्क समांस होना चाहिए, इसके लिए गवालम्भ (गाय को मारना) विहित है। एतदर्थ गृहपति खड्ग और गौ उस पूज्य व्यक्ति के सामने करे। वह यदि मांस खाने वाला हो तो मारने की आज्ञा दे, अन्यथा छोड़ देने की आज्ञा दे। यज्ञ और विवाह में छोड़ने की आज्ञा नहीं देनी

वत्सतरी विशसिता । अद्यैव प्रत्यागतस्य राजर्षेर्जनकस्य भगवता वाल्मीकिना दधि-मधुभ्यामेव निर्वर्तितो मधुपर्कः । वत्सतरी पुनर्विसर्जिता ।]

दाण्डायनः—अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पमृषयो मन्यन्ते । निवृत्तमांसस्तु तत्र भवाञ्जनकः ।

सौधातकिः—किं णिमित्तं ? [किं निमित्तम् ?]

बहुवचनम्) । विशसिता = व्यापादिता । निर्वर्तितः = निष्पादितः । पुनः = किन्तु । विसर्जिता = मुक्ता, न व्यापादितेति भावः ।

अयम्भावः—यद्येवं तर्हि त्वं पराजितोऽसि त्वत्कृतसमाधानस्यासमीचीनत्वात् । यतो मान्ये वसिष्ठे समागते वत्सतरी ह्यालब्धा किन्तु राजर्षेर्जनकस्यास्मिन्नेव दिने समागतस्य मधुपर्को दधिमधुभ्यामेव भगवता वाल्मीकिना निष्पादितः, वत्सतरी तु विसर्जिता, तस्या आलम्भो न कृतः ।

जनकस्य मधुपर्कः किमिति दधिमधुभ्यामेव निर्वर्तितः किमिति वत्सतरी विसर्जितेति प्रश्नं दाण्डायनः समाधत्ते — ऋषयः = धर्मशास्त्रकारा मुनयः, अनिवृत्तमांसानाम् = मांसभोजनादनिवृत्तानामेव, अवर्जितमांसभोजनानामित्यर्थः; एवम् = एतादृशम्, 'समांसो मधुपर्कः' इति, कल्पम् = विधिं, मन्यन्ते = उपदिशन्ति, प्रतिपादयन्ति, जनकस्तु निवृत्तमांसः = मांसभक्षणान्निवृत्तस्तद्दधिमधुभ्यामेव तस्य 'मधुपर्कः' उचित एवेति ।

विशसिता—वि + √शस् (हिंसायाम्) + क्त (कर्मणि), इडागम, टाप् । निर्वर्तितः—नि + √वृत् + णिच् + क्त । विसर्जिता—वि + √सृज् + णिच् + क्त ।

राजर्षि जनक का मधुपर्क भगवान् बाल्मीकि के द्वारा (केवल) दही और मधु से ही निष्पन्न किया गया, बछिया तो मुक्त कर दी गयी (नहीं मारी गयी) ।

दाण्डायन—मांस-भोजन का परित्याग न करने वालों के लिए ऋषि लोग ऐसी (समांस मधुपर्क) की विधि मानते हैं । पूज्य जनक जी तो मांस-भोजन से विरत हैं ।

सौधातकि—क्या कारण है ?

चाहिए । वसिष्ठ मांस खाते थे, अतः उनके हिस्से की बछिया मारी गयी और राजा जनक मांस नहीं खाते थे, अतः उनके हिस्से की बछिया छोड़ दी गयी । भाष्यकार (हरिहर) का कहना है कि यद्यपि सूत्रों में गवालम्भ का विधान किया गया है तथापि कलिकाल में उसे नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह कार्य अस्वर्ग्य और लोकविद्विष्ट है । (कान्तानाथशास्त्री तैलङ्ग) ।

समांसो मधुपर्कः—मेघदूत के सम्पादक श्रीसुधीरकुमार गुप्त का मत है कि मांस का अर्थ उत्कृष्ट खाद्य पदार्थ (घी, खोया आदि) है ।

मधुपर्कः—संशोधितं दधि, मधु कांस्यपात्रस्थितं घृतम् ।
कांस्येनान्येन सञ्छन्नं मधुपर्कं इतीर्यते ॥

अथवा— दधि सर्पिर्जलं क्षौद्रं सिता चैतैश्च पञ्चभिः । प्रोच्यते मधुपर्कः ।

(सर्पिः = घृत, क्षौद्रम् = मधु, सिता = शक्कर या मिसरी ।)

श्रोत्रियाय—'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः, संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं, त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥

दाण्डायनः—स तदैव देव्याः सीतायास्तादृशं दैवदुर्विपाकमुपश्रुत्य वैखानसः संवृत्तः। तथाऽस्य कतिपये संवत्सराश्चन्द्रद्वीपतपोवने तपस्तप्यमानस्य।

सौधातकिः—तदो किंत्ति आअदो ? [ततः किमित्यागतः ?]

दाण्डायनः—चिरन्तनप्रियसुहृदं भगवन्तं प्राचेतसं द्रष्टुम्।

सौधातकिः—अवि अज्ज संबंधिणीहिं समं संवुत्तं से दंसणं ण वत्ति? [अप्यद्य सम्बन्धिनीभिः समं संवृत्तमस्य दर्शनं न वेति ?]

दाण्डायनः—सम्प्रत्येव भगवता वसिष्ठेन देव्याः कौसल्यायाः सकाशं भगवत्यरुन्धती प्रहिता यत् स्वयमुपेत्य वैदेहो द्रष्टव्य इति।

किमिति जनको मांसभक्षणं परित्यक्तवानिति सौधातकिना पुनः पृष्टो दाण्डायनस्तत्प्रश्नस्योत्तरं ददाति—**स तदैवेति**। दैवदुर्विपाकम् = सीतानिर्वासनरूपकाल एव जनकस्तादृशं भाग्यदुष्परिणामं, सीतादेव्या आकर्ण्य वैखानसः = वानप्रस्थः, संवृत्तः = सञ्जातः। तथा चन्द्रद्वीपतपोवने तपस्तप्यमानस्य = तपश्चरणं कुर्वतो जनकस्य, कतिपये = कियन्ति, संवत्सराः = वर्षाणि व्यतीतानि।

चन्द्रद्वीपतपोवनादत्र तपोवने केन हेतुनाऽऽगतो जनक इति प्रश्नस्योत्तरमाह—**चिरन्तनेति**। जनकस्तस्मात् तपोवनादत्र प्राचीनं निजमित्रं भगवन्तं प्राचेतसं = वाल्मीकिं द्रष्टुमागतः।

सम्बन्धिनीभिः = स्वपुत्र्याः सीतायाः श्वश्रूभिः, कौसल्याप्रभृतिभिः सह, जनकस्य दर्शनम् = साक्षात्कारः, संवृत्तो न वेति सौधातकिप्रश्नस्योत्तरं ददाति **दाण्डायनः—सम्प्रत्येवेति**। सम्प्रत्येव = अधुनैव, भगवता वसिष्ठेन 'कौसल्या स्वयमुपगम्य जनकं पश्यतु' इति कथयितुं स्वपत्नी अरुन्धती कौसल्यासकाशं = समीपम्, प्रहिता = प्रेपिता।

चिरन्तनः—चिरं भवः, चिरम् (अव्यय) + टयुल् (अन), तुट् का आगम। प्रहिता—प्र + √धा + क्त + टाप्। उपेत्य—उप + √इ (गतौ) + ल्यप्, तुक् का आगम। द्रष्टव्यः—√दृश् + तव्य (कर्मणि)।

दाण्डायन—वे देवी सीता का उस प्रकार का भाग्य का दुष्परिणाम सुनकर उसी समय वानप्रस्थ हो गये और चन्द्रद्वीप तपोवन में तपस्या करते हुए इन्हें कतिपय वर्ष (हो गये हैं)।

सौधातकि—वहाँ से क्यों आये हैं ?

दाण्डायन—चिरकालीन प्रियमित्र भगवान् प्राचेतस (वाल्मीकि) के दर्शनार्थ।

सौधातकि—क्या आज समधिनों (कौसल्या आदि) के साथ इन (जनक) का साक्षात्कार हुआ या नहीं ?

दाण्डायन—अभी-अभी भगवान् वसिष्ठ के द्वारा देवी कौसल्या के पास भगवती अरुन्धती भेजी गयी हैं कि वे स्वयं पास जाकर जनक का साक्षात्कार करें।

वैखानसः=वानप्रस्थः। वानप्रस्थ के लिए मांस वर्जित है, क्योंकि मांसादि बुद्धिविनाशक पदार्थ हैं—'वर्जयेन्मधमांसं च'।

सौधातकिः—जह एदे ट्ठविरा परस्परं मिलिदा तह अम्हे वि वडुहिस्सह मिलिअ अणज्झाअमहुस्सवं खेलंतो संभावेम्ह। (इति परिक्रामतः)। [**यथैते स्थविराः परस्परं मिलितास्तथावामपि वटुभिः सह मिलित्वाऽनध्यायमहोत्सवं खेलन्तौ सम्भावयावः।**]

दाण्डायनः—तदयं ब्रह्मवादी पुराणराजर्षिर्जनकः प्राचेतसवसिष्ठावुपास्य सम्प्रत्याश्रमस्य बहिर्वृक्षमूलमधितिष्ठति। य एष—

हृदि नित्यानुषक्तेन सीताशोकेन तप्यते।
अन्तः प्रसृप्तदहनो जरन्निव वनस्पतिः॥ २॥

(इति निष्क्रान्तौ)

मिश्रविष्कम्भः।

इत्येवं सर्वं वृत्तान्तं विज्ञाय **सौधातकिः** क्रीडाप्रियत्वात् क्रीडितुमाह—**यथैत इति।** यथा एते स्थविराः = जनकादय एते वृद्धाः, परस्परं मिलितास्तथाऽऽवामपि बटुभिः सह = अन्यैः समवयस्कैर्ब्रह्मचारिभिः सह, मिलित्वाऽनध्यायमहोत्सवं सम्भावयावः = सम्मानयावः।

दाण्डायनः कथयति—**तदयमिति।** तदयं ब्रह्मवादी—ब्रह्म वदितुं शीलमस्येति ब्रह्मवादी = ब्रह्मोपदेष्टा, पुराणराजर्षिः = वृद्धो राजर्षिर्जनकः, वाल्मीकिवसिष्ठौ उपास्य = अभ्यर्च्य, बहिः आश्रमस्य वृक्षमूलम् = तरोरधोदेशमधितिष्ठति, य एषः—

अन्वयः—हृदि नित्यानुषक्तेन सीताशोकेन अन्तःप्रसृप्तदहनः जरन् वनस्पतिरिव तप्यते॥ २॥

उपास्य—उप + √आस् + ल्यप्। अनुषक्तः—अनु + √सञ्ज् + क्त (कर्तरि)। तप्यते—√तप् + लट् (कर्मणि)। प्रसृप्त—प्र + √सृप् + क्त (कर्तरि)। दहनः = √दह् + युच् (यु = अन)। जरन्—√जॄ + शतृ। वनस्पतिः—वनस्य पतिः; सुट् का आगम (पारस्करादित्वात्)।

सौधातकि—जिस तरह ये बड़े-बूढ़े परस्पर मिल गये हैं, उसी तरह हम-दोनों भी बालक ब्रह्मचारियों के साथ मिलकर खेलते हुए अनध्याय का महोत्सव मनायें।

(ऐसा कहकर दोनों घूमते हैं)

दाण्डायन—तो ये ब्रह्मोपदेष्टा वृद्ध राजर्षि जनक, वाल्मीकि और वसिष्ठ की आराधना करके बाहर आश्रम के वृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं। जो ये—

हृदय में निरन्तर विद्यमान सीता निमित्तक शोक से, भीतर फैली हुई आग वाले जीर्ण वृक्ष की तरह तप रहे हैं (जल रहे हैं)॥ २॥

(इस प्रकार दोनों चले गये)

मिश्रविष्कम्भ समाप्त।

संभावयावः—अनध्याय रूप महोत्सव को मनावें। 'भानयावः' पाठान्तर भी मिलता है, इसका भी अर्थ वही है।

मिश्रविष्कम्भ—इसमें दाण्डायन संस्कृत भाषा-भाषी होने से मध्यमपात्र है तथा सौधातकि

(ततः प्रविशति जनकः)

जनकः— अपत्ये यत्तादृग्दुरितमभवत् तेन महता
विषक्तस्तीव्रेण व्रणितहृदयेन व्यथयता ।
पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे
निकृन्तन्मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विरमति ॥ ३ ॥

हृदीति । नित्यानुषक्तेन = नित्यलग्नेन, सीताशोकेन = सीतानिमित्तदुःखेन, अन्तः-प्रसृप्तदहनः = अन्तःप्रज्वलद्वह्निः, जरन् = जीर्णः, वनस्पतिः = वृक्षः, तप्यते ।

अयम्भावः—हृदये निरन्तरविद्यमानेन सीतानिमित्तशोकेन, अन्तःप्रज्वलद्वह्निर्जीर्ण-वृक्ष इव तापमनुभवन्नास्ते । उपमालङ्कारः ॥ २ ॥

अन्वयः—अपत्ये यत् तादृक् दुरितम् अभवत्, महता तीव्रेण व्रणितहृदयेन व्यथयता तेन विषक्तः पटुः धारावाही चिरेणापि नव इव, क्रकच इव मर्माणि निकृन्तन् मे मन्युः न विरमति ॥ ३ ॥

जनकः सीताशोकसन्तप्तः स्वावस्थां प्रतिपादयति—अपत्य इति । अपत्ये=सन्ततौ, सीतायामित्यर्थः । दुरितम् = निर्वासनरूपं व्यसनम् । व्रणितहृदयम्—व्रणितम् = व्रण-युक्तं हृदयं येन तेन । व्यथयता = व्यथां कुर्वता । विषक्तः = विशेषेण सम्बद्धः । पटुः = कुशलः, तापसस्यापि मम हृदयोन्मथने समर्थ इति भावः । धारावाही—धारया निरन्तरं वहति = सञ्चरति इति तच्छीलः, निरन्तरस्थायीत्यर्थः । चिरेणापि = बहु-कालेनापि । नवः = नूतन इव । क्रकचः=करपत्रमिव । मर्माणि = हृदयादिमर्मस्थलानि । निकृन्तन् = छिन्दन् । मन्युः = शोकः । न विरमति = न शाम्यति ।

अयम्भावः—सीतायां निर्वासनरूपं यद् व्यसनं जातं विपुलेन दारुणेन व्रणितहृदयेन तेन व्यसनेन हृदये जनितः, तापसस्यापि मे हृदयक्षोभे समर्थः निरन्तरमवस्थितः महता

दुरितम्—दुर् + √इ (गतौ) + क्त (नपुंसके भावे) । विषक्तः—वि + √सञ्ज् + क्त । व्यथयता—√व्यथ् + णिच् ('मितां ह्रस्वः' से धातु की उपधा को ह्रस्व) + शतृ । निकृन्तन्—नि + √कृत् (छेदने) + शतृ । विरमति—'व्याङ्-परिभ्यो रमः' सूत्र के अनुसार परस्मैपद ।

(तदनन्तर जनक प्रवेश करते हैं)

जनक—(मेरी) सन्तान (सीता) पर जो उस प्रकार का (निर्वासनरूप) व्यसन आ पड़ा, उस महान दारुण हृदय को व्रणित कर देने वाले व्यसन से हृदय में उत्पन्न प्रबल निरन्तर संचरणशील इतने दीर्घकाल के बाद भी नया-सा मेरा शोक आरे की तरह मर्मस्थानों को चीरता हुआ शान्त नहीं होता है ॥ ३ ॥

प्राकृत भाषाभाषी होने से निम्न कोटि का पात्र है । अतः मध्यम और नीच पात्रों से संप्रयोजित यह मिश्रविष्कम्भ है । इसमें सीता के निर्वासनरूप 'दैवदुर्विपाक' वृत्तकथांश की तथा 'कौसल्या का जनक के साथ साक्षात्कार' इस भावी कथांश की सूचना दी गयी है ।

इस तृतीय श्लोक में राजर्षि जनक की मनोदशा का अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है ।

कष्टम् ! एवं नाम जरया दुःखेन च दुरासदेन, भूयः पराकसान्तपनप्रभृति-भिस्तपोभिरात्तरसधातुरनवष्टम्भो नाद्यापि मम दग्धदेहः पतति। अन्धतामिस्रा ह्यसूर्या नाम ते लोकास्तेभ्यः प्रतिविधीयन्ते य आत्मघातिन इत्येव-

---

कालेनापि नूतन इव, किञ्च क्रकच इव मम हृदयादि मर्मस्थलानि छिन्दन् मे शोको नोपशाम्यति। 'नव इव' इत्यत्रोत्प्रेक्षा। 'क्रकच इव' इत्यत्रोपमा। तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। शिखरिणी वृत्तम्॥ ३॥

जनकः पुनराह—कष्टमिति। जरया = वार्धक्येन। दुरासदेन = दुःसहेन। भूयः = पुनरपि। पराकसान्तपनप्रभृतिभिः—पराकः = द्वादशदिनोपवाससाध्यो व्रतविशेषः, सान्तपनः = दिनद्वयोपवाससाध्यो व्रतविशेषः, तौ प्रभृती = आदी येषां तैः। तपोभिः = व्रतादिभिः। आत्तरसधातुः—आत्ताः = गृहीताः, शोषिता इति यावत्, रसाः = शोणितादयः, धातवः = मांसादयश्च यस्य तादृशः। अनवष्टम्भः—न विद्यते अवष्टम्भः = पातप्रतिबन्धकावलम्बः, यस्य स तथोक्तः। दग्धदेहः = निन्दितशरीरम् (निन्दायां दग्धशब्दः हतहृदयमितिवत्)। न पतति = न विनश्यति। ये = जनाः। आत्मघातिनः = आत्मानं घातयन्तीत्यात्मघातिनः। तेभ्यः = आत्मघातिभ्योजनेभ्यः। असूर्याः = सूर्यरहिताः। नाम इति प्रसिद्धौ। प्रतिविधीयन्ते = पापफलभोगार्थं नियु-

---

दुरासदः—दुर् + आ + √सद् + खल्। आत्तः—आ + √दा + क्त 'अच उपसर्गात्तः' सूत्र के अनुसार 'त्' आदेश। अवष्टम्भः—अव + √स्तम्भ् + घञ्।

दुःख है ! इस प्रकार वृद्धावस्था, सीता विषयक असह्य शोक, उस पर भी 'पराक', 'सान्तपन' आदि व्रतों का पातन, इन सबसे शरीर के रस और धातुओं के सूख जाने, अतएव जीवित रहने के सकल अवलम्बों से रहित हो चुकने पर भी यह मेरा महापातकी शरीर अब भी विनष्ट नहीं हो रहा है। जो आत्मघाती होते हैं, उनके लिए निबिड अन्धकारमय, सूर्यरहित लोक निश्चित

पराकसान्तपनप्रभृतिभिः—पराक और सान्तपन ये दोनों व्रतविशेष हैं। पराक व्रत में बारह दिन तक उपवास करना होता है—

'यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः'॥ (मनु० ११।२१५)

सान्तपन व्रत दो दिन में पूरा होता है। पहले दिन केवल पञ्चगव्य और कुशोदक का पान कर रहना पड़ता है और दूसरे दिन पूर्ण उपवास करना होता है—

'कुशोदकं च गोक्षीरं दधि मूत्रं शकृद् घृतम्।
जग्ध्वा परेऽह्न्युपवसेत्कृच्छ्रं सान्तपनं चरन्॥' (याज्ञ० ३।५।३१५ ; ।

अनवष्टम्भः—पाठा०—अनुपयुज्यमानः = उपयोगित्वं नापद्यमानः, जिसकी उपयोगिता नहीं रह गयी है।

शोषितान्तःशरीरधातोरवष्टम्भ एव महान् (पाठा०)—शोषिताः अन्तःशरीरधातवो यस्य तस्य मम महान् अवष्टम्भः = प्राणधारणशक्तिः। अन्धतामिस्राः = निबिड अन्धकार से भरे हुए। असूर्याः = जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं होता। ये एक प्रकार के नरक हैं। 'असुर्याः' ऐसा पाठ भी मिलता है, वहाँ 'असुर्याः' का अर्थ है—असुरों के योग्य ('असुर्या नाम ते लोकाः'—ईशावास्योपनिषद्)।

मृषयो मन्यन्ते। अनेकसंवत्सरातिक्रमेऽपि प्रतिक्षणपरिभावनास्पष्टनिर्भासः प्रत्यग्र इव न मे दारुणो दुःखसंवेगः प्रशाम्यति। अयि मातर्देवयजनसम्भवे सीते! ईदृशस्ते निर्माणभागः परिणतो येन लज्जया स्वच्छन्दमाक्रन्दितुमपि न शक्यते।

हा पुत्रि!

अनियतरुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम्।
वदनकमलकं शिशोः स्मरामि, स्खलदसमञ्जसमञ्जु जल्पितं ते॥ ४॥

ज्यन्ते। अनेकसंवत्सरातिक्रमेऽपि = बहुकालयापनेऽपि। प्रतिक्षणपरिभावनास्पष्टनिर्भासः—प्रतिक्षणं परिभावनया = सीतासम्बन्धिदुरितचिन्तनेन, स्पष्टः = परिस्फुटः, निर्भासः = प्रकाशो यस्यैवंविधः। प्रत्यग्रः = नवः। दुःखसंवेगः = शोकप्राबल्यम्। न न प्रशाम्यति = न विरमति। मातः—इदं सस्नेहसम्बोधनम्। देवयजनसम्भवे = यज्ञभूमिसमुत्पन्ने सीते! निर्माणभागः = सृष्टिफलम्। ईदृशः = सापवादनिर्वासनरूप इति भावः। येन = निर्माणभागेन। आक्रन्दितुम् = रोदितुम्।

अयम्भावः—कष्टस्यायं विषयः—एवमतिमात्रं जरावस्थया, दुःसहेन सीतानिर्वासनजन्यशोकेन च, तथा पुनरपि पराकसान्तपनादिव्रताचरणेन अस्य निन्दितशरीरस्य शोणितादयो रसाः मांसादयो धातवश्च शोषिताः, अत एव सकलपातप्रतिबन्धकरहितं जातं तथाप्यद्यापीदं मे दग्धशरीरं न विनश्यति, मम मृत्युर्नायाति। आत्मघातोऽपि कर्तुं न शक्यते, यतो य आत्मघातिनस्तेभ्योऽन्धतामिस्राः सूर्यप्रकाशरहिता लोकाः पापफलभोगार्थं नियुज्यन्त इत्येवमृषयो वदन्ति। अतीतेष्वपि बहुषु वर्षेषु प्रतिक्षणं सीताविषयकचिन्तनेन नव इव मे दारुणो दुःखसंवेगो न विरमति। हा मातः! हा पृथिवीपुत्रि! सीते! तव सृष्टिफलमीदृशं संवृत्तं येन लज्जाभारात् स्वच्छन्दं समाक्रन्दनमपि कर्तुं न शक्यते।

परिभावना—भू धातु (चुरादिगण में पठित) अवकल्कन अर्थात् चिन्तन अर्थ में है, अतः उससे स्वार्थ में णिच् प्रत्यय होकर 'भावि' बनता है—परि + भावि + युच् (ण्यासश्रन्थो युच्) = परिभावना।

विराजत्—वि + √राज् + शतृ। वदनकमलकम्—अनुकम्पा के अर्थ में कन्। स्खलत्—√स्खल् + शतृ।

रहते हैं—ऐसी ऋषियों की मान्यता है (अतः आत्मघात भी नहीं कर पाता हूँ)। बहुत दिन बीत जाने पर भी प्रतिक्षण सीता-विषयक चिन्तन से स्पष्ट आभास वाला अतएव अभिनव-सा प्रतीत होता हुआ सीता-विषयक मेरा भीषण दुःखसंवेग प्रशान्त नहीं होता है। हे माता! यज्ञभूमि से प्रकट होने वाली सीता, तुम्हारे जन्म लेने का ऐसा (सापवाद निर्वासन रूप) परिणाम हुआ कि लज्जा के कारण इच्छानुसार रोया भी नहीं जा सकता।

हा पुत्रि! अनिश्चित रोदन-हास वाले, कोमल कलियों के अग्रभाग के समान (छोटे-छोटे)

यह पद्य मालतीमाधव में भी १०वें अङ्क में द्वितीय श्लोक संख्या पर आया है।

भगवति वसुन्धरे ! सत्यमति दृढासि ।

त्वं वह्निर्मुनयो वसिष्ठगृहिणी गङ्गा च यस्या विदु-
र्माहात्म्यं यदि वा रघोः कुलगुरुर्देवः स्वयं भास्करः ।

अन्वयः—अनियतरुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम् स्खलदसमञ्जसमञ्जुजल्पितं शिशोः ते वदनकमलकं स्मरामि ॥ ४ ॥

ततो जनकः सीतायाः शैशवं स्मरन्नाह—**अनियतेति** । अनियतरुदितस्मितम्—अनियते = निर्हेतुकत्वेन नियमरहिते, रुदितस्मिते = रोदनहासौ यस्मिंस्तत् । विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम्—विराजन्ति = शोभमानानि, कतिपयानि = कियन्ति, कोमलानि दन्तकुड्मलाग्राणि = दशनमुकुलाग्राणि, यस्मिंस्तत् । स्खलदसमञ्जसमञ्जुजल्पितम्—स्खलत् = अस्पष्टोच्चरितम्, असमञ्जसम् = पूर्वापरसङ्गतिरहितम्, मञ्जु = सुन्दरम्, जल्पितम् = वचनं, यस्मिंस्तत् । शिशोः = बालिकायाः, ते = तव, सीताया इत्यर्थः । वदनकमलकम् = अनुकम्पितं वदनकमलम् । स्मरामि = चिन्तयामि ।

अयम्भावः—हा पुत्रि ! यदा त्वं शिशुरासीस्तदानीन्तनं त्वन्मुखं स्मरामि । यस्मिन् रोदनहासावहेतुकतया निश्चितौ नाऽऽस्ताम्, क्षणेनैव त्वं रोदिषि, क्षणेनैव हससि स्मेति । अपि च तथाविधे त्वन्मुखे कोमलकलिकाग्राणीव विरलानि कानिचिदेव कोमलदन्ताग्राण्यासन्, यस्मिंश्च पूर्वापरसङ्गतिरहितं सुन्दरं वचनमस्पष्टोच्चरितमासीत् । एवंविधमुखकमलसम्पन्ना सर्वात्मना परिशुद्धाऽपि त्वमिदानीं सापवादं निर्वासितेति कथं जीवामीति जनकोक्तेराशयः । अत्र स्वभावोक्त्युपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ४ ॥

जनकः पृथिवीं सम्बोध्य प्राह—भगवति वसुन्धरे ! सत्यमेव त्वमतिदृढाऽसि ।

अन्वयः—यस्याः माहात्म्यं त्वम् (वेद), वह्निः मुनयः वसिष्ठगृहिणी गङ्गा च विदुः, यदि वा रघोः कुलगुरुः देवः भास्करः स्वयं (वेद), विद्यां वागिव यां भवती असूत, या तद्वत् तु दैवतम्, तस्याः त्वद्दुहितुः तथा विशसनम्, दारुणे ! किम् अमृष्यथाः ? ॥ ५ ॥

विदुः—'विदो लटो वा' सूत्र के अनुसार लिट् लकार के णल् आदि प्रत्यय लट् लकार में भी होते हैं । विद् + लट् (झि = उस्) । माहात्म्यम्—महात्मनो भावः;

विरल दाँतों से सुशोभित तथा बिना किसी क्रम के मनोहर एवं तोतले वचन वाले तुम्हारे शैशव के समय के मुख का स्मरण करता हूँ ॥ ४ ॥

भगवती पृथिवी ! तू निस्सन्देह अत्यन्त कठोर है । जिसके प्रभाव को तू जानती है, (वसिष्ठ, वाल्मीकि आदि) मुनि लोग, अग्नि, वसिष्ठ की पत्नी (अरुन्धती) और गङ्गा जानती हैं, तथा

वदनकमलकम्—वदनं कमलमिवेति 'वदनकमलम्' ऐसा उपमित समास मानना चाहिए, 'वदनमेव कमलम्' ऐसा रूपक नहीं; क्योंकि रूपक मानने से कमल पद के प्राधान्य हो जाने पर उसमें रुदित और स्मित उपपन्न नहीं हो सकेगा ।

विद्यां वागिव यामसूत भवती तद्वत्तु या दैवतं
तस्यास्त्वद्दुहितुस्तथा विशसनं किं दारुणेऽमृष्यथाः ॥ ५ ॥

(नेपथ्ये)

इत इतो भगवतीमहादेव्यौ ।

त्वमिति । माहात्म्यम् = महिमानम्, चरित्रोत्कर्षम् । मुनयः--वसिष्ठवाल्मीकिप्रभृतयः । वसिष्ठगृहिणी = अरुन्धती । विदुः = जानन्ति । कुलगुरुः = आदिपुरुषः । स्वयम् = साक्षात् । भास्करः = सूर्यः । वाक् = भारती । तद्वत् = तानि दैवतानीव । तथा = तेन प्रकारेण, सापवादनिर्वासनेन । विशसनम् = हिंसनम् । हे दारुणे = हे कठोरे ! किम् = कथम् । अमृष्यथाः = असहथाः ?

अयम्भावः—यस्याः सीतायाश्चरित्रोत्कर्षं त्वं जानासि, अग्निः, वसिष्ठवाल्मीकिप्रभृतयो मुनयः, अरुन्धती गङ्गा च जानन्ति, रघोः कुलगुरुः देवः सूर्यः साक्षात् जानाति, यां च विद्यां वागिव त्वमजनयः, या च तानि दैवतानीव दैवतम्, तस्यास्तव पुत्र्याः सीतायास्तथा सापवादनिर्वासनेन हिंसनं हे कठोरे ! त्वं कथं सोढवती ? ईदृशे सञ्जाते पापकर्मणि त्वया स्फुटितया भाव्यम्, येन स्फुटितायां त्वयि तादृशा दुष्टजीवा विलीना भवन्त्विति ।

अत्र प्रस्तुतायाः पृथिव्याः, अप्रस्तुतानां वह्न्यादीनां चैकयैव वेदनक्रिययाऽन्वयाद् दीपकालङ्कारः । 'विद्यां वागिव' इत्यंशे श्रौती उपमा च । इत्यनयोर्मिथोऽनपेक्षया संसृष्टिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ५ ॥

नेपथ्ये गृष्टिमार्गं निर्दिशन्नाह—इत इति । भगवतीमहादेव्यौ = अरुन्धतीकौसल्ये, इतः इतः चलताम् ।

महात्मन् + ष्यञ् (भावे) । विशसनम्—वि + √शस् + ल्युट् (भावे) । अमृष्यथाः—√मृष् + लङ् (थास्) ।

रघुकुल के आदि-पुरुष सूर्यदेव स्वयं जानते हैं । विद्या को सरस्वती के समान, जिसे आपने जन्म दिया और जो स्वयं उन देवताओं के समान ही देवता है, उसी तुम्हारी पुत्री (सीता) का इस प्रकार अपघात ! हे कठोरे, भला इसे तुमने कैसे सह लिया ? ॥ ५ ॥

(नेपथ्य में) भगवती (अरुन्धती) और महादेवी (कौसल्या) इधर से, इधर से (चलें) ।

तद्वत् तु या दैवतम्—तद्वत = वह्निगङ्गादिदेवतावत् । सीताजी प्रभाव अथवा माहात्म्य में अग्नि, गङ्गा आदि देवताओं के ही समान हैं, अतः उन्हें देवता कहा गया । (पाठा०)—शुद्धिं **गतायाः पुनः**—पुनः = भूयः, शुद्धिम् = वह्निशुद्धिम्, पवित्रतामित्यर्थः । गतायाः = प्राप्तायाः । उस पर भी अग्निशुद्धि से सम्पन्न ।

तथा विशसनम्—जनकजी की समझ से सीता अब जीवित नहीं है, इसी से ऐसा कहा गया ।

जनकः—(दृष्ट्वा) अये, गृष्टिनोपदिश्यमानमार्गा भगवत्यरुन्धती। (उत्थाय) कां पुनर्महादेवीत्याह ? (निरूप्य) हा हा कथमियं महाराजदशरथस्य धर्मदाराः प्रियसखी मे कौसल्या। क एतां प्रत्येति सैवेयमिति।

आसीदियं दशरथस्य गृहे यथा श्रीः श्रीरेव वा किमुपमानपदेन सैषा।
कष्टं बतान्यदिव दैववशेन जाता दुःखात्मकं किमपि भूतमहो विपाकः॥ ६॥

दृष्ट्वा च जनकः ससम्भ्रममाह—अये इति। अये ! इयं भगवती अरुन्धती (आगच्छति), यस्या गृष्टिना=तन्नाम्ना कञ्चुकिना, उपदिश्यमानमार्गा—उपदिश्यमानः मार्गः यस्याः सा, मार्ग उपदिश्यते। 'अयं गृष्टिः किन्तु कां स्त्रियं महादेवीत्याह' इति विचिन्तयन्नेव जनकः कौसल्यां निरूप्य वदति—हा हेति। कथमियं महाराजदशरथस्य धर्मदाराः=सहधर्मचारिणी मम प्रियसखी च कौसल्या (समायाति)। एतां दृष्ट्वा कः प्रत्येति=विश्वसिति, यदियं सैव कौसल्याऽस्ति ?

अन्वयः—इयं दशरथस्य गृहे श्रीः यथा आसीत्, अथवा श्रीः एव, उपमानपदेन किम् ? कष्टं बत सा एषा दैववशेन अन्यत् किमपि दःखात्मकं भूतम् इव जाता, अहो ! विपाकः॥ ६॥

कौसल्यामवलोक्य जनकः प्राह—**आसीदिति**। इयम्=कौसल्या। श्रीः=लक्ष्मीः। उपमानपदेन=औपम्यबोधकशब्देन 'यथा' इति पदेन किम् ? न किञ्चित्प्रयोजनम्, तस्य तु वैयर्थ्यात्। बत=हा ! किमपि=अनिर्वाच्यम्। भूतम्=प्राणिविशेषः, साक्षाद-लक्ष्मीरिति भावः। जाता=संवृत्ता (उद्देश्यप्राधान्येन स्त्रीलिङ्गनिर्देशः)। अहो=आश्चर्यम्। विपाकः=विरुद्धपरिणामः, दशाविपर्यासः।

उपदिश्यमानः—उप + √दिश् + शानच् (कर्मणि)। प्रत्येति—प्रति + √इ + लट् (तिप्)।

उपमानम्—उप + √मा + ल्युट् (भावे)। दुःखात्मकम्—दुःखम् आत्मा यस्य तत्; बहुव्रीहि समास, कप्। विपाकः—वि + √पच् + घञ्।

जनक—(देखकर) अये, भगवती अरुन्धती (हैं), इन्हें दृष्टि के द्वारा मार्ग-निर्देश किया जा रहा है। **(उठकर)** तो किसे 'महादेवी' ऐसा कह रहा है ? **(भली-भाँति देखकर)** हाय हाय, ये कैसे महाराज दशरथ की धर्मपत्नी और मेरी प्रियसखी कौसल्या (आ रही हैं) कौन इनको (देखकर) विश्वास करेगा कि ये वही हैं।

यह दशरथ के घर में लक्ष्मी की तरह थीं, अथवा उपमानपद (यथा) से क्या प्रयोजन ? यह लक्ष्मी ही थीं। महान् कष्ट है, वही यह दैववश मानों दूसरा कोई दुःखात्मक जीव हो गयी हैं। आश्चर्य है (ऐसा) शोचनीय दशाविपर्यास (हो गया है)॥ ६॥

यथा श्रीः, श्रीरेव—जनक भावप्रवाह में कौसल्याजी को 'लक्ष्मी के समान' कह तो गये किन्तु कौसल्या के प्रति अपने आदरभाव की अभिव्यक्ति के लिए उसे अपर्याप्त समझ कर सन्तुष्ट नहीं हो सके, तब उन्हें **'श्रीरेव' 'साक्षात् लक्ष्मी ही'** इस रूपक का सहारा लेना पड़ा।

विपाकः—पाठा०—विकारः—विकृति अर्थात् दुष्परिणाम।

अयमपरः पापो दशाविपर्यासः ।

य एव मे जनः पूर्वमासीन्मूर्तो महोत्सवः ।
क्षते क्षारमिवासह्यं जातं तस्यैव दर्शनम् ॥ ७ ॥

अयम्भावः—इयं कौसल्या पूर्वं कदाचिद् दशरथगृहे श्रीरिवाऽऽसीत्, अथवौपम्यबोधकपदं 'यथा' इति तु व्यर्थमेव, साक्षादियं श्रीरेवाऽऽसीत् । महाकष्टस्यायं विषयः—दैवदुर्विपाकात् सेयं दुःखात्मकमन्यत् किमपि भूतं (प्राणिविशेषः, अलक्ष्मीरिति यावत्) संवृत्ता । अहो ! कीदृशोऽयं दशाविपर्यासः । अत्रोपमारूपकाक्षेपोत्प्रेक्षाणां संसृष्टिः। वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ६ ॥

जनकः पुनराह—अयं = कौसल्यायाः साक्षात्कारः, अपरः पापः = पातकी, पापहेतुको, दशाविपर्यासः = दुष्परिणामः, विपाकः सञ्जातः ।

अन्वयः—य एव जनः पूर्वं मे मूर्तो महोत्सवः आसीत्, तस्यैव दर्शनं क्षते क्षारमिव असह्यं जातम् ॥ ७ ॥

य एवेति । य एव जनः = कौसल्यारूपो नान्य इति भावः; कौसल्यालक्षणो जनः पूर्वं = प्राक्, मे = मम, मूर्तः = मूर्तिमान्, महोत्सवः = आनन्दप्रकर्षहेतुः, आसीत्, सम्प्रति तस्यैव दर्शनं क्षते = शस्त्रादिभिर्निर्भिन्नेऽङ्गे व्रणे वा क्षारमिव = लवणमिव, असह्यं = सोढुमशक्यं जातम् ।

अत्र कौसल्यारूपे जने महोत्सवस्य तादात्म्यारोपाद्रूपकालङ्कारः । तत्राप्यत्यन्तासम्भवस्य मूर्तत्वरूपस्य वैशिष्ट्यस्याऽऽरोहणादधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकम्; तथा द्वितीयार्द्धे उपमा चेत्यनयोः परस्परनिरपेक्षतया संसृष्टिः । केचित् त्वत्र विरूपयोः सङ्घटनाद्विषमालङ्कारोऽपीत्याहुः ।

पापः—पापमस्त्यस्य; पाप + अच् (अर्शआदिभ्योऽच्) । विपर्यासः—वि + परि + √अस् (क्षेपे) + घञ् । मूर्तः—√मूर्च्छ् + क्त । क्षतः—√क्षण् (हिंसायाम्) + क्त (कर्मणि) । असह्यम्—न सोढुं शक्यम्; नञ् + √सह् + यत् ('शकिसहोश्च' सूत्र से) ।

यह दूसरा पापी दशाविपर्यास हो गया—

जो ही व्यक्ति मेरे लिए मूर्तिमान् महोत्सव था, उसी का दर्शन कटे हुए पर नमक की तरह असह्य हो गया है ॥ ७ ॥

मूर्तो महोत्सवः—भवभूति अत्यन्त मनोभिराम वस्तु के लिए प्रायः ऐसा कहते हैं । जैसे—'तव मूर्तिमानिव महोत्सवः करः' । (१।१८)

क्षते क्षारम् (कटे पर नमक)—यह लोकोक्ति बन गया है । अर्थ होता है—पीडा को जो पहले से ही असह्य है, और बढ़ा देना । क्षार शब्द रोपध होने से पुंल्लिङ्ग है—'क्षारो रसान्तरे धूर्ते लवणे काचभस्मनोः' (मेदिनीकोष) किन्तु भवभूति ने इसे नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त किया है।

(ततः प्रविशत्यरुन्धती कौसल्या कञ्चुकी च)

अरुन्धती—ननु ब्रवीमि द्रष्टव्यः स्वयमुपेत्यैव वैदेह इत्येष वः कुलगुरोरादेशः। अत एव चाहं प्रेषिता। तत्कोऽयं पदे पदे महाननध्यवसायः।

कञ्चुकी—देवि ! संस्तभ्यात्मानमनुरुध्यस्व भगवतो वसिष्ठस्यादेशमिति विज्ञापयामि।

कौसल्या—ईरिसे काले मिहिलाहिवो मए दिट्ठव्वो ति समं एव्व सव्वाइं दुःखाइं समुब्भवन्ति। ता ण सक्कुणोमि उव्वटमाणमूलबन्धनं हिअअं पज्जवत्थावेदुं। [**ईदृशे काले मिथिलाधिपो मया द्रष्टव्य इति सममेव सर्वाणि दुःखानि समुद्भवन्ति। तस्मान्न शक्नोम्युद्वर्तमानमूलबन्धनं हृदयं पर्यवस्थापयितुम्।**]

जनकदर्शनार्थं भगवत्यरुन्धती कौसल्यां प्रेरयन्ती प्राह—**नन्विति**। 'ननु' इति सम्बोधनपदम्। हे कौसल्ये ! तव कुलगुरोः=वसिष्ठस्यायमादेशो यत् स्वयमेव उपेत्य =गत्वा, वैदेहस्य=जनकस्य, दर्शनं विधातव्यम्, तस्मादेवाहं च कुलगुरुणा त्वया सह प्रेषिता, तत् तत्र गन्तुं पदे पदे कोऽयमनध्यवसायः=अनुत्साहः ? त्वया निःशङ्कं गुरोरादेशः पालनीय इति भावः।

कञ्चुक्यपि तथैव कर्तुं प्रेरयति—**देवि ! इति**। देवि कौसल्ये ! आत्मानं संस्तभ्य =स्थिरीकृत्य, भगवतो वसिष्ठस्यादेशो भवत्या अनुरुध्यस्व=अनुसर, परिपालनीय, इति विज्ञापयामि।

कौसल्या मिथिलाधिपतिदर्शने स्वानध्यवसायकरणमभिव्यनक्ति—**ईदृश इति**। ईदृशं=सीताविवासनयुक्ते, अतिदारुणे इति भावः। सममेव=युगपदेव। समुद्भवन्ति

वैदेहः—विदेहानामीश्वरः; विदेह+अण् ('तस्येश्वरः' सूत्र के अनुसार)। अनध्यवसायः—न अध्यवसायः; अधि+अव+√सो+घञ्; युक् का आगम ('आतो युक् चिण्कृतोः' सूत्र के अनुसार)। संस्तभ्य—सम्+√स्तम्भ्+ल्यप्।

(तदनन्तर अरुन्धती, कौसल्या और कञ्चुकी प्रवेश करते हैं)

अरुन्धती—अरे, मैं कह रही हूँ, स्वयं जाकर ही विदेहाधिपति जनक को देखना चाहिए, ऐसा यह तुम्हारे कुलगुरु (वसिष्ठ) का आदेश है और इसीलिए मैं भेजी गयी हूँ, तो पग-पग पर यह कैसा अनुत्साह (हिचकिचाहट) ?

कञ्चुकी—हे देवि ! अपने आपको व्यवस्थित करके भगवान् वसिष्ठ के आदेश का पालन करो, यह मेरा निवेदन है।

कौसल्या—ऐसे समय में मिथिलाधिपति (जनक) से मुझे मिलना है, अतः एक ही साथ सभी दुःख उत्पन्न हो रहे हैं। इसलिए उखड़ते हुए मूलबन्धन वाले हृदय को प्रकृतिस्थ नहीं कर सकती।

महाननध्यवसायः—पाठा०—महानध्यवसायः—महाँश्चासौ अनध्यवसायश्चेति महानध्यवसायः, ऐसा कर्मधारय समास समझना चाहिए। इस प्रकार अर्थ में कोई भेद नहीं है। रामचन्द्र द्वारा सीता-निर्वासन किये जाने से लज्जावश कौसल्या को जनक के सामने जाने में पगपग पर हिचकिचाहट हो रही है, जो स्वाभाविक ही है।

अरुन्धती—अत्र कः सन्देहः ?

सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां दुःखानि सम्बन्धिवियोगजानि ।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि स्रोतःसहस्रैरिव सम्प्लवन्ते ॥ ८ ॥

=उत्पद्यन्ते । उद्वर्तमानमूलबन्धनम्—उद्वर्तमानम्=उदगच्छत्, मूलबन्धनम्=यथा-स्थानावस्थापकं प्रधानबन्धनं यस्य तत्, शिथिलबन्धनमित्यर्थः । पर्यवस्थापयितुम्=प्रकृतिस्थं कर्तुम् ।

अयम्भावः—मम पुत्रेण यस्य पुत्री निर्वासिता तमेव द्रष्टुं गच्छामीत्येवमविचारके काले युगपदेव सर्वाणि दुःखानि समुद्भवन्ति, तस्माच्छिथिलबन्धनं हृदयं प्रकृतिस्थं कर्तुं न शक्नोमि । मयि जीवन्त्यामेव सीताया अयं दुष्परिणाम इति विचिन्त्य जनकसकाशं गन्तुं नोत्सह इति कौसल्योक्तेराशयः ।

अन्वयः—मानुषाणां सम्बन्धिवियोगजानि दुःखानि सन्तानवाहीन्यपि प्रेयसि जने दृष्टे दुःसहानि (सन्ति) स्रोतः सहस्रैरिव सम्प्लवन्ते ॥ ८ ॥

अरुन्धती कौसल्यावचनं समर्थयति—सन्तानवाहीनीति । सम्बन्धिवियोगजानि=सम्बन्धिनाम्=बन्धूनां वियोगाज्जायन्ते इति, बन्धुविरहोत्पन्नानीति भावः । सन्तान-वाहीनि—सन्तानेन=अविच्छेदेन निरन्तरमित्यर्थः, वहन्ति=प्रवर्तन्ते, अनुभूयन्त इति यावत्, तच्छीलानि । प्रेयसि जने=प्रियतरे जने ।

अनुरुध्यस्व—दिवादिगणीय रुध् (लोट्=थास्) का रूप है। यह धातु सदा अनुपूर्वक ही प्रयुक्त होती है (अनो रुध कामे) इसका अर्थ होता है—इच्छा करना, आज्ञा मानना, अनुसरण करना आदि । उद्वर्तमानम्—उद्+√वृत्+शानच् । पर्य-वस्थापयितुम्—परि+अव+√स्था+णिच्+तुमुन् (धातु के पुक् का आगम)।

सन्तानवाहीनि—सन्तानेन वहन्ति, तच्छीलानि । ताच्छील्ये णिनिः । मानुषा-णाम्—मनोरपत्यानि (जातिः) । 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' (४।१।१६१) सूत्र के अनुसार मनु शब्द से अञ् और यत् प्रत्यय पर्याय से होते हैं और मनु शब्द के षुक् का आगम होता है। यहाँ अञ् प्रत्यय और षुक् का आगम हुआ है—मनु+षुक्+अञ्—मानुषः । ('तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् 'अ' को वृद्धि (आ) हुई है।

अरुन्धती—इसमें क्या सन्देह ?

लोगों के सम्बन्धियों के वियोग से उत्पन्न दुःख सतत प्रवहमान (अर्थात् अनुभूयमान) होते हुए भी प्रियजन के देखे जाने पर दुःसह होते हुए मानों हजारों धाराओं से उमड़ कर बहने लगते हैं ॥ ८ ॥

सन्तानवाहीन्यपि—अविच्छिन्न भाव से बहते रहने से दुःख का वेग शिथिल पड़ जाता है और वह चिरानुभूयमान दुःख सह्य हो जाता है, फिर भी उसे दुःसह तथा सहस्रों प्रवाहों से बहने वाला कहा गया है, अतः विरोधाभास अलङ्कार है । **'दृष्टे जने प्रेयसि'** यह विरोध का परिहार करता है, क्योंकि प्रियजन के समागम पर वह दुःख फिर से ताजा होकर दुःसह हो जाता है और हजारों धाराओं में फूट पड़ता है । **स्रोतःसहस्रैरिव सम्प्लवन्ते**—उत्प्रेक्षा अलङ्कार । इस प्रकार विरोधाभास और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभाव होने से 'संकर' है ।

कौसल्या—कहं णु खु वच्छाए बहूए एवं गदे तस्स राएसिणो मुहं दसम्ह ?
[कथं नु खलु वत्साया वध्वा एवं गते तस्य राजर्षेर्मुखं दर्शयामः ?]

अरुन्धती—एष वः श्लाघ्यसम्बन्धी जनकानां कुलोद्वहः।
याज्ञवल्क्यो मुनिर्यस्मै ब्रह्मपारायणं जगौ ॥ ९ ॥

अयम्भावः—कौसल्ये ! भवत्या यदुक्तं तत्सत्यमेव । मनुष्याणां बन्धुवियोगजन्यानि निरन्तरं प्रवर्तमानान्यपि दुःखानि प्रियतरे जने दृष्टे सति दुःसहानि सन्ति असङ्ख्य-प्रवाहैरिवोद्गच्छन्ति । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ८ ॥

कौसल्या पुनराह—कथं नु खल्विति । वत्सायाः = वात्सल्यभाजः । वध्वाः = स्नुषायाः, सीताया इत्यर्थः । राजर्षेः = जनकस्येत्यर्थः, तस्मै जनकायेत्यर्थः (सम्बन्ध-मात्रविवक्षायां चतुर्थीस्थाने षष्ठी) । या स्नुषा सीता मे वात्सल्यभागिनी आसीत् तस्या ईदृशे दशान्तरे जाते तत्पितुर्जनकस्य कथं नु खलु स्वमुखं दर्शयामीति भावः ।

अन्वयः—एषः वः श्लाघ्यसम्बन्धी जनकानां कुलोद्वहः, यस्मै मुनिः याज्ञवल्क्यः ब्रह्मपारायणं जगौ ॥ ९ ॥

अरुन्धती कौसल्याया हृदयस्थं सङ्कोचं निराकर्तुं जनकं प्रशंसति—एष इति । एषः = पुरोवर्ती, वः = युष्माकं, श्लाघ्यसम्बन्धी—श्लाघ्यः = प्रशंसनीयः, स चासौ सम्बन्धी = पुत्रश्वशुरः । जनकानाम् = जनकवंशोत्पन्नानां राज्ञाम् । कुलोद्वहः = कुल-

---

प्रेयसि—अतिशयेन प्रियः प्रेयान्, तस्मिन् । प्रिय + ईयसुन्, 'प्रियस्थिर–' इत्यादि सूत्र से 'प्रिय' के 'प्र' आदेश । दुःसहानि—दुर् + √सह् + खल् ।

गते—√गम् + क्त (नपुंसके भावे) । दर्शयामः—√दृश् + णिच् + लट् (मस्) । श्लाघ्यः—√श्लाघ् + ण्यत् । उद्वहः—उद् + √वह् + अच् । याज्ञवल्क्यः—यज्ञवल्कस्यापत्यं पुमान्, यज्ञवल्क + यञ् ('गर्गादिभ्यो यञ्') । यस्मै—'कर्मणा यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' सूत्र के अनुसार सम्प्रदानसंज्ञा होने से सम्प्रदान में चतुर्थी । पारायणम्—पारस्य अयनम्; 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' के अनुसार णत्व ।

कौसल्या—वात्सल्यभागिनी बहू (सीता) के ऐसा होने पर उन राजर्षि (जनक) को कैसे मुँह दिखावें ।

अरुन्धती—ये तुम्हारे प्रशंसनीय समधी जनकवंशियों के कुल में श्रेष्ठ हैं, जिन्हें याज्ञवल्क्य मुनि ने उपनिषत् सहित समग्र वेद का उपदेश दिया है ॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्यः—याज्ञवल्क्य मुनि को बृहदारण्यकोपनिषद् में कई स्थलों पर जनक का उपदेष्टा कहा गया है । ये शुक्लयजुर्वेद के प्रधान ऋषि हैं । कहा जाता है कि 'याज्ञवल्क्यसंहिता' इन्हीं का रचित धर्मग्रन्थ है ।

मुनिः—मुनि का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिरुच्यते ॥'

ब्रह्मपारायण—यों तो पारायण का सामान्य अर्थ है—पार जाना, पूरा पढ़ना, आद्योपान्त अध्ययन आदि; किन्तु पारायण शब्द का प्रयोग किसी वस्तु की समष्टि के अर्थ में भी होता है,

कौसल्या—एसो सो महाराअस्स हिअ आणंदो वच्छाए बहूए पिदा राएसी हद्धी ! हद्धी ! सुमारिदम्हि अणिव्वेदरमणीए दिवहे। हा देव्व, सव्वं णत्थि। [एष स महाराजस्य हृदयानन्दो वत्साया वध्वाः पिता राजर्षिः। स्मारितास्मि अनिर्वेदरमणीयान् दिवसान्। हा दैव ! सर्वं तन्नास्ति।]

जनक—(उपसृत्य) भगवत्यरुन्धति ! वैदेहः सीरध्वजोऽभिवादयते।

श्रेष्ठः। ब्रह्मपारायणम्—ब्रह्मणः = वेदस्य, पारायणम् = साकल्येन प्रवचनम्। जगौ = गीतवान्, समग्रं वेदं यस्मै उपदिदेशेत्यर्थः।

अयम्भावः—एषः पुरोवर्ती, युष्माकं प्रशंसनीयः सम्बन्धी जनकानां कुलधुरन्धरो वर्तते। अस्मै ब्रह्मतत्त्वपारदर्शी महामुनिर्याज्ञवल्क्यः समग्रं वेदमुपदिष्टवान्। तस्मात् सङ्कोचेन सद्भावाश्रयस्य तस्य राजर्षेर्दर्शनायेदृशस्तवानध्यवसायो नोचित इति भावः॥ ९॥

राजर्षिजनकदर्शनेन पुरातनसुखमयदिवसान् स्मरन्ती **कौसल्या** प्राह—एष इति। महाराजस्य = दशरथस्य। हृदयानन्दः = चित्ताह्लादकरः। राजर्षिः = जनकः। अनिर्वेदरमणीयान्—अविद्यमानो निर्वेदः = चित्तग्लानिर्येषु ते अनिर्वेदाः, अनिर्वेदाश्च ते रमणीयाः तथाविधान्। स्मारिताऽस्मि = सुखमयदिवसविषयकस्मरणवती कृताऽस्मीति भावः। तत् = पूर्वानुभूतं, नास्ति = सम्प्रति न वर्तते।

अयम्भावः—स एवैष वात्सल्यभागिन्याः स्नुषायाः पिता राजर्षिर्जनको यो निजागमनेन महाराजस्य (दशरथस्य) हृदयमानन्दयति स्म। हा धिक् ! हा धिक् ! सम्प्रति तद्दर्शनेन त आनन्दहेतवो रमणीया दिवसा बलात् स्मृतिपथमायान्ति। हा दैव ! सर्वं तत् पूर्वानुभूतं सम्प्रति न वर्तते।

जनकः—हे भगवति अरुन्धति ! वैदेहः = विदेहानां राजा। सीरध्वजः—सीरः = लाङ्गलं, ध्वजे यस्य स तथोक्तः, जनक इत्यर्थः। अभिवादयते = नमस्करोति।

स्मारिता—√स्मृ + णिच् + क्त (गौणे कर्मणि) + टाप्।

कौसल्या—ये वे (ही) महाराज (दशरथ) के हृदय को आनन्द देने वाले वत्सा वधू (सीता) के पिता राजर्षि (जनक) हैं। हा धिक् ! हा धिक् ! (इनके दर्शन से) मुझे उन अवसाद रहित रमणीय दिनों की याद करा दी गयी। हाय दैव ! वह सब कुछ (अब) नहीं है।

जनक—(**समीप जाकर**) हे भगवति अरुन्धति ! विदेहराज सीरध्वज अभिवादन करता है।

यथा—'मन्त्रपारायण'। इस प्रकार ब्रह्मपारायण का वेदसमष्टि—समग्र वेद (ब्रह्म = वेद) अर्थ मानना समीचीन है। उपनिषदों का भी वेद में अन्तर्भाव है।

'स्मारिताऽस्मि०'—पाठान्तर—'सम्भाविताऽस्मि अनुपस्थितमहोत्सवे दिवसे'—सीता-निर्वासनेन अनुपस्थितः = नष्टः, महोत्सवः यस्मिंस्तस्मिन् दिवसे, सम्भाविता = सत्कृता, अस्मि = भवामि, आगमनेनेति भावः।

सीरध्वजः—जनक के हल चलाने पर सीता जी उत्पन्न हुई थीं; अतः ये सीरध्वज कहलाते हैं। कुछ लोगों का मत है कि सीर (हल) जनकवंशी राजाओं का चिह्न था। उनके झण्डे पर

यया पूतम्मन्यो निधिरपि पवित्रस्य महसः
पतिस्ते पूर्वेषामपि खलु गुरूणां गुरुतमः।
त्रिलोकीमङ्गल्यामवनितललीनेन शिरसा
जगद्वन्द्यां देवीमुषसमिव वन्दे भगवतीम्॥ १०॥

अरुन्धती—परं ते ज्योतिः प्रकाशताम्। अयं त्वां पुनातु देवः परोरजा य एष तपति।

अन्वयः—पवित्रस्य महसः निधिरपि, पूर्वेषां गुरूणां गुरुतमोऽपि ते पतिः यया पूतम्मन्यः खलु; त्रिलोकीमङ्गल्यां जगद्वन्द्यां देवीम् उषसमिव भगवतीम् अवनितललीनेन शिरसा वन्दे॥ १०॥

जनकोऽरुन्धतीमभिवादयमानः प्राह—ययेति। महसो निधिः=तेजस आधारः। गुरूणाम्=पूज्यानाम्। गुरुतमः=पूज्यतमः। पतिः=वसिष्ठ इत्यर्थः। पूतम्मन्यः= आत्मानं पूतं मन्यते। त्रिलोकीमङ्गल्याम्=त्रिभुवनमङ्गलकारिणीम्। जगद्वन्द्याम्= लोकनमस्कार्याम्। देवीम् उषसमिव=प्रातःकालदेवतामिव। भगवतीम्=भवती- मरुधन्तीमित्यर्थः। अवनितललीनेन=भूतलनिहितेन।

अयम्भावः—भगवति! पूर्वेषां पूज्यानां पूज्यतमोऽपि पवित्रस्य तेजसो निधिरपि भवत्याः पतिर्वसिष्ठो भवत्याऽऽत्मानं पवित्रं मन्यते। तथा च पवित्रतेजोनिधिरपि सूर्यः प्रातरधिष्ठातृदेवतयोषसा आत्मानं पवित्रं मन्यते, एवं जगद्वन्द्यां देवीमुषसमिव त्रिभुवन- मङ्गलकारिणीं भवतीं भगवतीं पृथिव्यां शिरो विनमय्य प्रणमामि। अत्र 'उषसमिव त्वाम्' इति कथनेनोपमालङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम्॥ १०॥

पूतम्मन्यः—आत्मानं पूतं मन्यते; पूत+√मन्+खश्, शित् होने से सार्वधातुक अतएव 'दिवादिभ्यः श्यन्' से श्यन् विकरण, मुमागम। त्रिलोकी—त्रयां लोकानां समाहारः त्रिलोकी। 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' के अनुसार उत्तरपद के अकारान्त होने से स्त्रीत्व, अतएव ङीप् ('द्विगोः' ४।१।२१)।

पवित्र तेज का आधार भी, पूर्व गुरुओं का पूज्यतम भी तुम्हारा पति जिससे अपने को पवित्र मानता है, उषा देवी के समान तीनों लोकों का मङ्गल करने वाली तथा जगत् की वन्दनीय तुझ भगवती को भूतल पर रखे हुए शिर से प्रणाम करता हूँ॥ १०॥

सीर का चिह्न बना होता था। इस पर श्रीकान्तानाथशास्त्री तैलङ्ग का कहना है—संभव है जनक के बाद के राजाओं के झंडे पर यह चिह्न रहता हो, परन्तु जनक के पूर्वजों के झंडे पर भी यह चिह्न रहता था या नहीं, यह विचारणीय है।

पवित्रस्य महसः निधिः—अरुन्धती के पक्ष में वसिष्ठ से तात्पर्य है और उषा के पक्ष में सूर्य से।

मङ्गल्याम्—पाठा०—माङ्गल्याम्—मङ्गल शब्द से स्वार्थ में अण्—माङ्गल। माङ्गले साधुः माङ्गल्यः, स्त्री चेत् माङ्गल्या। ('तत्र साधुः' सूत्र से यत्)

देवीमुषसम्—यहाँ उषस् शब्द प्रातरधिष्ठातृदेवता के अर्थ में है, अतः स्त्रीलिङ्ग है। उषः काल का बोधक होने पर नपुंसक लिङ्ग होता है।

जनकः—आर्य गृष्टे ! अप्यनामयमस्याः प्रजापालकस्य मातुः ?

कञ्चुकी—(स्वगतम्) निरवशेषमतिनिष्ठुरमुपालब्धाः स्मः । (प्रकाशम्) राजर्षे ! अनेनैव मन्युना चिरपरित्यक्तरामभद्रमुखचन्द्रदर्शनां नार्हसि दुःख-

---

अरुन्धती वितरन्त्याशिषं प्राह—परं = सर्वोत्कृष्टं, ज्योतिः = ब्रह्म, ते प्रकाशताम् = प्रतिभासताम् । अयं परोरजाः = रजोगुणात् परः दूरवर्ती, रजोगुणादिदोषैरस्पृष्ट इत्यर्थः, देवः = सविता, त्वां पुनातु = पवित्रीकरोतु, य एषः तपति = प्रकाशते इति भावः ।

कौसल्याया अनामयं प्रष्टुकामो जनको गृष्टिं प्रत्याह—**आर्य गृष्टे इति** । गृष्टे = गृष्टिरिति दशरथकञ्चुकिनो नाम, तत्सम्बोधनमेतत् । अपीति प्रश्ने । प्रजापालकस्य—प्रजाः पालयतीति प्रजापालकः, तस्य, न तु पत्नीपालकस्येति व्यङ्ग्यार्थः । मातुः = कौसल्याया इत्यर्थः ।

अयम्भावः—आर्य गृष्टे ! प्रजापालकस्य रामस्य मातुः अस्याः कौसल्याया अनामयं रोगराहित्यं त्वस्ति ? इदमत्रावधेयम्—'क्षत्रं पृच्छेदनामयम्' इति स्मृत्युक्त्या अनामयमपृच्छद्राजा जनकः । 'प्रजापालकस्य' इति कथनेन रामः प्रजापालक एव, न तु पत्नीपालकः इति व्यङ्ग्यं कृतम् । तादृशस्याविवेकिनः पुत्रस्य जन्मदात्र्याः कौसल्याया अपि निन्दा 'मातुः' इति पदेन द्योतिता ।

कञ्चुकी तादृशीं जनकोक्तिमाकर्ण्य प्राह—(स्वगतम्) **निरवशेषमिति** । निरवशेषम्—निःशेषम् । 'निर्विशेषम्' इति पाठे निरतिशयमित्यर्थः । उपालब्धाः =

परोरजाः—रजसः परः, 'राजदन्तादिषु परम्' से रजस् का परनिपात, 'पारस्करप्रभृतीनि च' के अनुसार सुट् का आगम । उपालब्धाः—उप + आ + √लभ् + क्त ।

अरुन्धती—तुम्हें परमज्योति (ब्रह्म) अवभासित हो । यह रजोगुण से परे स्थित देव (सविता) तुम्हें पवित्र करे, जो यह तपता है (प्रकाश देता है) ।

जनक—हे आर्य गृष्टि ! प्रजापालक की इन माता का आरोग्य तो है ?

कञ्चुकी—(**स्वगत**) हम लोगों को पूरी तरह और अत्यन्त कठोरतापूर्वक उलाहना दिया गया । (**प्रकाश**) राजर्षे ! इसी शोक के कारण महारानी ने बहुत समय से रामभद्र के मुख-

---

परं ज्योतिः—पाठान्तर—अक्षरं ज्योतिः = अविनश्वर ज्योति (ब्रह्म) ।

परोरजाः—पाठान्तर—परोरजसाम्—रज-आदिसमस्तदोषाणां परः दूरवर्ती (सम्बन्ध सामान्ये षष्ठी) ।

अनामयम्—आरोग्य ('अनामयं स्यादारोग्यम्') । 'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्' इस स्मृतिवचन के अनुसार यहाँ जनक ने कौसल्या के आरोग्य के विषय में ही प्रश्न किया जो अत्यन्त व्यङ्ग्यपूर्ण है ।

प्रजापालकस्य मातुः—यह जनक का ताना भरा शब्द है; राम प्रजापालक हैं, पत्नीपालक नहीं । ऐसे पुत्र की जन्मदात्री होने के नाते कौसल्या की भी निन्दा द्योतित हो रही है ।

यितुमतिदुःखितां देवीम्। रामभद्रस्यापि दैवदुर्योगः कोऽपि यत्किल समन्ततः प्रवृत्तबीभत्सकिंवदन्तीकाः पौरजानपदा नाग्निशुद्धिमनल्पकाः प्रतियन्तीति दारुणमनुष्ठितं देवेन।

कृतोपालम्भाः। अनेनैव मन्युना—सीतानिर्वासनजनितेनैव शोकेन। चिरपरित्यक्तरामभद्रमुखचन्द्रदर्शनाम्—चिरम् = बहुकालं व्याप्य, परित्यक्तं रामभद्रस्य मुखचन्द्रस्य दर्शनं यया ताम्। दुःखयितुम् = दुःखितां कर्तुम्। कोऽपि = अचिन्तनीयः। दैवदुर्योगः = भाग्यदुःसम्बन्धः। किल = निश्चयेन। प्रवृत्तबीभत्सकिंवदन्तीकाः—प्रवृत्ता = प्रसृता, बीभत्सा = जुगुप्सिता, किंवदन्ती = जनश्रुतिः यैस्ते। अनल्पकाः—न विद्यमानः अल्पो येभ्यस्ते, क्षुद्रचित्ता इति भावः। पौराः = नागरिकाः। जानपदाः = जनपदवासिनः। अग्निशुद्धिम्—अग्निकृतां सीतापरिशुद्धिम्। न प्रतियन्ति = न विश्वसन्ति। इति = अस्माद्धेतोः। दारुणम् = सीतानिर्वासनरूपं भयानकं कर्म। देवेन = रामेण। अनुष्ठितम् = कृतम्।

अयम्भावः—राजर्षिणा जनकेन वयं निरवशेषं तथाऽतिनिष्ठुरं निर्भर्त्सिताः, एतदुक्त्या रामभद्रस्याविवेकित्वम्, जन्मदात्र्या निन्दनीयत्वं, प्रजानां विश्वासघातश्च सूचितः, न ह्यतःपरं किञ्चिदवशिष्यते इति मनसि विचिन्त्य गृष्टिः प्रकाशमाह—राजर्षे! सीतानिर्वासनजनितशोकेनैव सङ्क्षुब्धा देवी कौसल्या प्राणप्रियस्य स्वसुतस्य रामभद्रस्य मुखचन्द्रदर्शनमपि बहुकालं व्याप्य पर्यत्यजत्, तादृशीमतिदुःखितां भवान् ततोऽपीदृशेन वचसा दुःखितां कर्तुं नार्हति। रामभद्रस्यापि कोऽपि जन्मान्तरदैवदुर्विपाकः प्रादुर्भूतः, अन्यथा तस्य विवेकित्वे न कापि न्यूनता। यतः प्रजाः परितो बीभत्सां किंवदन्तीं प्रसारयितुं प्रारभन्त, ते पौरजानपदाः क्षुद्रमनस्कतयाऽग्निशुद्धिमपि सीतादेव्या न विश्वसन्ति स्म, तस्माद्धेतोर्महाराजेनेदं भीषणं कर्म कृतं, नास्ति तत्र तस्य कोऽपि दोषः।

बीभत्सः—√बध् भ्वादिगणीय का चित्तविकार (घृणा) के अर्थ में जब प्रयोग होता है, तब 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' (३।१।६) सूत्र के अनुसार सन् प्रत्यय, द्वित्वादिकार्य तथा अभ्यास को दीर्घ होकर 'बीभत्स' बनता है, तब 'अ-प्रत्ययात्' सूत्र से 'अ' प्रत्यय होकर—बीभत्सा बनता है, उसके बाद 'अर्शआदिभ्योऽच्' सूत्र से अच् प्रत्यय होकर 'बीभत्सः' बनता है। अनुष्ठितम्—अनु + √स्था + क्त।

चन्द्र का देखना छोड़ दिया है; अतिदुःखित उनको दुःखी करना आपके लिए उचित नहीं है। रामभद्र का भी निश्चय ही कोई भाग्य का बुरा संयोग था कि पुरवासियों और जनपदवासियों के द्वारा घृणित किंवदन्ती फैल गयी और उन तुच्छ हृदय वालों को अग्निशुद्धि पर भी विश्वास नहीं है, इसी कारण महाराज के द्वारा (ऐसा) भीषण कर्म किया गया।

जनकः—(सरोषम्) आः ! कोऽयमग्निर्नामास्मत्प्रसूतिपरिशोधने । कष्टमेवं वादिना जनेन रामभद्रपरिभूता अपि वयं पुनः परिभूयामहे ।

अरुन्धती—(निःश्वस्य) एवमेतत् । अग्निरिति वत्सां प्रति परिलघून्यक्षराणि । सीतेत्येव पर्याप्तम् । हा वत्से !

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं द्रढयति ।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥ ११ ॥

कञ्चुकिमुखादग्निशुद्धिविषयकवृत्तान्तं ज्ञात्वा कुपितो **जनकः** प्राह—आः इति । आः = कोपव्यञ्जकमव्ययपदमिदम् । एवंवादिना—सीतायाः अग्निशुद्धिरितिवादिना । जनेन = कञ्चुकिनेत्यर्थः । रामभद्रपरिभूताः—रामभद्रेण परिभूताः = अवमानिताः । परिभूयामहे = अवमन्यामहे ।

अयम्भावः—आः, अस्माकं दुहितुर्निर्दोषतायाः प्रमाणीकरणे कोऽयमग्निर्नाम का नाम अग्नेः शक्तिः ? अग्नौ सीतायाः शुद्धिः इति वदताऽनेन कञ्चुकिना वयं रामेणावमानिता अपि पुनः परिभूयामहे । जन्मतः, कर्मतः चरित्रतश्च परिशुद्धां सीतां गृहान्निष्कास्य रामेणैकतोऽस्माकमवमानः कृत एव, एषः कञ्चुकी तस्याः सीताया अग्नौ शुद्धिरिति प्रलपन् ततोऽपि परिभवत्यस्मानिति जनकोक्तेराशयः ।

दीर्घं निःश्वस्यारुन्धती जनकोक्तिमाकर्ण्य तां समर्थयति—**एवमेतदिति** । एवमेतद् = भवता यदुक्तं तत् सर्वथा सत्यमेव । वत्सां = सीतां प्रति, अग्निरिति परिलघून्यक्षराणि = लाघवोपेतान्यक्षराणि । साऽग्निरिव स्वतः शुद्धा, अग्निस्तस्याः शुद्धिं किं करिष्यति । सीता इत्येव पर्याप्तम् = सीता तु नामसङ्कीर्तनमात्रेण सर्वं जगत् पवित्रीकरोति किन्त्वग्निर्नाममात्रेण कदापि किमपि पवित्रीकर्तुं न समर्थः, अपि तु दाहादिनैव तथाकर्तुं क्षमो भवति, तस्मादुभयोस्तुलना नैव सम्भवति, अतः पावनत्वे 'सीता' इत्येव पर्याप्तम् ।

अन्वयः—मम शिशुर्वा शिष्या वा यदसि तत् तथा तिष्ठतु । विशुद्धेः उत्कर्षः तु

परिभूताः—परि + भू + क्त (कर्मणि) । परिभूयामहे—परि + √भू + कर्मणि लट् (महिङ्) ।

जनक—(क्रोध सहित) आः ! हमारी सन्तान की परिशुद्धि के विषय में यह अग्नि नाम का कौन है ? कष्ट की बात है, ऐसा कहने वाले व्यक्ति के द्वारा राम से अपमानित होकर भी हम पुनः अपमानित किये जा रहे हैं ।

अरुन्धती—(लम्बी साँस लेकर) यही बात है । पुत्री (सीता) के सम्बन्ध में 'अग्नि' ये अक्षर अत्यन्त स्वल्प हैं । (पावनता के विषय में) 'सीता' यही पर्याप्त है । हा पुत्री !

कोऽयमग्नि .... परिशोधने—जनक का अभिप्राय है कि सीता जी पवित्रतम हैं । उनके विषय में अग्निशुद्धि की बात करना यह उनका अपमान है ।

कौसल्या—अहो ! उम्मीलंति वेअणाओ। (इति मूर्च्छन्ति) [अहो ! उन्मीलन्ति वेदनाः।]

जनकः—हा कष्टं, किमेतत् ?

अरुन्धती—राजर्षे ! किमन्यत् ?

त्वयि मम भक्तिं द्रढयति। शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु, ननु जगतां वन्द्या असि। गुणिषु गुणाः पूजास्थानं न च लिङ्गं न च वयः ॥ ११ ॥

ततोऽरुन्धती सीतां सम्बोध्य तद्विषये स्वविचारान् प्रकाशयति—शिशुर्वेति। विशुद्धेः=पवित्रतायाः। उत्कर्षः=अतिरेकः। भक्तिम्=पूज्यत्वबुद्धिम्। द्रढयति=दृढीकरोति। 'जनयति' इति पाठे उत्पादयतीत्यर्थः। स्त्रैणम्=स्त्रीत्वम्। पूजास्थानम्—पूजायाः=समादरस्य, स्थानम्=आस्पदम्, प्रयोजको हेतुरित्यर्थः। लिङ्गम्=स्त्रीत्वपुंस्त्वादिकम्, जटोपवीतादिकं वा। वयः=वृद्धत्वादिरवस्था।

अयम्भावः—हा वत्से ! त्वं मम शिशुर्वा शिष्या वा यदसि तत् तथा तिष्ठतु, तेन शिशुत्वेन शिष्यात्वेन वा नात्र किमपि कार्यम्। परं त्वयि निर्दोषताया योऽतिरेकोऽस्ति स त्वयि मम पूज्यत्वबुद्धिं द्रढयति। शिशुत्वं स्त्रीत्वं वा भवतु, किन्तु निश्चयेन समस्तलोकानां त्वं वन्द्याऽसि, त्वन्निष्ठेन शिशुत्वेन स्त्रीत्वेन वा न वन्द्यात्वहानिः। अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ ११ ॥

कौसल्या—वेदनाः=व्यथाः। उन्मीलन्ति=विकसन्ति, आविर्भवन्तीत्यर्थः। 'समुन्मूलयन्ति' इति पाठे मूलमुत्पाटयन्तीत्यर्थः।

शिष्या—√शास्+क्यप्+टाप्। भक्तिः—√भज्+क्तिन् (स्त्रियां भावे)। द्रढयति—दृढ+णिच् ('तत्करोति तदाचष्टे')+लट्, ऋकार को रभाव ('रऋतो हलादेर्लघोः') स्त्रैणम्—स्त्रिया भावः, स्त्री+नञ् ('स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्')। वन्द्या—√वन्द्+ण्यत्।

तुम बालिका अथवा शिष्या जो भी तुम मेरी हो वह (सम्बन्ध) वैसा ही रहे। किन्तु निर्दोषता का जो आधिक्य है, वह तुममें मेरी भक्ति को दृढ़ करता है। तुममें बालभाव हो या स्त्रीभाव, तुम संसार की वन्दनीया हो। गुणियों में गुण ही पूजा के कारण होते हैं, स्त्रीत्व, पुंस्त्वादि और वृद्धत्वादि अवस्था नहीं ॥ ११ ॥

कौसल्या—अहो ! वेदनाएँ पैदा हो रही हैं **(ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाता है)।**

जनक—हाय, शोक है। यह क्या हो गया ?

अरुन्धती—हे राजर्षि ! और क्या होता ?

कालिदास ने भी कहा है—'स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा, वृत्तं हि महितं सताम्' (रघुवंश, ३।८२)। 'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते' (कुमारसम्भव ५।१६)। 'न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते' (कुमारसंभव ५।१६)

स राजा तत्सौख्यं स च शिशुजनस्ते च दिवसाः
स्मृताविर्भूतं त्वयि सुहृदि दृष्टे तदखिलम्।
विपाके घोरेऽस्मिन्नथ खलु विमूढा तव सखी
पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति॥ १२॥

अन्वयः—स राजा, तत् सौख्यम्, स च शिशुजनः, ते च दिवसाः, सुहृदि त्वयि दृष्टे तत् अखिलम् आविर्भूतम्। अथ अस्मिन् घोरे विपाके तव सखी विमूढा खलु। पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं भवति हि ॥ १२ ॥

'आविर्भवन्ति वेदनाः' इत्युक्त्वा मोहं गतां कौसल्यामवलोक्य, 'हन्त ! किमेतत्' इति पृष्टवन्तं जनकमुद्दिश्यारुन्धती प्राह—स राजेति। स राजा=दशरथ इत्यर्थः। शिशुजनः=सीतारामादिः। सुहृदि=सम्बन्धिनि। स्मृतौ=स्मरणपथे। आविर्भूतम्=सम्प्राप्तम्। अथ=स्मरणानन्तरम्। विपाके=परिणामे, रामकर्तृकसीतापरित्यागरूपे। सखी=कौसल्या। विमूढा=मूर्च्छिता। पुरन्ध्रीणाम्=कुलस्त्रीणाम्। चित्तं=चेतः। कुसुमसुकुमारम्=पुष्पसदृशकोमलं भवति।

अयम्भावः—राजर्षे ! किमन्यद् भवेत् ? स परमप्रतापी विश्वविश्रुतो राजा दशरथः, तत् पूर्वानुभूतं सुखम्, स च सीतारामादि शिशुजनः, ते च सर्वसुखमया दिवसाः, त्वयि सुहृदि दृष्टे सति तत्समस्तं वृत्तं स्मृतिपथमुपगतम्। स्मरणानन्तरमस्मिन्ननुभूयमाने रामकर्तृकसीतापरित्यागरूपे दारुणे दशाविपर्यासे तव सखी कौसल्या निश्चयेन मूर्च्छां गता, यतः कुलवधूनां चेतः पुष्पमिव कोमलं भवति।

अत्र सामान्येन पुरन्ध्रीचित्तेन सार्द्धं विशेषस्य कौसल्याचेतसः कुसुमसुकुमारतया सोपपत्तीकरणात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। अपि च तद् राजसंस्मरणरूपेणैकेन कारणेन कौसल्यायाः विमूढीभवनस्य सम्पद्यमानत्वेऽपि तत्सौख्यरूपाणां कारणान्तराणां खले कपोतिकान्यायात् तत्साधकत्वेन समावेशात् समुच्चया-

---

विमूढा—वि + √मुह् + क्त + टाप्।

वे राजा (दशरथ), वह सुख, वह बालसमुदाय और वे दिन, वह सभी तुझ प्रिय सुहृद् को देख कर स्मृतिपथ में आ गया। इसके बाद इस भयंकर दशाविपर्यास में तुम्हारी सखी मूर्च्छित हो गयी है, क्योंकि कुलाङ्गनाओं का चित्त पुष्प के समान सुकुमार होता है ॥ १२ ॥

पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारम्—तुलना कीजिए—'आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानाम्, सद्यःपातिप्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि।' (मेघ० १०)

इस पद्य में 'कुलाङ्गनाओं का चित्त पुष्प के समान कोमल होता है' इस सामान्य अर्थ के द्वारा साधर्म्य के आधार पर कौसल्या के चित्त की पुष्पसुकुमारता रूप विशेष अर्थ का समर्थन होने से 'अर्थान्तरन्यास' अलङ्कार है; तथा कौसल्या के विमूढ़ होने में साधक रूप से राजा का स्मरण रूप एक कारण पर्याप्त होने पर भी 'खले कपोतिकान्यायेन' सुखादि अन्य कारणों का भी साधक रूप में समावेश होने से 'समुच्चय' अलङ्कार है और 'कुसुमसुकुमारम्' के द्वारा कुसुम के साथ चित्त की समता का कथन होने से लुप्तोपमा अलंकार है। ये तीनों अलंकार परस्पर सापेक्ष हैं अतएव 'संकर' हुआ।

जनकः—हन्त ! हन्त ! सर्वथा नृशंसोऽस्मि । यश्चिरस्य दृष्टान् प्रियसुहृदः प्रियान् दारान्न स्निग्धं पश्यामि ।

स सम्बन्धी श्लाघ्यः प्रियसुहृदसौ तच्च हृदयं
स चानन्दः साक्षादपि च निखिलं जीवितफलम् ।
शरीरं जीवो वा यदधिकमतोऽन्यत्प्रियतरं
महाराजः श्रीमान् किमिव मम नासीद् दशरथः ॥ १३ ॥

लङ्कारः; कुसुमेन साकं चित्तस्य समासेन अवैधर्म्यसाम्योपदेशाच्च लुप्तोपमालङ्कारः । एतेषां तु परस्परसापेक्षतया संस्थितेः सङ्करः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १२ ॥

कौसल्यां मूर्च्छितामवलोक्य **जनकः** पश्चात्तापं कुर्वन् प्राह—**हन्तेति** । महान् खेदः, हन्तेति खेदे; सर्वथाऽहं नृशंसोऽस्मि = क्रूरोऽस्मि, यश्चिरस्य = बहुकालानन्तरं, दृष्टां प्रियसुहृदः = प्रियमित्रस्य दशरथस्य, प्रियान् दारान् = प्रियां पत्नीं, स्निग्धं = सस्नेहं, न पश्यामि = अवलोकयामि ।

अन्वयः—सः श्लाघ्यः सम्बन्धी, असौ प्रियसुहृद्, तच्च हृदयम्, स च साक्षादानन्दः, अपि च निखिलं जीवितफलम् शरीरं जीवः वा अतोऽधिकं प्रियतरं यत् अन्यत् (तदपि), श्रीमान् महाराजः दशरथः मम किमिव न आसीत् ॥ १३ ॥

पुनरपि जनकः दशरथस्य प्रीतिभावं स्मरन्नाह—**स सम्बन्धीति** । सः = दशरथः । श्लाघ्यः = प्रशस्यः । सम्बन्धी = जामातुःपिता । असौ = दशरथः । प्रियसुहृत् = प्रेमास्पदं मित्रम् । तत् = स दशरथ इत्यर्थः (विधेयप्राधान्यात् क्लीबत्वम्) साक्षात् = मूर्तिमान् । अपि च = अन्यच्च । किमिव नासीत् = सर्वमेवासीदिति भावः । इवेति वाक्यालङ्कारे ।

अयम्भावः—स मम प्रशस्यः सम्बन्धी (कन्यायाः श्वशुरः), प्रेमास्पदं मित्रम्, मम विश्वस्तं हृदयम्, मूर्तिमान् आनन्दः, जीवनस्य सुफलम्, मम शरीरं, जीवः, जीवादप्यधिकं प्रियतरं यत् अन्यत् किमपि वस्तु भवितुमर्हति तदपि (मे आसीत्), श्रीमान् महाराजो दशरथो मम किमिव नासीत् ? सर्वमेवासीदिति भावः । एवंविधस्य प्रियसुहृदो धर्मपत्नीं स्नेहरहितेन चक्षुषा पश्यन्नहं सर्वथा नृशंसोऽस्मीति धिङ् मां पापिनम् ।

नृशंसः—नॄन् शंसति नृशंसः—नृ + √शंस् + अच् । सुहृद्—शोभनं हृदयं यस्य स सुहृद्, हृदय को हृद् आदेश ('सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः') । जीवितम्—√जीव् + क्त (नपुंसके भावे) ।

जनक—खेद ! खेद ! मैं सब प्रकार से क्रूर हूँ, जो बहुत दिनों के बाद दीख पड़ी प्रिय सुहृद (दशरथ) की प्रिय पत्नी को स्नेह भाव से नहीं देखता हूँ ।

वे मेरे प्रशस्य समधी थे, वे मेरे हृदय थे, वे मूर्तिमान् आनन्द थे, वे मेरे जीवन के फल थे, वे मेरे शरीर थे, जीवात्मा थे, इससे भी अधिक प्यारा जो कुछ और हो सकता है, वह भी थे । श्रीमान् महाराज दशरथ मेरे क्या नहीं थे ! ॥ १३ ॥

कष्टमियमेव सा कौसल्या ।

यदस्याः पत्युर्वा रहसि परमं दूषितमभू-
दभूवं दम्पत्योः पृथगहमुपालम्भविषयः ।
प्रसादे कोपे वा तदनु मदधीनो विधिरभू-
दलं वा तत्स्मृत्वा दहति यदवस्कन्द्य हृदयम् ॥ १४ ॥

अत्रैकस्मिन्नेव दशरथे हृदयजीवितफलशरीरजीवत्वानां तादात्म्येनाभेदारोपान्निरङ्गं **मालारूपकम**लङ्कारः; अपि च आनन्दस्य मूर्तत्त्वासम्बन्धेऽपि साक्षाच्छब्देन तथात्वोक्तेरसम्बन्धे **सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर**लङ्कारः । अपि च शरीराद् हृदयात् जीवनाच्चाधिकप्रियवस्तुनोऽभावात् तदसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेस्**तथैवातिशयोक्तिश्च**; एवं 'किमिव नासीदि'ति वाक्यार्थं प्रति प्रागुपात्तवाक्यार्थानां हेतुभूततयोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं **काव्यलिङ्गम**लङ्कारः; आनन्दजनकस्य दशरथस्य—आनन्दरूपतयाऽभिधानाद् हेतोर्हेतुमता सहाभेदोक्तेर्**हेतुर**लङ्कारश्च । इत्येवं मालारूपकातिशयोक्तिकाव्यलिङ्गहेत्वलङ्काराणां परस्परसापेक्षतया संस्थितेः सङ्करः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १३ ॥

जनकः कौसल्यां निरीक्ष्याह—**कष्टमिति** । कष्टम् ! इयमेव सा कौसल्या=दशरथधर्मपत्नी ।

अन्वयः—अस्याः पत्युः वा रहसि यत् परमं दूषितम् अभूत् (तत्र) दम्पत्योः पृथक् उपालम्भविषयः (अहमेव) अभूवम् । तदनु प्रसादे कोपे वा विधिः मदधीनः अभूत्, वा तत्स्मृत्वा अलम्, यद् हृदयम् अवस्कन्द्य दहति ॥ १४ ॥

यदस्या इति । अस्याः=कौसल्यायाः । पत्युः=दशरथस्य । रहसि=एकान्ते । परमम्=महत् । दूषितम्=दोषः, प्रणयापराधः । दम्पत्योः=कौसल्यादशरथयोः । पृथक्=विभिन्नं यथा तथा । उपालम्भविषयः=दुर्वाक्यकथनपात्रम् । विधिः=

दम्पत्योः—जाया च पतिश्चेति दम्पती, तयोः । जाया शब्द के 'दम्' भाव अथवा 'जम्' भाव निपातन से होता है; इस प्रकार 'दम्पती' और 'जम्पती' दोनों प्रकार का प्रयोग होता है । अलं स्मृत्वा—'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' सूत्र के अनुसार प्रतिषेधार्थक 'अलम्' के योग में 'स्मृ' धातु से क्त्वा प्रत्यय । अवस्कन्द्य—अव + √स्कन्द् + ल्यप् ।

कष्ट है, यही वह कौसल्या है—

इसका अथवा इसके पति का एकान्त में जो भारी प्रणयापराध होता था (उसके विषय में) पति-पत्नी दोनों के अलग-अलग उपालम्भ का पात्र मैं ही होता था । उसके बाद प्रसन्न करने अथवा कुपित करने में व्यवस्था मेरे अधीन थी । अथवा उस बीती बात को याद करना बेकार है, जो हृदय को आक्रान्त कर जलाती है ॥ १४ ॥

इस पद्य से जनक और दशरथ की घनिष्ठ मित्रता पर प्रकाश डाला गया है । इससे पता चलता है कि दोनों कितने अभिन्नहृदय थे ।

परमं दूषितम्—पाठा०—परमन्त्रायितम्=गुप्तभाषणं विचारो वा ।

अरुन्धती—हा कष्टम् ! अतिचिरनिरुद्धनिःश्वासनिष्पन्दं हृदयमस्याः ।

जनकः—हा प्रियसखि ! (इति कमण्डलूदकेन सिञ्चति)

कञ्चुकी—

सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदः प्रथममेकरसामनुकूलताम् ।
पुनरकाण्डविवर्तनदारुणो विधिरहो विशिनष्टि मनोरुजम् ॥ १५ ॥

व्यापारः । तत्=अतीतं वृत्तम् । स्मृत्वा अलम्=तत्स्मरणेन अलम्, किञ्चित्साध्यं नास्तीत्यर्थः । यत्=अतीतं वृत्तं स्मृतं सत् । अवस्कन्द्य=आक्रम्य । दहति=तापयति ।

अयम्भावः—पूर्वसमयेऽस्याः पत्युर्दशरथस्य वा कोऽपि प्रणयापराध एकान्तेऽभूत् तदा पृथक् पृथग् द्वयोरहमेवोपालम्भविषयोऽभूवम्, दशरथकृतापराधे कौसल्या 'त्वदीयोऽयं सखा मह्यमेवमपराध्यति' इति मां प्रत्यवोचत्, कौसल्याकृतापराधे दशरथः 'त्वदीयेयं सखी मह्यमेवमपराध्यति' इति मां प्रत्यवोचत् । तदुपालम्भश्रवणानन्तरं प्रसन्नतायां कोपे वा दम्पत्योः, व्यापारो मदायत्तोऽभूत्, तौ मिथः कोपयितुं प्रसादयितुं वाऽहमेव समर्थोऽभूवम् । अथवाऽलं तदतीतवृत्तस्मरणेन, अतीतवृत्तं स्मृतं सद् हृदयमाक्रम्य सन्तापयति ।

अत्र दूषितत्वरूपकारणस्य दम्पत्योः स्थितत्वेन, उपालम्भरूपकार्यस्य च जनकगतत्वेन कार्यकारणयोर्भिन्नदेशगतत्वादसङ्गतिरलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ १४ ॥

कौसल्यावस्थां निरीक्ष्यारुन्धती सखेदमाह—हा इति । हा कष्टम् ! अतिचिरनिरुद्ध०—अतिचिरम्=बहुकालपर्यन्तम्, निरुद्धाः=सञ्चाररहिताः, निःश्वासाः=प्राणवायवः, तैः निष्पन्दम्=निश्चेष्टम् । 'निष्ठुरमि'ति पाठे कठोरं निश्चलमित्यर्थः । अस्याः=कौसल्यायाः । बहुकालपर्यन्तं निःश्वासस्य सञ्चारराहित्येनास्या हृदयं निश्चेष्टम्, अद्यापि नायाति चेतनेति भावः ।

राजा जनकः 'हा प्रियसखि' इति सखेदं सम्बोध्य कमण्डलूदकेन=कमण्डलुजलेन, कौसल्यां सिञ्चति ।

प्रकटय्य—प्र+√कट्+णिच्+ल्यप् । सुखप्रदः—प्रकर्षेण ददातीति प्रदः, प्र+√दा+क (आतश्चोपसर्गे), सुखस्य प्रदः इति सुखप्रदः । अनुकूलताम्—अनुकूलस्य भावः, अनुकूल+तल्+टाप् । विवर्तनम्—वि+√वृत्+ल्युट् । विशिनष्टि—वि+√शिष् (रुधादिगणीय)+लट् (तिप्) ।

अरुन्धती—हाय कष्ट है । बहुत समय तक रुके हुए श्वास के कारण इसका हृदय निष्पन्द (निश्चल) है ।

जनक—हाय प्रियसखी ! **(ऐसा कह कर कमण्डलु के जल से सींचते हैं)**

कञ्चुकी—अहो ! विधाता मित्र के समान पहले एकरस अनुकूलता प्रकट कर सुखप्रद (होता हुआ) पुनः असमय में परिवर्तन के कारण कठोर (होता हुआ) मनोव्यथा को बढ़ाता है ॥ १५ ॥

यह पद्य मालतीमाधव (४।७) में भी आया है ।

कौसल्या—(आश्वस्य) हा वच्छे जाणइ, कहिं सि ? सुमरामि दे णव-विवाहलच्छीपरिग्गहेक्कमंडनं पप्फुरंतसुद्धविहसिदं मुद्धमुहपुंडरीअं। आप्फुरंत-चंदचंदिआ सुंदरेहिं अंगेहिं पुणो वि मे जादे उज्जोएहि उच्छंगं। सव्वदा महाराओ भणादि एसा रहुउलमहत्तराणं वहू अम्हाणं दु जण अमुदा दुहिदेव्व। [हा वत्से जानकि ! कुत्रासि ? स्मरामि ते नवविवाहलक्ष्मीपरिग्रहैकमण्डनं प्रस्फुरच्छुद्धविहसितं मुग्धमुखपुण्डरीकम्। आस्फुरच्चन्द्रचन्द्रिकासुन्दरैरङ्गैः पुनरपि मे जाते उद्योतयोत्सङ्गम्। सर्वदा महाराजो भणति एषा रघुकुलमहत्तराणां वधूरस्माकं तु जनकसुता दुहितैव।]

अन्वयः—अहो विधिः प्रथमं सुहृदिव एकरसाम् अनुकूलतां प्रकटय्य सुखप्रदः (सन्) पुनः अकाण्डविवर्तनदारुणः (सन्) मनोरुजं विशिनष्टि ॥ १५ ॥

कञ्चुकी गृष्टिस्तथाविधां कौसल्यां विलोक्य विधिविचेष्टितं निन्दति—**सुहृदिवेति**। अहो ! इति आश्चर्ये। विधिः = विधाता। प्रथमम् = पूर्वम्। सुहृदिव = मित्रमिव। एकरसाम्—एकः-एकविधः, अपरिवर्तित इत्यर्थः, रसः=आस्वादः, यस्यास्तथाविधाम्। प्रकटय्य = प्रदर्श्य। अकाण्डविवर्तनदारुणः—अकाण्डे = अनवसरे, विवर्तनेन = परि-वर्तनेन, दारुणः = भीषणः। मनोरुजम् = मनोव्यथाम्। विशिनष्टि = वर्धयति।

अयम्भावः—अहो ! विधिः पूर्वं सुहृदिव एकरसां सुखमयीमनुकूलतां प्रदर्श्य सुखप्रदः सन् पुनरनवसरे परिवर्तनेन भीषणः सन् मनोव्यथां वर्धयति। अहो ! विधि-विलसितमेतत्।

अत्र विधिना विरूपयोः सुखदुःखयोरेकत्र सङ्घटना प्रदर्शितेति विषमालङ्कारः; अपि चैकस्य विधेः अनुकूलतायाः मनोरुजश्च जनकत्वेन एकस्य अनेकत्र गोचरतया पर्यायालङ्कारः, 'सुहृदिव' इत्युपमालङ्कारश्च, एतेषां परस्परसापेक्षतया स्थितेः सङ्करः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ १५ ॥

आश्वस्य **कौसल्या प्राह—हा वत्से जानकीति**। नवविवाहलक्ष्मीपरिग्रहैकमण्डनम्—नवा या विवाहलक्ष्मीः = विवाहजनितशोभा, तस्याः परिग्रहः = स्वीकारः, एव एकं = प्रधानं, मण्डनम् = भूषणं, यस्य तथाविधम्। प्रस्फुरच्छुद्धविहसितम्—प्रस्फुरत् = विकसत्, शुद्धम् = सरलम्, विहसितम्=हासः, यस्मिन् तादृशम्। 'आरोहत्कौमुदीचन्द्र-

---

परिग्रहः—परि + √ग्रह् + अप्। प्रस्फुरत्—प्र + √स्फुर् + शतृ। उद्योतय—उद् + √द्युत् + णिच् + लोट् (सिप्)।

कौसल्या—(चेतना प्राप्त कर) हा पुत्रि जानकि ! तुम कहाँ हो ? तुम्हारे नये विवाह की शोभा का धारण रूप प्रधान भूषण वाले, खिलते हुए नैसर्गिक हास से युक्त, सुन्दर भोले-भाले मुखकमल को याद करती हूँ। हे पुत्रि ! चारों ओर प्रकाशमान चन्द्रमा की चाँदनी के समान सुन्दर अङ्गों से मेरी गोद को पुनः भी प्रकाशित करो। महाराज (दशरथ) सदा कहा करते थे कि यह जनकपुत्री रघुकुल के (अन्य) बड़े-बूढ़ों के लिए बहू है, किन्तु हमारी पुत्री ही है।

कञ्चुकी—यथाह देवी—

पञ्चप्रसूतेरपि तस्य राज्ञः प्रियो विशेषेण सुबाहुशत्रुः।
वधूचतुष्केऽपि यथैव शान्ता, प्रियातनूजास्य तथैव सीता ॥ १६ ॥

सुन्दरम्' इति पाठे—कौमुद्याश्चन्द्रः कौमुदीचन्द्रः। आरोहंश्चासौ कौमुदीचन्द्रः=आरोहत्कौमुदीचन्द्रः—प्रादुर्भवन् चन्द्रिकायां द्योतमानश्चन्द्र इत्यर्थः, स इव सुन्दरम्। मुग्धमुखपुण्डरीकम्—मुग्धम्=मनोहरम्, मुखपुण्डरीकम्=मुखकमलम्। जाते=वत्से। आस्फुरच्चन्द्रचन्द्रिकासुन्दरैः—आस्फुरन्ती=समन्तात् प्रकाशमाना या चन्द्रस्य चन्द्रिका तद्वत् सुन्दरैः। उत्सङ्गम्=अङ्कम्। उद्योतय=प्रकाशय। महत्तराणाम्=पूज्यपूर्वजानाम्। वधूः=स्नुषा। दुहिता=कन्या।

अयम्भावः—हा पुत्रि! सीते! कुत्रासि त्वम्? अहमिदानीमपि तवाभिनवविवाहजनितशोभासमन्वितं विकसत्सरलहासयुक्तं मुग्धं मुखकमलं स्मरामि। पुत्रि! समन्तात् प्रकाशमानचन्द्रचन्द्रिकासुन्दरैरङ्गैर्ममोत्सङ्गमुपवेशनेन भूयोऽपि प्रकाशितं कुरु। महाराजो दशरथस्त्वद्विषये सर्वदा कथयति स्म—'इयं जानकी रघुकुलपूर्वजानां महापुरुषाणां पुत्रवधूः, अस्माकं तु पुत्र्येवेति।

कञ्चुकी कौसल्यावचनं समर्थयति—यथाऽऽह देवी=देवी कौसल्या यथा कथयति तथैव।

अन्वयः—पञ्चप्रसूतेः अपि तस्य राज्ञः सुबाहुशत्रुः विशेषेण प्रियः, वधूचतुष्केऽपि यथैव अस्य तनूजा शान्ता प्रिया तथैव सीता ॥ १६ ॥

पञ्चप्रसूतेरिति। पञ्चप्रसूतेः—पञ्च प्रसूतयः=अपत्यानि, यस्य तथाविधस्य। सुबाहुशत्रुः—सुबाहुः=तन्नामा मारीचसहचरो राक्षसः, तस्य शत्रुः=निहन्ता, रामः। वधूचतुष्केऽपि=सीतादि स्नुषाचतुष्टयेऽपि। तनूजा=कन्या।

अयम्भावः—राज्ञो दशरथस्य रामादयश्चत्वारः पुत्राः, शान्ता च ज्येष्ठा कन्येति पञ्च सन्ततय आसन्, किन्तु तेषु सुबाहुशत्रुः रामो विशेषेण नृपस्य प्रिय आसीत्। सीतादिषु चतसृषु वधूष्वपि राज्ञो दशरथस्य सीता तथैव प्रियाऽऽसीत् यथा तस्य पुत्री शान्ता।

अत्र सीतारामरूपयोः प्रस्तुतयोः पदार्थयोरासीदिति एकयैव क्रियया अभिसम्बन्धात्

प्रसूतिः—प्र+√सू (प्राणिगर्भविमोचने)+क्तिन्। विशेषेण—'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' वार्तिक के अनुसार तृतीया। चतुष्कः—चतस्रः परिमाणमस्येति चतुष्कः, संघ के अर्थ में संख्यावाची 'चतुर्' शब्द से 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' (५।१।५८) के अनुसार कन् प्रत्यय।

कञ्चुकी—देवी जैसा कहती हैं (वैसा ही है)।

पाँच सन्तानों वाले भी राजा (दशरथ) को सुबाहुशत्रु (राम) विशेष रूप से प्यारे (थे), चारों बहुओं में भी सीता उन्हें वैसी ही प्यारी (थी) जैसी पुत्री शान्ता ॥ १६ ॥

पञ्चप्रसूतेः—राजा दशरथ के रामादि चार पुत्रों के अतिरिक्त शान्ता नामक ज्येष्ठ कन्या भी थी, जिसे लोमपाद राजा ने गोद ले लिया था तथा जो ऋष्यशृङ्ग को ब्याही गयी थी। इसलिए यहाँ राजा दशरथ को पञ्चप्रसूति (पाँच सन्तानों वाला) कहा गया है।

जनकः—हा प्रियसख महाराज दशरथ ! एवमसि सर्वप्रकारहृदयङ्गमः, कथं विस्मर्यसे ?

कन्यायाः किल पूजयन्ति पितरो जामातु राप्तं जनं
सम्बन्धे विपरीतमेव तदभूदाराधनं ते मयि।
त्वं कालेन तथाविधोऽस्यपहृतः सम्बन्धबीजं च तद्
घोरेऽस्मिन् मम जीवलोकनरके पापस्य धिग्जीवितम् ॥ १७ ॥

तुल्ययोगितालङ्कारः । शान्तया सह सीतायाः साम्यकथनादुपमा च, इत्यनयोः परस्परसापेक्षतया स्थितेः सङ्करः । उपजातिर्वृत्तम् ॥ १६ ॥

महाराजं दशरथं स्मरन् जनकः प्राह—हा प्रियसख इति । हा प्रियसुहृद् महाराज दशरथ ! एवं त्वं सर्वप्रकारहृदयङ्गमः = सकलधर्मैर्मम प्रियोऽसि, त्वं कथं = केन प्रकारेण, विस्मर्यसे = विस्मरामि ?

अन्वयः—कन्यायाः पितरः जामातुः आप्तं जनं पूजयन्ति, किल, सम्बन्धे मयि ते तत् आराधनं विपरीतमेव अभूत् । तथाविधः त्वं कालेन अपहृतः, तत् सम्बन्धबीजं च (अपहृतम्) घोरे अस्मिन् जीवलोकनरके पापस्य मम जीवितं धिक् ॥ १७ ॥

कन्याया इति । पितरः = पितृपक्षीयाः । जामातुः = वरस्य । आप्तं जनम् = बन्धुजनम् । किल = प्रसिद्धम् । सम्बन्धे = आवयोः वैवाहिके सम्बन्धे स्थापिते । मयि = जनके । आराधनम् = पूजनम् । विपरीतम् = लोकप्रसिद्धिविरुद्धम् । सम्बन्धबीजम् = सम्बन्धहेतुः, सीतेत्यर्थः । जीवलोकनरके—जीवलोकः = मनुष्यलोकः, नरक इव = दुःखहेतुत्वान्निरय इव, तस्मिन् । जीवितम् = जीवनं धिक् ।

अयम्भावः—कन्यायाः पितृपक्षीया वरस्य बन्धुजनान् सम्मानयन्तीति लोके प्रसिद्धम् किन्त्वावयोर्वैवाहिकसम्बन्धे जातें तव तत् पूर्वाचरितं पूजनं मयि जनके लोकप्रसिद्धिविरुद्धमेवाभूत्, वरपिता सन्नपि त्वं सरलतया लोकप्रसिद्धिविरुद्धरूपेण मां कन्यापितरमेव पूजयसि स्म । तथाविधस्त्वं कालेन नाशितः, आवयोः सम्बन्धकारणं सीताख्यं चापहृतम् । दारुणेऽस्मिन् जीवलोकनरके पापात्मकस्य मम जीवनं धिगिति भावः ।

हृदयङ्गमः—हृदयं गच्छतीति हृदयङ्गमः, 'गमेः सुप्युपसङ्ख्यानम्' वार्तिक से खच् प्रत्यय, खित् होने से 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' सूत्र के अनुसार मुम् का आगम । विस्मर्यसे—वि + √स्मृ + लट् (कर्मणि) । धिग्जीवितम्—धिक् के योग में द्वितीया ।

जनक—हा प्रियसुहृद् महाराज दशरथ ! इस प्रकार आप सर्वात्मना मेरे हृदय में बसने वाले (प्रिय) हो गये हैं । आप कैसे भुलाये जा सकते हैं ?

(सामान्यतः लोक की प्रसिद्ध रीति है) कन्या के पिता आदि लोग जामाता के आत्मीय जनों का सम्मान करते हैं, परन्तु हम दोनों का सम्बन्ध हो जाने पर मेरे विषय में आपका वह सम्मान (इस लोकव्यवहार के सर्वथा) विपरीत था (मैं आपका सम्मान करूँ, इसके स्थान में आप ही मेरा स्वागत-सत्कार करते थे ।) किन्तु ऐसे आप सज्जन काल के द्वारा (हमसे) छीन लिये गए और सम्बन्ध का मूल कारण (सीता) भी छीन लिया गया । अब इस दारुण संसार रूपी नरक में मुझ पापी के जीवन को धिक्कार है ॥ १७ ॥

कौसल्या—जादे जाणइ, किं करोमि ? दिढवज्जलेवघडिअबंधणिच्चलं हदजीविदं मं मंदभाइणीं ण पडिच्चअदि। [जाते जानकि ! किं करोमि ? दृढवज्रलेपघटितबन्धनिश्चलं हतजीवितं मां मन्दभागिनीं न परित्यजति ।]

अरुन्धती—आश्वसिहि राजपुत्रि ! बाष्पविश्रामोऽप्यन्तरे कर्तव्य एव। अन्यच्च किं न स्मरसि यदवोचदृष्यशृङ्गाश्रमे युष्माकं कुलगुरुर्भवितव्यं तथेत्युपजातमेव किन्तु कल्याणोदर्कं भविष्यतीति।

कौसल्या—कुदो अदिक्कंदमणोरहाए मह एदं ? [कुतोऽतिक्रान्तमनोरथाया ममैतत् ?]

अत्र 'जीवलोकनरके' उपमितसमासेन उपमाऽलङ्कारः। जीवलोके नरकस्याभेदाध्यासान्निरङ्गं रूपकमिति केचित्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १७ ॥

कौसल्या—दृढवज्रलेपघटितबन्धनिश्चलम्—दृढेन = दुरपनेयेन, वज्रलेपेन=बन्धकद्रव्यलेपनेन, घटितः = योजितः, सम्पादित इत्यर्थः, बन्धः = संश्लेषः, तेन निश्चलम् = स्थिरम्।

अयम्भावः—कौसल्या पुनः सीतां स्मरन्ती प्राह—किं करोमि ? पुत्रि सीते ! दृढवज्रलेपेन निबद्धमिव मम निन्द्यजीवनं मन्दभागिनीं मां न परित्यजति।

अरुन्धती—अन्तरे = मध्ये मध्ये। बाष्पविश्रामः = दुःखाश्रुविच्छेदः। कल्याणोदर्कम्—कल्याणम् = मङ्गलम्, उदर्कः = उत्तरफलं यस्य तत् ('उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः)।

अयम्भावः—अतिशयदुःखितां कौसल्यामरुन्धती प्राह—राजपुत्रि ! क्षणमाश्वासनं कृत्वा मध्ये मध्ये दुःखाश्रुविच्छेदस्तु कार्य एव। अपि च ऋष्यशृङ्गाश्रमे भवत्कुलगुरुणा वसिष्ठेन यदुक्तं—'यद् भवितव्यं तत् सञ्जातमेव, किन्तु कल्याणोदर्कं (मङ्गलमुत्तरफलं यस्य तत्) भविष्यति' इति किं न स्मरसि ?

कौसल्या—अतिक्रान्तमनोरथायाः—अतिक्रान्तः = अतीतः, मनोरथः = सीतादर्शनरूपः अभिलाषः, यस्याः तथाविधायाः।

अयम्भावः—नैराश्यं गता कौसल्या कथयति—कुत इति। सीतादर्शनरूपेऽभिलाषे विनाशं गते सति मम मन्दभाग्यायाः कुतः सम्प्रत्येतत् सम्भाव्यते ?

उदर्कः—उदर्क्यते, उदर्च्यते वा, उदृच्यते वा इति उदर्कः। उद् + √अर्क् (स्तवने) + घञ्; अथवा—उद् + अर्च् (पूजायाम्) + घञ्; अथवा—उद् + √ऋच् (स्तुतौ) + घञ्।

कौसल्या—हे बच्ची जानकी ! क्या करूँ ? कड़े वज्रलेप से रचित बन्धन वाला निश्चल (मेरा) निगोड़ा जीवन मुझ अभागिन को नहीं छोड़ रहा है।

अरुन्धती—हे राजपुत्री ! धैर्य धारण करो। बीच में आँसुओं को रोकना भी चाहिए। और भी; क्या स्मरण नहीं करती हो जो कि तुम्हारे कुलगुरु (वसिष्ठ) ने ऋष्यशृङ्ग के आश्रम में कहा था—'जो होना था, वैसा हो ही गया, किन्तु भविष्य में इसका परिणाम मङ्गलमय होगा।'

कौसल्या—(सीता दर्शन रूप) मनोरथ के नष्ट हो जाने पर मेरे लिए यह कैसे सम्भव है ?

अरुन्धती—तत्किं मन्यसे राजपत्नि ! मृषोद्यं तदिति ? न हीदं सुक्षत्रिये ऽन्यथा मन्तव्यम् । भवितव्यमेव तेन ।

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां ये व्याहारास्तेषु संशयो मा भूत् ।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति ॥ १८॥

गुरुवचनेऽप्यविश्वासं ज्ञात्वाऽरुन्धती कौसल्यां प्रत्याह—राजपत्नि ! तत्किं तद्गुरुवचनं मृषोद्यम् = मिथ्यावचनम्, अनृतोक्तिरिति मन्यसे ? हे सुक्षत्रिये ! = शोभने क्षत्रकुले समुत्पन्ने ! इदं = गुरुवचनम्, अन्यथा = अन्यप्रकारम्, मिथ्याभूतं, न मन्तव्यम् = न जानीयाः, तद्गुरुवचनमवश्यमेव भविष्यति, नात्र सन्देहस्त्वया कार्यः ।

अन्वयः—आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां ये व्याहाराः तेषु संशयो मा भूत् । हि एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीः निषक्ता । एते विप्लुतार्थां वाचं न वदन्ति ॥ १८॥

तत्त्वदर्शिनां ब्राह्मणानां वचने सन्देहो न कर्त्तव्य इत्याशयेन कौसल्यां प्राह—**आविर्भूतज्योतिषामिति ।** आविर्भूतज्योतिषाम्—आविर्भूतम् = प्रकाशितम्, ज्योतिः = ब्रह्मतत्त्वं, येषां तथाविधानाम्, कृतब्रह्मसाक्षात्काराणामित्यर्थः । व्याहाराः = उक्तयः । हि = यतः । एषाम् = कृतब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्राह्मणानाम् । वाचि = वचने । भद्रा = मङ्गलरूपा । लक्ष्मीः = सिद्धिः । निषक्ता = संलग्ना, नित्यं सन्निहिता भवति । एते = तथाविधा ब्राह्मणाः । विप्लुतार्थाम्—विप्लुतः = मिथ्याभूतः, अर्थः यस्यास्तादृशीम् । वाचम् = वाणीम् ।

मृषोद्यम्—'मृषा' शब्द के उपपद में रहने पर वद् धातु से कर्म में क्यप् प्रत्यय ('राजसूय-सूर्य-मृषोद्य-रुच्य-कुप्य-कृष्ट-पच्याव्यथ्याः' (३।१।११४) । मृषा + √वद् + क्यप्, सम्प्रसारण । सुक्षत्रिया—क्षतः त्रायते इति क्षत्रः—क्षत् + √त्रै + क । क्षत्रस्यापत्यं (जातिः)—क्षत्रियः, स्त्री चेत् क्षत्रिया, शोभना क्षत्रिया इति सुक्षत्रिया । क्षत्र + घ (इय) ('क्षत्राद् घः') ।

व्याहाराः—वि + आ + √हृ + घञ् । मा भूत्—माङ् का योग होने से लोट् के अर्थ में लुङ् तथा अडागम का अभाव । संशयः—सम् + √शी + अच् । निषक्ता—नि + √सञ्ज् + क्त । विप्लुतः—वि + √प्लु + क्त ।

अरुन्धती—हे राजपत्नी ! तो क्या यह मानती हो कि यह मिथ्यावचन है ? हे सुक्षत्रिये ! इसे झूठ न समझना चाहिए, उसे तो होना ही है (वह होकर ही रहेगा) ।

जिन्हें ब्रह्म का प्रकाश प्रकट हो चुका है, ऐसे तत्त्वदर्शी ब्राह्मणों के जो वचन हैं, उनमें तुम (कौसल्या) को सन्देह नहीं करना चाहिए । इनके वचन में मङ्गलस्वरूपा सिद्धि (लक्ष्मी) नित्य सन्निहित होती है । ये अयथार्थ वचन नहीं बोलते हैं ॥ १८ ॥

भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता—भवभूति ने निम्नलिखित श्रुति को मन में रखकर ऐसा कहा है—'सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रमत । अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ।'

विप्लुतार्थाम्—विप्लुत का अर्थ होता है—इधर-उधर बहा हुआ, डूबा हुआ, निमग्न, बाढ़ग्रस्त । अतः यहाँ अर्थ है—मिथ्या, झूठ, अयथार्थ ।

(नेपथ्ये कलकलः । सर्वे आकर्णयन्ति)

जनकः—अये ! अद्य खलु शिष्टानध्यायः इत्युद्धतं खेलतां वटूनां कलकलः ।

कौसल्या—सुलहसौक्खं दाव बालत्तणं होदि । (निरूप्य) अम्हे हे ! एदाणं मज्झे को एसो रामभद्दस्स कोमारलच्छीसरिसेहिं सावट्ठंभेहिं मुद्धललिदेहिं अंगेहिं अम्हाणं लोअणाइं सीअलावेदि । [सुलभसौख्यं तावद् बालत्वं भवति । अहो ! एतेषां मध्ये क एष रामभद्रस्य कौमारलक्ष्मीसदृशैः सावष्टम्भैर्मुग्धललितैरङ्गैरस्माकं लोचनानि शीतलयति ।]

अयम्भावः—कृतब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्राह्मणानां वचनेषु त्वया (कौसल्यया) सन्देहो न कार्यः, यतस्तत्त्वदर्शिनामेषां ब्राह्मणानां वाचि मङ्गलरूपा लक्ष्मीः (सिद्धिः) नित्यं सन्निहिता वर्तते । एते ब्राह्मणाः कदापि मिथ्यावचनं न वदन्ति । तस्मात् स्वकुलगुरोर्वचने तव संशयः सर्वथाऽनुचित इति भावः ।

अत्र तथाविधब्राह्मणानां व्याहारेष्वसंशयितत्वरूपकार्यस्य तद्गताविप्लुतत्वरूपकारणेन समर्थनात् कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः । शालिनी वृत्तम् ॥ १८ ॥

(नेपथ्ये क्रीडतां ब्रह्मचारिणां कलकलो जायते, तं सर्वे आकर्णयन्ति=शृण्वन्ति ।)

जनकः—अये ! अद्य शिष्टजनानां समागमेनाश्रमेऽनध्यायो जातः खलु, तस्मात् सर्वे बटवः उच्छृङ्खलभावेन खेलन्ति, तेषामेवायं कलकलः=कोलाहलः श्रूयते ।

कौसल्या—बालत्वं सुलभसौख्यं—सुलभं सौख्यं यस्मिंस्तत्, भवति, अस्यामवस्थायां क्रीडाकौतुकादिभिर्विविधैः साधनैः सुखं सम्प्राप्यते । (निरूप्य=सम्यङ्

अनध्यायः—नञ् + अधि + √इ + घञ् । उद्धतम्—उद् + √हन् + क्त । अवष्टम्भः—अव + √स्तम्भ् + घञ् । 'अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः' (८।३।६८) सूत्र से 'अव' उपसर्ग से परे 'आलम्बन' के अर्थ में 'स्तम्भ' के स् को मूर्धन्य (ष्) हो जाता है । कौमारम्—कुमारस्य भावः, कुमार + अण् । शीतलयति—शीतलानि करोति, 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् ।

(नेपथ्य में कोलाहल होता है; सब सुनते हैं)

जनक—अरे ! आज निश्चय ही शिष्टजनों के आ जाने से (आश्रम में) अनध्याय है, अतः अनियन्त्रित भाव से खेलते हुए ब्रह्मचारियों का कोलाहल हो रहा है ।

कौसल्या—बचपन वास्तव में सुलभ सुखवाला होता है । **(भली-भाँति देखकर)** आश्चर्य है, इनके बीच में यह कौन (बटु) है, जो रामभद्र के शैशवकालीन सुषमा के समान प्रतीत होने वाले, सुगठित, मनोज्ञ एवं सुकुमार अङ्गों से हमारे नेत्रों को शीतल करता है ।

शिष्टानध्यायः—पाठा०—शिष्टानध्ययनः—यहाँ 'दिवसः' का अध्याहार करना पड़ेगा—शिष्टनिमित्तकमनध्ययनं यस्मिन् तथाविधो दिवसः ।

सावष्टम्भैः—अवष्टम्भ का अर्थ होता है—शरीर के अवयवों की विशेष ढंग से हुई संरचना ('अवष्टम्भस्तु संस्थानविशेषे गर्वतोषयोः') । अवष्टम्भेन सह इति सावष्टम्भानि तैः, अर्थात् सुगठित, उत्कृष्ट, शानदार ।

अरुन्धती—(अपवार्य सहर्षबाष्पम्) इदं नाम तद् भागीरथीनिवेदितरहस्यं कर्णामृतम्। न त्वेवं विद्मः कतरोऽयमायुष्मतोः कुशलवयोरिति। (प्रकाशम्)—

कुवलय दलस्निग्धश्यामः शिखण्डकमण्डनो
वटुपरिषदं पुण्यश्रीकः श्रियेव सभाजयन्।

निरीक्ष्य) अहो ! इत्याश्चर्ये; एषां वटूनां मध्ये क एष वटुः, यो रामभद्रस्य कौमारलक्ष्मीसदृशैः = शैशवसुषमोपेतैः, सावष्टम्भैः = सुघटितैः, मुग्धललितैः = मनोज्ञैः कोमलैः शरीरावयवैरस्माकं = वः, नेत्राणि = नयनानि, शीतलयति = शीतलानि करोति ?

अरुन्धती सहर्षबाष्पम् = हर्षाश्रुभिः सह यथा स्यात्तथा, अपवार्य = अन्यैरश्रवणम् यथा स्यात्तथा कथयति—इदं सम्भवतः (नाम इति सम्भावनायाम्) तत् कर्णामृतं = श्रवणसन्तर्पणमस्ति, भागीरथीनिवेदितरहस्यम्—भागीरथ्या निवेदितं = मां प्रति कथितं रहस्यं = गोपनीयम्, यस्य तथाविधम्; पूर्वं यस्य रहस्यं भागीरथ्या मां प्रति कथितमासीदित्यर्थः; किं त्वायुष्मतोः कुशलवयोरयं कतरः कुशो वा लवो वेति न विद्मः = न जानीमः। पुनः प्रकाशमाह—

अन्वयः—कुवलयदलस्निग्धश्यामः, शिखण्डकमण्डनः, पुण्यश्रीकः, श्रिया वटुपरिषदं सभाजयन्निव, स मे वत्सः रघुनन्दनः पुनरपि शिशुर्भूतः (एवं प्रतीयमानः) अयं कः (यः) दृष्टः (सन) झटिति दृशोः अमृताञ्जनं कुरुते ॥ १९ ॥

कुवलयदलेति। कुवलयदलस्निग्धश्यामः—कुवलयस्य = नीलकमलस्य, दलम् = पत्रम्, तदिव स्निग्धः कोमलः, श्यामः = नीलः। शिखण्डकमण्डनः—शिखण्डक =

अपवार्य—अप + √वृ + णिच्, ल्यप्। रहस्यम्—रहसि भवम्, रहस् + यत्। विद्मः—विद + लट् (मम) 'अस्मदो द्वयोश्च' सूत्र के अनुसार वैकल्पिक बहुवचन। कतरः—किम् + डतरच्, किम् शब्द से निर्धारण में डतरच्। पुण्यश्रीकः—बहु

अरुन्धती—(छिपा कर, हर्षाश्रु के साथ) कानों के लिए अमृतरूप गङ्गा द्वारा कहा हुआ वह रहस्य सम्भवतः यही है। किन्तु हम यह नहीं जानतीं कि चिरंजीव कुश और लव में यह कौन-सा है।

(प्रकाश) नीलकमलदल के समान कोमल और साँवला, काकपक्ष से भूषित, पवित्र शोभा वाला, शोभा से वटुओं की परिषद् को अलंकृत करता हुआ-सा तथा वह मेरा वत्स रघुनन्दन

अपवार्य—किसी के प्रति गोपनीय समझ कर, उससे अन्यत्र हट कर उसकी ओर पीठ कर के, दूसरे पात्र-विशेष के किसी रहस्य का प्रकाशन किया जाता है, उसे 'अपवारित' कहते हैं। दर्पणकार के शब्दों में—'तद्भवेदपवारितम्। रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते॥' (६।१३८)। किन्तु अरुन्धती के ये वचन किसी अन्य पात्र के प्रति नहीं कहे गये हैं, अतः यहाँ 'स्वगत' होना चाहिए था। कतिपय आधुनिक संस्करणों में 'स्वगतम्' पाठ भी मिलता है।

निवेदितरहस्यम्—मालूम होता है कि गङ्गाजी ने अरुन्धती से सीताजी के जीवित रहने तथा कुश और लव के पैदा होने का वृत्तान्त बतला दिया था। यह वृत्तान्त केवल अरुन्धती को ही मालूम था, अतः इसे 'रहस्य' कहा गया है।

पुनरपि शिशुर्भूतो वत्सः स मे रघुनन्दनो
झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम् ॥ १९ ॥

कञ्चुकी—नूनं क्षत्रियब्रह्मचारी दारकोऽयमिति मन्ये ।

जनकः—एवमेतत् । अस्य हि—

चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम् ।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठकं
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डोऽपरः पैप्पलः ॥ २० ॥

काकपक्षः, एव मण्डनं = भूषणं यस्य सः, ('काकपक्षः शिखण्डकः' इत्यमरः) । पुण्यश्रीकः- पुण्या = पवित्रा, श्रीः = शोभा, यस्य सः । श्रिया = कान्त्या । वटुपरिषदम्—वटूनां = ब्रह्मचारिणां, परिषदं = समाजम् । सभाजयन् = अलङ्कुर्वन् । अमृताञ्जनम्= अमृतमयमञ्जनम् ।

अयम्भावः—नीलकमलपत्रवत् कोमलः श्यामश्च, धृतकाकपक्षः पवित्रशोभाशाली, स्वकान्त्या वटुसमाजमलङ्कुर्वन्निव, स मे वत्सो रामभद्रः पुनरपि शिशुर्भूतः एवं प्रतीयमानः अयं कः ? यो दृष्टः सन् सपदि नयनयोरमृताञ्जनं कुरुते, नेत्रे आह्लादयतीत्यर्थः । एवं दृष्ट्वा मन्ये मे वत्सो रामः पुनरपि बालभावमङ्गीकृत्य पुरतः समुपस्थितो भवेदित्याशयः ।

अत्र कुवलयदलेनावैधर्म्यसाम्यप्रतिपादनात् समासगता लुप्तोपमाऽलङ्कारः; सभाजयन्निवेति वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा; अमृताञ्जनं कुरुते इत्यत्र तु प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः । एतेषां परस्परनैरपेक्ष्येण संस्थितेः संसृष्टिः । हरिणी वृत्तम् ॥ १९ ॥

कञ्चुकी—क्षत्रियब्रह्मचारी—क्षत्रियश्चासौ ब्रह्मचारी च = जात्या क्षत्रियः, वेदाध्ययनशीलो वाल्मीकिशिष्यः । दारकः = बालकः । मन्ये = सम्भावयामि ।

व्रीहि समास । 'शेषाद्विभाषा' सूत्र से वैकल्पिक कप् । अञ्जनम्—√अञ्ज् + ल्युट् (भावे) । सभाजयन्—√सभाज् (णिच्) + शतृ । सभाज् धातु चुरादिगणीय है, अतः स्वार्थ में 'णिच्' होता है । इसका अर्थ 'अलंकृत करना' भी होता है ।

ब्रह्मचारी—ब्रह्म = वेदः, उपचारात् वेदाध्ययनव्रतमपि ब्रह्म, तच्चरितुं शीलमस्येति ब्रह्मचारी, ब्रह्मन् + √चर् + णिनि (ताच्छील्ये) ।

(राम) पुनः बालक हो गया है (ऐसा प्रतीत होता हुआ) यह कौन दिखलायी देता हुआ सहसा नेत्रों में अमृताञ्जन कर रहा है ॥ १९ ॥

कञ्चुकी—मैं समझता हूँ कि यह बालक निश्चय रूप से क्षत्रिय ब्रह्मचारी है ।

जनक—यह बात ऐसी ही है, क्योंकि—

इसके पृष्ठभाग में दोनों बगल दो तरकस हैं, जिनके (बाण में लगे) कङ्कपक्षों को शिखाएँ चूम रही हैं (छू रही हैं), भस्म के अल्पांश से पवित्र चिह्न से इसका वक्षःस्थल सुशोभित है, जो रुरुमृग के चर्म को धारण कर रहा है । उससे नीचे मूर्वा के बने हुए कटिसूत्र से कसा हुआ,

अन्वयः—पृष्ठतः अभितः चूडाचुम्बितकङ्कपत्रं तूणीद्वयं (वर्तते), भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनम् उरः रौरवीं त्वचं धत्ते। अधः मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितं माञ्जिष्ठकं वासः, पाणौ कार्मुकम्, अक्षसूत्रवलयम्, अपरः पैप्पलः दण्डः ॥ २० ॥

लवं निरीक्ष्य क्षत्रियब्रह्मचारी अयमिति कञ्चुकी सम्भावयति, जनकोऽपि तदेव समर्थयति—चूडाचुम्बितेति। पृष्ठतः=पृष्ठभागे। अभितः=उभयोः पार्श्वयोः। चूडाचुम्बितकङ्कपत्रम्—चूडाभिः=शिखाभिः, चुम्बितानि=स्पृष्टानि, कङ्कपत्राणि—कङ्कस्य=पक्षिविशेषस्य, पत्राणि=बाणपुङ्खस्थिताः पक्षा यस्य तत्। तूणीद्वयम्=तूणीरयुग्मम्। भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनम्—भस्मनः=विभूतेः, स्तोकेन=अल्पेन, अल्पभस्मनेत्यर्थः; पूतं=पवित्रं, लाञ्छनं=चिह्नं, यस्मिंस्तत्। उरः=वक्षःस्थलम्। रौरवीम्—रुरुः=मृगविशेषः, तस्येयं रौरवी ताम्=रुरुमृगसम्बन्धिनीम्। त्वचम्=चर्म। अधः=उरसोऽधस्तात्। मौर्व्या=मूर्वाख्यलतागुणनिर्मितया। मेखलया=कटिसूत्रेण। नियन्त्रितम्=बद्धम्। माञ्जिष्ठकम्=मञ्जिष्ठारागरक्तम्। वासः=वस्त्रम्। कार्मुकम्=धनुः। अक्षसूत्रवलयम्—वलयाकारम् अक्षसूत्रम्=रुद्राक्षमाला। अपरः=धनुर्दण्डादतिरिक्तः। पैप्पलः=पिप्पलशाखानिर्मितः। दण्डः=लगुडः।

अयम्भावः—अयं बालकः क्षत्रियब्रह्मचार्येवास्ति, यतोऽस्य पृष्ठभागे उभयोः पार्श्वयोस्तूणीरद्वयं वर्तते, यस्य बाणपुङ्खवर्तिनः कङ्कपक्षान् शिखाः स्पृशन्ति, भस्मनोऽल्पांशेन पवित्रचिह्नोपेसं वक्षःस्थलं कृष्णमृगचर्म धारयति, वक्षःस्थलप्रदेशादधस्ताद् वस्त्रं मूर्वाख्यलतातन्तुनिर्मितया मेखलया नियन्त्रितमस्ति, हस्ते च धनुः, रुद्राक्षमाला,

---

भस्मस्तोक—'स्तोकं च तद् भस्म च' इस विग्रह में 'पोटायुवति–' (२।१।६५) से समास होने पर 'भस्मन्' शब्द की उपसर्जन संज्ञा होने से 'उपसर्जनं पूर्वम्' के अनुसार उसका पूर्वनिपात हो गया है। रौरवीम्—रुरोरियम्—'तस्येदम्' सूत्र से अण् प्रत्यय, रुरु + अण्=रौरव स्त्रीत्व विवक्षा में ('टिड्ढाणञ्–' से) ङीप्—रौरवी। मौर्वी—मूर्वा + अण् + ङीप्। 'अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः' सूत्र से विकार के अर्थ में अण्। माञ्जिष्ठकम्—मञ्जिष्ठया रक्तं माञ्जिष्ठम्; मञ्जिष्ठा + अण् ('तेन रक्तं रागात्'), माञ्जिष्ठमेव माञ्जिष्ठकम्, स्वार्थे कन् प्रत्ययः। पैप्पलः—पिप्पलस्य विकारः, पिप्पल + अण्।

मँजीठ के रंग से रंगा वस्त्र है, हाथ में धनुष, वलयाकार रुद्राक्षमाला तथा धनुर्दण्ड के अतिरिक्त पीपल का दण्ड है ॥ २० ॥

इस श्लोक में क्षत्रिय ब्रह्मचारी के लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है, जिनका उल्लेख मनुस्मृति (२।४०-४५) में किया गया है। यह श्लोक 'महावीरचरित' (१।२८) में भी आया है।

दण्डं तथा पैप्पलम् (पाठा०)—इस पाठ के अनुसार 'अयम्' कर्ता, 'धत्ते' क्रिया तथा त्वक् से लेकर दण्ड तक सभी कर्म होंगे और इन सभी त्वगादि प्रस्तुत पदार्थों का 'धत्ते' इस एक क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलंकार होगा।

अपरे (पाठा०)—अपरे पाणौ अर्थात् दूसरे हाथ में।

जनकः—भगवत्यरुन्धति ! किमुत्प्रेक्षसे कुतस्त्योऽयमिति ।

अरुन्धती—अद्यैवागता वयम् ।

जनकः—आर्य गृष्टे ! अतीव मे कौतुकं वर्तते, तद् भगवन्तं वाल्मीकिमेव गत्वा पृच्छ । इमं च बालकं–'ब्रूहि वत्स ! केऽप्येते प्रवयसस्त्वां दिदृक्षव' इति ।

धनुर्दण्डादतिरिक्तः पैप्पलो दण्डश्च धार्यते, एतैः क्षत्रियब्रह्मचारिलक्षणैर्निश्चितमेवायं जात्या क्षत्रिय इति ।

अत्र (दण्डं तथा पैप्पलमिति पाठे) त्वचः प्रभृति दण्डं यावत् अनेकेषां प्रस्तुतानां पदार्थानां 'धत्ते' इत्येकयैव क्रिययाऽभिसम्बन्धात् तुल्ययोगितालङ्कारः, अपि च रौरव-वासःप्रभृतिभिर्विशिष्टैर्हेतुभिः क्षत्रियब्रह्मचारित्वरूपसाध्यस्यानुभूयमानत्वेन जाय-मानानुमानालङ्कारः । एतयोर्मिथः सापेक्षतया स्थितेः सङ्करः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २० ॥

लवपरिचयं जिज्ञासुर्जनकोऽरुन्धतीं पृच्छति—**भगवतीति** । भगवत्यरुन्धति ! अयं बालकः, कुतस्त्यः = कस्माद् भवः, कस्मात् स्थानात् आगत इति वा (काभ्यां माता-पितृभ्यामुत्पन्नः), इति विषये त्वं किम् उत्प्रेक्षसे = तर्कयसि ? सम्भावयसीत्यर्थः ।

अरुन्धती भागीरथ्यनुरोधेन रहस्यमप्रकाशयन्ती प्राह—**अद्यैवेति** । अद्यैव = अस्मिन्नेव दिने, वयमागताः । तस्माद्यथा भवानिमं बालकं न जानाति तथैवाहमप्य-द्यैवागतत्वान्न जानामीति तदुक्तेराशयः ।

ततो **जनकः** कञ्चुकिनमब्रवीत्—**आर्य गृष्टे इति** । आर्य गृष्टे ! अस्य बालकस्य परिचयं ज्ञातुं महती (कौतुकम् = विशिष्टवस्तुजिज्ञासौत्कण्ठ्यम्) उत्कण्ठा वर्तते हृदये मदीये, तस्माद् भगवन्तं वाल्मीकिमुपगम्य 'कुतस्त्योऽयं माणवकः ?' इत्यस्य परिचयं

कुतस्त्यः—कुतस् + त्यप् ('अव्ययात्त्यप्—अमेहक्वतसित्रेभ्य एव') ।

कौतुकम्—कुतुकमेव कौतुकम्, स्वार्थे अण्, कुतुक + अण् = कौतुकम् । दिदृक्षवः—द्रष्टुमिच्छन्तीति दिदृक्षन्ति, दिदृक्षन्तीति दिदृक्षवः । दृश् + सन् + उ ('सनाशंसभिक्ष उः') । त्वां दिदृक्षवः—'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' सूत्र के अनुसार कृद्योगा षष्ठी का निषेध होने से 'त्वाम्' में षष्ठी न होकर कर्मणि द्वितीया विभक्ति है ।

जनक—भगवती अरुन्धती ! 'यह कहाँ से आया है ?' (यह किस माता-पिता से उत्पन्न हुआ ?) इस विषय में आप क्या सम्भावना करती हैं ?

अरुन्धती—हम लोग आज ही आये हैं (अतः कुछ कहा नहीं जा सकता) ।

जनक—आर्य गृष्टि ! मुझे अत्यन्त कुतूहल हो रहा है, अतः भगवान् वाल्मीकि के ही पास जाकर पूछो और इस बालक से कहो—'वत्स ! ये कुछ बूढ़े लोग तुमको देखना चाहते हैं' ।

यहाँ अरुन्धती के टाल-मटोल भरे उत्तर पर ध्यान दें । भागीरथी ने उनसे इस रहस्य को गोपनीय रखने के लिए कह रखा था, अतः वे इस प्रकार बात कर रही हैं कि मानों उन्हें कुछ मालूम ही नहीं है ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

कौसल्या—किं मण्णेध एव्वं भणिदो आअमिस्सदित्ति ? [किं मन्यध्व एवं भणित आगमिष्यतीति ?]

जनकः—भिद्येत वा सद्वृत्तमीदृशस्य निर्माणस्य ?

कौसल्या—(निरूप्य) कहं सविणअणिसामिदगिट्ठिवअणो विसज्जिदइसिदारओ इतोऽहिमुहं पसरिदो एव्व सो वच्छो। [कथं सविनयनिशामितगृष्टिवचनो विसर्जितर्षिदारक इतोऽभिमुखं प्रसृत एव स वत्सः।]

जनकः—(चिरं निर्वर्ण्य) भोः ! किमप्येतत् ?

पृच्छ। इमं च बालकम् = माणवकम्, ब्रूहि = कथय, वत्स ! केऽप्येते प्रवयसः = वृद्धाः, त्वां दिदृक्षवः = द्रष्टुमिच्छवः।

यदाज्ञापयति देवः = यदादिशति महाराजस्तदनुतिष्ठामीत्युक्त्वा तथाकर्तुं कञ्चुकी निष्क्रान्तः।

कौसल्या तद्दारकस्यागमने सन्दिहाना जनकं प्रत्याह—किं मन्यध्वे इति। 'केऽप्येते प्रवयसस्त्वां दिदृक्षवः' इत्येवम्प्रकारेण भणितः = कथितः, स कुमार आगमिष्यतीति यूयं मन्यध्वे किम् ?

इति कौसल्योक्तिं श्रुत्वा जनकः कथयति—भिद्येत इति। किमीदृशस्य = एवंविधस्य, लोकोत्तरस्य निर्माणस्य = आकारस्य, सद्वृत्तं = सदाचारः, भिद्येत = भिन्नं भवितुमर्हसि ? (कर्मकर्तरि प्रयोगः, सम्भावनायां लिङ्)। न हि ईदृशाः शोभनाकृतयो जनाः सद्वृत्तशून्या भवन्ति, 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा भवन्ति' इत्युक्तेः।

'प्रस्थितं बालकं दृष्ट्वा कौसल्या कथयति—कहमिति। कथं सविनयनिशामितगृष्टिवचनः—सविनयं निशामितं = श्रुतं, गृष्टेः = तदाख्यस्य कञ्चुकिनः, वचनं येन तथाभूतः, सविनयं गृष्टेर्वचनं शृण्वन्नेव, विसर्जितर्षिदारकः—विसर्जिताः = परित्यक्ताः, ऋषिदारकाः = मुनिकुमाराः, येन स तादृशः; मुनिकुमारान् विसृज्य स वत्सोऽस्माकं सम्मुखं प्रसृतः = प्रस्थितः।

निर्माणस्य—निर्मीयते यदिति निर्माणं तस्य; 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्मणि ल्युट्। निशामितं—नि + √शम् (आलोचने, चुरादिगणीय) + णिच् + क्तः। प्रसृतः—प्र + √सृ + क्त (कर्तरि)। निर्वर्ण्य—निस् + (चुरादिगणीय) √वर्ण् (णिच्) + ल्यप् ('णेरनिटि' सूत्र से णिच् का लोप)।

कञ्चुकी—महाराज की जो आज्ञा। **(ऐसा कह कर चला गया)**।

कौसल्या—क्या आप समझते हैं कि इस प्रकार से कहने पर (वह कुमार) आयेगा ?

जनक—क्या इस प्रकार की आकृति का सदाचार टूट सकता है ?

कौसल्या—**(भली-भाँति देखकर)** अहो ! वह बच्चा विनयपूर्वक गृष्टि के वचन को सुनते (ही) मुनिकुमारों को त्याग कर, हम सब की ओर चल पड़ा।

जनक—**(बहुत समय तक ध्यानपूर्वक देखकर)** अरे ! यह बड़ी विलक्षण बात है !

महिम्नामेतस्मिन्विनयशिशुतामौग्ध्यमसृणो
विदग्धैर्निर्ग्राह्यो न पुनरविदग्धैरतिशयः।
मनो मे सम्मोहस्थिरमपि हरत्येष बलवा-
नयोधातुं यद्वत्परिलघुरयस्कान्तशकलः॥ २१॥

लवः—(प्रविश्य) अज्ञातनामक्रमाभिजनान् पूज्यानपि स्वतः कथमभिवादयिष्ये ? (विचिन्त्य) अयं पुनरविरुद्धः प्रकार इति वृद्धेभ्यः श्रूयते। (सविनयमुपसृत्य) एष वो लवस्य शिरसा प्रणामपर्यायः।

जनकः सुचिरं तं कुमारमवलोक्य साश्चर्यमाह—भो ! विलक्षणमेतत्।

अन्वयः—एतस्मिन् विनयशिशुतामौग्ध्यमसृणः विदग्धैः, न पुनः अविदग्धैः, निर्ग्राह्यः महिम्नाम् अतिशयः (वर्तते) यद्वत् परिलघुः अयस्कान्तशकलः अयोधातुम् तद्वत् बलवान् एषः सम्मोहस्थिरमपि मे मनः हरति॥ २१॥

महिम्नामिति। एतस्मिन्=बालके। विनयशिशुतामौग्ध्यमसृणः—विनयेन शिशुतया च मौग्ध्येन च मसृणः=कोमलः। विदग्धैः=निपुणैः, न पुनः=न तु, अविदग्धैः=अनिपुणैः, सामान्यजनैरित्यर्थः। निर्ग्राह्यः=निःशेषेण ज्ञेयः। महिम्नाम् =प्रकृष्टज्ञानतेजःप्रकृतिगुणादिमाहात्म्यानाम्। अतिशयः=उत्कर्षः। परिलघुः= अल्पतरः। अयस्कान्तशकलः=चुम्बकखण्डः। अयोधातुम्=लोहपिण्डम्। सम्मोहस्थिरम्—सम्मोहे=हर्षाद्यावेशेऽपि, स्थिरम्=निष्पन्दम्। हरति=आकर्षति।

अयम्भावः—एतस्मिन् बालके विनयेन शैशवेन सारल्येन च स्निग्धः, प्रकृष्टज्ञानतेजःप्रकृतिगुणादिमाहात्म्यानां स उत्कर्षो वर्तते यो निपुणैरेव ज्ञातुं शक्यते न तु प्राकृतजनैः। यथाऽतिलघुश्चुम्बकखण्डो लौहपिण्डमाकर्षति, तथैव एष पुरोवर्ती बलवान् बालको हर्षाद्यावेशेऽपि काष्ठवन्निष्पन्दमपि मे हृदयमाकर्षति, तत्कोऽयं महाप्रभावः ?

अत्र महिमातिशयसम्पादने विनयादिगुणसङ्घानां तत्करत्वेन समावेशात् समुच्चयालङ्कारः, अपि च विदग्धानां निर्ग्राह्यत्वेन व्यवस्थापनात् तद्भिन्नानां च निषेधात् परिसङ्ख्यालङ्कारः, एवं चायस्कान्तशकलेन सह बालकस्यास्य साम्यकथनात् श्रौती उपमाऽलङ्कारः। एतेषां परस्परनिरपेक्षतया स्थितेः संसृष्टिः। शिखरिणी वृत्तम्॥ २१॥

महिमा—महतो भावः, महत्+इमनिच्। मौग्ध्यम्—मुग्धस्य भावः, मुग्ध+ष्यञ्। विदग्धैः—वि+√दह्+क्त। निर्ग्राह्यः—निर्+√ग्रह्+ण्यत् ('ऋहलोर्ण्यत्')।

इस (बालक) में महिमाओं का (वह) उत्कर्ष है जो नम्रता, शिशुता तथा सरलता के कारण कोमल एवं मनोरम है तथा जो निपुण जनों द्वारा ही ज्ञेय है, न कि प्राकृत जनों के द्वारा। यह बलवान् (बालक) हर्षादि के अतिरेक में भी स्थिर रहने वाले मेरे मन को आकृष्ट करता है, जैसे अत्यन्त छोटा-सा चुम्बक का टुकड़ा लोहपिण्ड को (खींचता है)॥ २१॥

अरुन्धती-जनकौ—कल्याणिन् ! आयुष्मान् भूयाः ।

कौसल्या—जाद ! चिरं जीव । [जात चिरञ्जीव ।]

अरुन्धती—एहि वत्स ! (लवमुत्सङ्गे गृहीत्वात्मगतम्) दिष्टया न केवल-मुत्सङ्गश्चिरान्मनोरथोऽपि मे सम्पूर्णः ।

लवः प्रविश्य चिन्तयति—अज्ञातनामेति । अज्ञातनामक्रमाभिजनान्—अज्ञातं नाम=आख्या, क्रमः=यथायोग्यमभिवादनस्य पौर्वापर्यम्, अभिजनः=कुलं च येषां तान्; एतेषां नाम यथायोग्यमभिवादनपौर्वापर्यं कुलं च; न जानामि, तत्कथम्=केन क्रमप्रकारेण, एतान् पूज्यानपि स्वतः=स्वबुद्ध्या, प्रणमामि ? (विचिन्त्य) अयं चिन्तितः प्रकार अविरुद्धः ('सभायां प्रत्येकं न नमस्कुर्यात्') इति वृद्धेभ्यः श्रूयते। (सविनयमुपसृत्य) लवस्य वः=युष्मभ्यं, प्रणामपर्यायः=प्रणामानां परम्परा, पूज्यानुक्रमेण एते शिरसा प्रणामा इति भावः ।

अरुन्धतीजनकावाशिषं दत्तः—कल्याणिन्निति । हे कल्याणिन्=सौभाग्यशालिन् ! आयुष्मान् भूयाः ।

कौसल्यापि ददात्याशिषम्—पुत्र ! चिरं=बहुकालपर्यन्तं जीवेति ।

अरुन्धती लवमाहूय स्वोत्सङ्गे समुपवेश्य स्वगतमाह—**दिष्टयेति** । अद्य मे उत्सङ्गः =अङ्कस्तु पूरित एव, भाग्येन मे मनोरथोऽपि='सीतापुत्रौ क्रोडे कुर्याम्' इत्येवंरूपोऽभिलाषोऽपि चिरात्=चिरकालानन्तरं, सम्पूर्णः=संसिद्धः ।

पर्यायः—परि + √इ (गतौ) + घञ् । कल्याणिन्—कल्याण + इनि (मतुबर्थक) । सम्पूर्णः—सम् + √पॄ (पालनपूरणयोः) + क्त ।

लव—(प्रवेश कर) जिनका नाम, प्रणामार्थ पूज्यानुक्रम तथा कुल अज्ञात है, ऐसे पूज्य जनों को भी अपनी बुद्धि से किस प्रकार प्रणाम करूँगा ? **(सोचकर)** 'यह विरोध रहित पद्धति है'—ऐसा बड़े-बूढ़ों से सुना जाता है । **(विनयपूर्वक समीप जाकर)** आप लोगों को लव के ये शिरसा प्रणाम हैं ।

अरुन्धती और जनक—हे सौभाग्यशाली ! आयुष्मान् होओ ।

कौसल्या—हे पुत्र ! बहुत समय तक जियो ।

अरुन्धती—आओ बच्चा ! **(लव को गोद में लेकर, मन ही मन)** भाग्य से न केवल गोद, मेरा (सीता के पुत्रों को अङ्क में लूँ—यह) मनोरथ भी (आज) बहुत समय के बाद पूरा हो गया ।

अविज्ञातवयः क्रमौचित्यात् (पाठा०)—वीरराघव ने यही पाठ स्वीकार किया है। तदनुसार इसकी व्याख्या की है—'क्रमः सत्काराद्यानुपूर्व्यं वयःस्थाविरादिकं वयः क्रमस्तयौचित्यं प्राप्तता बालं च तद्वयः क्रमौचित्यं तस्याभावः अज्ञातवयः क्रमौचित्यम् । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । अपञ्चम्या इति प्रतिषेधादम्भावो न । तथा च वयः क्रमौचित्यज्ञानाभावादित्यर्थः।

कौसल्या--जाद ! इदो वि दाव एहि। (उत्सङ्गे गृहीत्वा) अम्हहे ण केवलं दरविअसंतणीलुप्पलसामलुज्जलेण देहबंधेण कवलिदारविंदकेसर-कसाअकंठकलहंसणिणाददीहरदीहरेण सरेण अ रामभद्दं अणुहरदि। णं कठोरकमलगब्भपम्हलो सरीरप्फस्सो वि तारिसो एव्व वच्छस्स। जाद ! पेक्खामि दाव दे मुहपुंडरीअम्। (चिबुकमुन्नमय्य निरूप्य सबाष्पाकूतम्) राएसि, किं ण पेक्खसि णिउणं णिरूअज्जंतं से मुहं बच्छाए बहूए मुहचंदेण संवददि एव्व ? [जात ! इतोऽपि तावदेहि। अहो ! न केवलं दरविकसन्नीलोत्पल-श्यामलोज्ज्वलेन देहबन्धेन कवलितारविन्दकेसरकषायकण्ठकलहंसनिनाददीर्घदीर्घेण स्वरेण च रामभद्रमनुहरति। ननु कठोरकमलगर्भपक्ष्मलः शरीरस्पर्शोऽपि तादृश एव वत्सस्य। जात ! प्रेक्षे तावत्ते मुखपुण्डरीकम्। राजर्षे ! किं न प्रेक्षसे निपुणं निरूप्यमाणमस्य मुखं वत्साया वध्वा मुखचन्द्रेण संवदत्येव ?]

ततः कौसल्या लवं प्रत्याह--जात=पुत्र ! इतोऽपि=मत्समीपमपीत्यर्थः। दर-विकसन्नीलोत्पलश्यामलोज्ज्वलेन--दरम्=ईषत्, विकसत् यत् नीलोत्पलम्=नील-कमलम्, तद्वत् श्यामलः, उज्ज्वलश्च=निर्मलश्च, तयोवतेन। देहबन्धेन=शरीर-घटनेन। कवलितारविन्दकेसरकषायकण्ठकलहंसनिनाददीर्घदीर्घेण--कवलिताः= भक्षिताः, अरविन्दकेसराः=कमलकिञ्जल्काः, तैः कषायः=मधुरः, कण्ठः=कण्ठ-स्वर इत्यर्थः, यस्य तादृशो यः कलहंसः=राजहंसः, तस्य निनादः=ध्वनिः, स इव

कवलित--कवलं करोति कवलयति (नामधातु) कवल+णिच्; उससे कर्म में क्त प्रत्यय। दीर्घदीर्घेण--'प्रकारे गुणवचनस्य' सूत्र से द्विर्वचन, 'कर्मधारयवदु-त्तरेषु' सूत्र से कर्मधारयवद्भाव। प्रकार शब्द का यहाँ 'सादृश्य' अर्थ अभिप्रेत है।

कौसल्या--पुत्र ! तनिक इधर भी आओ। **(गोद में लेकर)** अहो ! न केवल कुछ खिले हुए नीलकमल के समान श्याम तथा सुन्दर शरीर की रचना से ही, अपितु कमलकेशर के खाने से सुमधुर कण्ठस्वर वाले राजहंस के स्वर के समान दीर्घस्वर भी रामभद्र का अनुकरण करता है तथा पूर्ण विकसित कमल के भीतरी भाग के समान कोमल शरीर-स्पर्श भी वत्स का वैसा ही है। पुत्र ! तेरे मुखकमल को तो देखूं। **(ठुड्डी को ऊपर उठा कर, ध्यानपूर्वक देख कर आँसू और विशेष अभिप्राय के साथ)** राजर्षि ! क्या देख नहीं रहे हो कि ध्यानपूर्वक देखा जाता हुआ इसका मुख वत्सा वधू (सीता) के मुखचन्द्र से मिलता-जुलता है।

सबाष्पाकूतम्--कौसल्या का जनक के प्रति 'राजर्षे किं न पश्यसि ?' इत्यादि वाक्य अभिप्राय विशेष रखता है। वे जनक को संकेत करती हैं कि बहुत संभव है कि यह सीता का ही पुत्र हो।

दरविस्पष्टकुवलयमांसलोज्ज्वलः (पाठा०)--विस्पष्ट=विकसित, मांसल=पुष्ट। प्राकृत का 'कन्दोट्ट' कुवलयवाचक है।

हंसघोषघर्घरानुनादिना (पाठा०)--कलहंस के समान घर्घर अनुनाद करने वाला। 'घर्घर' यह अव्यक्तानुकरणात्मक शब्द है। वीरराघव ने इसका अर्थ 'कांस्यध्वनि' किया है।

जनकः—पश्यामि सखि ! पश्यामि ।

कौसल्या—अम्हहे ! उन्मत्तीभूदं विअ मे हिअअं किं पि एदोमुहं विप्पलवदि । [अहो ! उन्मत्तीभूतमिव मे हृदयं किमपीतोमुखं विप्रलपति ।]

जनकः—

वत्सायाश्च रघूद्वहस्य च शिशावस्मिन्नभिव्यज्यते
सम्पूर्णप्रतिबिम्बितेव निखिला सैवाकृतिः सा द्युतिः ।
सा वाणी विनयः स एव सहजः पुण्यानुभावोऽप्यसौ
हा हा दैव किमुत्पथैर्मम मनः पारिप्लवं धावति ॥ २२ ॥

दीर्घदीर्घः=दीर्घप्रकारः, दीर्घ इव प्रतीयमान इत्यर्थः, तादृशेन । अनुहरति=अनुकरोति । कठोरकमलगर्भपक्ष्मलः—कठोरस्य=पूर्णविकसितस्य, कमलस्य गर्भः=अभ्यन्तरभागः, तद्वत् पक्ष्मलः=सुकुमारः । प्रेक्षे=अवलोकयामि । उन्नमय्य=मुखनिरीक्षणार्थमुन्नतं कृत्वा । सबाष्पाकूतम्—बाष्पेण=अश्रुणा, आकूतेन=अभिप्रायेण च, सहितं यथा स्यात्तथा । मुखचन्द्रेण संवदति=चन्द्रसदृशेन मुखेन साम्यं प्रकटयति ।

अयम्भावः—पुत्र ! मत्समीपमभ्यागच्छ, (लवमुत्सङ्गे समुपवेश्य) अहो ! अस्येषत्विकसितनीलकमलवत् श्यामलो निर्मलश्च देहः, 'भक्षितैः कमलकिञ्जल्कैः मधुरः कण्ठस्वरो यस्य तस्य राजहंसस्य ध्वनिरिव दीर्घस्वरः, पूर्णविकसितकमलस्याभ्यन्तरभाग इव सुकुमारः शरीरस्पर्शश्च रामभद्रस्येवास्ति (मुखनिरीक्षणार्थं चिबुकमुन्नमय्य निपुणं निरीक्ष्य अश्रुणाऽभिप्रायेण च सहितं यथा तथा) राजर्षे ! किं न पश्यसि ? अस्य मुखं वत्सायाः सीताया मुखचन्द्रेण साम्यं प्रकटयति ।

जनकोऽप्याह—सखि ! पश्यामि ।

कौसल्याऽऽह—अहो इति । अहो ! मम हृदयं=मनः, उन्मत्तीभूतम्=विक्षिप्तीभूतम्, विक्षिप्तमिव भूत्वाऽस्य बालकस्य विषये एवंविधं किमप्यसम्भाव्यं विप्रलपति=असम्बद्धं वदति, विविधं तर्कयति ।

पक्ष्मलः—पक्ष्म शब्द का अर्थ 'नेत्र-लोम' (बरौनी) होता है, लक्षणा से 'नेत्रलोमतुल्यस्पर्श' है । पक्ष्माणि सन्त्यस्येति पक्ष्मलः (नेत्रलोमतुल्य स्पर्श वाला, अर्थात् कोमल, सुकुमार) 'सिध्मादिभ्यश्च' सूत्र से लच् प्रत्यय । पक्ष्मन् + लच् = पक्ष्मलः । उन्मत्तीभूतम्—अनुन्मत्तम् उन्मत्तं भूतम्, अभूततद्भावे च्विः ।

जनक—देखता हूँ, सखि, देखता हूँ ।

कौसल्या—अहो ! विक्षिप्त-सा हुआ मेरा मन इस बालक के विषय में इस प्रकार का असम्भाव्य प्रलाप (विविध तर्क) करता है ।

जनक—इस बालक में बेटी (सीता) की तथा रघुश्रेष्ठ (राम) की वही समग्र आकृति, वही कान्ति पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित-सी स्पष्ट लक्षित हो रही है । वही वाणी है, वही नैसर्गिक

कुतो मुखम् (पाठा०—वीरराघव)—यत्र क्वापि असम्भाव्यविषये लग्नमिति यावत् ।

कौसल्या—जाद ! अत्थि दे मादा सुमरसि वा तादम् ? [जात ! अस्ति ते माता, स्मरसि वा तातम् ?]

अन्वयः—अस्मिन् शिशौ वत्सायाश्च रघूद्वहस्य च सैव निखिला आकृतिः सा द्युतिः सम्पूर्णप्रतिबिम्बितेव अभिव्यज्यते; सा वाणी, स एव सहजः विनयः, पुण्यानुभावः अपि असौ; हा हा ! दैव ! मम पारिप्लवं मनः किम् उत्पथैः धावति ? ॥ २२ ॥

जनकोऽपि तस्मिन् बालके लवे सीतारामयोराकृत्यादिकं निरूप्य चञ्चलमनाः सन्नाह—वत्सायाश्चेति । वत्सायाः=सीताया इत्यर्थः । रघूद्वहस्य=रघुकुलश्रेष्ठस्य, श्रीरामचन्द्रस्येत्यर्थः । द्युतिः=कान्तिः । सहजः=नैसर्गिकः । पुण्यानुभावः=पावनप्रभावः । पारिप्लवम्=चञ्चलं (सत्) । किम्=किमर्थम् । उत्पथैः=विपरीतमार्गैः । धावति=प्रसरति ।

अयम्भावः—अस्मिन् बालके सीतारामयोस्तादृश्येव समग्रा आकृतिः, कान्तिश्चाविकलं सङ्क्रान्तेव स्पष्टं लक्ष्यते । स एव (रामकण्ठध्वनिरिव) कण्ठध्वनिः, स एव (रामनिष्ठः) नैसर्गिको विनयः, असौ रामस्येव पावनः प्रभावोऽपि परिलक्ष्यते । एतानि सर्वाणि लक्षणानि दृष्ट्वा प्रतीयते तयोरेवायमात्मज इति । हिंस्रपशुसङ्कुले वने परित्यक्तायाः सीताया मरणमेव निश्चप्रचमतो नायं तस्याः पुत्र इति सम्भाव्य नैराश्येन जनकः प्राह—हा हेति । हा हा दैव ! किमर्थं मम मनश्चञ्चलं सत्, असम्भाव्यविषयाभिलाषेण विपरीतमार्गैः प्रसरति; अनवस्थितं भवति ।

अत्राकृत्यादीनां सर्वथा भेदेऽपि तद्रूपत्वेनाभेदाध्यवसायाद् भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः । 'अभिव्यज्यते' इत्येकयैव क्रिययाऽऽकृत्यादीनां प्रस्तुतानामभिसम्बन्धात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः । अपि च 'किमुत्पथैर्मम मनः पारिप्लवं धावति' इत्यनेन भङ्ग्या सीताऽभावरूपार्थस्य गम्यस्य वस्तुनोऽभिधानात् पर्यायोक्तिरलङ्कारः । एतेषां च परस्परसापेक्षतया स्थितेः सङ्करः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २२ ॥

उत्पथाः—उच्छृङ्खलाः पन्थाः इति उत्पथाः; उत्+पथिन्+अच् समासान्त ('ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे') । पारिप्लवम्—परिप्लवम् (परि+√प्लु+अच्—कर्तरि) एव पारिप्लवम्; परिप्लव+अण् (स्वार्थे) ।

विनय है, वही पावन प्रभाव भी है । हा ! हा ! दैव ! मेरा चञ्चल मन क्यों विरुद्ध मार्गों से दौड़ रहा है ? ॥ २२ ॥

कौसल्या—पुत्र, तुम्हारी माता है ? अथवा पिता को याद करते हो ?

संवृत्तिः प्रतिबिम्बितेव (पाठा०—वीरराघव)—संवृत्तिः=सम्पर्कः, सम्बन्ध इत्यर्थः, अस्मिन् बालके सीतारामयोः सम्बन्धो दर्पणादौ बिम्बवद् दृश्यते ।

उत्पथैः धावति—विरुद्ध मार्गों से दौड़ता है—सीता निस्सन्देह मर चुकी है, फिर भी इस बालक को सीता पुत्र होने की संभावना करता है ।

दैव—देवि (पाठा०—वीरराघव) । 'देवि' इति सम्बोधनपदेन देवभूयंगतायास्तव कथमिदं सङ्गच्छत इति व्यज्यते । अत एव ह्युत्पथैरित्युक्तम् ।

लवः—नहि, नहि ।

कौसल्या—तदो कस्स तुमं ? [ततः कस्य त्वम् ?]

लवः—भगवतो वाल्मीकेः ।

कौसल्या—अयि जाद ! कहिदव्वं कहेहि । [अयि जात ! कथयितव्यं कथय ।]

लवः—एतावदेव जानामि ।

(नेपथ्ये)

भो भोः सैनिकाः ! एष खलु कुमारश्चन्द्रकेतुराज्ञापयति न केनचिदाश्रमाभ्यर्णभूमय आक्रमितव्या इति ।

कौसल्या लवं तत्परिचयं पृच्छति—जातेति । वत्स ! अस्ति ते माता ? स्मरसि= जानासि वा, तातम्=स्वजनयितारम् ?

लवस्तु नकारात्मकमुत्तरं दत्तवान्, कौसल्यया पुनरपि पृष्टः—तत् कस्य त्वं= कस्मात् त्वं जातोऽसीति ।

'भगवतो वाल्मीकेरि'ति लवस्योत्तरं श्रुत्वा कौसल्या कथयति—पुत्र ! कथयितव्यं =कथनीयं, कथय, 'भगवतो वाल्मीकेः' इति तु न कथयितव्यं तस्य मुनेरविवाहितत्वात्, स्फुटं स्वपित्रोः परिचयं देहीति भावः ।

लवः कथयति—अहं त्वेतावदेव जानामीति ।

ततो नेपथ्ये श्रूयते—भो भोः सैनिकाः ! कुमारश्चन्द्रकेतुराज्ञापयति—न केनचिद् =केनापि सैनिकेन, आश्रमाभ्यर्णभूमयः—आश्रमस्य=तपोवनस्य, अभ्यर्णभूमयः= समीपदेशा इत्यर्थः ('उपकण्ठाऽन्तिकाऽभ्यर्णाऽभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमरः); आश्रमसमीपवर्तिनः प्रदेशा इति भावः, आक्रमितव्याः=आक्रमणीयाः, पीडनीया इति यावत् ।

कथयितव्यम्—(चुरादिगणीय) √कथ् (णिच्)+तव्य ।

अभ्यर्णः—अभि+√अर्द्+क्त 'अभेश्चाविदूर्ये' (७।२।२५) सूत्र के अनुसार 'बहुत दूर न होना' के अर्थ में इट् के आगम का अभाव हो गया । इससे भिन्न अर्थ में इट् का आगम होता ही है, जैसे—अभ्यर्दितः (पीडित) ।

लव—नहीं, नहीं ।

कौसल्या—तो तुम किसके (पुत्र) हो ?

लव—भगवान् वाल्मीकि के ।

कौसल्या—अरे बेटा, कहने योग्य बात ही कहो ।

लव—इतना ही जानता हूँ ।

(नेपथ्य में)

अरे अरे सैनिको ! ये कुमार चन्द्रकेतु आज्ञा दे रहे हैं कि किसी के द्वारा आश्रम की समीपवर्ती भूमियाँ आक्रान्त (पीडित) न की जायँ ।

अरुन्धती-जनकौ—अये ! मेध्याश्वरक्षाप्रसङ्गादुपागतो वत्सश्चन्द्रकेतुरद्य द्रष्टव्य इत्यहो ! सुदिवसः ।

कौसल्या—वच्छलक्खणस्स पुत्तओ आणवेदित्ति अमिदबिंदुसुंदराइं अक्खराइं सुणीअंदि । [वत्सलक्ष्मणस्य पुत्रक आज्ञापयतीत्यमृतबिन्दुसुन्दराणि अक्षराणि श्रूयन्ते ।]

लवः—आर्य ! क एष चन्द्रकेतुर्नाम ।

जनकः—जानासि रामलक्ष्मणौ दाशरथी ?

लवः—एतावेव रामायणकथापुरुषौ ?

जनकः—अथ किम् ?

तच्छ्रुत्वाऽरुन्धतीजनकावाहतुः—मेध्याश्वरक्षाप्रसङ्गात्=यज्ञाङ्गभूतस्याश्वस्य रक्षाप्रसङ्गात्, अस्मिन् प्रदेशे उपागतं=समुपस्थितं वत्सं चन्द्रकेतुं द्रक्ष्याम इति सुदिवसः =शोभनोऽयं दिवस इति ।

कौसल्याप्याह—वत्सलक्ष्मणस्य पुत्रकश्चन्द्रकेतुराज्ञापयतीति अमृतबिन्दुसुन्दराणि= अमृतबिन्दुवन्मधुराण्यक्षराणि श्रूयन्ते इति ।

लवो जनकं पृच्छति—आर्य ! चन्द्रकेतुरिति नाम्ना प्रसिद्ध एषः कस्य पुत्रः कस्मादागतश्चेति ।

जनकः—अपि जानासि दशरथपुत्रौ रामलक्ष्मणौ ?

लवः—किं रामायणकथापुरुषौ=रामायणाख्यमहाकाव्यकथायाः प्रतिपाद्यौ मुख्यपुरुषावेतावेव ?

जनकः—अथ किम् ?

मेध्यः—मेधमर्हति, मेध+यत् । दाशरथिः—दशरथस्यापत्यं पुमान्, दशरथ+इञ ('अत इञ्') ।

अरुन्धती और जनक—अरे यज्ञीय अश्व की रक्षा के सिलसिले में आये हुए चन्द्रकेतु का आज दर्शन होगा । इसलिए अहो, आज का दिन शुभ है ।

कौसल्या—'वत्स लक्ष्मण का प्रिय पुत्र आज्ञा देता है'—ये अमृतबिन्दु के समान सुमधुर अक्षर सुने जा रहे हैं ।

लव—आर्य ! ये चन्द्रकेतु कौन हैं ?

जनक—दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण को जानते हो ?

लव—क्या रामायणकथा के प्रधान पुरुष ये ही (दोनों) हैं ?

जनक—और क्या ?

'वत्सलक्ष्मणस्य पुत्रकः' इत्यादि कौसल्या के कथन और तदनन्तर लव के द्वारा किये गये प्रश्न 'क एष चन्द्रकेतुर्नाम' में सङ्गति स्थापित करने के लिए कौसल्या के कथन को 'स्वगत' मानना पड़ेगा, अन्यथा लव का प्रश्न उपपन्न नहीं होगा ।

लवः—तत्कथं न जानामि ?

जनकः—तस्य लक्ष्मणस्यायमात्मजश्चन्द्रकेतुः ।

लवः—ऊर्मिलायाः पुत्रस्तर्हि मैथिलस्य राजर्षेर्दौहित्रः ।

अरुन्धती—(विहस्य) आविष्कृतं कथाप्रावीण्यं वत्सेन ।

जनकः—(विचिन्त्य) यदि त्वमीदृशः कथायामभिज्ञस्तद् ब्रूहि तावत् पृच्छामस्तेषां दशरथात्मजानां कियन्ति किन्नामधेयान्यपत्यानि केषु केषु दारेषु प्रसूतानीति ।

लवः—नायं कथाप्रविभागोऽस्माभिरन्येन वा श्रुतपूर्वः ।

जनकः—किं न प्रणीत एव कविना ?

लवः—तत्कथं न जानामि ?

जनकः—दशरथपुत्रस्य रामानुजस्य तस्य लक्ष्मणस्य पुत्रोऽयं चन्द्रकेतुः ।

लवः—तर्हि ऊर्मिलायाः पुत्रः, मैथिलस्य = मिथिलेश्वरस्य, राजर्षेः = जनकस्य, दौहित्रः—दुहितुरपत्यं पुमान्, नप्ता, चन्द्रकेतुरयम् ।

तच्छ्रुत्वा विहस्य अरुन्धती प्राह—एतत्कथयता वत्सेन कथाप्रावीण्यम् = रामायणकथायां स्वनैपुण्यं, आविष्कृतम् = प्रकटीकृतम् ।

जनको विचिन्त्य लवं प्राह—यदि त्वमिति । यदि त्वमीदृशो रामायणकथायामभिज्ञः = विज्ञस्तत्कथय तावद् वयं पृच्छामः—'रामादीनां दशरथपुत्राणां दारेषु = कस्यां कस्यां भार्यायां, कियन्ति = कतिसङ्ख्यकानि, किं नामधेयानि च अपत्यानि = पुत्राः, प्रसूतानि = जातानि इति ।

लवः प्राह—अस्माभिरन्येन वाऽयं कथाप्रविभागः = कथांशविशेषः, न श्रुतपूर्वः = पूर्वं श्रुतः ।

जनकोऽपृच्छत्—रामायणस्यायं कथाभागः किमु कविना न प्रणीत एव ?

दौहित्रः—दुहितुरनन्तरापत्यं पुमान् 'अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्' सूत्र के अनुसार अञ् प्रत्यय, दुहितृ + अञ्=दौहित्रः । प्रावीण्यम्—प्रवीणस्य भावः, प्रवीण से ष्यञ् । अभिज्ञः—अभिजानातीत्यभिज्ञः; अभि + √ज्ञा + क ('आतश्चोपसर्गे')।

लव—तब क्यों नहीं जानता हूँ ?

जनक—उन्हीं लक्ष्मण का, यह चन्द्रकेतु पुत्र है ।

लव—तो ये (चन्द्रकेतु) ऊर्मिला के पुत्र और मिथिलापति राजर्षि जनक के दौहित्र हैं।

अरुन्धती—(हँसकर) बच्चे ने कथा में (अपना) नैपुण्य प्रकट कर दिया ।

जनक—(सोचकर) यदि तुम कथा में ऐसे कुशल हो तो कहो, हम पूछते हैं—उन दशरथ-पुत्रों के कितने और किस-किस नाम वाले पुत्र किन-किन स्त्रियों से उत्पन्न हुए हैं।

लव—कथा का यह भागविशेष हमने या अन्य किसी ने पहले नहीं सुना है।

जनक—क्या कवि (वाल्मीकि) ने (उसे) रचा ही नहीं ?

लवः—प्रणीतो न प्रकाशितः। तस्यैव कोऽप्येकदेशः सन्दर्भान्तरेण रसवानभिनेयार्थः कृतः। तं च स्वहस्तलिखितं मुनिर्भगवान् व्यसृजद् भगवतो भरतस्य मुनेस्तौर्यत्रिकसूत्रकारस्य।

जनकः—किमर्थम् ?

लवः—स किल भगवान् भरतस्तमप्सरोभिः प्रयोजयिष्यतीति।

जनकः—सर्वमिदमाकूततरमस्माकम्।

लवः समाधत्ते—भगवता वाल्मीकिना प्रणीतः=रचितः, निर्मितस्तु स भागः, किन्तु न प्रकाशितः=प्रकाशं न नीतः। तस्यैव=कथाभागस्यैव, एकदेशः=भागविशेषः, सन्दर्भान्तरेण—अन्येन सन्दर्भेण=प्रबन्धेन, श्रव्यप्रबन्धादतिरिक्तदृश्यप्रबन्धरूपकरूपेणेत्यर्थः, रसवान्=करुणाद्भुतरसोपेतः, अभिनेयार्थश्च—अभिनेयः=नटादिभिरभिनयेन प्रकाश्यः, अर्थः=इतिवृत्तरूपं वस्तु, यस्य स तथोक्तः, स्वहस्तेनैव विलिख्य, तौर्यत्रिकसूत्रकारस्य=नाट्यशास्त्रकारस्य ('तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्' इत्यमरः।) भगवतो भरतस्यान्तिके प्रेषितः।

किमर्थं तदन्तिके प्रेषितः ? इति जनकेन पृष्टः पुनरपि लव आह—स भगवान् भरतोऽप्सरोभिस्तस्याभिनयं प्रयोजयिष्यति=प्रयोगं कारयिष्यतीति श्रूयते।

लवमुखादेतच्छ्रुत्वा जनकः प्राह—एतत्सर्वमस्माकम्, आकूततरम्=अतिशयगूढार्थकमेवास्ति।

अभिनेयः—अभि+√नी+यत् ('अचो यत्')। तौर्यत्रिकसूत्रकारः—सूत्रं करोति; सूत्र+√कृ+अण् ('कर्मण्यण्') सूत्रकारः। तूर्यम्=मुरजादि, तत्र भवं तौर्यम् (तूर्य+अण्)। त्रयोऽवयवा अस्येति त्रिकम् (त्रि+कन्)। तौर्योपलक्षितं त्रिकमिति तौर्यत्रिकम् (नृत्यगीतवाद्यरूपं नाट्यम्), तस्य सूत्रकारः। प्रयोजयिष्यति—प्र+√युज्+णिच्+लृट्।

लव—रचा तो गया है, किन्तु (किसी पर) प्रकट नहीं किया गया है। उसी का कोई एक अंश (श्रव्य प्रबन्ध से) भिन्न प्रबन्ध (दृश्यरूपक) से सरस और अभिनय योग्य कथावस्तु वाला रचा गया है। अपने हाथ से लिखे हुए उसको भगवान् मुनि (वाल्मीकि) ने नाट्यशास्त्र प्रणेता भगवान् भरत मुनि के पास भेजा है।

जनक—किसलिए ?

लव—सुना जाता है कि वे भगवान् भरत मुनि अप्सराओं से उसे अभिनीत करायेंगे।

जनक—हमारे लिए तो यह सब अतिशय गूढार्थक है।

तौर्यत्रिकसूत्रधारस्य (पाठा०)—वीरराघव इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'तौर्यत्रिकसूत्रधारस्य नृत्तगीतवादित्रशास्त्राचार्यस्य, भरतस्य भावरागतालशास्त्राचार्यत्वमूलकृत्तदाद्यक्षरघटितभरतनामकस्य।'

अप्सरोभिः प्रयोजयिष्यति—सातवें अङ्क में कवि ने जो गर्भाङ्क अथवा गर्भनाटक की योजना की है, जिसमें अप्सराएँ बाल्मीकि ऋषि रचित नाटक खेलेंगी, की सूचना यहाँ लव के मुख से सामाजिकों को दी गयी है।

आकूतकरम् (पाठा०)—आकूतस्य=कौतुकस्य हेतुः।

लवः—महती पुनरस्मिन् भगवतो वाल्मीकेरास्था । यतो येषामन्तेवासिनां हस्तेन तत्पुस्तकं भरताश्रमं प्रति प्रेषितं तेषामनुयात्रिकश्चापपाणिः प्रमादापनोदनार्थम् अस्मद्भ्राता प्रेषितः ।

कौसल्या—जाद ! भादावि दे अत्थि ? [जात ! भ्राताऽपि तेऽस्ति ?]

लवः—अस्त्यार्यः कुशो नाम ।

कौसल्या—जेट्ठेत्ति भणिदं होदि । [ज्येष्ठ इति भणितं भवति ।]

लवः—एवमेतत् । प्रसवानुक्रमेण स ज्यायान् ।

लवोऽन्यदप्याह—महतीति । आस्था = आदरातिशयः । आनुयात्रिकः = अनुचरः । चापपाणिः—चापः पाणौ यस्य सः, धनुर्हस्त इत्यर्थः । प्रमादापनोदनार्थम्—प्रमादस्य अपनोदनार्थम् = अनवधानताजन्यविपत्तिनिवारणायेत्यर्थः । तस्मिन्नभिनेयसन्दर्भे भगवतो वाल्मीकेरादरातिशयो वर्तते, यतो येषां शिष्याणां हस्तेन तत्पुस्तकं भरताश्रमं प्रति प्रेषितं ते प्रमादं मा कुर्वन्तु, इति वाल्मीकिना चापहस्तो मदीयो भ्राता प्रेषित इति लवोक्तेराशयः ।

एतच्छ्रुत्वा कौसल्याऽऽह—जात = वत्स ! भ्राताऽप्यस्ति ते ?

लवेनोक्तम्—आर्यः = पूज्यः, ज्येष्ठभ्रातेत्यर्थः, कुशो नाम मे भ्राताऽस्ति ।

कौसल्या पुनराह—तर्हि ज्येष्ठ इति भणितम् = ध्वनितम्, उक्तं भवति ।

लवेनोक्तम्—एवमेतत्, प्रसवानुक्रमेण = मातृतः उत्पत्तेः क्रमेण पौर्वापर्येण, स आर्यः कुशः, ज्यायान् = अग्रजः ।

आस्था—आ + √स्था + अङ् (स्त्रियां भावे) । अन्तेवासी—अलुक्समास, 'शयवासवासिष्वकालात्' (६।३।१८) । अनुयात्रिकः—अनुयात्रम् = अनुगमनम्, तदस्त्यस्येति अनुयात्रिकः, अनुयात्र + ठन् (मतुबर्थक) । 'आनुयात्रिकः' ऐसा प्रयोग अधिक देखा जाता है, अनुयात्रा प्रयोजनमस्य, अनुयात्रा + ठक् । चापपाणिः—चापः पाणौ यस्य सः, व्यधिकरणबहुव्रीहि । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठा सप्तम्यौ' इति सप्तम्यन्त (पाणि) का परनिपात । आर्यः—√ऋ + ण्यत् । ज्यायान्—अयमनयोः अतिशयेन वृद्धः, वृद्ध + ईयसुन्, वृद्ध को 'ज्य' आदेश, ईयस् के 'ई' को 'आ' ('ज्यादादीयसः') ।

लव—और उसमें भगवान् वाल्मीकि की बड़ी आस्था है, क्योंकि जिन शिष्यों के हाथों से उस पुस्तक को भरत के आश्रम पर भेजा है, उनकी अनवधानता को दूर करने के लिए उनका अनुयायी बना कर धनुष हाथ में लिये हुए हमारा भाई भेजा गया है ।

कौसल्या—वत्स ! भाई भी तुम्हारे हैं ?

लव—पूज्य कुश नाम वाले (भाई) हैं ।

कौसल्या—कहने से ध्वनित होता है कि वह ज्येष्ठ है ।

लव—हाँ, यही बात है, उत्पत्ति के क्रम से वे (मुझसे) बड़े हैं ।

जनकः—किं यमजावायुष्मन्तौ ?

लवः—अथ किम् ?

जनकः—वत्स ! कथय कथाप्रबन्धस्य कीदृशः पर्यन्तः ?

लवः—अलीकपौरापवादोद्विग्नेन राज्ञा निर्वासितां देवयजनसम्भवां सीतादेवीमासन्नप्रसववेदनामेकाकिनीमरण्ये परित्यज्य लक्ष्मणः प्रतिनिवृत्त इति।

कौसल्या—हा वच्छे मुद्धचंद्रमुहि ! को दाणिं दे सरीरकुसुमस्स झत्ति देव्वदुव्विलासपरिणामो एक्कइणीए निवडिदो। [हा वत्से मुग्धचन्द्रमुखि ! क इदानीं ते शरीरकुसुमस्य झटिति दैवदुर्विलासपरिणाम एकाकिन्या निपतितः।]

जनकोऽपृच्छत्—किमायुष्मन्तौ युवां यमजौ=युग्मजातौ ?

लवः—अथ किम् ?

जनको लवं पृच्छति—**वत्स, कथयेति**। वत्स ! रामायणकथाप्रबन्धस्य पर्यन्तः=अवसानम्, समाप्तिः, कीदृशी ? इति कथय=ब्रूहि।

लवस्तदेवावसानं कथयति—**अलीकेति**। अलीकपौरापवादोद्विग्नेन—अलीकः=मिथ्याभूतः, पौरापवादः=पौरकर्तृकदोषकथनं, तेनोद्विग्नः=सम्भ्रान्तः, तेन=मिथ्याभूतेन पौरकर्तृकदोषकथनेनेत्यर्थः, सम्भ्रान्तो राजा (रामः) सीतां निर्वासितवान्। तां निर्वासितां देवयजनसम्भवां=यागभूमिसमुत्पन्नाम्, आसन्नप्रसववेदनाम्—आसन्ना=समीपवर्तिनी, प्रसववेदना=प्रसवपीडा, यस्यास्तथाभूतां देवीं सीतामेकाकिनीम्=असहायां परित्यज्य लक्ष्मणोऽयोध्यां प्रतिनिवृत्तः=प्रतियातः, इतीदृशः पर्यन्तः।

लवोक्तिं श्रुत्वा कौसल्या सखेदमाह—**हा वत्से ! इति**। हा, वत्से सीते ! सरले चन्द्रमुखि ! असहायायास्तव शरीरकुसुमस्य=कुसुमसदृशशरीरस्याकस्माद् दैवदुर्विलासपरिणामः—दैवस्य=विधेः, दुर्विलासः=दुश्चेष्टितम्, तस्य परिणामः=फलोपधानम्; दैवदुश्चेष्टितकृतः कः परिणामः, निपातितः=सञ्जातः।

एकाकिनी—एक+आकिनिच्+ङीप् ('ऋन्नेभ्यो ङीप्') 'एकादाकिनिच्चासहाये' (५।३।५२) के अनुसार 'असहाय' के अर्थ में आकिनिच् प्रत्यय। शरीरकुसुमस्य—शरीरं कुसुममिवेति शरीरकुसुमं तस्य, उपमित समास।

जनक—क्या तुम दोनों आयुष्मान् जुड़वाँ हो ?

लव—और क्या ?

जनक—बेटा, कहो, कथा-प्रबन्ध का अवसान किस प्रकार का है ?

लव—पुरवासियों के मिथ्या अपवाद से उद्विग्न महाराज (राम) के द्वारा निर्वासित, यज्ञभूमि से प्रकट हुई, प्रसव-वेदना से पीड़ित देवी सीता को अरण्य में अकेली छोड़कर लक्ष्मण लौट गये, ऐसा (कथा-प्रबन्ध का अवसान है)।

कौसल्या—हाय ! वत्से ! भोली-भाली ! चन्द्र के समान मुख वाली ! तुझ जैसी असहाया के कुसुम-सदृश शरीर पर सहसा भाग्य के स्वेच्छाचार का कैसा परिणाम फट पड़ा !

जनकः—हा वत्से !

नूनं त्वया परिभवं च वनं च घोरं
तां च व्यथां प्रसवकालकृतामवाप्य ।
क्रव्यादगणेषु परितः परिवारयत्सु
सन्त्रस्तया शरणमित्यसकृत् स्मृतोऽस्मि ॥ २३ ॥

लवः—(अरुन्धतीं प्रति) आर्ये ! कावेतौ ?

अरुन्धती—इयं कौसल्या । अयं च जनकः ।

लवः—(सबहुमानखेदकौतुकं पश्यति)

जनकः—अहो निर्दयता दुरात्मनां पौराणाम् ! अहो रामस्य राज्ञः क्षिप्रकारिता !

अन्वयः—परिभवं च घोरं वनं च प्रसवकालकृतां तां व्यथां च अवाप्य क्रव्याद्गणेषु परितः परिवारयत्सु, सन्त्रस्तया त्वया नूनं शरणम् इति असकृत् स्मृतः अस्मि ॥ २३ ॥

लवमुखात् कथाप्रबन्धस्यावसानप्रकारं निशम्य दुःखितो जनकः प्राह—नूनमिति। परितः=समन्तात्, क्रव्याद्गणेषु=मांसभक्षकेषु व्याघ्रादिवर्गेषु, परिवारयत्सु=मण्डलीकृत्य त्वां व्याप्नुवत्सु सत्सु, सन्त्रस्तया=समधिकभीतया, त्वया परिभवम्=पतिकर्तृकपरित्यागरूपं तिरस्कारं, घोरं=भयङ्करं, वनं, प्रसवकालकृताम्=प्रसूतिसमयजनितां, तां पीडां च अवाप्य=प्राप्य, 'यद्यत्र पिताऽभविष्यत् तर्हि मत्शरणम्=मद्रक्षकोऽभविष्यदित्येवम्प्रकारेणाहं निश्चयेन रक्षकत्वेन असकृत्=मुहुर्मुहुः, स्मृतोऽस्मि=स्मृतोऽभवम् ।

अत्र 'अवाप्य' इत्येकयैव क्रियया प्रस्तुतानां परिभववनव्यथारूपाणां पदार्थानामभिसम्बन्धात् तुल्ययोगितालङ्कारः । नूनमिति पदसत्त्वेऽपि नात्रोत्प्रेक्षालङ्कारः, 'स्मृतोऽस्मि' इत्यनेन सम्भावितत्वेनाभीप्सितार्थस्य स्मर्यमाणरूपतयोत्कीर्तनात् प्रकृतसम्भावनाविरहात् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २३ ॥

व्यथा—√व्यथ् + अङ् ('षिद्भिदादिभ्योऽङ्') । क्रव्याद—क्रव्यम् अत्ति, क्रव्य + √अद् + विट् (विट् का सर्वापहारी लोप) । परिवारयत्सु—परि + चुरादिगणीय √वृ (आवरणे) + णिच् (स्वार्थे) + शतृ, भावे सप्तमी ।

जनक—हाय बेटी, (पति द्वारा किये गये) तिरस्कार को, भयङ्कर वन को तथा प्रसवकाल की उस वेदना को पाकर, चारों ओर से कच्चे मांस खाने वाले (हिंस्र जन्तुओं) के समूहों के घेरते रहने पर अत्यन्त डरी हुई तुमसे 'मैं रक्षक हूँ' ऐसा निस्सन्देह मैं अनेक बार स्मृत हुआ हूँगा ॥ २३ ॥

लव—(अरुन्धती से) आर्ये ! ये दोनों कौन हैं ?

अरुन्धती—यह कौसल्या हैं । ये जनक हैं ।

लव—(अत्यधिक सम्मान, खेद और कौतूहल के साथ देखता है ।)

जनक—ओह ! दुरात्मा पुरवासियों की निर्दयता ! ओह ! रामभद्र की क्षिप्रकारिता (जल्दबाजी) !

एतद्वैशसवज्रघोरपतनं शश्वन्ममोत्पश्यतः
क्रोधस्य ज्वलितुं धगित्यवसरश्चापेन शापेन वा ।

कौसल्या—(सभय-कम्पम्) भअवदि ! परित्ताहि, परित्ताहि । पसादेहि कुविदं राएसिं । [भगवति ! परित्रायस्व परित्रायस्व, प्रसादय कुपितं राजर्षिम् ।]

लव.— एतद्धि परिभूतानां प्रायश्चित्तं मनस्विनाम् ।

अरुन्धती—राजन्नपत्यं रामस्ते पाल्याश्च कृपणा जनाः ॥ २४ ॥

कुपितो जनक आह—अहो इति । अहो ! दुरात्मनाम् = दुर्बुद्धीनाम् । पौराणां = नागरिकाणां, निर्दयता । अहो ! रामभद्रस्य क्षिप्रकारिता = असमीक्ष्यकारिता ।

अन्वयः—एतत् वैशसवज्रघोरपतनं शश्वत् उत्पश्यतः मम क्रोधस्य चापेन शापेन वा धगिति ज्वलितुमवसरः, इति पूर्वार्द्धान्वयः ।

एतद्वैशसेति । वैशसवज्रघोरपतनम्—वैशसम् = सीताहननरूपं महाव्यसनम्, तदेव वज्रस्य घोरम् = भयङ्करं पतनम् । शश्वत् = सदा । उत्पश्यतः = चिन्तयतः । मम = जनकस्येत्यर्थः । धगिति = धक्-धक् इति शब्दं कृत्वा ।

अयम्भावः—एतत् सीताहननरूपं वज्रस्य भयङ्करं पतनं सम्भावयतो मम कोपस्य धनुर्ग्रहणेन वा शापदानेन वा धक्-धक् इति शब्दं कृत्वा ज्वलितुमवसरः समुपस्थितः, अद्यावधि सीताप्रतिघातरूपं वज्रपतनं मया यथाकथञ्चित् सोढं परमधुनाऽऽयुधग्रहणेन शापप्रदानेन वा तेषां दुरात्मनां पौराणां क्षिप्रकारिणो रामस्य च विनाशं करिष्यामीति जनकोक्तेराशयः ।

मध्ये एव कौसल्या परित्राणार्थं कुपितजनकप्रसादनार्थं चारुन्धतीं प्रार्थयते, लवश्च जनकस्य तथाविधं कोपं निरीक्ष्य समर्थयति—

वैशसम्—विशसः = घातकः, (वि + √शस् + अच्) तस्य कर्म वैशसम्—विशस + अण् । मनस्विनाम्—प्रशस्तं मनो येषां ते मनस्विनः, तेषाम् । मनस् + विन् (प्राशस्त्य अर्थ में 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' सूत्र से विन् प्रत्यय) ।

(सीता पर किये गये) इस हिंसा रूपी घोर वज्रपात को निरन्तर सोचते हुए अब मेरे क्रोध का धनुर्ग्रहण के रूप में अथवा शाप के रूप में धक् से भड़क उठने का अवसर है ।

कौसल्या—(भय से काँप कर) हे भगवती ! (अरुन्धती) रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए । कुपित राजर्षि (जनक) को प्रसन्न कीजिए ।

लव—अपमानित किये गये मनस्वी जनों का यही (कोप ही) प्रायश्चित्त (प्रतीकार) है । (अर्थात् अपमानित होकर मनस्वी जन ऐसा कोप करते ही हैं) ।

अरुन्धती—राजन् ! राम तो आप के पुत्र हैं और दीन प्रजाजन रक्षणीय हैं ॥ २४ ॥

धगिति—सुलगती हुई आग के सहसा भड़क उठने पर 'धक्' की आवाज उत्पन्न होती है, उसी 'धक्' ध्वनि का यह अनुकरणात्मक शब्द है । जनक का भी कोपानल बहुत समय से भीतर ही भीतर सुलग रहा है, अब वह 'धक्' शब्द कर भड़कने ही वाला है ।

एतद्धि परिभूतानाम्—अनेक संस्करणों में यह वाक्य अरुन्धती द्वारा कहलाया गया है । तब इस वाक्य का आशय होगा—हि निश्चयेन एतत् प्रसादनम्, परिभूतानाम् = अवमतानां मनस्विनां

जनकः—शान्तं वा रघुनन्दने तदुभयं तत्पुत्रभाण्डं हि मे।
भूयिष्ठद्विजबालवृद्धविकलस्त्रैणश्च पौरो जनः ॥ २५ ॥

अन्वयः—परिभूतानां मनस्विनाम् एतत् हि प्रायश्चित्तम्, इति पूर्वार्द्धान्वयः।

एतद्धि इति। परिभूतानाम् = तिरस्कृतानाम्। मनस्विनाम् = तेजस्विनामित्यर्थः। प्रायश्चित्तम् = स्वावमानप्रतिकारसाधनमित्यर्थः।

अयम्भावः—तिरस्कृतानां महामनसां तेजस्विनामेतदेव स्वावमानप्रतिकारसाधनम्। परिभूता मनस्विनः प्रकुपिताः सन्तः स्वावमानप्रतिकारं कुर्वन्त्येवेति भावः।

अन्वयः—राजन्! रामः ते अपत्यम्, कृपणाः जनाः पाल्याश्च इति उत्तरार्द्धान्वयः ॥ २४ ॥

अरुन्धत्यपि जनकं प्रबोधयति—राजन्निति। अपत्यम् = पुत्रः। कृपणाः = दीनाः। जनाः = प्रजाः। पाल्याः = रक्ष्याः।

अयम्भावः—राजन्! रामस्ते पुत्र एव, दीनाः प्रजाश्च ते पालनीया एव सन्ति, अतः उभयोरुपरि भवतः कोपस्तु कथमपि नोचित इति भावः।

अत्राप्रस्तुतात् मनस्विसामान्यात् प्रस्तुतस्य जनकस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारः; अपि च 'एतत्' इति पदप्रतिपाद्यवस्तुना सह प्रायश्चित्तस्याभेदारोपाद् रूपकमलङ्कारः; । परार्द्धस्य तु जनककर्तृकक्रोधस्यानौचित्ये हेतुतयोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारश्च; एषां परस्परसापेक्षतया स्थितेः सङ्करः ॥ २४ ॥

अन्वयः—वा रघुनन्दने तद् उभयं शान्तम्, हि तत् मे पुत्रभाण्डम्, पौरो जनश्च भूयिष्ठद्विजबालवृद्धविकलस्त्रैणः, इति 'एतद्वैशसे'ति पूर्वोक्तश्लोकोत्तरार्द्धान्वयः ॥ २५ ॥

तदनन्तरं जनकः प्राह—**शान्तमिति।** उभयम् = चापग्रहणं शापप्रदानं च। हि = यतः। तत् = राम इत्यर्थः, (विधेयप्राधान्येन क्लीबत्वम्) पुत्रभाण्डम् = पुत्ररूपं

भूयिष्ठः—बहु + इष्ठन्, बहु के स्थान में भू आदेश, 'इष्ठस्य यिट् च' (६।४।१५९) के अनुसार प्रत्यय के आद्यावयव इकार का लोप और यिट् का आगम। स्त्रैणम्—स्त्रीणां समूहः, स्त्री + नञ्।

जनक—अथवा ये दोनों (चाप और शाप) राम के प्रति शान्त हो जायँ, क्योंकि वे मेरे पुत्र रूप मूलधन हैं और प्रजाजनों में बहुत से ब्राह्मण, बालक, बूढ़े, विकलाङ्ग तथा स्त्री-समूह हैं (अतः वे भी दया के पात्र हैं) ॥ २५ ॥

प्रायश्चित्तम् = कोपप्रतीकारः। अर्थात् अपमानित मनस्वियों के कोप का प्रतिकार एकमात्र उन्हें प्रसन्न करना ही है। अरुन्धती द्वारा इस प्रकार कौसल्या के 'प्रसादयकुपितं राजर्षिम्' वाक्य का अनुमोदन किया गया है।

प्रायश्चित्तम्—प्रायश्चित्तं पापक्षयकारणम्—'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपो निश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥'

अथवा—'प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्य विशोधनम्' इति स्मृतिः। तदनुसार—प्रायस्य पापस्य चित्तं विशोधनं यस्मात् तत् प्रायश्चित्तम् (बहुव्रीहिसमास) निपातन से सुट् का आगम।

(प्रविश्य)

सम्भ्रान्ता बटवः—कुमार, कुमार ! अश्वोऽश्व इति कोऽपि भूतविशेषो जनपदेषु श्रूयते । सोऽयमधुनास्माभिः प्रत्यक्षीकृतः ।

लवः—अश्व इति पशुसमाम्नाये साङ्ग्रामिके च पठ्यते । तद् ब्रूत कीदृशः ?

बटवः—श्रूयताम्—

मूलधनम् ('भाण्डं पात्रे वणिङ्मूलधने' इति मेदिनी) । भूयिष्ठ०—भूयिष्ठाः = अतिबहवः, द्विजाः = ब्राह्मणाः, बालाः = शिशवः, वृद्धाः, विकलाः = भग्नाङ्गाः, अन्धबधिरादय इत्यर्थः, स्त्रैणम् = स्त्रीसमूहश्च यस्मिन् तथाभूतः ।

अयम्भावः—अथवा रामे तदुभयं चापग्रहणं शापप्रदानं च शान्तमस्तु, यतो रामो मे पुत्ररूपं मूलधनमस्ति, प्रजाजनेषु च भूयिष्ठा ब्राह्मणाः, बाला, वृद्धाः, विकलाङ्गाः स्त्रीजनाश्च सन्ति, तदेतेषां सर्वेषामप्यनुकम्पनीयत्वादनुचित एव मे कोप इति भावः ।

अत्र चापादिग्रहणोपशमं प्रति पौरजनेषु द्विजादिभूयिष्ठत्वस्य हेतुत्वेनाभिधानात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २५ ॥

सम्भ्रान्ता बटव (सम्भ्रान्ता = सम्भ्रमयुक्ताः, कृतत्वरा इति यावत्) आगत्य लवं प्रति कथयन्ति—कुमार, कुमार ! (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः) जनपदेषु अश्वोऽश्व इति कोऽपि प्राणिविशेषः, श्रूयते, सोऽयमस्माभिः प्रत्यक्षीकृतः = चक्षुर्विषयीकृतः ।

लवो बटूनां वचनमाकर्ण्य स्वविज्ञानवैभवं प्रदर्शयन्नाह—अश्वोऽश्व इति । अश्व इति नाम पशुसमाम्नाये = पशुद्रव्यकयागप्रतिपादकवेदभागे, साङ्ग्रामिके = युद्धकाण्डे, च पठ्यते । तत्कथयन्तु भवन्तः, कीदृशोऽसावश्वः ? इति ।

प्रत्यक्षीकृतः—अप्रत्यक्षः प्रत्यक्षः कृतः इति प्रत्यक्षीकृतः (अभूततद्भावे च्विः) । समाम्नायः—सम् + आ + √म्ना + घञ्, युक् का आगम । साङ्ग्रामिके—संग्राम + ठञ् ।

(प्रवेश करके)

घबड़ाये हुए बटु—कुमार, कुमार ! घोड़ा है घोड़ा—इस प्रकार कोई प्राणीविशेष जनपदों में सुना जाता है, वही यह आज हमसे प्रत्यक्ष देख लिया गया ।

लव—'अश्व' ऐसा पशुसमाम्नाय (वेद का वह भाग जिसमें पशुयागों का वर्णन है) में तथा युद्धकाण्ड में भी पढ़ा जाता है । तो कहो—'वह कैसा है' ?

बटु लोग—अरे, सुनिये—

पशुसमाम्नाये—विद्यासागर ने इसका अर्थ 'पशुशास्त्रे' किया है । आचार्य शेषराजशर्मा के अनुसार यह शब्द निघण्टु के उस अंश का बोध कराता है, जिसमें पशुओं के नाम गिनाये गये हैं । वीरराघव कहते हैं—'पशुसमाम्नाये पशुद्रव्यकयागप्रतिपादकवेदभागे' । अर्थात् यह शब्द वेद के उस भाग का बोध कराता है, जिसमें पशुयागों का वर्णन है । वस्तुतः 'पशुसमाम्नाये' के साथ 'सांग्रामिके' का प्रयोग वीरराघव के मत की पुष्टि करता है । लव के कहने का आशय है कि हमने अश्व शब्द पशुयागशास्त्र और संग्रामशास्त्र में पढ़ा है । लव के इस कथन से प्रतीत होता है कि उसने भी कभी प्रत्यक्ष रूप से घोड़ा नहीं देखा था ।

पश्चात् पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रं
दीर्घग्रीवः स भवति खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्
किं वाऽऽख्यातैर्व्रजति स पुनर्दूरमेह्येहि यामः ॥ २६ ॥

(इत्युपसृत्याजिने हस्तयोश्च कर्षन्ति)

लवः—(सकौतुकोपरोधविनयम्) आर्याः ! पश्यत, पश्यत एभिर्नीतोऽस्मि।

(इति त्वरितं परक्रामति)

अन्वयः—पश्चात् विपुलं पुच्छं वहति, तच्च अजस्रं धूनोति । स दीर्घग्रीवः भवति। तस्य चत्वार एव खुराः । (सः) शष्पाणि अत्ति, आम्रमात्रात् शकृत्पिण्डकान् प्रकिरति । किं वा आख्यातैः, स पुनः दूरं व्रजति, एहि एहि यामः ॥ २६ ॥

बटवोऽश्वं वर्णयन्ति—पश्चात्पुच्छमिति । पश्चात् = शरीरपश्चिमे भागे । धूनोति = चालयति । अजस्रम् = निरन्तरम् । दीर्घग्रीवः—दीर्घा ग्रीवा यस्य स तथोक्तः, आयतकण्ठ इत्यर्थः । चत्वार एव = नाधिका इत्यर्थः, शष्पाणि = बालतृणानि । अत्ति= खादति । शकृत्पिण्डकान् = पुरीषपिण्डकान् । आम्रमात्रान् = आम्रफलप्रमाणान्। प्रकिरति = विक्षिपति । किं वाऽऽख्यातैः = अथवा बहुवर्णनैः किम् ? एहि = आगच्छ (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः) । अजिने = उत्तरीयभूतमृगचर्मणि ।

अयम्भावः—स शरीरपश्चिमे भागे विशालं पुच्छं धारयति, तच्च निरन्तरं चालयति, स दीर्घग्रीवो भवति, तस्य चत्वार एव (न ततोऽधिकाः) खुराः सन्ति । स बालतृणानि खादति, आम्रफलपरिमाणान् पुरीषपिण्डकान् विकिरति । अये ! बहुवर्णनैः किं साध्यते, दूरं प्रयात्यसौ, एहि, वयमपि तं द्रष्टुं शीघ्रं गच्छामः ।

अत्र अश्वरूपैककर्तृकारकेण सह वहतिप्रभृतीनामनेकासां क्रियाणामभिसम्बन्धाद् दीपकालङ्कारः; अपि चाम्रफलेन साकं शकृत्पिण्डानां साम्यस्य प्रतिपादनात् उपमालङ्कारः, यथायथमश्वस्वरूपवर्णनाच्च स्वभावोक्तिरलङ्कारः, इत्येतेषां परस्परसापेक्षतया स्थितेः सङ्करः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ २६ ॥

लवः—सकौतुकोपरोधविनयम्—कौतुकम् = अश्वदर्शनाभिलाषः, उपरोधः = बटूनां कृतः अनुरोधः, विनयः = प्रश्रयः, तैः सहितं यथा स्यात्तथा । एभिः = बटुभिः।

आख्यातैः—गम्यमानसाधनक्रियानुरोधात् करणे तृतीया ।

वह (शरीर के) पीछे वाले भाग में पूँछ धारण करता है और उसे निरन्तर हिलाता रहता है। उसकी गर्दन लम्बी होती है और (अन्य पशुओं की ही तरह) उसके चार ही खुर होते हैं। वह घास खाता है और आम के फलों के बराबर लीद के गोले-गोले छोटे लौंदे गिराता है। बहुत कहने से क्या ? वह फिर दूर चला जा रहा है, आओ आओ, हम सब (उसे देखने) चलें ॥२६॥

(ऐसा कह कर निकट जाकर मृगचर्म और हाथों को पकड़ कर लव को खींचते हैं।)

लव—(कौतूहल, आग्रह और विनय के साथ) हे पूज्यजनो ! देखें देखें, ये सब मुझे ले जा रहे हैं। **(ऐसा कह कर शीघ्र घूमता है)**

अरुन्धतीजनकौ—पूरयतु कौतुकं वत्सः।

कौसल्या—भअवदि ! जाणामि एदं अणालोअअन्ती ण जीआमि विअ। अदो अण्णदो भविअ पेक्खम्ह दाव गच्छमाणं दीहाउसं। [भगवति ! जानाम्येतमनालोकयन्ती न जीवामीव। अतोऽन्यतो भूत्वा प्रेक्षामहे तावद् गच्छन्तं दीर्घायुषम्।]

अरुन्धती—अतिजवेन दूरमतिक्रान्तः स चपलः कथं दृश्यते ?

नीतः=प्रापितः। अश्वदर्शनाभिलाषेण बटुकृताग्रहेण विनयेन च सहितं यथा स्यात्तथा लवाह—भो गुरुजनाः ! पश्यत पश्यत, क्षमध्वं ममापराधं, युष्मद्दर्शनपथं परिहृत्य स्वेच्छया न दूरं गच्छामि, एते मम सवयस्का मां बलान्नयन्तीति भावः।

गच्छति लवेऽरुन्धतीजनकावाहतुः—अयं वत्सो गत्वाऽश्वदर्शन रूपं स्वाभिलाषं पूरयतु।

गते लवे दुःखमनुभवन्ती कौसल्याऽऽह—भगवत्यरुन्धति ! एतं वत्समनालोकयन्ती =अपश्यन्ती, जानामि=अनुभवामि, मन्ये, न जीवामि=जीवनं न धारयामि, अतोऽन्यतः=अन्यस्मिन् स्थाने, भूत्वा=स्थित्वा, गच्छन्तं तं दीर्घायुषम्=आयुष्मन्तं, प्रेक्षामहे=अवलोकयामः।

अरुधन्ती कथयति—चपलः=चञ्चलः, सोऽतिजवेन=अतिशयवेगेन, दूरम् अतिक्रान्तः=अतिक्रम्य गतोऽधुना कथं दृश्यते ?

अन्यतः—अन्य+तसिल् (सप्तम्यर्थे)। अतिक्रान्तः—अति+√क्रम्+क्त (कर्तरि)।

अरुन्धती और जनक—बेटा (अपना) कौतूहल पूर्ण करे।

कौसल्या—भगवति ! मुझे (ऐसा) अनुभव हो रहा है कि इसे न देखती हुई मैं मानों जी नहीं रही हूँ। अतः अन्यत्र स्थित होकर अब हम जाते हुए आयुष्मान् (लव) को देखें।

अरुन्धती—अत्यन्त वेग से दूर निकल गया हुआ वह चपल कैसे दिखलायी देगा ?

सकौतुकोपरोधविनयम्—बालस्वभाव के कारण लव के हृदय में घोड़ा देखने की उत्सुकता थी, दूसरी तरफ बटु लोग उसके मृगचर्म तथा हाथ पकड़ कर खींच रहे थे, जिससे उन वृद्धों के पास रहने की इच्छा का उपरोध (व्याघात) हो रहा था। ऐसी स्थिति में सहसा वृद्धों को छोड़ कर चले जाने में एक प्रकार की अशिष्टता की आशंका से उसके मुख पर विनय का भाव भी झलकता था। इस प्रकार लव के हृदय में अनेक भावों की खींचा-तानी चल रही थी। इस सन्दर्भ में भवभूति का मनोविज्ञान विषयक पाण्डित्य द्रष्टव्य है।

एभिर्नीतोऽस्मि—लव के कहने का अभिप्राय है—आप लोगों की बिना अनुमति प्राप्त किये मैं आप लोगों के पास से सहसा चला जा रहा हूँ, मेरी इस अशिष्टता को क्षमा करें; क्योंकि मैं स्वयं अपनी इच्छा से नहीं जा रहा हूँ, ये मेरे साथी बलात् मुझे घसीट कर ले जा रहे हैं। इस प्रकार लव ने अपने वाक्कौशल से अपने को निर्दोष सिद्ध करते हुए सारा अपराध उन साथियों के सिर पर मढ़ दिया।

भगवति जानामि—इससे पहिले 'अरण्यगर्भरूपालापैर्यूयं तोषिता वयं च' ऐसा पाठ भी मिलता है। अरण्यगर्भाणां वनचरशिशूनां रूपैः आलापैः आभाषणैश्च। अथवा—गर्भरूपः (गर्भ-

कञ्चुकी—(प्रविश्य) भगवान् वाल्मीकिराह ज्ञातव्यमेतदवसरे भवद्भि-रिति ।

जनकः—अतिगम्भीरमेतत्किमपि । भगवत्यरुन्धति ! सखि कौसल्ये ! आर्य-गृष्टे ! स्वयमेव गत्वा भगवन्तं प्राचेतसं पश्यामः ।

(इति निष्क्रान्तो वृद्धवर्गः)

(प्रविश्य)

बटवः—पश्यतु कुमारस्तदाश्चर्यम् ।

लवः—दृष्टमवगतं च । नूनमाश्वमेधिकोऽयमश्वः ।

तस्मिन्नेव समये वाल्मीकिसकाशात् प्रत्यागतः कञ्चुकी प्राह—युष्माभिर्यद् वृत्तं एतत् = 'कुतस्त्योऽयं माणवकः' इतिरूपं, ज्ञातुमहं वाल्मीकिसकाशं प्रेषित आसम्, तस्मिन् विषये भगवान् वाल्मीकिराह—तद्वृत्तं साम्प्रतं न कथयामि, भवद्भिः अवसरे = उचितकाले, तद्वृत्तं स्वयमेव ज्ञास्यते ।

तच्छ्रुत्वा **जनकः** प्राह—अस्मिन् वाल्मीकिवाक्ये कोऽप्यतिगम्भीरम् = अतिशय-गूढाशयो निहितो वर्तते, तस्माद् हे भगवत्यरुन्धति ! सखि कौसल्ये ! आर्यगृष्टे ! सर्वेऽपि वयं भगवन्तं प्राचेतसं = वाल्मीकिं, द्रष्टुं तत्सकाशमेव गच्छामः । इत्युक्त्वा स वृद्धवर्गो निष्क्रान्तः ।

निष्क्रान्ते तस्मिन् वृद्धवर्गे **बटवः** समागत्य लवं प्राहुः—पश्यत्विति । तत् = अस्माभिराख्यातं, आश्चर्यम् = अश्वनामकमद्भुतं वस्तु, पश्यतु कुमारः ।

ततो **लवेनोक्तम्**—दृष्टम् अवगतं = ज्ञातं च, नूनम् = निश्चयेन । आश्वमेधिकः—अश्वमेधः प्रयोजनमस्य इति; अश्वमेधार्थकोऽयमश्व इति, नात्र कोऽपि सन्देहः ।

आश्चर्यम्—आङ् पूर्वक √चर् से 'चरेराङि चागुरौ' वार्तिक (१९२५) से यत् प्रत्यय और 'आश्चर्यमनित्ये' (६।१।१७४) सूत्र से अद्भुत अर्थ की प्रतीति में धातु (चर्) के सुट् का आगम होने पर 'आश्चर्यम्' पद की निष्पत्ति होती है। आश्वमेधिकः—अश्वमेधः प्रयोजनमस्य; अश्वमेध + ठञ् ('प्रयोजनम्' ५।१।१०९)। वीरराघव के अनुसार—अश्वमेधाय प्रभवति आश्वमेधिकः ।

कञ्चुकी—(प्रवेश कर) भगवान् वाल्मीकि कहते हैं कि ('बालक किसका है') यह बात आप लोगों को समय पर मालूम हो जायेगी ।

जनक—यह कोई बड़ी गम्भीर (रहस्यपूर्ण) बात है । हे भगवती अरुन्धती, सखी कौसल्या, आर्य गृष्टि ! हम स्वयं चल कर भगवान् वाल्मीकि से मिलें ।

(ऐसा कहकर वृद्धवर्ग निकल जाता है)

(प्रवेश कर)

बटु लोग—कुमार उस आश्चर्य (अद्भुत वस्तु) को देखें ।

लव—देख लिया और समझ भी गया । अवश्य यह अश्वमेधयज्ञ में प्रयुक्त होनेवाला घोड़ा है ।

रूपकोऽपि)=शिशुः (वामन शिवराम आप्टे)—अरण्यगर्भरूपस्य = वन्यशिशोः लवस्येत्यर्थः, तस्य आलापैः । वन्य शिशु (लव) के आभाषणों से आप सब और हम प्रसन्न किये गये ।

बटवः—कथं ज्ञायते ?

लवः—ननु मूर्खाः ! पठितमेव हि युष्माभिरपि तत्काण्डम् । किं न पश्यथ प्रत्येकं शतसङ्ख्याः कवचिनो दण्डिनो निषङ्गिणश्च रक्षितारः । तत्प्रायमेव बलमिदं दृश्यते । यदीह न प्रत्ययस्तद् गत्वा पृच्छत ।

बटवः—भो भोः ! किम्प्रयोजनोऽयमश्वः परिवृतः पर्यटति ?

लवः—(सस्पृहमात्मगतम्) अये ! अश्वमेध इति नाम विश्वविजयिनां क्षत्रियाणामूर्जस्वलः सर्वक्षत्रपरिभावी महानुत्कर्षनिष्कर्षः ।

'कथं ज्ञायते' इति बटुभिरुक्तो लवः पुनराह—ननु मूर्खाः ! युष्माभिरपि पठितः तत्काण्डम् = अश्वमेधप्रतिपादकः स वेदभागः, किं न पश्यथ ? कवचिनः = कवचधारिणः, दण्डिनः = लगुडहस्ताः, निषङ्गिणश्च = तूणीरधारिणश्च, रक्षितारः = आश्वमेधिकाश्वरक्षकाः, प्रत्येकं शतसङ्ख्याः सन्ति, तत्प्रायमेव—तेषां = कवचिप्रभृतीनां, प्रायः = बाहुल्यं, यस्मिन् तथाविधमेव, इदं सैन्यं दृश्यते । यदि इह = मत्कथने, न प्रत्ययः = न विश्वासस्तद् गत्वा तान् सैनिकानेव पृच्छत ।

ततस्ते बटवः समुपसृत्य सैनिकान् पृच्छन्ति—'भो भोः सैनिकाः ! किम्प्रयोजनः—किं प्रयोजनं यस्य सः, किम्फलक इत्यर्थः, किमर्थोऽयमश्वो युष्माभिः परिवृतः = परिवेष्टितः, बलैरिति शेषः; पर्यटति = परिभ्रमति, सञ्चरति ?

इत्येवं पृच्छत्सु बटुषु लवः (सस्पृहम्—स्पृहा = अनागते वस्तुनीच्छा, अश्वमेधानुष्ठानेच्छेति यावत्, तया सहितं यथा स्यात्तथा आत्मगतम = स्वमनसि) कथयति—**अश्वमेध इति** । अश्वमेध इति नाम्ना प्रसिद्धो यज्ञो विश्वविजयिनां क्षत्रियाणाम्, ऊर्जस्वलः—प्रशस्तम् ऊर्जः अस्त्यस्येति = बलिष्ठः, अतिशयबल इत्यर्थः; सर्वक्षत्रपरिभावी

ऊर्जस्वलः—ऊर्जः = बलम्, तदस्त्यस्य; ऊर्जस् शब्द से 'ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः' (५।२।११४) सूत्र के अनुसार मतुप् के अर्थ में निपातन से 'वलच्' प्रत्यय; ऊर्जस् + वलच् = ऊर्जस्वलः ।

बटु लोग—कैसे ज्ञात होता है ?

लव—अरे मूर्खो ! तुम सब ने वह (अश्वमेध वाला) प्रकरण पढ़ा ही है । क्या कवच वाले, दण्ड वाले तथा तरकस वाले रक्षकों को जिनमें प्रत्येक की संख्या सौ है, देख नहीं रहे हो, प्रायेण वैसी ही तो यह सेना दीख रही है । यदि इसमें विश्वास न हो तो जाकर पूछ लो ।

बटु लोग—अरे अरे ! किस प्रयोजन वाला यह घोड़ा (तुम सबसे) घिरा हुआ घूम रहा है ।

लव—(स्पृहा के साथ, स्वगत) ओह ! 'अश्वमेध' यह नाम विश्वविजेता क्षत्रियों का शक्तिशाली तथा समस्त क्षत्रियों का अनादर करने वाला, उत्कर्ष का महान् सार (पराकाष्ठा) है ।

तत्काण्डम्—अश्वमेध-प्रतिपादक वेद भाग अथवा रामायण का बालकाण्ड, क्योंकि रामायण के बालकाण्ड में भी अश्वमेध का प्रसङ्ग आया है (वीरराघव) ।

उत्कर्षनिकषः (पाठान्तर)—उत्कर्ष की कसौटी ।

(नेपथ्ये)

योऽयमश्वः पताकेयमथवा वीरघोषणा।
सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विषः ॥ २७ ॥

=सकल(निःशेष)राजकुलपरिभवहेतुः, उत्कर्षनिष्कर्षः—उत्कर्षस्य महान् निष्कर्षः=सारः, पराकाष्ठेत्यर्थः, अस्ति। मयाऽपि यथासमयमेष यज्ञोऽनुष्ठातव्य इति भावः।

अन्वयः—अयं यः अश्वः, इयं सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विषः पताका अथवा वीरघोषणा अस्ति ॥ २७ ॥

'किम्प्रयोजनोऽयमश्वः पर्यटति ?' इति बटूनां प्रश्नस्योत्तरं नेपथ्ये सैनिकैर्दीयते—**योऽयमश्व इति।** सप्तलोकैकवीरस्य—सप्तसु लोकेषु एकः=अद्वितीयः, वीरः, तस्य। दशकण्ठकुलद्विषः—दशकण्ठः=रावणः, तस्य कुलं द्वेष्टि इति दशकण्ठकुलद्विट्, तस्य=भगवतो रामचन्द्रस्येत्यर्थः। पताका=विजयवैजयन्ती। वीरघोषणा—वीर इति घोषणा, पराक्रमसूचको डिण्डिमध्वनिरिति भावः।

अयम्भावः—योऽयमश्वः पुरो दृश्यते, इयं सप्तसु लोकेषु अद्वितीयवीरस्य रावणकुलसंहर्तुः भगवतो रामचन्द्रस्य विजयवैजयन्ती अथवा वीरघोषणाऽस्ति।

अत्र 'सप्तलोकैकवीरस्य' 'दशकण्ठकुलद्विष'श्चेति विशेषणद्वयस्य साभिप्रायकत्वेनोपन्यस्तत्वात् परिकरालङ्कारः, तथाऽश्वेन सार्द्धं पताकाया वीरघोषणायाश्चाभेदारोपान्निरङ्गं रूपकमलङ्कारः। एतयोर्नैरपेक्ष्येण स्थितेः संसृष्टिः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ २७ ॥

सप्तलोकैकवीरस्य—सप्तसु लोकेषु एकः वीरः इति उत्तरपदद्विगुः ('तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च'—२।१।५१)।

(नेपथ्य में)

यह जो अश्व है, यह सातों लोकों में अद्वितीय वीर, रावणकुल के शत्रु (भगवान् राम) की विजयवैजयन्ती अथवा उनके वीरत्व की घोषणा है।

सप्तलोकाः—'भूर्भुवः स्वर्महश्चैव जनश्च तप एव च। सत्यलोकश्च सप्तैते लोकास्तु परिकीर्तितः ॥' (अग्निपुराण)।

एकवीरः—एकश्चासौ वीरश्चेति एकवीरः। एक शब्द का वीर शब्द के साथ 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' (२।१।४९) सूत्र के अनुसार समास होने पर एक शब्द का पूर्वनिपात होने से (उपसर्जनं पूर्वम्) 'एकवीरः' समस्त पद बनता है। सिद्धान्तकौमुदी में यह आपत्ति उठायी गयी है कि 'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यममध्यमवीराश्च' (२।१।५८) सूत्र 'पर' होने के कारण 'पूर्वकालैक'—को बाधित करके 'वीर' शब्द का एक शब्द के साथ समास का विधान करेगा, ऐसी स्थिति में वीर शब्द का उपसर्जन होने के कारण पूर्वनिपात होने से 'एकवीरः' के स्थान में 'वीरैकः' होना चाहिए। दीक्षित जी इसका समाधान इस प्रकार करते हैं—'पूर्वापरप्रथम०' सूत्र में 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५७) से बहुल पद की अनुवृत्ति आती है, अतः बहुलग्रहण की अनुवृत्ति होने से 'पूर्वापरप्रथम०' सूत्र की प्रवृत्ति न होने से 'पूर्वकालैक०' से ही समास होता है, इस प्रकार 'एकवीरः' की निर्बाध सिद्धि होती है।

लवः—(सगर्वमिव) अहो ! सन्दीपनान्यक्षराणि ।

बटवः—किमुच्यते ? प्राज्ञः खलु कुमारः ।

लवः—भो भोः ! तत्किमक्षत्रिया पृथिवी, यदेवमुद्घोष्यते ?

(नेपथ्ये) अरे रे ! महाराजं प्रति कुतः क्षत्रियाः ?

लवः—धिग्जाल्मान् !

यदि ते सन्ति सन्त्येव केयमद्य विभीषिका ।
किमुक्तैरेभिरधुना तां पताकां हरामि वः ॥ २८ ॥

इदं वाक्यमाकर्ण्य लवः सगर्वम्–गर्वेण = परोत्कर्षानादरेण सहितं यथा स्यात्तथा, इवाह—अहो इति । अहो ! इति असूयासूचकमव्ययपदम् । एतान्यक्षराणि = 'योऽय-मश्वः' इत्याद्याकारका वर्णाः, सन्दीपनानि = क्रोधोत्साहयोः संवर्धकानि, एतेषां श्रवणेन कोप उत्साहश्च समुज्जृम्भत इति भावः ।

बटुभिश्चोक्तम्—किमुच्यते = किमस्माभिर्वक्तुं शक्यते ? अस्मासु कुमारः खलु = एव, निश्चयेनेत्यर्थः, प्राज्ञः = विज्ञ ।

लवः प्राह—भो भोः तदिति । तत् किं पृथ्वी अक्षत्रिया = क्षत्रियरहिता, निर्वीरेत्यर्थः, जाता, यदेवं='योऽयमश्वः' इत्यादिरूपा, उद्घोष्यते = उच्चैः प्रख्याप्यते, उच्चैर्घोषणा क्रियते युष्माभिः ?

नेपथ्ये सैनिका अनादरपूर्वकं कथयन्ति—अरे रे ! रे—अनादरद्योतके सम्बोधने पदमिदम्; महाराजं प्रति कुतः = कस्माद्धेतोः क्व वा, क्षत्रियाः ? श्रीरामचन्द्रस्य प्रतिभटाः क्षत्रियाः कुत्र सन्तीति भावः ।

तच्छ्रुत्वा लव आह—जाल्मान् धिक् = असमीक्ष्यकारिणः ('जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्' इत्यमरः) युष्मान् धिक् !

प्राज्ञः—प्रज्ञः (प्र + √ज्ञा + क, 'आतश्चोपसर्गे') एव प्राज्ञः—प्रज्ञ + अण् (स्वार्थे) । अक्षत्रिया—न क्षत्रिया यस्यां तथाविधा (नञ् बहुव्रीहि) । महाराजं प्रति—प्रति के योग में द्वितीया ।

जाल्मान् धिक्— धिक् के योग में द्वितीया । विभीषिका– वि + √भी + णिच्, षुक् का आगम + ण्वुल् + टाप्, इत्वभाव । उक्तैः—√वच् + क्त (नपुंसके भावे) ।

लव—(गर्व के साथ) अहो ! ये अक्षर (क्रोध और उत्साह के) उद्दीपक हैं ।

बटु—क्या कहा जाय ? कुमार (लव) निस्सन्देह बुद्धिमान हैं ।

लव—अरे, तो क्या पृथिवी क्षत्रिय-विहीन हो गयी जो इस तरह चिल्ला कर घोषणा की जा रही है ?

(नेपथ्य में) अरे रे ! महाराज (राम) के सामने क्षत्रिय कहाँ ?

लव—बिना विचार किये बात कहने वाले (तुम) नीचों को धिक्कार है ।

यदि वे (महाराज राम) हैं तो हैं ही, आज यह त्रासोत्पादन कैसा ! (तुम लोगों के) इन वचनों से क्या ? तुम्हारी उस विजयपताका को मैं अभी छीने लेता हूँ ॥ २८ ॥

भो भो बटवः ! परिवृत्य लोष्ठैरभिघ्नन्तो नयतैनमश्वम् । एष रोहितानां मध्ये वराकश्चरतु ।

(प्रविश्य सक्रोधदर्पः)

पुरुषः—धिक् चापलं, किमुक्तवानसि ? तीक्ष्णनीरसा ह्यायुधीयश्रेणयः

अन्वयः—यदि ते सन्ति, सन्ति एव अद्य इयं विभीषिका का ? एभिः उक्तैः अधुना किम् ? वः तां पताकां हरामि ॥ २८ ॥

यदीति । ते = रामाः (आदरार्थे बहुवचनम्), सन्ति = सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, तर्हि सन्त्येव = वर्त्तन्त एव । विभीषिका = भयोत्पादनम् । का = कीदृशी । उक्तैः = भवदुक्तवचनैः । वः = युष्माकम् । पताकाम् = विजयवैजयन्तीरूपमश्वम् । हरामि = बलात् नयामि ।

अयम्भावः—यदि ते महाराजा रामचन्द्राः (आदरार्थे बहुवचनम्) सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, वर्तन्त एव, अद्य क्षत्रियसत्ताधिकरणेऽस्मिन् दिवसे इयं महाराजं प्रति कुतः क्षत्रियाः इतिरूपा विभीषिका कीदृशी ? एभिर्भवदुक्तवचनैः किं साध्यते ? युष्माकं विजयपताकारूपमश्वं बलात् नयामि (यदि युष्माकं शक्तिः स्यात् तदा रक्षते मां पताकामिति भावः) । अर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ २८ ॥

पुनराह लवः—भो भो बटवः ! एनमश्वं परिवृत्य=वेष्टयित्वा, लोष्ठैः=मृत्पिण्डैः, अभिघ्नन्तः = ताडयन्तः, यूयमाश्रमं नयत=प्रापयत, एष वराकः=शोच्यः, दयार्हः, चरतु = विचरतु, रोहितानां = मृगविशेषाणाम्, मध्ये ।

सक्रोधदर्पः **पुरुषः** प्रविश्य कथयति—**धिगिति** । चापलम्—चपलस्य कर्म, चपलतामित्यर्थः । तीक्ष्णनीरसाः—तीक्ष्णाः=प्रचण्डाः, नीरसाः = निःस्नेहाः, निर्दया इत्यर्थः । आयुधीयश्रेणयः—आयुधेन जीवन्ति इति आयुधीयाः, शस्त्रजीविनः सैनिका इति

अभिघ्नन्तः—अभि + √हन् + शतृ + जस् (प्र० बहुव०) । आयुधीयः—आयुधेन जीवति, आयुध + छ (ईय) 'आयुधाच्छ च' सूत्र से 'जीवति' इस अर्थ में आयुध शब्द से छ प्रत्यय होता है । 'आयनेयीनीयियः—' सूत्र के अनुसार 'छ' प्रत्यय के अवयव 'छ्' को 'ईय्' आदेश होता है ।

अजी बटु लोगो ! इस घोड़े को घेर कर मिट्टी के ढेलों से पीटते हुए (आश्रम को) ले जाओ। यह बेचारा रोहित मृगों के बीच विचरण करे ।

(प्रवेश करके, क्रोध और गर्व के साथ)

पुरुष—(तेरी) चपलता को धिक्कार ! क्या कहा है तूने ! प्रचण्ड और निर्दय शस्त्र-

---

यदि नो सन्ति सन्त्येव (पाठा०)—यदि (तुम कहते हो) क्षत्रिय नहीं हैं, (तो मैं कहता हूँ) हैं ही ।

किमुक्तैः सन्निपत्यैव (पाठा०)—'सन्निपत्य' का अर्थ है—झपट कर, आक्रमण कर ।

शरसम्बाधाम् (पाठा०)—पताका का विशेषण । शरैः सम्बाधः आच्छादनं यस्यास्ताम्, बाणों से आच्छादित पताका को ।

शिशोरपि दृप्तां वाचं न सहन्ते। राजपुत्रश्चन्द्रकेतुररिमर्दनः सोऽप्यपूर्वारण्यदर्शनाक्षिप्तहृदयो न यावदायाति तावत् त्वरितमनेन तरुगहनेनापसर्पत।

बटवः—कुमार! कृतमनेनाश्वेन, तर्जयन्ति विस्फुरितशस्त्राः कुमारमायुधीयश्रेणयः। दूरे चाश्रमपदमितस्तदेहि हरिणप्लुतैः पलायामहे।

लवः—(विहस्य) किं नाम विस्फुरन्ति शस्त्राणि? (इति धनुरारोपयन्)

यावत्, तेषां श्रेणयः। दृप्ताम्=गर्विताम्। वाचम्=वाणीम्। अरिमर्दनः=शत्रुविनाशकः। अपूर्वारण्यदर्शनाक्षिप्तहृदयः—अपूर्वस्य=अदृष्टपूर्वस्य, अरण्यस्य=वनस्य, दर्शनेन—अवलोकनेन, आक्षिप्तम्=आकृष्टम्, हृदयम्=चित्तं, यस्य सः। त्वरितम्=शीघ्रम्। तरुगहनेन—तरुभिः=वृक्षैः, गहनेन=दुःखावगाहेन। अपसर्पत=पलायध्वम्।

अयम्भावः—चपलतां धिक्! किमुक्तं त्वया? बालकस्यापि गर्वयुक्तं वचनं शस्त्रजीविनः सैनिकाः प्रचण्डतया निर्दयत्वाच्च न क्षमन्ते। राजपुत्रश्चन्द्रकेतुररिविनाशकोऽस्ति। सम्प्रत्यपूर्ववनविलोकनासक्तः स यावन्नायाति तावच्छीघ्रमेवानेन तरुभिर्गहनेन वनेन पलायध्वमिति भावः।

भीता बटवो लवं प्रत्याहुः—**कुमारेति**। कुमारः कृतमनेनाश्वेन=अलमेतेनाश्वेन, तेन किमपि साध्यं नास्तीत्यर्थः, विस्फुरितशस्त्राः—विस्फुरितानि=प्रदीप्तानि, शस्त्राणि यासां तथाविधाः, आयुधीयश्रेणयो भवन्तं तर्जयन्ति। आश्रमश्चेतो दूरे वर्तते, तदागच्छ वयं हरिणप्लुतैः—हरिणानामिव प्लुतैः=तीव्रगमनैः, पलायामहे।

त्वरितम्—√त्वर्+क्त। इडागम के अभावपक्ष में 'तूर्णम्'। कृतमश्वेन—गम्यमानसाधनक्रियानुरोधात् करणे तृतीया।

जीवियों की पंक्तियाँ बच्चे की भी गर्वभरी बात को माफ नहीं करती हैं। राजकुमार चन्द्रकेतु शत्रुसंहारक है। उसका भी चित्त अपूर्व वन को देखने में आसक्त है, (इसलिए) जब तक वह आ नहीं रहा है, तब तक तुम सब (अपने प्राण बचाने के लिए) शीघ्र इन वृक्षों की झुरमुट से (होते हुए) भाग जाओ।

बटु लोग—कुमार! इस अश्व की आवश्यकता नहीं। चमकते शस्त्रों वाली शस्त्रजीवियों की पंक्तियाँ कुमार को डरा रही हैं। आश्रम भी यहाँ से दूर है। अतः आओ हरिण की चाल से भागें।

लव—(**हँसकर**) क्या शस्त्र चमक रहे हैं? (**ऐसा कहकर धनुष पर डोरी चढ़ाता हुआ**)—

तीक्ष्णतरा आयुधश्रेणयः (पाठा०)—यहाँ भी आयुध पद का अर्थ लक्षणा से 'आयुधधारी' करना पड़ता है, क्योंकि आयुध पद का अन्वय असहन क्रिया में उपपन्न नहीं हो पाता है। अतः 'तीक्ष्णनीरसा आयुधीयश्रेणयः' पाठ अधिक समीचीन है।

चन्द्रकेतुर्दुर्दान्तः (पाठा०)—दुर्दान्तः=अमर्षशीलः।

सौम्यपूर्वारण्य० (पाठा०)—सौम्यं सुन्दरं पूर्वारण्यं पूर्वदिवसं यदरण्यं तस्य दर्शनेन०।

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत् ।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु चापम् ॥ २९ ॥

(इति यथोचितं परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महाकवि-भवभूतिविरचित उत्तररामचरिते

कौसल्याजनकयोगो नाम चतुर्थोऽङ्कः ।

बटूनामुक्तिं समाकर्ण्य लवोऽनादरपूर्वकं विहस्य 'किं नाम विस्फुरन्ति शस्त्राणि' (नामेति दोषे निन्दायां वा) इति वदन् धनुरारोपयन् प्राह—

अन्वयः—ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रम् उद्गारिघोरघनघर्घरघोषम् एतत् चापं ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु ॥ २९ ॥

ज्याजिह्वयेति । ज्याजिह्वया—ज्या = मौर्वी, सैव जिह्वा, तया । वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रम्—वलयिते = वेष्टिते, उत्कटे = उग्रे, कोटी = अटन्यौ, एव दंष्ट्रे = पृथुदन्तौ, यस्य तत्तथोक्तम् । उद्गारिघोरघनघर्घरघोषम्—उद्गारी = उदयन्, घोरः = भीषणः, घनस्येव = मेघस्येव, घर्घरघोषः = घर्घरध्वनिर्यस्य तत्तथोक्तम् । चापम् = धनुः । ग्रासप्रसक्त०—ग्रासे = जगत्कवलने, प्रसक्तम् = व्यापृतम्, हसत् = हासं कुर्वत्, अन्तकवक्त्रम् = कृतान्तमुखम्, तद् यन्त्रमिव, तस्य = यन्त्रतुल्यकृतान्तमुखस्येत्यर्थः, जृम्भा = व्यादानम्, विडम्बयति = अनुकरोति, इति तच्छीलम्, अत एव विकटोदरम्—विकटम् = भयङ्करम्, उदरम् = मध्यभागः, यस्य तत् तादृशम् । अस्तु = भवतु ।

अयमाशयः—इदानीम् मे धनुः कृतान्तमुखमिव भवतु । यथा संहारकाले तन्मुखस्योग्रे दंष्ट्रे जिह्वया वेष्टिते भवतस्तथैवेमान् सैनिकान् संहर्तुं मे कोदण्डस्याग्रेऽटन्यौ

वलयितम्—वलयं करोति वलययतिम् (नामधातु); वलय + णिच् ('तत्करोति तदाचष्टे') ततः कर्मणि क्तः । उद्गारिन्—उद् + √गृ (निगरणे) + णिनिः

मौर्वी रूप जिह्वा से वेष्टित उग्र अग्रभाग रूप दाढ़ों वाला, ऊर्ध्वगामी भीषण मेघ के शब्द के समान घर्घर घोष करने वाला यह धनुष निगल लेने में लगा हुआ होने के कारण अट्टहास करता

इस श्लोक में वीररस, ओजोगुण और गौडीरीति है । यहाँ कर्णकटुवर्णों का प्रयोग वीररस के अनुकूल होने से दुःश्रवत्व दोष नहीं अपितु गुण ही है—'वक्तरि क्रोधसंयुक्ते वाच्येऽत्यन्तं समुद्धते । रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तदुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥' (साहित्यदर्पण) ।

यहाँ रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति, अर्थालंकार तथा वृत्त्यनुप्रास एवं छेकानुप्रास शब्दालंकार हैं । हाँ, वसन्ततिलका वृत्त का प्रयोग हुआ है, जो वीररस के लिए उपयुक्त नहीं माना जाता है । यह श्लोक 'महावीरचरित' के तृतीय अङ्क में भी आया है ।

चापम्—चाप शब्द का नपुंसकत्व चिन्तनीय है । अथवा 'सामान्ये नपुंसकत्वम्' माना जा सकता है—'क्लीबत्वं विचारयितव्यम्, सामान्ये नपुंसकत्वं वा' । अथवा 'भयाभूतसकृद्वक्त्र-चापाभरणलाञ्छनम्' इति नपुंसकशेषोक्तेः क्लीबत्वम् । (वीरराघव)

मौर्व्या वलयिते भवताम् । यथा जगत्कवलने व्यापृतं कृतान्तमुखं हासं कुर्वत् ऊर्ध्वगामिनं भीषणं मेघतुल्यघर्घरघोषं करोति, तथैवैतेषां सैनिकानां कवलने व्याप्रियमाणं मे धनुर्हासं कुर्वत् तादृशमेव घोषं करोतु । यथा जृम्भमाणस्य कृतान्तमुखस्यान्तरालं भीषणं दृश्यते, तथैव शरसन्धानकाले ज्याकर्षणेन वर्तुलत्वेन जृम्भमाणस्य मे कोदण्डस्यान्तरालं भीषणं भवतु । अत्र रूपकेण सङ्कीर्णोपमा । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २९ ॥

(ताच्छील्ये) । प्रसक्तं—प्र + √सञ्ज् + क्त (कर्तरि) । ०विडम्बिन्—० √विडम्ब् + णिनि (ताच्छील्ये) ।

यथोचितम्—उचितमनतिक्रम्य; यथार्थेऽव्ययीभावः ।

हुआ, यमराज के मुखयन्त्र की जम्हाई का अनुकरण करने के कारण भीषण उदर (अन्तराल) वाला होवे ॥ २९ ॥

(यथोचित घूम कर सभी चले गये ।)

महाकवि भवभूति विरचित उत्तररामचरित में 'कौसल्याजनकयोग'
नामक चतुर्थ अंक समाप्त ।

पञ्चमोऽङ्कः

(कुमारविक्रमः)

(नेपथ्ये)

भो भोः सैनिकाः ! जातं जातमस्माकमवलम्बनम् ।

नन्वेष त्वरितसुमन्त्रनुद्यमानव्यावलगत्प्रजवनवाजिना रथेन।
उद्घातप्रचलितकोविदारकेतुः श्रुत्वा नः प्रधनमुपैति चन्द्रकेतुः ॥ १ ॥

नेपथ्ये **सैनिकैश्चन्द्रकेतोः** समागमनमुच्चस्वरेण सूच्यते—**भो भोः इति**। भो भोः सैनिकाः ! जातमवलम्बनमस्माकम्, नास्तीदानीं भयम् । यतः—

अन्वयः—ननु एषः चन्द्रकेतुः नः प्रधनं श्रुत्वा त्वरितसुमन्त्रनुद्यमानव्यावलगत्प्रजवनवाजिना रथेन उद्घातप्रचलितकोविदारकेतुः (सन्) उपैति ॥ १ ॥

नन्वेष इति। 'ननु' इत्यवधारणे । चन्द्रकेतुः = तदभिधानो लक्ष्मणात्मजः। नः = अस्माकम् । प्रधनम् = युद्धम् ('युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्' इत्यमरः)। त्वरितसुमन्त्रनुद्यमानव्यावलगत्प्रजवनवाजिना—त्वरितेन = त्वरायुक्तेन, सुमन्त्रेण नुद्यमानाः = प्रेर्यमाणाः, अत एव व्यावलगन्तः = प्रधावन्तः, प्रजवनाः = प्रकृष्टवेगवन्तः वाजिनः = अश्वाः, यस्य तथाविधेन रथेन । उद्घातप्रचलितकोविदारकेतुः—उद्घातेन

त्वरितं—√त्वर् + क्त । अथवा—त्वरा सञ्जाता अस्य; त्वरा + इतच् ('तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' ५।२।३६) । नुद्यमानः—√नुद (प्रेरणे) + शानच् (कर्मणि) । व्यावलगत्—वि + आ + √वलग् (गतौ) + शतृ । प्रजवनः—प्र + √जु + ल्युट् (कर्तरि) । उद्घातः—उद् + √हन् + घञ् ।

(नेपथ्य में) ओ ओ सैनिको ! हमें सहारा हो गया, हो गया ।

निस्सन्देह ये चन्द्रकेतु हमारे युद्ध को सुनकर त्वरायुक्त सुमन्त्र के द्वारा हाँके जाते हुए दौड़ते हुए प्रकृष्ट वेगयुक्त घोड़ों वाले रथ से (ऊबड़-खाबड़ भूमि पर तेजी से चलने के कारण) हचका लगने से हिलते हुए कचनार के ध्वजदण्ड वाले आ रहे हैं ॥ १ ॥

भो भोः इत्यादि—यह चूलिका है । चूलिका का लक्षण—'नेपथ्यान्तःस्थितैः पात्रैश्चूलिकाऽङ्कस्य सूचनम् ।' अर्थात् 'चूलिका' वह अर्थोक्षेपक प्रकार है, जिसमें पात्र नेपथ्य के भीतर से ही वस्तु-विशेष की सूचना दिया करते हैं । यहाँ नेपथ्यवर्ती पात्र, राजकुमार चन्द्रकेतु के आगमन रूप वस्तुविशेष की सूचना दे रहे हैं ।

त्वरित०—त्वरितपद को क्रियाविशेषण भी मान सकते हैं—त्वरितं यथा स्यात्तथा, तेजी से ।

सुमन्त्र—यह प्रधानतया मुख्यमन्त्री था, किन्तु रथ हाँकने में निपुण होने के कारण यदा-कदा सारथि का भी काम किया करता था ।

व्यावल्गत्प्रजवन०—इसके स्थान में 'प्रोद्वल्गत्प्रजवित' पाठ भी मिलता है । दोनों प्रकार के पाठों में अर्थ-भेद नहीं है ।

(ततः प्रविशति सुमन्त्रसारथिना रथेन धनुष्पाणिः साद्भुतहर्षसम्भ्रमश्चन्द्रकेतुः)

चन्द्रकेतुः—आर्य सुमन्त्र ! पश्य पश्य—

किरति कलितकिञ्चित्कोपरज्यन्मुखश्री-
रविरतगुणगुञ्जत्कोटिना कार्मुकेन ।
समरशिरसि चञ्चत्पञ्चचूडश्चमूना-
मुपरि शरतुषारं कोऽप्ययं वीरपोतः ॥ २ ॥

=निम्नोन्नतभूमिषु, प्रतिघातेन, प्रचलितः=प्रकम्पमानः, कोविदारकेतुः=कोविदाराख्यवृक्षकाष्ठनिर्मितः ध्वजदण्डो यस्य सः । उपैति=आगच्छति ।

अयम्भावः—निश्चयेनैष राजकुमारश्चन्द्रकेतुरस्माकं युद्धं श्रुत्वा त्वरायुक्तेन सुमन्त्रेण सञ्चालिताः प्रधावन्तः प्रकृष्टवेगवन्तोऽश्वा यस्य तादृशेन रथेन, निम्नोन्नभूमिषु प्रतिघातेन प्रकम्पमानः काञ्चनारतरुकाष्ठनिर्मितो ध्वजदण्डो यस्य तथाभूतः सन् समागच्छतीति भावः ।

अत्र प्रजवनत्वं प्रति व्यावलगत्त्वस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । उत्तरार्द्धे केतुः केतुरित्यत्रान्त्ययमकालङ्कारश्चेत्यनयोर्नैरपेक्ष्येण स्थितेः संसृष्टिः । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ १ ॥

(सुमन्त्रसारथिना—सुमन्त्रः सारथिर्यस्मिँस्तेन । धनुष्पाणिः—धनुः पाणौ यस्य सः । साद्भुतहर्षसम्भ्रमः—अद्भुतेन=एकाकिना मुनिबालकेन सह युद्धमिति वृत्तश्रवणजनितेनाश्चर्येण, हर्षेण=स्वतुल्यवीरेण सह युद्धावसर इत्यानन्देन, सम्भ्रमेण =एकेन लवेन सैनिका ध्वस्ता इति त्वरया च सहितं यथा स्यात्तथा प्रविशति ।

अन्वयः—कलितकिञ्चित्कोपरज्यन्मुखश्रीः चञ्चत्पञ्चचूडः, कोऽपि अयं वीरपोतः समरशिरसि अविरतगुणगुञ्जत्कोटिना कार्मुकेण चमूनाम् उपरि शरतुषारं किरति ॥ २॥

धनुष्पाणिः—धनुः पाणौ यस्य सः (व्यधिकरणबहुव्रीहि), 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' इस वार्तिक के अनुसार 'पाणि' शब्द का परनिपात हुआ है ।

(तदनन्तर सुमन्त्र जिसके सारथि हैं, ऐसे रथ से आश्चर्य, हर्ष और त्वरा के साथ धनुष्पाणि चन्द्रकेतु प्रवेश करता है ।)

चन्द्रकेतु—आर्य सुमन्त्र ! देखो देखो—

धारण किये गये किञ्चित् क्रोध से रक्तवर्ण के मुखश्री वाला, चञ्चल पाँच शिखाओं वाला यह कोई वीर बालक रणभूमि के अग्रभाग में निरन्तर मौर्वी पर टङ्कार करते हुए अग्रभाग वाले धनुष से सेनाओं पर हिमपात की तरह बाणों की झड़ी लगा रहा है ॥ २ ॥

साद्भुतहर्षसम्भ्रमः—अकेले मुनिबालक के साथ युद्ध हो रहा है । इस समाचार के सुनने से चन्द्रकेतु को आश्चर्य, अपने तुल्य वीर के साथ लड़ने का अवसर प्राप्त होने से आनन्द तथा लव से आश्रितजनों को बचाने के लिए संभ्रम हो रहा है ।

आर्य सुमन्त्र—सुमन्त्र दशरथ का मन्त्री था, अतः उसको चन्द्रकेतु ने 'आर्य' कह कर सम्बोधित किया ।

चन्द्रकेतुः—आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

मुनिजनशिशुरेकः सर्वतः सैन्यकाये
नव इव रघुवंशस्याप्रसिद्धः प्ररोहः ।
दलितकरिकपोलग्रन्थिटङ्कारघोर-
ज्वलितशरसहस्रः कौतुकं मे करोति ॥ ३ ॥

लवः कियत्या त्वरया सेनानामुपरि बाणवृष्टिं करोति इति वर्णयन्नाह चन्द्रकेतुः- किरतीति । कलितकिञ्चित्कोपरज्यन्मुखश्रीः—कलितेन = आहृतेन, किञ्चित्कोपेन = ईषन्मन्युना, रज्यन्ती = रक्तीभवन्ती, मुखश्रीः = आननशोभा, यस्य स तथोक्तः । चञ्चत्पञ्चचूडः—चञ्चन्त्यः = चलन्त्यः, पञ्च चूडाः = शिखा, यस्य स तथोक्तः । कोऽपि = अविदितपरिचयः । वीरपोतः = वीरबालकः । समरशिरसि = रणक्षेत्रस्याग्रभागे अविरतगुणगुञ्जत्कोटिना—अविरतम् = विश्रान्तिरहितम्, यथा स्यात्तथा, गुणे = मौर्व्याम्, गुञ्जन्त्यौ = अव्यक्तं शब्दवत्यौ, कोटी = अग्रभागौ, यस्य तथाविधेन कार्मुकेन = धनुषा । चमूनाम् = सेनानाम् । शरतुषारम्—तुषारो हि अतिसूक्ष्म सलिलवृष्टिः, तद्वद् बाणवृष्टिम् । किरति = क्षिपति ।

अयम्भावः—ईषत्कोपवशाद्रक्तमुखः, वायुवशात् प्रचलन्त्यः पञ्च शिखा यस्य तथाविधः, अविज्ञातोऽयं वीरबालकः, रणरङ्गे सेनानामुपरि निरन्तरं मौर्व्यामव्यक्त शब्दायमानावग्रभागौ यस्य तथाविधेन धनुषा (करणेन) हिममिव शरान् क्षिपतीति भावः ।

अत्र तुषारैः सह शराणां साम्योक्तेर्लुप्तोपमाऽलङ्कारः, छेकानुप्रासवृत्त्यनुप्रासौ शब्दालङ्कारौ च । मालिनी वृत्तम् ॥ २ ॥

प्ररोहः—प्र + √रुह् + अच् । दलितः—√दल् + णिच् + क्त (कर्मणि) । ज्वलित—√ज्वल् + क्त ।

चन्द्रकेतु—आश्चर्य है ! आश्चर्य है !

रघुवंश का नया अप्रसिद्ध अङ्कुर जैसा मुनिबालक अकेला ही, सर्वत्र सैन्यसमूह में टङ्कार ध्वनि से भीषण एवं प्रदीप्त (अग्नि ज्वाला युक्त) सहस्रों बाणों से गजों के गण्डस्थल-सन्धियों को विदीर्ण कर मेरे कौतूहल को बढ़ा रहा है ॥ ३ ॥

किञ्चित्कोप—'अत्र प्रत्यर्थिनामकिञ्चित्करत्वात् किञ्चित्कोपेत्युक्तम् । (वीरराघव)।

चञ्चत्पञ्चचूडः—उस समय में अपने-अपने कुलाचार के अनुसार बालकों की शिखाएँ रखी जाती थीं । भगवान् वाल्मीकि ने रघुवंश के कुलाचार के अनुसार बालक लव के सिर में पाँच शिखाएँ रखवायी थीं । वे शिखाएँ कुछ तो वायुवश और कुछ युद्ध करते समय सिर को शीघ्रता पूर्वक चारों ओर घुमाते रहने से हिल रही थीं । इस वर्णन से प्रतीत होता है कि उस समय लव नंगे सिर ही था ।

द्वितीय श्लोक में अलङ्कार योजना के सम्बन्ध में वीरराघव कहते हैं—'अत्र रज्यन्मुखश्रीः, कार्मुकेण, चञ्चत्पञ्चचूड इत्येतैः शरतुषारमित्यनेन च तडित्वतः शक्रचापयुक्तस्य चलिताभ्रस्य केशिशोरस्य च साम्यं व्यज्यते ।'

सुमन्त्रः—आयुष्मन् !

अतिशयितसुरासुरप्रभावं शिशुमवलोक्य तथैव तुल्यरूपम् ।
कुशिकसुतमखद्विषां प्रमाथे धृतधनुषं रघुनन्दनं स्मरामि ॥ ४ ॥

अन्वयः—रघुवंशस्य अप्रसिद्धः नवः प्ररोह इव मुनिजनशिशुः एकः सर्वतः सैन्यकाये दलितकरिकपोलग्रन्थिटङ्कारघोरज्वलितशरसहस्रः मे कौतुकं करोति ॥ ३ ॥

चन्द्रकेतुर्लवं प्रशंसन्नाह—मुनिजनेति । अप्रसिद्धः=लोकेऽविदितः । प्ररोहः=अङ्कुरः । मुनिजनशिशुः=मुनिबालकः । एकः=एकाकी । सर्वतः=सर्वत्र (सप्तम्यर्थे तसिल्) । सैन्यकाये=सेनासमुदाये । दलितकरिकपोल०—दलिताः=विमर्दिताः, करिकपोलग्रन्थयः=गजगण्डसन्धिभागाः, यैस्तानि, टङ्कारेण=टमिति शब्देन, घोराणि=भयानकानि, ज्वलितानि=प्रदीप्तानि च, करीणां कठोरकपोलग्रन्थिषु पतनात् अग्निज्वालायुक्तानीति भावः, शराणां सहस्राणि यस्य तथाविधः सन् । मे=मम, चन्द्रकेतोरित्यर्थः । कौतुकं करोति = कौतूहलं जनयति ।

अयम्भावः—रघुकुलस्य लोकेऽविदितो नवाङ्कुर इव मुनिबालको मम कौतूहलं जनयति, एकाकिन एव यस्यासङ्ख्यशराः सर्वत्र सैन्यव्यूहे हस्तिनां गण्डस्थलसन्धिभागान् विमर्दितवन्तः, अपि च टमिति रूपेण दलनशब्देन भयङ्कराः, गजानां कठोरकपोलग्रन्थिषु पतनादग्निज्वालायुक्ताश्च भवन्तीति भावः ।

अत्र प्ररोहेण सार्द्धं मुनिजनशिशोः साम्याभिधानाद् उपमाऽलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—अतिशयितसुरासुरप्रभावं तथैव तुल्यरूपं शिशुमवलोक्य, कुशिकसुतमखद्विषां प्रमाथे धृतधनुषं रघुनन्दनं स्मरामि ॥ ४ ॥

अतिशयितः—अति + शी + क्त (कर्मणि); यह अवधेय है कि 'शी' धातु अकर्मक होने पर भी 'अति' उपसर्गपूर्वक होने पर सकर्मक हो जाती है । प्रमाथः—प्र + भ्वादिगणीय √मथ् (विलोडने) + घञ् । यह अवधेय है कि भ्वादिगणीय 'मथि' धातु (मन्थति) तथा क्र्यादिगणीय मन्थ् धातु (मथ्नाति) से घञ् प्रत्यय होने

सुमन्त्र—हे आयुष्मन् !

सुरों और असुरों के प्रभाव का अतिक्रमण करने वाले, उसी प्रकार की समान आकृति वाले शिशु को देखकर विश्वामित्र के यज्ञ के विध्वंसकों (सुबाहु आदि राक्षस-समूहों) के विनाश करते समय धनुष धारण किये हुए रघुनन्दन (राम) का स्मरण हो रहा है ॥ ४ ॥

सम्प्रकोपात् ('सैन्यकाये' के स्थान पर) पाठान्तर—इससे पूर्व श्लोक में लव को 'कलितकिञ्चित्कोपरज्यन्मुखश्रीः' कहा गया है । अतः यह पाठ समीचीन नहीं है ।

अप्रसिद्धैः प्ररोहः (पाठा०)—रघुवंशस्य अपख्यात्यङ्कुरवद् स्थितः (वीरराघव) ।

प्रायः सभी व्याख्याकारों ने 'इव' शब्द को उपमावाचक मानकर यहाँ उपमालङ्कार माना है । मेरे विचार से चन्द्रकेतु ने लव में रघुवंश के नवप्ररोहत्व की संभावना की है । 'अप्रसिद्धिः प्ररोहः' पाठ मानने पर रघुवंश की अप्रतिष्ठा के लिए नवप्ररोहत्व की संभावना की है, अतः 'इव' पद उत्प्रेक्षावाचक है और यहाँ उत्प्रेक्षाऽलंकार मानना चाहिए ।

चन्द्रकेतुः—मम त्वेकमुद्दिश्य भूयसामारम्भ इति हृदयमपत्रपते।
अयं हि शिशुरेकक: समरभारभूरिस्फुर-
त्करालकरकन्दलीकलितशस्त्रजालैर्बलैः ।

सुमन्त्रश्चन्द्रकेतुं प्रत्याह—आयुष्मन्निति । अतिशयितसुरासुरप्रभावम्—अतिशयित:= अतिक्रान्तः, सुराणामसुराणां च प्रभावः = पराक्रमो येन तम् । तथैव तुल्यरूपम् = यथा रामेण तुल्यप्रभावस्तथैव तुल्याकारोऽपीत्यर्थः, तम् । शिशुम् = लवमित्यर्थः । कुशिक-सुतमखद्विषाम्—कुशिकसुतः = विश्वामित्रस्तस्य मखद्विषाम् = यज्ञविघातकानां, सुबाहु-प्रभृतीनामित्यर्थः । प्रमाथे = विनाशे । धृतधनुषम्—धृतं धनुर्येन तम् । रघुनन्दनम् = श्रीरामचन्द्रम् ।

अयम्भावः—चिरञ्जीविन् चन्द्रकेतो ! अयं शिशुः सुरेभ्योऽसुरेभ्यश्चाधिकसामर्थ्य-शाली यथा रामेण तुल्यप्रभावस्तथैव तुल्याकारोऽपि दृश्यते, तस्मादेनमवलोक्य विश्वा-मित्रयज्ञस्य विघातकानां सुबाहुप्रभृतीनां राक्षसाना विनाशाय धृतशरासनं श्रीरामचन्द्रं स्मरामि । बाल्ये श्रीरामोऽप्येवंविध एवाऽऽसीत्; तत्कोऽयं महाप्रभाव इति सुमन्त्रोक्ते-राशयः ।

अत्र सदृशवस्त्वनुभवाद्रघुनन्दनस्मृतेरुदयात् स्मरणालङ्कारः, तथा शिशौ सुरासुर-प्रभावातिशायित्वस्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेः असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिर-लङ्कारः, अपि च 'तथैव तुल्यरूपमि'त्युक्तेरुपमा च, एतेषाञ्चान्योन्यसापेक्षतया स्थितेः सङ्करः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ४ ॥

चन्द्रकेतुराह—ममेति । एकमेव शिशुम् उद्दिश्य=लक्ष्यीकृत्य, अयं भूयसां = बहूनां सैनिकानाम् आरम्भः = युद्धोद्यमः, इति मम हृदयं अपत्रपते = लज्जते । यतः—

पर 'मन्थः' रूप होता है, 'माथः' नहीं । धृतधनुषम्—धृतं धनुर्येन तम् । समासान्त विधि अनित्य है, अतः यहाँ 'धनुषश्च' (५।४।१३२) से 'अनङ्' समासान्त नहीं हुआ । अनङ् होने पर 'धृतधन्वानम्' ऐसा होता ।

चन्द्रकेतु—अकेले (लव) को लक्ष्य करके बहुतों का यह युद्धोद्यम है, इससे मेरा हृदय लज्जित हो रहा है ।

क्योंकि यह अकेला बच्चा, घोर संग्राम में अत्यन्त चमचमाते हुए भयङ्कर, हाथों के अग्रभाग

कुशिकसुत—यह बतलाता है कि विश्वामित्र 'कुशिक' के पुत्र थे । किन्तु रामायण से पता लगता है कि विश्वामित्र 'गाधि' के पुत्र थे; कुशिक तो उनके ही वंश के कोई पूर्वपुरुष थे—

'स पिता मम काकुत्स्थ गाधिः परमधार्मिकः । कुशवंशप्रसूतोऽस्मि कौशिको रघुनन्दन ॥'

करकन्दली—कन्दली शब्द का प्ररोह अथवा अंकुर अर्थ मानकर 'करकन्दली' का अर्थ 'अंकुर-सदृश हाथ'—ऐसी भी व्याख्या की जाती है, किन्तु इससे 'कर' का वैशिष्ट्य छिप जाता है और उसकी लघुता ही द्योतित होती है; दूसरे, कन्दल शब्द का प्रयोग नवांकुर के अर्थ में भले ही होता है, कन्दली शब्द का प्रयोग तो मृग-विशेष और गुल्म-विशेष के ही अर्थ में होता है ('कन्दली तु मृगगुल्मप्रभेदयोः'—मेदिनी) । अतः कन्दली शब्द का प्रयोग हाथ की विशालता का बोध कराने के लिए हुआ है ।

क्वणत्कनककिङ्किणी झणझणायितस्यन्दनै-
रमन्दमददुर्दिनद्विरदवारिदैरावृतः ॥ ५ ॥

सुमन्त्रः—वत्स ! एभिः समस्तैरपि किमस्य, किं पुनर्व्यस्तैः ?

चन्द्रकेतुः—आर्य ! त्वर्यताम्, त्वर्यताम् । अनेन हि महानाश्रितजनप्रमाथोऽस्माकमारब्धः । तथा हि—

अन्वयः—हि अयम् एककः शिशुः समरभारभूरिस्फुरत्करालकरकन्दलीकलितशस्त्रजालैः क्वणत्कनककिङ्किणी झणझणायितस्यन्दनैः अमन्दमददुर्दिनद्विरदवारिदैः बलैः आवृतः ॥ ५ ॥

अयमिति । हि=यतः । एककः=एकाकी । समरभार०—समरभारे=घोरसङ्ग्रामे इत्यर्थः, भूरि=समधिकम्, स्फुरन्ति=दीप्यमानानि, चञ्चलानीत्यर्थः, करालानि=भीषणानि, करकन्दलीभिः=करशाखाग्रैः, कलितानि=गृहीतानि, शस्त्रजालानि=आयुधसमूहाः, येषां तैः । क्वणत्कनककिङ्किणी०—क्वणन्तीभिः=शब्दायमानाभिः, कनककिङ्किणीभिः=सुवर्णक्षुद्रघण्टिकाभिः, झणझणायिताः=झणझणेति शब्दं कुर्वन्तः, स्यन्दनाः=रथाः, येषां तादृशैः । अमन्दमद०—अमन्दानाम्=समधिकानां, मदानाम्=मदजलानां, दुर्दिनम्=लक्षणया वर्षणं, येषां तथाविधा द्विरदाः=गजाः, वारिदाः=मेघा इव, येषां तथाविधैः । बलैः=सैन्यैः । आवृतः=आच्छादितः ।

अयम्भावः—अयमनुकम्पनीयः शिशुस्तादृशैः सैन्यैः परिवृतो वर्तते येषां करशाखाग्रगृहीतानि करालानि शस्त्राणि घोरे सङ्ग्रामे चञ्चलानि भूत्वा दीप्यमानानि सन्ति, येषां रथाश्च शब्दायमानाभिः सुवर्णकिङ्किणीभिर्झणझणेति शब्दं कुर्वन्ति; अपि च येषां गजाः समधिकमदजलवर्षेण न केवलमाकारेण, कर्मणापि मेघा इव लक्ष्यन्ते इति सरलार्थः । अत्रोपमाऽलङ्कारः । पृथ्वी वृत्तम् ॥ ५ ॥

झणझणायितः—झणझणेत्यव्यक्तं शब्दं करोति झणझणायते—झण + डाच्, 'झण' का द्विर्वचन—झणझणा + क्यष्—झणझणाय (नामधातु) + क्त (कर्तरि) ।

में गृहीत शस्त्रसमूहों से युक्त, अव्यक्त शब्द करती हुई सोने की घंटियों से झनझन ध्वनि करने वाले रथों से युक्त तथा बहुत अधिक मदजल के बरसाने वाले मेघ-सदृश हाथियों से युक्त सेनाओं से घिर गया है ॥ ५ ॥

सुमन्त्र—वत्स ! ये सब मिलकर भी इसका क्या (बिगाड़ लेंगे) ? भला अलग-अलग की क्या बात ?

चन्द्रकेतु—आर्य ! जल्दी कीजिए, जल्दी कीजिए । इसने तो हमारे आश्रित जनों (सैनिकों) का बहुत बड़ा विनाश आरम्भ कर दिया है । वह इस प्रकार—

दुर्दिनम्—दुर्दिन का अर्थ होता है—'मेघाच्छन्नदिवस' किन्तु यहाँ लक्षणा से इसका अर्थ है—वर्षण, बौछार, झड़ी । कालिदास ने भी दुर्दिन शब्द का प्रयोग इस अर्थ में किया है—

'दिशां विपक्ष काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम्' । (रघु०) ।

द्विरदडामरैः (पाठा०)—डामरैः=भयङ्करैः । डमर+अण् । द्विरदडम्बरैः (पाठा०)—द्विरदानां डम्बरः=प्रदर्शनं, येषु तैः ।

आगर्जद्गिरिकुञ्जकुञ्जरघटानिस्तीर्णकर्णज्वरं
ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमुज्जृम्भयन्।
वेल्लद्भैरवरुण्डमुण्डनिकरैर्वीरो विधत्ते भुवं
तृष्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्यमाणामिव ॥ ६ ॥

सुमन्त्रः—वत्स ! एभिः समस्तैः = मिलितैः, व्यस्तैः = पृथक्पृथक्स्थितैः।

चन्द्रकेतुः—आश्रितजनप्रमाथः—आश्रितजनानाम् = उपजीविजनानाम्, सैनिकाना-मित्यर्थः, प्रमाथः = विनाशः।

अन्वयः—अमन्ददुन्दुभिरवैः आध्मातम्, आगर्जद्गिरिकुञ्जरघटानिस्तीर्णकर्ण-ज्वरं ज्यानिर्घोषम् उज्जृम्भयन्, वीरः वेल्लद्भैरवरुण्डमुण्डनिकरैः भुवं तृष्यत्काल-करालवक्त्रविघसव्याकीर्यमाणामिव विधत्ते ॥ ६ ॥

आगर्जदिति। अमन्दैः = समधिकैः। दुन्दुभिरवैः = भेरीशब्दैः। आध्मातम् = वर्द्धितम्। आगर्जद्गिरि०—आगर्जताम् = भयाद् गाढं गर्जनं कुर्वताम्, गिरिकुञ्जेषु = पर्वतगुहासु, कुञ्जराणाम् = गजानाम्, घटाः = समुदायाः, ताभ्यः निस्तीर्णः = दत्तः कर्णज्वरः = कर्णक्लेशः, येन तथाविधम्। ज्यानिर्घोषम् = मौर्वीशब्दम्, टङ्कारमित्यर्थः। उज्जृम्भयन् = आविष्कुर्वन्, उत्पादयन्निति यावत्। वेल्लद्भिः = लुठद्भिः, भैरवैः = भयङ्करैः, रुण्डमुण्डनिकरैः = कबन्धशिरःसमूहैः। भुवम् = रणभूमिम्। तृष्यत्काल०—तृष्यतः = तृप्तिम्भजमानस्य, कालस्य = कृतान्तस्य, यत् करालं वक्त्रम् = भीषणं मुखम्, तस्य विघसैः = भुक्तशेषैः ('विघसो यज्ञशेषभोजनशेषयोः' इत्यमरः), व्याकीर्यमाणाम् = समाच्छादिताम्। विधत्ते = करोति।

अयम्भावः—अयं वीरबालकः सैनिकानां दुन्दुभिध्वानेन समृद्धम्, प्रत्यञ्चायाः टङ्कारशब्दम्, यस्य श्रवणेन भयाद् गर्जतां पर्वतगुहावर्तिनां गजानां कर्णकुहरयोर्ज्वर इवोत्पद्यते—संवर्धयन्, तृप्तिम्भजमानस्य कृतान्तस्य करालवक्त्रात् पतितैर्भुक्तावशिष्ट-रूपैर्लुठद्भिर्भयङ्करैः कबन्धसमूहैः शिरःसमूहैश्च रणभूमिं समाच्छादितामिव करोति।

निस्तीर्णः—नि + √स्तॄ + क्त। विघसः—वि + √अद + अप् (कर्मणि)—'उपसर्गेऽदः' (३।३।५९)। अप् प्रत्यय होने पर 'घञपोश्च' (२।४।३८) से अद् धातु को 'घस्लृ' (घस्) आदेश होता है।

अत्यन्त गम्भीर भेरी के शब्दों से समृद्ध, प्रगाढ गर्जन करते हुए पर्वतकुञ्जवर्ती गजों के भी कानों को पीड़ा देने वाले मौर्वी के निर्घोष (टङ्कार) को उत्पन्न करता हुआ यह वीर (बालक) लुड़कते-छटपटाते भयानक रुण्ड-मुण्डों के समूहों से पृथ्वी को, तृप्त होते हुए यमराज के भीषण मुख से गिरे उच्छिष्टों (भुक्तावशेषों) से व्याप्त होती हुई-सी कर रहा है ॥ ६ ॥

आगर्जद्गिरि० (पाठान्तर) आगुञ्जद्गिरि०—यह पाठ समीचीन नहीं है, क्योंकि गुञ्ज शब्द भ्रमरों की ध्वनि के अर्थ में ही प्रसिद्ध है, न कि गजों की ध्वनि के अर्थ में। अतः इसके प्रयोग से ख्यातिविरुद्धता दोष आ जाता है।

तृष्यत् (पाठा०) तृष्यत—तृष्यतः = पिपासितस्य। 'तृष्यदित्यनेन पिपासयान्यतो मृत्युना अर्धजग्धानि मुक्तानीति व्यज्यते।' (वीरराघव)। इस श्लोक में वीर तथा अद्भुत रस, ओजो गुण और गौडी रीति है।

सुमन्त्रः—(स्वगतम्) कथमीदृशेन सह वत्सस्य चन्द्रकेतोर्द्वन्द्वसम्प्रहारमनुजानीमः। (विचिन्त्य) अथवा इक्ष्वाकुकुलवृद्धाः खलु वयम्। प्रत्युपस्थिते रणे च का गतिः ?

चन्द्रकेतुः—(सविस्मयलज्जासम्भ्रमम्) हन्त धिक् ! प्रतिनिवृत्तानि सर्वतः सैन्यानि मम।

अत्र कुञ्जरघण्टानां कर्णज्वरासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेः असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः, अपि च भुवः व्याकीर्यमाणत्वस्य सम्भावनयोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षालङ्कारः, एतयोश्च परस्परनैरपेक्ष्येण स्थितेः संसृष्टिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

सुमन्त्रो लवस्य तथाविधं पराक्रमं दृष्ट्वा सचिन्त इव स्वगतं विचारयति—कथमिति। ईदृशेन = एवंविधेन वीरेण, सह कथं द्वन्द्वसम्प्रहारम्—द्वन्द्वस्य = उभयोः, सम्प्रहारः = सङ्ग्रामः, तम् = द्वन्द्वयुद्धमित्यर्थः, कर्तुं कुमारश्चन्द्रकेतुमया अनुजानीमः = अनुज्ञां कुर्मः, अनुज्ञातव्यः। ('अस्मदो द्वयोश्च' इत्येकत्वे बहुवचनम्) (विचिन्त्य) अथवा इक्ष्वाकुकुलवृद्धाः = इक्ष्वाकूणां कुले वृद्धत्वं गताः, अतोऽहं तत्कुलव्रतं जानामि। प्रत्युपस्थिते = सम्मुखमापतिते, रणे च का गतिः = अन्यः कोऽभ्युपायः ? युद्धार्थमनुज्ञाकरणमावश्यकमेव, अन्यथा सर्वथा वंशस्य निन्दा भविष्यतीति भावः।

सैनिकान् पराङ्मुखीभूतान् दृष्ट्वा, लवपराक्रमतो विस्मयेन, सेनापलायनात् लज्जया, तद्रक्षणार्थं त्वरया च सहितं यथा स्यात्तथा चन्द्रकेतुः प्राह—हन्त ! इति। हन्त ! धिक् एतान् सैनिकान् ! यतः समन्तात् मम सैन्यानि प्रतिनिवृत्तानि = पराङ्मुखीभूतानि।

द्वन्द्वम्—द्वयोः द्वयोः (वीप्सायां द्विरुक्तिः), द्वि + ओस्, द्वि + ओस् इति स्थिते, 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादा०' कर्मधारयवद्भाव होने से सुप् का लुक्—'द्वि द्वि' इति स्थिते, (८।१।१५) सूत्र में योगविभाग होने से सूत्रोक्त अर्थों से भिन्न अर्थों (युद्धादि) में भी निपातन से पूर्वपद 'द्वि' के अवयव इकार को 'अम्'। उत्तरपद 'द्वि' के अवयव इकार को अकार, नपुंसकत्व और एकवद्भाव होकर 'द्वन्द्वम्' पद की निष्पत्ति होती है। सम्प्रहारः—सम्प्रहरन्तेऽस्मिन्निति सम्प्रहारः; सम् + प्र + √हृ + घञ् (अधिकरणे)।

सैन्यानि—सेनाः एव सैन्यानि। चतुर्वर्णादिगण में पठित होने से सेना शब्द से 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसङ्ख्यानम्' (वार्तिक ३०९१) के अनुसार ष्यञ् प्रत्यय—सेना + ष्यञ् = सैन्यम्। यह अवधेय है कि इस प्रकार निष्पन्न सैन्य शब्द नपुंसक

सुमन्त्र—(स्वगत) ऐसे वीर के साथ चन्द्रकेतु को द्वन्द्वयुद्ध की अनुज्ञा कैसे दें ? **(सोच कर)** अथवा इक्ष्वाकुवंश में (ही रहते) हम बूढ़े हुए हैं (उसके नियम और मर्यादा को खूब जानते हैं) और युद्ध के आ पड़ने पर (अन्य) उपाय (ही) क्या है ?

चन्द्रकेतु—(विस्मय, लज्जा और हड़बड़ी के साथ) खेद ! धिक्कार है ! मेरी सेनाएँ सब ओर से लौट रही हैं।

सुमन्त्रः—(रथवेगमभिनीय) आयुष्मन् ! एष ते वाग्विषयीभूतः स वीरः।

चन्द्रकेतुः—(विस्मृतिमभिनीय) आर्य ! किमस्य नामधेयमाख्यातमाह्वायकैः ?

सुमन्त्रः—लव इति ।

चन्द्रकेतुः—भो भो लव महाबाहो किमेभिस्तव सैनिकैः ।

एषोऽहमेहि मामेव तेजस्तेजसि शाम्यतु ॥ ७ ॥

सुमन्त्रो रथवेगमभिनीय प्राह—आयुष्मन् ! चन्द्रकेतो ! अयं स वीरस्ते वाग्विषयीभूतः=वाचां गोचरीभूतः, अतिसन्निकृष्टतया सम्भाषितुं शक्य इति भावः ।

नामविषये विस्मृतिमिव कृत्वा चन्द्रकेतुः सुमन्त्रं पृच्छति—**आर्य ! इति ।** आर्य ! आह्वायकैः=आह्वानं कुर्वद्भिर्जनैरस्य वीरस्य किं नामधेयम् आख्यातम्=उद्घोषितम् ? विस्मृतमिदानीं मयाऽस्य नाम, भवता तु स्मृतं स्यात्, सम्भाषणे सम्बोधनार्थं नामज्ञानमावश्यकमिति चन्द्रकेतोराशयः ।

सुमन्त्रः आह—लव इति=लवनामाऽयं वीरः ।

अन्वयः—भो भो महाबाहो लव ! एभिः सैनिकैः तव किं (प्रयोजनम्), एषः अहम्, मामेव एहि, (तव) तेजः (मम) तेजसि शाम्यतु ॥ ७ ॥

लिङ्ग होता है। सैन्य शब्द जब पुंल्लिङ्ग होता है तब उसका अर्थ 'सेना' नहीं, बल्कि 'सैनिक' होता है। उसकी निष्पत्ति इस प्रकार है—सेनां समवैति इति सैन्यः, सैनिकः। द्वितीयान्त सेना शब्द से 'समवैति' इस अर्थ में 'सेनाया वा' (४।४।४५) सूत्र के अनुसार विकल्प से 'ण्य' प्रत्यय। सेना + ण्य (य)=सैन्यः। दूसरे पक्ष में ठक् (इक) सेना + ठक्=सैनिकः। वाग्विषयीभूतः—वाचां विषयः वाग्विषयः, अवाग्विषयः वाग्विषयः सम्पद्यमानः भूतः इति वाग्विषयीभूतः (अभूततद्भावे च्विः)। सैनिकैः किम्—गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणे तृतीया ।

सुमन्त्र—(रथ के वेग का अभिनय कर) आयुष्मन् ! यह, वह वीर (समीप होने के कारण) तुम्हारी वाणी का विषय हो गया है।

चन्द्रकेतु—(विस्मरण का अभिनय करके) आर्य ! घोषणा करने वालों ने इसका क्या नाम घोषित किया था ?

सुमन्त्र—लव, ऐसा ।

चन्द्रकेतु—हे महाबाहु लव ! इन सैनिकों से तुम्हारा क्या प्रयोजन ? (तुम्हारा क्या सिद्ध होगा) यह मैं हूँ, मेरे ही पास आओ, (तुम्हारा) तेज (मेरे) तेज में विलीन हो जाय ॥ ७ ॥

आह्वायकैः (पाठान्तर) आख्यायकैः—दोनों प्रकार के पाठों में अर्थ-भेद नहीं है। विद्यासागर के अनुसार इसका अर्थ है—युद्ध-क्षेत्र में उभयपक्ष के वीरों के नाम की घोषणा करने वाले पुरुष। आह्वायकैः—'रणभूमौ उभयपक्षप्रधानपुरुषाणां नाम कीर्तननियुक्तैः पुरुषैः।'

तेजः तेजसि शाम्यतु—यहाँ 'तेजस्' शब्द से श्लेष के बल से अग्नि और सूर्य आदि में रहने वाला तेज भी अभिप्रेत है। चन्द्रकेतु के कहने का अभिप्राय यह है कि अग्नि का तेजहीन होने के कारण सूर्य के उत्कृष्ट तेज में विलीन हो जाता है, ऐसा सभी के प्रत्यक्ष देखने में आता है, तो आओ तुम्हारा भी तेज अभी मेरे तेज में विलीन हुआ जाता है।

सुमन्त्रः--कुमार ! पश्य पश्य—

विनिर्वर्तित एव वीरपोतः पृतनानिर्मथनात् त्वयोपहूतः ।
स्तनयित्नुरवादिभावलीनामवमर्दादिव दृप्तसिंहशावः ॥ ८ ॥

सुमन्त्रमुखात् तस्य 'लवः' इति नाम श्रुत्वा चन्द्रकेतुस्तं सम्बोध्य आह्वयते—भो भो इति । हे महाबाहो—महान्तौ=विशालौ, बाहू=भुजौ, यस्य स महाबाहुः, तत् सम्बुद्धौ हे महाबाहो=विशालभुज ! लव ! (तव) एभिः=पुरोवर्तिभिः, सैनिकैः किं (प्रयोजनं) साध्यम् ? एषोऽहं (तव) समकक्षः प्रतियोद्धा, मामेव एहि=आगच्छ, (तव) तेजः=शौर्यम्, पराक्रमः, (मम) पराक्रमे शाम्यतु=विलयं यातु, आगत्यात्र मया सह द्वन्द्वयुद्धं कुरु । यथा हीनं वह्नितेजः समुत्कृष्टे सूर्यतेजसि विलीनं भवति, तथैव तव तेजो मे तेजसि शमं यातु इति चन्द्रकेतोराशयः । अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ७ ॥

चन्द्रकेतोर्वचनमाकर्ण्य परावर्तमानं लवं पश्यन् सुमन्त्रश्चन्द्रकेतुं प्राह—कुमारेति । कुमार ! पश्य पश्य—

अन्वयः—स्तनयित्नुरवात् इभावलीनाम् अवमर्दाद् दृप्तसिंहशावः इव एष वीरपोतः त्वया उपहूतः पृतनानिर्मथनात् विनिर्वर्तितः ॥ ८ ॥

विनिर्वर्तित इति । स्तनयित्नुरवात्—स्तनयित्नुः=मेघः, तस्य रवात्=गर्जनात्, गर्जनमाकर्ण्येत्यर्थः । इभावलीनाम्=गजयूथानाम् । अवमर्दात्=दलनात् । दृप्तसिंहशाव इव—दृप्तः=दर्पयुक्तः, चासौ सिंहशावः=सिंहशिशुरिव, वीरपोतः=वीरबालकः, लव इत्यर्थः । उपहूतः=(द्वन्द्वयुद्धाय) आहूतः सन् । पृतनानिर्मथनात्—पृतनानां=सेनानाम्, निर्मथनात्=संहारात् । विनिर्वर्तितः=निवृत्तव्यापारः (अस्ति) । 'व्यपवर्तत' इति पाठे परावर्ततेत्यर्थः ।

अयम्भावः—यथा कश्चिद्दर्पयुक्तः सिंहशिशुर्मेघगर्जनं श्रुत्वा गजयूथानां दलनान्निवृत्तो भवति, तथैवायं वीरबालकोऽपि द्वन्द्वयुद्धाय त्वयाऽऽहूतः सन् सेनासंहाराद्विनिवर्तितो भूत्वाऽऽगच्छतीत एवेति भावः ।

विनिर्वर्तितः—वि + नि + √वृत् + णिच् + क्त (कर्तरि) । उपहूतः—उप + √ह्वे + क्त (कर्मणि) । स्तनयित्नुः—√स्तन् (णिच्) + इत्नु (उणादि) । अवमर्दः—अव + √मृद् + घञ् ।

सुमन्त्र—कुमार ! देखो देखो—

यह वीर बालक आपके द्वारा ललकारा हुआ उसी तरह सेनाओं के विनाश से विरत हो गया जैसे दर्पयुक्त सिंह का बच्चा मेघ का शब्द सुनकर गजसमूहों के मर्दन से निवृत्त हो जाता है ॥ ८ ॥

भावसाम्य देखिए—'किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः । प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया' ॥ (किरातार्जुनीय, २।२१)

'अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी' । (शिशुपालवध, १६।२५)

(ततः प्रविशति धीरोद्धतपराक्रमो लवः)

लवः—साधु राजपुत्र ! साधु, सत्यमैक्ष्वाकः खल्वसि । तदहं परागत एवास्मि ।

(नेपथ्ये महान् कलकलः)

लवः—(सावष्टम्भं परावृत्य) आः कथमिदानीं भग्ना अपि प्रतिनिवृत्य युद्धाभिसारिणः पर्यवष्टम्भयन्ति मां चमूपतयः । धिग्जाल्मान् ।

उपमाऽलङ्कारः । प्रसादो माधुर्यं वा गुणः । वैदर्भी रीतिः । मालभारिणी वृत्तम्—तल्लक्षणं यथा—'विषमे ससजा यदा गुरू चेत्, सभरा येन तु मालभारिणीयम्' । इति ॥ ८ ॥

चन्द्रकेतुनाऽऽहूतस्य तमभ्यागच्छतो लवस्याभ्यागमनप्रकारं कविर्विशदीकरोति—**तत इति** । ततः=तदनन्तरं, धीरोद्धतपराक्रमः—धीरः=निर्भीकः, गम्भीरः, उद्धतः=गर्वितः विकटश्च, पराक्रमो यस्य सः, ('त्वरितोद्धतक्रमः' इति पाठे—त्वरितः=त्वरायुक्तः, उद्धतः, क्रमः=पादविक्षेपः, यस्य स इत्यर्थः ।) एवंविधो **लवः** प्रविशति चन्द्रकेतुं प्रति वदति च—**साधु इति** । साधु राजपुत्र ! साधु, उचिततरमेवोक्तं भवता, भवदुक्तिं श्रुत्वा नितरां प्रसन्नोऽस्मि । सत्यमेव भवान् ऐक्ष्वाकः=इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नोऽस्ति, वीरवंशोद्भवा एवेत्थं समाह्वयन्ते । क्षणं तिष्ठतु, परागतः=सम्प्राप्त एवास्मि ।

चन्द्रकेतुमभिगच्छन्तं लवं दृष्ट्वा सैनिकास्तमनु कलकलः=कोलाहलं, कुर्वन्ति, इति **लवः** सावष्टम्भम्—अवष्टम्भेन=स्थिरतया, सह यथा स्यात्तथा=स्थैर्यपूर्वकम्

ऐक्ष्वाकः—इक्ष्वाकोः गोत्रापत्यं पुमान्; जनपद और क्षत्रिय वाचक इक्ष्वाकु शब्द से 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' (इक्ष्वाकुर्नाम देशः, राजा चेति बालमनोरमाकारः) सूत्र से अञ् । इक्ष्वाकु + अञ्, 'ओर्गुणः' सूत्र से 'उ' के प्राप्त गुण का बाध कर 'दाण्डिनायन–' (६।४।१७४) सूत्र के अनुसार निपातन से उकार का लोप; 'तद्धितेष्वचामादेः' सूत्र से आदि अच् (इ) को वृद्धि (ऐ)—ऐक्ष्वाकः ।

अवष्टम्भः—अव + √स्तम्भ् + घञ्' 'अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः' सूत्र से आविदूर्य

(तदनन्तर धीर एवं उद्धत पराक्रम वाला लव प्रवेश करता है)

लव—वाह ! राजपुत्र वाह ! सचमुच तुम इक्ष्वाकुवंशी हो; तो मैं तुम्हारे पास पहुँच ही रहा हूँ ।

(नेपथ्य में अत्यन्त कोलाहल होता है)

लव—(स्थिरता के साथ लौट कर) आः, पराजित होकर भागे हुए भी सेनापति अब क्यों लौट कर युद्ध के लिए उद्यत होते हुए चारों ओर से मुझे अवरुद्ध कर रहे हैं ! (इन) नीचों को धिक्कार है ।

ऐक्ष्वाकः—चन्द्रकेतु ने निर्भयता पूर्वक द्वन्द्व युद्ध के लिए आह्वान किया, अतः लव ने चन्द्रकेतु को सच्चा इक्ष्वाकुवंशी कह कर उसकी और उसके वंश की प्रशंसा अभिव्यक्त की ।

सावष्टम्भम्—स्थिरता के साथ । इससे सूचित किया गया है कि सैनिकों के आक्रमण से लव में तनिक भी अधीरता नहीं आयी ।

अयं शैलाघातक्षुभितवडवावक्त्रहुतभु-
क्प्रचण्डक्रोधार्चिर्निचयकवलत्वं व्रजतु मे।
समन्तादुपसर्पन्घनतुमुलसेनाकलकलः
पयोराशेरोघः प्रलयपवनास्फालित इव॥ ९॥

(सवेगं परिक्रामति)

('सावेगम्' इति पाठे—आवेगेन=त्वरया, सहितं यथा स्यात्तथेत्यर्थः), परावृत्य=प्रतिनिवृत्य, सैनिकानामभिमुखीभूय, कथयति—आः कथमिति। आः, एते भग्नाः=पराजिताः, पलायिताश्चापि, चमूपतयः=सेनापतयः, युद्धाभिसारिणः—युद्धमभिसरन्ति ते=पुनरपि योद्धुकामा इत्यर्थः, ('पृष्ठानुसारिणः' इति पाठे—मत्पृष्ठानुसरणशीला इत्यर्थः) प्रतिनिवृत्य=परावृत्य, पुनर्योद्धुमित्यर्थः; पर्यवष्टम्भयति=मत्समीपस्था भवन्ति। धिगेतान् जाल्मान्=पामरान्।

अन्वयः—प्रलयपवनास्फालितः पयोराशेः ओघ इव अयं समन्तात् उपसर्पन्घनतुमुलसेनाकलकलः मे शैलाघातक्षुभितवडवावक्त्रहुतभुक्प्रचण्डक्रोधार्चिर्निचयकवलत्वं व्रजतु॥ ९॥

लवः क्रोधाविष्टः सन्नाह—अयमिति। प्रलयपवनास्फालितः—प्रलयपवनेन=संवर्तवायुना, आस्फालितः=सञ्चालितः, आलोडित इति यावत्। पयोराशेः=समुद्रस्य। ओघ इव=प्रवाह इव। समन्तात्=सर्वतः। उपसर्पन्घनतुमुलसेनाकलकलः—उपसर्पन्=प्रसरन्, घनः=निबिडः, तुमुलः=सङ्कुलः, सेनाकलकलः=सैन्यानां कोलाहलः। मे=मम, लवस्येत्यर्थः। शैलाघात०—शैलानाम्=पर्वतानाम्, समु-

---

(बहुत दूर न होना) के अर्थ में स् को ष्, 'ष्टुना ष्टुः' से त् को ट्। भग्नाः—√भञ्ज्+क्त। धिग्जाल्मान्—धिक् के योग में द्वितीया।

आघातः—आ+√हन्+घञ्। हुतभुक्—हुतं भुङ्क्ते इति हुतभुक् (अग्निः); हुत+√भुज्+क्विप्। आस्फालितः—आ+√स्फल्+णिच्+क्त (कर्मणि)।

प्रलयकालीन वायु से आलोडित समुद्र के प्रवाह के समान यह चारों ओर फैलता हुआ गम्भीर एवं भीषण सेना का कोलाहल, पर्वतों के आघात से क्षुब्ध बडवानल-सदृश भयावह मेरे कोपानल के ज्वालासमूह का ग्रास बने (अर्थात् समुद्रस्थ पर्वतों से टकराकर क्षुब्ध हुआ बडवानल जैसे प्रलयवायु से आलोडित समुद्रप्रवाह को सोख लेता है, वैसे ही मेरा कोपानल सेना के तुमुल एवं गम्भीर कोलाहल को शान्त कर दे)॥ ९॥

(वेग से चारों ओर घूमता है)

बडवावक्त्रहुतभुक्—महाभारत में वर्णन मिलता है कि भृगु के वंशजों का नाश करने के लिए कार्तवीर्य के पुत्रों ने गर्भस्थ बालकों को भी मौत के घाट उतार दिया। उस वंश की एक स्त्री ने अपने गर्भ की रक्षा के लिए उसे अपनी जङ्घा (ऊरु) में छिपा लिया; ऊरु (जङ्घा) से उत्पन्न होने के कारण वह 'और्व' कहलाया। उसे देखकर कार्तवीर्य के पुत्र अन्धे हो गये। उसने अपने विश्वसंहारक कोपानल को अपने पितरों के अनुरोध से समुद्र में प्रक्षिप्त कर दिया, जहाँ वह बडवामुख के रूप में गुप्तरूप से पड़ा रहा। वही 'बडवानल' नाम से आज भी प्रसिद्ध है। यही कारण है कि बडवानल को 'और्व' भी कहा जाता है ('और्वस्तु वाडवो बडवानलः'—अमरकोष)।

चन्द्रकेतुः--भो भोः कुमार !

अत्यद्भुतादसि गुणातिशयात् प्रियो मे
तस्मात् सखा त्वमसि यन्मम तत्तवैव ।
तत्किं निजे परिजने कदनं करोषि
नन्वेष दर्पनिकषस्तव चन्द्रकेतुः ॥ १० ॥

द्राभ्यन्तरस्थितानामिति भावः, आघातेन = ताडनेन, क्षुभितः = सञ्चलितः, यो वडवावक्त्रहुतभुक् = वडवानलः, स इव प्रचण्डः = उग्रः, यः क्रोधः, तस्य कोपानलस्य अर्चिषाम् = ज्वालानाम्, निचयस्य = समूहस्य, कवलत्वम् = ग्रासभावम् । व्रजतु = गच्छतु ।

अयम्भावः—यथा प्रलयपवनेनाऽऽलोडितः समुद्रप्रवाहः पर्वतानां सङ्घट्टनेन परिक्षुभितस्य वडवानलस्य ग्रासो भवति, तथैव सर्वतः प्रसरन् निबिडः तुमुलश्चायं सैन्यकोलाहलो मम प्रचण्डकोपानलज्वालासमूहस्य ग्रासो भवतु—मम क्रोधाग्नौ विनष्टो भवतु, इति सरलार्थः ।

अत्र पयोराशेरोघेन सह सेनाकलकलसाम्याभिधानादुपमालङ्कारः । तथा हुतभुजा सह प्रचण्डक्रोधार्चिषां साम्यात् लुप्तोपमा च, इत्यनयोर्निरपेक्षतया स्थितेः संसृष्टिः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ ९ ॥

अन्वयः---अत्यद्भुताद् गुणातिशयात् मे प्रियः असि । तस्मात् त्वं सखा असि, यत् मम तत् तव एव । तत् किं निजे परिजने कदनं करोषि । ननु एषः चन्द्रकेतुः तव दर्पनिकषः ॥ १० ॥

चन्द्रकेतुः स्वसैन्यं विनाशयन्तं लवं सम्बोध्याऽऽह—**अत्यद्भुतादिति** । भो भोः कुमार ! अत्यद्भुतात् = अत्याश्चर्यजनकात्, गुणातिशयात् = शौर्यादिगुणप्रकर्षात्, त्वं मे प्रियः सखाऽसि, यत् मम = मत्सम्बद्धं यद्वस्तु तत्तवैव, तस्मात् = प्रियत्वात्, किमर्थं त्वं निजे परिजने = सैन्यसमूहे, कदनं = विनाशं, करोषि ? ननु = सम्बोधनार्थकमिदमव्ययम्, हे लव इत्यर्थः; एषः चन्द्रकेतुः = अहं, तव दर्पनिकषः = गर्वपरीक्षानिकषरूपोऽस्मि । एतान् वराकान् सैनिकान् परित्यज्य त्वं मया सह योद्धुमर्हसीति भावः। अत्र चन्द्रकेतौ निकषत्वारोपे दर्पपरीक्षाया उपयोगित्वेन परिणामालङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १० ॥

अतिशयः—अति + √शी + अच् । कदनम्—√कद् + ल्युट् (भावे)। निकषः—नि + √कष् + अप् ।

चन्द्रकेतु—हे हे कुमार !

अत्यन्त अद्भुत (शौर्यादि) गुणों के कारण तुम मेरे प्रिय अत एव सखा हो । जो मेरा है वह तुम्हारा ही है । तब क्यों अपने परिजन (सैन्यसमूह) का विनाश कर रहे हो । अरे, यह चन्द्रकेतु तुम्हारे दर्प की कसौटी है ॥ १० ॥

निकषः—यह एक प्रकार का पत्थर है, जिस पर रगड़ कर सोना परखा जाता है।

लवः—(सहर्षसम्भ्रमं परावृत्य) अहो ! महानुभावस्य प्रसन्नकर्कशा वीर-वचनप्रयुक्तिर्विकर्तनकुलकुमारस्य । तत्किमेभिरेनमेव तावत्सम्भावयामि ?

(पुनर्नेपथ्ये कलकलः)

लवः—(सक्रोधनिर्वेदम्) आः कदर्थितोऽहमेभिर्वीरसंवादविघ्नकारिभिः पापैः ।

(तदभिमुखं परिक्रामति)

लवः—(सहर्षसम्भ्रमम्—हर्षेण सम्भ्रमेण = त्वरया च सहितं यथा स्यात्तथा । परिवृत्य = चन्द्रकेतोरभिमुखमागत्येत्यर्थः ।) अहो != विस्मयार्थकमव्ययपदमिदम् । महाप्रभावस्य = प्रकृष्टप्रभावस्य । विकर्तनकुलकुमारस्य = सूर्यवंशराजपुत्रस्य । प्रसन्न-कर्कशा—प्रसन्ना = प्रसादयुक्ता, कर्कशा = कठोरा च । वीरवचनप्रयुक्तिः—वीर-वाक्यप्रयोगः । एभिः = सैनिकैरित्यर्थः । एनम् = चन्द्रकेतुमित्यर्थः । सम्भावयामि = (युद्धेन) सत्करोमि । (सक्रोधनिर्वेदम्—क्रोधेन, निर्वेदेन = खेदेन च सहितं यथा स्यात्तथा ।) वीरसंवादविघ्नकारिभिः—वीरेण = चन्द्रकेतुना, सह यः संवादः = युद्धार्थसम्भाषणम्, तत्र विघ्नम् = प्रतिबन्धं कुर्वन्ति, इति तच्छीलास्तैः । कदर्थितः = अवमानितः । तदभिमुखम् = सैन्यसम्मुखम् ।

अयम्भावः—लवः पलायितसैन्यप्रहारजनितेन क्रोधेन, मत्तः पलायिता अप्येते मुहुर्मुहुर्मामनुसरन्तीति खेदेन च सहितमाह—अहो ! अयं महानुभावो रविकुल-

---

कदर्थितः—कुत्सितः अर्थः इति कदर्थः 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' (६।३।१०१) के अनुसार 'कु' को 'कत्' आदेश । 'कुदर्थवन्तं करोति' इस विग्रह में 'तत्करोति तदाचष्टे' गणसूत्र से णिच् और 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' गणसूत्र के अनुसार णिच् का इष्ठवद्भाव होने से 'विन्मतोर्लुक्' (५।३।६५) के अनुसार मतुप् का लुक्—'कदर्थि' नामधातु से क्त प्रत्यय होने पर—'कदर्थितः' पद की निष्पत्ति होती है । संवादः—सम् + √वद् + घञ् । विघ्नम्—वि + √हन् + क (घञर्थे 'क' विघातम्) ।

लव—(हर्ष और संभ्रम के साथ लौटकर) अहो ! महानुभाव सूर्यवंशी कुमार का प्रसादगुणपूर्ण तथा परुष वचनों का (कितना अच्छा) प्रयोग है ! तो, इन (सैनिकों) से (मेरा) क्या (प्रयोजन) ? इसी (कुमार) का तब (युद्ध) से सम्मान करता हूँ ।

(नेपथ्य में फिर कोलाहल)

लव—(क्रोध और खेद के साथ) ओह ! (इस) वीर के संवाद में विघ्न करने वाले इन पापियों से अनादृत हुआ हूँ ।

(उनकी ओर घूमता है ।)

विकर्तनः—विशेषेण कर्तनं यस्य सः (प्रादि बहुव्रीहि) । विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा सूर्य की पत्नी थी । वह सूर्य का तेज सहन नहीं कर पाती थी । यह बात जब विश्वकर्मा को मालूम हुई तब उसने सूर्य को सान पर चढ़ाकर खराद दिया था । इसी से सूर्य को 'विकर्तन' कहा जाता है । अथवा—विकृन्तति भक्तरोगानिति विकर्तनः (वि + √कृत + ल्युट् (कर्तरी) ।

चन्द्रकेतुः—आर्य आर्य ! दृश्यताम्, द्रष्टव्यमेतत् ।

दर्पेण कौतुकवता मयि बद्धलक्ष्यः पश्चाद् बलैरनुसृतोऽयमुदीर्णधन्वा ।
द्वेधा समुद्धतमरुत्तरलस्य धत्ते मेघस्य माघवतचापधरस्य लक्ष्मीम् ॥ ११ ॥

कुमारः कीदृशं 'त्वं मे सखा' इति प्रसादयुक्तमपि च 'चन्द्रकेतुस्तव दर्पनिकषः' इति काठिन्योपेतं वचनं ब्रवीति ! तदिमान् सैनिकान् विहायैनमेव तावद् युद्धेन सत्करोमि। इत्युक्त्वा चन्द्रकेतुं प्रत्यभिमुखीभूते लवे सैनिकाः पुनस्तमनुसरन्तः कोलाहलं कुर्वन्ति, तच्छ्रुत्वा लवः सक्रोधनिर्वेदं प्राह—आः, चन्द्रकेतुना सह युद्धार्थसम्भाषणे विघ्नं कुर्वन्त एते पापा मामवाजानन्, इत्युक्त्वा तदभिमुखं परिक्रामति ।

चन्द्रकेतुः सुमन्त्रं लवस्य तदानीन्तनीं शोभां द्रष्टुं प्रेरयन्नाह—**आर्येति**। आर्य आर्य ! (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः) द्रष्टव्यम् = दर्शनीयम्, द्रष्टुं योग्यम्, एतत् = वक्ष्यमाणम्, दृश्यताम् = पश्यताम् ।

अन्वयः—कौतुकवता दर्पेण मयि बद्धलक्ष्यः पश्चाद् बलैः अनुसृतः उदीर्णधन्वा अयं द्वेधा समुद्धतमरुत्तरलस्य माघवत चापधरस्य मेघस्य लक्ष्मीं धत्ते ॥ ११ ॥

दर्पेणेति । कौतुकवता = मत्पराक्रमज्ञानार्थं यत्कौतुकम् = कौतूहलम्, तद्वता। दर्पेण = गर्वेण । मयि = चन्द्रकेतौ । बद्धलक्ष्यः = दत्तदृष्टिः । बलैः = (मम) सैन्यैः । अनुसृतः = अनुगतः । उदीर्णधन्वा—उदीर्णम्=उत्थापितं धनुर्येन स तथोक्तः। अयम् = वीरो लवः । द्वेधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् (पुरतः पश्चाच्चेत्यर्थः) । समुद्धतमरुत्तरलस्य—समुद्धतेन = प्रचण्डवेगेन प्रवहता, मरुता = पवनेन, तरलस्य = चञ्चलस्य । माघवतचापधरस्य—मघवान् = इन्द्रः, तस्यायमिति माघवतः = ऐन्द्रः, तादृशस्य चापस्य धरः = धारकः, तस्य । लक्ष्मीम् = शोभाम् । धत्ते = धारयति ।

अयम्भावः—कीदृशोऽयं वीर इति सोत्कण्ठेन दर्पेण मयि दत्तदृष्टिः, पश्चादस्मद्सैन्यैरनुधावितोऽधुना शरसन्धानार्थमुत्तोलितकोदण्डोऽयं वीरः कदाचित् प्राच्यवायुप्रेरितस्य कदाचिच्च पाश्चात्यवायुताडितस्य इन्द्रचापधरस्य मेघस्य शोभां धारयति।

उदीर्णम्—उद् + √ऋ (गतौ, क्र्यादिगणी) + क्त । उदीर्णधन्वा—उदीर्णं धनुर्येन यस्य वा सः, बहुव्रीहिसमास होने के बाद 'धनुषश्च' सूत्र से अनङ् समासान्त। द्वेधा—द्वि + एधाच् (एधाच्च ५।३।४६) । समुद्धतः—सम् + उद् + √हन् + क्त (कर्मणि) । माघवतः—मघवतः अयम् = माघवतः, मघवत् + अण् (तस्येदम्)।

चन्द्रकेतु—आर्य आर्य ! इस दृश्य को देखिए—

उत्कण्ठापूर्ण दर्प के साथ मेरे ऊपर लक्ष्य बाँधने वाला, पीछे से (हमारी) सेनाओं द्वारा अनुगत, धनुष उठाये हुए यह दो प्रकार (आगे और पीछे) से प्रचण्ड वायु से चञ्चल इन्द्रधनुष को धारण करने वाले मेघ की शोभा धारण कर रहा है ॥ ११ ॥

मेघस्य लक्ष्मीं धत्ते—मेघस्य लक्ष्मीमिव लक्ष्मीं धत्ते इत्यर्थः, अतः निदर्शना अलङ्कार है। इससे विदित होता है कि लव का वर्ण मेघ के समान श्याम था और उनका धनुष इन्द्रधनुष के समान प्रतीत होता था ।

सुमन्त्रः--कुमार एवैनं द्रष्टुमपि जानाति। वयं तु केवलं परवन्तो विस्मयेन।

चन्द्रकेतुः--भो भो राजानः!

सङ्ख्यातीतैर्द्विरदतुरगस्यन्दनस्थैः पदाता-
वत्रैकस्मिन् कवचनिचितैर्मेध्यचर्मोत्तरीये।
कालज्येष्ठैरभिनववयःकाम्यकाये भवद्भि-
र्योऽयं बद्धो युधि परिकरस्तेन वो धिगस्मान्॥ १२॥

अत्रैकस्य लक्ष्मीमपरः कथं धारयतीत्यसम्भवतो वस्तुसम्बन्धस्य बिम्बानुबिम्बभावेन तत्सदृशलक्ष्म्याः धारणेन सामञ्जस्यात् निदर्शनाऽलङ्कारः, 'मेघमाघ' इति छेकानुप्रासश्चेत्यनयोः संसृष्टिः। वसन्ततिलकं वृत्तम्॥ ११॥

सुमन्त्रः साश्चर्यमाह--कुमार इति। ननु कुमार! भवानेवैनं वीरबालकं द्रष्टुं समर्थः, अहं तु दृष्ट्वा पराक्रममेतस्य विस्मयेन पराधीनोऽस्मि।

चन्द्रकेतुः सैनिकान् भर्त्सयन्नाह--भो भो राजानः!

अन्वयः--संख्यातीतैः द्विरदतुरगस्यन्दनस्थैः कवचनिचितैः कालज्येष्ठैः भवद्भिः एकस्मिन् पदातौ मेध्यचर्मोत्तरीये अभिनववयःकाम्यकाये अत्र (लवे) यः अयं युधि परिकरः बद्धः तेन वः धिक्, अस्मान् (च) धिक्॥ १२॥

सङ्ख्यातीतैरिति। सङ्ख्यातीतैः--सङ्ख्यामतीतास्तैः ('द्वितीयाश्रिते'त्यादिना द्वितीयातत्पुरुषः) असङ्ख्यैरित्यर्थः। द्विरदतुरगस्यन्दनस्थैः--द्विरदाः=गजाः, तुरगाः=अश्वाः, स्यन्दनाः=रथाः, इति द्विरदतुरगस्यन्दनम् (सेनाङ्गत्वाद् 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इति समाहारद्वन्द्वस्यैकवद्भावः, 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वं च) तत्र तिष्ठन्तीति तैः। कवचनिचितैः--कवचैः=वर्मभिः, निचितैः=व्याप्तैः, धृतकवचैरित्यर्थः। कालज्येष्ठैः--कालेन=समयेन, वयसेत्यर्थः, ज्येष्ठैः=वृद्धतमैः। एकस्मिन्=एकाकिनि। पदातौ=पादचारिणि। मेध्यचर्मोत्तरीये--मेध्यम्=पवि-

---

सङ्ख्यातीतैः--सङ्ख्यामतीता इति सङ्ख्यातीताः, तैः 'द्वितीयाश्रितेत्या'दिना द्वितीयातत्पुरुषः। अतीतः--अति+√इण् गतौ+क्त। पदातिः--पादाभ्याम् अतति इति पदातिः--√अत्+इण् (उणादि) 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' (६।३।५२) सूत्र से 'पाद' को 'पद' आदेश। निचितः--नि+√चि (चयने)+क्त।

सुमन्त्र--कुमार ही इसे देखना भी जानते हैं। हम तो केवल आश्चर्य से पराधीन हो गये हैं

चन्द्रकेतु--हे हे राजाओ! असंख्य हाथी, घोड़े तथा रथ पर सवार, कवचों से आवृत तथा अवस्था में बड़े आप लोगों के द्वारा इस अकेले पैदल पवित्र चर्म के उत्तरीय वाले तथा नवीन अवस्था से कमनीय शरीर वाले (लव) के विषय में युद्ध में जो कमर कसी गयी है, उससे तुम लोगों को धिक्कार है और (तुम लोगों का अध्यक्ष होने के नाते) हमें भी धिक्कार है॥ १२॥

समभरः (पाठा०) समैर्वा--सर्वैरित्यर्थः, भरः=भारः (बद्धः)। अथवा समेषाम्=सर्वेषां भरः=संग्रहः, समुच्चयः (सबका एक जुट होना)। अथवा--समः=समानः, भरः=भारः समानतेत्यर्थः (अपने लोगों तथा इस बालक में समान भाव मानना)।

लवः—(सोन्माथम्) कथमनुकम्पते नाम । (विचिन्त्य) भवतु, कालहरणप्रतिषेधाय जृम्भकास्त्रेण तावत् सैन्यानि संस्तम्भयामि । (इति ध्यानं नाटयति ।)

सुमन्त्रः—तत्किमकस्मादस्मत्सैन्यघोषः प्रशाम्यति ।

लवः—पश्याम्येनमधुना प्रगल्भम् ।

त्रम्, चर्म=अजिनम्, उत्तरीयं यस्य तस्मिन्, मेध्यस्थाने 'नद्ध' इति पाठे—नद्धम्=बद्धम्, चर्म = अजिनम्, एव उत्तरीयम्=प्रावारो, येन तस्मिन्निति विग्रहः । अत्र=अस्मिन्, लव इत्यर्थः । परिकरः=कटिबन्धः । 'सम्भरः' इति पाठे समेषाम्=सर्वेषाम्, भारः इत्यर्थः । तेन = कारणेन । वः = युष्मान् । धिक् = निन्दामीत्यर्थः ।

अयम्भावः—भो भो राजानः ! भवन्तोऽसङ्ख्याः, अयं बालकस्तु एकाकी, भवन्तो गजाश्वरथारूढाः, अयं पदातिः, भवन्तो धृतकवचाः, अयं धृतमृगाजिनप्रावारः, भवन्तो वयोऽधिकाः, अयं बाल्येन कमनीयशरीरः, तथापि भवद्भिरस्मिन् योऽयं हननार्थमुद्यमो विहितस्तेन युष्मान् निन्दामि, युष्मदध्यक्षत्वेनात्मानमपि च निन्दामि । एतादृशानां युष्माकमेतादृशस्य बालकस्य हननार्थमिदं कृत्यमतीवानुचितमिति भावः ।

अत्र विरूपाणामेव वस्तूनामेकत्र सङ्घटनाद् विषमालङ्कारः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ १२ ॥

चन्द्रकेतोर्वचनं श्रुत्वा लवः सोन्माथम्—उन्माथेन=पीडया सहितं यथा स्यात्तथा=सव्यथमाह—**कथमिति** । कथमयं चन्द्रकेतुरेकत्वादिना अनुकम्पते = मद्दौर्बल्यमाशङ्क्य मयि दयां करोति । (विचिन्त्य) भवतु, एवमेभिः सह युद्धे कालहरणप्रतिषेधाय=समययापननिवारणाय, बहुकालातिपातो भविष्यति स मा भूदिति हेतोस्तावज्जृम्भकास्त्रेण सैन्यानि संस्तम्भयामि=निश्चेतनानि करोमि ।

लवेन तथा कृते सति सुमन्त्र आह—**तत्किमिति** । तत्किं सहसाऽस्माकं सैन्यानां कोलाहलः प्रशाम्यति=प्रशान्तो भवति, विरमति वा ।

सुमन्त्रोक्तिं निशम्य चन्द्रकेतुराह—**पश्यामीति** । (प्रगल्भम्=अतिशयधृष्टम्) अतिशयधृष्टस्यास्य पश्यामि=कियद्बलमिति । परीक्षेऽहं झटिति ।

प्रगल्भम्—प्र + √गल्भ् (धाष्टर्ये) + अच् ।

लव—(दुःख के साथ) क्यों (चन्द्रकेतु) दया कर रहा है ! **(सोचकर)** अच्छा, कालक्षेप की निवृत्ति के लिए जृम्भकास्त्र से सेनाओं को तब तक संमोहित करता हूँ ।

(ध्यान का अभिनय करता है)

सुमन्त्र—भया, क्यों अकस्मात् हमारी सेना का कोलाहल शान्त हो रहा है ।

लव—अब मैं इस धृष्ट को देखता हूँ ।

सोन्माथम्—उन्माथ का अर्थ है—अतिपीडा, क्षोभ, जाल, पाश आदि । यहाँ 'मानसिक पीडा' से तात्पर्य है । मुझे चन्द्रकेतु अकेला तथा अपेक्षित साधनों से हीन देखकर दुर्बल समझ रहा है—ऐसा सोचकर लव को अत्यन्त मानसिक पीडा हुई । 'सक्षोभम्' पाठ भी मिलता है, दोनों पाठों में अर्थ-भेद नहीं है ।

सुमन्त्रः--(ससम्भ्रमम्) वत्स ! मन्ये कुमारकेणानेन जृम्भकास्त्रमामन्त्रितमिति ।

चन्द्रकेतुः--अत्र कः सन्देहः ?

व्यतिकर इव भीमस्तामसो वैद्युतश्च
प्रणिहितमपि चक्षुर्ग्रस्तमुक्तं हिनस्ति ।
अथ लिखितमिवैतत्सैन्यमस्पन्दमास्ते
नियतममितवीर्यं जृम्भते जृम्भकास्त्रम् ॥ १३ ॥

सुमन्त्रः ससम्भ्रममाह—अनेन कुमारकेण जृम्भकास्त्रप्रयोगः कृत इति सम्भावयामि ।

चन्द्रकेतुः सुमन्त्रवचनं समर्थयन्नाह—अत्र भवतां वाक्ये नास्ति कोऽपि सन्देहः ।

अन्वयः—तामसः वैद्युतश्च भीमः व्यतिकर इव ग्रस्तमुक्तं चक्षुः हिनस्ति । अथ एतत् सैन्यम् लिखितमिव अस्पन्दम् आस्ते । नियतम् अमितवीर्यं जृम्भकास्त्रं जृम्भते ॥ १३ ॥

'वत्स ! मन्ये कुमारकेणानेन जृम्भकास्त्रमामन्त्रितम्' इति सुमन्त्रोक्तिं समर्थयन्नाह चन्द्रकेतुः—व्यतिकर इव । तामसः=तमःसम्बन्धी । वैद्युतः=विद्युत्सम्बन्धी । भीमः=भयङ्करः । व्यतिकर इव=सम्पर्क इव । प्रणिहितमपि=प्रयत्नेन निक्षिप्तमपि । ग्रस्तमुक्तम्—तमसा पूर्वं ग्रस्तं पश्चाज्ज्योतिषा मुक्तम् । हिनस्ति=बाधते, विषयज्ञाने असमर्थं करोति । लिखितमिव=चित्रार्पितमिव । अस्पन्दम्=चेष्टारहितम् । नियतम्=निश्चितम् । अमितवीर्यम्=अमितपराक्रमम् । जृम्भते=आविर्भवति ।

अयम्भावः—निश्चितमेवायं जृम्भकास्त्रस्यैव प्रभावः । तथाविधः पूर्वं तमसः

व्यतिकरः—वि+अति+√कृ+अप् । तामसः—तमसः अयम्, तमस्+अण् ('तस्येदम्' इत्यण्) । इसी प्रकार विद्युत्+अण्=वैद्युतः । प्रणिहितम्=प्र+नि+धा+क्त (कर्मणि) 'दधातेर्हिः' इति 'धा' को 'हि' आदेश । ग्रस्तमुक्तम्—पूर्वं ग्रस्तं पश्चान्मुक्तमिति; 'पूर्वकालैक—' (२।१।४९) सूत्र से समास ।

सुमन्त्र—(घबड़ाहट के साथ) वत्स ! मैं समझता हूँ कि इस छोटे कुमार ने जृम्भकास्त्र का आवाहन किया है ।

चन्द्रकेतु—इसमें क्या सन्देह है ?

तमःसम्बन्धी और विद्युत्सम्बन्धी भयंकर सम्पर्क की तरह, प्रयत्नपूर्वक एकाग्र करने पर भी पहले अन्धकार से ग्रस्त और बाद में प्रकाश से मुक्त हुए नेत्र को विषय के ज्ञान में बाधित कर रहा है । अब यह हमारी सेना चित्रलिखित-सी निश्चेष्ट हो रही है । निश्चय ही अपरिमित शक्तिवाला जृम्भकास्त्र स्फुरित हो रहा है ॥ १३ ॥

व्यतिकर इव भीमः—जृम्भकास्त्र के प्रभाव से आकाश में पहले अन्धकार छा गया, जिससे आँखें प्रयत्न करने पर भी कुछ देखने में असमर्थ हो गयीं । उसके बाद ही शीघ्र प्रखर प्रकाश के फैल जाने से आँखें यद्यपि अन्धकार से मुक्त हो गयीं, किन्तु अब प्रकाश के आधिक्य से चौंधिया गयीं और कुछ देखने में असमर्थ हो गयीं ।

आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् !

पातालोदरकुञ्जपुञ्जिततमःश्यामैर्नभो जृम्भकै-
रुत्तप्तस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः ।
कल्पाक्षेपकठोरभैरवमरुद्व्यस्तैरवस्तीर्यते
मीलन्मेघतडित्कडारकुहरैर्विन्ध्याद्रिकूटैरिव ॥ १४ ॥

सम्पर्कः प्रयत्नेन निक्षिप्तमपि नेत्रं रूपज्ञानेऽसमर्थं करोति, पश्चाच्च वैद्युतः सम्पर्कः तमोमुक्तमपि नेत्रं चाकचक्यवशात् पदार्थज्ञानेऽसमर्थं करोति; अपि चैतत् सैन्यं चेष्टारहितं लिखितमिव वर्तते, तस्मान्निश्चीयते—अमितप्रभावं जृम्भकास्त्रमेव प्रादुर्भवति।

'लिखितमिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । सैन्यानां समूहेषु जृम्भकास्त्रकृतनिष्पन्दभावादेः सत्त्वात् तदस्त्रजविकारादेरनुमानात् अनुमानालङ्कारः । एतयोरङ्गाङ्गिभावेन स्थितेः सङ्करः । मालिनी वृत्तम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—पातालोदरकुञ्जपुञ्जिततमःश्यामैः उत्तप्तस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः जृम्भकैः कल्पाक्षेपकठोरभैरवमरुद्व्यस्तैः मीलन्मेघतडित्कडारकुहरैः विन्ध्याद्रिकूटैः इव नभः अवस्तीर्यते ॥ १४ ॥

चन्द्रकेतुः पुनः साश्चर्यमाह—पातालोदरेति । पातालोदर०—पातालस्य उदरेषु = अभ्यन्तरेषु, ये कुञ्जाः तेषु पुञ्जितानि = राशीभूतानि, यानि तमांसि = अन्धकाराणि, तानीव श्यामानि = कृष्णवर्णानि, तैः । उत्तप्त०—उत्तप्तम् = सन्तप्तम्, स्फुरद् = दीप्यमानम्, यत् आरकूटम् = पित्तलम्, तस्य कपिलम् = पिङ्गलम्, यत् ज्योतिः = प्रभा, तद्वत् ज्वलन्ती = दीप्यमाना, दीप्तिः = प्रभा, येषां तानि तैः । जृम्भकैः = तन्नामास्त्रैः । कल्पाक्षेप०—कल्पस्य = ब्रह्मणो दिनस्य, आक्षेपे = अवसाने, कठोराः = प्रचण्डाः, भैरवाः = भीषणाः, ये मरुतः = वायवः, तैः व्यस्तैः = वियोजितैः, विन्ध्याद्रेरुत्पाट्यान्यत्र नीतैरित्यर्थः । मीलन्मेघ०—मीलन्तः = संयुज्यमानाः, तथा तडिद्भिः = विद्युद्भिः कडारानि = पिङ्गलानि ('कडारः कपिलः पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः)

पुञ्जितम्—पुञ्जं करोति पुञ्जयति (नामधातु) 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् । पुञ्ज + णिच्, ततः कर्मणि क्तः । व्यस्त—वि + √अस् (क्षेपणे) + क्त (कर्मणि) । अवस्तीर्यते—अव + √स्तॄ (आच्छादने) + लट् (कर्मणि) ।

आश्चर्य ! आश्चर्य ! पाताल के भीतर के लताकुञ्जों में पुञ्जीभूत अन्धकार के समान श्याम वर्ण वाले, तप्त एवं चमकते हुए पीतल (धातुविशेष) की पीली ज्योति के समान दीप्यमान प्रभा वाले, कल्पान्त में प्रचण्ड भीषण वायु से बिखेरे गये और परस्पर मिलते हुए मेघों वाले एवं विद्युत् से पिङ्गलगुहाओं वाले विन्ध्याचल के शिखरों के समान जृम्भकास्त्रों से आकाश आच्छादित हो रहा है ॥ १४ ॥

इस पद्य की प्रथम पंक्ति 'मालतीमाधव' के नवम अङ्क के ५४वें एवं दशम अङ्क के ८वें श्लोक में भी आयी है। इस श्लोक में 'विन्ध्याद्रिकूटैरिव' यहाँ उपमाऽलङ्कार है। कुछ लोग 'उत्प्रेक्षा' मानते हैं।

सुमन्त्रः—कुतः पुनरस्य जृम्भकाणामागमः स्यात् ?

चन्द्रकेतुः—भगवतः प्राचेतसादिति मन्यामहे ।

सुमन्त्रः—नैतदेवमस्त्रेषु विशेषतो जृम्भकेषु । यतः—

कृशाश्वतनया ह्येते कृशाश्वात्कौशिकं गताः ।
अथ तत्सम्प्रदायेन रामभद्रे स्थिता अपि ॥ १५ ॥

एतादृशानि कुहराणि = गुहाः, येषां तानि तैः । विन्ध्याद्रिकूटैः = विन्ध्याचलशृङ्गैः नभः = आकाशम् । अवस्तीर्यते = आच्छाद्यते ।

अयम्भावः—पातालस्य मध्यभागेषु ये कुञ्जास्तेषु सञ्चितैस्तमोभिरिव श्यामवर्णैः, परितप्तपित्तलवद् दीप्तकान्तिभिः जृम्भकास्त्रैः प्रलयकालिकप्रचण्डभीषणपवनद्वारा इतस्ततः परिक्षिप्तसविद्युन्मेघसदृशविन्ध्यगिरिशिखरैरिवाकाशं समाच्छाद्यते ।

अत्रोपमालङ्कारः, न ह्युत्प्रेक्षा, प्रलयसमये सृष्टिविलोपस्य शास्त्रसिद्धत्वेन तात्त्विकतया विन्ध्याद्रिकूटानामपि प्राक्तनरूपतया वर्णनीयत्वस्य सुसङ्गतया सुसिद्धत्वात् अकाल्पनिकत्वाच्च कथञ्चिदप्यत्र विषये सम्भावनाया अभावादिति ज्ञेयम् । शार्दूलविक्रीडितम् ॥ १४ ॥

सुमन्त्र आशङ्कते—**कुत इति** । अस्य = लवस्य, कुतः = कस्मात् पुरुषात्, जृम्भकास्त्राणाम् आगमः = प्राप्तिः, सम्भवेत् ?

चन्द्रकेतुः समानं करोति—**भगवत इति** । भगवतः प्राचेतसात् = वाल्मीकेरस्य जृम्भकाणाम् एतत् = आगम इति वयं मन्यामहे (स्वोत्कृष्टत्वख्यापनार्थं बहुवचनम्) । एवंविधान्यस्त्राणि भगवतो वाल्मीकेर्लवस्य समीपे नैवाऽऽगन्तुं शक्नुवन्ति, इति साधयितुं सुमन्त्रः प्राह—**नैतदिति** । अस्त्रेषु प्राचेतसादधिगम इत्येतद् एवं न घटते, जृम्भकास्त्रविषये विशेषेण एवं न । यतः—

अन्वयः—एते कृशाश्वतनयाः हि, कृशाश्वात् कौशिकं गताः । अथ तत्सम्प्रदायेन रामभद्रे स्थिताः अपि ॥ १५ ॥

कृशाश्वतनया इति । एते कृशाश्वतनयाः हि = कृशाश्वोत्पन्ना एते जृम्भकास्त्ररूपपदार्थाः (विधेयप्राधान्येन पुंस्त्वम्) । कौशिकं गताः = विश्वामित्रं प्राप्ताः । अथ =

आगमः—आ + √गम् + अप् ।

सुमन्त्र—किन्तु इसे जृम्भकास्त्रों की प्राप्ति किस पुरुष से हुई ?

चन्द्रकेतु—भगवान् वाल्मीकि से; ऐसा समझ पड़ता है ।

सुमन्त्र—वत्स ! अस्त्रों के विषय में यह (वाल्मीकि से अस्त्रों की प्राप्ति) बात ऐसी नहीं है । क्योंकि—

ये जृम्भकास्त्र कृशाश्वमुनि के पुत्र हैं (उन्होंने ही जृम्भकास्त्रों को प्रारम्भ में उत्पन्न किया था), कृशाश्वमुनि से विश्वामित्र को प्राप्त हुए, तदनन्तर सम्प्रदाय क्रम से रामभद्र में स्थित हैं (उनके बाद अभी किसी दूसरे में संक्रान्त नहीं हुए हैं ।) ॥ १५ ॥

चन्द्रकेतुः—अपरेऽपि प्रचीयमानसत्त्वप्रकाशाः स्वयं सर्वं मन्त्रदृशः पश्यन्ति।

सुमन्त्रः—वत्स ! सावधानो भव । परागतः प्रवीरः ।

कुमारौ—(अन्योन्यं प्रति) अहो प्रियदर्शनः कुमारः ! (सस्नेहानुरागं निर्वर्ण्य)

अनन्तरम् । तत्सम्प्रदायेन—तस्य = विश्वामित्रस्य, सम्प्रदायेन = गुरूपदेशक्रमेण। रामभद्रे = श्रीरामचन्द्रे । स्थिताः अपि = संश्रिता एव ।

अयम्भावः—एते जृम्भकास्त्रविशेषाः कृशाश्वेनैवाविष्कृतत्वात् तस्य महर्षेस्तनया एव सन्ति । तस्मात् कृशाश्वाद् विश्वामित्रं प्राप्ताः, कृशाश्वेन स्वशिष्याय विश्वामित्राय दत्ता इति भावः, अथ तस्माद् विश्वामित्रात् सम्प्रदायानुसारं रामभद्रे स्थिता इति क्रमो जृम्भकास्त्राणाम् । तस्माद् वाल्मीकेरधिगम इति वक्तुं न युज्यत इति भावः । अत्र जृम्भकास्त्राणामनेकेषु सङ्क्रमणात् पर्यायालङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १५ ॥

चन्द्रकेतुः स्वपक्षं द्रढयति—अपरेऽपीति । ननु भवदुक्तेभ्योऽन्येऽपि येषु प्रचीयमानसत्त्वप्रकाशाः—प्रचीयमानः=प्रवर्द्धमानः, सत्त्वस्य=सत्त्वगुणस्य, प्रकाशः = आविर्भावः, येषु ते, विद्यते; तथाविधा मन्त्रदृशः = वेदमन्त्राणां साक्षात्कर्तारः, स्वयं = सम्प्रदायेन विनापि, सर्वमर्थजातं पश्यन्ति, तत्कथं नु भगवतो वाल्मीकेर्जृम्भकास्त्राणामागमो न सम्भाव्यते ?

सुमन्त्रश्चन्द्रकेतोश्चित्तं प्रस्तुतं प्रति नयति—**वत्सेति**। वत्स चन्द्रकेतो ! अयं प्रवीरः = प्रकृष्टो वीरः ('प्रतिवीरः' इति पाठे प्रतिद्वन्द्विवीर इत्यर्थः), परागतः = सम्प्राप्तः, तस्मात् सावधानो भव । कदाचिदागत्यायं त्वामपि न पराभवेदिति भावः ।

उभौ कुमारौ परस्परदर्शनेन प्रसन्नतां गच्छन्तावन्योन्यमुद्दिश्य कथयतः—अहो इति । अहो प्रियदर्शनः—प्रियं = सुखजनकं, दर्शनं यस्य सः; सौम्याकृतिः कुमारः ।

प्रचीयमानः—प्र + √चि + शानच् (कर्मणि) । मन्त्रदृशः—मन्त्रं पश्यन्तीति मन्त्रदृशः, मन्त्र + √दृश् + क्विप् । प्रवीरः—प्रकृष्टः वीरः, प्रादिसमास । परागतः—परा + आ + √गम् + क्त ।

चन्द्रकेतु—सत्त्वगुण का प्रकाश जिनमें बढ़ रहा होता है, ऐसे दूसरे भी मन्त्रद्रष्टा ऋषि स्वयं (गुरूपदेश के बिना ही) सब कुछ देख लेते हैं ।

सुमन्त्र—वत्स ! सावधान हो जाओ, प्रकृष्ट वीर आ पहुँचा है ।

दोनों कुमार—(एक दूसरे के प्रति) अहो ! कुमार (कैसा) प्रियदर्शन है !

(स्नेह तथा अनुराग से देखकर)

प्रचीयमानसत्त्वप्रकाशाः—सांख्यदर्शन के अनुसार तीनों गुणों में सत्त्वगुण श्रेष्ठ है, इसका विशेषधर्म प्रकाश है । जब किसी की बुद्धि में सत्त्वगुण के प्रकाश का पूर्ण आविर्भाव हो जाता है तो उसे गुरूपदेश के बिना ही स्वतः ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान होने लगता है । कृशाश्वमुनि को इसी प्रकार से जृम्भकास्त्रों की प्राप्ति स्वतः हुई थी, अतः वाल्मीकि मुनि को भी जृम्भकास्त्रों की प्राप्ति की पूर्ण संभावना है । चन्द्रकेतु के युक्तियुक्त इस तर्क का प्रत्युत्तर सुमन्त्र के पास नहीं था ।

अन्योन्यं प्रति—इसके स्थान पर 'स्वगतम्' होना चाहिए—अर्थात् दोनों कुमार एक-दूसरे को देखकर मन में सोचते हैं । अन्योन्य संभाषण यहाँ स्वाभाविक न होने से ठीक नहीं जँचता है ।

यदृच्छासंवादः किमु, किमु गुणानामतिशयः
पुराणो वा जन्मान्तरनिबिडबद्धः परिचयः।
निजो वा सम्बन्धः किमु विधिवशात्कोऽप्यविदितः
ममैतस्मिन् दृष्टे हृदयमवधानं रचयति॥ १६॥

सुमन्त्रः—भूयसा जीविधर्म एष यद्रसमयी कस्यचित् क्वचित्प्रीतिः, यत्र

अन्वयः—किमु यदृच्छासंवादः किमु गुणानामतिशयः, वा जन्मान्तरनिबिडबद्धः पुराणः परिचयः, किमु विधिवशात् कोऽपि अविदितः निजः सम्बन्धः, एतस्मिन् दृष्टे मम हृदयम् अवधानं रचयति ॥ १६ ॥

यदृच्छेति। यदृच्छासंवादः—यदृच्छया = दैवयोगेन, संवादः = समागमः, समानरूपत्वं वा। जन्मान्तरनिबिडबद्धः—जन्मान्तरेषु = अन्येषु जन्मसु, निबिडं=दृढम्, यथा स्यात्तथा बद्धः। पुराणः = प्राक्तनः। विधिवशात् = भाग्यवशात्। कोऽपि = प्रतिपादयितुमशक्यः। निजः सम्बन्धः = भ्रातृत्वादिः। एतस्मिन् = कुमारे इत्यर्थः। हृदयम् = चित्तम् (कर्म)। अवधानं रचयति = एकाग्रतां गमयतीत्यर्थः।

अयम्भावः—किमु दैवयोगेनायं कश्चित् स्वेष्टजनसमागमः, अथवा सज्जनोचितानामौदार्यादिगुणानां प्रकर्षः, अथवा कश्चिज्जन्मान्तरस्य दृढारूढः परिचयः, अथवा भाग्यवशात् अविदितः कश्चिद् भ्रातृत्वादिरात्मीयः सम्बन्धोऽस्ति, य एतस्मिन् कुमारे दृष्टे मम हृदयमेकाग्रतां गमयति ?

इमं कुमारं दृष्ट्वा यन्मदीयं हृदयं प्रणयैकप्रवणं जातं तत्र हेतुरावयोर्दैवयोगेन समागमः, किं वा सज्जनोचितौदार्यादिगुणप्रकर्षोऽथवा जन्मान्तरजातः परिचयः, आहोस्विदपरिज्ञातः कोऽपि भ्रातृत्वादिरूपः सम्बन्धोऽस्तीति निर्णेतुं न पारयामीति भावः।

अत्र पादत्रये शुद्धसन्देहालङ्कारः, चतुर्थपादे काव्यलिङ्गम्, इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन स्थितेः सङ्करः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ १६ ॥

सुमन्त्रः कथयति—**भूयसेति**। भूयसा = बाहुल्येन। जीविधर्मः—जीविनाम् =

जन्मान्तरे—अन्यत् जन्म जन्मान्तरम्, तस्मिन्: 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७२) से समास। परिचयः—परि + √चि + अच्: यदृच्छा—यद् + √ऋच्छ + अङ् + टाप्।

क्या (यह) आकस्मिक समागम है, क्या (औदार्यादि) गुणों का प्रकर्ष है अथवा अन्य जन्म में दृढता से बँधा हुआ परिचय है, अथवा भाग्यवश क्या कोई अज्ञात (भ्रातृत्वादि रूप) आत्मीय सम्बन्ध है, जो इस (कुमार) को देखने पर इसके प्रति मेरे हृदय को आकर्षित कर रहा है ? ॥१६॥

सुमन्त्र—प्रायः प्राणियों का स्वभाव है कि किसी का किसी में आनन्दमय स्नेह हो जाता है,

---

हृदयमवधानं रचयति—यहाँ 'रचयति' में हेतुमण्णिच् समझना चाहिए और 'हृदयम्' प्रयोज्य कर्म है। 'यदृच्छासंवादः' प्रयोजक कर्ता है।

लौकिकानामुपचारस्तारामैत्रकं चक्षूराग इति। तमप्रतिसङ्ख्येयमनिबन्धनं प्रेमाणमामनन्ति।

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्मर्माणि सीव्यति॥ १७॥

प्राणिनाम्, धर्मः=स्वभावः। रसमयी=आनन्दमयी ('स्वरसमयी' इति पाठे आत्मानन्दमयीत्यर्थ)। यत्र=यस्यां प्रीतौ। लौकिकानाम्=लोकस्येत्यर्थः। उपचारः=व्यवहारः ('व्याहारः' इति पाठे उक्तिरित्यर्थः)। तारामैत्रकम्—तारयोः=कनीनिकयोः, मैत्रकम्=सख्यम्। चक्षूरागः=नेत्रप्रीतिः। तम्=तादृशम्। प्रेमाणम्=स्नेहम्। अप्रतिसङ्ख्येयम्=प्रतिसङ्ख्यातुमशक्यम्, अनिर्वचनीयम्। अनिबन्धनम्=अहेतुकम्। आमनन्ति=कथयन्ति।

अयम्भावः—प्रायेण प्राणिनामेष धर्मः स्वभावः, यत् कस्यचिज्जनस्य कस्मिंश्चिज्जने आनन्दात्मकः स्नेहो जायते, तमेव स्नेहमुद्दिश्य लौकिका जनास्तारामैत्रकं चक्षूरागो वेति कथयन्ति। तारामैत्रकादिनाम्नोपचरितं तमेव स्नेहमनिर्वचनीयमहेतुकं च जनाः कथयन्तीति भावः।

अन्वयः—अहेतुः यः पक्षपातः तस्य प्रतिक्रिया नास्ति, स स्नेहात्मकः तन्तुः अन्तर्मर्माणि सीव्यति॥ १७॥

अहेतुरिति। अहेतुः=निर्निमित्तः। पक्षपातः=आसक्तिविशेषः: प्रतिक्रिया=प्रतीकारः, निवर्तकोपाय इति यावत्। स्नेहात्मकः=प्रेममयः। तन्तुः=सूत्रम्। अन्तर्मर्माणि=आभ्यन्तराणि मर्मस्थानानि। सीव्यति=स्यूतानि करोति, प्रेमिणोर्हृदयद्वयं संयोज्य एकीकरोति।

जीविधर्मः—जीविनां धर्मः, जीवः जीवनम्, सोऽस्त्येषामिति जीविनः—जीव+इनि (अत इनिठनौ)। उपचारः—उप+√चर्+घञ्। मैत्रकम्—मित्रस्य भावः मैत्रम्, मित्र+अण्; मैत्रमेव मैत्रकम्, स्वार्थे कः। रागः—√रञ्ज्+घञ्। प्रेमन् (पुं०)—प्रियस्य भावः, प्रिय+इमनिच्, प्रिय के 'प्र' आदेश ('प्रियस्थिर॰' ६।४।१५७)। प्रतिक्रिया—प्रति+√कृ+श (स्त्रियां भावे)।

जिसके विषय में लोगों का 'तारामैत्रक' अथवा 'चक्षूराग' (नेत्रों का अनुराग) ऐसा व्यवहार होता है। ऐसे ही प्रेम को अनिर्वचनीय और अहेतुक कहते हैं।

(यह) जो अकारण पक्षपात (अनुराग) होता है, इसकी प्रतिक्रिया (दूर करने का उपाय) नहीं है। वह ऐसा स्नेहात्मक सूत्र है, जो (प्रेमियों के) भीतरी मर्मस्थानों को सिल देता है (अर्थात् दोनों हृदयों को संयुक्त कर एक कर देता है)॥ १७॥

तारामैत्रकम्—नेत्र-कनीनिकाओं का प्रेम, अथवा जन्म-समय के नक्षत्रों की मैत्री।

चक्षूरागः—चक्षुषा रागः, अर्थात् परस्पर के दर्शन मात्र से उत्पन्न हुआ प्रेम। भवभूति ने प्रेम की पूर्वावस्था का बोध कराने के लिए इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। ये प्रथमदर्शन से ही हृदय में प्रेम का आविर्भाव मानते हैं। 'पुरश्चक्षूरागस्तदनु मनसोऽनन्यपरता'। (मालतीमाधव ६।१५)

कुमारौ—(अन्योन्यमुद्दिश्य)

एतस्मिन् मसृणितराजपट्टकान्ते मोक्तव्याः कथमिव सायकाः शरीरे ।
यत्प्राप्तौ मम परिरम्भणाभिलाषादुन्मीलत्पुलककदम्बमङ्गमास्ते ॥ १८ ॥

अयम्भावः—यः कारणं विनैव पक्षपातो भवति तस्य निवर्तकोपायो न सम्भवति, स तादृशः स्नेहात्मकस्तन्तुरस्ति यः आभ्यन्तराणि मर्मस्थलानि स्यूतानि करोति, प्रेमिणोर्हृदयद्वयं संयोज्य एकीकरोतीत्यर्थः ।

स्नेहवशादेव सर्वेषां प्राणिनां पारस्परिकः सम्बन्धो भवति । द्विधाभूतान्यपि वस्त्राणि तन्तुरेकीकरोति, तथैव स्नेहो भिन्नमपि हृदयद्वयं संयोज्य एकीकरोतीत्याशयः ।

अत्र कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः, अपि च स्नेहे तन्तोरभेदारोपाद्रूपकालङ्कारः, अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १७ ॥

अन्वयः—मसृणितराजपट्टकान्ते एतस्मिन् शरीरे सायकाः कथमिव मोक्तव्याः; यत्प्राप्तौ परिरम्भणाभिलाषात् मम अङ्गम् उन्मीलत्पुलककदम्बम् आस्ते ॥ १८ ॥

उभावपि कुमारावन्योन्यं प्रति कथयतः—**एतस्मिन्निति** । मसृणितराजपट्टकान्ते—मसृणितः = संस्कारद्वारा चिक्कणीकृतः, यो राजपट्टः = श्रेष्ठवस्त्रम्, तादृशे कान्ते = मनोहरे । परिरम्भणाभिलाषात्—परिरम्भणस्य = आलिङ्गनस्य, अभिलाषात् = मनोरथात् । उन्मीलत्पुलककदम्बम्—उन्मीलत् = उद्गच्छत्, पुलकानाम् = रोमाञ्चानाम्, कदम्बम् = समूहः, यस्मिंस्तथाविधम् । आस्ते = विद्यते ।

अयम्भावः—संस्कारद्वारा चिक्कणीकृते श्रेष्ठवस्त्रे इव कमनीये एतस्मिन् शरीरे केन प्रकारेण शरा मोक्तुं योग्याः, यद् दृष्ट्वैवाऽलिङ्गनाभिलाषात् मदीये शरीरे रोमाञ्चकदम्बमुद्गच्छति ।

'मसृणितराजपट्टकान्ते' इत्यत्र लुप्तोपमा; अपि च पूर्वार्द्धगतवाक्यस्थितं शरीरे सायकाविमोचनं प्रति परार्द्धगतवाक्यस्थस्य पुलकोद्गमजनितालिङ्गनाभिलाषस्य हेतुत्वेनोपन्यासाद् वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । एतयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ १८ ॥

मसृणितम्—मसृणं करोतीति मसृणयति (नामधातु)—'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्, ततः क्तः (कर्मणि) । मोक्तव्याः—मोक्तुं योग्याः + मुच् + तव्य । परिरम्भणम्—परि + √रभ् + ल्युट् (भावे) । उन्मीलत्—उद् + √मील् + शतृ ।

दोनों कुमार—(एक दूसरे को उद्देश्य करके)

चिकने किये हुए राजपट्ट (श्रेष्ठ वस्त्र अथवा मणिविशेष—इन्द्रनीलमणि) के समान कमनीय इस शरीर पर भला बाण कैसे छोड़े जायँ, जिसके मिलने पर आलिङ्गन की अभिलाषा से मेरा अङ्ग रोमाञ्चों से युक्त हो रहा है ॥ १८ ॥

राजपट्टम्—नीलरक्तपट्टवस्त्रम् (वीरराघव) । अथवा मणिविशेष, संभवतः इन्द्रनीलमणि ('इन्द्रनीलमणिमेचकच्छवि' अङ्क ६, श्लोक १७)

पुलककदम्ब—पुलकानां कदम्बं=समूहः । अथवा पुलकाः कदम्बानीव (कदम्बपुष्पाणीव) ।

किं त्वाक्रान्तकठोरतेजसि गतिः का नाम शस्त्रं विना
शस्त्रेणापि हि तेन किं न विषयो जायेत यस्येदृशः।
किं वक्ष्यत्ययमेव युद्धविमुखं मामुद्यतेऽप्यायुधे
वीराणां समयो हि दारुणरसः स्नेहक्रमं बाधते ॥ १९ ॥

सुमन्त्रः—(लवं निर्वर्ण्य सास्रमात्मगतम्) हृदय ! किमन्यथा परिकल्पसे ?

अन्वयः—किन्तु आक्रान्तकठोरतेजसि शस्त्रं विना का नाम गतिः ? यस्य ईदृशो विषयो न जायेत, तेन शास्त्रेणापि हि किम् ? आयुधे उद्यते अपि युद्धविमुखं माम् अयमेव किं वक्ष्यति ? दारुणरसः वीराणां समयः स्नेहक्रमं बाधते हि ॥ १९ ॥

पुनरपि कुमारौ परस्परमाहतुः—किं त्वाक्रान्तेति । किन्तु इति पक्षान्तरे। आक्रान्तकठोरतेजसि—आक्रान्तम्=प्राप्तम्; कठोरम्=उग्रं पूर्णं वा, तेजः=शौर्यम्, येन तथाविधे जने । का नाम गतिः=को नामोपायः (नामेति सम्भावनायाम्)। यस्य=शस्त्रस्य । ईदृशः=एतद्वीरसदृशः । विषयः=प्रयोगपात्रम् । मां=लवं चन्द्रकेतुं वेत्यर्थः । दारुणरसः—दारुणः=कठोरः, रसः=वीररसः, यस्मिन् सः । समयः= आचारः, ('समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः) । स्नेहक्रमम्=प्रणय-व्यापारपरिपाटीम् । बाधते=निवर्तयति । 'हि' इति अवधारणे ।

अयम्भावः—किन्तु परिपूर्णशौर्ययुक्तेऽस्मिन् वीरकुमारे शस्त्रप्रयोगमन्तरा नास्त्यन्यः कोऽप्युपायः ? शस्त्रस्य वीरमानमर्दनार्थकत्वेन यदि सम्प्रतीदृशो वीरो लक्ष्यभूतो न भवेत् तर्हि तेन शस्त्रेणापि को लाभः ? अथ च शस्त्रे प्रहर्त्तुमुत्तोलितेऽपि स्नेहाद्धेतोर्युद्ध-पराङ्मुखं मामयमेव किं कथयिष्यति ? युद्धविमुखस्य मम भीरुत्वमेवायं सम्भावयिष्यति न तु प्रणयप्रवणत्वमिति भावः । निष्ठुरवीररसोपेतो वीराणामाचारः प्रणयप्रसरं नैव स्वीकरोति; स्नेहे वीरधर्मे च परस्परविरोधात् प्रणयबन्धनं भङ्क्त्वा सम्प्रति कथञ्चित्सङ्ग्राम एव कर्त्तव्यः ।

अत्र सामान्येन वीराणां समयरूपेण वस्तुना विशेषस्य स्वकीयसमाचाररूपस्य वस्तुनः समर्थनात्, सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ॥ १९ ॥

आक्रान्तम्—आ+√क्रम्+क्त (कर्मणि) । शस्त्रेण—गम्यमानसाधनक्रिया-पेक्षया करणे तृतीया । उद्यतम्—उद्+यम्+क्त (कर्मणि) । आयुध—आ+√युध्+क (घञर्थे कविधानम्) ।

किन्तु उग्र तेज को प्राप्त कर लेने वाले (इस वीर-कुमार) में शस्त्र के बिना क्या गति है ! जिस (शस्त्र) का ऐसा (तेजस्वी वीर) विषय (लक्ष्य) न हो, उस शस्त्र से भी क्या (प्रयोजन) ? शस्त्र के उठ जाने पर भी युद्ध से विमुख मुझे यही क्या कहेगा ? कठोर रस वाला वीरों का आचार स्नेह की परिपाटी का बाधक होता है ॥ १९ ॥

सुमन्त्र—(लव को भलीभाँति देखकर, अश्रुसहित, आत्मगत) हे हृदय ! क्यों अन्य प्रकार की कल्पना करते हो ?

परिकल्पसे (पाठा०) परिप्लवसे—चञ्चलीभवसि=चञ्चल हो रहे हो ।

मनोरथस्य यद् बीजं तद्दैवेनादितो हृतम् ।
लतायां पूर्वलूनायां प्रसवस्योद्भवः कुतः ॥ २० ॥

चन्द्रकेतुः—अवतराम्यार्य सुमन्त्र ! स्यन्दनात् ।

सुमन्त्रः—तत्कस्य हेतोः ?

लवो रामरूपसाम्यात् सीतापुत्र इति भ्रमारूढं स्वहृदयं सम्बोध्य सुमन्त्रः निर्वर्ण्य =निपुणं दृष्ट्वा, सास्रम्—अस्रैः=अश्रुभिः सह यथा तथा, सकरुणं कथयति—हृदयेति । हृदय ! किमन्यथा=अन्यप्रकारेण, रामसादृश्यात् सीतापुत्रोऽयमिति किमिति मुधा, परिकल्पसे=वितर्कयसि ?

अन्वयः—मनोरथस्य यद् बीजं, तद् दैवेन आदितो हृतम् । लतायां पूर्वलूनायां प्रसवस्य कुतः उद्भवः ? ॥ २० ॥

मनोरथस्येति । मनोरथस्य=सीतापुत्रोऽयमित्यभिलाषस्य । बीजम्=मूलकारणं सीतारूपम् । दैवेन=भाग्येन, प्रातिकूल्यादिति भावः । आदितः=पूर्वमेव । हृतम्=अपहृतम्, हिंस्रश्वापदसङ्कुले विजनेऽरण्ये निर्वासितायास्तस्या गर्भिण्या विनाशस्यैव सम्भाव्यमानत्वादिति भावः । पूर्वलूनायाम्=प्रागेव छिन्नायाम् । प्रसवस्य=पुष्पस्य । कुतः=कथम् । उद्भवः=उत्पत्तिः ?

अयम्भावः—अस्य मनोरथस्य यद् सीतारूपं मूलकारणमासीत् तत्तु प्रतिकूलदैवेन पूर्वमेवापहृतम्; हिंस्रश्वापदसङ्कुले विजनेऽरण्ये निर्वासिता गर्भिणी सा वराकी विनाशं प्रापिता तदभावे कुतः पुत्रः ? यदि प्रथममेव लतां विच्छिन्द्यात् तर्हि तस्यां पुष्पाणां सम्भवः कुतः स्यात् ? तत्सीतापुत्रोऽयमिति सम्भावना वितथैवेति भावः ।

अत्र बीजभूतया सीतया सह लूनलतायाः, मनोरथेन च सह प्रसूनस्य बिम्बप्रतिबिम्बभावावबोधाद् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २० ॥

स्वयं रथारूढः किन्तु लवः पदातिरिति विचार्य चन्द्रकेतुः सुमन्त्रं प्राह—अवतरामीति । आर्य सुमन्त्र ! स्यन्दनात्=रथादवतरामि । 'कस्य हेतोः' इति सुमन्त्रेण पृष्टः स्यन्दनात् स्वावतरणं समर्थयति—रथादवतरणेन एकतः=प्रथमतोऽयं वीरपुरुषः=

आदितः—आदौ इति, सप्तम्यास्तसिल् । लूनम्—√लू (छेदने)+क्त (कर्मणि) । प्रसवः—प्र+√सू+अप् । उद्भवः—उद्+√भू+अप् ।

कस्य हेतोः—'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी ।

मनोरथ का जो मूलकारण था उसी को दैव ने नष्ट कर दिया । भला पहले से छिन्न लता में प्रसून की उत्पत्ति कहाँ से हो सकेगी ? ॥ २० ॥

चन्द्रकेतु—आर्य सुमन्त्र ! मैं रथ से उतर रहा हूँ ।

सुमन्त्र—वह किस लिए ?

पूर्वलूनायाम्—पूर्वस्मिन् काले लूनायामित्यर्थः । 'लूनपूर्वायाम्' इति पाठे पूर्वं लूना छिन्ना तथाविधायाम् । भूतपूर्वनिर्देशात् लूनशब्दस्य पूर्वनिपातः (वीरराघव) ।

चन्द्रकेतुः—एकतस्तावदयं वीरपुरुषः पूजितो भवति । अपि च खल्वार्य ! क्षात्रधर्मः समनुगतो भवति । न रथिनः पादचारमभियुञ्जन्तीति शास्त्रविदः परिभाषन्ते ।

सुमन्त्रः—(स्वगतम्) आः कष्टां दशामनुप्रपन्नोऽस्मि ।

कथं न्याय्यमनुष्ठानं मादृशः प्रतिषेधतु ।
कथं वाभ्यनुजानातु साहसैकरसां क्रियाम् ॥ २१ ॥

लव इत्यर्थः, पूजितः = सत्कृतः, सम्मानितो भवति, अन्यच्च क्षात्रधर्मः—क्षत्राणामयं क्षात्रः, स चासौ धर्मश्च; क्षत्रियजातिधर्मोऽपि, खलु = निश्चितरूपेण, समनुगतः = परिपालितो भवति । शास्त्रविदः = मन्वादयो धर्मशास्त्र (अभिज्ञाः)प्रवर्तकाः, 'रथिनः = रथारूढाः, (पादचारम् = पदातिम्) पदातिभिः सह न अभियुञ्जन्ति = न आयोधयन्ति, न युध्यन्ते' इति परिभाषन्ते = वदन्ति, इत्यामनन्ति ।

सुमन्त्रः शास्त्रसम्मतं चन्द्रकेतुवचनमाकर्ण्य स्वमनसि चिन्तयति—**आः कष्टामिति।** आः = सन्तापद्योतकमव्ययपदम् ('आः सन्तापप्रकोपयोः' इति हैमः), कष्टां = दुःख-जनकां स्थितिम्, अनुप्रपन्नोऽस्मि = प्राप्तोऽस्मि ।

अन्वयः—मादृशः न्याय्यम् अनुष्ठानं कथं प्रतिषेधतु, कथं वा साहसैकरसां क्रियाम् अभ्यनुजानातु ॥ २१ ॥

कथमिति । मादृशः = मत्सदृशः, वीराचाराभिज्ञ इति भावः । न्याय्यम् = न्यायादनपेतम्, समुचितमित्यर्थः । अनुष्ठानम् = आचरणम् । प्रतिषेधतु = निवारयेत् । साहसैकरसाम्—साहसम् = सहसा प्रवृत्तिः, एव एकः = मुख्यः, रसः = सारः यस्यास्तादृशीम् । क्रियाम् = कर्म । अभ्यनुजानातु = अनुज्ञां ददातु ।

पूजितः—'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति वर्तमाने कर्मणि क्तः । समनुगतः—सम् + अनु + √गम् + क्त (कर्मणि) । शास्त्रविदः—शास्त्रं विदन्तीति शास्त्रविदः, शास्त्र + √विद् + क्विप् । अनुप्रपन्नः—अनु + प्र + √पद् + क्त । न्याय्यम्—न्यायादनपेतम्; न्याय + यत् ('धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' ४।४।९२) । अनुष्ठानम्—अनु + √स्था + ल्युट् ।

चन्द्रकेतु—एक तो यह वीर पुरुष संमानित हो जाता है, दूसरे क्षत्रिय जाति के धर्म का अनुसरण भी हो जाता है । शास्त्रकार कहते हैं कि रथी पैदल चलने वाले के साथ युद्ध नहीं करते हैं ।

सुमन्त्र—(स्वगत) ओह ! कष्टमयी स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ ।

मुझ जैसा (वीरों के आचार को जानने वाला) व्यक्ति न्यायोचित आचार का कैसे निषेध करे अथवा साहस मात्र सार वाली क्रिया का अनुमोदन भी कैसे करे ? ॥ २१ ॥

न रथिनः०—रथी का पैदल के साथ युद्ध धर्मशास्त्र-विरुद्ध है—'न च हन्यात् स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।' (मनु)

'रथी च रथिना सार्द्धं पदातिश्च पदातिना ।
कुञ्जरस्थो गजस्थेन योद्धव्यो भृगुनन्दन ॥' (चतुर्वर्गचिन्तामणि)

चन्द्रकेतुः—यदा तातमिश्रा अपि पितुः प्रियसखमर्थसंशयेष्वार्यमेव पृच्छन्ति तत्किमार्यो विमृशति ?

सुमन्त्रः—आयुष्मन् ! एवं यथाधर्ममभिमन्यसे ।

एष साङ्ग्रामिको न्याय एष धर्मः सनातनः ।
इयं हि रघुसिंहानां वीरचारित्रपद्धतिः ॥ २२ ॥

अयम्भावः—मादृशो वीराचाराभिज्ञो जनो न्याय्योचितमेवंविधमाचारं कथमिव निषेधतु कथं वा साहसप्रधानं कर्म कर्तुमभ्यनुजानातु । तदुभयतः पाशारज्जुन्यायेन कष्टां दशामनुप्रपन्नोऽस्मीति भावः ॥ २१ ॥

कृतमौनावलम्बनं सुमन्त्रं प्रत्याह **चन्द्रकेतुः—यदा तातमिश्रा इति ।** यदा तातमिश्राः=पूज्यपितरो रामादयोऽपि, अर्थसंशयेषु=कर्त्तव्याकर्त्तव्यसन्देहेषु, पितुः=स्वजनकस्य (दशरथस्य), प्रियसखं=प्रियमित्रम्, आर्यम्=पूज्यं भवन्तम्, सुमन्त्रमिति भावः; एव पृच्छन्ति—कर्त्तव्यावधारणार्थं भवतो मतं जिज्ञासन्ते तत्किमिति, आर्यः=पूज्यो भवान्, सुमन्त्र इत्यर्थः; विमृशति=विचारयति, नास्तीदानीं न्याय्ये कर्मणि प्रवर्त्तनायां विमर्शस्यावश्यकतेति चन्द्रकेतोराशयः ।

चन्द्रकेतोर्वचनं धर्मानुसारमित्याह **सुमन्त्रः—आयुष्मन्निति ।** आयुष्मन् ! एवं=रथादवतीर्यैव पदातिना सह युद्धकरणं, यथाधर्मं=धर्मानुसारमेव, अभिमन्यसे=त्वं जानासि ।

अन्वयः—एषः साङ्ग्रामिकः न्यायः, एषः सनातनः धर्मः, हि इयं रघुसिंहानां वीरचारित्रपद्धतिः ॥ २२ ॥

एष इति । एषः=पदातिर्भूत्वा पदातिना सह सङ्ग्रामः । साङ्ग्रामिकः=सङ्ग्रामे भवः, सङ्ग्रामसम्बन्धीत्यर्थः । न्यायः=शास्त्रसम्मतो नियमः । सनातनः=शाश्वतः । धर्मः=आचारः । हि=निश्चितम् । रघुसिंहानाम्=रघुवंश्यानां श्रेष्ठभूपालानाम् । वीरचारित्रपद्धतिः=वीरोचिताचारपरिपाटी ।

अयम्भावः—यत् त्वयोक्तं तत्सर्वथोचितमेव । अयमेव साङ्ग्रामिको न्यायः, अयमेव

प्रियसखम्—प्रियश्चासौ सखा च प्रियसखः, तम् । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् समासान्तः । यथाधर्मम्—धर्ममनतिक्रम्येति यथाधर्मम् (अव्ययीभाव) । साङ्ग्रामिकः—सङ्ग्रामे भवः, 'तत्र भवः' इति ठक्, सङ्ग्राम+ठक् (=इक)—साङ्ग्रामिकः । रघुसिंहाः—रघवः सिंहा इव, 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति उपमितसमासः ।

चन्द्रकेतु—जब पूज्य पिता जी भी (अपने) पिता (दशरथ) के प्रियमित्र आपको कर्त्तव्याकर्त्तव्यविषयक सन्देहों में पूछते हैं तब आप क्या सोचते हैं ?

सुमन्त्र—आयुष्मन् ! इस प्रकार तुम धर्म के अनुसार ही समझते हो । यही संग्राम-सम्बन्धी न्याय है, यही सनातन धर्म है, यही श्रेष्ठ रघुवंशियों की वीरोचित आचार की परिपाटी है ॥ २२ ॥

चन्द्रकेतुः—अप्रतिरूपं वचनमार्यस्य ।

इतिहासं पुराणं च धर्मप्रवचनानि च ।
भवन्त एव जानन्ति रघूणां च कुलस्थितिम् ॥ २३ ॥

शाश्वतो धर्मः, इयमेव निश्चयेन रघुवंश्यानां श्रेष्ठभूपालानां वीरोचिताचारपरिपाटी—तव पूर्वजा अप्येतादृशमेवाचारमपालयन् ॥ २२ ॥

सर्वथोचितां सुमन्त्रोक्तिमाकर्ण्य प्रसन्नश्चन्द्रकेतुराह—**अप्रतिरूपमिति** । पूज्यस्य भवतो वचनम्, अप्रतिरूपम्—न विद्यते प्रतिरूपं (समानम्) यस्य तथाविधम्, निरुपममित्यर्थः; 'प्रतिरूपम्' इति पाठे अनुरूपमित्यर्थः; अस्ति ।

अन्वयः—इतिहासं पुराणं धर्मप्रवचनानि रघूणां कुलस्थितिं च भवन्त एव जानन्ति ॥ २३ ॥

इतिहासमिति । इतिहासम्=पुरावृत्तम् । पुराणम्=सर्गादिपञ्चलक्षणोपेतं शास्त्रविशेषम् । धर्मप्रवचनानि=वर्णाश्रमाणां कर्त्तव्याकर्त्तव्यविधिनिषेधोपदेशकानि मन्वादिधर्मशास्त्राणि । रघूणां कुलस्थितिम्=वंशमर्यादाम् । भवन्त एव जानन्ति=विदन्ति ।

अयम्भावः—इतिहासं, पुराणं धर्मशास्त्राणि, रघुवंशिनां वंशमर्यादां च भवन्त एव जानन्ति, तद्ग्राह्यमेव सर्वथा भवतो वचनम् । अत्रैकस्यां क्रियायां ज्ञानरूपायामितिहासादीनां पदार्थानां सम्बन्धात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ २३ ॥

धर्मप्रवचनानि—धर्माः=नित्यनैमित्तिकादयः, प्रोच्यन्ते=प्रकाश्यन्ते, एभिस्तानि । 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट् । रघूणाम्—रघोः अपत्यानि पुमांसः रघवस्तेषाम् । रघु शब्द से 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' (४।१।१६८) से 'अपत्य' अर्थ में अञ् प्रत्यय होने पर 'ते तद्राजाः' सूत्र से उसकी तद्राज संज्ञा हो जाती है और बहुवचन में 'तद्राजस्य बहुषु' (२।४।६२) से अञ् प्रत्यय का लुक् हो जाता है। किन्तु दीक्षित जी 'रघूणाम्' अथवा 'यदुभिः' को अपत्यप्रत्ययान्त नहीं मानते हैं, अपितु अपत्य अर्थ में लक्षणा मानकर काम चलाते हैं, क्योंकि 'रघु' और 'यदु' शब्द जनपद वाचक तो हैं नहीं, अतः 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्' की प्राप्ति ही नहीं है। देखिए—इसी सूत्र पर—'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' 'निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चित्' इति तु रघुयदुशब्दयोस्तदपत्ये लक्षणया (प्रयोगः)—(सिद्धान्तकौमुदी) । यह अवधेय है कि अपत्य अर्थ में रघु शब्द से 'तस्यापत्यम्' से अण् होकर 'राघवः' होता है। यहाँ बहुवचन में भी अण् का लुक् नहीं होगा, क्योंकि इसे 'तद्राज' संज्ञा नहीं हो पायेगी।

चन्द्रकेतु—आर्य का वचन निरुपम है ।

इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र तथा रघुवंशियों के कुल की मर्यादा आप ही जानते हैं ॥२३॥

इतिहासं पुराणं च—यहाँ इतिहास शब्द पर कुछ विद्वानों द्वारा आपत्ति उठायी गयी है कि इतिहास के नाम पर 'रामायण' और 'महाभारत' ही प्रसिद्ध हैं। चन्द्रकेतु स्वयं रामायण का

सुमन्त्रः—(सस्नेहास्रं परिष्वज्य)

जातस्य ते पितुरपीन्द्रजितो निहन्तु-
र्वत्सस्य वत्स कति नाम दिनान्यमूनि ।
तस्याप्यपत्यमनुतिष्ठति वीरधर्मं
दिष्ट्या गतं दशरथस्य कुलं प्रतिष्ठाम् ॥ २४ ॥

सस्नेहास्रम्—स्नेहेन = प्रेम्णा, अस्रैः = आनन्दाश्रुभिश्च सहितं यथा स्यात् तथा, सुमन्त्रश्चन्द्रकेतुं परिष्वज्य = आलिङ्गय, प्राह—

अन्वयः—वत्स ! इन्द्रजितः निहन्तुः वत्सस्य ते पितुः अपि जातस्य अमूनि कति नाम दिनानि ? तस्य अपत्यमपि वीरधर्मम् अनुतिष्ठति दिष्ट्या दशरथस्य कुलं प्रतिष्ठां गतम् ॥ २४ ॥

जातस्येति । वत्स = वात्सल्यभाजन ! इन्द्रजितः = मेघनादस्य । निहन्तुः = विनाशकस्य । ते = तव, चन्द्रकेतोरित्यर्थः । पितुरपि = जनयितुरपि, लक्ष्मणस्येत्यर्थः । जातस्य = उत्पन्नस्य सतः । कति नाम = कियन्ति नाम । दिनानि = वासराः । अपत्यमपि = त्वद्रूपः पुत्रोऽपि । वीरधर्मम् = शूरोचिताचारम् । अनुतिष्ठति = करोति । दिष्ट्या = भाग्येन । प्रतिष्ठाम् = स्थितिम्, माहात्म्यं वा । गतम् = प्राप्तम् ।

अयम्भावः—वत्स ! इन्द्रजितो रावणपुत्रस्य विनाशकस्य तव पितुर्लक्ष्मणस्या-

---

परिष्वज्य—परि + √स्वञ्ज + ल्यप् । जातस्य—√जन् + क्त (कर्तरि) । इन्द्रजित्—इन्द्रं जयति इति, इन्द्र + √जि + क्विप्, तुक् का आगम (ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्) । निहन्तुः—निहन्तीति निहन्ता तस्य, नि + √हन् + तृच् । प्रति-ष्ठाम्—प्रति + √स्था + अङ् ।

सुमन्त्र—(स्नेह तथा आनन्दाश्रु के साथ आलिङ्गन करके)

हे वत्स ! इन्द्रजित (मेघनाद) को मारने वाले वत्स तेरे पिता (लक्ष्मण) को भी पैदा हुए भला ये कितने दिन हुए ? उनका भी पुत्र वीरधर्म का पालन करता है । आनन्द का विषय है कि दशरथ का कुल प्रतिष्ठा पा गया ॥ २४ ॥

एक पात्र है, अतः रामायण उसके लिए पुरानी घटना नहीं; तथा महाभारत की घटना तो उसके बहुत बाद की है, अतः इनका उल्लेख यहाँ ठीक नहीं जँचता है। इसका एक समाधान यह सम्भव है—रामायण और महाभारत के पूर्व भी कुछ इतिहास ग्रन्थ रहे होंगे, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। अथवा चन्द्रकेतु का तात्पर्य रामायण और महाभारत से न होकर पुरावृत्तों से है, जिन्हें सुमन्त्र ने स्वयं देखा या सुना था। इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति है—'इति ह आसीत्तत्रेतीतिहासः'। जिसका लक्षण इस प्रकार है—

'धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥'

पुराणों में पाँच विषय होते हैं, जो पुराण के लक्षण हैं—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥'

चन्द्रकेतुः—(सकष्टम्)

> **अप्रतिष्ठे रघुज्येष्ठे का प्रतिष्ठा कुलस्य नः ।**
> **इति दुःखेन तप्यन्ते त्रयो नः पितरोऽपरे ॥ २५ ॥**

सुमन्त्रः—अहह ! हृदयमर्मदारणान्येव चन्द्रकेतोर्वचनानि ।

लवः—हन्त ! मिश्रीकृतो रसक्रमो वर्तते ।

प्युत्पन्नस्य कियन्ति दिनानि व्यतीतानि ? तस्यात्मजोऽपि त्वं वीरधर्ममनुपालयसि, तत्सत्यमेव दशरथस्य कुलं गौरवान्वितं स्थितिं गतम् ।

अत्र चतुर्थपादगतवाक्यार्थं प्रति पूर्वोक्तपादत्रितयस्थवाक्यार्थानां हेतुभूतत्वेनोपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—रघुज्येष्ठे अप्रतिष्ठे सति नः कुलस्य का प्रतिष्ठा ? इति दुःखेन नः अपरे त्रयः पितरः तप्यन्ते ॥ २५ ॥

सुमन्त्रवचनेन सञ्जातस्मृतिश्चन्द्रकेतुः सुमन्त्रं प्राह—**अप्रतिष्ठ इति** । रघुज्येष्ठे = रघुषु ज्येष्ठे, रामचन्द्रे । अप्रतिष्ठे—अविद्यमाना प्रतिष्ठा यस्य तथाविधे सति, सन्तानाभावेन वंशस्थितिरहिते सति । प्रतिष्ठा = स्थितिः । इति दुःखेन = ईदृशेन कष्टेन । नः = अस्माकम् । अपरे = अन्ये । पितरः = ताताः, भरतलक्ष्मणशत्रुघ्नाः । तप्यन्ते= तापमनुभवन्ति ।

अयम्भावः—रघुकुलज्येष्ठे (श्रीरामभद्रे) सन्ततिरहिते का प्रतिष्ठाऽस्माकं कुलस्येति दुःखेनान्ये भरतादयो नस्त्रयः पितरः सर्वदा परितप्ता भवन्ति । कुलश्रेष्ठस्य ज्येष्ठभ्रातुः पुत्राभावेन भरतादयः स्वपुत्राणां सत्त्वेऽपि न नन्दन्तीति भावः । अत्र करुणो रसो रामविषयकरतिभावस्याङ्गमिति रसवदलङ्कारः ॥ २५ ॥

चन्द्रकेतुवचनमाकर्ण्य सकष्टमाह सुमन्त्रः—**अहहेति** । अहह !! चन्द्रकेतोर्वचनानि हृदयमर्मदारणानि—हृदयस्य यन्मर्म = सन्धिस्थानम्, तस्य दारणानि = छेदकानि, हृदयमर्मच्छेदकान्येव सन्ति, इमानि वचनानि समधिकदुःखोत्पादकानीति भावः ।

लवः शृङ्गारवीरयोः सम्मिश्रणं ज्ञात्वा प्राह—**हन्तेति** । हन्त ! इति हर्षद्योतकमव्ययम्, रसक्रमः = विरुद्धयोः शृङ्गारवीरयोः रसयोः क्रमः, मिश्रीकृतः = परस्परसम्मिलितः, वर्तते । तदेवम्प्रतिपादयति—

तप्यन्ते—√तप् (सन्तापे) कर्मणि लट् । दारणानि—√दृ विदारणे (स्वार्थे णिच्), ततः कर्तरि ल्युट् (कृत्यल्युटो बहुलम्) ।

मिश्रीकृतः—अमिश्रः मिश्रः कृतः इति, अभूततद्भावे च्विः ।

चन्द्रकेतु—(कष्ट के साथ) कुल में ज्येष्ठ (रामचन्द्र) के अप्रतिष्ठित (अर्थात् सन्तान रहित) होने पर हमारे कुल की कैसी प्रतिष्ठा है ? इस प्रकार के दुःख से हमारे अन्य तीनों पिता सन्तप्त हो रहे हैं ॥ २५ ॥

सुमन्त्र—अहह ! चन्द्रकेतु के वचन हृदय के मर्मस्थल को विदीर्ण कर देने वाले हैं ।

लव—वाह ! (परस्पर विरुद्ध) रसों का मिश्रित क्रम उपस्थित हो गया है ।

यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम, कलहकामः पुनरयम् ।
रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु-
र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालोल्बणरसः ॥ २६ ॥

अन्वयः—यथा इन्दौ समुपोढे सति कमुदिनी, तथैव अस्मिन् मम दृष्टिः आनन्दं व्रजति । रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनुर्धृतप्रेमा विकचविकरालोल्बणरसः अयं (मे) बाहुः पुनः कलहकामः ॥ २६ ॥

यथेति । इन्दौ = चन्द्रमसि । समुपोढे = उदिते सति । अस्मिन् = चन्द्रकेतौ । आनन्दम् = प्रफुल्लताम् । व्रजति = प्राप्नोति । रणत्कार०—रणत्कारेण = रणत् इति शब्देन, क्रूरम् = भीषणं, क्वणितम् = निनादः, यस्य तथाविधो यो गुणः = मौर्वी, तेन गुञ्जत् = शब्दं कुर्वत्, गुरु = महत्, यद् धनुः, तस्मिन् धृतम् = बद्धम्, प्रेम = अनुरक्तिर्येन तथाविधः । विकच०—विकचः = स्फुटः, विकरालः=समधिकभीषणः, उल्बणरसः= उद्धतरसः, वीररस इत्यर्थः; यस्य तथाविधः । बाहुः पुनः = बाहुस्तु । कलहकामः—कलहे = युद्धे, कामः = अभिलाषः, यस्य तादृशः, युद्धाकाङ्क्षीत्यर्थः ।

अयम्भावः—यथा चन्द्रमसि उदिते सति कुमुदिनी प्रफुल्लतां प्राप्नोति, तथैव अस्मिन् चन्द्रकेतौ मम दृष्टिर्हर्षं प्राप्नोति, किन्तु रणदित्यव्यक्तशब्देन भीषणनिनादयुक्तया मौर्व्या शब्दं कुर्वति महति धनुषि बद्धानुरागः अपि च स्फुटसमधिकभीषणवीररसोपेतो मे बाहुर्युद्धं कामयते । अतः शृङ्गारवीरयोर्मेलनात् मिश्रीकृतो रसक्रमो वर्तत इति पूर्वेण सम्बन्धः ।

अत्र पूर्वार्द्धे रतिस्थायिभावकः शृङ्गारो रसः, प्रसादो गुणः कैशिकी रीतिश्च; उत्तरार्द्धे तु उत्साहस्थायिभावको वीरो रसः, ओजो गुणः, आरभटी च रीतिः; इत्युभयो रसयोरेकत्र समावेशात् सम्मिश्रणमिति ज्ञेयम् । परस्परविरुद्धयोः स्नेह-

---

समुपोढे—सम् + उप + वह् + क्त—सम्प्रसारण । क्वणितम्—√क्वण् + क्त (नपुंसके भावे अथवा कर्तरि) । गुञ्जत्—√गुञ्ज + शतृ । विकचः—वि + √कच् + अच् ।

जैसे चन्द्रमा के उदित होने पर कुमुदिनी; उसी तरह इस (चन्द्रकेतु) में मेरी दृष्टि आनन्द को प्राप्त हो रही है । परन्तु 'रणत्' ऐसे अव्यक्त शब्द से भीषण निनादयुक्त मौर्वी से शब्द करने वाले धनुष में अनुराग युक्त तथा स्फुट भीषणतर वीररसोपेत मेरा बाहु तो युद्ध का इच्छुक है ॥२६॥

यहाँ रस का स्वशब्द से अभिधान होने के कारण स्वशब्दवाच्यत्वरूप रसदोष है तथा गुञ्जन की प्रसिद्धि भ्रमरध्वनि में ही है, न कि उससे अन्यत्र धनुष आदि के शब्द में, अतः ख्यातिविरुद्धता दोष है । 'गुञ्जत्' के स्थान में 'गर्जत्' पाठ होता तो यह दोष नहीं आ पाता ।

विकचविकरालव्रणमुखः (पाठा०)—विकचानि = विस्तृतानि, विकरालानि = समधिक भीषणानि, व्रणानि = क्षतचिह्नानि, मुखे = अग्रे यस्य स तथाविधः (बाहुः) ।

चन्द्रकेतुः—(अवतरणं रूपयन्) आर्य ! सावित्रश्चन्द्रकेतुरभिवादयते।

सुमन्त्रः—**अजितं पुण्यमूर्जस्वि ककुत्स्थस्येव ते महः।**
श्रेयसे शाश्वतो देवो वराहः परिकल्पताम् ॥ २७ ॥

वैरयोरेकत्र सङ्घटनातः विषमालङ्कारः, तथा कुमुदिन्या सह दृष्टेः साम्यप्रतिपादनादुपमालङ्कारः, इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ २६ ॥

चन्द्रकेतुः—अवतरणम् = रथादवरोहणम्। रूपयन् = अभिनयन्। सावित्रः—सविता = सूर्यः, तत्कुलोत्पन्नः। अभिवादयते = (भवन्तं) प्रणमति।

अन्वयः—शाश्वतः देवः वराहः श्रेयसे ककुत्स्थस्य इव ते अजितं पुण्यम् ऊर्जस्वि महः परिकल्पताम् ॥ २७ ॥

रथादवरोहन् चन्द्रकेतुः सुमन्त्रं प्रणमति स चाशिषं ददाति—**अजितमिति।** शाश्वतः = सनातनः। श्रेयसे = मङ्गलाय। अजितम् = अभिभवितुमशक्यम्। पुण्यम् = पवित्रम्। ऊर्जस्वि = बलिष्ठम्। महः = तेजः। परिकल्पताम् = करोतु, प्रददात्वित्यर्थः।

अयम्भावः—सनातनो देवो वराहः ककुत्स्थस्येव ते मङ्गलायाजेयं पवित्रं बलिष्ठं च तेजो विदधातु। परिकल्पतामित्यन्तर्भावितण्यर्थ इति बोध्यम्। उपमाऽलङ्कारः ॥ २७ ॥

सावित्रः—सवितुरपत्यं पुमान्, सवितृ + अण्। ऊर्जस्वि—ऊर्जस् + विनि (मत्वर्थीय); 'अस्मायामेधास्रजो विनिः'। ककुत्स्थः—ककुदि तिष्ठति, ककुद + √स्था + क ('सुपि स्थः')। शाश्वतः—शश्वत् + अण्।

चन्द्रकेतु—(**रथ से उतरने का अभिनय करता हुआ**) आर्य ! सूर्यकुलोत्पन्न (यह) चन्द्रकेतु (आपको) प्रणाम करता है।

सुमन्त्र—सनातन भगवान् वराह तुझे ककुत्स्थ का-सा अजेय पवित्र एवं बलिष्ठ तेज मङ्गलार्थ प्रदान करें ॥ २७ ॥

वराहः—विष्णु का तीसरा अवतार वराह रूप में हुआ था। वराह भगवान् ने हिरण्याक्ष को मार कर सर्वप्रथम जलनिमग्न पृथिवी का उद्धार किया था।

ककुत्स्थस्येव—ककुत्स्थ इक्ष्वाकुवंशी राजा शशाद का पुत्र था। इसका मूल नाम पुरंजय था। कालिदास के अनुसार राजाओं में ककुद (श्रेष्ठ) होने के नाते यह 'ककुत्स्थ' कहा जाता है—'इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत्'। (रघुवंश ६।७१)। पौराणिक कथा के अनुसार देवासुरसंग्राम में पुरंजय ने देवताओं की सहायता करना इस शर्त पर स्वीकार किया कि इन्द्र उसे अपने कन्धे पर उठा कर चले। फलतः इन्द्र ने बैल का रूप धारण किया और पुरंजय उसके कन्धे पर बैठा। इस प्रकार पुरंजय ने असुरों का संहार किया। इसी लिए वह 'ककुत्स्थ' अर्थात् 'कूबड़ पर बैठा हुआ' कहलाता है।

इलोक के स्थान पर—**अहितस्यैव पराभवाय महानादिवराहः कल्पताम्** (पाठा०)—अहितस्यैव शत्रोरेव (न तु लवस्य, तस्याहितस्वाभावादिति भावः), पराभवाय = अवमानाय महानादिवराहः कल्पताम् = समर्थो भवतु।

अपि च—देवस्त्वां सविता धिनोतु समरे गोत्रस्य यस्ते पिता
त्वां मैत्रावरुणोऽभिनन्दतु गुरुर्यस्ते गुरूणामपि।
ऐन्द्रावैष्णवमाग्निमारुतमथो सौपर्णमोजोऽस्तु ते
देयादेव च रामलक्ष्मणधनुर्ज्याघोषमन्त्रो जयम्॥ २८॥

अन्वयः—यः ते गोत्रस्य पिता (सः) देवः सविता समरे त्वां धिनोतु। यः ते गुरूणामपि गुरुः (सः) मैत्रावरुणः त्वाम् अभिनन्दतु। ऐन्द्रावरुणम् आग्निमारुतम् अथो सौपर्णम् ओजः ते अस्तु। रामलक्ष्मणधनुर्ज्याघोषमन्त्रश्च जयं देयादेव॥ २८॥

सुमन्त्रोऽन्यामप्याशिषं वितरति—देव इति। ते=तव, चन्द्रकेतोरित्यर्थः। गोत्रस्य=वंशस्य। पिता=प्रवर्तकः। सविता=सूर्यः। धिनोतु=प्रीणयतु। गुरूणामपि=पित्रादीनां पूज्यानामपि। गुरुः=पूज्यः, आचार्यो वा। मैत्रावरुणः=वसिष्ठः। अभिनन्दतु=आशिषा संवर्धयतु। ऐन्द्रावैष्णवम्—इन्द्रसम्बन्धि विष्णुसम्बन्धि च। आग्निमारुतम्—अग्निसम्बन्धि मरुत्सम्बन्धि च। सौपर्णम्—सुपर्णसम्बन्धि। ओजः=पराक्रमः। रामलक्ष्मणधनुर्ज्याघोषमन्त्रः—रामलक्ष्मणयोर्धनुषः यः ज्याघोषः=मौर्वीटङ्कारः, स एव मन्त्रः। देयात् एव=अवश्यमेव ददातु।

धिनोतु—धिन्व (प्रीणने) धातु से लोट् (तिप्) 'धिन्विकृण्व्योर च' सूत्र से अकारान्तादेश और शप् के स्थान पर 'उ' विकरण, 'अतो लोपः' सूत्र से 'अ' का लोप। मैत्रावरुणः—मित्रश्च वरुणश्च इति मित्रावरुणौ ('देवताद्वन्द्वे च' सूत्र से पूर्वपद को आनङ्), मित्रावरुणयोः अपत्यमिति मैत्रावरुणः, शिवादित्वादण्, शिवादिराकृतिगणः। अथवा 'तस्येदम्' इत्यण्। आग्निमारुतम्—अग्निश्च मरुत् च इति अग्नामरुतौ ('देवताद्वन्द्वे च' से पूर्वपद को आनङ्), अग्नामरुतोः इदमिति आग्निमारुतम् 'तस्येदम्' इति अण् तथा 'देवताद्वन्द्वे च' (७।३।२१) सूत्र के अनुसार यहाँ णित् प्रत्यय परे होने से उभयपद के आदि अच् को वृद्धि तथा 'इद् वृद्धौ' सूत्र के अनुसार वृद्धि को प्राप्त उत्तरपद के परे होने पर देवताद्वन्द्व में 'आग्न' को इकारान्तादेश हो गया। ऐन्द्रावैष्णवम्—इन्द्रश्च विष्णुश्चेति इन्द्राविष्णू ('देवताद्वन्द्वे च' ६।३।२६ सूत्र से पूर्वपद को आनङ्), तयोरिदमिति ऐन्द्रावैष्णवम्—इन्द्राविष्णु+अण्, 'देवताद्वन्द्वे च' (७।३।२१) सूत्र के अनुसार उभयपद के आदि अच् को वृद्धि—ऐन्द्रावैष्णू+अ, 'ओर्गुणः' सूत्र से 'ऊ' को गुण 'ओ', 'एचोऽयवायावः' से ओ को अव्-ऐन्द्रावैष्णवम्। सौपर्णम्—सुपर्णस्येदमिति सौपर्णम्, सुपर्ण+अण्।

और भी—भगवान् सूर्य जो तुम्हारे वंश के आदिपुरुष हैं, युद्धभूमि में तुम्हें प्रसन्न रखें। भगवान् वसिष्ठ जो तुम्हारे गुरुओं के भी गुरु हैं, तुम्हारा अभिनन्दन करें। इन्द्र, विष्णु, अग्नि, मरुत् तथा गरुड का पराक्रम तुम्हें प्राप्त हो और राम-लक्ष्मण के धनुषों का मौर्वीटङ्कार रूप मन्त्र तुम्हें विजय प्रदान करे ही॥ २८॥

मैत्रावरुणः—मित्र और वरुण की सन्तान अर्थात् वसिष्ठ। 'मैत्रावरुणिः' भी प्रयोग होता है। यह शब्द 'अगस्त्य मुनि' के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ पर वसिष्ठ के लिए प्रयुक्त हुआ है।

लवः—कुमार ! अति हि नाम शोभसे रथस्थ एव। कृतं कृतमत्यादरेण।
चन्द्रकेतुः—तर्हि महाभागोऽप्यन्यं रथमलङ्करोतु ।
लवः—आर्य ! प्रत्यारोपय रथोपरि राजपुत्रम् ।
सुमन्त्रः—त्वमप्यनुरुध्यस्व वत्सस्य चन्द्रकेतोर्वचनम् ।

अयम्भावः—देवः सूर्यस्तव वंशस्य यः प्रवर्तकः, युद्धे त्वां प्रीणयतु, भगवान् वसिष्ठो यस्ते गुरूणामपि गुरुः त्वामाशिषा संवर्धयतु, इन्द्रस्य, विष्णोः, अग्नेः, मरुतः गरुडस्य च पराक्रमः तेऽस्तु, रामलक्ष्मणयोर्धनुषो मौर्वीटङ्काररूपो मन्त्रोऽवश्यमेव जयं ददातु ।

अत्रान्येषां तेजः कथमन्यो वहतु इति वस्तुसम्बन्धः सर्वथा असम्भवन्नपि बिम्बप्रतिबिम्बभावेन इन्द्रादीनां तेजःसदृशमेव तेजोऽस्त्वित्यन्येवमेवावगमयतीत्यतोऽसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः। 'रामलक्ष्मणधनुर्ज्याघोषमन्त्रः' इत्यत्र रूपकालङ्कारश्च। तयोर्मिथोऽनपेक्षया च स्थितेः संसृष्टिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २८ ॥

रथादवतरन्तं चन्द्रकेतुं प्रत्याह लवः—कुमारेति। नाम इति सम्भावनायाम्। अति हि=अत्यर्थमेव। अत्यादरेण=अतिशयसम्मानेन, कृतं-कृतम्=अलमलम् (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः), अत्यादरेण प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः।

अयम्भावः—भवान् रथारूढ एव समधिकमेव शोभते इत्येवं सम्भावयामि, तस्मान्नास्ति सम्मानप्रदर्शनेन प्रयोजनम्, भवता रथादवतरणं न कार्यमिति भावः।

चन्द्रकेतुः लवस्य विनयोपेतं वचनं श्रुत्वा कथयति—तर्हीति। महाभागः—महान् भागः=भाग्यं यस्य सः, महोदयः, भवानित्यर्थः। अन्यं रथमलङ्करोतु=अन्यं रथमारोहतु इति भावः। यदि मम रथादवतरणं भवतोऽप्रियं तदा महाभागोऽप्यन्यं रथमुपवेशनेनालङ्करोत्वित्याशयः।

लवः सुमन्त्रं प्रत्याह—आर्येति। आर्य ! राजपुत्रं चन्द्रकेतु रथोपरि प्रत्यारोपय=पुनरारोपय, आरोहयेत्यर्थः।

सुमन्त्रोऽपि लवं प्रति वदति—त्वमपीति। त्वमपि रथान्तरारोहणेन वत्सस्य चन्द्रकेतोर्वचनमनुरुध्यस्व=वचनमनुसर, परिपालयेत्यर्थः।

कृतमत्यादरेण—'गम्यमानापि क्रियाकारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति करणत्वात् तृतीया। प्रत्यारोपय—प्रति+आ+√रुह्+णिच्। 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' (७।३।४३) के अनुसार रुह् धातु के हकार को पकार। अनुरुध्यस्व—अनुपूर्वक रुध् धातु (दिवादिगणीय)+लोट् (थास्)।

लव—कुमार ! मेरी समझ से तुम रथारूढ ही बहुत अच्छे लगते हो। अत्यधिक आदर की आवश्यकता नहीं।

चन्द्रकेतु—तो महाभाग (आप) भी दूसरे रथ को शोभित करें।

लव—आर्य (सुमन्त्र) ! राजपुत्र को पुनः रथ पर चढ़ाइए।

सुमन्त्र—(तो) तुम भी वत्स चन्द्रकेतु के वचन का पालन करो।

लवः—को विचारः स्वेषूपकरणेषु। किं त्वरण्यसदो वयमनभ्यस्तरथचर्याः।

सुमन्त्रः—जानासि वत्स! दर्पसौजन्ययोर्यथोचितमाचरितुम्। यदि पुनस्त्वामीदृशमैक्ष्वाको राजा रामभद्रः पश्येत्, तदा तस्य स्नेहेन हृदयमभिष्यन्देत।

तच्छ्रुत्वा लवः कथयति—को विचार इति। स्वेषु=आत्मीयेषु। उपकरणेषु=रथाद्युपयोगिपदार्थेषु। अरण्यसदः=वनवासिनः। अनभ्यस्तरथचर्याः—अनभ्यस्ता=अशिक्षिता, रथचर्या=रथचरणव्यवहारः, यैस्ते।

अयम्भावः—मैत्रीसंस्थापनात् कुमारस्योपकरणानि मदीयान्येव सञ्जातानि, तत्स्वेषु रथाद्युपयोगिपदार्थेषु को वितर्को भवेत्? किन्तु वनवासिभिरस्माभिरशिक्षिता रथचर्या तस्मात् स्थलस्थैरेवास्माभिर्युद्धं कर्तुं पार्यते।

लववचनेनाकृष्टः सुमन्त्रः प्राह—जानासीति। दर्पसौजन्ययोः—दर्पः=गर्वः, सौजन्यम्=विनयः, तयोः। यथोचितम्=यथायोग्यम्। आचरितुम्=आचरणं कर्तुम्। ईदृशम्=एवंविधगुणोपेतम्। ऐक्ष्वाकः=इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नः। स्नेहेन=वात्सल्येनेत्यर्थः। अभिष्यन्देत=द्रवीभवेत्।

अयम्भावः—दर्पस्य विनयस्य यथायोग्यमाचरणं कर्तुं हे वत्स! त्वं जानासि। पुनरेवंविधगुणोपेतं त्वामिक्ष्वाकुकुलोत्पन्नो राजा रामभद्रः पश्येत् तदा तस्य हृदयं वात्सल्येन द्रवीभवेदिति भावः।

उपकरणेषु—उपक्रियते एभिरित्युपकरणानि तेषु, उप+√कृ+ल्युट् (करणे)। अरण्यसदः—अरण्ये सीदन्ति (निवसन्ति) इति अरण्यसदः, अरण्य+√सद्+क्विप् ('सत्सूद्विष–' इत्यादिना)। अनभ्यस्तः—नञ्+अभि+√अस् (दिवादिगणीय)+क्त (कर्मणि)। चर्या—√चर्+श (स्त्रियां भावे)। सौजन्यम्—सुजनस्य भावः, सुजन+ष्यञ्। अभिष्यन्देत—अभि+√स्यन्द्+लिङ् (त)। 'अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु' (८।३।७२) के अनुसार विकल्प से षत्व—अभिष्यन्देत, अभिस्यन्देत।

लव—अपने उपकरणों में क्या सोच-विचार? किन्तु वनवासी हम रथ के व्यवहार में अभ्यस्त नहीं हैं।

सुमन्त्र—वत्स तू गर्व और विनय का यथोचित आचरण करना जानता है। यदि कहीं इक्ष्वाकुवंशी राजा रामभद्र तुझ जैसे गुणोपेत को देखें तो उनका हृदय वात्सल्य से द्रवित हो जाय।

रथचर्या—रथ का उपयोग, रथ की सवारी करना।

दर्पसौजन्ययोः—अपने उपकरणों में क्या सोच-विचार 'को विचारः स्वेषूपकरणेषु'—इस वाक्य से लव का सौजन्य लक्षित होता है। 'अनभ्यस्तरथचर्याः' लव का यह वाक्य दर्पगर्भित है। लव का आशय है कि हमें रथ की आवश्यकता नहीं, पैदल ही रथियों से युद्ध करने में समर्थ हैं।

° **यदाचरितम्** (पाठा०)—दर्प और सौजन्य के अनुकूल जो आचरण उसे जानते हो।

लवः—आर्य ! सुजनः स राजर्षिः श्रूयते । (सलज्जमिव)

वयमपि न खल्वेवम्प्रायाः क्रतुप्रतिघातिनः
क इह न गुणैस्तं राजानं जनो बहु मन्यते ।
तदपि खलु मे स व्याहारस्तुरङ्गमरक्षिणां
विकृतिमखिलक्षत्राक्षेपप्रचण्डतयाऽकरोत् ॥ २९ ॥

सुमन्त्रमुखाद्रामस्य नाम श्रुत्वा लवस्तम्प्रत्याह—आर्येति । आर्य=पूज्य ! सुजनः =सज्जनः, स राजर्षिः— राजा चासौ ऋषिः, राजत्वे सत्यप्यृष्याचारपरिग्रहाद्राजर्षिरिति भावः; श्रूयते (तादृशस्य महापुरुषस्य यज्ञकर्मणि प्रतिबन्धकत्वात् सलज्जमिव =सव्रीडमिव) ।

अन्वयः—वयम् अपि एवम्प्रायाः क्रतुप्रतिघातिनः न खलु । इह च कः जनः गुणैः तं राजानं न बहु मन्यते । तदपि तुरङ्गमरक्षिणां स व्याहारः अखिलक्षत्राक्षेपप्रचण्डतया मे विकृतिम् अकरोत् खलु ॥ २९ ॥

वयमपीति । क्रतुप्रतिघातिनः=यज्ञविघातकाः । इह=अस्मिन् संसारे । गुणैः= दयादाक्षिण्यादिभिर्हेतुभिः । न बहु मन्यते=न आद्रियते । तदपि=तथापि । तुरङ्गमरक्षिणाम्—यज्ञाश्वरक्षकाणाम् । स व्याहारः=तादृशं वचनम् ('व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः' इत्यमरः) । अखिलक्षत्राक्षेपप्रचण्डतया—अखिलानाम्=सर्वेषाम्, क्षत्राणाम्=क्षत्रियाणाम्, आक्षेपः=तिरस्कारः, तेन हेतुना प्रचण्डतया=अत्युग्रतया । मे=मम, लवस्येत्यर्थः । विकृतिम्=विकारम्, क्रोधमित्यर्थः । अकरोत्=अजनयत् ।

अयम्भावः—यद्यपि वयमपि प्रायेण एवंविधा यज्ञविघातका न स्मः, अस्मिञ्जगति को जनो रामस्य दयादाक्षिण्यादिगुणैः तं नाऽऽद्रियते ? तथाप्यश्वरक्षकाणां सैनिकानां मुखात् सकलक्षत्रियतिरस्काररूपामत्युग्रामुक्तिमाकर्ण्यास्माकं मनसि क्रोधोऽजायत ।

क्रतुप्रतिघातिनः—क्रतुं प्रतिघ्नन्ति तच्छीलाः, क्रतु+प्रति+√हन्+णिनि (ताच्छील्ये) । व्याहारः—वि+आ+√हृ+घञ् । विकृतिम्—वि+√कृ+क्तिन् (स्त्रियां भावे) । आक्षेपः—आ+√क्षिप्+घञ् । प्रचण्डतया—प्रचण्डस्य भावः प्रचण्डता तया, प्रचण्ड+तल् (तलन्तं स्त्रियाम्)—प्रचण्डता ।

लव—आर्य ! वे राजर्षि सज्जन सुने जाते हैं **(लज्जायुक्त-सा होकर)**

हम भी वास्तव में प्रायः इस प्रकार के यज्ञ विघातक नहीं हैं । भला इस संसार में उन राजा (रामभद्र) का कौन मनुष्य (उनके) गुणों के कारण आदर नहीं करता है । तथापि अश्वरक्षकों के उस वचन ने समस्त क्षत्रियों के तिरस्कार से असह्य होने के कारण मेरे विकार (क्रोध) को अवश्य पैदा कर दिया ॥ २९ ॥

सलज्जमिव—लव को इस बात से लज्जा थी कि राम जैसे यज्ञरक्षक महापुरुष के यज्ञ में विघ्न डालने के लिए उन्हें विवश होना पड़ा ।

यदि च वयमप्येवम्प्रायाः क्रतुद्विषतामरौ (पाठा०)—क्रतुद्विषताम्=यज्ञघातुकानां राक्षसादीनाम्, अरौ=शत्रौ, वयमपि एवम्प्राया यदि=एतादृशाः प्रेमपात्रभूताश्चेदित्यर्थः ।

चन्द्रकेतुः—(सस्मितम्) किं नु भवतस्तातप्रतापोत्कर्षेऽप्यमर्षः ।

लवः—अस्त्वमर्षो मा भूद्वा । एतत्तु पृच्छामि, दान्तं हि राजानं राघवं शृणुमः । स किल नात्मना दृप्यति नास्य प्रजा वा दृप्ता जायन्ते । तत्किं मनुष्यास्तस्य राक्षसीं वाचमुदीरयन्ति ।

ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निर्ऋतिः ॥ ३० ॥

तस्मान्मयाऽश्वोऽयमपहृतो न तु कारणान्तरादिति भावः । अत्र अर्थापत्तिरलङ्कारः । हरिणी वृत्तम् ॥ २९ ॥

चन्द्रकेतुः सस्मितं प्राह—किं नु इति । किं नु भवतो तातप्रतापोत्कर्ष—तातस्य =पितुः, रामचन्द्रस्येत्यर्थः, प्रतापस्य =तेजसः, उत्कर्षे =अतिशये; मत्पितुः प्रतापातिशयेऽपि अमर्षः =असहिष्णुता ?

लवः कथयति—अस्त्विति । अमर्षो भवतु मा भूद्वा । सम्प्रत्यस्य प्रश्नस्य नास्त्यवसरः । अहं पृच्छामि भवन्तं, यद्राघवं=रामं, दान्तं=निरहङ्कारं, नृपं शृणुमः, स कदापि आत्मना =स्वयं, न दृप्यति=दर्पं न करोति, नास्य प्रजा वा दृप्ताः-दर्पयुक्ताः, भवन्ति । तत्किमित्येते तस्य मनुष्याः =अधिकृताः पुरुषाः, सैनिकाः, राक्षसीं =रक्षःसम्बन्धिनीम्, राक्षसोचितां, दर्पयुक्तां वाचं =वाणीम्, उदीरयन्ति =उच्चारयन्ति ?

अमर्षः—न मर्षः इत्यमर्षः, √मृष् + घञ् । दान्त—√दम् + क्त (कर्तरि) । राक्षसीम्—रक्षसामियमिति राक्षसी ताम्, रक्षस् + अण् ('तस्येदम्') + ङीप् (स्त्रियाम्) ।

निर्ऋतिः—निर् + √ऋ + क्तिन् । अभिष्टुवन्ति—अभि + √स्तु + लट् (झि = अन्ति) 'उपसर्गात्सुनोति–' (८।३।६६) के अनुसार षत्व ।

चन्द्रकेतु—(मुस्कराहट के साथ) क्या पिताजी के प्रताप के उत्कर्ष में भी आपको अमर्ष है ?

लव—अमर्ष हो या न हो । मैं तो यह पूछता हूँ कि राजा राम को हम निरहङ्कार सुनते हैं । सुनते हैं, न तो वे स्वयम् अहङ्कार करते हैं और न ही उनकी प्रजा गर्वित होती है । तब भला क्यों उनके मनुष्य (सैनिक) राक्षसोचित वाणी बोलते हैं ?

ऋषि लोग मतवाले और गर्वीले मनुष्य की वाणी को राक्षसी कहते हैं । वह सकल वैरों का कारण है और निस्सन्देह संसार की अलक्ष्मी है ॥ ३० ॥

निर्ऋतिः—निर्ऋति का अर्थ है—अलक्ष्मी अर्थात् मृत्यु अथवा विनाश की देवी । एम० आर० काले ने इस पर टिप्पणी की है, जिसका आशय है—महाभारत के अनुसार निर्ऋति अधर्म की भार्या, भय, महाभय और मृत्यु की माता है । मार्कण्डेयपुराण के अनुसार यह अधर्म तथा हिंसा की पुत्री और भय एवं नरक की माता है । 'स्यादलक्ष्मीस्तु निर्ऋतिः' इत्यमरः ।

निष्कृतिः (पाठा०)—निष्कृतिः परिभवहेतुः (वीरराघव) । निष्कृति का अर्थ निस्तार, प्रतिदान, ऋणशोधन आदि भी होता है । जैसे—'न तस्य निष्कृतिः कर्तुं शक्या जन्मशतैरपि ।' (मनु०) ।

इति ह स्म तां निन्दन्ति । अथेतरामभिष्टुवन्ति ।

कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति ।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—ऋषयः उन्मत्तदृप्तयोः वाचं राक्षसीम् आहुः । सा सर्ववैराणां योनिः, सा हि लोकस्य निर्ऋतिः ॥ ३० ॥

तामेव राक्षसीं वाचं प्रतिपादयति लवः—ऋषय इति । ऋषयः उन्मत्तदृप्तयोः— उन्मत्तः = मद्यपः, दृप्तः = गर्वितश्चेति तयोः । वाचम् = वाणीम् । राक्षसीम् = रक्षःसम्बन्धिनीम् । आहुः = कथयन्ति । सा = राक्षसीवाक् । योनिः = कारणम् । लोकस्य = जगतः । निर्ऋतिः = अलक्ष्मीः । 'निष्कृतिः' इति पाठे पराभवहेतुरित्यर्थः । ('स्यादलक्ष्मीस्तु निर्ऋतिः' इत्यमरः) ।

अयम्भावः—ऋषयो ह्युन्मत्तस्य दृप्तस्य च वाणीं राक्षसीं कथयन्ति । सा राक्षसी वाक् सकलविरोधानां जननी, लोकस्यालक्ष्मीश्च । अत्र निर्ऋतौ राक्षस्या वाचोऽभेदारोपाद्रूपकालङ्कारः ॥ ३० ॥

इति = एवं, ह स्मेति प्रसिद्धिद्योतकमव्ययपदद्वयम् । तां निन्दन्ति, तदितरां = अपराम्, (सूनृतां वाचम्) अभिष्टुवन्ति = प्रशंसन्ति च ।

अन्वयः—या कामान् दुग्धे, अलक्ष्मीम् विप्रकर्षति, कीर्तिं सूते, दुष्कृतं हिनस्ति ताम् एतां मङ्गलानां मातरं सूनृतां वाचं च धीराः धेनुमपि आहुः ॥ ३१ ॥

राक्षस्या वाचो भिन्नां वाचं **लवः** प्रतिपादयति—**कामानिति** । या कामान् = अभिलषितार्थान् । दुग्धे = प्रपूरयति । अलक्ष्मीम् = निर्ऋतिम्, अशुभं वा । विप्रकर्षति = दूरीकरोति । कीर्तिम् = यशः । सूते = जनयति । दुष्कृतम् = पापम् । हिनस्ति = नाशयति । मङ्गलानाम् = कल्याणानाम् । मातरम् = जनयित्रीम् । सूनृताम् = सत्यप्रियाम् । वाचम् = वाणीम् । धीराः = विद्वांसः । धेनुम् = कामधेनुम् । आहुः = वदन्ति ।

अयम्भावः—विद्वांसः प्रियां सत्यां च वाणीं कल्याणानां जनयित्रीं कामधेनुं वदन्ति । यतः सा सकलानभिलषितार्थान् प्रपूरयति, अकल्याणं दूरीकरोति, पापं विनाशयति च ।

अत्र दोहनाद्यनेकक्रियाणामेकेनैव कर्तृपदेनान्वयाद् दीपकालङ्कारः । धेनुमित्यत्र

कामः—√कम् + घञ् ।

इस प्रकार उस (राक्षसी वाणी) की निन्दा करते हैं और (उससे) अन्य (वाणी) की प्रशंसा करते हैं ।

जो अभिलषित अर्थों को प्रपूर्ण करती है, अलक्ष्मी को दूर करती है, यश को उत्पन्न करती है और पाप को नष्ट करती है, वैसी इस मङ्गलजननी सत्यप्रिय वाणी को विद्वान् लोग कामधेनु भी कहते हैं ॥ ३१ ॥

दुर्हृदो निष्प्रलाति (पाठा०)—दुर्हृदः = शत्रून्, निष्प्रलाति = अतिशयेन नाशयति ।

सुमन्त्रः—परिपूतस्वभावोऽयं कुमारः प्राचेतसान्तेवासी। वदत्ययमभिसम्पन्नमार्षेण संस्कारेण।

लवः—यत्पुनश्चन्द्रकेतो! वदसि किं नु भवतस्तातप्रतापोत्कर्षेऽप्यमर्ष इति तत्पृच्छामि किं व्यवस्थितविषयः क्षत्रधर्म इति।

सुमन्त्रः—नैव खलु जानासि देवमैक्ष्वाकं, येनैवं वदसि। तद्विरमातिप्रसङ्गात्।

सैनिकानां प्रमाथेन सत्यमोजायितं त्वया।
जामदग्न्यस्य दमने न हि निर्बन्धमर्हसि॥ ३२॥

कामधेनुसादृश्येव असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना तया च द्वयोर्नैरपेक्ष्येण स्थितेः संसृष्टिः। शालिनी वृत्तम्॥ ३१॥

लवोक्तिमाकर्ण्य प्रसन्नमनाः सुमन्त्रो लवं प्रशंसति—**परिपूतेति**। अयं कुमारो लवः परिपूतस्वभावः—परिपूतः=समधिकपवित्रः, स्वभावः=शीलं यस्य सः; 'परिभूतः' इति पाठे तिरस्कृत इत्यर्थः; समधिकपवित्रस्वभावो प्राचेतसान्तेवासी=वाल्मीकिशिष्यश्चास्ति, तस्मादार्षेण संस्कारेण=ऋषिजनोचितेनानुभवेन, अभिसम्पन्नं=युक्तं वदति। 'अभ्युपपन्नामर्षेण' इति पाठे—अभ्युपपन्नः=उत्पन्नः, अमर्षः=क्रोधः, यस्य तेन, एतादृशेन संस्कारेणेत्यर्थः।

लवश्चन्द्रकेतुं पृच्छति—**यत्पुनरिति**। चन्द्रकेतो! यत् त्वयोक्तं 'भवतस्तातप्रतापोत्कर्षेऽप्यमर्षः'? इति तदहं पृच्छामि—क्षत्रधर्मः=शौर्यादिः क्षात्रधर्मः, रामचन्द्रे एव व्यवस्थितविषयः—व्यवस्थितः=नियतः, विषयः=आश्रयो यस्य सः, किम्?

अभिसम्पन्नम्—अभि+सम्+√पद्+क्त। संस्कारेण—सम्+√कृ+घञ्। 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुडागमः। विरम=वि+√रम्+लोट् (सिप्)। 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम्। विरमातिप्रसङ्गात्—'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम्' इति पञ्चमी।

सुमन्त्र—वाल्मीकि मुनि का अन्तेवासी (शिष्य) यह कुमार अत्यन्त पवित्र स्वभाव वाला है। यह ऋषिजनोचित संस्कार (अनुभवजन्य ज्ञान) से युक्त बोल रहा है।

लव—हे चन्द्रकेतु! जो तुम कहते हो—'क्या पिता जी के प्रताप के उत्कर्ष में भी आपको अमर्ष है?' तो मैं पूछता हूँ—'क्या क्षत्रिय धर्म-नियम आश्रय (किसी व्यक्ति विशेष) में ही रहने वाला है?'

सुमन्त्र—तू इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न महाराज (राम) को निस्सन्देह नहीं जानता है, जिससे ऐसा कह रहा है, अतः मर्यादा के अतिक्रमण से विरत हो जाओ।

सचमुच तूने सैनिकों के दलन से ओजस्वी के समान आचरण किया है किन्तु) परशुराम को शासित करने वाले (राम) के विषय में कटु बात कहने का आग्रह करने योग्य नहीं हो॥ ३२॥

परिभूतः (पाठान्तर)—परिभूतः=तिरस्कृतः (सैनिकैः) इत्यर्थः।
अभ्युपपन्नामर्षेण (पाठा०)—उत्पन्नासहनेन (वीरराघव)।

लवः—(सहासम्) आर्य ! जामदग्न्यस्य दमनः स राजेति कोऽयमुच्चैर्वादः ।

सिद्धं ह्येतद्वाचि वीर्यं द्विजानां बाह्वोर्वीर्यं यत्तु तत् क्षत्रियाणाम् ।
शस्त्रग्राही ब्राह्मणो जामदग्न्यस्तस्मिन् दान्ते का स्तुतिस्तस्य राज्ञः ॥ ३३॥

लवस्यौद्धत्यपूर्णं वचनं श्रुत्वा सुमन्त्रो लवं भर्त्सयन्नाह—**नैव खल्विति** । नैव खलु जानासि देवं = महाराजम्, ऐक्ष्वाकं = इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नं रामभद्रं, येनैवं वदसि; तदतिप्रसङ्गात् = मर्यादातिक्रमणाद्विरतो भव ।

अन्वयः—सत्यं त्वया सैनिकानां प्रमाथेन ओजायितम् । जामदग्न्यस्य दमने निर्बन्धम् न अर्हसि ॥ ३२ ॥

सैनिकानामिति । प्रमाथेन=विनाशेन । ओजायितम् = ओजस्विनेवाचरितम्, ओजस्विना दर्शितेति भावः । जामदग्न्यस्य=जमदग्निपुत्रस्य परशुरामस्य । दमने–दमयतीति दमनः = जेता, तस्मिन्, रामचन्द्र इत्यर्थः । निर्बन्धम् = रूक्षवादाग्रहम् । न अर्हसि= न योग्यो भवसि । हि = निश्चयेन । 'नैवं निर्बक्तुमर्हसि' इति पाठे एवं प्रतिपादयितुं न योग्यो भवसीत्यर्थः ।

अयम्भावः—सत्यमेव त्वयाऽस्माकं सैनिकानां दलनेन ओजस्विता दर्शिता, किन्तु जमदग्निपुत्रस्य परशुरामस्य जेतरि महाराजे रामचन्द्रे ह्येतादृशीं रुशतीं वाचं जल्पितुं न त्वमर्हसीति भावः ॥ ३२ ॥

'जामदग्न्यस्य दमनः' इति रामविशेषणश्रवणात् सहासं=हाससहितं यथा स्यात्तथा, लवः प्राह—**आर्येति** । हे पूज्य ! जामदग्न्यस्य शास्ता भवतां स राजा = रामः, इति किं उच्चैर्वादम् = प्रशंसावचनम् ? महावीरत्वप्रख्यापनम् ।

ओजायितम्—ओजस्विनेवाचरितम्; यहाँ 'ओजःशब्दो वृत्तिविषये तद्वति' (अर्थात् ओजस् शब्द ओजस्वी के अर्थ में प्रयुक्त है) यह दीक्षित जी का वचन है। ओजस् शब्द से 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (३।१।११) के अनुसार क्यङ् और सकार का लोप, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से दीर्घ—ओजाय (नामधातु) से भाव में क्त—ओजाय + क्त = ओजायितम् । जामदग्न्यस्य—जमदग्नेरपत्यं पुमान् जामदग्न्यः, तस्य; 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४।१।१०५) से यञ्—जमदग्नि + यञ् = जामदग्न्यः ।

लव—(हँसी के साथ)—आर्य ! जमदग्नि के पुत्र परशुराम का दमन करने वाले ये महाराज हैं, इसमें कौन-सी बड़ी बात है ?

ब्राह्मणों का बल (उनकी) वाणी में है और जो बाहुबल है वह क्षत्रियों का है। परशुराम शस्त्रग्राही ब्राह्मण हैं। उनके पराजित होने पर उन राजा की कौन-सी प्रशंसा है ? ॥ ३३ ॥

द्विजानाम्—यद्यपि 'द्विज' शब्द से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों जातियों का बोध होता है, किन्तु यहाँ 'क्षत्रिय' शब्द का पृथक् उपादान होने के कारण 'द्विज' शब्द का 'ब्राह्मण' अर्थ है ।

चन्द्रकेतुः—(सोन्माथमिव) आर्य सुमन्त्र ! कृतमुत्तरोत्तरेण।

कोऽप्येष सम्प्रति नवः पुरुषावतारो
वीरो न यस्य भगवान् भृगुनन्दनोऽपि।

अन्वयः—द्विजानां वाचि वीर्यं, यत् बाह्वोर्वीर्यं तत्तु क्षत्रियाणाम्, एतत् सिद्धं हि। जामदग्न्यः शस्त्रग्राही ब्राह्मणः, तस्मिन् दान्ते तस्य राज्ञः का स्तुतिः ? ॥ ३३ ॥

सिद्धमिति। द्विजानाम् = ब्राह्मणानाम्। वाचि = वचने। वीर्यम् = पराक्रमः। बाह्वोः = भुजयोः। क्षत्रियाणाम् = राजन्यानाम्। सिद्धम् = प्रसिद्धम्। हि = निश्चयेन। शस्त्रग्राही = आयुधधारी। तस्मिन् दान्ते = तादृशे ब्राह्मणे पराजिते सति। का स्तुतिः = का नाम प्रशंसा ?

अयम्भावः—ब्राह्मणानां वचने पराक्रमः, भुजयोः पराक्रमस्तु क्षत्रियाणामेवेति ब्राह्मणानां वाग्बलत्वं क्षत्रियाणां बाहुबलत्वं च प्रसिद्धमेव। ब्राह्मणो जामदग्न्यः शस्त्रग्राही, वस्तुतस्तु वाग्बलत्वेन शस्त्रग्रहणेऽनधिकृत एवेति तादृशे ब्राह्मणे शासिते सति तस्य राज्ञो रामचन्द्रस्य का नाम प्रशंसा ?

अत्र क्षत्रियाणामेवेति कथनात् 'न ब्राह्मणानाम्' इत्यस्यार्थबललभ्यत्वात्, कथित-वस्तुनः क्षत्रियात् तादृशान्यस्य ब्राह्मणस्य व्यपोहनात् आर्थी परिसङ्ख्याऽलङ्कारः। अपि च परशुरामदमनेनापि रामस्य प्रशंसाया अभावं प्रति ब्राह्मणेति जामदग्न्य-विशेषणपदस्य हेतुतयोपन्यासात् काव्यलिङ्गालङ्कारः। तयोः परस्परनैरपेक्ष्येण स्थितेः संसृष्टिः। शालिनी वृत्तम् ॥ ३३ ॥

श्रीरामं प्रति लवकर्तृकाक्षेपं श्रुत्वा, सोन्माथम् = मर्मपीडासहितं चन्द्रकेतुः सुमन्त्रं प्रत्याह—आर्य सुमन्त्र ! कृतमुत्तरोत्तरेण = अलमुत्तरप्रत्युत्तरेण, तेन न किञ्चदपि साध्यमिति भावः। एतादृशेन दुर्विनीतेन बालकेन सहोक्तिप्रत्युक्तिविस्तररूपः संलापो न कर्त्तव्येत्यर्थः।

अन्वयः—सम्प्रति एषः कोऽपि नवः पुरुषावतारः, यस्य भगवान् भृगुनन्दनः अपि वीरो न। यः पर्याप्तसप्तभुवनाभयदक्षिणानि पुण्यानि तातचरितान्यपि न वेद ॥ ३४ ॥

दमनः—दमयतीति दमनः, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्तरि ल्युट् √दम् + णिच् + ल्युट् (= अन)। 'णेरनिटि' सूत्र से णिच् का लोप।

शस्त्रग्राही—शस्त्रं गृह्णाति तच्छीलः, शस्त्र + √ग्रह् + णिनि। दान्तः—√दम् + क्त (कर्मणि)। स्तुतिः—√स्तु + क्तिन्।

कृतमुत्तरोत्तरेण—'गम्यमानापि क्रियाकारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति करणत्वात्

चन्द्रकेतु—(मानों मर्मान्तक पीड़ा के साथ) आर्य सुमन्त्र ! उत्तर प्रत्युत्तर से कोई लाभ नहीं।

अब यह कोई नूतन नारायण का अवतार रूप है, जिसके लिए भगवान् परशुराम भी वीर

पर्याप्तसप्तभुवनाभयदक्षिणानि
पुण्यानि तातचरितान्यपि यो न वेद ॥ ३४ ॥

लवः—को हि रघुपतेश्चरितं महिमानं च न जानाति ? यदि नाम किञ्चिदस्ति वक्तव्यम् अथवा शान्तम् ।

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते ।

कोऽपीति । पुरुषावतारः—पुरुषस्य = नारायणस्य, अवतारः = अवतारविशेषः। भृगुनन्दनः = परशुरामः । पर्याप्तसप्तभुवनाभयदक्षिणानि—पर्याप्ता = पूर्णा, सप्तभुवनस्य अभयम् = भयाभावः, एव दक्षिणा, यज्ञान्ते दीयमानं दानं येषु तानि । पुण्यानि = पावनानि । तातचरितानि—तातस्य = पितुः, रामस्येत्यर्थः, चरितानि = वीरकर्माणि । न वेद = न जानाति ।

अयम्भावः—अधुनाऽयं नवो नारायणावतारः, यस्त्रिसप्तकृत्वो वीरक्षत्रियाणां संहारकं परशुराममपि वीरं न गणयति, सप्तभुवनायाभयं ददानस्य पितृचरणस्य पावनानि चरितान्यपि न बहु मन्यते ।

अत्र रामचरितरूपक्रतूनां जगदभयदानमेव दक्षिणेति वर्णनाद्रूपकालङ्कारः, स च छेकानुप्रासेन संसृज्यते । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

'अयं पुण्यानि तातचरितान्यपि न वेद' इति चन्द्रकेतुवचनं श्रुत्वा लवः साधिक्षेपमाह—**को हीति** । एतादृशः को हि जनो यो रघुपतेः = रघुकुलश्रेष्ठस्य रामचन्द्रस्य, चरितं, महिमानम् = माहात्म्यं, वा न जानाति ? अत्रापि किञ्चिद् वक्तुं वक्तव्यम् = वाच्यम्, आलोचनीयम्, सम्भाव्यते, अथवा शान्तम् = विरतमस्तु, तत्कथनेनालमित्यर्थः।

अन्वयः—ते वृद्धाः, विचारणीयचरिताः न (सन्ति), (ते तथैव) तिष्ठन्तु । किं वर्ण्यते ? सुन्दस्त्रीमथने अपि अकुण्ठयशसः ते लोके महान्तो हि । खरायोधने यानि

तृतीया । अवतारः—अव + √तॄ + घञ् । पर्याप्ता—परि + √आप् + क्त (कर्मणि)। चरितानि—√चर् + क्त (नपुंसके भावे) ।

महिमा—महतो भावः, महत् + इमनिच् । वक्तव्यम्—√वच् + तव्य । विचारणीयम्—वि + √ चर् (स्वार्थे णिच्) + अनीय । अभिज्ञः—अभि + ज्ञा + कः ।

नहीं हैं और जो पूर्ण रूप से सातों भुवनों को अभय रूपी दक्षिणा देने वाले पिता जी के पावन चरितों को भी नहीं समझता है ॥ ३४ ॥

लव—कौन है जो रघुपति (राम) के चरित और माहात्म्य को नहीं जानता है ? (इस विषय में भी) कुछ कहा जा सकता है, अथवा रहने दें ।

वे वृद्ध हैं, अतः उनके चरित पर टीका-टिप्पणी नहीं की जानी चाहिए । वे (जैसे हैं, वैसे ही) रहें । क्या कहा जाय ? सुन्द की स्त्री (ताडका) का वध करने पर भी उनका यश प्रतिहत

सुन्दस्त्रीमथने—लव का अभिप्राय है कि ताड़का स्त्री थी । स्त्री पर प्रहार करना शास्त्रनिषिद्ध है । अतः राम का यह कार्य वीरोचित नहीं माना जा सकता ।

यानि त्रीण्यपराङ्मुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥ ३५ ॥

अपराङ्मुखानि अपि त्रीणि पदानि आसन्, वा इन्द्रसूनुनिधने यत् कौशलं तत्रापि जनः अभिज्ञः ॥ ३५ ॥

शान्तमिति कथयित्वापि लवः किञ्चिद्विवृणोति—वृद्धा इति। ते = रामः (आदरार्थे सोत्प्रासं बहुवचनम्)। वृद्धाः = वयोवृद्धाः। विचारणीयचरिताः—विचारणीयानि = आलोचनीयानि, चरितानि = अनुष्ठितानि कार्याणि, येषां ते तथाविधाः। तिष्ठन्तु = आसताम्। सुन्दस्त्रीमथने—सुन्दस्त्रियाः = सुन्दाख्यदैत्यपत्न्याः ताडकाया इत्यर्थः, मथने = वधे। अकुण्ठयशसः—अकुण्ठम् = अप्रतिहतम्, अखण्डमिति पाठे पूर्णमित्यर्थः, यशः = कीर्तिः, येषां ते। महान्तः = श्रेष्ठाः। हि = निश्चयेन। खरायोधने—खरेण = तन्नाम्ना राक्षसेन, सह आयोधने = युद्धे ('युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्' इत्यमरः)। अपराङ्मुखान्यपि = अपरावृत्तमुखान्यपि, अप्रदर्शितपृष्ठान्यपीत्यर्थः। पदानि = पादन्यासाः। आसन् = अभवन्। इन्द्रसूनुनिधने—इन्द्रसूनुः = बालीत्यर्थः, तस्य निधने = वधे। कौशलम् = नैपुण्यम्, छलमिति यावत्। तत्रापि = तस्मिन् कौशलेऽपि। जनः = सर्वो लोकः। अभिज्ञः = विज्ञाता (अस्ति)।

अयम्भावः—सो रामो वयोवृद्धः, तस्मात् तच्चरितं पर्यालोचनीयं नास्ति, अतोऽविचारणीयचरित एवास्ताम्। शास्त्रनिषिद्धेऽपि ताडकारूपस्त्रीवधेऽपि तस्य यशोऽप्रतिहतमेव, स लोके महानेव कथ्यते, सर्वो लोकस्तं प्रशंसत्येव। अहो! तेषां माहात्म्यम्। खरेण सह युद्धे तस्य पृष्ठाप्रदर्शनपूर्वकं ये त्रयः पादन्यासा अभवन् तथा बालिवधे तेन यन्नैपुण्यं कृतं तस्मिन्नपि सर्वो लोकोऽभिज्ञोऽस्ति, तस्मात् सर्वजनप्रसिद्धान्येतानि रामकार्याणि नास्माभिर्वर्णनीयानि।

नहीं हुआ। वे निस्सन्देह लोक में महान् हैं। खर के साथ युद्ध में बिना मुँह फेरे हुए भी उनके जो तीन पग डाले गये थे अथवा बाली के हनन में (उनका) जो कौशल (था) उस विषय में भी संसार अच्छी तरह जानता है ॥ ३५ ॥

त्रीणि पदानि—युद्ध के समय खर राम के इतना समीप था कि बाण छोड़ने पर उसमें प्रहार की तीव्रता न आ पाती, अतः उन्होंने दो-तीन पग पीछे हट कर तब बाण छोड़ा। लव इसे राम का एक प्रकार का पलायन समझता है।

यद्वा कौशलम्०—राम ने बाली को पेड़ के आड़ में होकर धोखे से मारा। लव के विचार से यह राम ने वीरता का काम नहीं किया।

यह पद्य दशरूपक (१।४५) में द्रव (पूज्य व्यक्ति के प्रति अनादरभाव) के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है।

क्षेमेन्द्र ने अपनी 'औचित्यविचारचर्चा' में इस पद्य की आलोचना की है। उनका कहना है कि भवभूति ने राम के दोष दिखला कर प्रधाननायकगत वीररस का विनाश कर दिया। क्षेमेन्द्र की यह आलोचना ठीक नहीं है। श्रीकान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग के अनुसार इस नाटक में कवि का अभिप्राय राम के जीवन से वीररस का आस्वाद कराना नहीं है। यह करुणरस का

चन्द्रकेतुः—आः तातापवादभिन्नमर्याद ! अति हि नाम प्रगल्भसे।

लवः—अये ! मय्येव भ्रुकुटीधरः संवृत्तः।

अत्र वक्तुमिष्टस्य रामदोषस्य गुरुत्वरूपविशेषप्रतिपत्त्यर्थं 'किं वर्ण्यते' इत्यनेन निषेधस्य आपाततः प्रतीयमानत्वात् आक्षेपो नामालङ्कारः। अपि च रामस्य विचारणीयचरितत्वे 'वृद्धाः' इति विशेषणपदस्य हेतुतयोपन्यासात् काव्यलिङ्गम्, तयोर्मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्रस्य निन्दां श्रुत्वा सञ्जातकोपश्चन्द्रकेतुर्लवं प्रत्याह—आः इति। आः ! इति कोपद्योतकमव्ययम्, तातापवादभिन्नमर्याद—तातस्य=पितुः, रामस्येत्यर्थः, अपवादेन =निन्दया, भिन्ना=उल्लङ्घिता, मर्यादा=सदाचारः, येन तत्सम्बुद्धौ=पितृचरणस्य निन्दया सदाचारभञ्जक ! अति हि=अत्यन्तमेव, प्रगल्भसे=धाष्टर्यं (धृष्टता) करोषि ! 'नाम' इति क्रोधसूचकमव्ययम् ('नाम प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने' इत्यमरः)।

एवं कुपितं चन्द्रकेतुं प्रत्याह लवः—अये इति। अये ! इति क्रोधद्योतकमव्ययम् ('अये क्रोधे विषादे च सम्भ्रमे स्मरणेऽपि च' इति मेदिनी) मय्येव भ्रुकुटिधरः= कोपेन भ्रूभङ्गयुक्तः, संवृत्तः=सञ्जातः।

प्रगल्भसे—प्र+√गल्भ (धाष्टर्ये)+लट् (थास्=से)।

चन्द्रकेतु—आः ! पिताजी की निन्दा से मर्यादा भङ्ग करने वाला ! तू बहुत ही धृष्टता कर रहा है।

लव—अरे (उलटे) मेरे ऊपर ही भौंहें तान रहा है।

नाटक है। जिस रस की पुष्टि अपेक्षित है, उसी रस का घात नहीं होना चाहिए। इस सिद्धान्त का पालन उत्तररामचरित में हुआ है। अतः रामचन्द्र जी के दोष दिखलाने वाला यह पद्य रस का विघातक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः यह पद्य प्रधान रस (करुण) का विनाश न कर उसका पोषण करता है, क्योंकि प्रेक्षकों के हृदय में इस पद्य से यह भाव उठता है कि इतने दोषों के रहते हुए भी राम महान् बने हैं और किसी दोष के न रहने पर भी बेचारी सीता जी घर से निकाल दी गयीं। इस प्रकार सीता जी के चरित्र से प्राप्त होने वाला करुणरस पुष्ट होता है। यह इस पद्य का गुण है।

यदि वीररस की दृष्टि से देखा जाय तो भी क्षेमेन्द्र का कहना ठीक नहीं जँचता। लव की उक्ति से मन में यह भाव पैदा होता है कि यह एक सच्चे वीर का पुत्र है, जो अप्रत्यक्ष रूप से राम की वीरता की ही पुष्टि करता है। लव राम का वास्तविक प्रतिपक्षी नहीं था। प्रेक्षकों को इस वस्तुस्थिति का अच्छी तरह ज्ञान है, अतः उनके मन में लव के प्रति वह द्वेष भावना नहीं उठती, जो सामान्यतः प्रतिनायक के प्रति उठा करती है। इस प्रकार लव की उद्धत उक्ति एक अनिर्वचनीय आनन्द देकर समाप्त हो जाती है, उसका मनोवैज्ञानिक असर और कुछ नहीं होता।

प्रधान नायक के रस का विनाश नहीं करना चाहिए। इस सिद्धान्त से भवभूति अपरिचित नहीं थे। जहाँ उन्हें रस-नाश का भय हुआ, वहाँ उन्होंने कथानक बदल दिया है। जैसे 'महावीर चरित' में देखा जा सकता है। जहाँ महाकवि ने 'राम द्वारा छिपकर बालिवध' वृत्त को दूसरा रूप दे दिया है। अतः क्षेमेन्द्र की आलोचना ठीक नहीं।

भ्रुकुटीमुखः (पाठा०)—क्रोधप्रयुक्तभ्रूभङ्गयुक्तवदन इत्यर्थः।

सुमन्त्रः—स्फुरितमनयोः क्रोधेन ! तथा हि—

चूडामण्डलबन्धनं तरलयत्याकूतजो वेपथुः
किञ्चित्कोकनदच्छदस्य सदृशे नेत्रे स्वयं रज्यतः ।
धत्ते कान्तिमकाण्डताण्डवितयोर्भङ्गेन वक्त्रं भ्रुवो-
श्चन्द्रस्योद्भटलाञ्छनस्य कमलस्योद्भ्रान्तभृङ्गस्य च ॥ ३६ ॥

अन्वयः—आकूतजः वेपथुः चूडामण्डलबन्धनं तरलयति । कोकनदच्छदस्य किञ्चित्-सदृशे नेत्रे स्वयं रज्यतः । वक्त्रम् अकाण्डताण्डवितयोः भ्रुवोः भङ्गेन उद्भटलाञ्छनस्य चन्द्रस्य उद्भ्रान्तभृङ्गस्य कमलस्य च कान्तिं धत्ते ॥ ३६ ॥

सुमन्त्रः कुमारयोः क्रोधं वर्णयन्नाह—चूडेति । आकूतजः—परस्परदमनेच्छा-जनितः । वेपथु =कम्पः । चूडामण्डलबन्धनम्—चूडामण्डलस्य=शिखासमूहस्य, बन्धनम्=ग्रन्थिम् । तरलयति=तरलं करोति, शिथिलं करोतीत्यर्थः । कोकनदच्छदस्य =रक्तकमलपत्रस्य ('रक्तोत्पलं कोकनदम्', 'दलं पर्णं छदः पुमान्' इत्युभयत्राप्यमरः) । किञ्चित्सदृशे=ईषत्तुल्ये । रज्यतः=रक्ते भवतः । वक्त्रम्=आननम् । अकाण्ड-ताण्डवितयोः—अकाण्डे=अनवसरे, अकस्मादित्यर्थः, ताण्डवितयोः=ताण्डवयुक्तयोः, कृतनृत्ययोरित्यर्थः । भ्रुवोः, भङ्गेन=कौटिल्येन । उद्भटलाञ्छनस्य=प्रकटकलङ्कस्य । उद्भ्रान्तभृङ्गस्य--उद्भ्रान्ताः=ऊर्ध्वं भ्रमन्तः, भृङ्गाः यस्मिंस्तस्य । कान्तिम्= शोभाम् । धत्ते=धारयति ।

अयम्भावः—परस्परदमनेच्छाजनितकोपजः कम्पः शिखासमूहस्य बन्धनं शिथिलं करोति । रक्तकमलपत्रसदृशे प्रकृत्या किञ्चिद्रक्ते नेत्रे क्रोधोद्रेकात् पूर्णरूपेण रक्ते सञ्जाते । मुखमकस्मात्कृतोद्धतनृत्ययोर्भ्रुवोर्भङ्गेन प्रकटकलङ्कस्य चन्द्रस्य, अपि च उपरि भ्रमन्तो भ्रमरा यत्रैवंविधस्य कमलस्य शोभां धारयति ।

अत्र वदने तादृशचन्द्रकमलयोः शोभासम्बन्धस्य असम्भवत्वेऽपि तत्सम्बन्धकथनेन तच्छोभासदृशशोभां धत्ते इति बिम्बप्रतिबिम्बभावेन उपमायां पर्यवसानात् निदर्शना-ऽलङ्कार ; अपि च कम्परक्तनेत्रादिरूपैर्हेतुभिः क्रोधरूपसाध्यस्य ज्ञानादनुमानालङ्कारः, तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

स्फुरितम्—√स्फुर् + क्त (भावे) । वेपथुः—√वेप् (कम्पने) + अथुच् । ताण्डवितं—ताण्डव + इतच् (तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्) । उद्भ्रान्तः—उद् + √भ्रम् + (कर्तरि) ।

सुमन्त्र—इन दोनों का क्रोध स्फुरित हो गया है । वह इस प्रकार है—

परस्पर दमन के अभिप्राय (अर्थात् क्रोध) से उत्पन्न कम्प शिखासमूह के बन्धन को चञ्चल कर रहा है ! रक्तकमल के पत्र के कुछ-कुछ सदृश नेत्र स्वयं लाल हो रहे हैं । (दोनों का)

क्रोधेनोद्धतधूतकुन्तलभरः सर्वाङ्गजो वेपथुः (पाठा०)—क्रोधेन उद्धतं सातिशयं यथा स्यात्तथा धूतः चलितः, कुन्तलभरः केशभारः यस्मिन् सः तथोक्तः सर्वाङ्गजः समस्तशरीरोत्पन्नः वेपथुः कम्प इत्यर्थः ।

कुमारौ—तदितो विमर्दक्षमां भूमिमवतराव: ।

(इति निष्क्रान्ता: सर्वे)

इति महाकवि-भवभूतिविरचिते उत्तररामचरिते
'कुमारविक्रमो' नाम पञ्चमोऽङ्कः ।

एवं युद्धोद्यतौ कुमारौ परस्परं कथयत:—तदित इति । तत् = तस्मात्, इत: = अस्मात् स्थानात्, विमर्दक्षमां = युद्धयोग्यां, भूमिमवतराव: = गच्छाव: । इत्युक्त्वा सर्वे यथायथं निष्क्रान्ता: ।

मुख अनवसर में (अर्थात् अकस्मात्) ताण्डव युक्त (नाचती हुई) भौंहों के कुटिल होने से परिस्फुट कलङ्क वाले चन्द्रमा की तथा ऊपर मँडराते हुए भौंरों वाले कमल की शोभा को धारण कर रहा है ॥ ३६ ॥

दोनों कुमार—तो यहाँ से हम दोनों युद्ध योग्य भूमि में चलें ।

(सभी चले गये)

महाकवि-भवभूतिविरचित उत्तररामचरित में 'कुमारविक्रम'
नामक पञ्चम अंक समाप्त ।

षष्ठोऽङ्कः

(कुमारप्रत्यभिज्ञानम्)

(ततः प्रविशति विमानेनोज्ज्वलं विद्याधरमिथुनम्।)

विद्याधरः—अहो ! नु खल्वनयोर्विकर्तनकुलकुमारयोरकाण्डकलहप्रचण्डयोरुद्द्योतितक्षत्रलक्ष्मीकयोरत्यद्भुतोद्भ्रान्तदेवासुराणि विक्रान्तचरितानि। तथा हि प्रिये ! पश्य पश्य—

ततः उज्ज्वलम्=प्रकाशमानम्। विद्याधरः=देवयोनिविशेषः, विद्याधरश्च विद्याधरी चेति विद्याधरौ ('पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः), तयोः मिथुनम्=द्वन्द्वम्; 'दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः' इति युद्धस्य दृश्यत्वनिषेधात् कविरादौ विष्कम्भमवतारयति। अतो विमानस्थं विद्याधरमिथुनं प्रवेशयति। तत्र विमानस्थो **विद्याधरः** स्वप्रियया सह युद्धवार्तां कर्तुं प्रारभते—**अहो नु इति**। अहो ! इत्याश्चर्ये। नु इति वितर्के। खलु इति वाक्यालङ्कारे। अकाण्डकलहप्रचण्डयोः—अकाण्डे=अनवसरे, अकस्मादित्यर्थः, यः कलहः=विरोधः, तेन प्रचण्डयोः=समधिककोपनयोः। उद्योतितक्षत्रलक्ष्मीकयोः—उद्योतिता=प्रकाशिता, क्षत्रलक्ष्मीः=क्षत्रियशोभा, ययोस्तयोः। विकर्तनकुलकुमारयोः=सूर्यवंशबालकयोः, लवचन्द्रकेत्वोरित्यर्थः। अत्यद्भुतोद्भ्रान्त०—अत्यद्भुतेन=अत्याश्चर्येण, उद्भ्रान्ताः=विमूढाः, देवासुरा येषु तानि। विक्रान्तचरितानि=वीरकर्माणि।

अयम्भावः—अहो ! नु खलु अकस्मादेव कलहेन कुपितयोः क्षात्रशोभां प्रकाशयतोः सूर्यवंशकुमारयोरनयोर्लवचन्द्रकेत्वोरेतादृशानि वीरकर्माणि सन्ति यैर्देवासुरा अपि विस्मिताः सञ्जाताः। तथा हि प्रिये त्वमपि पश्य पश्य (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः)।

उद्योतितः—उद् + √द्युत् (दीप्तौ) + णिच् + क्त (कर्मणि)। 'विक्रान्तचरितानि—विक्रान्तम्=विक्रमः, वि + √क्रम् + क्त (नपुंसके भावे) तस्य चरितानि।

(तदनन्तर सुन्दर विद्याधर-दम्पती का विमान द्वारा प्रवेश होता है)

विद्याधर—अहो ! अकस्मात् कलह से अत्यन्त कुपित, क्षत्रियोचित शौर्यश्री दिखलाने वाले इन सूर्यवंशी कुमारों के विक्रमपूर्ण चरित सुरों और असुरों को भी आश्चर्यचकित कर देने वाले हैं। वे इस प्रकार हैं। प्रिये (तुम भी) देखो, देखो—

नाटक में युद्ध का प्रत्यक्ष प्रदर्शन मञ्च पर निषिद्ध है। अतः कवि ने विष्कम्भक की योजना कर विद्याधर और विद्याधरी के संवाद से लव तथा चन्द्रकेतु के युद्ध का वर्णन किया है।

झणज्झणितकङ्कणक्वणितकिङ्किणीकं धनु-
र्ध्वनद्गुरुगुणाटनीकृतकरालकोलाहलम् ।
वितत्य किरतोः शरानविरतस्फुरच्चूडयो-
र्विचित्रमभिवर्तते भुवनभीममायोधनम् ॥ १ ॥
विजृम्भितं च दिव्यस्य मङ्गलाय द्वयोरपि ।
स्तनयित्नोरिवामन्द्रं दुन्दभेर्दुन्दुमायितम् ॥ २ ॥

अन्वयः—झणज्झणितकङ्कणक्वणितकिङ्किणीकं ध्वनद्गुरुगुणाटनीकृतकरालकोलाहलं धनुः वितत्य शरान् किरतोः अविरतस्फुरच्चूडयोः (अनयोः कुमारयोः) विचित्रं भुवनभीमम् आयोधनम् अभिवर्तते ॥ १ ॥

विद्याधरस्तदेव युद्धकौशलं प्रतिपादयति—झणज्झणितेति । झणज्झणित०—झणज्झणितम् = झणज्झणशब्दयुक्तम्, यत् कङ्कणम् = करभूषणम्, तदिव क्वणिताः = शब्दायमानाः, किङ्किण्यः=क्षुद्रघण्टिकाः, यस्य तत् ('नद्यृतश्च' इति कप् समासान्तः)। ध्वनद्०—ध्वनता = शब्दायमानेन, गुरुणा = विपुलेन, गुणेन = मौर्व्या, अटनीभ्याम् = धनुष्कोटिभ्यां च, कृतः करालः = भीषणः, कोलाहलः = कलकलः, यस्य एतादृशं धनुः (कर्म) वितत्य = मण्डलीकृत्य । शरान् = बाणान् । किरतोः = प्रक्षिपतोः । अविरतस्फुरच्चूडयोः—अविरतम्=निरन्तरं, यथा तथा स्फुरन्त्यः = प्रचलन्त्यः, चूडाः = शिखा ययोस्तयोः । विचित्रम्=अत्यद्भुतम् । भुवनभीमम्—भुवनानाम् = लोकानाम्, भीमम् = भयङ्करम् । आयोधनम् = युद्धम् । अभिवर्तते = सम्मुखं विद्यते ।

अयम्भावः—यस्मिन् निबद्धाः क्षुद्रघण्टिकाः झणज्झणेत्यव्यक्तशब्दयुक्तं करकङ्कणमिव शब्दायमानाः सन्ति, अपि च यस्य गुर्व्या शब्दायमानया मौर्व्या धनुष्कोटिभ्यां च भीषणः कोलाहलः क्रियते तादृशं धनुर्विस्तृतं कृत्वा बाणान् क्षिपतोः, अविरतं प्रचलन्त्यः शिखाः ययोरेतादृशयोश्चानयोः कुमारयोर्भुवनानां भयङ्करं समधिकाद्भुतं युद्धं सम्मुखं विद्यते । एतौ कुमारौ शब्दायमानं धनुर्मण्डलीकृत्य सततं बाणवृष्टिं कृत्वा भुवनभीषणं युद्धं कुरुत इति भावः । अत्रोपमावृत्त्यनुप्रासयोः संसृष्टिः । पृथ्वी वृत्तम् ॥ १ ॥

झणज्झणितम्—झणज्झणः संञ्जातः अस्य; झणज्झण + इतच् (तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्) । क्वणितम्—√क्वण् + क्त (कर्तरि, अथवा नपुंसके भावे)। ध्वनत्—√ध्वन् + शतृ । वितत्य—वि + √तन् + ल्यप् । किरतोः—√कृ (विक्षेपे) + शतृ । स्फुरत्—√स्फुर् + शतृ ।

झणझण शब्द युक्त कङ्कण की तरह शब्द करती क्षुद्रघंटिकाओं वाले तथा शब्दायमान बड़ी मौर्वी एवम् अग्रभाग से किये गये भीषण कोलाहल वाले धनुष को तान कर बाणों को बरसाते हुए और निरन्तर फरफराती शिखाओं वाले इन दोनों कुमारों का विस्मयजनक तथा संसार को भयभीत कर देने वाला युद्ध सामने हो रहा है ॥ १ ॥

और दोनों (कुमारों) के कल्याण (अर्थात् उत्साहवर्धन) के लिए दिव्य दुन्दुभि का गर्जी मेघ का-सा अतिगम्भीर 'दुन्दम्' शब्द हो रहा है ॥ २ ॥

तत्प्रवर्ततामनयोः प्रवीरयोरनवरतमविरलललितविकचकनककमलकमनीयसंहतिरमरतरुतरुणमणिमुकुलनिकरमकरन्दसुन्दरः पुष्पनिपातः ।

विद्याधरी—ता किं ति उण अआंडविप्फुरिदतडिच्छडाकडारं विअ अंबरं झत्ति संवुत्तम् ? [तत्किमिति पुनरकाण्डविस्फुरिततडिच्छटाकडारमिवाम्बरं झटिति संवृत्तम् ?]

अन्वयः—द्वयोरपि मङ्गलाय दिव्यस्य दुन्दुभेः स्तनयित्नोरिव आमन्द्रं दुन्दुमायितं विजृम्भितं च ॥ २ ॥

विजृम्भितमिति । द्वयोरपि = उभयोरपि, लवचन्द्रकेत्वोरित्यर्थः । मङ्गलाय = कल्याणाय, उत्साहवर्द्धनायेति यावत् । दिव्यस्य = दिवि भवः, तस्य स्वर्गीयस्येत्यर्थः । दुन्दुभेः = भेर्याः, स्तनयित्नोरिव = गर्जन्मेघस्येव । आमन्द्रम् = अतिगभीरम् । दुन्दुमायितम् = दुन्दुमित्याकारकः शब्दः । विजृम्भितं च = आविर्भूतं च ।

अयम्भावः—अपि च उभयोरपि कुमारयोरुत्साहवर्धनार्थं गर्जन्मेघस्येव स्वर्गीयस्य दुन्दुभेः 'दुम्-दुम्' इत्याकारको ध्वनिः प्रवृत्तः । उपमालङ्कारः ॥ २ ॥

तत् = तस्माद्धेतोः, अनयोः प्रवीरयोः = प्रकृष्टवीरयोः लवचन्द्रकेत्वोरुपरि । अनवरतम् = निरन्तरम् । अविरलललित०—अविरलैः = घनैः, ललितैः = सुन्दरैः, मिलितैरिति पाठे सम्मिलितैरित्यर्थः, विकचैः = विकसितैः, कनककमलैः = सुवर्णपद्मैः, कमनीया = मनोहरा, संहतिः = समूहः, सन्ततिरिति पाठे पङ्क्तिः, यस्य सः । अमरतरुतरुण०—अमरतरूणाम् = देववृक्षाणां पारिजातादीनाम्, ये तरुणमणिमुकुलाः = नवोद्गतरत्नसदृशाः कुड्मलाः, तेषां निकरस्य = समूहस्य, मकरन्दैः = पुष्परसैः, सुन्दरः = मनोरमः । पुष्पनिपातः = प्रसूनवृष्टिः । प्रवर्तताम् = भवतु । प्रवर्त्यतामिति पाठे आरभ्यतामित्यर्थः, (प्र + √वृत् + णिच् + लोट्-कर्मणि) ।

अयम्भावः—तत् महावीरयोरनयोः कुमारयोरुपरि सम्प्रति पुष्पवृष्टिर्भवतु यस्याः संहतिः घनैः सुन्दरैर्विकसितैः सुवर्णकमलैः कमनीया स्यादपि च या पारिजातादीनां नवोद्गतरत्नसदृशकुड्मलानां मकरन्दैर्मनोरमा स्यात् । सुवर्णपद्ममिश्रितदेवतरुकुसुमानां वृष्टिः कर्तव्येति भावः ।

विजृम्भितम्—वि + √जृम्भ + क्त (कर्तरि) । दुन्दुमायितम्—दुम् (अव्यक्तानुकरणात्मक शब्द) + डाच्, द्वित्व + क्यष् ('लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्')—दुन्दुमाय, ततः नपुंसके भावे क्तः, दुन्दुमाय + क्त = दुन्दुमायितम् ।

संहतिः—सम् + √हन् + क्तिन् । निपातः—नि + √पत् + घञ् ।

अतः महावीर इन दोनों (कुमारों) पर घने, सुन्दर, खिले हुए स्वर्णकमलों से मनोरम राशि वाली तथा देववृक्षों (पारिजातादि) की अभिनव मणि-सदृश खिलती हुई कलिकाओं के समूह के पुष्परस से सुन्दर पुष्पवृष्टि निरन्तर आरम्भ हो ।

विद्याधरी—तो क्यों पुनः आकाश झट से अकस्मात् विद्योतित विद्युत्प्रभा से भूरे रंग का-सा हो गया ?

विद्याधरः—तत्किं नु खल्वद्य

त्वाष्ट्रयन्त्रभ्रमिभ्रान्तमार्तण्डज्योतिरुज्ज्वलः ।
पुटभेदो ललाटस्थनीललोहितचक्षुषः ॥ ३ ॥

(विचिन्त्य) आं ज्ञातम् । जातक्षोभेण चन्द्रकेतुना प्रयुक्तमस्त्रमाग्नेयम्। यस्यायमग्निच्छटासम्पातः । सम्प्रति हि—

'जातक्षोभेण चन्द्रकेतुनाऽसाधारणमाग्नेयमस्त्रं प्रयुक्तम्' इत्यज्ञात्वा विद्याधरी समुत्प्रेक्षते—तत्किमिति । तत् = तस्मात् । किमिति = केन हेतुना । अम्बरम् = आकाशम् । अकाण्डविस्फुरित०—अकाण्डे = अनवसरे, अकस्मादित्यर्थः, विस्फुरिताः = विद्योतिताः, या तडिच्छटाः = विद्युत्प्रभाः, ताभिः कडारम् = पिङ्गलवर्णम् । झटिति = सत्वरम् । संवृत्तम् = सञ्जातम् । तत् केन हेतुना सम्प्रत्याकाशं विद्योतितविद्युत्प्रभाभिः सत्वरं पिङ्गलवर्णमिव सञ्जातमिति भावः ।

विद्याधरोऽपि तर्कयति—तत्किमिति । तत् = तस्मात् । किं नु इति वितर्के । खलु इति वाक्यालङ्कारे । अद्य = इदानीम् ।

अन्वयः—त्वाष्ट्रयन्त्रभ्रमिभ्रान्तमार्तण्डज्योतिरुज्ज्वलः ललाटस्थनीललोहितचक्षुषः पुटभेदः (संवृत्तः) ॥ ३ ॥

त्वाष्ट्रेति । त्वाष्ट्रयन्त्र०—त्वष्टुः = विश्वकर्मणः, इदं त्वाष्ट्रम् = त्वष्टृसम्बन्धि, यद् यन्त्रम् = शाणयन्त्रम, तस्य भ्रमिः = भ्रमणक्रिया, तया भ्रान्तः = घूर्णितः, यः मार्तण्डः = सूर्यः, तस्य ज्योतिः = तेजः, तदिव उज्ज्वलः = प्रकाशमानः । ललाटस्थ०—ललाटस्थम् = भालस्थितम्, नीललोहितस्य = रुद्रस्य, यत् चक्षुः = अग्निरूपं तृतीयं नेत्रमित्यर्थः, तस्य । पुटभेदः—पुटस्य = आवरणस्य, भेदः = उन्मीलनम् (संवृत्तः)।

अयम्भावः—विश्वकर्मणो यच्छाणयन्त्रं तस्य भ्रमणक्रियया घूर्णितस्य सूर्यस्य तेज इव प्रकाशमानं रुद्रस्य तृतीयनेत्रस्य आवरणसमुन्मीलनं सञ्जातम् । अत्र लुप्तोपमासन्देहालङ्कारयोः सङ्करः ॥ ३ ॥

विस्फुरितम्—वि + √स्फुर् + क्त (कर्तरि) । भ्रान्तः—√भ्रम् (इसमें णिच् का अर्थ अन्तर्भूत है) + क्त (कर्मणि) । ललाटस्थः—ललाटे तिष्ठति इति, ललाट + √स्था + क (सुपि स्थः) ।

विद्याधर—तो क्या आज विश्वकर्मा के शाणयन्त्र की भ्रमणक्रिया से घुमाये हुए सूर्य के तेज के समान देदीप्यमान, रुद्र के ललाटस्थ (तीसरे) नेत्र की पलक खुल गयी है ? ॥ ३ ॥

(सोचकर) ओह ! अब पता लगा । आवेग उत्पन्न होने से चन्द्रकेतु ने आग्नेय अस्त्र का प्रयोग किया है; जिसकी अग्निज्वाला का यह प्रसार है । क्योंकि इस समय—

त्वाष्ट्रयन्त्र—त्वष्टा (विश्वकर्मा) देवलोक का शिल्पी । त्वष्टा की पुत्री 'संज्ञा' सूर्य की पत्नी थी । वह सूर्य के प्रचण्ड तेज को सह नहीं पाती थी । इस बात का पता जब विश्वकर्मा को चला, तब उसने सूर्य को शाणयन्त्र पर चढ़ा कर खराद कर उसके तेज का कुछ अंश कम कर दिया और वह सह्य हो गया ।

नीललोहितः—रुद्र । नीलः कण्ठे लोहितः जटासु ।

अवदग्धकर्बुरितकेतुचामरैरपयातमेव हि विमानमण्डलैः।
दहति ध्वजांशुकपटावलीमिमां नवकिंशुकद्युतिसविभ्रमः शिखी ॥ ४ ॥

पुनः किञ्चिद् विचिन्त्य = विचार्य, विद्याधरः प्राह—आं ज्ञातमिति। आमिति निश्चये। सम्प्रति मया ज्ञातम्। जातक्षोभेण—जातः क्षोभः = आवेगः, यस्य तेन = सञ्जातकोपेन, चन्द्रकेतुनाऽऽग्नेयम् = अग्निदैवतम् अस्त्रं, प्रयुक्तं = प्रेरितम्, यस्य = आग्नेयास्त्रस्य, अयम् अग्निच्छटासम्पातः = वह्निज्वालाप्रसरः (पतनम्), दृश्यते।

अन्वयः—अवदग्धकर्बुरितकेतुचामरैः विमानमण्डलैः अपयातमेव हि। नवकिंशुकद्युतिसविभ्रमः शिखी इमाम् ध्वजांशुकपटावलीं दहति ॥ ४ ॥

तमेवाग्नेयास्त्रप्रभावं विशदीकरोति—अवदग्धेति। अवदग्धकर्बुरितकेतुचामरैः—अवदग्धानि = किञ्चिद् दग्धानि, अत एव कर्बुरितानि = चित्रवर्णानि, केतुचामराणि = ध्वजाः बालव्यजनानि च, येषां तैः। विमानमण्डलैः = व्योमयानसमूहैः। अपयातमेव = पलायितमेव। हि = निश्चयेन। नवकिंशुकद्युतिसविभ्रमः—नवम् = नूतनम्, किंशुकम् = पलाशपुष्पम्, तस्य द्युतिः = कान्तिः, तया समानः विभ्रमः = विलासः, यस्य एतादृशः। शिखी = अग्निः। ध्वजांशुकपटावलीम्—ध्वजाः = महाकेतवः, तेषाम् अंशुकानि एव पटाः इति अंशुकपटाः = सूक्ष्मवस्त्राणि (सूक्ष्मवस्त्रपर्यायः अंशुकशब्दोऽत्र गोबलीवर्दन्यायेन सूक्ष्ममात्रपरः) तेषाम् आवलीम् = पङ्क्तिम्। दहति = भस्मीकरोति।

अयम्भावः—आग्नेयास्त्रस्य वह्निज्वालाभिर्व्योमयानसमूहानां ध्वजचामराणि किञ्चिद् दग्धानि, अत एव चित्रवर्णानि सञ्जातानि तस्मात् ते दाहभयात् पलायिता एव। नवपलाशपुष्पकान्तिसदृशोऽग्निरिमां पुरःस्थितां ध्वजानां सूक्ष्मवस्त्रपङ्क्ति भस्मीकरोति।

आग्नेयम्—अग्निर्देवताऽस्येति; अग्नि + ढक् ('अग्नेर्ढक्')। सम्पातः—सम् + √पत् + घञ्। अवदग्धम्—अव + √दह् + क्त (कर्मणि)। कर्बुरितानि—कर्बुराणि कृतानि इति; कर्बुर शब्द से 'तत्करोति तदाचष्टे' गणसूत्र के अनुसार णिच् (नामधातु), ततः क्तः (कर्मणि)। अपयातम्—अप + √या + क्त (भावे)।

अंशतः जलाये गये अत एव चितकबरे किये गये ध्वज और चामर वाले विमानों के समूहों द्वारा पलायन किया ही गया है, नये पलाशपुष्प की कान्ति के समान कान्ति वाला अनल ध्वजों के सूक्ष्म वस्त्रों की पंक्ति को जला रहा है ॥ ४ ॥

कर्बुरित—चितकबरा किया गया। ध्वज-चामरों का रंग अग्निज्वाला की लाली और धुएँ के कालेपन से कर्बुर हो गया। **बर्बरित** (पाठा०)—दाहजबर्बरध्वनियुक्तानि (वीरराघव)।

अग्निवच्छरसम्पातः (पाठा०)—शरसम्पातः = बाणधारा।

दधति ध्वजाङ्कुशपटाञ्चलेष्विमाः क्षणकुङ्कुमच्छुरणविभ्रमं शिखाः। (पाठा०)—इमाः = सन्निकृष्टस्थाः, शिखाः = अग्निज्वालाः, ध्वजाङ्कुशपटाञ्चलेषु—ध्वजानां ये अङ्कुशाः = अङ्कुशाकारदण्डाः तेषां ये पटाः = शोभनवस्त्राणि तेषाम् अञ्चलेषु = प्रान्तेषु, क्षणम् = कञ्चित्कालं यावत्, कुङ्कुमेन यत् छुरणम् = रञ्जनम् तस्य विभ्रमम् = शोभाम्, दधति = धारयन्ति। असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः।

आश्चर्यम् ! प्रवृत्त एवायमुच्चण्डवज्रखण्डावस्फोटपटुरवस्फुलिङ्गगुरुरुत्तालतुमुललेलिहानोज्ज्वलज्वालासम्भारभैरवो भगवानुषर्बुधः। प्रचण्डश्चास्य सर्वतः सन्तापः। तत्प्रियामङ्गेनाच्छाद्य सुदूरमपसरामि। (तथा करोति)।

विद्याधरी—दिट्ठिआ एदेण विमलमुक्ताफलअसीअलसिणिद्धमसिणमंसलेन णाहदेहप्फंसेण आणंदमंदमउलिदघुण्णंतलोअणाए अप्पोदिदो एव्व अंदरिदो मे संदावो। [दिष्टया एतेन विमलमुक्ताफलकशीतलस्निग्धमसृणमांसलेन नाथदेहस्पर्शेनानन्दमन्दमुकुलितघूर्णमानलोचनाया अल्पोदित एवान्तरितो मे सन्तापः।]

उपमाऽलङ्कारः। मञ्जुभाषिणी वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—'सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी।' इति ॥ ४ ॥

अग्नेः सर्वतः प्रसारं विलोक्य विद्याधरः साश्चर्यमाह—**आश्चर्यमिति**। उच्चण्डवज्र०—उच्चण्डः = समधिकभीषण, यः वज्रखण्डः = अशनिशकलम्, तस्य अवस्फोटः = स्फोटनम्, स इव पटुः = तीक्ष्णः, रवः = ध्वनिः, येषां तादृशैः स्फुलिङ्गैः = अग्निकणैः, गुरुः = महान्। उत्तालतुमुल०—उत्तालः = अत्युन्नतः, तुमुलः = सङ्कुलः, लेलिहानः = भृशं कवलनपरः, उज्ज्वलः = प्रदीप्तः, यः ज्वालासम्भारः = शिखासमूहः, तेन भैरवः = भीषणः। उषर्बुधः = अग्निः। प्रवृत्तः = संलग्नः। सन्तापः = सन्दाहः। प्रचण्डः = अतितीक्ष्णः। अङ्गेन = हस्तोरःस्थलाद्यवयवेन। 'अंशुकेन' इति पाठे वस्त्रेणेत्यर्थः।

अयम्भावः—अत्यन्तभीषणस्य वज्रखण्डस्य स्फोटनमिव तीक्ष्णो ध्वनिर्येषां तादृशैरग्निकणैर्महान्, अत्युन्नतेन सङ्कुलेन भृशं कवलनपरेण प्रदीप्तेन च ज्वालासमूहेन भीषणोऽयं भगवान् अग्निदेवः सर्वतः प्रसृत एव। अतः स्वप्रियामङ्गेनाच्छाद्य सुदूरमपसरामि। (इत्युक्त्वा स्वप्रियां हस्तोरःस्थलाद्यवयवेनाच्छाद्यापसर्तुमुपक्रमते।)

विद्याधरी स्वपतिशरीरस्पर्शेन प्रहृष्टा प्राह—**दिष्टयेति**। दिष्टया = भाग्येन। विमलमुक्ताफलक०—विमलानि = निर्मलानि, यानि मुक्ताफलकानि = मौक्तिकानि

उत्तालः—तालमुत्क्रान्तः इति उत्तालः, 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः (अत्या० स०)। लेलिहानः—√लिह् + यङ् (भृशार्थे) + लट् = शानच्। उषर्बुधः—उषसि बुध्यते इति, उषस् + √बुध् + क (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः)।

मुकुलितम्—मुकुलं करोति मुकुलयति (नामधातु) 'तत्करोति तदाचष्टे' इति

आश्चर्य है ! अत्यन्त भीषण वज्रखण्ड के चटखने के समान तीक्ष्ण ध्वनि वाले अग्निकणों से महान् तथा अत्यन्त ऊँची, संकुल और अत्यन्त ग्रसती हुई प्रदीप्त लपटों के समूह से भीषण भगवान् अग्नि का सर्वतः प्रसार हो ही चुका है और सब ओर उनका सन्ताप प्रचण्ड है, अतः प्रिया को अंग से ढँककर दूर हट जाता हूँ। (वैसा करता है)।

विद्याधरी—सौभाग्य से निर्मल मोती के समान शीतल, स्नेह युक्त, कोमल तथा दृढ़, स्वामी

उषर्बुधः—उषसि बुध्यते इति उषर्बुधः; अग्निहोत्री लोग उषःकाल में अग्नि को जगाते हैं अर्थात् प्रदीप्त करते हैं, अतः उसे 'उषर्बुध' कहते हैं।

विद्याधरः—अयि ! किमत्र मया कृतम् ? अथवा—

न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ ५ ॥

विद्याधरी—कहं अविरलविलोलघुण्णमाणविज्जुल्लदाविलासमंडिदेहिं मत्तमोरकंठसामलेहिं ओत्थरी अदि णहत्थलं जलहरेहिं । [कथमविरलविलोलघूर्णमानविद्युल्लताविलासमण्डितैर्मत्तमयूरकण्ठश्यामलैरवस्तीर्यते नभस्तलं जलधरैः ।]

तानीव शीतलः, स्निग्धः = स्नेहयुक्तः, मसृणः = कोमलः, मांसलः = पुष्टः, तेन । नाथदेहस्पर्शेन—नाथः = स्वामी, विद्याधर इत्यर्थः, तस्य देहस्पर्शेन । आनन्दमन्दमुकुलितघूर्णमानलोचनायाः—आनन्देन मन्दम् = ईषत्, यथा तथा मुकुलिते = निमीलिते, घूर्णमाने = परिभ्राम्यती, लोचने यस्याः तथाविधायाः । मे = मम, विद्याधर्या इत्यर्थः । अल्पोदितः = किञ्चिदुत्पन्नः । सन्तापः = अग्निस्पर्शजन्यो दाहः । अन्तरितः = तिरोहितः ।

अयम्भावः—भाग्येन विमलमौक्तिकवच्छीतलेन, स्नेहयुक्तेन कोमलेन मांसलेन च भवच्छरीरस्पर्शेन आनन्दवशात् ईषन्निमीलिते घूर्णमाने लोचने यस्यास्तथाविधाया मे अग्निज्वालास्पर्शजन्यो दाहः किञ्चित्प्रकटित एव तिरोहितः । अग्निज्वालास्पर्शजनितो दाहः शीतलेन कान्तशरीरस्पर्शेण सद्य एव शान्तः इति भावः ।

तादृशीं स्वप्रियाया मधुरोक्तिमाकर्ण्य **विद्याधरः** प्राह—**अयि किमिति** । अयि प्रिये ! मयाऽत्र न किमपि कृतम्, अपितु स्वभावसिद्धमेवैतत्—**न किञ्चिदपीति** । श्लोकोऽयं द्वितीयाङ्के एकोनविंश (१९) सङ्ख्याङ्को व्याख्यातपूर्वः, तत्रैव द्रष्टव्यः ॥ ५ ॥

मेघैर्व्याप्तमाकाशमालोक्य साश्चर्यं **विद्याधरी** प्राह—**कथमिति** । कथमिति आश्चर्ये । अविरलविलोल०—अविरलं = निरन्तरम्, विलोलाः = चञ्चलाः, घूर्णमानाः = भ्रमन्त्यः, याः विद्युल्लताः = तडिद्वल्ल्यः, तासां विलासः = स्फुरणम्, तेन मण्डितैः = अलङ्कृतैः, 'मांसलैः' इति पाठे—पुष्टैरित्यर्थः । मत्तमयूरकण्ठश्यामलैः—मत्ता ये मयूरास्तेषां

णिच्, ततः क्तः (कर्मणि) । घूर्णमानः—√घूर्ण (भ्रमणे) + शानच् । अन्तरितः—अन्तरं करोति अन्तरयति (नामधातु) = तिरोहितं करोति; ततः कर्मणि क्तः । सन्तापः—सम् + √तप् + घञ् ।

के शरीर के स्पर्श से आनन्द के कारण कुछ-कुछ मुँदे हुए और चकराते हुए नेत्रों वाली मेरा अल्प प्रकटित ही सन्ताप दूर हो गया ।

विद्याधर—अरी प्रिये ! इसमें मैंने क्या किया । अथवा—

जो जिसका प्रियजन होता है, वह उसका अनिर्वचनीय द्रव्य होता है । (वह) कुछ भी न करता हुआ (अपने सान्निध्य मात्र से जनित) सुखों से दुःखों को दूर करता है ॥ ५ ॥

विद्याधरी—क्यों ! निरन्तर चञ्चल और घुमड़ती हुई बिजलियों के चमकने से अलंकृत तथा मदयुक्त मयूरों के कण्ठों के समान नीलवर्ण मेघों से आकाश व्याप्त किया जा रहा है ।

आनन्दसन्दलितघूर्णमानवेदनायाः (पाठा०)—आनन्देन सन्दलिता विनाशिता घूर्णमाना प्रसरन्ती वेदना अग्निज्वालास्पर्शजनिता पीडा यस्यास्तथाविधायाः । आनन्द के कारण विनष्ट हो गयी फैलती वेदना जिसकी, उस (विद्याधरी) का ।

विद्याधरः—हन्त ! कुमारलवप्रयुक्तवारुणास्त्रप्रभावः खल्वेषः । कथम-विरलप्रवृत्तवारिधारासहस्रसम्पातैः प्रशान्तमेव पावकास्त्रम् ।

विद्याधरी—पिअं मे पिअं मे । [प्रियं मे प्रियं मे ।]

विद्याधरः—हन्त हन्त भोः ! सर्वमतिमात्रं दोषाय । यत्प्रलयवातावलिक्षोभ-गम्भीरगुलुगुलायमानमेघमेदुरान्धकारनीरन्ध्रनद्धमिव एकवारविश्वग्रसनविकट-

---

कण्ठा इव (इत्युपमा) श्यामलाः = नीलवर्णाः, तैः । जलधरैः = मेघैः । नभस्तलम् = आकाशम् । अवस्तीर्यते = आच्छाद्यते ।

अयम्भावः—कथं निरन्तरं चञ्चलानां भ्रमन्तीनां च विद्युल्लतानां स्फुरणेना-लङ्कृतैर्मत्तमयूरकण्ठवन्नीलैर्मेघैराकाशं व्याप्यते ।

विद्याधरः समाधत्ते—हन्तेति । हन्तेति हर्षे । कुमारलवप्रयुक्त०—कुमारेण लवेन प्रयुक्तस्य=आग्नेयास्त्रप्रशमनार्थं प्रेरितस्य, वारुणास्त्रस्य = वरुणदैवतास्त्रस्य । प्रभावः = सामर्थ्यम् । अविरलप्रवृत्त०—अविरलं = निरन्तरम्, प्रवृत्तानि = प्रसृतानि, वारि-धारासहस्राणि = असङ्ख्येयजलधाराः, तेषां सम्पातैः = प्रपतनैः, वृष्टिभिरित्यर्थः । प्रशान्तम् = निर्वापितम् ।

अयम्भावः—हर्षस्यायं विषयः, कुमारलवेनाग्नेयास्त्रप्रशमनार्थं वारुणास्त्रं प्रयुक्तं, तस्यैवायं प्रभावः । कथं निरन्तरं प्रवृत्तानामसङ्ख्येयजलधाराणां वृष्टिभिराग्नेयास्त्रं प्रशान्तमेव ।

एतच्छ्रुत्वा प्रसन्ना **विद्याधरी** प्राह—**प्रियमिति** । प्रियं मे प्रियं मे=इदमाग्नेयास्त्र-प्रशमनं मे समधिकप्रीतिकरम् । हर्षद्योतिकेयं द्विरुक्तिः ।

लवप्रयुक्तस्य वारुणास्त्रस्य प्रतीकाराय चन्द्रकेतुना वायव्यास्त्रं प्रयुक्तम् । तत्प्रभावं विलोक्य विषण्णो **विद्याधरः** प्राह—**हन्तेति** । हन्तेति विषादे (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः) । अतिमात्रम् = मात्रां परिमाणमतिक्रान्तम् । दोषाय = दूषणाय । यत् = यस्माद्धेतोः । प्रलयवाता०—प्रलये = कल्पान्ते, या वातावलिः=वायुसमूहः, तस्य क्षोभेण=प्रतिघातेने-त्यर्थः, गम्भीराः = अनल्पाः, गुलुगुलायमानाः = 'गुलुगुलु' इत्यव्यक्तध्वनिं कुर्वाणाः, ये

प्रशान्तम्—प्र + √शम् + णिच् + क्त (कर्मणि); विकल्प से 'प्रशमितम्' भी ।

अतिमात्रम्—अतिक्रान्तं मात्रामिति, प्रादिसमास । **गुलगुलायमानः**—'गुलु' इति शब्दं करोति, गुलु + डाच्, द्वित्व, डित्वात् टिलोपः + क्यष् 'गुलुगुलाय' (नामधातु) ततः शानच् । **मेदुरः**—√मिद् (स्नेहने) + घुरच् (भञ्जभासमिदो घुरच्) ।

विद्याधर—हर्ष है, कुमार लव के द्वारा प्रयुक्त वारुणास्त्र का ही यह प्रभाव है । क्यों ! निरन्तर प्रवृत्त सहस्रों जलधाराओं की वर्षा से आग्नेयास्त्र प्रशान्त ही हो गया ।

विद्याधरी—मुझे प्रिय है, मुझे प्रिय है ।

विद्याधर—हाय हाय ! अरे ! मात्रा से अधिक सब कुछ दोष के लिए होता है । जो प्रलय-कालीन वायुसमूह के प्रतिघात से महान् 'गुलगुल' ऐसा शब्द करते हुए मेघों से घनीभूत अन्धकार

अतिमात्रं दोषाय—तुलना कीजिए—'अति सर्वत्र वर्जयेत्' ।

विकरालकालमुखकन्दरविवर्तमानमिव युगान्तयोगनिद्रानिरुद्धसर्वद्वारनारायणोदरनिविष्टमिव भूतजातं प्रवेपते । साधु चन्द्रकेतो ! साधु । स्थाने वायव्यमस्त्रमीरितम् । यतः—

विद्याकल्पेन मरुता मेघानां भूयसामपि ।
ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि विप्रलयः कृतः ॥ ६ ॥

मेघाः, तैः मेदुरः = सान्द्रस्निग्धः ('सान्द्रस्निग्धस्तु मेदुरः' इत्यमरः), यः अन्धकारः, तेन नीरन्ध्रम् = निबिडं, यथा तथा नद्धमिव = बद्धमिव, आवृतमिवेत्यर्थः । एकवारविश्व०—एकवारम् = एकक्षणं यथा तथा, विश्वस्य = जगतः, ग्रसनम् = कवलनम्, तस्मै विकटम् = विस्तृतम्, 'विकचे'ति पाठे विकचम् = स्फुटम्, व्यात्तमित्यर्थः, विकरालम् = विशेषेण भीषणम्, यत् कालमुखम् = मृत्युवक्त्रम्, तत् कन्दरम् = दरी इव (उपमितसमासः), तस्मिन् विवर्तमानमिव = विचेष्टमानमिव । युगान्तयोगनिद्रा०—युगान्ते = प्रलये, योगनिद्रया = ध्यानात्मकस्वापेन, निरुद्धानि = संवृतानि, सर्वाणि द्वाराणि = मुखादिरन्ध्राणि, यस्य तथाविधस्य नारायणस्य = विष्णोः, उदरे = जठरे, निविष्टमिव = स्थितमिव । भूतजातम् = प्राणिसमूहः । प्रवेपते = प्रकम्पते, 'विपद्यते' इति पाठे—विपदं प्राप्नोतीत्यर्थः । साधु = समीचीनम् । वायव्यम् = वायुदैवतम् । ईरितम् = प्रयुक्तम् । स्थाने = युक्तम् ('युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः) ।

अयम्भावः—सर्वमतिमात्रं दोषस्य कारणं भवति, यतः प्रलयकाले वायुसमूहस्य प्रतिघातेन 'गुलु-गुलु' इत्यव्यक्तध्वनियुक्तैर्मेघैः सान्द्रस्निग्धो योऽन्धकारस्तेन निबिडं यथा तथाऽऽवृतमिव, सकृदेव जगत्कवलनाय विस्तृते विशेषेण भीषणे च मृत्युमुखकन्दरे विचेष्टमानमिव, योगनिद्रया संवृतानि मुखादीनि रन्ध्राणि यस्य तथाविधस्य नारायणस्योदरे निविष्टमिव सकलं चराचरात्मकं जगत् प्रकम्पते । साधु चन्द्रकेतो ! साधु । त्वया यद् वायव्यास्त्रं प्रयुक्तं तदुचितमेव ।

नद्धम्—√नह् + क्त (कर्मणि) । वायव्यम्—वायुर्देवताऽस्येति, वायु शब्द से 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' इति यत्—वायु + य—'ओर्गुणः' सूत्र से 'उ' को गुण 'ओ', 'वान्तो यि प्रत्यये' सूत्र से 'ओ' को अव्—वायव्यम् ।

से निबिड भाव से मानों बँधा हुआ, एक बार में ही निगलने के लिए विस्तृत अत्यन्त भीषण कालमुख की गुहा में मानों चक्कर काटता हुआ, प्रलयकालीन योगनिद्रा से निरुद्ध हैं (अङ्ग के) सभी द्वार (मुखादि) जिसके, ऐसे नारायण के उदर में मानों प्रविष्ट सकल प्राणिसमूह अत्यन्त काँप रहा है । वाह चन्द्रकेतु वाह ! तुमने जो वायव्य अस्त्र का प्रयोग किया वह उचित ही है । क्योंकि—

विद्या के सदृश वायु ने बहुतर भी मेघों का, ब्रह्म में विवर्तों (अतात्त्विक नामरूपात्मक पदार्थों) की तरह कहीं लय कर दिया है ॥ ६ ॥

युगान्तयोगनिद्रा०—तुलना कीजिए—

'यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥' (मनु० १।५२)

'अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते ।' (रघु० १३।६) ।

विद्याधरी—णाध ! को दाणिं एसो ससंभमुक्खित्तकरब्भमिदोत्तरिआंचलो दूरदो एव्व महुरसिणिद्धवअणपडिसिद्धजुद्धव्वावारो एदाणं कुमाराणं अंदरे विमाणवरं ओदारावेदि। [नाथ ! क इदानीमेष ससम्भ्रमोत्क्षिप्तकरभ्रमितोत्तरीयाञ्चलो दूरत एव मधुरस्निग्धवचनप्रतिषिद्धयुद्धव्यापार एतयोः कुमारयोरन्तरे विमानवरमवतारयति।]

अन्वयः—विद्याकल्पेन मरुता भूयसामपि मेघानां विवर्तानां ब्रह्मणीव क्वापि विप्रलयः कृतः ॥ ६ ॥

वायव्यास्त्रप्रयोगस्य युक्तत्वं साधयितुं विद्याधरः प्राह—**विद्याकल्पेनेति**। विद्याकल्पेन = आत्मज्ञानसदृशेन, मरुता = वायुना। भूयसामपि = बहुतराणामपि। मेघानां घनानाम्। विवर्त्तानां = नामरूपात्मकदृश्यपदार्थानाम्। ब्रह्मणि इव = निर्विशेषे कूटस्थे चैतन्ये इव। क्वापि = कुत्रापि प्रदेशे। विप्रलयः = ध्वंसः निवृत्तिर्वा। कृतः = विहितः।

अयम्भावः—यथात्मज्ञानेनातात्त्विकानां सकलनामरूपादिप्रपञ्चानां ब्रह्मणि लयो भवति, तथैव तव (चन्द्रकेतोः) प्रयुक्तवायव्यास्त्रजनितेन वायुना लवप्रयुक्तवारुणास्त्रजनितानां बहुतराणामप्यतात्त्विकानां मेघानां कुत्रचिदलक्षितप्रदेशे प्रविलयः सञ्जातः। उपमाऽलङ्कारः ॥ ६ ॥

उभयोः कुमारयोर्मध्ये नभोमण्डलादवतारयन्तं विमानं राममवलोक्य **विद्याधरी** स्वपतिं पृच्छति—**नाथेति**। ससम्भ्रमोत्क्षिप्त०—ससम्भ्रमम् = सत्वरं यथा तथा उत्क्षिप्तः = ऊर्ध्वं प्रेरितः, यः करः = हस्तः, तेन भ्रमितः = घूर्णितः, उत्तरीयस्य = प्रावारस्य, अञ्चलः = प्रान्तः, येन स तथोक्तः। मधुरस्निग्ध०—मधुरेण, स्निग्धेन = स्नेहयुक्तेन च वचनेन, प्रतिषिद्धः = निषिद्धः, युद्धव्यापारः = युद्धक्रिया, येन स तथोक्तः। अन्तरे = मध्ये। शम्बूकवधात् = शम्बूकवधं कृत्वा (ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी)।

विद्याकल्पेन—विद्या शब्द से 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इति कल्पप्। भूयसाम्—बहु + ईयसुन्। विप्रलयः—वि + प्र + √ली + अच्।

प्रतिषिद्धः—प्रति + √सिध् + क्त (कर्मणि), 'उपसर्गात्सुनोति०' (८।३।६५) के अनुसार षत्व।

विद्याधरी—स्वामिन् ! यह कौन अभी शीघ्रतापूर्वक ऊपर उठाये हुए हाथ से उत्तरीय वस्त्र का छोर घुमा कर दूर से ही मधुर एवं स्निग्ध वचन से युद्ध-व्यापार को रोकने वाला इन दोनों कुमारों के बीच में श्रेष्ठ विमान को उतार रहा है ?

विद्या—'विद्या' का अर्थ यहाँ ब्रह्मविद्या अथवा आत्मज्ञान है, क्योंकि इसका प्रयोग 'ब्रह्म' के साथ हुआ है।

विवर्त—यह शास्त्रीय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह वेदान्तियों का एक प्रिय सिद्धान्त है, जिसके अनुसार यह संसार मिथ्या है और ब्रह्म ही वास्तविक है। जैसे कि साँप रस्सी का विवर्त है, उसी प्रकार यह संसार ब्रह्म का विवर्त है। यह माया या भ्रान्ति आत्मज्ञान अथवा विद्या से ही दूर होती है।

विद्याधरः—(दृष्ट्वा) एष शम्बूकवधात् प्रतिनिवृत्तो रघुपतिः ।

शान्तं महापुरुषसङ्गदितं निशम्य
तद्गौरवात् समुपसंहृतसम्प्रहारः ।
शान्तो लवः प्रणत एव च चन्द्रकेतुः
कल्याणमस्तु सुतसङ्गमनेन राज्ञः ॥ ७ ॥

तदितस्तावदेहि । (इति निष्क्रान्तौ)

मिश्रविष्कम्भकः ।

अयम्भावः—हे स्वामिन् ! क एष इदानीं सत्वरमूर्ध्वं प्रेरितेन हस्तेनोत्तरीयाञ्चलं घूर्णयन् मधुरेण स्नेहपूर्णेन वचनेन च युद्धव्यापारं निवारयन् पुरतःस्थितयोः कुमारयोर्मध्ये श्रेष्ठविमानमवतारयति ?

विद्याधरः कथयति—एष इति । एषः=महाराजः, रघुपतिः=रामः, शम्बूकवधं कृत्वा प्रतिनिवृत्तः=प्रत्यागतः ।

अन्वयः—शान्तं महापुरुषसङ्गदितं निशम्य तद्गौरवात् समुपसंहृतसम्प्रहारः लवः शान्तः, चन्द्रकेतुश्च प्रणत एव, सुतसङ्गमनेन राज्ञः कल्याणमस्तु ॥ ६ ॥

शान्तमिति । शान्तम्=कार्कश्यरहितम् । महापुरुषसङ्गदितम्—महापुरुषेण=रामेणेत्यर्थः, सङ्गदितम्=समुच्चारितम् (वचनम्), निशम्य=श्रुत्वा । तद्गौरवात्—तस्य=रामस्य, गौरवात्=गुरुत्वाद्धेतोः । समुपसंहृतसम्प्रहारः—समुपसंहृतः=सम्यक्तया निवृत्तः, सम्प्रहारः=युद्धं, येन सं तथोक्तः । शान्तः=शान्तिं प्राप्तः । प्रणतः=कृतप्रणामः । सुतसङ्गमनेन—सुतयोः=कुशलवयोः, सङ्गमनेन=समागमेन । राज्ञः=रामस्य ।

शम्बूकवधात्—शम्बूकवधं विधाय इत्यर्थः, 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इति पञ्चमी । सङ्गदितम्—सम्+√गद (व्यक्तायां वाचि)+क्त (नपुंसके भावे) । समुपसंहृतः—सम्+उप+सम्+√हृ+क्त (कर्मणि) । सम्प्रहारः—सम्+प्र+√हृ+घञ् । प्रणतः—प्र+√नम्+क्त (कर्तरि) 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) इति णत्वम् । सङ्गमनम्—सम्+√गम्+ल्युट् (भावे) ।

विद्याधर—(देखकर) ये शम्बूक का वध करके लौटे हुए रघुपति रामचन्द्र हैं ।

(इन) महापुरुष के वचन को सुनकर, उसके प्रति अत्यधिक आदर होने से लव युद्ध बन्द कर शान्त हो गया है और चन्द्रकेतु (राम-चरणों पर) झुक ही गया है । पुत्रों के समागम से राजा (राम) का कल्याण हो । तो इधर आओ ।

(दोनों चले जाते हैं) ।

मिश्रविष्कम्भक समाप्त ।

सुतसंगमनेन—देवयोनि होने के कारण कुश और लव को राम के पुत्रों के रूप में पहले से ही जानने से विद्याधर ने उनके लिए 'सुत' शब्द का प्रयोग किया है ।

इस श्लोक में लव और चन्द्रकेतु के उग्रभाव का प्रशमन रामविषयक रतिभाव के अङ्गरूप में उपनिबद्ध हुआ है, अतः समाहित अलंकार है । वसन्ततिलका वृत्त है ।

(ततः प्रविशति रामो लवः प्रणतश्चन्द्रकेतुश्च)

रामः—(पुष्पकादवतरन्)

दिनकरकुलचन्द्र चन्द्रकेतो ! सरभसमेहि दृढं परिष्वजस्व।
तुहिनशकलशीतलैस्तवाङ्गैः शममुपयातु ममापि चित्तदाहः ॥ ८॥

अयम्भावः—महापुरुषस्य रामस्य शान्तं वचनं निशम्य शान्तिं गच्छता लवेन तस्मिन् महापुरुषे आदरातिशयाद्धेतोर्युद्धं सन्त्यक्तम्, चन्द्रकेतुश्च प्रणत एव। कुशलवयोः समागमेन राज्ञो रामस्य कल्याणमस्तु (आशिषि लोट्)। रामः स्वपुत्रं लवं परिचिनोतु इति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयः—दिनकरकुलचन्द्र ! चन्द्रकेतो ! सरभसम् एहि, दृढं परिष्वजस्व, तुहिनशकलशीतलैः तव अङ्गैः मम चित्तदाहः अपि शमम् उपयातु ॥ ८ ॥

पुष्पकादवतरन् रामश्चन्द्रकेतुं प्रत्याह—दिनकरेति। दिनकरकुलचन्द्र—दिनकरकुलस्य=सूर्यवंशस्य, चन्द्र=चन्द्रसदृशाह्लादक ! सरभसम्=सवेगम्। एहि=आगच्छ। दृढम्=गाढं यथा तथा। परिष्वजस्व=आलिङ्ग (माम्)। तुहिनशकलशीतलैः—तुहिनस्य=हिमस्य, शकलैरिव=खण्डैरिव, शीतलैः। अङ्गैः=शरीरावयवैः। मम=रामस्य। चित्तदाहोऽपि=मनस्तापोऽपि। शमम्=शान्तिम्। उपयातु=प्राप्नोतु।

हे सूर्यकुलस्य चन्द्रतुल्याह्लादक ! चन्द्रकेतो ! सत्वरमागत्य मां गाढमालिङ्ग, येन हिमस्य खण्डैरिव शीतलैस्तव शरीरावयवैर्मम मनस्तापोऽपि (शरीरदाहमात्रस्य का कथेति भावः) शान्तिमुपैतु। उपमालङ्कारः। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ८ ॥

चन्द्रः—चन्दयति आह्लादयतीति चन्द्रः, √चन्द् (आह्लादे)+णिच्+रक्।

(तदनन्तर राम, लव और प्रणत चन्द्रकेतु प्रवेश करते हैं)

राम—(पुष्पक विमान से उतरते हुए)

हे सूर्यवंश के चन्द्र (आह्लादक) चन्द्रकेतु ! शीघ्र आओ, प्रगाढ आलिङ्गन करो। तुम्हारे हिमखण्ड के समान (अत्यन्त) शीतल अङ्गों से मेरा मनःसन्ताप भी दूर हो ॥ ८ ॥

मिश्रविष्कम्भक—बीते हुए संग्राम की तथा भावी पुत्र-मिलन की इससे सूचना मिलती है तथा मध्यम और नीच पात्रों के द्वारा क्रमशः संस्कृत और प्राकृत भाषा का प्रयोग होने से 'मिश्र' विष्कम्भक है।

सन्तानराहित्य के कारण राम को निरन्तर मनस्ताप सन्तप्त किया करता था। वे चन्द्रकेतु को ही अपनी सन्तान समझते थे; अतः चन्द्रकेतु के अङ्गों से श्रीराम का चित्तदाह मिटना उचित ही है।

०चन्द्रचन्द्रकेतो—'चन्द्र चन्द्र' यहाँ चन्द्र शब्द की आवृत्ति है, किन्तु अर्थ में भेद नहीं है अतः 'यमक अलङ्कार' नहीं 'लाटानुप्रास' है।

चित्तदाहोऽपि शमम् उपयातु—यहाँ उपमान चन्द्र से उपमेय चन्द्रकेतु का उत्कर्ष सूचित किया गया है, क्योंकि उपमानभूत चन्द्र शरीरमात्र का सन्ताप हरता है, किन्तु उपमेयभूत चन्द्रकेतु चित्त और शरीर दोनों के दाह का प्रशामक है, अतः व्यतिरेक अलङ्कार है। सूर्य के वंश में चन्द्रोदय होना वास्तव में कारण के बिना भी कार्य की उत्पत्ति है; अतः 'विभावना' अलङ्कार है। व्यतिरेक और विभावना का अङ्गाङ्गिभाव होने से सङ्कर है।

(उत्थाप्य सस्नेहास्रं परिष्वज्य) अपि नाम कुशलं तव दिव्यास्त्रधरदेहस्य ?

चन्द्रकेतुः—कुशलमत्यद्भुतक्रियस्य प्रियदर्शनस्य लवस्य लाभाभ्युदयेन। तद्विज्ञापयामि मामिव विशेषेण वा मत्तः स्निग्धेन चक्षुषा पश्यत्वमुं महावीर-प्रकाण्डं तातः।

रामः—(लवं निरूप्य) दिष्टया अतिगम्भीरमधुरकल्याणाकृतिरयं वयस्यो वत्सस्य।

रामश्चन्द्रकेतुमुत्थाप्य सस्नेहास्रं=स्नेहाश्रुसहितं, परिष्वज्य=आलिङ्ग्य, प्राह—**अपि नामेति**। अपीति प्रश्ने, नामेति सम्भावनायाम्। दिव्यास्त्रधरदेहस्य—दिव्यास्त्राणां धरः=धारकः, देहो यस्य तस्य=दिव्यास्त्रधारकशरीरस्य, तव कुशलमस्ति ?

चन्द्रकेतुः कथयति—**कुशलमिति**। अत्यद्भुतक्रियस्य—अत्यद्भुताः=अतीव-विस्मयकारिण्यः, क्रियाः=युद्धव्यापारः, यस्य तथाविधस्य। प्रियदर्शनस्य—प्रियं दर्शनं यस्य तस्य, सौम्याकृतेरित्यर्थः। लाभाभ्युदयेन—लाभः=प्राप्तिरेव, अभ्युदयः=सौभाग्यम्, तेन। मत्तः विशेषेण=मदपेक्षया अधिकेन। महावीरप्रकाण्डम्=महा-वीरश्रेष्ठम्। 'वीरमनरालसाहसम्' इति पाठे—अनरालम्=अकुटिलं, साहसम्=दुष्करं कर्म, यस्य तथाविधं वीरमित्यर्थः।

अयम्भावः—अत्यद्भुतयुद्धकर्त्तुः सौम्याकृतेर्लवस्य प्राप्तिसौभाग्येन विशेषतया कुशलमस्ति। तत्प्रार्थये—मामिव मदपेक्षयाप्यधिकेन वा स्नेहयुक्तेन नेत्रेण अमुं पुरः-स्थितं प्रकाण्डं महावीरं भवान् पश्यतु।

लवं विलोक्य **रामः** प्राह—**दिष्टयेति**। दिष्टया=सौभाग्येन, अतिगम्भीरमधुर-कल्याणाकृतिः—अतिगम्भीरा=गाम्भीर्ययुक्ता, अक्षोभणीयेति यावत्, मधुरा=सौन्दर्य-युक्ता, कल्याणी=सुलक्षणा, आकृतिः=आकारः, यस्य तथाविधः। वत्सस्य=चन्द्र-केतोरित्यर्थः।

अभ्युदयः—अभि+उद्+√ इ (गतौ)+अच् ('एरच्' ३।३।५६)। वयस्यः—वयसा तुल्यः, 'नौवयोधर्म०' (४।४।९१) के अनुसार यत्, वयस्+यत्=वयस्यः।

(उठाकर, स्नेहपूर्ण अश्रु के साथ आलिङ्गन करके) दिव्यास्त्र धारण करने वाला शरीर है जिसका, ऐसे तुम्हारी कुशल तो है ?

चन्द्रकेतु—अत्यन्त अद्भुत-कर्म वाले सौम्याकृति लव की प्राप्ति रूप सौभाग्य से कुशल है। अतः निवेदन करता हूँ कि जैसे मुझको, अथवा मुझसे भी अधिक, स्नेहपूर्ण दृष्टि से इस श्रेष्ठ महावीर को तात देखें।

राम—**(लव को देखकर)** भाग्य से वत्स (चन्द्रकेतु) का मित्र अत्यन्त गम्भीर, मनोहर तथा शुभलक्षणोपेत आकृति का है।

महावीरप्रकाण्डम्—प्रकाण्डं चासौ महावीरश्चेति महावीरप्रकाण्डम्। प्रकाण्ड शब्द रूढ्या प्रशंसावाचक है। 'मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ। प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यमरः। यहाँ यह अवधेय है कि ये सब प्रशंसावाचक शब्द नियतलिङ्ग हैं, विशेष्य के अधीन नहा हैं।

त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोषस्य गुप्त्यै ।
सामर्थ्यानामिव समुदयः सञ्चयो वा गुणाना-
माविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः ॥ ९ ॥

अयम्भावः—सौभाग्येन वत्सस्य (तव चन्द्रकेतोः) अयं वयस्यः, अतिगम्भीरा मधुरा सुलक्षणा आकृतिर्यस्य तथाविधोऽस्ति । दृष्ट्वैनं नितरां प्रसन्नो विस्मितश्चास्मीति भावः ।

अन्वयः—लोकान् त्रातुं परिणतः कायवान् अस्त्रवेद इव, ब्रह्मकोषस्य गुप्त्यै तनुं श्रितः क्षात्रः धर्म इव, सामर्थ्यानां समुदय इव, गुणानां सञ्चयः वा, जगत्पुण्यनिर्माणराशिः आविर्भूय स्थित इव अयं वत्सस्य वत्स इति पूर्ववाक्यांशेनान्वयः ॥ ९ ॥

लवं विलोक्य राम उत्प्रेक्षते—त्रातुमिति । लोकान्=भुवनानि । त्रातुम्=रक्षितुम् । परिणतः=परिणामं गतः, नररूपं गत इत्यर्थः । कायवान्=मूर्तिमान् । अस्त्रवेदः=धनुर्वेदः । ब्रह्मकोषस्य—ब्रह्म=वेदः, तदेव कोषः=निधिः, तस्य । गुप्त्यै=रक्षायै । तनुम्=शरीरम् । श्रितः=आश्रितः । क्षात्रः धर्मः=शौर्यादिः क्षत्रियधर्मः । सामर्थ्यानाम्=शक्तीनाम् । समुदयः=समूहः । गुणानाम्=धैर्यादीनाम् । सञ्चयो वा=राशिरिव ('इववत् वा यथाशब्दौ') । जगत्पुण्यनिर्माणराशिः—जगताम्=लोकानाम्, पुण्यनिर्माणानाम्=पुण्यकर्मफलानामित्यर्थः, राशिः=पुञ्जः । आविर्भूय प्रत्यक्षीभूय । स्थित इव=विद्यमान इव ।

अयम्भावः—अयं वत्सस्य वयस्यो लोकरक्षणाय शरीरधारी धनुर्वेद इव प्रतीयते,

---

त्रातुम्—√त्रै (रक्षणे)+तुमुन्, आत्व (आदेच उपदेशेऽशिति) । परिणतः-परि+√नम्+क्त (कर्तरि) । गुप्त्यै—√गुप् (रक्षणे)+क्तिन् (स्त्रियां भावे), 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । सामर्थ्यानाम्—समर्थस्य भावः सामर्थ्यम्, समर्थ+ष्यञ् । समुदयः—सम्+उद्+√इ+अच् (उदय होना, उगना, संग्रह, समुच्चय) । सञ्चयः—सम्+√चि (चयने)+अच् । आविर्भूय—आविस्+√भू+ल्यप् । निर्माणम्—निर्+√मा+ल्युट् ।

भुवनों की रक्षा के लिए मानों धनुर्वेद ही मूर्तिमान् हो गया है, वेदरूप निधि की रक्षा के लिए मानों क्षात्रधर्म ने ही शरीर का आश्रय कर लिया है, मानों सामर्थ्यों का ही उदय हो गया है, मानों गुणों का सञ्चय ही है अथवा जगत् के अनुष्ठित पुण्यकर्मों के फलों का पुञ्ज ही मानों प्रकट होकर स्थित है ॥ ९ ॥

'महावीर' जाति वाचक शब्द का प्रशंसा वाचक 'प्रकाण्ड' शब्द के साथ 'प्रशंसावचनैश्च' (२।१।६६) से समास होने के कारण उपसर्जनत्वात् 'महावीर' शब्द का पूर्वनिपात हो गया (उपसर्जनं पूर्वम्) ।

ब्रह्मकोष—ब्रह्म कहते हैं वेद को, 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' इत्यमरः । राजा का धर्म है कि श्रुतिप्रतिपादित आचार एवं वर्णाश्रमधर्म-व्यवस्था की रक्षा करे ।

यह श्लोक 'महावीरचरित' (२।४१) में भी आया है ।

लवः--(स्वगतम्) अहो ! पुण्यानुभावदर्शनोऽयं महापुरुषः—

आश्वासस्नेहभक्तीनामेकमालम्बनं महत् ।
प्रकृष्टस्येव धर्मस्य प्रसादो मूर्तिसञ्चरः ॥ १० ॥

अथवा वेदसमुदायस्य रक्षणाय मूर्तिमान् क्षात्रधर्म एवायमस्ति ? किं वा शक्तीनां समुदयः ? आहोस्वित् शौर्यादिगुणानां राशिः ? अथवा लोकानां पुण्यकर्मफलानां पुञ्जः प्रत्यक्षीभूय स्थित इव । अयं कोऽपि लोकोत्तरः पुरुष इति भावः । अत्र पञ्चानामपि गुणोत्प्रेक्षाणां मिथोऽनपेक्षया संसृष्टिः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ ९ ॥

लवो रामं विलोक्य स्वगतमुत्प्रेक्षते--अहो इति । अहो ! अस्य महापुरुषस्य (पुण्यानुभावदर्शनः--पुण्ये=पवित्रे, अनुभावदर्शने=प्रभावविलोकने यस्य सः) प्रभावो दर्शनं च परमपुण्यजनकमस्ति । एतस्य दर्शनमात्रेणैव चेतसि श्रद्धाभावो जरीजागर्तीति भावः ।

अन्वयः—आश्वासस्नेहभक्तीनाम् एकं महत् आलम्बनम्, प्रकृष्टधर्मस्य मूर्तिसञ्चरः प्रसाद इव (स्थितः) ॥ १० ॥

आश्वासेति । आश्वासस्नेहभक्तीनाम्—आश्वासः = विश्वसनीयता, स्नेहः, भक्तिश्च इति आश्वासस्नेहभक्तयः, तासाम् । एकम् = अद्वितीयम् । आलम्बनम् = विषयभूतः । मूर्तिसञ्चरः—मूर्त्या = शरीरेण, सञ्चरते = विहरति इति मूर्तिसञ्चरः, शरीरवान् इत्यर्थः । प्रसाद इव=प्रसन्नभाव इव ।

अयम्भावः—अयं महानुभावः विश्वसनीयतायाः, स्नेहस्य, भक्तेश्चाद्वितीयं महत्

आश्वासः—आ + √श्वस् + घञ् । आलम्बनम्—आ + √लम्ब् + ल्युट् ('कृत्यल्युटो बहुलम्' इति कर्मणि ल्युट्) । प्रसादः—प्र + √सद् + घञ् । मूर्तिसञ्चरः—मूर्त्या सञ्चरते इति; सम् + √चर् + अच्, 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति तृतीयासमासः ।

लव—(स्वगत) अहो ! ये महापुरुष पवित्र प्रभाव तथा दर्शन वाले हैं ।

ये विश्वसनीयता, स्नेह तथा भक्ति के अद्वितीय महान् आलम्बन हैं तथा मानों उत्कृष्ट धर्म का शरीर से सञ्चरणशील प्रसाद हैं (अर्थात् इन महापुरुष के रूप में मानों धर्म स्वयं शरीर धारण कर सञ्चरण कर रहा है) ॥ १० ॥

आश्वासस्नेहभक्तीनामेकमालम्बनं महत्—भाव यह है कि राम के द्वारा सभी लोग अपनी रक्षा के विषय में आश्वस्त हैं, अतएव सभी के हृदय में राम के प्रति स्नेह तथा भक्ति है ।

आश्वास इव भक्तीनाम् (पाठा०)—भक्तीनां स्नेहपूर्वानुध्यानानाम् आश्वास इव स्थितः । दुःखविस्मरणपूर्वकाह्लाद इव स्थितः । भक्तयोऽन्यत्र हि क्रियमाणा विषयदोषेण दुःखयन्ति, तासां रामे क्रियमाणानां विषयसौष्ठवेनाह्लादो जायते । (वीरराघव) ।

प्रसादो मूर्त्तिसञ्चरः—प्रसाद का अर्थ प्रसन्नता अथवा अनुग्रह है । लोगों के धर्माचरण से प्रसन्न धर्म का प्रसन्न भाव अथवा अनुग्रह राम के रूप में शरीर-धारण कर प्रकट हुआ है । भाव यह है कि राम का दर्शन होते ही ऐसा प्रतीत होता है कि मानों साक्षात् धर्म ही आ गया है । 'रामो विग्रहवान् धर्मः' यह उक्ति प्रसिद्ध ही है ।

आश्चर्यम् !

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघन-
स्तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति, विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि, यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥ ११ ॥

आलम्बनमस्ति, अपि च प्रकृष्टस्य धर्मस्य शरीरवान् प्रसाद इव स्थितः । महानुभावेऽस्मिन् धर्मो मूर्तिमान् सन् सञ्चरतीति भावः । अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ॥ १० ॥

अन्वयः—अस्मिन् दृष्टे झटिति विरोधः विश्रान्तः, निर्वृतिघनः रसः प्रसरति, तत् औद्धत्यम् क्वापि व्रजति, विनयः मां प्रह्वयति, किमपि परवान् अस्मि, यदि वा तीर्थानामिव हि महतां कोऽपि महार्घः अतिशयः ॥ ११ ॥

लवः पुनः साश्चर्यमाह—विरोध इति । अस्मिन् = रामे इत्यर्थः । विरोधः = वैरम् । विश्रान्तः = निवृत्तः । निर्वृतिघनः—निर्वृत्या = आनन्देन, घनः = सान्द्रः । रसः = अनुरागः । प्रसरति = व्याप्नोति । तत् = पुरातनम् । औद्धत्यम् = दर्पः । क्वापि = कुत्रापि । व्रजति = गच्छति, प्रलीयते इत्यर्थः । विनयः = नम्रता । मां = लवमित्यर्थः । प्रह्वयति = नमयति । किमपि = कुतोऽपि कारणात् । परवान् = पराधीनः । यदि वा = अथवा । तीर्थानामिव = पुण्यक्षेत्राणामिव । हि = निश्चयेन । महताम् = महापुरुषाणाम् । कोऽपि = अनिर्वचनीयः । महार्घः = बहुमूल्यः, अतिप्रशस्त इति यावत् । अतिशयः = उत्कर्षः ।

अयम्भावः—अस्य महापुरुषस्य दर्शनेनैव सहसा विरोधो निवृत्तः, आनन्दसान्द्रोऽनुरागो मनसि प्रसरति, तत् पूर्वं प्रवृत्तो दर्पो न जाने कुत्र विलयं गतः, विनयश्च मां नम्रतां नयति, कुतोऽपि कारणादहं पराधीनप्रायो भवामि । अथवा तात्पर्यं मन्तव्यम्, तीर्थानामिव महापुरुषाणामपि कोऽप्यतिप्रशस्तो महिमातिरेको भवति । यथा तीर्थानां, तथैव महापुरुषाणामपि दर्शनेन वीरदर्पादयो ह्रासद्भावाः प्रविलीयन्ते तत्स्थाने च विनयानुरागादयः सद्भावाः स्वयमेवोदयन्तीत्याशयः ।

निर्वृतिः—निर् + √वृ + क्तिन् । औद्धत्यम्—उद्धतस्य भावः, उद्धत + ष्यञ् । प्रह्वयति—(नामधातु—परस्मैपद) प्रह्वं करोतीति प्रह्वयति, प्रह्व + णिच् ('तत्करोति तदाचष्टे') । अतिशयः—अति + √शी + अच् ।

आश्चर्य है !

इन्हें देखते ही अकस्मात् विरोध शान्त हो गया, आनन्द से प्रगाढ अनुराग (रस) फैलने लगा है, वह उद्धतता कहीं चली गयी, विनय मुझे नम्र बना रहा है, किसी कारण से मैं परवश हो गया हूँ, अथवा तीर्थों की तरह महान् लोगों का कोई अत्यन्त मूल्यवान उत्कर्ष होता है ॥११॥

दशरूपक (१।४६) में यह पद्य अवमर्श (विमर्श) सन्धि के शक्तिनामक अङ्ग के उदाहरण रूप में उद्धृत हुआ है । 'शक्ति' की परिभाषा है—शक्तिः पुनर्भवेत् । विरोधस्य प्रशमनम् अर्थात् विरोध के शमन को 'शक्ति' कहते हैं ।

रामः—तत्किमयमेकपद एव मे दुःखविश्रामं ददात्युपस्नेहयति च कुतोऽपि निमित्तादन्तरात्मानम्। अथवा स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्षश्च इति विप्रतिषिद्धमेतत्।

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥ १२॥

अत्र महापुरुषस्य रामस्य महत्त्वप्रतिपादने विरोधोपशमरूपे कारणे सत्यपि निर्वृतिघनरसप्रसरादीनां हेत्वन्तराणामभ्युपादानात् समुच्चयालङ्कारः, तथा महत्सु च तीर्थनामवैधर्म्यसाम्योक्तेरुपमालङ्कारः; अपि च महापुरुषमहिमातिशयरूपेण सामान्येनार्थेन विरोधोपशमादिरूपस्य विशेषार्थस्य सोपपत्तिकत्वकरणादर्थान्तरन्यासालङ्कारश्च, एतेषां च परस्परमङ्गाङ्गिभावेन संस्थितेः सङ्करः। शिखरिणी वृत्तम्॥ ११॥

लवं निरीक्ष्य स्नेहार्द्रमना रामः प्राह—तत्किमिति। तत्किमित्ययं बालः एकपदे एव=सहसैव, अकस्मादेव, अव्ययपदमेतत्; मम दुःखविश्रामम्=दुःखोपशमं करोति, कुतोऽपि कारणान्ममान्तरात्मानम्=अन्तःकरणम्, उपस्नेहयति=स्नेहार्द्रं करोति च। अथवा निमित्तसव्यपेक्षः=हेतुसापेक्षः, 'स्नेहः बाह्यहेतुमपेक्षते' इति सिद्धान्तः, विप्रतिषिद्धम्=विशेषेण विरुद्धम्, नोचितः। तथा हि—

अन्वयः—आन्तरः कोऽपि हेतुः पदार्थान् व्यतिषजति, प्रीतयः बहिरुपाधीन् न संश्रयन्ते खलु। हि पतङ्गस्य उदये पुण्डरीकं विकसति, हिमरश्मौ उद्गते चन्द्रकान्तः द्रवति॥ १२॥

विश्रामः—श्रमः—√श्रम्+घञ्, 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' (७।३।३४) सूत्र से वृद्धि का निषेध। श्रम एव श्रामः (स्वार्थेऽण्), विविष्टः श्रामः इति विश्रामः (गतिसमासः)। उपस्नेहयति—उप+√ष्णिह्+णिच्+लट् (तिप्)। निमित्त-

---

राम—तो क्यों यह अकस्मात् ही मेरे दुःख की निवृत्ति करता है और किसी (अज्ञात) कारण से मेरी अन्तरात्मा को स्नेहयुक्त करता है। अथवा 'स्नेह और वह (बाहरी) कारण की अपेक्षा रखता हो' यह परस्पर विरुद्ध है।

कोई आन्तरिक हेतु ही पदार्थों को परस्पर संसक्त करता है। प्रीतियाँ निश्चय ही बाहरी उपाधियों (हेतुओं) का आश्रयण (अपेक्षा) नहीं रखती हैं। कमल सूर्य के ही उदित होने पर खिलता है और चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमा के ही उदित होने पर द्रवित होता है॥ १२॥

निमित्तात्—यहाँ निमित्त शब्द का अर्थ 'बाहरी निमित्त' समझना चाहिए; क्योंकि अगले श्लोक में पदार्थों के परस्पर संपृक्त होने के हेतु रूप में 'आन्तर हेतु' का उल्लेख है।

पुण्डरीकम्—पुण्डरीक शब्द का अर्थ यद्यपि 'श्वेतकमल' होता है ('पुण्डरीकं सिताम्भोजम्'—अमरकोष) किन्तु यहाँ 'कमलमात्र' अर्थ लेना ही ठीक है।

इस श्लोक से भवभूति के प्रेमविषयक सिद्धान्त पर प्रकाश पड़ता है। भवभूति प्रेम को बाह्य कारणों पर आश्रित नहीं मानते। प्रेम, और वह किसी बाह्य कारण पर आश्रित हो, यह दोनों

लवः—चन्द्रकेतो ! क एते ।

चन्द्रकेतुः—प्रियवयस्य ! ननु तातपादाः ।

व्यतिषजतीति । आन्तरः = अभ्यन्तरस्थः, कोऽपि = निर्वक्तुमशक्यः, हेतुः = निमित्तम् । पदार्थान् = वस्तूनि । व्यतिषजति = परस्परसंसक्तान् करोति (अन्तर्भावितण्यर्थोऽयं धातुः) । प्रीतयः = स्नेहाः, बहिरुपाधीन् = बाह्यनिमित्तानि, पुत्रमित्रकलत्रत्वादिरूपाणीति भावः । न संश्रयन्ते = स्वोत्पादकत्वेन नापेक्षन्ते । खलु इति निश्चये । तदेव समर्थयते—हि = यतः । पतङ्गस्य = सूर्ये । पुण्डरीकम् = कमलम् । हिमरश्मौ = चन्द्रे । उद्गते = उदिते । द्रवति = आर्द्रीभवति ।

अयम्भावः—कोऽप्यभ्यन्तरस्थो हेतुः सर्वानपि पदार्थान् परस्परं संसक्तान् करोति। तत्र पदार्थानां व्यतिषङ्गे पुत्रमित्रकलत्रत्वादिरूपबहिरुपाधयः कारणतां न भजन्ते। यतः सूर्ये उदिते सत्येव कमलं विकसति, चन्द्रे उदिते एव चन्द्रकान्तमणिर्द्रवति। एतेन सिध्यति यत् कस्यचिदेव क्वचित् स्नेहसम्बन्धो जायते । सूर्ये एव कमलं स्निह्यति, तदसङ्ख्येया अपि चन्द्रमसो विकासयितुमक्षमाः, अपि च चन्द्रमस्येव चन्द्रकान्तः स्निह्यति, तमसङ्ख्येया अपि सूर्या द्रावयितुं न शक्नुवन्ति, एवमेवैतस्य बालकस्य विलोकनेन सञ्जातोऽयं मदीयस्नेहो हेतुनिरपेक्ष एवेति भावः ।

अत्र द्वाभ्यामपि विशेषार्थाभ्यां सामान्यार्थसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः। मालिनी वृत्तम् ॥ १२ ॥

लवश्चन्द्रकेतुं रामस्य परिचयमपृच्छत्—'क एते' इति = एते इति आदरार्थे बहुवचनम् ।

चन्द्रकेतुरपि प्रत्यवदत्—प्रियवयस्य ! ननु तातपादाः = पूज्यपितरः, एते इति। ननु इत्यवधारणे ।

सव्यपेक्षः—विशिष्टा अपेक्षा व्यपेक्षा (गतिसमास), व्यपेक्षया सह वर्तते इति सव्यपेक्षः (तुल्ययोगबहुव्रीहि), निमित्तेन सव्यपेक्षः इति निमित्तसव्यपेक्षः (तृतीया तत्पु०) । विप्रतिषिद्धम्—वि + प्रति + सिध् + क्त (कर्मणि), 'उपसर्गात्सुनोति–' (८।३।६५) इत्यादिना षत्वम् ।

व्यतिषजति—वि + अति + सञ्ज (सङ्गे) + लट् (तिप्) 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' (६।४।२५) से नकार का लोप । यहाँ धातु में णिच् का अर्थ अन्तर्भावित है 'उपसर्गात्सुनोति–' इत्यादिना सस्य षः । उपाधि—उप + आ + √धा + कि ।

लव—हे चन्द्रकेतु ! ये कौन हैं ।

चन्द्रकेतु—प्रियवयस्य ! पूज्य पिता जी ही तो हैं ।

बातें परस्पर विरुद्ध हैं । बाह्य कारणों पर आश्रित प्रेम कभी स्थायी नहीं होता है, जैसा कि इस युग में प्रत्यक्ष देखा ही जा रहा है । दो हृदयों के परस्पर मेल के मूल में कोई आन्तरिक हेतु होता है; जैसा कि श्लोक में दिये गये उदाहरण-द्वय से सिद्ध है । लव को देखते ही राम के हृदय में सहसा जो प्रेम अंकुरित हुआ, उसके मूल में भी दोनों का पिता-पुत्र-सम्बन्ध रूप अज्ञात आन्तरिक कारण ही निहित था । यह श्लोक कवि के 'मालतीमाधव' नाटक (१।२७) में भी आया है।

लवः—ममापि तर्हि धर्मतस्तथैव, यतः प्रियवयस्य इति भवतोक्तम्, किन्तु चत्वारः खलु भवतामेवं व्यपदेशभागिनस्तत्र भवन्तो रामायणकथापुरुषाः। तद्विशेषं ब्रूहि।

चन्द्रकेतुः—ननु ज्येष्ठतातपादा इत्यवेहि।

लवः—(सोल्लासम्) कथं रघुनाथ एव ? दिष्टचा सुप्रभातमद्य यदयं देवो दृष्टः। (सविनयकौतुकं निर्वर्ण्य) तात ! प्राचेतसान्तेवासी लवोऽभिवादयते।

रामः—आयुष्मन् ! एह्येहि। (इति सस्नेहमालिङ्गच) अयि वत्स ! कृतं कृतमतिविनयेन। अनेकवारमपरिश्लथं परिष्वजस्व माम्।

ततो लवेनोक्तम्—'यतो भवता' 'प्रियवयस्य' इत्युक्तं तर्हि ममापि धर्मतस्तथैव पूज्यपितर एते; किन्तु रामायणकथापुरुषाः=रामायणाख्येतिवृत्तस्य नायकाः, तत्रभवन्तः=पूज्याः, 'तातपादाः' इति व्यपदेशभागिनः—व्यपदेशम्=अभिधानम्, भजन्तीति ते तथोक्ताः=व्यवहारभाजनानि, चत्वारः सन्ति, तत्=तस्माद्धेतोः, विशेषं ब्रूहि=विशेषनाम्ना सूचय, चतुर्षु राघवेषु कोऽयमिति स्पष्टं विज्ञाप्यताम् इति।

ततश्चन्द्रकेतुनोक्तम्—ज्येष्ठतातः (श्रीरामचन्द्रः) इति अवेहि=जानीहि।

'ज्येष्ठतातः' इति श्रुत्वा सोल्लासम्=सहर्षं, लवः प्राह—कथं रघुनाथः=राम इत्यर्थः, एवायम्, दिष्टचा=सौभाग्येन, अद्यतनः प्रभातकालो रम्यतरः सञ्जातो यन्महानुभावस्यास्य दर्शनं जातम्। (सविनयकौतुकं दृष्ट्वा) तात ! प्राचेतसान्तेवासी—प्राचेतसस्य=भगवतो वाल्मीकेः, अन्तेवासी=शिष्योऽयं लवः, भवन्तम् अभिवादयते=प्रणमति।

रामः सस्नेहं लवमालिङ्गच प्राह—अयि वत्स ! कृतमतिविनयेन=अतिविनयस्य

व्यपदेशभागिनः—व्यपदेश—व्यपदिश्यते=प्रख्यायते अनेनेति व्यपदेशः, वि+अप्+√दिश्+घञ् ('अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' ३।३।१९), व्यपदेशं भजन्तीति व्यपदेशभागिनः—व्यपदेश+√भज्+घिनुण् ('सम्पृचानुरुधा०' ३।२।१४२), प्रत्यय के णित् होने से 'अत उपधायाः' सूत्र से उपधा को वृद्धि (आ), 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' से ज् को कुत्व (ग्)। अवेहि—अव+√इ (गतौ)+लोट् (सिप्=हि)। अपरिश्लथम्—नञ्+परि+श्लथ्+अच्। परिष्वजस्व—परि+√स्वञ्ज

लव—तब तो धर्मानुसार मेरे भी वैसे ही (पूज्य पिता) हुए, क्योंकि आपने (मुझे) 'प्रियवयस्य' ऐसा कहा है, किन्तु आपके इस प्रकार के व्यवहार के भागी, पूज्य, रामायणकथा के प्रधान पात्र चार हैं, तो विशेषता के साथ बतलाओ।

चन्द्रकेतु—अरे, ज्येष्ठ पिता जी हैं, ऐसा जानिए।

लव—**(सोल्लास)** क्यों, रघुनाथ ही हैं ? सौभाग्य से आज (मेरा) सुप्रभात है, जो इन महाराज का दर्शन हुआ है। **(विनय और कौतूहल के साथ भली-भाँति देखकर)** तात ! वाल्मीकि का (यह) शिष्य लव (आपका) अभिवादन करता है।

राम—चिरंजीव ! आओ आओ **(सस्नेह आलिङ्गन कर)** अरे वत्स ! अत्यन्त विनय रहने दो, अनेक बार मेरा दृढ़ आलिङ्गन करो।

परिणतकठोरपुष्करगर्भच्छदपीनमसृणसुकुमारः ।
नन्दयति चन्द्रचन्दननिष्यन्दजडस्तव स्पर्शः ॥ १३ ॥

लवः—(स्वगतम्) ईदृशो मां प्रत्यमीषामकारणस्नेहः । मया पुनरेभ्

नास्त्यावश्यकता, अनेकवारं=भूयो-भूयः, माम् अपरिश्लथं=दृढं, गाढमिति यावत् परिष्वजस्व=समालिङ्ग इति ।

अन्वयः—परिणतकठोरपुष्करगर्भच्छदपीनमसृणसुकुमारः चन्द्रचन्दननिष्यन्दजडः तव स्पर्शः नन्दयति ॥ १३ ॥

रामो लवालिङ्गनजन्यमानन्दं वर्णयति—परिणतेति । परिणतकठोर०—परिणतम् =विकसितम्, कठोरम्=पूर्णावयवम्, यत् पुष्करम्=कमलम्, तस्य गर्भच्छद इव =अभ्यन्तरस्थपत्रमिव, पीनः=मांसलः, मसृणः=स्निग्धः, सुकुमारः=कोमलः, चन्द्रचन्दननिष्यन्दजडः—चन्द्रस्य चन्दनस्य च यो निष्यन्दः=क्षरितो रसः, चन्द्रिका घृष्टचन्दनद्रवश्चेत्यर्थः, स इव जडः=शीतलः । नन्दयति=आह्लादयति ।

अयम्भावः—विकसितस्य परिपूर्णस्य च कमलस्य गर्भस्थपत्रमिव मांसलः स्निग्धः कोमलश्च अपि च चन्द्रिकेव घृष्टचन्दनद्रववच्च शीतलस्तव (लवस्य) अङ्गस्पर्शो माम् (रामम्) नितरामाह्लादयति । अत्र समासगतत्वेन आर्थी उपमाऽलङ्कारः । आर्या जातिः ॥ १३ ॥

लवः स्वमनस्यचिन्तयत्—ईदृश इति । अस्य अमीषाम्=रघुपतेर्मां प्रतीदृशोऽहेतुकस्नेहः, पुनः=किन्तु, अज्ञेन=मूर्खेण, स्वपरविवेकरहितेन, मयाऽस्मा एव अभि-

---

+लोट् (थास्), 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' (६।४।२५) से नकार का लोप, 'उपसर्गात्सुनोति०' (८।३।६५) से सकार को षत्व ।

परिणतम्—परि+√नम्+क्त (कर्तरि), 'अनुदात्तोपदेशवनति-' (६।४।३७) से अनुनासिक (मकार) का लोप, 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) से धातु के नकार को णत्व । पीन—√प्याय्+क्त, 'प्यायः पी' (६।१।२८) सूत्र से 'पी' वैकल्पिक आदेश, 'ओदितश्च' (८।२।४५) सूत्र से निष्ठा के तकार को नकार । 'पी' आदेश के अभावपक्ष में 'प्यानः' । निष्यन्दः—नि+√स्यन्द् (प्रस्रवणे)+घञ्, 'अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु' (८।३।७२) से धातु के सकार को विकल्प से षत्व । पक्ष में 'निस्यन्द' भी । स्पर्शः—√स्पृश्+घञ् ।

सुविकसित पूर्ण कमल के भीतरी पत्र के समान मांसल, चिकना एवं कोमल, चन्द्रमा और चन्दन रस की तरह शीतल तुम्हारा स्पर्श आह्लादित कर रहा है ॥ १३ ॥

लव—(स्वगत) ऐसा मेरे प्रति इनका अहेतुक स्नेह है, किन्तु मुझ मूर्ख ने इन्हीं से और

चन्द्रचन्दननिष्यन्दजडः—'चन्द्रस्य चन्दनस्य च निष्यन्द इव जडः' चन्द्रमा के क्षरित रस अर्थात् चन्द्रिका के समान और चन्दन रस के समान शीतल । अथवा 'चन्द्र इव चन्दन निष्यन्द इव जडः' चन्द्रमा और चन्दन रस के समान शीतल । चन्द्र का अर्थ 'कर्पूर' होने पर 'कर्पूर युक्त चन्दन रस के समान शीतल' अर्थ होगा ।

एवाभिद्रुग्धमनेन यदायुधपरिग्रहं यावदध्यारूढो दुर्योगः। (प्रकाशम्) मृष्यन्त्विदानीं लवस्य बालिशतां तातपादाः।

रामः—किमपराद्धं वत्सेन ?

चन्द्रकेतुः—अश्वानुयात्रिकेभ्यस्तातप्रतापाविष्करणमुपश्रुत्य वीरायितमनेन।

रामः—नन्वयमलङ्कारः क्षत्रस्य।

न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते
स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः।
मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति ॥ १४ ॥

द्रुग्धम्=द्रोहः कृतः, यत् शस्त्रग्रहणपर्यन्तं दुर्योगः=दुर्व्यवहारः, द्रोह इति यावत्, अध्यारूढः=प्रकर्षं गतः, प्रवृद्धः। (प्रकाशम्) आह च पुनः—तातपादाः=पितृचरणाः, लवस्य=मम, बालिशताम्=मूर्खताम्, अपराधम्, मृष्यन्तु=क्षमन्ताम् इति।

राम आह—वत्सेन (लवेन) कश्चिदपराद्धम्=अपराधः कृतः किम् ? इति।

चन्द्रकेतुरुत्तरं ददाति—अश्वानुयात्रिकेभ्यः—अश्वस्य अनुयात्रिकाः=अनुचराः, रक्षका इति यावत्, तेभ्यः=अश्वरक्षकेभ्यः, भवतां प्रतापस्य आविष्करणम्=प्रख्यापनं, श्रुत्वाऽनेन वीरायितम्=वीरवद् आचरितम्।

तच्छ्रुत्वा प्रसन्नो राम आह—अये ! अयं=वीरभावस्तु क्षत्रियाणामलङ्कार एव, ते स्वभावेनैव न ह्यपरेषां तेजः सहन्ते, तदत्र नास्त्यस्य कोऽप्यपराधः।

अध्यारूढः—अधि + आ + $\sqrt{}$रुह् + क्त। अपराद्धम्—अप + $\sqrt{}$राध् + क्त। आनुयात्रिकाः—अनुयात्रा प्रयोजनमेषाम्—अनुयात्रा + ठञ् ('प्रयोजनम्' ५।१।१०९)।

किया कि शस्त्रग्रहण तक नौबत बढ़ गयी। **(प्रकाश)** पूज्य पिता जी लव की मूर्खता क्षमा करें।

राम—वत्स ने क्या (कोई) अपराध किया है ?

चन्द्रकेतु—अश्व के अनुचरों से तात के प्रताप की घोषणा सुनकर इसने वीरका-सा आचरण किया।

राम—यह (वीरभाव) तो क्षत्रिय का भूषण ही है।

एभ्य एव अभिद्रुग्धम्—'एभ्यः' में चतुर्थी विभक्ति है। 'क्रुधद्रुहे'त्यादि सूत्र से कोपप्रभव द्रोह के कारण चतुर्थी होती है। इस सूत्र का अपवाद सूत्र है—'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म'। तदनुसार यहाँ द्रुह्धातु सोपसर्गक होने से सकर्मक है, अतः 'एभ्यः' के स्थान में द्वितीयान्त 'इमान्' का प्रयोग होना चाहिए, किन्तु कवि द्वारा यहाँ कर्म अविवक्षित होने से वैसा नहीं किया गया; इसीलिए 'अभिद्रुग्धम्' में कवि ने भाव में 'क्त' का प्रयोग किया है, अन्यथा 'क्त' का प्रयोग 'कर्म' में होता और 'इमे अभिद्रुग्धाः' पाठ होता। इस पाठ के स्थान में 'एभ्य एव द्रोग्धुमनेनायुधपरिग्रहः कृतः' ऐसा भी पाठ मिलता है, जिसमें व्याकरण-सम्बन्धी ऐसा कोई झंझट नहीं है, किन्तु यह पाठ लव के मनोभावों की उतनी तीव्र अभिव्यक्ति नहीं करता है।

अन्वयः—तेजस्वी प्रसृतम् अपरेषां तेजो न विषहते, तस्य सः प्रकृतिनियतत्वात् अकृतकः स्वो भावः। यदि दिनकरः मयूखैः अश्रान्तं तपति, आग्नेयो ग्रावा निकृत इव किं तेजांसि वमति? ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्रः 'परप्रतापामर्षणरूपो धर्मः क्षत्रियस्यालङ्कार एव' इति स्वोक्तिं समर्थयितुमाह—**न तेजस्तेजस्वीति**। तेजस्वी = महाप्रतापो जनः। प्रसृतम् = सर्वतः अभिव्याप्तम्। अपरेषाम् = अन्येषाम्। न विषहते = न मृष्यति। प्रकृतिनियतत्वात् = स्वभावव्याप्तत्वात्। अकृतकः = अकृत्रिमः। स्वो भावः = स्वकीयो धर्मः। दिनकरः = सूर्यः। मयूखैः = किरणैः। अश्रान्तम् = निरन्तरम्। तपति = तापं करोति। आग्नेयः ग्रावा = अग्निसम्बन्धी प्रस्तरः, सूर्यकान्तमणिरिति यावत्। निकृत इव = तिरस्कृत इव। किम् = कस्माद्धेतोः। तेजांसि = अग्नीन्। वमति = उद्गिरति।

अयम्भावः—तेजस्वी पुरुषो न हि परेषां सर्वतोऽभिव्याप्तं तेजः सोढुं शक्नोति, नास्त्यत्र कृत्रिमताया लेशोऽपि। यदि भगवान् सूर्यो निरन्तरं तपति तदाऽऽत्मानं तिरस्कृतमिव मन्यमानश्चन्द्रकान्तमणिः सूर्यप्रतापं न सहमान इव वह्निमुद्गिरति, तत्र प्रकृतिनियतस्वभावातिरिक्तो नान्यो हेतुः। एवमेव वीरवरोऽयं लवोऽप्यस्मत्प्रभावसन्तप्तः सन् स्वीयं सामर्थ्यं प्रकाशितवान् तदा कोऽस्य दोषः? क्षत्रियस्य त्वयं गुणः स्वभावसिद्धतयाऽलङ्कार एवेति रामोक्तेरभिप्रायः।

अस्मिन् पद्ये विशेषेण सामान्यार्थसमर्थनरूपोऽर्थान्तराऽलङ्कारः; अपि च 'निकृत

प्रसृतम्—प्र + √सृ + क्त (कर्तरि)। विषहते—वि + √सह् (मर्षणे) + लट् (त), 'परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्' (८।३।७०) के अनुसार धातु के सकार को षत्व हुआ है। नियतः—नि + √यम् + क्त (कर्मणि); 'अनुदात्तोपदेशवनति०' (६।४।३७) सूत्र से अनुनासिक (मकार) का लोप। अकृतकः—कृतः (√कृ + क्त) एव कृतकः (स्वार्थे कन्)। न कृतकः इति अकृतकः (नञ् समास)। दिनकरः—दिनं करोति, दिन + कृ + ट (अ) 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' (३।२।२०) से ताच्छील्यद्योत्य होने के कारण 'ट' प्रत्यय, दिन + √कृ + अ (ट् की 'चुटू' सूत्र से इत्संज्ञा) —गुण (ऋ = अर्) 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४)। आग्नेयः—अग्नेः अयम्, अग्नि + ढक् ('अग्नेर्ढक्' सूत्र से विहित यह प्रत्यय प्राग्दीव्यतीय सभी अर्थों में होता है 'सर्वत्राग्निकलिभ्याम्'—इस वचन से)। निकृतः—नि + √कृ + क्त (कर्मणि)।

तेजस्वी दूसरों के फैले हुए तेज को नहीं सह पाता है। वह प्रकृति के द्वारा नियत होने के कारण उसका अपना स्वाभाविक धर्म है। यदि भगवान् सूर्य (अपनी) किरणों से अविराम तपते हैं (तो) सूर्यकान्तमणि तिरस्कृत हुआ सा क्यों आग उगलता है? ॥ १४ ॥

भावसाम्य के लिए देखिए—

'यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः।
तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते ॥' (भर्तृ० नीति० ३७)।

तथा—'प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यथा।' (किरा० २।४२)।

चन्द्रकेतुः—अमर्षोऽप्यस्यैव शोभते महावीरस्य। पश्यन्तु हि तातपादाः प्रियवयस्य नियुक्तजृम्भकास्त्रनिष्कम्पस्तम्भितानि सर्वतः सैन्यानि।

रामः—(विलोक्य) वत्स लव ! संह्रियतामस्त्रम्। त्वमपि चन्द्रकेतो ! निर्व्यापारविलक्षितानि सान्त्वय बलानि।

लवः—यथाज्ञापयति तातः। (इति प्रणिधानं नाटयति)

चन्द्रकेतुः—यथादिष्टम् (इति निष्क्रान्तः)।

इव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, तथा च द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन स्थितेः सङ्करः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ १४ ॥

चन्द्रकेतुर्लवं प्रशंसन् श्रीरामचन्द्रं प्रत्याह—**अमर्षोऽपीति**। अमर्षः = असहनशीलताऽपि, न केवलं तेज इति भावः। प्रियवयस्यनियुक्त०—प्रियवयस्येन = लवेनेत्यर्थः, नियुक्तम्=प्रेरितम्, यत् जृम्भकास्त्रं, तेन निष्कम्पम् = निश्चलं, यथा स्यात्तथा स्तम्भितानि = निर्व्यापाराणि कृतानि।

अयम्भावः—न केवलं तेजः, किन्त्वसहनशीलताऽपि शोभतेऽस्यैवासाधारणवीरस्य; पश्यन्तु—पूज्यपितरः, अनेन प्रियवयस्येन जृम्भकास्त्रस्य प्रयोगेन परितः सैन्यानि निश्चलं निर्व्यापाराणि कृतानि।

रामस्तथा दृष्ट्वा लवमाह—वत्स ! बलानि=सैन्यानि। संह्रियताम्=निवार्यताम्। निर्व्यापारविलक्षितानि—व्यापारस्य अभावः निर्व्यापारम्, तेन विलक्षितानि= चकितानि। 'निर्व्यापारतया विलक्षाणि' इति पाठे क्रियाशून्यतया विस्मयान्वितानीत्यर्थः ('विलक्षो विस्मयान्विते' इत्यमरः)। सान्त्वय = समाश्वासय।

अयम्भावः—वत्स ! प्रयुक्तस्य जृम्भकास्त्रस्योपसंहारः क्रियताम्। चन्द्रकेतुं चादिशति—चन्द्रकेतो ! त्वमपि गत्वा निर्व्यापारतया चकितानि सैन्यानि मधुरवचोभिः समाश्वासय।

श्रीरामस्यादेशाल्लवो तथाकर्तुं प्रणिधानं = ध्यानं नाटयति, चन्द्रकेतुश्च यथादिष्टम् =आज्ञप्तं, तथा करोमीत्युक्त्वा निष्क्रान्तः।

अमर्षः—अविद्यमानः मर्षः इति अमर्षः, √मृष् + घञ् = मर्षः। स्तम्भितम्—√स्तम्भ + णिच् + क्त (कर्मणि)। विलक्षितानि—वि + √लक्ष् + क्त (कर्तरि)। 'विलक्षाणि' इति पाठे, वि + √लक्ष् + अच्। प्रणिधानम्—प्र + नि + √धा + ल्युट्, 'नेर्गदनदपतपद०' (८।४।१७) सूत्र से 'नि' उपसर्ग के नकार को णत्व।

चन्द्रकेतु—असहनशीलता भी इसी महावीर को शोभा देती है। पूज्य पिता जी तनिक देखें तो। प्रियमित्र के द्वारा प्रयुक्त जृम्भकास्त्र से सभी ओर निश्चल भाव से सेनाएँ स्तब्ध कर दी गयी हैं।

राम—(देखकर) हे वत्स ! अस्त्र वापस कर लिया जाय। चन्द्रकेतु! तुम भी कुछ न कर पाने के कारण विस्मित एवं लज्जित सेनाओं को सान्त्वना दो।

लव—पिताजी की जैसी आज्ञा। **(ध्यान का अभिनय करता है)**

चन्द्रकेतु—जैसा (पिताजी का) आदेश **(चला गया)**।

लवः—तात ! प्रशान्तमस्त्रम् ।

रामः—वत्स ! सरहस्यप्रयोगसंहाराण्यस्त्राण्याम्नायवन्ति ।

ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा परःसहस्राः शरदस्तपांसि ।
एतान्यपश्यन् गुरवः पुराणाः स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥ १५ ॥

अथैतामस्त्रोपनिषदं भगवान् कृशाश्वः परःसहस्रसंवत्सरान्ते वासिने कौशिकाय प्रोवाच । स तु भगवान् मह्यमित्येष गुरुपूर्वानुक्रमः । कुमारस्य कुतः सम्प्रदाय इति पृच्छामि ।

ध्यानं कुर्वता लवेनोक्तम्—तात ! जृम्भकास्त्रं प्रशान्तं = संहृतम्, मया ।

लवस्येदृशं प्रभावं दृष्ट्वा रामो लवं प्रत्यवदत्—वत्स ! सरहस्यप्रयोगसंहाराणि—सरहस्यौ = अङ्गन्यासादिविधानसहितौ, प्रयोगसंहारौ = नियोजनाकर्षणं, येषां तथाविधानि; अस्त्राणि = जृम्भकप्रभृतीन्यस्त्राणि, आम्नायवन्ति = गुरूपदेशसापेक्षाणि भवन्ति ।

ब्रह्मादय इति । प्रथमाङ्के चित्रदर्शनावसरे रामेणाभिहितः पञ्चदश (१५) सङ्ख्याकोऽयं श्लोको व्याख्यातपूर्वस्तत्रैव द्रष्टव्याः शब्दार्थाः ॥ १५ ॥

अथेति वाक्यारम्भे । अस्त्रमन्त्रोपनिषदम्=अस्त्रमन्त्रमयीं ब्रह्मविद्याम् । 'एतन्मन्त्रपारायणोपनिषदम्' इति पाठे—एतेषां मन्त्राणां पारायणम् = पारगमनम्, एतन्मन्त्रसमष्टिरिति लाक्षणिकोऽर्थः, तद्रूपामुपनिषदम् = गुह्यविद्यामित्यर्थः । परःसहस्रसंवत्सरान्तेवासिने—परःसहस्राः = सहस्राधिकाः, ये संवत्सराः = वर्षाणि, तान् अभिव्याप्य अन्तेवासिने = गुरुपरिचर्यारताय शिष्याय । कौशिकाय = विश्वामित्राय । प्रोवाच = उपदिदेश । गुरुपूर्वानुक्रमः—गुरूणाम् = आचार्याणाम्, पूर्वः—प्राचीनः, अनुक्रमः = परम्परा, सम्प्रदाय इत्यर्थः । कुतः = कस्मात् । सम्प्रदायः = पारम्पर्योपदेशः ।

अयम्भावः—अथैतेषां मन्त्राणां समष्टिरूपां गुह्यविद्यां भगवान् कृशाश्वः सहस्राधिकवर्षाणि यावद्, गुरुपरिचर्यानिरताय शिष्याय विश्वामित्राय दत्तवान्, स च मह्यम्, भवतः पुनः कुतः ? इति पृच्छामि ।

आम्नायवन्ति—आम्नायः (आ + √म्ना + घञ्) अस्ति एषां तानि, आम्नाय + मतुप् । परःसहस्राः—सहस्रात् परे, 'राजदन्तादिषु परम्' सूत्र से 'सहस्र' शब्द का परनिपात; 'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्' सूत्र से सुट् का आगम । सम्प्रदायः—सम् + प्र + √दा + घञ् ।

लव—अस्त्र शान्त हो गया ।

राम—वत्स ! सरहस्य प्रयोग तथा संहार वाले अस्त्र गुरु-परम्परागत उपदेशसापेक्ष होते हैं। ब्रह्मा आदि पुराने आचार्यों ने वेद (अथवा ब्राह्मणों) की रक्षा के लिए हजारों वर्षों से भी अधिक तपस्या करके अपने ही तपोमय तेजपुञ्ज इनको देखा ॥ १५ ॥

इस अस्त्रमन्त्रमयी उपनिषद् को भगवान् कृशाश्व ने सहस्राधिक वर्षों तक समीप रहने वाले शिष्य विश्वामित्र से कहा और उन भगवान् (विश्वामित्र) ने मुझ से; इस प्रकार यह गुरुओं की पूर्वपरम्परा है । कुमार का कहाँ से सम्प्रदाय (चला) है ? यह पूछ रहा हूँ ।

लवः—स्वतःप्रकाशान्यावयोरस्त्राणि ।

रामः—(विचिन्त्य) किं न सम्भाव्यते ? प्रकृष्टपुण्यपरिपाकोपादानः कोऽपि महिमा स्यात् । द्विवचनं तु कथम् ?

लवः—भ्रातरावावां यमौ ।

रामः—स तर्हि द्वितीयः कः ?

(नेपथ्ये) दाण्डायन, दाण्डायन !

आयुष्मतः किल लवस्य नरेन्द्रसैन्यै-
रायोधनं ननु किमात्थ सखे तथेति ।

'कुमारस्य कुतः सम्प्रदायः ?' इत्येवं रामेण पृष्टो लव आह—आवयोर्जृम्भकास्त्राणि स्वतःप्रकाशानि=जन्मतःसिद्धानि, गुरूपदेशं विनैव तेषां प्रादुर्भावः सञ्जातः ।

एतच्छ्रुत्वा रामो विचिन्त्य प्राह—सर्वमपि सम्भाव्यते, कदाचित् कोऽपि विशिष्टो महिमा, यस्य प्रकृष्टपुण्यपरिपाकोपादानः—प्रकृष्टस्य पुण्यस्य=सुकृतस्य, परिपाकः=परिणामः, स एव उपादानम्=कारणं, यस्य तथाविधः; कारणमुत्कृष्टसुकृतपरिणामो भवेत । उत्कृष्टपुण्यफलमहिम्ना सर्वमपि सम्भाव्यते, नात्राश्चर्यं कर्तव्यमिति भावः । किन्तु आवयोरिति षष्ठीद्विवचनप्रयोगः केन हेतुना कृतः ?

लवेनोक्तम्—यमौ—यमजौ ('यमो दण्डधरे ध्वाङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च' इति विश्वः), भ्रातरावावाम् ।

ततो रामोऽपृच्छत्—तदा स तव द्वितीयो भ्राता कः ? ('क्व' इति पाठे कुत्र वर्तत इत्यर्थः) ।

सम्भाव्यते—सम् + √भू (णिच्) + लट् (कर्मणि) । परिपाकः—परि + √पच् + घञ् । उपादानः—उप + आ + √दा + ल्युट् (यु = अन) । महिमा—महतो भावः, महत् + इमनिच् ।

लव—हम दोनों के ये अस्त्र स्वतः प्रकाशित हैं ।

राम—(सोचकर) क्या नहीं सम्भव है ? प्रकृष्टपुण्यपरिणामरूपी कारण वाली कोई (अज्ञात) महिमा होगी । परन्तु द्विवचन क्यों ?

लव—हम दोनों जुड़वे भाई हैं ।

राम—तो वह दूसरा कौन है ?

(नेपथ्य में)

दाण्डायन ! दाण्डायन !

जैसा कि लोग कहते हैं, क्या आयुष्मान् लव का राजा (राम) के सैनिकों के साथ युद्ध (हो

किमात्थ सखे तथेति—यह आकाशभाषित है, क्योंकि दूसरे पात्र (दाण्डायन) की उपस्थिति के बिना 'सखे ! किम् आत्थ तथेति ?' ऐसा कह-सुन कर एक ही पात्र (कुश) द्वारा यह बातचीत कही-सुनी जा रही है । 'किं ब्रवीषी[illegible] यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते । श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥' (साहित्यदर्पण ६।१[illegible]) ।

अद्यास्तमेतु भुवनेष्वधिराजशब्दः
क्षत्रस्य शस्त्रशिखिनः शममद्य यान्तु ॥ १६ ॥

अन्वयः—ननु आयुष्मतः लवस्य नरेन्द्रसैन्यैः आयोधनं किम् ? सखे ! तथा इति आत्थ किम् ? अद्य भुवनेषु अधिराजशब्दः अस्तम् एतु, अद्य क्षत्रस्य शस्त्रशिखिनः शमं यान्तु ॥ १६ ॥

'कस्तव द्वितीयो भ्राता' इति रामेण पृष्टस्योत्तरं लवो यावद् दातुमिच्छति, तावन्नेपथ्ये दाण्डायननाम्ना सहाध्यायिना सह कुशेन क्रियमाणो वार्तालापः श्रूयते—**आयुष्मत इति** । ननु = इति प्रश्ने । आयुष्मतः=दीर्घजीविनः (अनुजतया तथोक्तिः)। नरेन्द्रसैन्यैः = राजसैनिकैः सह ('वृद्धो यूनातल्लक्षणश्चेदेवविशेषः' (१।२।६५) इति सूत्रे सहादिशब्दाभावेऽपि तदर्थावगमेऽपि तृतीयानिर्देशादत्र सहादिशब्दाभावेऽपि तृतीया ।), आयोधनम् = युद्धम् । किल = इति वार्तायाम् । तथा = एवम् । इति आत्थ = इति त्वं ब्रवीषि । अद्य = इदानीम् । अधिराजशब्दः—अधिको राजा अधिराजः (टच् समासान्तः), स एव शब्दः । अस्तम् = नाशम्, एतु = प्राप्नोतु । क्षत्रस्य = क्षत्रियजातेः । शस्त्रशिखिनः—शस्त्राण्येव शिखिनः = वह्नयः । शमम् = निर्वाणम् । यान्तु = प्राप्नुवन्तु ।

अयम्भावः—'आयुष्मतो लवस्य राज्ञो रामस्य सैनिकैः सह युद्धं प्रवर्तते' इति यत् त्वयोक्तम्—हे दाण्डायन ! तत्किं सत्यमेव ? यद्येवं तर्हि तादृशं विचित्रं युद्धं करिष्यामि येनाद्य जगति महाराजेत्युपाधिर्विनङ्क्ष्यति, क्षत्रियजातेः शस्त्राग्नयश्च निर्वाणं प्राप्स्यन्ति । महाराजेत्युपाध्युन्मूलनेन सह क्षत्रियजातेः शस्त्राग्निजन्यसन्तापमपि

आत्थ—'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' (३।४।८४) के अनुसार लट्लकार में तिप् से लेकर थस् तक पाँच विभक्तियों के स्थान में विकल्प से क्रमशः णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस् आदेश होते हैं और साथ ही धातु 'ब्रू' के स्थान में 'आह' आदेश भी हो जाता है । इस प्रकार क्रमशः 'ब्रू' धातु के लट् में 'आह, आहतुः, आहुः, आत्थ, आहथुः'—ऐसे पाँच रूप भी आदिम पाँच विभक्तियों में होते हैं । पक्ष में ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति, ब्रवीषि, ब्रूथः । अस्तम्—√अस् (क्षेपणे) + क्त (नपुंसके भावे); यह अवधेय है कि √अस् (भुवि) धातु से क्त प्रत्यय होने पर 'अस्तेर्भूः' (२।४।५२) से अस् को भू आदेश होकर 'भूतम्' ऐसा रूप होता है । शिखिनः—शिखा (ज्वाला) विद्यतेऽस्येति शिखी (प्रातिपदिक शिखिन्), बहुवचन में शिखिनः, 'व्रीह्यादिभ्यश्च' (५।२।११६) से मतुबर्थक इनि प्रत्यय—शिखा + इन्—'यस्येति च' से 'आ' का लोप—शिखिन् (शिखी, शिखिनौ, शिखिनः इत्यादि रूप) ।

रहा है)? मित्र ! 'यही बात है'—क्या ऐसा कहते हो ? तो (हम ऐसा युद्ध करें कि) आज भुवनों में अधिराज (सम्राट्) शब्द का (सदा के लिए) अन्त हो जाय और आज क्षत्रिय जाति की शस्त्राग्नियाँ (सदा के लिए) शमन को प्राप्त हो जायँ ॥ १६ ॥

रामः—

अथ कोऽयमिन्द्रमणिमेचकच्छविर्ध्वनिनैव बद्धपुलकं करोति माम् ।
नवनीलनीरधरधीरगर्जितक्षणबद्धकुड्मलकदम्बडम्बरम् ॥ १७ ॥

लवः—अयमसौ मम ज्यायान् आर्यः कुशो नाम भरताश्रमात्प्रतिनिवृत्तः ।

दूरीकरिष्यामि, नात्र त्वया सन्देहः कार्यं इति कुशोक्तेरभिप्रायः । 'शस्त्रशिखिनः' इत्यत्र रूपकालङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—अथ इन्द्रमणिमेचकच्छविः कः अयं ध्वनिना एव बद्धपुलकम् मां नवनीलनीरधरधीरगर्जितक्षणबद्धकुड्मलकदम्बडम्बरं करोति ॥ १७ ॥

तथा वदन्तमायान्तं कुशं दूरादेवावलोक्य भगवान् रामः प्राह—**अथेति** । अथ = वाक्यारम्भार्थकमिदमव्ययपदम् । इन्द्रमणिमेचकच्छविः—इन्द्रमणिः = इन्द्रनीलमणिः, तस्येव मेचका = श्यामा, छविः = कान्तिः, यस्य स तथोक्तः, इन्द्रनीलवन्नीलच्छविरित्यर्थः । ध्वनिना = कण्ठस्वरेण । बद्धपुलकम्—बद्धाः = उत्पन्नाः, पुलकाः = रोमाञ्चाः, यस्य तम् । नवनील०—नवः = नूतनः, नीलः = कृष्णवर्णः, यो नीरधरः = मेघः, तस्य धीरम् = गम्भीरम्, यद् गर्जितम् = स्तनितम्, तस्य क्षणे = अवसरे, बद्धाः = उद्भिन्नाः, कुड्मलाः = मुकुलाः, यस्य तादृशस्य कदम्बस्य = नीपवृक्षस्येव, डम्बरः = विभ्रमः, यस्य तथाविधम् ।

अयम्भावः—इन्द्रनीलवन्नीलच्छविः कोऽयं गम्भीरेण ध्वनिना मां रोमाञ्चितं कृत्वा नूतननीलमेघगम्भीरगर्जितेनोद्भिन्नमुकुलयुक्तस्य कदम्बवृक्षस्य शोभां प्रापयति । यथा नूतनकृष्णमेघगर्जितेन कदम्बतरौ मुकुला उद्भिन्ना भवन्ति तथैवेन्द्रनीलवन्नीलच्छवेरस्य कुमारस्य गम्भीरकण्ठरवेण मम देहे रोमाञ्चाः प्रादुरभूवन्, तस्मादिदानीं तन्मुकुलान्वितकदम्बशोभां वहामीति भावः । अत्र द्वयोरुपमयोर्मियोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । मञ्जुभाषिणी वृत्तम् ॥ १७ ॥

लवो रामं विज्ञापयति—**अयमिति** । अयमसौ मम ज्यायान् = ज्येष्ठः, अग्रजः, आर्यः = पूज्यः, कुशो नाम भरताश्रमात् प्रतिनिवृत्तः = प्रत्यागतः ।

नीरधरः—धरतीति धरः (पचादित्वात् अच्, √धृ + अच् = धरः) नीरस्य धरः इति नीरधरः । गर्जितम्— √गर्ज् + क्त (नपुंसके भावे) ।

राम—भला, इन्द्रनीलमणि के सदृश श्यामकान्ति वाला यह कौन शब्दमात्र से रोमाञ्चित मुझे नूतन और श्याम मेघ के गम्भीर गर्जन के समय विकसित मुकुल वाले कदम्ब के समान शोभा वाला बना रहा है ? ॥ १७ ॥

लव—यह कुश नामक वे मेरे पूज्य अग्रज भरत मुनि के आश्रम से लौटे हैं ।

इन्द्रनीलमणि—यह मणिविशेष नीलवर्ण का होता है । इसके विषय में प्रसिद्ध है कि यदि इसे दूध में डाल दिया जाय तो इसकी कान्ति से वह भी नीला ही दिखलायी देगा—

'क्षीरमध्ये क्षिपेन्नीलं क्षीरञ्चेन्नीलतां व्रजेत् । इन्द्रनीलमिति प्रोक्तम्……' ॥ इति ।

कदम्ब—कदम्ब वृक्ष के सम्बन्ध में प्रसिद्धि है कि बादलों की गरज के साथ ही इसमें कलियाँ निकल आती हैं ।

रामः—(सकौतुकम्) वत्स ! इत एवाह्वयैतमायुष्मन्तम् ।

लवः—एवम् । (इति परिक्रामति) ।

(ततः प्रविशति कुशः)

कुशः—(साकूतहर्षधैर्यं धनुरास्फालयन्)

दत्तेन्द्राभयदक्षिणैर्भगवतो वैवस्वतादामनो-
र्दृप्तानां दहनाय दीपितनिजक्षत्रप्रतापाग्निभिः ।

तच्छ्रुत्वा सोत्कण्ठं रामो लवमाह—वत्सेति । हे वत्स ! तदेतमायुष्मन्तम् इत एव=अत्रैव स्थाने आह्वय=आकारय । लव एवमुक्त्वा परिक्रामति ।

ततः कुशः प्रविशति । प्रविश्य च साकूतहर्षधैर्यम्—आकूतेन=अभिप्रायेण, हर्षेण धैर्येण च सहितं यथा स्यात्तथा; धनुः आस्फालयन्=ताडयन्, आकर्षन्नाह—

अन्वयः—'भगवतो वैवस्वात् मनोः आ दत्तेन्द्राभयदक्षिणैः दृप्तानां दहनाय दीपितनिजक्षत्रप्रतापाग्निभिः आदित्यैः नृपतिभिः विग्रहो यदि ततः दीप्तास्त्रस्फुरदुग्रदीधितिशिखानीराजितज्यम् मम एतद् धनुः धन्यम् ॥ १८ ॥

दत्तेन्द्राभयदक्षिणैरिति । वैवस्वात्—विवस्वान्=सूर्यः, तस्यापत्यं पुमान् वैवस्वतः तस्मात् । मनोः आ=आरभ्य, वैवस्वतमनो राज्यकालादारभ्येति भावः । दत्तेन्द्राभयदक्षिणैः—दत्ता, इन्द्राय, अभयदक्षिणा=अभयदानं, यैस्तैः । दृप्तानाम्=दर्पयुक्तानाम् । दहनाय=भस्मीकरणाय, विनाशायेति भावः । दीपितनिज०—दीपितः=प्रज्वलितः,

---

ज्यायान्—अयमनयोरतिशयेन वृद्धः इति ज्यायान्, 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५।३।५७) के अनुसार ईयस्—वृद्ध + ईयस्, 'वृद्धस्य च' (५।३।६२) सूत्र से 'वृद्ध' को 'ज्य' आदेश तथा 'ज्यादादीयसः' (६।४।१६०) से ईयस् के ईकार को 'आ'–ज्यायस्, प्रथमा एकवचन में ज्यायान् ।

वैवस्वतः=विवस्वतोऽपत्यं पुमान्; विवस्वत् + अण् ('तस्यापत्यम्' ४।१।९२) ।

राम—(उत्कण्ठा के साथ) वत्स ! इस आयुष्मान् को यहीं बुलाओ ।

लव—अच्छा । **(घूमता है)** ।

(तदनन्तर कुश प्रवेश करता है)

कुश—(अभिप्राय, हर्ष और धैर्य के साथ धनुष को टंकारता हुआ)

भगवान् वैवस्वत मनु (के काल) से लेकर जिन्होंने इन्द्र को अभयदान दिया है तथा दर्पयुक्त (वीरों) को भस्म (विनाश) करने के लिए अपने क्षात्रतेज रूपी अग्नि को प्रज्वलित किया

वैवस्वान् आ मनोः—सातवाँ मनु वैवस्वत मनु कहलाता है, क्योंकि उसका जन्म विवस्वान (सूर्य) से हुआ । अयोध्या पर शासन करने वाले सूर्यवंशी राजाओं के सूर्यवंश का प्रवर्तक यही मनु समझा जाता है; जैसा कि इस श्लोक से भवभूति का भी मत अभिव्यक्त होता है । कालिदास का भी ऐसा ही मत है—'वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।' (रघुवंश १।११)

दत्तेन्द्राभय०—आरम्भ से ही सूर्यवंशी राजा देवासुरसंग्राम में असुरों का विनाश कर इन्द्र को अभयदान देते आये हैं, ऐसा पुराणों से ज्ञात होता है । रामचन्द्र जी का तो जन्म ही रावण का संहार करके इन्द्र को भयमुक्त करने के लिए हुआ था ।

आदित्यैर्यदि विग्रहो नृपतिभिर्धन्यं ममैतत्ततो
दीप्तास्त्रस्फुरदुग्रदीधितिशिखानीराजितज्यं धनुः ॥ १८ ॥

(इति विकटं परिक्रामति)

रामः—कोऽप्यस्मिन् क्षत्रियपोतके पौरुषातिरेकः । तथा हि—

निजः = स्वकीयः, क्षत्रप्रतापः = क्षत्रियतेजः, एव अग्निर्यैस्तैः । आदित्यैः = सूर्यवंशीयैः । विग्रहः = युद्धम् । ततः = तदा । दीप्तास्त्र०—दीप्तानाम् = प्रज्वलितानाम्, अस्त्राणाम्, स्फुरन्त्यः = प्रकाशमानाः, उग्राः = तीक्ष्णाः, या दीधितयः = किरणाः, तासां शिखाभिः = अग्रभागैः, नीराजिता = कृतनीराजना, ज्या = मौर्वी, यस्य तत् तथाविधम् । धन्यम् = कृतार्थम् ।

अयम्भावः—वैवस्वतमनो राज्यकालादारभ्य यैरिन्द्राय तच्छत्रून् संहृत्याभयदानं दत्तम्, यैश्च गर्वितानां भस्मीकरणाय स्वकीयक्षात्रप्रतापाग्निः प्रज्वलिता, तादृशैः सूर्यकुलोत्पन्नैः राजभिः सह युद्धं प्रवर्तते चेत्तर्हि प्रज्वलितास्त्राणां प्रकाशमानास्तीक्ष्णाश्च ये किरणास्तेषामग्रभागैरारातिकारूपमङ्गलक्रियाभिः पूजिता मौर्वी यस्यैतादृशं ममैतद्धनुर्धन्यं भवेत् । एतेन प्रतिवीरवैशिष्टचवर्णनेन कुशस्य शौर्याधिक्यं व्यज्यते । अत्र क्षत्रप्रतापे अग्नेरभेदारोपात् निरङ्गं रूपकमलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

इति = एवम्प्रकारेण, विकटम् = उद्धतं, यथा स्यात् तथा परिक्रामिति ।

विकटभावेन समागच्छन्तं कुशं विलोक्य रामस्तं प्रशंसन्नाह—कोऽप्यस्मिन्निति । अस्मिन् क्षत्रियपोतके = क्षत्रियबालके, कोऽपि = अनिर्वचनीयः । पौरुषातिरेकः—पौरुषस्य = पराक्रमस्य, अतिरेक = अतिशयः, पराक्रमातिशयो वर्तते । तथाहि—

दीपितः—√दीप् + (णिच्) + क्त (कर्मणि) । आदित्यः—अदितेरपत्यं पुमान्, अदिति + ण्य । धन्यम्—धन + यत् । दीधितिः—√दीधी + क्तिन्, इट् का आगम होने पर 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' (७।४।५३) से इवर्णपरक होने के कारण ईकार का लोप होकर 'दीधितिः' पद निष्पन्न होता है । नीराजितः—निर् + √राज् + णिच् + क्त (कर्मणि) ।

पोतकः—पोत + क ('अज्ञाते' ५।३।७३); अज्ञातः पोत इति विग्रहः । पौरुषम्—पुरुषस्य भावः कर्म वा, पुरुष + अञ्, ('प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्' ५।१।१२९) । 'पुरुषसम्बन्धी' ऐसा विशेषण का अर्थ होने पर 'तस्येदम्' सूत्र से अण् प्रत्यय होगा । अतिरेकः—अति + √रिच् + घञ्, धातु के चकार को कुत्व ('चजोः कु घिण्ण्यतोः' ७।३।५२) ।

है, ऐसे सूर्यवंशी राजाओं से यदि युद्ध (होता) है, तब मेरा यह धनुष, जिसकी प्रत्यञ्चा की दीप्त अस्त्रों की प्रकाशमान किरणों के अग्रभाग से आरती उतारी गयी है, धन्य हो ॥ १८ ॥

(विकट भाव से घूमता है)

राम—इस क्षत्रिय बालक में कोई (अनिर्वचनीय) पौरुष का आधिक्य है । वह इस प्रकार है—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥१९॥

लवः – (उपसृत्य) जयत्वार्यः ।

अन्वयः—दृष्टिः तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा, धीरोद्धता गतिः धरित्रीं नमयतीव। कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानः अयं किं वीरो रसः, उत दर्प एव एति ? ॥१९॥

दृष्टिरिति । तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा— तृणीकृतः = तृणवत् तिरस्कृतः, जगत्त्रयस्य = लोकत्रयस्य, सत्त्वसारः = बलोत्कर्षः, यया सा । धीरोद्धता—धीरा = गाम्भीर्ययुक्ता, अविचलितेत्यर्थः, सा चासौ उद्धता = दर्पयुक्ता । गतिः = पादन्यासः । धरित्रीम् = पृथिवीम् । नमयति इव = अवनतां करोति इव । कौमारके = बाल्ये । गुरुताम् = गौरवम् । दधानः = धारयन् । दर्पः = अहङ्कारः । एति = आगच्छति ।

अयम्भावः—अस्य दृष्टिस्त्रिभुवनस्य बलोत्कर्षं तृणाय मन्यत इति प्रतीयते। गाम्भीर्ययुक्ता अविचलिता दर्पयुक्ता चास्य गतिः पृथिवीं नमयतीव । बाल्यावस्थायामपि पर्वतसदृशगुरुत्वं धारयन्नयं बालकः किमु मूर्तिमान् वीरो रसः ? अथवा साक्षाद् दर्प एव समायाति ? अस्य बालकस्य लोकातिशायी पराक्रमोऽभिव्यज्यत इति भावः ।

'नमयतीव' इत्यत्र क्रियोत्प्रेक्षा, अपि च 'गिरिवत्' इत्यत्रोपमा, द्वयोर्मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १९ ॥

लवः कुशमुपसृत्य 'जयतु आर्यः' इत्याह ।

तृणीकृतः—अतृणं तृणं सम्पद्यमानः कृतः, अभूततद्भावे च्विः । धरित्री—√धृ + इत्र + ङीप् । कौमारकम्—कुमारस्य भावः कौमारम् ('प्राणभृज्जातिवयोवचन०' ५।१।१२९ सूत्र से अञ्), कुमार + अञ्—कौमारम्, ततः स्वार्थे कन्—कौमारकम्। गिरिवद्—गिरिणा तुल्यम्—ऐसा विग्रह करने पर 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र से 'वति' प्रत्यय, तथा गिरेर्गुरुतामिव गुरुताम्—ऐसा विग्रह करने पर 'तत्र तस्येव' सूत्र से 'वति' प्रत्यय होगा । दधानः—'गिरिवद् गुरुतां दधानः' से शक्ति द्योत्य है, अतः यहाँ √धा से चानश् (आन) प्रत्यय हुआ है—'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (३।२।१२९) ।

(इसकी) तीनों लोकों के बलोत्कर्ष को तृण के समान समझने वाली दृष्टि है। (इसकी) गति मानों पृथिवी को अवनत कर रही है। बाल्यावस्था में भी पर्वत के समान गौरव को धारण किये हुए क्या यह वीररस है अथवा (साक्षात्) अहङ्कार ही आ रहा है ? ॥ १९ ॥

लव—(समीप जाकर) आर्य की जय हो ।

इस श्लोक में वीररस का तथा उसके सञ्चारीभाव 'दर्प' का स्वशब्द से उल्लेख है, अतः रस दोष है— श्लोकेऽस्मिन् वीररसस्य तथा तत्सञ्चारिभावस्य दर्पस्य स्वशब्देनोल्लेखात् रसदोष इति ज्ञेयम्' (जीवानन्द) ।

कुशः—नन्वायुष्मन् ! किमियं वार्ता युद्धं युद्धमिति ।

लवः—यत्किञ्चिदेतत् । आर्यस्तु दृप्तम्भावमुत्सृज्य विनयेन वर्तताम् ।

कुशः—किमर्थम् ?

लवः—यदत्र देवो रघुपतिस्तिष्ठति । स च स्निह्यत्यावयोरुत्कण्ठते च युष्मत्सन्निकर्षस्य ।

कुशः—(सतर्कम्) स रामायणकथानायको ब्रह्मकोषस्य गोपायिता ?

लवः—अथ किम् ?

कुशः—आशंसनीयपुण्यदर्शनः स महात्मा । किन्तु कथमस्माभिरुपगन्तव्य इति न सम्प्रधारयामि ।

कुशोऽपृच्छत्—ननु = अरे, आयुष्मन् ! ननु—सम्बोधनद्योतकमिदमव्ययपदमत्र; किमियं वार्ता = वृत्तान्तः, युद्धं युद्धमिति ? अत्र तु न किमपि युद्धं पश्यामीति भावः ।

लवः प्रत्यवदत्—एतत् युद्धं यत्किञ्चित् = स्वल्पम्, अतितुच्छम्, न प्रश्नार्हम् । भवान् दृप्तभावं = दर्पम्, उत्सृज्य = विहाय, विनयेन वर्तताम् = नम्रभावेन तिष्ठतु, यतोऽत्र महाराजो रघुपतिः स्थितः । स चावयोः स्नेहं करोति, युष्माकं सान्निध्यं (युष्मत्सन्निकर्षस्य = भवत्सान्निधेः) च उत्कण्ठते = काङ्क्षति, 'उत्कण्ठते' इति पदेन योगे 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी ।

एतच्छ्रुत्वा कुशः सतर्कमाह—किं यो रामायणकथायाः प्रधानपुरुषो ब्रह्मकोषस्य—ब्रह्म = वेदः, तदेव कोषः = निधिः, तस्य; गोपायिता = रक्षिता च, स एव रघुपतिरत्र स्थितः ?

लवेनोक्तम्—अथ किम् इति ।

रामायणकथानायको ब्रह्मकोषरक्षकः स रघुपतिरत्र तिष्ठतीति लवमुखाच्छ्रुत्वा

उत्सृज्य—उत् + √सृज् + ल्यप् । विनयेन—उपलक्षणे तृतीया । गोपायिता—√गुप् (रक्षणे) + आय (स्वार्थे) + तृच् । आशंसनीयम्—√आ + √शंस् + अनीयर् ।

कुश—अरे आयुष्मन् ! 'युद्ध युद्ध' यह क्या बात है ?

लव—यह जो कुछ भी हो, आप तो गर्व युक्त भाव को छोड़कर विनय से व्यवहार करें ।

कुश—क्यों ?

लव—क्योंकि यहाँ महाराज रघुपति (राम) उपस्थित हैं, और वे हम दोनों में स्नेह रखते हैं तथा आप के सान्निध्य के लिए समुत्सुक हैं ।

कुश—**(विमर्श के साथ)** क्या, वे रामायण कथा के नायक, वेदरूप निधि (अथवा महाण्ड) के रक्षक (राम उपस्थित हैं) ?

लव—और क्या ?

कुश—वे महात्मा अभिवाञ्छनीय पवित्र दर्शन वाले हैं । परन्तु किस प्रकार मुझे उनके पास जाना चाहिए, मैं यह निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ ।

ब्रह्मघोषस्य (पाठा०)—ब्रह्म घुष्यते (स्तूयते) अस्मिन्निति ब्रह्मघोषः = वेदः, तस्य । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (३।३।१९) इति घञ् ।

लवः—यथैव गुरुस्तथोपसदनेन ।

कुशः—कथं हि नामैतत् ?

लवः—अत्युदात्तः सुजनश्चन्द्रकेतुरौर्मिलेयः प्रियवयस्येति सख्येन मामुपतिष्ठते । तेन तत्सम्बन्धेन धर्मतात एवायं राजर्षिः ।

कुशः—सम्प्रत्यवचनीयो राजन्येऽपि प्रश्रयः ।

(उभौ परिक्रामतः)

कुशः प्राह—आशंसनीयेति । आशंसनीयपुण्यदर्शनः—आशंसनीयम् = अभिलषणीयम्, पुण्यम् = पवित्रम्, दर्शनम् = साक्षात्कारः, यस्य सः । कथम् = केन प्रकारेण । उपगन्तव्यः = उपस्थातव्यः । इति न सम्प्रधारयामि = न निश्चिनोमि । तस्य महात्मनः पुण्यं दर्शनमभिलषणीयमेवास्ते, किन्तु केन प्रकारेण तत्सकाशमुपगन्तव्यमिति निश्चयं नैव कर्तुं पारयामीति भावः ।

ततो लव आह—यथैवेति । यथा गुरुः = पित्रादिपूज्यजनः, अस्माभिः उपसदनेन = समीपगमनेन ('उपचारेण' इति पाठे—व्यवहारेणेत्यर्थः), सत्क्रियते तथैवासावपि सत्कर्तव्यः ।

कुशोऽपृच्छत्—कथमिति । कथं हि नाम केन प्रकारेण, एतत् = रामस्य गुरुवन्माननीयत्वम् (उपगमनीयत्वम्) ?

लवः समाधत्ते—अत्युदात्त इति । अत्युदात्तः = अतिशयोच्चस्वभावः । और्मिलेयः = ऊर्मिलायाः पुत्रः । सख्येन = मैत्र्या । उपतिष्ठते = सङ्गच्छते । राजर्षिः = रामचन्द्र इत्यर्थः । तात एव = पितैव ।

अयम्भावः—अतिशयोच्चस्वभावः सज्जन ऊर्मिलापुत्रश्चन्द्रकेतुः, प्रियमित्रेति सम्बोध्य मैत्र्या सङ्गच्छते, तस्य तेन मैत्रीरूपेण सम्बन्धेन स राजर्षिः (रामचन्द्रः) अस्माकं धर्मपितैव, अतोऽस्मिन् पितरीवादरः कर्त्तव्यः ।

उपसदनम्—उप + √सद् + ल्युट् (भावे) । उदात्तः—उद् + आ + √दा + क्त, 'अच उपसर्गात्तः' (७।४।४७) से तकारादेश । और्मिलेयः—ऊर्मिलाया अपत्यं पुमान् और्मिलेयः, ऊर्मिला + ढक् (ढ = एय) ('स्त्रीभ्यो ढक्') । सख्येन—सख्युर्भावः सख्यं तेन (करणे तृतीया), सखि + य ('सख्युर्यः') । उपतिष्ठते—'उपाद् देवपूजा-

---

लव—जैसे गुरु के समीप जाया जाता है, वैसे ही उनके समीप जाना चाहिए ।

कुश—यह कैसे ?

लव—अतिशय उच्च स्वभाव वाला सज्जन, ऊर्मिलापुत्र चन्द्रकेतु 'प्रियमित्र !' ऐसा मुझे सम्बोधित कर मित्रभाव से मिलता है । उसके इस सम्बन्ध से ये राजर्षि (राम) धर्मपिता ही हैं ।

कुश—इस समय क्षत्रिय के प्रति भी विनय निर्दोष है ।

(दोनों घूमते हैं)

सम्प्रत्यवचनीयो०—कुश अपने को सर्वोत्कृष्ट क्षत्रियवीर मानने के कारण ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी क्षत्रिय के प्रति विनय प्रदर्शित नहीं करता था । उसकी दृष्टि में क्षत्रिय को प्रणाम

लवः—पश्यत्वेनमार्यो महापुरुषमाकारानुभावगाम्भीर्यसम्भाव्यमान-विविधलोकोत्तरसुचरितातिशयम् ।

कुशः—(निर्वर्ण्य)

> अहो प्रासादिकं रूपमनुभावश्च पावनः ।
> स्थाने रामायणकविर्देवीं वाचं व्यवीवृतत् ॥ २० ॥

लवोक्तिं समर्थयन्नाह कुशः—सम्प्रतीति । अद्य यावदृते ब्राह्मणेभ्यो न कोऽपि क्षत्रियो वन्दित आवाभ्याम्, किन्तु सम्प्रति = अधुना, चन्द्रकेतुना सहास्माकं सख्य-सम्बन्धाद्रामस्य, पितृत्वेऽभ्युपगते सति राजन्ये = क्षत्रियश्रेष्ठे रामचन्द्रे, प्रश्रयः = प्रणयः, ('प्रश्रयप्रणयौ समौ' इत्यमरः) विनयप्रदर्शनं, (अवचनीयं = निर्दुष्टः) नानुचितम् ।

लवो रामदर्शनाय कुशं प्रेरयन्नाह—पश्यत्विति । आकारानुभाव०—आकारेण = सौम्याकृत्या, अनुभावेन = प्रभावेण, गाम्भीर्येण = अक्षोभ्यत्वेन च सम्भाव्यमानः = अनुमीयमानः, विविधानाम् = अनेकप्रकारकाणाम्, लोकोत्तराणाम् = लोकातिशायिनाम्, सुचरितानाम् = सत्कर्मणाम्, अतिशयः = उत्कर्षः, यस्य तम् । महापुरुषम् = महात्मानम् । आर्य ! एनं महापुरुषं पश्यतु, यस्यानेकप्रकारकाणां लोकोत्तरसुचरितानामुत्कर्षस्तस्याकारेण, प्रभावेण गाम्भीर्येण चानुमीयते इति लवस्योक्तेराशयः ।

सङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इति सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम् । राजन्यः—राज्ञः (क्षत्रियस्य) अपत्यं पुमान् राजन्यः, राजन् + यत् ('राजश्वशुराद्यत्'), 'ये चाभावकर्मणोः' (६।४।१६८) से 'अन्' का प्रकृतिभाव हो जाने के कारण 'नस्तद्धिते' सूत्र से प्राप्त टिलोप नहीं हुआ । अवचनीयः—नञ् (अ) + √वच् + अनीयर् । प्रश्रयः—प्र + √श्रि + अच् ।

आकारः—आ + √कृ + घञ् । अनुभावः—अनु + √भू + णिच् + घञ् । गाम्भीर्यम्—गम्भीरस्य भावः, गम्भीर + ष्यञ् । सम्भाव्यमानः—सम् + √भू (णिच्) + शानच् (कर्मणि) ।

लव—आकार, प्रभाव और गाम्भीर्य से जिनके विविध लोकोत्तर सुचरितों का अनुमान किया जा सकता है, आप ऐसे इन महापुरुष का दर्शन करें ।

कुश—(देखकर)

इनका प्रसादपूर्ण रूप तथा पवित्र प्रभाव आश्चर्यजनक है । (सचमुच) रामायण के कवि (भगवान् वाल्मीकि) ने योग्यपात्र के विषय में वाग्देवी को (रामायण रूप में) परिणत किया (अथवा वाल्मीकि जी ने जो अपनी वाणी को रामायण के रूप में परिणत किया, वह युक्त ही है ।) ॥ २० ॥

करना अपनी हीनता प्रकट करना था, किन्तु चन्द्रकेतु से मैत्री हो जाने के कारण श्रीरामचन्द्रजी क्षत्रिय होने पर भी उसके लिए पिता-तुल्य ही हुए, अतः अब उन्हें प्रणाम करने में कुश दोष नहीं समझता है ।

'व्यवीवृतत्' के स्थान में **'अवीवृतत्'** अथवा **'अवीवृधत्'** पाठ भी मिलता है । भवभूति ने द्वितीय अङ्क में 'रामायण' को शब्दब्रह्म का विवर्त कहा है (भगवान् प्राचेतसः······शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय) । इस दृष्टि से 'व्यवीवृतत्' पाठ अधिक समीचीन लगता है ।

(उपसृत्य) तात ! प्राचेतसान्तेवासी कुशोऽभिवादयते ।

रामः—एह्येह्यायुष्मन् !

अमृताध्मातजीमूतस्निग्धसंहननस्य ते ।
परिष्वङ्गाय वात्सल्यादयमुत्कण्ठते जनः ॥ २१ ॥

अन्वयः—अहो ! प्रासादिकं रूपं पावनः अनुभावश्च । स्थाने रामायणकविः देवीं वाचं व्यवीवृतत् ॥ २० ॥

कुशो रामं दृष्ट्वाऽऽह—**अहो** इति । अहो = आश्चर्यम् ! प्रासादिकम्—प्रसादः पारुष्यराहित्यम्, तस्मिन् भवं प्रासादिकम्, प्रसादसम्पन्नमित्यर्थः । रूपम् = आकारः । पावनः = पवित्रः । अनुभावः = प्रभावः । स्थाने = योग्यपात्रे विषये, अथवा स्थाने = युक्तम् । रामायणकविः = वाल्मीकिः । देवीं वाचम् = वाग्देवीम् । व्यवीवृतत् = रामायणरूपेण परिणतामकरोत् ।

अयम्भावः—अस्य महापुरुषस्य प्रसादसम्पन्नं रूपं पवित्रश्च प्रभावो विस्मयं जनयति । रामायणकाव्यप्रणेता वाल्मीकिर्योग्यपात्रे वाग्देवीं रामायणरूपेण परिणतामकरोत् । ईदृशस्यैव नायकस्य वर्णनेन कविः साफल्यमेति, तत्काव्यं च सार्थकतां प्राप्नोति । अत्र रामचन्द्रस्य वर्णने प्रासादिकरूपकारणे सत्यपि, पावनानुभावरूपस्य हेत्वन्तरस्योपादानात् समुच्चयोऽलङ्कारः; अपि च परार्द्धं प्रति पूर्वार्द्धस्य हेतुतयोपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः, एतयोः सापेक्षतया संस्थितेः सङ्करः ॥ २० ॥

कुशः उपसृत्य = रामसमीपमागत्य, प्राह—प्राचेतसान्तेवासी—प्राचेतसः = वाल्मीकिः, तस्य अन्तेवासी = शिष्यः, अभिवादयते = प्रणमति ।

रामश्च तं प्रत्याह—एहीति । आयुष्मन् ! एहि, एहि = आगच्छ, आगच्छ ।

अन्वयः—अयं जनः वात्सल्यात् अमृताध्मातजीमूतस्निग्धसंहननस्य ते परिष्वङ्गाय उत्कण्ठते ॥ २१ ॥

अमृतेति । अयं जनः = रामः । वात्सल्यात् = स्नेहाद्धेतोः । अमृताध्मात०—अमृतेन = जलेन ('पयः कीलालममृतम्' इति जलपर्यायेष्वमरः), आध्मातः = सम्भृतः, जीमूतः

प्रासादिकम्—प्रसादे भवम्, प्रसाद + ठक् (ठ=इक) । पावनः—√पू + णिच् + ल्युट् (कर्तरि) । व्यवीवृतत्—वि + √वृत् + णिच् + लुङ्, चङि द्वित्वम् ।

आध्मातः—आ + √ध्मा + क्त (कर्मणि) । स्निग्धम्—√स्निह् + क्त । संहननम्—संहन्यते (चीयते) अस्थिचर्मादि यत्र, सम् + √हन् + ल्युट् (अधिकरणे) । परिष्वङ्गः—परि + √स्वञ्ज् + घञ् (भावे), 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति कुत्व, 'उपसर्गात्सुनोति०' से धातु के सकार को षत्व ।

(समीप जाकर) तात ! वाल्मीकि का शिष्य (आपको) प्रणाम करता है ।

राम—चिरंजीव ! आओ, आओ ।

यह व्यक्ति (राम) वात्सल्य के कारण जल से परिपूर्ण मेघ के सदृश कोमल शरीर वाले तुम्हारे आलिङ्गन के लिए उत्सुक हो रहा है ॥ २१ ॥

(परिष्वज्य, स्वगतम्) तत्किमपत्यमयं दारकः ?

अङ्गादङ्गात् सृत इव निजस्नेहजो देहसारः
प्रादुर्भूय स्थित इव बहिश्चेतनाधातुरेव ।
सान्द्रानन्दक्षुभितहृदयप्रस्नवेनेव सृष्टो
गात्रं श्लेषे यदमृतरसस्रोतसा सिञ्चतीव ॥ २२ ॥

=मेघः, स इव स्निग्धम्=कोमलम्, संहननम्=शरीरं, यस्य तथाविधस्य ('गात्रं वपुः संहननं शरीरम्' इत्यमरः)। परिष्वङ्गाय=आलिङ्गनं कर्तुम् ('तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी)। उत्कण्ठते=औत्सुक्येन तिष्ठति ।

अयम्भावः—अयं जनः (रामः) वात्सल्याद्धेतोः, जलसम्भरितमेघवत् स्निग्धं शरीरं यस्य तस्य ते समालिङ्गनाय समुत्सुको वर्तते, तदागत्य मां परिष्वजस्व । उपमालङ्कारः ॥ २१ ॥

आलिङ्गनजनितसुखमनुभवन् रामः स्वगतमाह—तत्किमिति । तत्=ततः । किमिति प्रश्ने । दारकः=बालकः । अपत्यम्=पुत्रः ।

अन्वयः—अङ्गात् अङ्गात् सृतः निजस्नेहजः देहसार इव, चेतनाधातुरेव प्रादुर्भूय बहिः स्थित इव, सान्द्रानन्दक्षुभितहृदयप्रस्नवेन सृष्ट इव । यत् (अयं) श्लेषे गात्रम् अमृतरसस्रोतसा सिञ्चतीव ॥ २२ ॥

अङ्गादिति । अङ्गात् अङ्गात्=सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः । सृतः=क्षरितः । निजस्नेहजः—निजः=स्वकीयः, मदीय इत्यर्थः, स्नेहजः=वात्सल्योत्पन्नः, देहसार इव=मम शरीरस्य उत्तमांश इव । चेतनाधातुः=चैतन्यरूपो देहधारकः पदार्थः । प्रादुर्भूय=मूर्तिमान्

सृतः—√सृ+क्त (कर्तरि)। प्रादुर्भूय—प्रादुस्+√भू+ल्यप् । क्षुभित—√क्षुभ्+क्त, इड्गम । इट् रहित 'क्षुब्ध' का अर्थ 'मन्थनदण्ड' है, इसकी सिद्धि 'क्षुब्धस्वान्तध्वान्त–' (७।२।१८) सूत्र के अनुसार निपातन से होती है—'शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना'—शिशुपालवध (२।१०७)। जहाँ 'क्षुभित' के अर्थ में 'क्षुब्ध' का प्रयोग होता है, वहाँ आगमशास्त्र के अनित्य होने से इट् का अभाव समझा जाय । प्रस्नवः—प्र+√स्नु (प्रस्रवणे)+अप् । सृष्टः—√सृज्+क्त (कर्मणि)। श्लेषः—√श्लिष्+घञ् ।

(आलिङ्गन कर, स्वगत) तो क्या यह बालक (मेरा अपना) पुत्र है ? (यह) मानों अङ्ग-अङ्ग से चुआ हुआ, स्नेहजनित मेरे शरीर का (रूप-लावण्यादि) उत्कृष्ट अंश है, मानों (मेरा) चैतन्य रूप पदार्थ ही प्रकट होकर (मूर्तिमान् होकर) बाहर स्थित है, मानों प्रगाढ आनन्द से मथित (मेरे) हृदय के द्रव से (यह) निर्मित हुआ है, जो आलिङ्गन के समय (यह) मेरे शरीर को मानों सुधारस की धारा से सींच रहा है ॥ २२ ॥

यहाँ भवभूति ने निम्नाङ्कित श्रुति का आधार लिया है—

'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायते ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥'

लवः—तात ! ललाटन्तपो घर्मांशुः । तदत्र सालवृक्षच्छाये मुहूर्तमासनपरिग्रहं करोतु तातः ।

भूत्वा । बहिः = शरीराद् बहिः । स्थितः = विद्यमानः । सान्द्रानन्द०—सान्द्रः = प्रगाढः, यः आनन्दः = प्रमोदः, तेन क्षुभितस्य = आलोडितस्य, हृदयस्य प्रस्नवेन = निष्यन्देन । सृष्टः = निर्मितः । यत् = यस्मात् । श्लेषे = आलिङ्गने कर्मणि । गात्रम् = शरीरम् । अमृतरसस्रोतसा = पीयूषरसप्रवाहेण । सिञ्चतीव = प्लावयतीव ।

अयम्भावः—तत्किमयं बालको मे पुत्रोऽस्ति ? यत् अयं सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः मृतो मम वात्सल्यसमुत्थो मे शरीरस्योत्तमांश इव स्थितः, यद्वा मम देहधारकश्चैतन्यरूपः पदार्थ एव मूर्तिमान् भूत्वा शरीराद् बहिः स्थित इव, किं वा प्रगाढानन्देनालोडितस्य मे हृदयस्य निष्यन्देन निर्मित इव, आलिङ्गनकाले पीयूषरसप्रवाहेण मे शरीरं सिञ्चतीव। अस्य बालकस्यालिङ्गनेन तादृशो महान् आनन्दोऽनुभूयते, मन्ये वात्सल्यवशात् मे देहसारश्चेतनाधातुरेव वा सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो बहिर्भूय बालकरूपेण विद्येत, अपि च प्रगाढेनानन्देन मथितस्य मम हृदयस्य निस्यन्देनायं रचितः स्यादिति भावः ।

अत्र दारकस्य सुतस्नेहजदेहसाररूपत्वेन तथा चेतनाधातुरूपत्वेन चोत्कीर्तनाद् द्रव्योत्प्रेक्षालङ्कारः, अपि च अमृतरसस्रोतसा सेचनासत्त्वेऽपि सेचनोत्कीर्तनाद् क्रियोत्प्रेक्षालङ्कारः, चेतनायां धातोरभेदारोपाद् रूपकालङ्कारश्च । एतेषां चतुर्णां परस्परसापेक्षतया स्थितेः सङ्करः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ २२ ॥

घर्माधिक्यमनुभवँल्लवः सविनयं रामं प्राह—तातेति । हे तात = हे पितः ! ललाटन्तपः—ललाटं तपतीति, भालदेशसन्तापक इत्यर्थः । घर्मांशुः—घर्माः = उष्णाः, अंशवः = किरणाः, यस्य सः = सूर्य इत्यर्थः । तत् = तस्मात् । सालवृक्षच्छाये—सालवृक्षाणां

ललाटन्तपः—ललाटं तपतीति ललाटन्तपः (उपपदसमास), 'ललाट' उपपद होने पर तप् धातु से खश् प्रत्यय ('असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' ३।२।३६), 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इस सूत्र से 'ललाट' के मुन् का आगम ।

वृक्षच्छाये—'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' (२।४।२५) सूत्र के अनुसार यहाँ तत्पुरुषसमास के अन्त में छाया शब्द होने के कारण समस्त पद विकल्प से नपुंसकलिङ्ग हो गया और 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से ह्रस्वान्त होकर 'वृक्षच्छायम्' बन गया, सप्तमी के एक वचन में 'वृक्षच्छाये' । पक्ष में 'वृक्षच्छायायाम्' भी होता है ।

आसनम्—'वह वस्तु जिस पर बैठा जाता है' (आस्यतेऽस्मिन्) इस अर्थ में आस् धातु से 'करणाधिकरणयोश्च' सूत्र के अनुसार 'अधिकरण' के अर्थ में ल्युट् (= अन) प्रत्यय । जब 'बैठना' अर्थ होगा तब भाव में ल्युट् प्रत्यय होगा ।

लव—पिताजी ! सूर्य ललाट को तपा रहा है; अतः सालवृक्षों की इस छाया में थोड़ी देर आप आसन ग्रहण करें ।

रामः—यदभिरुचितं वत्साय। (सर्वे परिक्रम्य यथोचितमुपविशन्ति)

(स्वगतम्)

अहो प्रश्रययोगेऽपि गतिस्थित्यासनादयः।
साम्राज्यशंसिनो भावाः कुशस्य च लवस्य च ॥ २३ ॥
वपुरविहितसिद्धा एव लक्ष्मीविलासाः
प्रतिकलकमनीयं कान्तिमत् केतयन्ति।
अमलिनमिव रत्नं रश्मयस्ते मनोज्ञाः
विकसितमिव पद्मं बिन्दवो माकरन्दाः ॥ २४ ॥

छायायाम्। मुहूर्तम्=घटिकाद्वयम्, कियन्तं कालमित्यर्थः ('कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' द्वितीया)। आसनपरिग्रहम्=उपवेशनम्। हे पितः! सूर्यः सम्प्रति ललाटदेशसन्तापकः, तस्मादस्मिन् सालवृक्षच्छाये मुहूर्तमुपविशतु भवानिति लवोक्तेराशयः।

रामोऽपि यदभिरुचितम्=यद्रोचते, वत्साय=पुत्राय, इत्याह ('रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी)।

अन्वयः—अहो! प्रश्रययोगेऽपि कुशस्य च लवस्य च गतिस्थित्यासनादयः भावाः साम्राज्यशंसिनः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्रो भ्रातृद्वयं निपुणं निरीक्ष्य स्वगतमाह—अहो इति। अहो=आश्चर्यम्! प्रश्रययोगेऽपि—प्रश्रयस्य=विनयस्य, योगे=सम्बन्धे सत्यपि। गतिस्थित्यासनादयः—गतिः=गमनम्, स्थितिः=निर्व्यापारतया अवस्थानम्, आसनम्=उपवेशनम्, एतानि आदिर्येषां ते भावाः=क्रियाः। साम्राज्यशंसिनः—साम्राज्यं शंसन्तीति, सार्वभौमत्वसूचकाः।

अयम्भावः—अहो! विनयसम्बन्धे सत्यपि कुशस्य लवस्य च गमनम्, अवस्थानम्, उपवेशनं चेत्यादयः सर्वे क्रियाकलापाः सार्वभौमत्वं सूचयन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

अन्वयः—ते मनोज्ञाः रश्मयः अमलिनम् रत्नमिव माकरन्दाः बिन्दवः विकसितं पद्मिव अविहितसिद्धा एव लक्ष्मीविलासाः प्रतिकलकमनीयं कान्तिमत् वपुः केतयन्ति ॥ २४ ॥

साम्राज्यशंसिनः—सम्यक् राजत इति सम्राट् (सम्राज् प्रातिपदिक); सम्+√राज्+क्विप्, तस्य भावः साम्राज्यम्; सम्राज्+ष्यञ्, साम्राज्यं साधु शंसन्ति इति; साम्राज्य+√शंस्+णिनि (साधुकारिणि कर्तरि)।

राम—वत्स की जो अभिरुचि। (सब घूमकर यथायोग्य बैठते हैं)।

(स्वगत) आश्चर्य का विषय है कि विनय से युक्त होने पर भी कुश और लव के चलने, रुकने, बैठने इत्यादि की क्रियाएँ इनके चक्रवर्ती होने की सूचना देती हैं ॥ २३ ॥

जैसे मनोज्ञ किरणें उज्ज्वल रत्न को, जैसे मकरन्द की बूँदें खिले हुए कमल को (भूषित

वपुरवियुतसिद्धाः ····प्रतिकलकमनीयां कान्तिमुद्भेदयन्ति (पाठा०)—वपुषा अवियुताः (अवियुक्ताः) सन्तः सिद्धाः, सहजसिद्धा इत्यर्थः, लक्ष्मीविलासाः प्रतिकलकमनीयां कान्तिम्

भूयिष्ठां च रघुकुमारच्छायामनयोः पश्यामि ।

कुशलवयोः शरीरसौन्दर्यं विलोक्य रामः पुनराह—वपुरिति । ते=प्रसिद्धाः। मनोज्ञाः=मनोहराः । रश्मयः=किरणाः । अमलिनम्=उज्ज्वलम् । इव=यथा। माकरन्दाः—मकरन्दः=पुष्परसः, तस्य इमे, मकरन्दसम्बन्धिन इत्यर्थः। बिन्दवः=कणाः । पद्मम्=कमलम् । अविहितसिद्धाः—विहितम्=विधानम् (भावे क्तः), यत्न इत्यर्थः, नास्ति विहितं (यत्नः) यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात्तथा सिद्धाः, स्वभावसिद्धा इत्यर्थः । लक्ष्मीविलासाः—लक्ष्म्याः=शोभायाः, विलासाः=स्फुरणानि । प्रतिकलकमनीयम्—कलायां कलायामिति प्रतिकलम्=अनुक्षणम्, कमनीयम्=रमणीयम् । कान्तिमत्—प्रचुरसौन्दर्ययुक्तम् । वपुः=शरीरम् । केतयन्ति=निवसन्ति (भूषयन्तीत्यर्थः, धातोरर्थनिर्देशस्योपलक्षणत्वात्) ।

अयम्भावः—मनोहराः किरणा यथोज्ज्वलं रत्नम्, मकरन्दबिन्दवो यथा विकसितं कमलम्, तथैव नैसर्गिकाणि शोभास्फुरणानि कुशलवयोरनुक्षणं रमणीयं सौन्दर्ययुक्तं शरीरं भूषयन्तीति भावः ।

अत्र लक्ष्मीविलासानां रश्मिभिर्मकरन्दबिन्दुभिश्च सार्द्धं साम्योपदेशादुपमेऽलङ्कारौ निरपेक्षतया स्थितत्वेन संसृष्टी । मालिनी वृत्तम् ॥ २४ ॥

पुनरपि कुशलवयोर्विषये रामः प्राह—भूयिष्ठामिति । अनयोः=कुमारयोः, कुशलवयोरित्यर्थः; भूयिष्ठाम्=बहुतराम् । रघुकुमारच्छायाम्—रघुवंशीयस्य कुमारस्य छायाम्=प्रतिबिम्बम्, सादृश्यमित्यर्थः; पश्यामि=अवलोकयामि । तथाहि—

विहितम्—वि+√धा+क्त (नपुंसके भावे) 'धा' को 'हि' ('दधातेर्हिः' ७।४।४२) । प्रतिकलकमनीयम्—कलायां कलायामिति प्रतिकलम् (वीप्सार्थेऽव्ययीभावः); प्रतिकलं कमनीयम् इति प्रतिकलकमनीयम् (सुप्सुपेति समासः) । कान्तिमत्—प्रशस्ता कान्तिरस्येति, प्राशस्त्येऽर्थे मतुप् । माकरन्दाः—मकरन्दस्य इमे, मकरन्द+अण् ('तस्येदम्' ४।३।१२०) ।

करती हैं) वैसे ही नैसर्गिक शोभा के विलास प्रतिक्षण रमणीय कान्तिमान् (इन दोनों के) शरीर को भूषित करते हैं ॥ २४ ॥

इन दोनों कुमारों में रघुकुल के कुमारों की बहुत कुछ समानता देख रहा हूँ ।

उद्भेदयन्ति=उत्पादयन्ति प्रकाशयन्ति वा । वपुषोऽपि कर्मत्वे लक्ष्मीविलासाः । वपुः प्रकाशयन्ति कान्तिं चोत्पादयन्ति ।

केतयन्ति—भ्वादिगणीय √कित (निवासे रोगापनयने च)+लट् (झि=अन्ति) । 'निवासे तु केतयति' (दीक्षित) । अर्थात् निवास अर्थ में प्रयुक्त होने पर स्वार्थ में णिच् प्रत्यय होता है । चुरादि गण में केतधातु पठित है, उसका प्रयोग आमन्त्रण अर्थ में भी होता है। 'केत श्रावणे निमन्त्रणे च''''''कुण गुण चामन्त्रणे । चकारात्केतेति ।' यहाँ भ्वादिगणीय 'कित निवासे' या चुरादिगणीय 'केत आमन्त्रणे' दोनों में से किसी भी एक को मानने पर प्रत्येक दशा में कहना पड़ेगा कि 'धातूनामनेकार्थत्वाद् भूषणे लट्' । धातुओं के अनेकार्थक होने से यहाँ भूषण अर्थ में लट् लकार है ।

कठोरपारावतकण्ठमेचकं वपुर्वृषस्कन्धसुबन्धुरांसकम् ।
प्रसन्नसिंहस्तिमितं च वीक्षितं ध्वनिश्च माङ्गल्यमृदङ्गमांसलः ॥ २५ ॥

(निपुणं निरूप्य) अये ! न केवलमस्मदङ्गसंवादिन्याकृतिः ।

अन्वयः—कठोरपारावतकण्ठमेचकं, वृषस्कन्धसुबन्धुरांसकं वपुः प्रसन्नसिंहस्तिमितं वीक्षितं च माङ्गल्यमृदङ्गमांसलः ध्वनिः च ॥ २५ ॥

कठोरेति । कठोरपारावतकण्ठमेचकम्—कठोरः = तरुणः, यः पारावतः = कपोतः, तस्य कण्ठ इव = गल इव, मेचकम् = नीलम् । वृषस्कन्धसुबन्धुरांसकम्—वृषस्य = वृषभस्य, स्कन्ध इव सुबन्धुरौ = अतिमनोहरौ, अंसौ = स्कन्धौ, यस्मिंस्तत् (कप् समासान्तः) । वपुः = शरीरम् । प्रसन्नसिंहस्तिमितम्—प्रसन्नः = प्रशान्तः, यः सिंहः, तस्येव स्तिमितम् = निश्चलम् । वीक्षितम् = अवलोकनम्, दृष्टिरित्यर्थः । माङ्गल्यमृदङ्गमांसलः—माङ्गल्यः = मङ्गलसूचकः, यो मृदङ्गः = मुरजः, तस्येव मांसलः = गम्भीरः । ध्वनिः = कण्ठस्वरः ।

अयम्भावः—अनयोः शरीरं तरुणकपोतस्य कण्ठ इव श्यामलम्, तस्मिंश्च स्कन्धौ वृषभस्य स्कन्ध इव मनोहरौ, प्रशान्तस्य सिंहस्येव निश्चला दृष्टिः, ध्वनिश्च मङ्गलसूचकमृदङ्गध्वनिरिव गम्भीराऽस्ति । एवं चैतैर्लक्षणैरनयो रघुवंशसम्बन्धः परिस्फुटं प्रतीयत इति भावः । अत्र चतसृणामुपमानां मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ २५ ॥

भूयिष्ठाम्—बहु + इष्ठ, 'इष्ठस्य यिट् च' (६।४।१५९) से बहु को 'भू' आदेश, इष्ठ के इकार का लोप और यिट् का आगम—भूयिष्ठ, स्त्रियां टाप् ।

स्तिमितम्—√स्तिम् + क्त । वीक्षितम्—वि + √ईक्ष् + क्त (नपुंसके भावे) । माङ्गल्यः—मङ्गलाय हितः मङ्गल्यः–मङ्गल + यत्, मङ्गल्य एव माङ्गल्यः (स्वार्थेऽण्) ।

(इनका) शरीर तरुणकपोत के कण्ठ की तरह नीलवर्ण है, जिसमें वृषभ के स्कन्ध के समान सुन्दर कन्धे हैं; प्रशान्त सिंह की-सी अचञ्चल दृष्टि है तथा मङ्गलसूचक मृदङ्ग की-सी गम्भीर कण्ठध्वनि है ॥ २५ ॥

(भली-भाँति देखकर) केवल हमारे ही अङ्गों के सदृश आकृति नहीं है ।

वृषस्कन्धसुबन्धुरांसयोः (पाठान्तर)—यह पाठ मानने पर इस समस्त पद को कुश-लव का विशेषण मानना होगा, शरीर का नहीं ।

वृषस्कन्धमबन्धुरांशकम् (पाठा०)—'वृषस्कन्धम् + अबन्धुरांशकम्' यह दोनों समस्त पद 'वपुः' के विशेषण हैं । वृषस्य स्कन्ध इव स्कन्धौ यस्मिंस्तत् वृषस्कन्धम् । अबन्धुराः = अनुन्नतनताः समा इत्यर्थः, अंशाः = अवयवाः, यस्मिंस्तत् । यह अवधेय है कि बन्धुर शब्द का अर्थ 'ऊँचा-नीचा' और 'मनोहर' दोनों होता है ।

वृषस्कन्धमबन्धुरांशयोः (पाठा०)—इस पाठ में 'वृषस्कन्धम्' वपुः का विशेषण और 'अबन्धुरांशयोः' दोनों कुमारों का विशेषण है—अबन्धुराः = अनुन्नतनताः समा इत्यर्थः, अंशाः = शरीरावयवाः, ययोस्तयोः (तुलना कीजिए—'समः समविभक्ताङ्गः०' ।

अपि जनकसुतायास्तच्च तच्चानुरूपं
स्फुटमिह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयमस्ति ।
ननु पुनरिव तन्मे गोचरीभूतमक्ष्णो-
रभिनवशतपत्रश्रीमदास्यं प्रियायाः ॥ २६ ॥

निपुणम् = सम्यक्, निरूप्य = दृष्ट्वा, रामः पुनराह—अये न केवलमिति। आकृतिः = आकारः । न केवलं अस्मदङ्गसंवादिनी—अस्मदङ्गैः संवादिनी = सदृशी।

अन्वयः—इह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयं तच्च तच्च जनकसुतायाः अपि अनुरूपं स्फुटमस्ति । ननु अभिनवशतपत्रश्रीमत् तत् प्रियायाः आस्यं पुनः मे अक्ष्णोः गोचरीभूतमिव ॥ २६ ॥

अपीति । इह = अस्मिन् । शिशुयुग्मे = बालकयुगले । नैपुणोन्नेयम्—नैपुणेन = निपुणतया, उन्नेयम् = अनुमेयम् । तच्च तच्च = अवयवादिकम्, गुणजातं च । जनकसुतायाः = सीताया अपि । अनुरूपम् = सदृशम् । स्फुटं = व्यक्तम् । अभिनवशतपत्रश्रीमत्—अभिनवम् = नूतनम्, शतपत्रम् = कमलम्, तस्य श्रीः = शोभा, सेव शोभाऽस्ति अस्येति तथोक्तम् । आस्यम् = वदनम् । पुनः = भूयः । अक्ष्णोः = नेत्रयोः । गोचरीभूतमिव = विषयीभूतमिव । ननु = सम्भाव्यते ।

अयम्भावः—न केवलं ममाङ्गसदृशी कुमारयोराकृतिरपि तु सीताया अपि सदृशम् अवहिततया निश्चयार्हमङ्गविन्यासादिकं गुणजातं चास्मिन् कुमारद्वये परिस्फुटमस्ति । सीताया आकृतिर्यादृशी आसीद् गुणजातं च यादृशमासीत् तत्सर्वमनयोः कुमारयोरपि निपुणतयाऽवलोकनेन परिस्फुटमुपलक्ष्यते इति भावः । अनयोर्मुखाकृतिदर्शनेनैवं मन्ये यत् सद्योविकसितकमलश्रीसम्पन्नं प्रियायास्तदेव मुखं मम नेत्रयोः पुरतो वर्तते ।

'गोचरीभूतमिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः । 'अभिनवशतपत्रश्रीमत्' इत्यत्र समासगतोपमा, सादृश्यदर्शनेन सीतामुखस्मरणोदयाच्च स्मरणालङ्कारः, एतेषाञ्च परस्परसापेक्षतया स्थितेः सङ्करः । मालिनी वृत्तम् ॥ २६ ॥

अस्मदङ्गसंवादिनी—अस्माकमङ्गानि इति अस्मदङ्गानि, तैः संवदति = सदृशी भवति इति अस्मदङ्गसंवादिनी—सम् + √वद् + णिनि + ङीप् (स्त्रियाम्)। नैपुणम्—निपुणस्य भावः कर्म वा, निपुण + अण् । उन्नेयम्—उद् + √नी + यत्। गोचरीभूतम्—अभूततद्भावे च्विः ।

(अपितु) जानकी के भी सदृश वह-वह (अङ्ग-विन्यासादि तथा गुण-समूह) इन दोनों बच्चों में स्पष्ट है (किन्तु) सावधानी से ही उसका अनुमान किया जा सकता है। ऐसा लग रहा है कि नये कमल के सदृश शोभा युक्त प्रिया (सीता) का वह मुख मेरी आँखों के सामने फिर से प्रकट हो गया है ॥ २६ ॥

मुक्ताच्छदन्तच्छविसुन्दरेयं सैवोष्ठमुद्रा स च कर्णपाशः ।
नेत्रे पुनर्यद्यपि रक्तनीले तथापि सौभाग्यगुणः स एव ॥ २७ ॥

(विचिन्त्य) तदेतत्प्राचेतसाध्युषितमरण्यं यत्र किल देवी परित्यक्ता । इयं चानयोराकृतिर्वयोऽनुभावश्च । यदपि स्वतःप्रकाशान्यस्त्राणीति तत्र विमृ-

---

अन्वयः—मुक्ताच्छदन्तच्छविसुन्दरा इयम् ओष्ठमुद्रा सा एव, कर्णपाशः च सः, नेत्रे पुनः यद्यपि रक्तनीले तथापि सौभाग्यगुणः स एव ॥ २७ ॥

रामः सीतासाम्यं प्रतिपादयति—मुक्तेति । मुक्ताच्छदन्तच्छविसुन्दरा—मुक्ता इव अच्छाः=निर्मलाः, ये दन्ताः, तेषां छविः=कान्तिः, तया सुन्दरा=मनोहरा । ओष्ठमुद्रा=अधरोत्तरोष्ठसन्निवेशः । कर्णपाशः=प्रशस्तं कर्णयुगलम् । सौभाग्यगुणः= सौन्दर्यगुणः ।

अयम्भावः—मौक्तिकविशदानां दन्तानां कान्त्या मनोहरा सीताया एव ओष्ठमुद्रा । सीताया यादृशी ओष्ठरचनाऽऽसीत् तादृश्येवानयोरप्यस्तीति भावः । शोभनौ कर्णौ च तावेव स्तः, सीताया यादृशौ कर्णावास्ताम्, तादृशावेवानयोरपि कर्णौ दृश्येते इति भावः । किन्तु यद्यपि सीताया नेत्रे नीले आस्ताम्, अनयोस्तु मम नेत्रसदृशे रक्त-नीले स्तः, एवं नेत्रयोर्भेदे सत्यपि सौन्दर्यगुणः एकरूप एव । एवमनयोः कुमारयोः स्वल्पांश एव भेदसद्भावात् ओष्ठकर्णादिसौन्दर्यगुणेषु सीतासादृश्यात् किमेतौ सीताया एव पुत्रौ इति रामस्य वितर्कः ।

अत्रैकस्य ओष्ठमुद्रादेरपरस्यासम्भवादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शना; अपि मुक्तानां दन्तसाधर्म्याभिधानात् समासगतोपमाऽलङ्कारः । तयोर्मिथः सापेक्षतया स्थितेः सङ्करः । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मिश्रणादुपजातिर्वृत्तम् ॥ २७ ॥

विचिन्त्य रामः पुनराह—तदेतदिति । प्राचेतसाध्युषितम्—प्राचेतसेन=वाल्मी-किना, अध्युषितम्=कृतनिवासम् । अनयोः=कुशलवयोः । आकृतिः=आकारः,

---

कर्णपाशः—प्रशस्तौ कर्णावित्यर्थः । यहाँ कर्ण शब्द का प्रशंसावाचक पाशशब्द के साथ 'प्रशंसावचनैश्च' (२।१।६६) से समास हुआ है । सौभाग्यम्—सुभगस्य भावः, सुभग + ष्यञ्, उभयपद को वृद्धि ('हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च') ।

मोती के समान स्वच्छ दाँतों की कान्ति से सुन्दर यह ओष्ठमुद्रा वही (सीता की ही) है और कर्णपाश भी वही है; किन्तु यद्यपि नेत्र लाल और नीले हैं तथापि सौन्दर्यगुण वही है ॥२७॥

(सोचकर) वही यह वाल्मीकि से अधिष्ठित वन है, जहाँ देवी (सीता) का परित्याग किया गया था । और इन दोनों (कुश-लव) की यह आकृति, अवस्था तथा प्रभाव है । और 'जृम्भकास्त्र स्वतः प्राप्त हुए हैं' (लव के) उस कथन के विषय में मैं विचार करता हूँ कि कदाचित

कर्णपाशः—पाश शब्द का सामान्य अर्थ होता है—बन्धन, जैसे मृगपाशः । किन्तु 'कर्ण' अर्थ द्योतक शब्द के पश्चात् समास में इस शब्द का प्रयोग सौन्दर्य-प्रशंसा के अर्थ में होता है; जैसे—यहाँ 'कर्णपाशः' । 'केश' अर्थ द्योतक शब्द के पश्चात् प्रयुक्त होकर यह आधिक्य, ढेर, राशि का अर्थ देता है; जैसे—केशपाशः । 'पाशस्तु मृगपक्ष्यादिबन्धने । कर्णान्ते शोभनार्थः स्यात् कचान्ते निकरार्थकः ।' (हैमकोष)

शामि। अपि खलु तच्चित्रदर्शनप्रासङ्गिकमस्त्राभ्यनुज्ञानमुद्भूतं स्यात्। न ह्यसाम्प्रदायिकान्यस्त्राणि पूर्वेषामप्यनुशुश्रुम। अयं च सम्प्लवमानमात्मानं सुखातिशयो हृदयस्य मे विस्रम्भयते। यमाविति च भूयिष्ठमात्मसंवादः। भूयिष्ठं च मया द्विधा प्रतिपन्नो देव्या गर्भिणीभाव आसीत्।

सीताया इवेति भावः। वयः=द्वादशवर्षपरिमिताऽवस्था। अनुभावः=प्रभावः। स्वतः-प्रकाशानि=गुरूपदेशं विनापि ज्ञातानि। विमृशामि=तर्कयामि। चित्रदर्शनप्रासङ्गिकम्=चित्रदर्शनावसरोद्गतम्। शस्त्राभ्यनुज्ञानम्=स्वतःप्रकाशत्वानुमतिः। उद्भूतं स्यात्=प्रकटं भवेत्। हि=यतः। असाम्प्रदायिकानि=गुरूपदेशक्रमरहितानि। पूर्वेषाम्=प्राचीनानाम्, मनुप्रभृतीनामिति भावः। न अनुशुश्रुम=न श्रुतवन्तः (वयम्)। मे=मम। हृदयस्य=चित्तस्य। सुखातिशयः=कुशलिङ्गनजनित आनन्दातिरेकः। सम्प्लवमानम्=शङ्काप्रवाहे निमज्जन्तम्। आत्मानम्=अन्तरात्मानम्। विस्रम्भयते=प्रत्याययति। भूयिष्ठम्=प्रचुरं यथा स्यात्तथा। आत्मसंवादः—आत्मना=बुद्ध्या, सह संवादः=सङ्गतिः। देव्याः=सीतायाः। गर्भिणीभावः=गर्भिणीत्वम्। भूयिष्ठम्=बहुशः। द्विधा प्रतिपन्नः=द्विधाविभक्तत्वेन ज्ञातः।

अध्युषितम्—अधि+√वस्+क्त (कर्मणि) 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणम्। प्रासङ्गिकम्—प्रसङ्गे भवम्, प्रसङ्ग+ठक्। अभ्यनुज्ञानम्—अभि+अनु+√ज्ञा+ल्युट्। असाम्प्रदायिकानि—सम्प्रदायागतानि, सम्प्रदाय+ठक्, न साम्प्रदायिकानि इति असाम्प्रदायिकानि। सम्प्लवमानम्—सम्+प्लु (गतौ)+शानच्। विस्रम्भयते—वि+√स्रम्भ+णिच्+लट्। प्रतिपन्नः—प्रति+√पद+क्त (कर्मणि)।

चित्रदर्शन के प्रसङ्गानुकूल (मेरी) अनुमति ही प्रकट हुई हो। क्योंकि प्राचीनों को भी संप्रदाय (गुरूपदेश क्रम) के बिना ये अस्त्र प्राप्त हुए हों, ऐसा हमने नहीं सुना है। और मेरे हृदय का यह आनन्दातिरेक शङ्का के प्रवाह में निमग्न होते हुए अन्तरात्मा को विश्वास दिलाता है और ये दोनों जुड़वाँ हैं, यह बात बुद्धि के साथ बहुत अधिक मेल भी खाती है। मेरे द्वारा देवी (सीता) का गर्भिणीभाव दो भागों में विभक्त हुआ अच्छी तरह से जान लिया गया था।

चित्रदर्शनप्रासङ्गिकम् इत्यादि—प्रथम अङ्क में राम कह चुके हैं—'सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति'। अर्थात् हे सीते! ये जृम्भकास्त्र तुम्हारी सन्तान को स्वतः प्रकाशित होंगे। यहाँ राम उसी बात को याद कर रहे हैं कि मैंने चित्रदर्शन के समय जैसा सीता से कहा था, सम्भवतः मेरा वही कथन चरितार्थ हो गया हो। ये दोनों सीता के ही पुत्र हों और इन्हें मेरे कथनानुसार जृम्भकास्त्र की प्राप्ति हुई हो, अन्यथा बिना गुरूपदेश के यह कैसे सम्भव हो सकता है।

अनुशुश्रुम—अनु+√श्रु के लिट् उत्तमपुरुष बहुवचन का रूप है। परोक्ष लिट् में यह उत्तमपुरुष का प्रयोग चिन्त्य है। 'अत्यन्तापह्नवे लिट् वक्तव्यः' इससे भी इसका समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ 'अत्यन्तापह्नव' का अभाव है। हाँ, लिट् से परोक्ष का आवरण हटाकर 'सामान्ये लिट्' यह कहा जा सकता है, किन्तु ऐसा तो वेद में ही होता है 'छन्दसि लिट्' ३।२।१०५ (भूतसामान्य) जैसे—'अहं द्यावा पृथिवी आततान'। लोक में सामान्यतः परोक्षभूत में ही लिट् होता है, जो उत्तमपुरुष में असम्भव है।

(सास्रम्)

पुरा रूढे स्नेहे परिचयविकासादुपचिते
रहो विश्रब्धाया अपि सहजलज्जाजडदृशः ।
मयैवादौ ज्ञातः करतलपरामर्शकलया
द्विधा गर्भग्रन्थिस्तदनु दिवसैः कैरपि तया ।। २८ ।।

अयम्भावः—तदेवैतद्वनं यत्र भगवान् वाल्मीकिः निवसति, अस्मिन्नेव वने देवी (सीता) परित्यक्ताऽऽसीत् । अनयोः कुशलवयोश्चाकारोऽपि सीताया इवोपलक्ष्यते, द्वादशवर्षपरिमिताऽवस्थाऽप्यस्ति, ईदृशः प्रभावश्चापि विद्यते । यदपि स्वतःप्रकाशान्यस्त्राणीति लवेनोक्तम्, तस्मिन् विषये ममायं विचारोऽस्ति यच्चित्रदर्शनावसरे 'सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ती'ति रूपं जृम्भकास्त्रप्राप्त्यनुमोदनमेव तथा सम्पादनेन प्रकटं भवेद्; यतः पूर्वेषां मनुप्रभृतिप्राचीनगुरूणामपि गुरूपदेशक्रमं विनैव जृम्भकादीन्यस्त्राणि लब्धानीत्येवं न वयं श्रुतवन्तः । अयं च मम चित्तस्य कुशालिङ्गनसमुत्थ आनन्दातिरेकोऽपि शङ्कासन्दोहनिमज्जन्तमन्तरात्मानं 'तवैव तनयावेतौ' इति विश्वासेन योजयति । 'एतौ यमजौ' इत्यपि च प्रभूतं बुद्धेरनुरूपमेव, यतो बहुशो मया गर्भस्थजीवयुगलस्याऽस्तित्वं परिज्ञातमासीत् ।

अन्वयः—पुरा रूढे स्नेहे परिचयविकासादुपचिते (सति) रहः विश्रब्धाया अपि सहजलज्जाजडदृशः गर्भग्रन्थिः आदौ मया एव करतलपरामर्शकलया द्विधा ज्ञातः, तदनु कैरपि दिवसैः तया ज्ञातः ।। २८ ।।

सीतागर्भस्थजीवयुगलास्तित्वपरिज्ञानविषयकं वृत्तं संस्मृत्य रामः सास्रं प्राह—पुरेति । पुरा = पूर्वम्, विवाहात्परमेवेत्यर्थः । रूढे = अङ्कुरिते । परिचयविकासात्—परिचयस्य विकासात् = अतिशयात् । उपचिते = वृद्धिं गते सति । विश्रब्धाया अपि = विश्वस्ताया अपि । रहः = एकान्ते । सहजलज्जाजडदृशः—सहजा = स्वाभाविकी, या लज्जा, तया जडे = दर्शनासमर्थे, दृशौ = नेत्रे, यस्यास्तथाविधायाः, सहजलज्जानिमीलितलोचनाया इत्यर्थः । गर्भग्रन्थिः = भ्रूणबन्धः । आदौ = प्रथमम् । मया = रामेणैवेत्यर्थः । करतलपरामर्शकलया—करतलेन यः परामर्शः = स्पर्शः, उदरस्येत्यर्थः, तस्य कलया = चातुर्येण, द्विधा = द्विधा विभक्तत्वेनावस्थितः । तदनु = तत्पश्चात् ।

रूढः—√रुह् + क्त (कर्तरि) । उपचिते—उप + √चि (चयने) + क्त । विश्रब्धा (विस्रब्धा भी)—वि + √श्रम्भ (अथवा स्रम्भ) + क्त + टाप् । परामर्शः—परा + √मृश् + घञ् ।

(आँसू के साथ) पूर्वकाल में उत्पन्न स्नेह के घनिष्ठता के विकसित होने से बढ़ जाने पर एकान्त में, विश्वस्त भी स्वाभाविक लज्जा से निश्चेष्ट नेत्रों वाली (सीता) के गर्भपिण्ड को सर्वप्रथम मैंने ही (अपने) करतल के स्पर्श की चातुरी से दो भागों में विभक्त जाना, तत्पश्चात् कुछ ही दिनों में उस (सीता) ने भी जान लिया ।। २८ ।।

(रुदित्वा) तत्किमेतौ पृच्छामि केनाप्युपायेन ?

लवः—तात ! किमेतत् ?

बाष्पवर्षेण नीतं वो जगन्मङ्गलमाननम् ।
अवश्यायावसिक्तस्य पुण्डरीकस्य चारुताम् ॥ २९ ॥

कैरपि दिवसैः=कतिपयैर्दिनैः (अपवर्गे तृतीया) । तया=सीतया । ज्ञातः=अनुभूतः ।

अयम्भावः—विवाहानन्तरमेवाङ्कुरिते स्नेहे, परिचयातिशयात् क्रमेण वृद्धिं गते सति तदानीमेकदैकान्ते, 'न कोऽप्यन्यः पश्येदि'ति जातविश्वासाया अपि सहजलज्जावशान्निमीलितलोचनाया देव्याः सीताया गर्भग्रन्थिर्मयैव स्वकरतलस्पर्शचातुर्येण प्रथमं द्विधा विभक्तत्वेनावस्थितोऽनुभूतः, तत्पश्चात् कतिपयदिवसापगमे तयापि तथा ज्ञातः ।

अत्र प्रस्तुतयोरेव कर्त्रोः सीतारामयोरेकज्ञातत्वरूपक्रियाभिसम्बन्धात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ २८ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारकैर्विविधैर्वितर्कैः 'एतौ सीतायां जातौ मदीयावेव तनयौ' इत्यवधार्य रामो रुदन्नाह—तत्किमिति । तत्केनाप्युपायेन परमार्थज्ञानाय पृच्छाम्येतौ=कुमारौ, किम् ?

रुदन्तं रामं दृष्ट्वा लवः पृच्छति—तात ! किमेतदिति ।

अन्वयः—जगन्मङ्गलं वः आननं बाष्पवर्षेण अवश्यायावसिक्तस्य पुण्डरीकस्य चारुतां नीतम् ॥ २९ ॥

लवः किमित्याह इति निर्दिशति—बाष्पवर्षेणेति । जगन्मङ्गलम्—जगताम्=लोकानाम्, मङ्गलम्=कल्याणहेतुभूतम् । वः=युष्माकम् । आननम्=मुखम् ।

नीतम्—√नी (प्रापणे)+क्त (प्रधानकर्मणि) । नी धातु द्विकर्मक है, यहाँ प्रधान कर्म 'आननम्' जो क्त प्रत्यय से उक्त होने के कारण प्रथमा विभक्ति में है और गौण कर्म 'चारुताम्' है, इसमें (अनुक्त होने से) अनुक्ते कर्मणि द्वितीया है । नी आदि धातुओं के प्रधान कर्म में ही क्त प्रत्यय होता है, गौण कर्म में नहीं ('गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने स्यान्नीहृकृष्वहाम्' ।) अवसिक्तम्—अव+√सिच्+क्त । अवश्यायः—

(रोकर) तो क्या किसी उपाय से इन दोनों से पूछूँ ?

लव—तात ! यह क्या ?

आपका जगत् के लिए मङ्गलभूत मुख आँसुओं की वर्षा से तुषार से सींचे गये श्वेतकमल की शोभा को प्राप्त करा दिया गया है ॥ २९ ॥

अवश्याय०—ओस, पाला, कुहरा । 'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्' (अमरकोष) ।

पुण्डरीकस्य चारुताम्—पुण्डरीक श्वेतकमल को कहते हैं ('पुण्डरीकं सिताम्भोजम्'—अमरकोष) । विरह के कारण पाण्डु होने से राम के मुख की उपमा पुण्डरीक (श्वेतकमल) से दी गयी है ।

कुशः—अयि वत्स !

विना सीतादेव्या किमिव हि न दुःखं रघुपतेः
प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति ।
स च स्नेहस्तावानयमपि वियोगो निरवधिः
किमेवं त्वं पृच्छस्यनधिगतरामायण इव ॥ ३० ॥

बाष्पवर्षेण = अश्रुवृष्टया । अवश्यायावसिक्तस्य—अवश्यायेन = तुषारेण, अवसिक्तस्य= आर्द्रीकृतस्य । पुण्डरीकस्य = श्वेतकमलस्य । चारुताम् = शोभाम् । नीतम् = प्रापितम् ।

अयम्भावः—जगत्कल्याणहेतुभूतमिदं भवदीयमाननम् अश्रुवृष्टया तुषारेणार्द्रीकृतस्य श्वेतकमलस्य शोभां प्रापितम् । यथा तुषारकणैः कमलं सिक्तं भवति तथैवाश्रुभिर्भवतो मुखं सिक्तं जातमिति भावः ।

अत्र मुखकर्तृके पुण्डरीकचारुतानयनेऽसम्भवति सादृश्यरूपार्थे वाच्यस्य पर्यवसानेन असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कारः ॥ २९ ॥

अन्वयः—सीतादेव्या विना रघुपतेः किमिव दुःखं न हि ? हि प्रियानाशे कृत्स्नं जगत् अरण्यं भवति किल । स च स्नेहः तावान्, अयमपि वियोगः निरवधिः । त्वम् अनधिगतरामायण इव किम् एवं पृच्छसि ? ॥ ३० ॥

तया पृच्छन्तं लवं कुशः प्राह—विनेति । किमिव = किं वस्तु । दुःखम् = दुःखकारकम् । हि = निश्चयेन । हि = यतः । नाशे = निधने । कृत्स्नम् = अखिलम् । अरण्यम् = वनम् । किलेति वार्तायाम् । स च = पूर्वानुभूतः । तावान् = तत्परिमाणः, अपरिमित इत्यर्थः । निरवधिः = अवसानशून्यः । अनधिगतरामायण इव—न अधिगतम् = न अधीतम्, रामायणं येन स इव ।

अव + √श्यै (गतौ) + ण (अ), 'आदेच उपदेशेऽशिति' से धातु को आत्त्व, 'आतो युक् चिण्कृतोः' से धातु के युक् का आगम ।

सीतादेव्या विना—'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' सूत्र से तृतीया, पक्ष में द्वितीया और पंचमी भी होती है । तावान्—तावत् परिमाणमस्येति तावान्; 'तद्' शब्द से परिमाण अर्थ में 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्, इति वतुप्, तद् + वतुप् (वत्)—'आ सर्वनाम्नः' सूत्र के अनुसार तद् (सर्वनाम) को वतुप् प्रत्यय के पर में होने से आकार अन्तादेश होकर 'तावान्' पद की सिद्धि होती है । अनधिगतम्—

कुश—अरे प्रिय भाई ! सीता के बिना रघुपति (राम) को क्या (वस्तु) दुःखकर नहीं है । प्रिया के नष्ट हो जाने पर समस्त संसार अरण्य ही हो जाता है, ऐसा लोगों का कहना है । वह इतना अधिक प्रेम और यह अवधि रहित वियोग ! रामायण को न जानने वाले की तरह तुम क्यों इस प्रकार पूछ रहे हो ॥ ३० ॥

यह पद्य स्पष्ट कर देता है कि लव और कुश को अपने माता-पिता का पता नहीं है । उन्हें नाटक के अन्त में विदित होता है कि वे राम और सीता के पुत्र हैं ।

रामः—(स्वगतम्) अये तटस्थित आलापः । कृतं प्रश्नेन । मुग्धहृदय ! कोऽयमाकस्मिकस्ते स्नेहपरिप्लवो विकारः । एवञ्च निर्भिन्नहृदयावेगः शिशु-

---

अयम्भावः—अयि वत्स ! सीतादेवीं विना रघुपतेः (रामचन्द्रस्य) किं नाम वस्तु न हि दुःखकरम् ? (सीतावियुक्तस्य रामस्य सर्वमपि वस्तु दुःखायैवेति भावः ।) यतः प्रियाया निधने सति निखिलं जगदरण्यमेव भवति, एवं जना वदन्ति । स चानयोः सीतारामयोस्तावान् स्नेहः कुत्र ? क्व चायं निरवधिर्वियोगः ? तदनधीतरामायणो जन इव त्वं किमेवं पृच्छसि ? (अधीत्यापि रामायणं—कथं त्वमीदृशं प्रश्नं करोषि ? इति भावः) ।

अत्र द्वितीयपादस्थसामान्यार्थेन प्रथमपादस्थविशेषार्थसमर्थनादर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । 'जगदरण्यं भवति' इत्यत्र परिणामालङ्कारः । तृतीयपादेन चैकत्र विरुद्धयोस्तादृशस्नेहवियोगयोः सङ्घटनाद् विषमालङ्कारः । चतुर्थपादेन तु अनधिगतरामायणेन पुरुषेण सह लवस्य साम्याभिधानादुपमालङ्कारः । एषां चतुर्णामपि सापेक्षतया स्थितेः सङ्करः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३० ॥

कुशोक्तिमाकर्ण्य **रामः** स्वगतमाह—अये इति । आलापः = भाषणम् । तटस्थितः = उदासीनः, सीतया सह स्वसम्बन्धस्याद्योतक इत्यर्थः । कृतं प्रश्नेन = किं युवां सीता-

---

न अधिगतम्, अधि + √गम् + क्त (कर्मणि), 'अनुदात्तोपदेशवनति–' (६।४।३७) से धातु के अनुनासिक (मकार) का लोप ।

आलापः—आ + √लप् + घञ् । कृतं प्रश्नेन —प्रश्नेन साध्यं नास्तीत्यर्थः, गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति साधनक्रियां प्रति प्रश्नस्य करणत्वात् करणे तृतीया । मुग्ध—√मुह् + क्त, 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' (८।२।३३) से ह् को विकल्प से घ्, 'झषस्तथोर्धोऽधः' से तकार को ध—मुघ् ध, 'झलां जश् झशि' से घकार को गकार (जश्त्व)—मुग्ध, घत्व के अभाव में 'हो ढः' से ह् को ढ् होने पर 'मूढ' ऐसा रूप होता है । आकस्मिकः—अकस्मात् भवः, अकस्मात् + ठक्, टिलोप । परिप्लवः—परि + √प्लु + अप् ('ऋदोरप्') । विकारः—वि + √कृ + घञ् । निर्भिन्नः—निर् + √भिद् + क्त (त), 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' (८।२।

राम—(**स्वगत**) अरे, (इन दोनों का) संभाषण तटस्थ है । प्रश्न बेकार है । हे मूढ हृदय ! यह तुम्हारा स्नेह से चञ्चल कैसा अकारण विकार है ? इस प्रकार प्रकटित हृदयावेग वाला

तटस्थितः—इसका अर्थ है—अलग खड़ा हुआ, अर्थात् उदासीन । कुश और लव के संभाषण से यह तनिक भी आभास नहीं होता है कि उनका सीता से कोई सम्बन्ध है । यदि वे सीता के पुत्र होते तो 'विना सीतादेव्या' के स्थान पर कुश 'विनास्माकं मात्रा' ऐसा अवश्य कहता, अतः राम उस आलाप को 'तटस्थित' मानते हैं ।

सम्प्लवाधिकारः (पाठा०)—वीरराघव ने इसकी व्याख्या की है—प्लुतगमनान्वयः, दुर्लभविषयमनोरथायासः किमर्थमिति यावत् । किसी विषय तक कूदकर पहुँचने की क्रिया अर्थात् दुर्लभ विषय के मनोरथ का प्रयास ।

जनेनाप्यनुकम्पितोऽस्मि। भवतु, तावदन्तरयामि। (प्रकाशम्) वत्सौ ! रामायणं रामायणमिति श्रूयते भगवतो वाल्मीकेः सरस्वतीनिष्यन्दः प्रशस्तिरादित्यवंशस्य। तत्र कौतूहलेन यत्किञ्चिच्छ्रोतुमिच्छामि।

रामयोः सुतौ इति प्रश्नेन, कृतम् = अलम्। निष्प्रयोजन एतादृशः प्रश्न इति भावः। मुग्ध = मूढ ! आकस्मिकः = अकस्माद् भवः, निष्कारण इति भावः। स्नेहपरिप्लवः—स्नेहेन हेतुना परिप्लवः = चञ्चलः। विकारः = विकृतिः। निर्भिन्नहृदयावेगः—निर्भिन्नः = प्रादुर्भूतः, हृदयस्य = चित्तस्य, आवेगः = सम्भ्रमः यस्य सः। अनुकम्पितः = अनुकम्पापात्रीकृतः। अन्तरयामि = प्रच्छादयामि। सरस्वतीनिष्यन्दः—सरस्वत्याः = वाण्याः, निष्यन्दः = प्रवाहः। आदित्यवंशस्य = सूर्यकुलस्य। प्रशस्तिः = चरित्रकीर्तनम्। कौतूहलेन = उत्कण्ठया।

अयम्भावः—उदासीन इवायं वार्तालापः (एतादृशो वार्तालापोऽस्मज्जिज्ञासितसीतापुत्रत्वस्पर्शनं न करोति, यदीमौ सीतापुत्रौ स्यातां तर्हि 'विना सीतादेव्या' इत्यस्य स्थाने 'विना मातरम्' इत्येवं कथयेताम्, न च तथोक्तवन्तौ तस्मात् तटस्थोऽयमालाप इति भावः। नास्तीदानीं प्रश्नस्यावश्यकता। ततो रामः स्वहृदयमुपालभते—मूढ हृदय ! स्नेहेन तवायमन्यथाभावः कः ? अहो ! मम हृदयावेग एवं बहिरुद्भिन्नः ! ईदृशी मे करुणदशा ! एतादृशाभ्यां कुमाराभ्यामपि करुणास्पदीकृतोऽस्मि !

'अनयोर्मुखाभ्यां रामायणस्य कोऽप्यंशः श्रोतव्यः, कदाचित् तत एवास्मज्जिज्ञासितसीतापुत्रत्वं प्रकाशितं भवेत्' इति विचिन्त्य रामः पुनराह—भो वत्सौ ! श्रूयते किल भगवता वाल्मीकिना सरस्वतीनिष्यन्दः सूर्यवंशस्य प्रशंसात्मकं रामायणमिति नाम काव्यं प्रणीतम्, तत्र मे महत्कौतूहलम्, तेन तत्रत्यं किमपि पद्यादिकं श्रोतुमिच्छामीति भावः।

---

४२) के अनुसार निष्ठा (क्त) के नकार को नकार और उसके पूर्व स्थित धातु के दकार को भी नकार हो गया। आवेगः—आ + √विज् (भयचलनयोः) + घञ्। अनुकम्पितः—अनु + √कम्प् + क्त (कर्मणि)। अन्तरयामि—अन्तरं (अन्तर्हितम्) करोमीत्यन्तरयामि (नामधातु) अन्तर + णिच् + लट् (मिप्) ('तत्करोति तदाचष्टे' गणसूत्र से णिच्)। प्रशस्तिः—प्र + √शंस् + क्तिन् (स्त्रियां भावे), 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) सूत्र के अनुसार 'शंस्' के नकार (अनुस्वार में परिवर्तित) का लोप हो जाता है।

मैं बालकों की भी अनुकम्पा का पात्र हो गया हूँ। अच्छा, तब तक (अपने हृदयावेग को) छिपाता हूँ। **(प्रकाश)** हे प्रियपुत्रो ! रामायण, रामायण, ऐसा सुना जाता है कि भगवान् वाल्मीकि की वाणी का प्रवाह, (तथा) सूर्यवंश की प्रशस्ति है। उसमें कुतूहल होने के कारण थोड़ा-बहुत सुनना चाहता हूँ।

कुशः--स कृत्स्न एव सन्दर्भोऽस्माभिरावृत्तः । स्मृतिप्रत्युपस्थितौ तावदिमौ बालचरितस्यान्त्येऽध्याये द्वौ श्लोकौ ।

रामः—उदीरयतु वत्सः !

कुशः—प्रकृत्यैव प्रिया सीता रामस्यासीन्महात्मनः ।
प्रियभावः स तु तया स्वगुणैरेव वर्धितः ॥ ३१ ॥
तथैव रामः सीतायाः प्राणेभ्योऽपि प्रियोऽभवत् ।
हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम् ॥ ३२ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा कुश आह—कृत्स्न एवेति । कृत्स्न एव=सम्पूर्ण एव, असौ सन्दर्भः=ग्रन्थः, अस्माभिः आवृत्तः=अभ्यस्तः । परमिदानीं बालचरितस्य=बालकाण्डस्य । अन्त्ये=अन्तिमे, अध्याये द्वौ श्लोकौ, स्मृतिप्रत्युपस्थितौ—स्मृतिः=स्मरणम्, तत्र प्रत्युपस्थितौ=आगतौ, स्मृतिपथमायाताविप्यर्थः ।

रामः—वत्स ! उदीरयतु=वदतु ।

अन्वयः—'सीता प्रकृत्या एव महात्मनः रामस्य प्रिया आसीत् । स तु प्रियभावः तया स्वगुणैरेव वर्धितः तथैव रामः सीतायाः प्राणेभ्यः अपि प्रियः अभवत् । हृदयमेव तु परस्परं प्रीतियोगं जानाति ॥ ३१–३२ ॥

रामचन्द्रस्याज्ञां प्राप्य कुशस्तावेव श्लोकौ श्रावयति—प्रकृत्यैवेति । सीता प्रकृत्यैव=स्वभावेनैव, महात्मनः=महापुरुषस्य, रामस्य प्रियाऽऽसीत् । तथाविधं तु प्रियभावः=प्रेम, सीतया स्वयमेव स्वगुणैः=पातिव्रत्यादिभिर्गुणैरेव, वर्द्धितः=वृद्धिं प्रापितम् ।

सन्दर्भः—सम् + √दृभ् ० (ग्रन्थे) + घञ् । आवृत्तः—आ + √वृत् + क्त (कर्मणि) । अन्त्यः—अन्ते भवः, 'दिगादिभ्यो यत्' (४।३।५४) से 'यत्' प्रत्यय । उदीरयतु—उद् + √ईर् (णिच्) + लोट् (तिप्) ।

वर्धितः—√वृध् + णिच् + क्त (कर्मणि) । प्राणेभ्यः—'पञ्चमी विभक्ते' (२।३।४१) से पञ्चमी ।

कुश—वह सम्पूर्ण सन्दर्भ (प्रबन्धात्मक ग्रन्थ) ही हमलोगों ने दोहराया है । बालचरित के ये दो श्लोक स्मृतिपथ में आ रहे हैं ।

राम—वत्स ! कहो ।

कुश—सीता स्वभाव से ही महात्मा राम की प्रिया थी । वह प्रेम उस (सीता) के द्वारा अपने गुणों से ही बढ़ाया गया । उसी प्रकार राम सीता को प्राणों से भी (अधिक) प्यारे थे । हृदय ही परस्पर प्रीतियोग को जानता है ॥ ३१–३२ ॥

वीरराघव श्लोक सं० ३१ का पाठ इस प्रकार का मानते हैं—'प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति । गुणै रूपगुणैश्चापि प्रीतिर्भूयोऽप्यवर्धत ॥' पितृकृताः दाराः=पित्रा जनकेन कृताः मन्त्रोच्चारणपुरःसरं दत्ताः, दाराः=पत्नी । वाल्मीकिरामायण के आधुनिक संस्करणों में ये श्लोक इस प्रकार हैं—

रामः—कष्टमतिदारुणोऽयं हृदयमर्मोद्घातः । हा देवि ! एवं किल तदासीत् । अहो निरन्वयविपर्यासविरसवृत्तयो विप्रलम्भपर्यवसायिनस्तापयन्ति संसारवृत्तान्ताः ।

तथैवेति । तथैव=यथा सीता रामस्य प्रिया तथैव, रामोऽपि सीतायाः प्राणेभ्योऽपि प्रियः=प्रीतिभाजनम्, अभवत् । तयोः प्रीतिरसं कोऽप्यन्यो ज्ञातुं नापारयत्, तयोः परस्परम्=अन्योन्यगतम्, पारस्परिकं, प्रीतियोगम्=प्रीतिसम्बन्धं, तयोर्हृदयमेव जानाति ।

'हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्' इत्यत्रैव कारेण हृदयरूपात् कथिताद् वस्तुनः सीतारामयोरन्येषामपि च तत्सदृशानां व्यावृत्तिः स्पष्टैवेति आर्थी परिसङ्ख्यालङ्कारः ॥ ३१-३२ ॥

कुशमुखात् श्लोकद्वयरूपेण पूर्ववृत्तान्तं श्रुत्वा व्यथितहृदयो रामः प्राह—कष्टमिति । हृदयमर्मोद्घातः—हृदयमेव मर्म=प्राणमूलकः शरीरभागः, तत्र उद्घातः=प्रहारः । अतिदारुणः=अतिदुःसह । तत्=पूर्वानुभूतं वृत्तम् । एवं किल=एतादृशं किल, अस्माकं पूर्वानुभूतसुखानुरूपमेव तद्वर्णनमिति भावः । तावकाः=त्वदीयाः । निरन्वयविपर्यास०—निरन्वयः=अहेतुकः, आकस्मिक इत्यर्थः, विपर्यासः=दशाविपरिणामः,

---

उद्घातः—उद्+√हन्+घञ् । अन्वयः—अन्वीयते अनुगम्यते इति अन्वयः—अनु+√इ+अच् (कर्मणि) । विपर्यासः—वि√परि+√अस् (क्षेपणे)+घञ् । विप्रलम्भः—वि+प्र+√लभ्+घञ्, नुम् । पर्यवसायिन्—परि+अव+√सो (अन्तकर्मणि)+णिनि ।

राम—कष्ट है । यह हृदय रूप मर्मस्थल पर अत्यन्त दुःसह प्रहार है । हा देवि ! वह (समय) ऐसा ही था । अहो ! अकस्मात् होने वाले दशाविपर्यय से अप्रीतिकर वृत्तियों वाली तथा वियोग में (ही) अन्ततोगत्वा परिणत होने वाली संसार की बातें सन्ताप का कारण (ही) होती हैं ।

(भावार्थ यह है कि संसार की बातें बड़ी विचित्र होती हैं । इनकी जो वृत्तियाँ वर्तमान में सुखद होती हैं, वे ही सहसा परिस्थिति के बदलते ही नीरस एवं दुःखद बन जाती हैं । अन्ततोगत्वा ये विप्रलम्भ (वियोग अथवा धोखा) में पर्यवसित होकर सन्तापकारक ही सिद्ध होती हैं ।)

'प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति । गुणाद्रूपगुणाच्चैव प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते ॥ तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते । अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ॥' (बालकाण्ड, अध्याय ७७, श्लोक २६-२७) । इससे स्पष्ट है कि भवभूति ने बालकाण्ड में आये इन दोनों श्लोकों का भाव ही लिया है; उनके प्रत्येक शब्द को उद्धृत करना उन्हें अभीष्ट नहीं था ।

निरन्वयविपर्यासविप्रलम्भस्मृतिपर्यवसायिनस्तावकाः संसारवृत्तान्ताः (पाठा०)—तावकाः=त्वदीयाः संसारवृत्तान्ताः, निरन्वयः=आकस्मिकः, यो विपर्यासः=अवस्थान्तरम्, तेन ये विप्रलम्भस्मृती=वियोगस्मरणे, तत्पर्यवसायिनः=तद्विषयतामात्रवन्तः । तुम्हारे संसा के वृत्तान्त दशाविपर्यय से वियोग और स्मृति में पर्यवसित हो गये ।

क्व तावानानन्दो निरतिशयविस्रम्भबहुलः
क्व वाऽन्योन्यप्रेम क्व च नु गहनाः कौतुकरसाः।
सुखे वा दुःखे वा क्व नु खलु तदैक्यं हृदययो-
स्तथाप्येष प्राणः स्फुरति न तु पापो विरमति ॥ ३३ ॥

तेन विरसाः=अप्रीतिकराः, वृत्तयः=व्यापाराः, येषां ते। विप्रलम्भपर्यवसायिनः—विप्रलम्भे=वियोगे, पर्यवस्यन्ति परिणमन्तीति तथोक्ताः। तापयन्ति=व्यथयन्ति।

अयम्भावः—अतिकष्टमापतितम्। अयं हृदयमर्मस्थलेऽतिदुःसहः प्रहारः। हा देवि! तद्दिनमेवमेवासीत्, अद्यतनं च दिनं सर्वथा तद्विपरीतं सञ्जातम्। संसारस्य वृत्तान्ता विचित्रा भवन्ति, एतेषां सुखदवृत्तय एव सहसा दशाविपर्ययेण अप्रीतिकराः सञ्जायन्ते, यदि चैते (संसारवृत्तान्ताः) अन्ततो वियोगे विपरिणम्य सन्तापहेतव एव भवन्तीति भावः।

अन्वयः—निरतिशयविस्रम्भबहुलः तावान् आनन्दः क्व? वा अन्योन्यप्रेम क्व? गहनाः कौतुकरसाः क्व नु? सुखे वा दुःखे वा हृदययोः तदैक्यं क्व नु खलु? तथापि पापः एष प्राणः स्फुरति, न तु विरमति ॥ ३३ ॥

आत्मनः सीतायाश्च संयोगसमयं स्मरन् व्यथितहृदयो रामः प्राह—क्वेति। निरतिशयः=अतिशयः, यो विस्रम्भः=विश्वासः, तेन बहुलः=अधिकः, तावान्=तत्प्रमाणः, अपरिमेय इति भावः। अन्योन्यप्रेम=परस्पराश्रितः स्नेहः। गहनाः=अगाधाः। कौतुकरसाः=क्रीडानुरागाः। खलु=निश्चयेन। ऐक्यम्=अभिन्नत्वम्। पापः=पापी। प्राणः=प्राणवायुः। स्फुरति=सञ्चलति। न तु विरमति=न तु नश्यति।

अयम्भावः—समधिकविश्वासबहुलः सोऽपरिमेयानन्दो न जाने कुत्र गतः, तदन्योन्याश्रितं प्रेम कुत्र गतम्? तेऽगाधाः क्रीडानुरागाः कुत्र गताः? सुखे च दुःखे च

ऐक्यम्—एकस्य भावः, एक+ष्यञ्। पापः—पापम् अस्त्यस्येति, पाप+अच् (अर्श-आदिभ्योऽच्)। विरमति—'वि' उपसर्गपूर्वक होने से परस्मैपद हो गया ('व्याङ्परिभ्यो रमः')।

अत्यधिक विश्वास से बढ़ा हुआ, उस परिमाण वाला (अर्थात् अपरिमेय) आनन्द कहाँ (चला गया), अथवा परस्पर प्रेम कहाँ (चला गया) और अगाध केलि-परिहास के प्रमोद कहाँ (चले गये), सुख में अथवा दुःख में (दो) हृदयों की वह अभिन्नता कहाँ (चली गयी); तथापि यह पापी प्राण (वायु) स्पन्दन कर रहा है, रुक नहीं जाता ॥ ३३ ॥

विस्रम्भः—लज्जाविरोधी वह ज्ञान जो भोगदशा में असंकोचपूर्ण स्थिति को उपपन्न करता है, विस्रम्भ कहलाता है—'भोगदशायां स्वैरस्थित्युपपादकलज्जाविरोधिज्ञानविशेषः'। (वीरराघव)

कौतुकरसाः—वीरराघव के अनुसार इसका अर्थ है—'भोगाभिलाषाः'। कौतुक शब्द का अर्थ अभिलाष भी होता है ('कौतुकं त्वभिलाषे स्यादुत्सवे नर्महर्षयोः')।

प्राणः—प्राण शब्द नित्यबहुवचनान्त प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ हृदयस्थ वायुविशेष (प्राणवायु) का बोधक होने से एकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है।

भोः कष्टम् !

प्रियागुणसहस्राणामेकोन्मीलनपेशलः ।
य एव दुःस्मरः कालस्तमेव स्मारिता वयम् ॥ ३४ ॥

हृदययोरभिन्नत्वं क्व नु खलु विलीनम् ? एतेषु सर्वेषु गतेष्वपि पापकारी प्राणोऽयं सञ्चलत्येव, न तु विरामं प्राप्नोति । एतादृशविप्रलम्भे वेदनासहनापेक्षया मरणमेव मे वरमिति भावः । अत्र प्राणनाशकरकठोरदुःखरूपकारणसत्त्वेऽपि प्राणवियोगरूपफलोदयाभावाद्विशेषोक्त्यलङ्कारः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—प्रियागुणसहस्राणाम् एकोन्मीलनपेशलः, य एव कालः दुःस्मरः, वयं तमेव स्मारिताः ॥ ३४ ॥

कष्टमनुभवन् रामः पुनराह—**प्रियागुणेति** । प्रियागुणसहस्राणाम्—प्रियायाः गुणसहस्राणाम् = सौन्दर्यसौजन्यादीनाम् । एकोन्मीलनपेशलः—एकम् = मुख्यम्, यत् उन्मीलनम् = प्रकाशनम्, तत्र पेशलः = कुशलः ('पेशलः कुशले रम्ये' इति हैमः) युगपदेव प्रकाशने कुशल इति भावः । दुःस्मरः = विरहावस्थायां स्मर्तुमशक्य इति भावः । तमेव = दुःस्मरसमयमेव । स्मारिताः = तद्विषयकस्मरणवन्तः कृताः ।

अयम्भावः—य एव संयोगसमयः प्रियायाः सौन्दर्यसौजन्यादीनां गुणसहस्राणां युगपदेव प्रकाशनकुशलतया दुःसहत्वादिदानीं विरहावस्थायां स्मर्तुमशक्य आसीत्, तमेव कालं कथोपोद्घातोऽयमस्मान् अस्मारयन् । पूर्वोक्तश्लोकद्वयश्रवणेन प्रियायाः सर्वेऽपि ते सौन्दर्यसौजन्यादयो गुणाः स्मृतिपथमारूढाः सन्तो दुःखमुत्पादयन्ति, तन्महाकष्टमिति भाव. ॥ ३४ ॥

उन्मीलनम्—उद् + √मील् (निमेषणे) + ल्युट् (भावे) । दुःस्मरः—दुःखेन स्मर्तुं शक्यः, दुर् + √स्मृ (स्मरणे) + खल् ('ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्') ।

अरे ! कष्ट है ।

प्रिया के हजारों (अर्थात् असंख्य) गुणों को एक साथ प्रकाशित करने में कुशल जो ही समय दुःख से स्मरण किये जाने योग्य है, उसी का स्मरण हमें कराया गया ॥ ३४ ॥

वयं तमेव (कालं) स्मारिताः—यह णिजन्त 'स्मृ' धातु का कर्मवाच्य है । 'वयं तम् अस्मराम' (अण्यन्त 'स्मृ' का कर्तृवाच्य)—एष अस्मान् तम् अस्मारयत् (ण्यन्त 'स्मृ' का कर्तृवाच्य) 'गतिबुद्धि०' (पा० १।४।५२) सूत्र के अनुसार बुद्ध्यर्थक (अर्थात् ज्ञानसामान्यर्थक) 'स्मृ' धातु के कर्ता 'वयम्' की कर्मसंज्ञा होती है । कर्मवाच्य में उसी कर्म में क्त प्रत्यय होने के कारण उक्ते कर्मणि प्रथमा होने से—'एतेन वयं तं स्मारिताः' ऐसा कर्मवाच्य में हुआ । यहाँ यह अवधेय है कि 'स्मृ' धातु को यहाँ ज्ञानसामान्यपरक मानने से ही 'गतिबुद्धि०' सूत्र से अण्यन्त कर्ता की ण्यन्त में कर्मसंज्ञा होगी; क्योंकि 'दृशेश्च' वार्तिक पर दीक्षितजी का कथन है—'(गतिबुद्धि०) सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणम् , न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते । तेन स्मरति जिघ्रतीत्यादीनां न । स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन ।'

क्रमोन्मीलनतत्परः (पाठा०)—क्रमेण उन्मीलनतत्परः प्रकाशनाऽऽसक्तः, क्रम से प्रकाशन करने में आसक्त ।

तदा किञ्चित्किञ्चित्कृतपदमहोभिः कतिपयै-
स्तदीषद्विस्तारि स्तनमुकुलमासीन्मृगदृशः।
वयःस्नेहाकूतव्यतिकरघनो यत्र मदनः
प्रगल्भव्यापारः स्फुरति हृदि मुग्धश्च वपुषि ॥ ३५ ॥

लवः—अयं च मन्दाकिनीचित्रकूटवनविहारे सीतादेवीमुद्दिश्य रघुपतेः श्लोकः—

अन्वयः—यत्र वयःस्नेहाकूतव्यतिकरघनः मदनः हृदि प्रगल्भव्यापारः वपुषि च मुग्धः स्फुरति, तदा किञ्चित्किञ्चित्कृतपदं मृगदृशः तत् स्तनमुकुलं कतिपयैः अहोभिः ईषद्विस्तारि आसीत् ॥ ३५ ॥

तत्संयोगकालस्य दुःस्मरत्वं रामो विवृणोति—तदेति। यत्र=यस्मिन् काले। वयःस्नेहाकूतव्यतिकरघनः—वयसः=तारुण्यस्य, स्नेहस्य, आकूतस्य=विशिष्टविषयाभिप्रायस्य च, व्यतिकरेण=सम्बन्धेन, घनः=सान्द्रः। मदनः=कामदेवः। प्रगल्भव्यापारः—प्रगल्भः=प्रौढः, व्यापारः यस्य स तथाभूतः। मुग्धः=नातिप्रौढः लज्जयेति भावः। स्फुरति=आविर्भवति। तदा=तस्मिन् काले। किञ्चित्किञ्चित्=ईषदीषत्, शनैः-शनैरित्यर्थः। कृतपदम्=लब्धस्थानम्। तत्=पूर्वानुभूतम्। मृगदृशः=हरिणनयनायाः, सीताया इत्यर्थः। स्तनमुकुलम्=कुचकुड्मलम्। कतिपयैः अहोभिः=कैश्चिद् दिवसैः (अपवर्गे तृतीया)। ईषद्विस्तारि=अल्पविस्तारशीलम्।

अयम्भावः—यस्मिन् काले तारुण्यस्य, अनुरागस्य विशिष्टविषयाभिप्रायस्य च सम्पर्केणोत्कर्षं गत्वा कामदेवः सीताया हृदये उत्कटव्यापारः सन् तथा शरीरे लज्जावशात् अप्रगल्भः सन् स्फुरन्नासीत्, तस्मिन् काले तस्या वक्षसि शनैः शनैः पदं कृत्वा मृगलोचनायाः स्तनमुकुलं कतिपयैरेव दिवसैः विस्तृतमभूत्। कीदृशः स समयो रमणीय आसीत्। इदानीं च तत्स्मरणमात्रेण धगिति कृत्वा हृदयं दुग्धं भवतीति भावः।

अत्रैकस्यैव मदनस्य हृदये शरीरे च वर्तमानत्वात् पर्यायालङ्कारः। प्रगल्भत्वमुग्धत्वयोर्विरोधाभासश्च। तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३५ ॥

कतिपयैः अहोभिः—अपवर्गे तृतीया। मदनः—माद्यति अनेनेति, √मद् (हर्षे) + ल्युट् (करणे)। ईषद्विस्तारि—ईषद् विस्तृणाति यत् तत्; वि + √स्तृ + णिनि।

जिस समय तारुण्य, प्रेम और विशिष्ट विषयाभिप्राय के सम्पर्क से गाढ (अर्थात् उत्कर्ष को प्राप्त) कामदेव हृदय में प्रौढ़ व्यापार वाला होकर और शरीर में (लज्जा के कारण) अप्रौढ़ होकर रहता है, उस समय धीरे-धीरे स्थान लेने वाला हरिणाक्षी सीता का वह कली के सदृश स्तन कुछ दिनों में कुछ विस्तृत हो गया था। (हमें उस समय की याद दिलायी गयी) ॥ ३५ ॥

लव—और, मन्दाकिनी तथा चित्रकूट के वनों में विहार के समय सीता को उद्देश्य करके रघुपति का यह श्लोक है—

प्रस्तुत श्लोक में राम के इस कथन को 'स्वगत' माना जाय तो अधिक समीचीन होगा; क्योंकि राम के द्वारा बच्चों के समक्ष प्रकाशरूप में स्तनादि का ऐसा वर्णन मर्यादा का अतिक्रमण है।

त्वदर्थमिव विन्यस्तः शिलापट्टोऽयमग्रतः ।
यस्यायमभितः पुष्पैः प्रवृष्ट इव केसरः ॥ ३६ ॥

रामः—(सलज्जास्मितस्नेहकरुणम्) अति हि नाम मुग्धशिशुजनः, विशेषतस्त्वरण्यचरः । हा देवि ! स्मरसि वा तस्य प्रदेशस्य तत्समयविस्रम्भातिप्रसङ्गसाक्षिणः । कष्टं भोः कष्टम् !

लवः 'मन्दाकिन्याश्चित्रकूटस्य च वनेषु क्रीडासमये सीतामुद्दिश्य रघुपतिनोक्तोऽयं श्लोकः श्रोतव्यः' (मन्दाकिनीचित्रकूटवनविहारे—मन्दाकिनी = चित्रकूटोपकण्ठवर्तिनी तन्नाम्नी नदी, चित्रकूटः = तदभिधानः पर्वतविशेषः, तयोर्वनेषु विहारः = क्रीडा, तस्मिन्, तत्समये इत्यर्थः ।) इत्युक्त्वा तं श्रावयति—

अन्वयः—अग्रतः अयं शिलापट्टः त्वदर्थमिव विन्यस्तः । यस्य अभितः अयं केसरः पुष्पैः प्रवृष्ट इव ॥ ३६ ॥

त्वदर्थमिवेति । (हे जानकि ! प्रिये !) अग्रतः = अग्रे (सप्तम्यास्तसिः), अयं = दृश्यमानः शिलापट्टः, त्वदर्थम् = तवोपवेशनार्थमिव, विन्यस्तः = स्थापितः, यस्य = शिलापट्टस्य, अभितः = परितः, अयं केसरः = बकुलवृक्षः, प्रवृष्ट इव = पुष्प-(प्रारब्ध)वृष्टिरिव करोति, एवं तवोपवेशनार्थं पुष्पशय्यां रचयितुं प्रवृत्त इति भावः, तदत्र सुखमुपविशतु । अत्रोत्प्रेक्षाद्वयस्य सङ्करः ॥ ३६ ॥

विन्यस्तः—वि + नि + √अस् (क्षेपणे) + क्त (कर्मणि) । यस्य अभितः—'अभितः' के योग में द्वितीया विभक्ति होती है । 'यस्य' ऐसा षष्ठ्यन्त प्रयोग आर्ष माना जा सकता है । प्रवृष्टः—प्र + √वृष् (सेचने) + क्त (आदिकर्मणि कर्तरि क्तः) वर्षणकर्मणि प्रवृत्त इत्यर्थः ।

यह सामने शिलापट्ट मानों तुम्हारे लिए रखा गया है, जिसके चारों ओर यह बकुल वृक्ष मानों पुष्पों की वर्षा कर रहा है ॥ ३६ ॥

राम—(लज्जा, स्मित, स्नेह तथा शोक के साथ) बच्चे बहुत ही भोले-भाले होते हैं,

---

मन्दाकिनी—यहाँ मन्दाकिनी का तात्पर्य 'गङ्गा' नहीं अपितु चित्रकूट के निकट बहने वाली नदी से है, क्योंकि चित्रकूट प्रयाग से लगभग दस कोस दूर था । इसकी पुष्टि रामायण के निम्नलिखित श्लोकों से भी होती है—

'अथ शैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोसलेश्वरः ।
अदर्शयच्छुभ्रजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥' (अयोध्या० ९५।१)
'तां तदा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् ।
निषसाद गिरिप्रस्थे........................... ॥' (अयोध्या० ९६।१)

यह (त्वदर्थमिवेत्यादि) श्लोक रामायण के आधुनिक संस्करणों में नहीं मिलता है, अतः वीरराघव का कहना है कि रामायण के लेखकों द्वारा यह श्लोक लिखने से रह गया है—'अयं श्लोको रामायणलेखकैः प्रभ्रंशित इति वदन्ति' ।

हाँ, यह श्लोक निर्णयसागर वाले संस्करण में अयोध्याकाण्ड के ९५ तथा ९६ अध्यायों के बीच वाले प्रक्षिप्त माने हुए अध्याय में इस रूप में आया है—'त्वदर्थमिह विन्यस्ता त्वियं श्लक्ष्णसमा शिला । यस्याः पार्श्वे तरुः पुष्पैः प्रवृष्ट इव केसरः ।' (आनन्दस्वरूपमहोदय) ।

श्रमाम्बुशिशिरीभवत्प्रसृतमन्दमन्दाकिनी-
मरुत्तरलितालकाकुलललाटचन्द्रद्युति ।
अकुङ्कुमकलङ्कितोज्ज्वलकपोलमुत्प्रेक्ष्यते
निराभरणसुन्दरश्रवणपाशमुग्धं मुखम् ॥ ३७ ॥

रामः सलज्जास्मितस्नेहकरुणम्—लज्जा = व्रीडा, लवकृतरहस्यप्रकाशनादिति भावः, स्मितम् = ईषद्धास्यम्, लवस्य मुग्धतादर्शनादिति भावः, स्नेहः—वात्सल्यादिति भावः, करुणः = शोकः, तादृश्याः प्रियतमायाः परित्यागादिति भावः, तैः सहितं यथा स्यात्तथा प्राह—अति हीति । अति हि नाम = अत्यन्तं हि । मुग्धः = सरलः, वक्तव्यावक्तव्यज्ञानरहित इति भावः । अरण्यचरः = वनचारी । तत्समय०—तस्मिन् समये विस्रम्भेण = न विद्यते कोऽप्यन्योऽत्रेति ज्ञानजन्यविश्वासेन, यः अतिप्रसङ्गः = भोगाधिक्यमात्रता, तस्य साक्षी = साक्षाद् द्रष्टा तस्य । प्रदेशस्य = स्थानस्य । स्मरसि वा = स्मरसि किम् ? ('अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि षष्ठी) ।

अयम्भावः—लवमुखात् 'त्वदर्थमिव विन्यस्त–' श्लोकं श्रुत्वा तत्कृतरहस्यप्रकाशनात् सलज्जं, तन्मौग्ध्यदर्शनात् सस्मितं, वात्सल्याद्धेतोः सस्नेहं तादृश्याः प्रियायाः परित्यागात् सकरुणं च **रामः** प्राह—शिशवोऽत्यर्थमेव सरलाः भवन्ति, किं वक्तव्यं किं न वक्तव्यमिति न जानन्ति ते, विशेषतस्तु वनचारी शिशुरज्ञातलोकव्यवहारः स्वभावतो भवति । तदनन्तरं सीतां सम्बोध्य रामः कथयति—हा देवि ! तस्मिन् वनविहारसमये 'न कोऽप्यन्योऽत्र' इति ज्ञानजन्यविश्वासेनावाभ्यां यो विलासः कृतस्तस्य साक्षाद् द्रष्टुस्तत्स्थानस्य स्मरसि किम् ?

अन्वयः—श्रमाम्बुशिशिरीभवत् प्रसृतमन्दमन्दाकिनीमरुत्तरलितालकाकुलललाट-

---

अरण्यचरः—अरण्ये चरतीति, अरण्य + √चर् + ट ('चरेष्टः') । तस्य प्रदेशस्य स्मरसि—उत्कण्ठापूर्वक स्मरण के योग में षष्ठी । साक्षी—'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इस सूत्र के अनुसार 'साक्षात्' अव्यय शब्द से निपातन से इति प्रत्यय—साक्षात् + इनि; 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' इति टि (आत्) का लोप । षष्ठी में प्रयुक्त–साक्षिणः ।

शिशिरीभवत्—अभूततद्भावे च्विः । तरलित—तरलं करोति तरलयति (नाम-

विशेषतः वनवासी । हा देवि ! उस समय में विश्वास से (किये गये) भोगविलास के आधिक्य के साक्षी उस स्थान का स्मरण करती हो ? हा खेद !

(सुरतकालिक) श्रम से उत्पन्न स्वेदसीकरों से शीतल होता हुआ, मन्दाकिनी के चलते हुए मन्दवायु से चञ्चल किये गये अलकों से आच्छादित भालचन्द्रकान्ति वाला, कुंकुम से रञ्जित न होने पर भी प्रकाशमान कपोलों वाला, आभरण रहित होने पर भी सुन्दर प्रशस्त कर्णों से मनोहारी (तुम्हारा वह) मुख मानों सामने दिखलाई दे रहा है ॥ ३७ ॥

(स्तम्भित इव स्थित्वा, सकरुणम्) अहो नु खलु भोः !

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासेऽप्याश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः ।

चन्द्रद्युति अकुङ्कुमकलङ्कितोज्ज्वलकपोलं निराभरणसुन्दरश्रवणपाशमुग्धं मुखम् उत्प्रेक्ष्यते ॥ ३७ ॥

श्रमाम्बुशिशिरीभवदिति । श्रमाम्बुशिशिरीभवत्—श्रमाम्बुभिः = श्रमजनितस्वेदकणैः, शिशिरीभवत् = शीतलतामापद्यमानम् । प्रसृतमन्द०—प्रसृतः = प्रचलितः, मन्दः = मृदुः, मन्दाकिनीमरुत् = मन्दाकिनीवारिसम्पृक्तशीतलवायुः, तेन तरलिताः, = चञ्चलीकृताः, ये अलकाः, तैः आकुला=आच्छादिता, ललाटचन्द्रद्युतिः = चन्द्रसदृशभालस्य कान्तिर्यस्य तत् । अकुङ्कुमकलङ्कितोज्ज्वलकपोलम्—कुङ्कुमेन = केसरेण, कलङ्कितौ = चिह्नितौ, रञ्जताविति‍यर्थः, न कुङ्कुमकलङ्कितौ, तथापि उज्ज्वलौ = स्वतःप्रकाशमानौ, कपोलौ यस्मिंस्तत् । निराभरणसुन्दरश्रवणपाशमुग्धम्—निराभरणौ = भूषणरहितौ, तथापि सुन्दरौ = मनोहरौ, यौ श्रवणपाशौ = प्रशस्तौ कर्णौ, ताभ्याम् मुग्धम् = मनोहारि । उत्प्रेक्ष्यते = पुरतो दृश्यत इवेति भावः ।

अयम्भावः—तव तदेव मुखमण्डलमिदानीं मम पुरतो दृश्यत इव, यस्य चन्द्रसदृशभालकान्तिस्तदानीं मन्दमन्दं प्रसर्पता मन्दाकिनीतरङ्गसम्पृक्तेन वायुना चञ्चलीकृतैस्तवालकैराच्छादिताऽऽसीत्, तथा यस्मिन् त्वदीये मुखमण्डले कुङ्कुमेनारञ्जितावपि कपोलौ स्वतःप्रकाशमानावास्ताम्, अपि च तव तन्मुखमण्डलमलङ्काररहितेनापि सुन्दरेण प्रशस्तकर्णद्वयेनातीवमनोहारि तदानीं प्रतीयते स्म, यच्च श्रमजनितस्वेदसीकरैः शीतलतामापद्यमानं नितरां शोभते स्म ।

अत्र तथाविधसीतामुखस्यानुत्प्रेक्षितत्वेऽपि सम्भावनया तथात्वेनोत्प्रेक्षणाद् वाचकेवादिशब्दस्य च गम्यमानत्वात् प्रतीयमानक्रियोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः; 'ललाटचन्द्रे'त्यत्र रूपकं, कपोलस्य कुङ्कुमेनाकलङ्कितत्वेऽपि उज्ज्वलत्वस्य, अपि च श्रवणपाशयोर्निराभरणत्वेऽपि सुन्दरत्वस्याभिधानाद्विभावने, एतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । पृथ्वी वृत्तम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—प्रवासे अपि चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निर्माय पुरतः निहित इव प्रियजनः

धातु) ततः कर्मणि क्तः । कलङ्कितः—कलङ्कः सञ्जातोऽस्य–कलङ्क + इतच् (तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्) ।

स्तम्भितः—√स्तम्भ् (प्रतिबन्धे) + णिच् + क्त । ध्यात्वा—√ध्यै (चिन्तायाम्) + क्त्वा, 'आदेच उपदेशेऽशिति' इति आत्व । निहितः—नि + √धा + क्त,

---

(स्तम्भित की तरह रुक कर, करुणा के साथ) अरे, आश्चर्य है ।

वियोगावस्था में भी बहुत समय तक ध्यान कर-करके (संकल्प के बल से) निर्माण करके सामने मानों उपस्थापित प्रिय व्यक्ति आश्वासन नहीं देता है, ऐसी बात नहीं है (आश्वासन देता

जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव ॥ ३८ ॥

(नेपथ्ये)

वसिष्ठो वाल्मीकिर्दशरथमहिष्योऽथ जनकः
सहैवारुन्धत्या शिशुकलहमाकर्ण्य सभयाः ।

आश्वासं न करोति (इति) न खलु । विकल्पव्युपरमे च जगत् जीर्णारण्यं हि भवति। तदनु हृदयं कुकूलानां राशौ पच्यते इव ॥ ३८ ॥

सीतामुखदर्शनं विकल्पमात्रमिति विज्ञाय शोकावेगाज्जडीभूत इव स्थित्वा सशोकमाह श्रीरामचन्द्रः—चिरं ध्यात्वेति । प्रवासे अपि = देशान्तरगमनेऽपि, वियोगेऽपीत्यर्थः । चिरम् = दीर्घकालं यावत् । ध्यात्वा ध्यात्वा = मुहुर्मुहुश्चिन्तयित्वा । निर्माय = कल्पनया विरचय्य । पुरतः = अग्रतः (ध्यायतः पुरुषस्येति भावः) । निहितः = स्थापितः । आश्वासम् = सान्त्वनाम् । विकल्पव्युपरमे = अलीकप्रियजनकल्पकस्य सङ्कल्पस्य निवृत्तौ सत्याम् । 'कलत्रे ह्युपरते' इति पाठे पत्न्यां मृतायां सत्यामित्यर्थः । जीर्णारण्यम् = शुष्कवनम् । कुकूलानां राशौ = तुषाग्नीनां समुदाये । पच्यते इव = दह्यते इव (कर्मकर्तरि लट्) ।

अयम्भावः—वियोगेऽपि मुहुर्मुहुश्चिन्तयित्वा सङ्कल्पबलेन प्रकल्प्य पुरतः स्थापितः प्रियजन आश्वासं ददात्येव (एवं तद्दर्शनेन निवृत्तो विरह इति मत्वा ध्यायन् जन आश्वस्तो भवतीति भावः), किन्तु अलीकप्रियजनकल्पकस्य तस्य सङ्कल्पस्य निवृत्तौ सत्यामेवेदं जगत्पुनर्जीर्णारण्यमिव प्रतीयते । तत्पश्चाद्धृदयं तुषाग्नौ परितप्यत इव ।

अत्र 'निहित इवे'त्यत्र 'पच्यत इवे'त्यत्र चोत्प्रेक्षाद्वयम्, 'जगज्जीर्णारण्यम्' इत्यत्र रूपकालङ्कारश्च । एतेषां मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिः । शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३८ ॥

'दधातेर्हिः' इति धा को 'हि' । निर्माय = निर् + √मा + ल्यप् । व्युपरमे—वि + उप + √रम् + अच्; भावे सप्तमी ।

अरुन्धत्या सह—'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति तृतीया । जराग्रस्तैः गात्रैः (उपलक्षिताः)

ही है) । किन्तु (प्रियजन की मिथ्या रचना करनेवाले उस) संकल्प की निवृत्ति होते ही यह जगत् जीर्ण अरण्य हो जाता है (और) तदनन्तर हृदय मानों भूसी की आग की राशि में पकता रहता है ॥ ३८ ॥

(नेपथ्य में)

अरुन्धती के साथ ही वसिष्ठ, वाल्मीकि, दशरथ की महारानियाँ तथा जनक बच्चों के युद्ध को सुनकर, (अनिष्ट की संभावना से) सभय और शीघ्रता युक्त मन वाले होकर भी आश्रम के बहुत

कुकूल—कुकूल भूसी से बनी अग्नि को कहते हैं ('कुकूलं शङ्कुभिः कीर्णे श्वभ्रे ना तुषानले' अमरकोष) । 'तुषानल' (भूसी का आग) का वाचक होने पर इस शब्द का प्रयोग पुँल्लिङ्ग में होता है । भूसी की आग का ताप होता तो है बहुत तीव्र, किन्तु विशेषता यह है कि उसमें पड़ी हुई वस्तु तुरन्त जलकर भस्म नहीं होती, बल्कि धीरे-धीरे उसी में पकती रहती है ।

जराग्रस्तैर्गात्रैरथ खलु विदूराश्रमतया
चिरेणागच्छन्ति त्वरितमनसोऽपि श्रमजडाः ॥ ३९ ॥

रामः—कथं भगवत्यरुन्धती वसिष्ठोऽम्बाश्च जनकश्चात्रैव। कष्टं कथं खल्वेते द्रष्टव्याः। (सकरुणं विलोक्य) अहह! तातजनकोऽपि दैवादत्रैवायात इति वज्रेणेव ताडितोऽस्मि मन्दभाग्यः।

अन्वयः—अरुन्धत्या सह एव वसिष्ठः वाल्मीकिः दशरथस्य महिष्यः अथ जनकः शिशुकलहम् आकर्ण्य सभयाः (सन्तः) अथ त्वरितमनसः अपि विदूराश्रमतया श्रमजडाः जराग्रस्तैः गात्रैः चिरेण आगच्छन्ति खलु ॥ ३९ ॥

नेपथ्ये वसिष्ठादीनामागमनं सूच्यते—**वसिष्ठो वाल्मीकिरिति**। दशरथस्य महिष्यः =कौसल्यादय इत्यर्थः। अथ=समुच्चयार्थकमव्ययपदम्। जनकः=विदेहाधिपतिरपीत्यर्थः। शिशुकलहम्—शिश्वोः=लवचन्द्रकेत्वोः, कलहम्=युद्धम्। सभयाः=भययुक्ताः, शिश्वोः अनिष्टापातमाशङ्क्य वित्रस्ता इत्यर्थः। अथ=अनन्तरम्। त्वरितमनसः—त्वरितम्=त्वरायुक्तम्, मनो येषां ते तथोक्ताः। विदूराश्रमतया—विदूरः= युद्धस्थलात् अतिदूरः, आश्रमः=तपोवनम्, येषां ते विदूराश्रमाः, तेषां भावस्तत्ता, तया श्रमजडाः—श्रमेण=मार्गजनितश्रान्त्या, जडाः=मन्दाः, मन्दगामिन इत्यर्थः। जराग्रस्तैः—जरया=वार्द्धक्येन, ग्रस्तैः=व्याप्तैः। गात्रैः=शरीरैः, उपलक्षिताः (इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया)। चिरेण=बहुकालेन। खलु=निश्चयेन।

अयम्भावः—कुलगुरुर्वसिष्ठः, भगवान् वाल्मीकिः, कौसल्यादयो दशरथमहिष्यो जनकश्चेत्येते सर्वेऽपि वसिष्ठपत्न्याऽरुन्धत्या सहैव, लवचन्द्रकेत्वोः कुमारयोर्युद्धवृत्तान्तमाकर्ण्य तयोरनिष्टापातशङ्कया वित्रस्ताः सन्तः, त्वरान्वितमनसोऽपि युद्धस्थलादाश्रमस्य सुदूरतया, मार्गजनितश्रान्त्या मन्दगामिनः, वार्धक्ययुक्तैः शरीरैरुपलक्षिताः चिरेणायान्ति।

अत्र चिरेणागमनं प्रति जराग्रस्तगात्रस्य श्रमजडत्वस्य च हेतुत्वेनोपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम् ॥ ३९ ॥

अरुन्धत्यादीनामागमनवृत्तान्तं विज्ञाय **रामः** सविस्मयकरुणमाह—**कथमिति**। कथं भगवत्यरुन्धती, वसिष्ठः, मातरः जनकश्च सर्वेऽप्येतेऽत्रैव सन्ति! (सकरुणं विलोक्य)

'इत्थम्भूतलक्षणे' इति तृतीया। त्वरितम्—त्वरा सञ्जाता अस्य; त्वरा + इतच्। अथवा—√त्वर् (सम्भ्रमे) + क्त (कर्तरि)। अथवा त्वरां करोतीति त्वरयति (नामधातु) ततः क्तः कर्तरि।

दूर होने के कारण थकावट से मन्द गति वाले बने हुए, बुढ़ापे से शरीर के आक्रान्त होने के कारण निश्चय ही देर से आ रहे हैं ॥ ३९ ॥

राम—क्या भगवती अरुन्धती, वसिष्ठ, माताएँ और जनक यहीं हैं? कष्ट है! इनके दर्शन कैसे किये जायँ? **(शोक के साथ देखकर)** अहह! पिता जनक भी दैवयोग से यहीं आ गये हैं। इससे भाग्यहीन मैं मानों वज्र से प्रहत हो गया हूँ।

सम्बन्धस्पृहणीयताप्रमुदितैर्जुष्टे वसिष्ठादिभि-
र्दृष्ट्वाऽपत्यविवाहमङ्गलमहे तत्तातयोः सङ्गतम् ।
पश्यन्नीदृशमीदृशे पितृसखं वृत्ते महावैशसे
दीर्ये किं न सहस्रधाऽहमथवा रामेण किं दुष्करम् ॥ ४० ॥

अहह = कष्टम् ! कथमेतेषां दर्शनं करिष्यामि, दैवादत्रैव तातजनकस्यागमनेन (तात-जनकः=पितृसमपूज्यो जनकः, भार्यापितृत्वात् पितृत्वोपचारः) मन्दभाग्योऽहं वज्रेणेव ताडितः = प्रहृतः सञ्जातः ।

अन्वयः—सम्बन्धस्पृहणीयताप्रमुदितैः वसिष्ठादिभिः जुष्टे अपत्यविवाहमङ्गलमहे तातयोः तत् सङ्गतं दृष्ट्वा, ईदृशे महावैशसे वृत्ते ईदृशं पितृसखं पश्यन् अहम् सहस्रधा किं न दीर्ये ! अथवा रामेण किं दुष्करम् ॥ ४० ॥

सम्प्रति कथं जनको द्रष्टव्य इत्याह रामः—सम्बन्धेति । सम्बन्धस्पृहणीयताप्रमुदितैः—सम्बन्धस्य = रघूणां जनकानां च वैवाहिकसम्बन्धस्य, स्पृहणीयता = श्लाघ्यतया, प्रमुदितैः = आनन्दितैः । वसिष्ठादिभिः = वसिष्ठप्रभृतिभिर्मुनिभिः, आदिपदेन गौतमकौशिकादीनां परिग्रहः । जुष्टे = सेविते । अपत्यविवाहमङ्गलमहे—अपत्यानाम् = कन्यापुत्राणाम्, विवाहमङ्गलमहे = पाणिग्रहणमङ्गलोत्सवे ('मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः) । तातयोः = पित्रोः, जनकदशरथयोः । तत् = तथाविधम् । सङ्गतम् = समागमम् । ईदृशे = एवंविधे सीताविवासनरूपे । महावैशसे = महति हत्याकर्मणि । वृत्ते जाते । ईदृशम् = अतिशयदुःखितम् । पितृसखम्—पितुः = तातस्य, दशरथस्येत्यर्थः, सखायम् = सुहृदम्, जनकमित्यर्थः । सहस्रधा = सहस्रप्रकारैः । न दीर्ये = न विदीर्णो भवामि । (कर्मकर्तरि लट्) ।

अयम्भावः—रघूणां जनकानां च वैवाहिकसम्बन्धस्य श्लाघ्यतया प्रमुदितैर्वसिष्ठादिभिर्मुनिभिरलङ्कृते कन्यापुत्रविवाहमङ्गलोत्सवे पित्रोर्जनकदशरथयोस्तथाविधं समागमं दृष्ट्वा, सम्प्रति सीतानिर्वासनरूपे हत्याकर्मणि जाते भग्नहृदयं पितुः प्रियमित्रं

स्पृहणीयता—स्पृहणीयस्य (√स्पृह् + अनीयर्) भावः, स्पृहणीय + तल्, स्त्रीत्वात् टाप् । जुष्टे—√जुष् (प्रीतिसेवनयोः) + क्त (कर्मणि) । सङ्गतम्—सम् + √गम् + क्त (नपुंसके भावे) । पितृसखम्—पितुः सखा इति पितृसखः (षष्ठी तत्पुरुष) तम्, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् । वैशसम्—विशसः (वि + √शस् + अच्) एव वैशसम्, विशस + अण् (स्वार्थे) ।

(रघुवंश तथा जनक वंश के) सम्बन्ध की श्लाघ्यता से प्रमुदित वसिष्ठ आदि मुनियों से सेवित, अपत्यों (सीता और राम) के विवाहमङ्गलोत्सव के अवसर पर पिता जनक और दशरथ के उस मिलन को देखने के बाद (अब) (सीता-निर्वासनरूप) ऐसे महा हत्याकर्म होने पर इस प्रकार दुःखित हृदय, पिता के मित्र (जनक) को देखता हुआ मैं सहस्र भागों में क्यों विदीर्ण नहीं हो जाता ! अथवा राम के लिए कौन-सा (कार्य) दुष्कर है ॥ ४० ॥

(नेपथ्ये) भो भोः कष्टं कष्टम् !

अनुभावमात्रसमवस्थितश्रियं सहसैव वीक्ष्य रघुनाथमीदृशम् ।
प्रथमप्रमूढजनकप्रबोधनाद्विधुराः प्रमोहमुपयान्ति मातरः ॥ ४१ ॥

तातं जनकं पश्यन् किं विदीर्णो न भवामि ? अथवा यो नाम रामो निरपराधां गर्भवतीं धर्मपत्नीं श्वापदसङ्कुलेऽरण्ये परित्यक्तुं शक्नोति, तेन किं कार्यं दुष्करम् ? स जनकमुखविलोकनेनापि विदीर्णो न भवेच्चेत्तदाऽऽश्चर्यं न मन्तव्यमिति भावः । अर्थापत्तिरलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—अनुभावमात्रसमवस्थितश्रियम् ईदृशं रघुनाथं सहसैव वीक्ष्य, प्रथमप्रमूढजनकप्रबोधनात् विधुराः मातरः प्रमोहमुपयान्ति ॥ ४० ॥

पुनर्नेपथ्ये जनकस्य कौसल्यादीनां रामजननीनां प्रमोहः सूच्यते—**अनुभावमात्रेति** । अनुभावमात्रसमवस्थितश्रियम्—अनुभावमात्रेण—अनुभावः=तेजोविशेषः, प्रभाव इति यावत्, तन्मात्रेण समवस्थिता = विद्यमाना, श्रीः=शोभा, यस्य तम् । सहसैव = अकस्मादेव । वीक्ष्य = दृष्ट्वा । प्रथमप्रमूढजनकप्रबोधनात्—प्रथमम् = पूर्वं, प्रमूढः = प्रकृष्टां मूर्च्छां गतो यो जनकः, तस्य प्रबोधनात् = समाश्वासनात्, प्रबोधनं विधायेत्यर्थः (ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी) । विधुराः = शोकविह्वलतया शून्येन्द्रियाः । मातरः = कौसल्यादय इत्यर्थः । प्रमोहम् = प्रकृष्टां मूर्च्छाम् । उपयान्ति = प्राप्नुवन्ति ।

अयम्भावः—भो भोः कष्टम् ! नितान्तकृशतया न ह्याकृत्या, प्रभावमात्रेणैव 'रामोऽयम्' इति विनिश्चेतुं शक्यमीदृशं राममकस्मादेव दृष्ट्वा पूर्वं जनकः प्रमोहं गतः,

---

अनुभावमात्रम्—अनुभाव एवेति अनुभावमात्रम् । मात्र शब्द अवधारणार्थक है । 'मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे' इत्यमरः । 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७२) से नित्यसमास । समवस्थितः—सम् + अव + स्था + क्त । वीक्ष्य—वि + ईक्ष् (दर्शने) + ल्यप् । प्रमूढः—प्र + √मुह + क्त । प्रबोधनम्—प्र + √बुध् + णिच् + ल्युट् । प्रमोहः—प्र + √मुह् + घञ् ।

(नेपथ्य में) हे हे, कष्ट है ।

प्रभाव मात्र से विद्यमान शोभा वाले इस प्रकार के रघुनाथ (राम) को सहसा ही देखकर, पहले मूर्च्छित जनक को आश्वस्त कर विकलेन्द्रिय माताएँ मूर्च्छा को प्राप्त हो रही हैं ॥ ४१ ॥

प्रथमप्रबुद्धजनकप्रबोधिताः (पाठान्तर)—प्रथमप्रबुद्धेन कौसल्याद्यपेक्षया पूर्वोत्पन्नप्रत्यभिज्ञापकेन जनकेन प्रबोधिताः प्रत्यभिज्ञापिताः (मातरः)—(वीरराघव); अर्थात् राम को पहले जनक ने पहचाना, तदनन्तर जनक द्वारा कौसल्यादि को राम की पहचान करायी गयी । वीरराघव की यह व्याख्या पाठ की समीचीनता नष्ट कर देती है । प्रपूर्वक बुध् धातु का प्रयोग 'फिर से सचेत होना', 'होश में आना' आदि अर्थों में भी होता है—'शनैरबोधिसुग्रीवः सोऽलुब्धीकर्णनासिकम्' (भट्टि० १५।५७) । अतः इसकी व्याख्या इस प्रकार से की जानी चाहिए—प्रथमं पूर्वं प्रबुद्धेन=मूर्च्छापगमात् प्राप्तसंज्ञेन जनकेन प्रबोधिताः=संज्ञां प्रापिताः । रामं दृष्ट्वा सर्वेऽपि मूर्च्छिताः, ततश्च पूर्वं प्राप्तसंज्ञेन जनकेन संज्ञां प्रापिता अपि राममातरः शोकावेगातिशयेन पुनः प्रमूर्च्छां प्राप्तवत्य इत्याशयः ।

रामः—हा तात ! हा मातरः ! हा जनक !

जनकानां रघूणां च यत्कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम् ।
तत्राऽप्यकरुणे पापे वृथा वः करुणा मयि ॥ ४२ ॥

तस्य जनकस्य समाश्वासनं विधाय शोकविह्वलतया शून्येन्द्रियाः सत्यो राममातरः कौसल्यादयोऽपि प्रकृष्टां मूर्च्छां प्राप्नुवन्ति ।

अत्र अनुभावमात्रेत्याद्युक्त्या सीताशोकविधुरस्य रामचन्द्रस्य शोकाधिक्यरूपगम्यार्थस्यैव प्रतिपादनात् पर्यायोक्तिरलङ्कारः । मञ्जुभाषिणी वृत्तम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—जनकानां रघूणां च यत् कृत्स्नं गोत्रमङ्गलं, तत्रापि अकरुणे पापे मयि वः करुणा वृथा ॥ ४२ ॥

शोकाकुलान् तान् सर्वानुद्दिश्य राम आह—जनकानामिति । जनकानाम् = जनकवंश्यानाम् । रघूणाम् = रघुवंश्यानाम् । कृत्स्नम् = सम्पूर्णम् । गोत्रमङ्गलम् = कुलकल्याणम् । अकरुणे = निर्दये । पापे = पापयुक्ते । करुणा = दया ।

अयम्भावः—हा तात ! हा मातरः ! हा जनक ! यत्सीतारूपं वस्तु जनकवंश्यानां रघुवंश्यानां च राज्ञां सम्पूर्णं कुलमङ्गलस्वरूपमासीत्, तस्मिन् सीतारूपे वस्तुन्यपि तदकारणनिर्वासनेन निर्दये पापिनि मयि सर्वेषां भवतां करुणा नोचिता । सर्वथाऽपापां तामहं घातितवानिति घातुके पापिनि च मयि दण्डविधानमेव समुचितं न तु दयाप्रदर्शनमिति भावः ।

अत्र करुणाऽभावं प्रति अकरुणत्वस्य पापत्वस्य च हेतुतयोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः, अपि च यत्पदोपस्थाप्ये सीतारूपे वस्तुनि गोत्रमङ्गलत्वस्य अभेदारोपाद्रूपकम्, तयोर्नैरपेक्ष्येण स्थितेः संसृष्टिः ॥ ४२ ॥

अकरुणे—विषये सप्तमी; नास्ति करुणा यस्य तस्मिन् (बहुव्रीहि) । पापे—पापमस्त्यस्येति पापः, तस्मिन्, पाप + अच् ('अर्श-आदिभ्योऽच्') ।

राम—हा तात ! हा माताओं ! हा जनक !

जो (सीता) जनकवंशियों तथा रघुवंशियों के कुल की सम्पूर्ण मङ्गलस्वरूप थी, उसके विषय में अकरुण, पापी मुझ पर आप लोगों की करुणा व्यर्थ है ॥ ४२ ॥

विधुराः—विगता धूर्भारो याभ्यस्ताः (प्रादिबहुव्रीहिसमास) इस प्रकार 'विधुर' शब्द यहाँ विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, अतएव विशेष्य (मातरः) के अनुसार स्त्रीलिङ्ग है । इस शब्द का प्रयोग जब नियत रूप से नपुंसकलिंग में होता है, तब इसका अर्थ विश्लेष, शोकावस्था आदि होता है—'विधुरं स्यात् प्रविश्लेषे न द्वयोः, विकले त्रिषु' (मेदिनी कोष) ।

'तात' शब्द जनक के लिए प्रयुक्त मालूम पड़ता है, पुनः जनक शब्द का प्रयोग व्यर्थ और प्रक्षिप्त है; अथवा शोकाभिभूत राम के मुख से ऐसा प्रयोग कराने में उनकी शोकार्तता की पराकाष्ठा प्रदर्शित करना कविजी को अभीष्ट रहा होगा ।

यावत् सम्भावयामि । (इत्युत्तिष्ठति)

कुशलवौ--इत इतस्तातः ।

(सकरुणाकुलं परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महाकवि-भवभूतिविरचित उत्तररामचरिते

कुमारप्रत्यभिज्ञानो नाम षष्ठोऽङ्कः ।

भवतु, अस्मिन्नेव क्षणे गत्वा यावत् सम्भावयामि = अभ्युत्थानप्रणामादिभिस्तेषां सत्कारं करोमि ('यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति 'यावत्' योगे भविष्यदर्थे लट्) । (इत्युक्त्वा उत्तिष्ठति) कुशलवौ 'इत इतस्तात:' इति मार्गं निर्दिशतः ।

इति = इत्थं, सकरुणाकुलम्—सकरुणं = सशोकम्, आकुलं च यथा स्यात्तथा परिक्रम्य सर्वेऽपि निष्क्रान्ताः ।

सम्भावयामि—सम् + √भू + णिच् + लट् (मिप्) ।

अच्छा, तो (अभ्युत्थानादि से) सत्कार करता हूँ ।

(उठते हैं)

कुश और लव—तात ! इधर आयें इधर ।

(सशोक तथा व्याकुल होते हुए घूमकर सभी निकल गये ।)

महाकवि-भवभूति विरचित उत्तररामचरित नाटक में 'कुमारप्रत्यभिज्ञान' नामक छठा अंक समाप्त ।

कुमारप्रत्यभिज्ञानो नाम अङ्कः—कुमारयोः कुशलवयोः प्रत्यभिज्ञानं यस्मिन् सः । इस अङ्क में कुश और लव दोनों कुमारों का परिचय-वर्णन होने से कवि ने इसका नाम 'कुमारप्रत्यभिज्ञान' रखा । यद्यपि ज्ञात वस्तु का पुनः ज्ञान ही 'प्रत्यभिज्ञान' कहलाता है, किन्तु यहाँ इसका सामान्य अर्थ 'परिचय' अथवा 'पहचान' ही लेना चाहिए, क्योंकि यहाँ रामचन्द्र कुश और लव को प्रथम बार ही देख रहे हैं ।

सप्तमोऽङ्कः

(सम्मेलनम्)

(ततः प्रविशति लक्ष्मणः)

लक्ष्मणः—भो भो अद्य खलु भगवता वाल्मीकिना सब्रह्मक्षत्रपौरजानपदाः प्रजाः सहास्माभिराहूय कृत्स्न एव सदेवासुरतिर्यगुरगनायकनिकायः सचराचरो भूतग्रामः स्वप्रभावेण सन्निधापितः। आदिष्टश्चाहमार्येण—वत्स लक्ष्मण! भगवता वाल्मीकिना स्वकृतिमप्सरोभिः प्रयुज्यमानां द्रष्टुमुपनिमन्त्रिताः स्मः, तद्गङ्गातीरमातोद्यस्थानमुपगम्य क्रियतां समाजसन्निवेश इति। कृतश्च मर्त्यामर्त्यस्य भूतग्रामस्य समुचितस्थानसन्निवेशो मया। अयं तु-

---

लक्ष्मणः प्रविश्य प्राह—भो भो अद्येति। भो भोः! अद्य = सम्प्रति, भगवता वाल्मीकिना सब्रह्मक्षत्रपौरजानपदाः—ब्रह्मभिः = ब्राह्मणैः, क्षत्रैः = क्षत्रियैः, पौरैः = नगरनिवासिभिः, जानपदैः = देशवासिभिः सहिताः। प्रजाः = जनान् ('प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः)। कृत्स्न एव = समस्त एव। सदेवासुरतिर्यगुरगनायकनिकायः—देवाः, असुराः, तिर्यञ्चः = पशवः पक्षिणश्च, उरगाः = सर्पाः, तेषां ये नायकाः = प्रधानाः, तेषां निकायः = समूहः, तेन सहितः। सचराचरः—चरैः = जङ्गमैः, अचरैः = स्थावरैश्च सहितः। भूतग्रामः = प्राणिसमूहः।

अस्माभिः सह—'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति तृतीया। आहूय—आ + √ह्वे + ल्यप्। निकायः—निचीयते राशीक्रियते इति भावे घञ्, उपसमाधान (अर्थात् राशीकरण) के अर्थ में नि + √चि से 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' (३।३।४१)

(तदनन्तर लक्ष्मण प्रवेश करते हैं।)

लक्ष्मण—अरे, अरे! आज भगवान् वाल्मीकि ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, नगरवासी, जनपदवासी सभी प्रजा को हमलोगों के साथ बुलाकर, सम्पूर्ण सुर, असुर, पशु-पक्षी, सर्पनायक समूह सहित चराचरात्मक प्राणिवृन्द को अपने प्रभाव से एकत्र किया है। और मैं महाराज के द्वारा आदिष्ट

सचराचरः—अचर कहते हैं, 'स्थावर' को, जो अपने स्थान पर ही स्थिर रहते हैं। तब उन्हें बुलाना कैसे सम्भव है? यहाँ अचर का तात्पर्य उनके अधिष्ठातृ देवताओं से है। तृतीय अङ्क में तमसा, मुरला आदि नदियों की अधिष्ठातृ देवता ही तो हैं; वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए।

भूतग्रामः—भूतानां ग्रामः = समूहः (षष्ठीतत्पुरुष) समास के अन्त में ग्राम शब्द समुच्चय, संग्रह, वृन्द आदि का बोधक है ('शब्दादिपूर्वो वृन्देऽपि ग्रामः' इति हैमः)।

आतोद्यस्थानम्—आ = सम्यक् तुद्यते इति आतोद्यम् = वाद्यम्, तस्य स्थानम् = रङ्गशाला मित्यर्थः। आतोद्य कहते हैं वाद्य (बाजा) को; रङ्गशाला में विभिन्न प्रकार के बाजे भी बजते हैं

स्वप्रभावेण = आत्मतपोमहिम्ना । सन्निधापितः = एकत्र स्थापितः । आर्येण = श्रीराम-चन्द्रेणेत्यर्थः । प्रयुज्यमानाम् = अभिनीयमानाम् । स्वकृतिम् = आत्मरचनाम्, नाटक-रूपामिति भावः । उपनिमन्त्रिताः = आहूताः । आतोद्यस्थानम् = वाद्यस्थानम्, रङ्ग-मित्यर्थः । समाजसन्निवेशः—समाजस्य = सभायाः, सन्निवेशः = यथोचितस्थानविभागः । मर्त्यामर्त्यस्य—मर्त्याः = मरणशीलाः, अमर्त्याः = मरणरहिताश्च, तेषां समाहारः, तस्य । भूतग्रामस्य = प्राणिसमूहस्य । समुचितस्थानसन्निवेशः = अधिकारानुरूपप्रतिष्ठा-पनम् ।

अयम्भावः—भो भोः ! सम्प्रति भगवता वाल्मीकिना स्वतपोमहिम्ना अस्माभिः सह ब्राह्मणाः, क्षत्रियाः, नगरनिवासिनः, ग्रामवासिनः, सुराः, असुराः, तिर्यञ्चः, स्थावराः, जङ्गमाः, मर्त्याः, अमर्त्याः, सकलप्राणिन आहूय एकत्र संस्थापिताः । आदिष्टश्चाह-मार्येण—भगवान् वाल्मीकिः स्वकीयां कृतिमप्सरोभिः प्रयुज्यमानां द्रष्टुमस्मान् समाहूतवान्, तद् गङ्गातीरं रङ्गस्थानमुपेत्य समाजस्याधिकारानुरूपप्रतिष्ठापनं क्रियता-मिति । मया च तत्सर्वं स्वकीयं कार्यं साधु सम्पादितम् ।

से घञ् होकर, आदि (अर्थात् चकार) को ककार हो जाता है । सन्निधापितः—सम् + नि + √धा + णिच् (पुगागम)° + क्त (कर्मणि) । प्रयुज्यमाना—प्र + √युज् + कर्मणि शानच् ।

हूँ—'वत्स लक्ष्मण ! भगवान् वाल्मीकि से अप्सराओं के द्वारा अभिनीत होती अपनी कृति (नाटक) को देखने के लिए हम आमन्त्रित हैं । गङ्गातीर पर रङ्गशाला पहुँचकर समाज के बैठने की व्यवस्था करो ।' और मैंने मर्त्यामर्त्य सकल प्राणिसमूह की समुचित स्थान-व्यवस्था कर दी है ।

अतः उसे 'आतोद्यस्थान' भी कहते हैं । यद्यपि आतोद्य का शब्दार्थ 'पीट कर बजाया जाने वाला बाजा' (जैसे ढोल आदि) है, तथापि उपचारात् चारों प्रकार के बाजों का बोध कराता है । बाजों के चार प्रकारों का निर्देश अमरकोष में इस प्रकार है—

'ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् । वंश्यादिकं तु सुषिरम्, कांस्यतालादिकं घनम्' ॥ अर्थात्—(१) ततम् (तारों वाला बाजा) जैसे वीणा आदि । (२) आनद्धम् (मढ़ा हुआ, जो पीटकर बजाया जाता है) जैसे मृदङ्ग आदि । (३) सुषिरम् (छिद्रों वाला, जो मुख आदि से हवा देकर बजाया जाता है) जैसे बाँसुरी आदि (आधुनिक 'हारमोनियम' वाद्य की भी गणना इसी कोटि में होनी चाहिए) । (४) घनम् (परस्पर मिलाकर बजाया जाने वाला) जैसे झाँझ आदि ।

गङ्गातीरम् आतोद्यस्थानम्—गर्भनाटक में नेपथ्य में सीता के मुख से सूचना दी जानी है—'हा, इदानीं मन्दभाग्या भागीरथ्यामात्मानं निवेदयामि ।' तथा आगे चलकर भागीरथी और पृथ्वी के साथ गङ्गा की धारा के भीतर से सीता का बाहर आना भी लक्ष्मण के मुख से सूचित कराना है । अतः इन कार्यों के सौकर्य को दृष्टि में रखकर रङ्गशाला गङ्गातट पर निर्मित की गयी थी । अपनी शीतलता एवं पावनता के कारण भी गङ्गातट रङ्गशाला के हेतु उपयुक्त था ।

राज्याश्रमनिवासेऽपि प्राप्तकष्टमुनिव्रतः ।
वाल्मीकिगौरवादार्य इत एवाभिवर्तते ॥ १ ॥

(ततः प्रविशति रामः)

रामः—वत्स लक्ष्मण ! अपि स्थिता रङ्गप्रेक्षकाः ?

लक्ष्मणः—अथ किम् ?

रामः—इमौ पुनर्वत्सौ कुशलवौ चन्द्रकेतुसदृशीं स्थानप्रतिपत्तिं लम्भयितव्यौ ।

अन्वयः—राज्याश्रमनिवासेऽपि प्राप्तकष्टमुनिव्रतः आर्यः वाल्मीकिगौरवात् इत एव अभिवर्तते ॥ १ ॥

राज्याश्रमेति । राज्याश्रमनिवासे—राज्यम् = प्रजापालनरूपं कर्म, तदेव आश्रमः = स्वैराचारप्रतिबन्धको नियमविशेषः, तत्र निवासे = अवस्थाने । प्राप्तकष्टमुनिव्रतः—प्राप्तम् = स्वीकृतमित्यर्थः, कष्टम् = क्लेशकरम्, मुनिव्रतम् = मुनीनामिव ब्रह्मचर्यादिकं व्रतं येन सः । आर्यः = पूज्यः, श्रीरामचन्द्रः । अभिवर्तते = आगच्छति ।

अयम्भावः—अयं महाराजो रामो यो राजधर्मानुष्ठाने व्यापृतोऽपि क्लेशकरं ब्रह्मचर्यादिकरूपं मुनिव्रतं स्वीकृतवान्, वाल्मीकेर्गौरवाद्धेतोरित एवागच्छति ।

अत्र गृहिणां मुनिजनोचितव्रतानुपालनस्यासम्भवितत्वाद् विरोधे, श्रीरामचन्द्रस्य अलौकिकमहिमवत्त्वेन तत्परिहाराद् विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ १ ॥

प्रविश्य रामो लक्ष्मणं पृच्छति—वत्स लक्ष्मण ! किं सर्वेऽपि रङ्गप्रेक्षकाः—रङ्गः = नाट्यगृहम्, लक्षणया तत्स्थं कर्म अभिनय इत्यर्थः, तस्य प्रेक्षकाः—दर्शकाः, रङ्गसामाजिकाः, स्थिताः = आसीनाः ।

लक्ष्मणेनोक्तम्—अथ किम् ?

रङ्गः—रज्यन्तेऽस्मिन्निति रङ्गः, √रञ्ज + घञ् (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति कुत्वम् । प्रतिपत्तिम्—प्रति + √पद् + क्तिन् । लम्भयितव्यौ—√लभ् + णिच्, नुमागम + तव्य (कर्मणि) ।

राज्याश्रम में निवास करने पर भी मुनियों के क्लेशकर नियमों को स्वीकार कर लेने वाले महाराज वाल्मीकि के गौरव के कारण, इधर ही आ रहे हैं ॥ १ ॥

(तदनन्तर राम प्रवेश करते हैं ।)

राम—वत्स लक्ष्मण ! सामाजिक लोग बैठ गये हैं ?

लक्ष्मण—हाँ महाराज !

राम—ये दोनों बच्चे कुमार चन्द्रकेतु के समान आसन से सम्मान पावें ।

रङ्गप्राश्निकाः (पाठा०)—इसकी व्याख्या वीरराघव ने इस प्रकार की है—रङ्गस्य नाट्यस्थानस्य प्राश्निकाः सामाजिकाः । रङ्गस्थले राज्ञा सह द्रष्टार इत्यर्थः । प्रश्नं ज्ञातव्यार्थजिज्ञासां अर्हन्तीति प्राश्निकाः तदर्हाधिकारीयष्ठञ् । समस्तशास्त्रनिष्णातहृदया इति भावः ।

प्रतिपत्तिम्—शब्दकोषों के अनुसार यह शब्द संस्कृत-साहित्य में लगभग सत्रह अर्थों में प्रयुक्त मिलता है । यहाँ इसका अर्थ गौरव, सम्मान अथवा अवाप्ति है ।

लक्ष्मणः—प्रभुस्नेहप्रत्ययात् तथैव कृतम्। इदं चास्तीर्णं राजासनम्। तदुपविशत्वार्यः।

(राम उपविशति)

लक्ष्मणः—प्रस्तूयतां भोः।

सूत्रधारः—(प्रविश्य) भो भो! भगवान् भूतार्थवादी प्राचेतसः सस्थावर-

---

ततो रामो लक्ष्मणमाह—इमौ वत्सौ कुशलवावपि चन्द्रकेतुरिव स्थानप्रतिपत्तिम्—स्थानस्य = समुपवेशनासनस्य, प्रतिपत्तिम् = गौरवम्, स्थानेन लम्भयितव्यौ = प्रापयितव्यौ, सम्मानयितव्यौ।

लक्ष्मणेनोक्तम्—प्रभुस्नेहप्रत्ययात्—प्रभोः = महाराजस्य, यः स्नेहः = कुशलवयोः प्रदर्शितं वात्सल्यम्, तस्य प्रत्ययात् = ज्ञानात्, महाराजस्यानयोस्तादृशस्नेहो ज्ञायते, तत्तथैव पूर्वमेव कृतम्। इदं राजासनमास्तीर्णम्, उपविशतु महाराजः।

रामस्यासनग्रहणादनन्तरं लक्ष्मणो नटान् प्रस्तूयताम् = 'आरभ्यतामभिनयः' इत्यादिशत्।

यथास्थानं स्थितेषु सामाजिकेषु, चन्द्रकेतुतुल्यं स्थानं प्रापितयोश्च कुशलवयोः; राजासनासीने च महाराजे रामे लक्ष्मणसमादेशात् प्रविश्य (गर्भनाटकस्य) सूत्रधारो

आस्तीर्णम्—आ + √स्तॄ + क्त (कर्मणि)। प्रस्तूयताम्—प्र + √स्तु + लोट् (कर्मणि)।

लक्ष्मण—महाराज! आपके स्नेह का ज्ञान होने से वैसा ही किया गया है। यह राजासन बिछा है, महाराज बैठें।

(राम बैठते हैं।)

लक्ष्मण—प्रस्तुत किया जाय (अभिनय आरम्भ किया जाय)।

सूत्रधार—**(प्रवेश कर)** हे सामाजिकवृन्द! यथार्थवादी भगवान् वाल्मीकि चराचरात्मक

राजासनमास्तीर्णम्—घनश्याम ने कवि के 'आस्तीर्णम्' पद पर बड़ी कड़ी आपत्ति की है; क्योंकि 'राजासन' शब्द सिंहासन का ही पर्याय है, उसके लिए 'आस्तीर्ण' शब्द का प्रयोग युक्त नहीं है। यदि यह कहा जाय कि वह कोई दूसरा आस्तरणोचित आसन रहा होगा, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सभा-नायक महाराज राम के प्रति गङ्गाजी का 'जगत्पते' ऐसा वक्ष्यमाण वचन इस प्रकार से असंगत हो जायेगा (देखिए, घनश्याम की टीका)। किन्तु वीरराघव ने कवि की रक्षा करते हुए कहा है कि यहाँ 'राजासन' का अर्थ राजा के योग्य कोई भी 'आसन' ऐसा है। जब ब्रह्मा, इन्द्र आदि देव लोग भी उस अभिनय को देखने के लिए उपस्थित थे, तब एकरूपता की दृष्टि से सिंहासन से भिन्न एक दूसरा आस्तरणोचित आसन राम के लिए युक्त ही था। वीरराघव का मत सर्वथा समीचीन है। सिंहासन के अतिरिक्त अन्य किसी समुचित आसन पर बैठने से भगवान् राम के शाश्वत जगत्पतित्व में क्या अन्तर पड़ सकता है? सिंहासन से जगत्पतित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः गंगा का 'जगत्पते' इस वचन का स्वारस्य बना ही रहता है।

सूत्रधार—यह प्रस्तूयमान गर्भनाटक (गर्भाङ्क) का सूत्रधार है, मुख्य नाटक का नहीं गर्भनाटक (अथवा गर्भाङ्क) का लक्षण है—

जङ्गमं जगदाज्ञापयति—यदिदमस्माभिरार्षेण चक्षुषा समुद्वीक्ष्य पावनं करुणाद्भुतरसं किञ्चिदुपनिबद्धम्, तत्र कार्यगौरवादवधातव्यमिति ।

नाटकस्य प्रस्तावनां करोति—भो भो भगवानिति । भोः भोः = इति सामाजिकान् प्रति सम्बोधनम् । भूतार्थवादी—भूतः = सत्यः, अर्थः = अभिधेयं वस्तु, तं वदतीति तच्छीलः, यथार्थवादीत्यर्थः ('सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिः) । प्राचेतसः = वाल्मीकिः । आज्ञापयति = आदिशति । आर्षेण = ऋषिसम्बन्धिना, अलौकिकेनेति भावः । चक्षुषा = दृष्ट्या । समुद्वीक्ष्य = सम्यग् दृष्ट्वा । पावनम् = पवित्रकरम् । करुणाद्भुतरसम्—करुणाद्भुतरसौ यस्मिंस्तत् । उपनिबद्धम् = रचितम् । कार्यगौरवात्—कार्यस्य=प्रतिपाद्यस्य वस्तुनः, गौरवात् = गुरुत्वात्, समधिकादरणीयत्वाद्धेतोः (हेतौ पञ्चमी) । अवधातव्यम् = अवधानं कर्तव्यम्, सावधानैर्भवितव्यम् ।

अयम्भावः—भो रङ्गसामाजिकाः ! यथार्थवादी भगवान् वाल्मीकिः सचराचरं जगदादिशति—अहमार्षेण चक्षुषा सम्यक् अवलोक्य यत्किञ्चिदिदं पावनं करुणाद्भुतरसोपेतं विरचितम्, तस्मिन् प्रतिपाद्यवस्तुनः समधिकसमादराद्धेतोः सर्वैरपि भवद्भिस्तस्याभिनयं द्रष्टुं सावधानैर्भवितव्यम् ।

आर्षेण—ऋषेरिदमित्यार्षं तेन; ऋषि शब्द से 'तस्येदम्' सूत्र से अण् । समुद्वीक्ष्य—सम् + उद् + वि + √ईक्ष् (दर्शने) + ल्यप् । पावनम्—पावयतीति; √पू + णिच् + ल्युट् । उपनिबद्धम्—उप + नि + √बन्ध् + क्त (कर्मणि), 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' सूत्र से उपधाभूत नकार का लोप । अवधातव्यम्—अव + √धा + तव्य (भावे) ।

जगत् को आदिष्ट करते हैं कि मैंने आर्षनेत्र से भली-भाँति देखकर पवित्रकारक करुण तथा अद्भुत रस से यह कुछ उपनिबद्ध किया है । इस विषय में प्रतिपाद्य वस्तु के गौरव के कारण आप सभी सावधान हो जायें ।

'अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान् ।
अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि ॥' (साहित्यदर्पण ६।२०) ।

यह तो सर्वविदित है कि 'अङ्क में मुख्य अथवा सरस वस्तु का विनिवेश होता है और 'सूच्य', 'प्रयोज्य', 'अभ्यूह्य और 'उपेक्ष्य' वस्तुओं का उपन्यास विष्कम्भ, प्रवेशक आदि उपायों से किया जाता है । 'गर्भाङ्क' भी एक उपाय ही है जिसे नाटककार 'सूच्य' वस्तु के अल्पतम कालव्यापी होने पर अपनाता है । इसका विधान किसी नाटक के एक अङ्क के अन्तर्गत दूसरे अङ्क के रूप में किया जाता है । इसमें भी शास्त्रानुसार ही सूत्रधार द्वारा मङ्गलाचरण अथवा प्रस्तावना आदि का विधान किया जाता है । इसमें भी बीजरूप इतिवृत्तार्थ अथवा नायक के प्रधान प्रयोजन का अंशतः उपन्यास रहा करता है । भिन्न-भिन्न नाटकों में गर्भनाटक अथवा गर्भाङ्क की योजना के भिन्न-भिन्न उद्देश्य देखे जाते हैं । प्रस्तुत 'उत्तररामचरित' में इस गर्भाङ्क की योजना रसोत्कर्ष के लिए की गई है तो 'बालरामायण' में नायकोत्कर्ष और 'अमोघराघव' में वस्तूत्कर्ष के लिए गर्भाङ्क रचा गया है । इसीलिए शिङ्गभूपाल ने 'रसार्णवसुधाकर' के तृतीयविलास में गर्भाङ्क की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'रसनायकवस्तूनां महोत्कर्षाय कोविदैः । अङ्कस्य मध्ये योऽङ्कः स्यादयं गर्भाङ्क ईरितः ॥'

रामः—एतदुक्तं भवति—साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः। तेषाममृतसाराणि भगवतां परोरजांसि प्रज्ञानानि न क्वचिद् व्याहन्यन्त इत्यनभिशङ्कनीयानीति।

श्रीरामचन्द्रः सूत्रधारवचनाभिप्रायं स्पष्टीकरोति—एतदिति। एतदुक्तं भवति = महर्षिवचनस्यैष आशय इत्यर्थः। साक्षात्कृतधर्माणः—साक्षात्कृतः = प्रत्यक्षीकृतः, धर्मः = अलौकिकश्रेयःसाधनरूपः यैस्ते, (समासान्तोऽनिच्)। अमृतसाराणि—अमृतम् = पीयूषम्, तदिव सारः = स्थिरांशः, येषां तानि। परोरजांसि = रजसः पराणि, रजसः तमसोऽप्युपलक्षणत्वात् केवलसत्त्वमयानीति भावः। प्रज्ञानानि = प्रकृष्टतत्त्वबोधाः। क्वचित् = कालत्रयेऽपीत्यर्थः। न व्याहन्यन्ते = न प्रतिहतानि भवन्ति, अयथार्थानि न भवन्ति इति भावः। इति = अस्माद्धेतोः। अनभिशङ्कनीयानि = असंशयितव्यानि।

अयम्भावः—भगवतो वाल्मीकेः कथनस्यैषोऽभिप्रायः—महर्षयः साक्षात्कृतो धर्मो यैस्तादृशा भवन्ति। तेषाममृतसाराणि रजोगुणातीतानि सर्वथा शुद्धसत्त्वमयानि प्रकृष्टज्ञानानि कालत्रयेऽपि न ह्ययथार्थानि भवन्ति, तस्मात् तेषु न हि सन्देहस्यावकाशः। अतोऽस्मिन्नार्षप्रबन्धे सर्वैरपि प्रेक्षकैः श्रद्धालुभिर्भवितव्यमिति भावः।

साक्षात्कृतधर्माणः—साक्षात्कृतः धर्मः यैस्ते, बहुव्रीहि समास होने पर 'धर्मादनिच् केवलात्' सूत्र से अनिच् (अन्) समासान्त। परोरजांसि—रजसः पराणि इति, समास होने पर 'राजदन्तादिषु परम्' इस सूत्र के अनुसार पूर्वप्रयोगार्ह 'रजस्' शब्द का परनिपात। 'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्' सूत्र से सुट् का आगम। व्याहन्यन्ते—वि + आ + √हन् + लट् (कर्मणि)। अभिशङ्कनीयानि—अभि + √शङ्क् + अनीयर्।

राम—इसका आशय यह है—महर्षि लोग धर्म का साक्षात्कार करने वाले होते हैं। उन मुनियों के अमृतसारभूत रजोगुणातीत (अर्थात् सात्त्विक) प्रकृष्ट ज्ञान कहीं भी व्याहत (अर्थात् अयथार्थ) नहीं होते हैं, अतः वे शङ्कायोग्य नहीं हैं।

अमृतम्भराणि (पाठा०)—अमृतं बिभ्रति इति (अमृत धारण करनेवाले) अमृत + √भृ + खच्, मुमागम। किन्तु यहाँ खच् प्रत्यय होगा कैसे? यह समस्या है। खच् प्रत्यय का विधायक सूत्र 'संज्ञायां भृत०' (३।२।४६) संज्ञा में ही लगता है, और 'ऋतम्भराणि' संज्ञाबोधक है नहीं। इसी कारण से घनश्याम ने इसे कवि का प्रमाद कहा है। इसके विपरीत वीरराघव 'ऋतम्भराणि' ऐसा पाठ मानते हुए भी उक्त 'अमृतं भराणि' को तथा अपने माने पाठ को भी समान रूप से साधु सिद्ध करने के लिए कहते हैं—'इदं च पदद्वयम्······'। 'अमृतमिति कर्मणि द्वितीया······', 'कर्तृकर्मणोः कृति' इत्यस्यानित्यत्वान्न षष्ठी। तज्ज्ञापकं तु 'तदर्हम्', 'अन्तर्धौ येनादर्शनम्' इति निर्देशद्वयमिति स्पष्टं व्याकरणपरिशीलनशालिनाम्। 'धार्यैरामोदमुत्तमम्' इति भट्टिप्रयोगान्नाप्रयुक्तत्वशङ्का। एतेन 'अमृतं भराणि' इति कवेः प्रमाद इति वदन् व्याख्याता निरस्तः।" किन्तु बहुत से वैयाकरण वीरराघव के मत को नहीं मानते हैं, क्योंकि भाष्यकार ने 'कर्तृकर्मणोः कृति' को अनित्य नहीं माना है। इनके अनुसार 'तदर्हम्' सूत्र में तत् का प्रयोग आर्ष है। 'अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति' सूत्र में षष्ठ्यन्त 'आत्मनः' (कर्म) का अध्याहार करने से 'येन' इस तृतीयान्त कर्तृपद का प्रयोग साधु हो जाता है। 'धार्यैरामोदमुत्तमम्' इस भट्टि-प्रयोग में 'गृहीत्वा' का

(नेपथ्ये)

हा अज्जउत्त ! हा कुमार लक्खण ! एआइणिं मंदभाइणिं असरणं रण्णे आसण्णप्पसववेअणं हदासं सावदा मं अहिलसंदि । साहं दाणिं मंदभाइणी भाईरईए अत्ताणं णिक्खिविस्सम् । [हा आर्यपुत्र ! हा कुमार लक्ष्मण ! एकाकिनीं मन्दभागिनीमशरणामरण्ये आसन्नप्रसववेदनां हताशां श्वापदा मामभिलषन्ति । साहमिदानीं मन्दभागिनी भागीरथ्यामात्मानं निक्षेप्स्यामि ।]

लक्ष्मणः—(आत्मगतम्) कष्टं बत, अन्यदेव किमपि ।

तस्मिन्नेव काले नेपथ्ये सीतावचनं श्रूयते—हा आर्यपुत्रेति । हा आर्यपुत्र ! हा कुमार लक्ष्मण ! एकाकिनीम् = असहयाम्, शरणाम्—नास्ति शरणं = रक्षिता, यस्यास्तादृशीम्; आसन्नप्रसववेदनाम्—आसन्ना = समीपागता, प्रसववेदना = अपत्यजननकालोत्पद्यमानपीडा, यस्यास्ताम् = प्रसववेदनाभिभूतां, हताशाम्—हता = विनाशिता, आशा = मनोरथ इत्यर्थः, यस्यास्तां = निराशां, मां = सीताम्, अस्मिन् भीषणेऽरण्ये, श्वापदाः = हिंस्रजन्तवो व्याघ्रादयः, अभिलषन्ति = भक्षयितुं वाञ्छन्ति । हा ! तादृशी मन्दभागिनी सम्प्रत्यहम् आत्मानं = स्वशरीरं, भागीरथ्यां = गङ्गायां, निक्षेप्स्यामि = पातयामि ।

एकाकिनीम्—एक (जो संख्या शब्द नहीं, बल्कि असहायवाची है) शब्द से 'एकादाकिनिच्चासहाये' (५।३।५२) सूत्र के अनुसार 'आकिनिच्' (आकिन्) प्रत्यय, नान्त हो जाने से स्त्रीलिङ्ग में 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' सूत्र से ङीप् हुआ है । आसन्नः—आ + √सद् + क्त ('रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' के अनुसार धातु के दकार और निष्ठा के तकार, दोनों को नकार हो गया) । श्वापदाः—शुन इव पदानि येषां ते–श्वन् और पद का बहुव्रीहि हो जाने पर 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से नकार का लोप, 'शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्घो वाच्यः' इस वचन से पूर्वपद को दीर्घ हो गया ।

(नेपथ्य में) हा आर्यपुत्र ! हा कुमार लक्ष्मण ! मुझ असहाय मन्दभागिनी रक्षकहीन तथा प्राप्त प्रसववेदना वाली को वन में हिंसक जीव खा जाना चाहते हैं । वह मैं मन्दभागिनी अब अपने शरीर को गंगा में गिराऊँगी ।

लक्ष्मण—यह तो कुछ और ही निकला ।

अध्याहार करने से 'आमोदम्' में द्वितीया उपपन्न हो जाती है । अतः 'अमृतं भराणि' अथवा 'ऋतं भराणि' ये दो स्वतन्त्र पद माने जाने पर षष्ठी की अनिवार्यता से 'अमृतम्' अथवा 'ऋतम्' यह द्वितीयान्त पद असाधु होगा ।

वस्तुतः 'अमृतम्भराणि' में चाहे दो पद मानें या एक पद मानें, यह किसी भी तरह साधु नहीं होगा । हाँ, 'ऋतम्भराणि' इतना एक पद मानने से यह साधु हो जायेगा, क्योंकि योग दर्शन में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' ऐसा कहा गया है । तदनुसार 'ऋतम्भराणि' संज्ञा शब्द होगा और अर्थ होगा—ऋतम्भर-संज्ञक प्रज्ञान । संज्ञा होने से 'संज्ञायां भृतृ' सूत्र से खच् और 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' से मुम् का आगम करने से 'ऋतम्भराणि' सिद्ध होता है ।

सूत्रधारः—

विश्वम्भरात्मजा देवी राज्ञा त्यक्ता महावने।
प्राप्तप्रसवमात्मानं गङ्गादेव्यां विमुञ्चति॥ २॥

(इति निष्क्रान्तः)

प्रस्तावना।

सीतापरिदेवनं श्रुत्वा लक्ष्मणः कथयति—कष्टं भोः! अन्यदेव = एतत् महा-शास्यविषयादपरमेव, किमपि = अकथनीयम्, जातम्।

अन्वयः—विश्वम्भरात्मजा देवी राज्ञा महावने त्यक्ता प्राप्तप्रसवम् आत्मानं गङ्गा-देव्यां विमुञ्चति॥ २॥

नेपथ्ये श्रूयमाणं परिदेवनं 'कस्य जनस्य, किं हेतुकं च' इति सूत्रधारः स्पष्टी-करोति—**विश्वम्भरात्मजेति**। विश्वम्भरात्मजा—विश्वं बिभर्ति = धारयति पालयति चेति विश्वम्भरा = पृथ्वी ('भूर्भूमिरचलानन्ता रसा विश्वम्भरा' इति पृथ्वीपर्यायेष्वमरः) तस्या आत्मजा = पुत्री। देवी = सीता। राज्ञा = रामचन्द्रेणेत्यर्थः। महावने = घोरेऽरण्ये। प्राप्तप्रसवम्—प्राप्तः प्रसवः = प्रसूतिकालः, यस्य तम्। आत्मानम् = शरीरम्। गङ्गादेव्याम् = गङ्गाजलप्रवाहे। विमुञ्चति = पातयति।

अवम्भावः—पृथिव्याः पुत्री देवी सीता राज्ञा रामचन्द्रेण घोरेऽरण्ये परित्यक्ता, सम्प्रति प्रसववेदनाभिभूतयाऽऽत्मानं गङ्गाजलप्रवाहे पातयति। तस्या एवेदं परिदेवनं श्रूयते इति भावः॥ २॥

इत्युक्त्वा सूत्रधारो निष्क्रान्तः। इति गर्भनाटकस्य प्रस्तावना वृत्ता।

विश्वम्भरा—यह संज्ञा शब्द है, अतएव 'विश्वं बिभर्ति' इस विग्रह में 'संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः' सूत्र से खच् प्रत्यय, ततः 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' सूत्र से पूर्वपद 'विश्व' के मुम् का आगम और स्त्रीलिङ्ग में टाप् होने पर 'विश्वम्भरा' शब्द निष्पन्न होता है। त्यक्ता—√त्यज् + क्त (कर्मणि) + टाप् (स्त्रियाम्)।

सूत्रधार—विश्वम्भरा (पृथ्वी) की पुत्री देवी (सीता) राजा (रामचन्द्र) के द्वारा महावन में छोड़ दी गयी। प्रसववेदना के होने पर अपने को गङ्गा देवी में छोड़ रही है॥ २॥

(चला गया)

प्रस्तावना समाप्त।

प्रस्तावना—यह गर्भनाटक की 'प्रयोगातिशय' नामक प्रस्तावना है, क्योंकि सूत्रधार अपने आरब्ध प्रस्तावना रूप प्रयोग का अतिक्रमण कर 'सीता देवी अपने को गङ्गा में छोड़ रही है' एक नाट्यात्मक प्रयोग प्रस्तुत कर रहा है, जिससे प्रेक्षकों को सीता-प्रवेश की सूचना मिलती है।

'यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा॥' (विश्वनाथ)।

रामः—(सावेगम्) देवि, देवि ! क्षणमवेक्षस्व ।

लक्ष्मणः—आर्य ! नाटकमिदम् ।

रामः—हा देवि ! दण्डकारण्यवासप्रियसखि ! एष ते रामाद् दैवदुर्विपाकः ।

लक्ष्मणः—आर्य ! दृश्यतां तावत् प्रबन्धार्थः ।

रामः—एष सज्जोऽस्मि वज्रमयः ।

सावेगम्—आवेगः=सम्भ्रमः, भयादिति भावः, तेन सहितं यथा स्यात् तथा रामः प्राह—देवि इति । देवि, देवि ! (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः) क्षणमवेक्षस्व=कञ्चित्कालं प्रतीक्षस्व माम्; अहमपि तवानुसरणं रक्षणं वा करिष्यामीति भावः । 'लक्ष्मणमवेक्षस्व' इति पाठे—लक्ष्मणं विलोकयेत्यर्थः । मयि सापराधेऽपि लक्ष्मणे वत्सलतया त्वया गङ्गायां पतनं न कार्यमिति भावः ।

रामस्यावेगं दृष्ट्वा लक्ष्मणस्तं प्रबोधयति—आर्येति । महाराज ! नाटकम्=प्रयोज्याभिनयस्वरूपम्, अवास्तवमित्यर्थः, इदम्=उच्यमानगङ्गापतनम्; न हि वस्तुतो देवी सीता सम्प्रत्यात्मानं गङ्गायां निक्षिपतीति भावः ।

लक्ष्मणवचो निशम्य रामो ग्लानिपूर्वकमाह—हा देवि इति । हा देवि ! हा दण्डकारण्यवासप्रियसखि !—दण्डकारण्ये वासः, तत्र प्रियसखी=अभीष्टसहचरी, तत्सम्बुद्धौ ! (त्वया मदीयवनवासे मत्साहचर्यं कृतं तत्सर्वमेकपदे विस्मृत्य) अहमेवेदृश्यास्तव (दैवदुर्विपाकः—दैवस्य=भाग्यस्य, दुर्विपाकः=विषयः परिणामः ।) दुरवस्थाया हेतुरभवम्, नास्ति मत्समोऽन्यो जगति पातकीति भावः ।

एवंविधं दुःखमनुभवन्तं रामं दृष्ट्वा लक्ष्मणः पुनराह—आर्येति । अलं दुःखेन, तावत्=प्रथमं, प्रबन्धार्थः=दृश्यरूपकाव्यस्याभिनीयमानं कथावस्तु, महाराजः दृश्यताम्=पश्यतु ।

रामः कथयति—अहं वज्रमयः=वज्रनिर्मितः, (अतिकठोर इति भावः) सन् सज्जोऽस्मि=सीताविपत्तिरूपं नाटकं द्रष्टुं सन्नद्धोऽस्मि ।

वज्रमयः—वज्र शब्द से विकार के अर्थ में मयट् प्रत्यय ।

राम—(आवेग के साथ) देवी, देवी ! थोड़ी देर प्रतीक्षा करो ।

लक्ष्मण—आर्य ! यह नाटक है ।

राम—हाय देवी ! दण्डकारण्य के निवासकाल की प्रिय सखी, राम के ही कारण यह तुम्हारे भाग्य का भीषण परिणाम !

लक्ष्मण—आर्य ! पहले नाटक की कथावस्तु देख लीजिए ।

राम—यह वज्रमय मैं तैयार हूँ ।

लक्ष्मणमवेक्षस्व (पाठा०)—वीरराघव की व्याख्या इस प्रकार है—'मयि सापराधेऽपि त्वत्पुत्रं लक्ष्मणं दृष्ट्वा गङ्गायां न पतितव्यमित्यर्थः ।' यह अवधेय है कि राम आवेगवश इस घटना को अभिनय न समझ कर वास्तविक समझ बैठे ।

(ततः प्रविशत्युत्सङ्गितैकैकदारकाभ्यां पृथिवीगङ्गाभ्यामवलम्बिता सीता)

रामः—वत्स लक्ष्मण ! असंविज्ञातमनिबन्धनमन्धतमसमिव प्रविशामि । धारय माम् ।

देव्यौ—समाश्वसिहि कल्याणि दिष्टया वैदेहि वर्धसे ।
अन्तर्जले प्रसूताऽसि रघुवंशधरौ सुतौ ॥ ३ ॥

उत्सङ्गितैकैकदारकाभ्याम्—उत्सङ्गितः=क्रोडे धृतः एकः एकः दारकः=शिशुः, याभ्यां ताभ्याम्=उत्सङ्गितैकैकपुत्राभ्यां, पृथिवीगङ्गाभ्यामवलम्बितां (अवलम्बिता= धृता) सीतां प्रविष्टां दृष्ट्वा विक्षुब्धो रामो लक्ष्मणं प्राह—वत्स लक्ष्मणेति । वत्स लक्ष्मण ! असंविज्ञानम्=अविदितस्वरूपम्, अनिबन्धनम्=अकारणम्, अकस्मादुद्भूतम्, अन्धतमसम्=गाढान्धकारमिव (इवेत्युत्प्रेक्षायाम्) निमज्जामि, तद् धारय=अवलम्बस्व माम् ।

अन्वयः—हे कल्याणि ! वैदेहि ! समाश्वसिहि । दिष्टया वर्धसे । अन्तर्जले रघुवंशधरौ सुतौ प्रसूता असि ॥ ३ ॥

इतश्च पृथिवी गङ्गा च सीतां समाश्वासयतः—समाश्वसिहीति । कल्याणि ! =मङ्गलवति ! समाश्वसिहि=समाश्वस्ता भव । दिष्टया=भाग्येन । अन्तर्जले= जले । रघुवंशधरौ=रघुकुलधारकौ । प्रसूता=उत्पादितवती । कल्याणप्ररोहः— कल्याणः=शुभकरः, प्ररोहः=अङ्कुरः, यस्य सः । क्षुभितबाष्पोत्पीडनिर्भरः— क्षुभितः=चलितः, यः बाष्पोत्पीडः=अश्रुप्रवाहः, तेन निर्भरः=पूर्णः, आकुल इति यावत् । प्रमुग्धः=प्रमोहं गतः, मूर्च्छित इत्यर्थः ।

अयम्भावः—कल्याणि ! वैदेहि ! समाश्वस्ता भव, त्वं दिष्टया वर्धसे, यत् त्वं जले रघुवंशसम्भारकौ पुत्रावजीजनत् ॥ ३ ॥

उत्सङ्गितः—उत्सङ्ग+इतच् । अथवा 'उत्सङ्गयति' नामधातु से कर्म में क्त । एकैकः—एकः एक इति एकैकः । द्विरुक्त 'एक' शब्द 'एकं बहुव्रीहिवत्' (८।१।९) सूत्र से बहुव्रीहिवत् होता है, जिससे पूर्व और उत्तर दोनों पदों के सुप् का लोप, पुंवद्भाव (जहाँ अपेक्षित हो) आदि कार्य होता है और पुनः पूरे समुदाय से सुप् विभक्ति होती है । अन्धतमसम्—अन्धयति इति अन्धम् (पचादित्वात् अच्) अन्धं च तत् तमश्च इति अन्धतमसम् 'अवसमन्धेभ्यः तमसः' (५।४।७९) से अच् समासान्त । अन्तर्जले—जले इति अन्तर्जले, विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः । 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' इस सूत्र में 'बहुल' का ग्रहण होने से सप्तमी का अम्भाव नहीं हुआ ।

(तदनन्तर गोद में एक-एक शिशु लिये हुए पृथ्वी और गंगा से अवलम्बित सीता प्रवेश करती है)

राम—वत्स लक्ष्मण ! मैं मानों अविदित आकस्मिक प्रगाढ अन्धकार में प्रविष्ट हो रहा हूँ । मुझे सम्हालो ।

दोनों देवियाँ (पृथिवी और गङ्गा)—हे मङ्गलवती वैदेही ! आश्वस्त होओ । भाग्य से तुम बढ़ रही हो; तुमने जल के भीतर रघुवंश के प्रतिष्ठापक दो पुत्रों को जन्म दिया है ॥ ३ ॥

सीता—(समाश्वस्य) दिट्ठिआ दारए प्पसूदम्हि । हा अज्जउत्त ! (इति मूर्च्छति) [दिष्टया दारकौ प्रसूताऽस्मि । हा आर्यपुत्र !]

लक्ष्मणः—(पादयोर्निपत्य) आर्य आर्य ! दिष्टया वर्धामहे । कल्याणप्ररोहो रघुवंशः । (विलोक्य) हा हा ! कथं क्षुभितबाष्पोत्पीडनिर्भरः प्रमुग्ध एवार्यः । (वीजयति)

पृथिवी—वत्से ! समाश्वसिहि ।

सीता—(समाश्वस्य) भअवदि का तुमं इअं अ । [भगवति ! का त्वम्, इयं च ।]

पृथिवी—इयं ते श्वशुरकुलदेवता भागीरथी ।

सीता—भअवदि णमो दे । [भगवति ! नमस्ते ।]

पृथिवीगङ्गावचसा समाश्वस्य सीता 'दिष्टया पुत्रौ प्रसूताऽस्मि । हा आर्यपुत्र !' इत्युक्त्वा मूर्च्छां गता ।

इतश्च लक्ष्मणो रामस्य पादयोर्निपत्य तस्मै न्यवेदयत्—आर्य ! वयं दिष्टया वर्धामहे यदधुना रघुवंशस्य कल्याणाङ्कुरसमौ समुत्पन्नौ पुत्रौ सीतादेव्याम् । पुनश्च रामं मूर्च्छितं दृष्ट्वाऽकथयत्—हा ! शोकजनिताश्रुप्रवाहाकुल आर्यः सम्प्रत्यपि मूर्च्छां गतः, इत्युक्त्वा व्यजनेन पवनसञ्चारणं करोति मूर्च्छापगमाय ।

पृथिवी सीतामुक्तवती—वत्से ! समाश्वस्ता भव ।

ततः समाश्वस्य **सीता** पृथिवीं पृच्छति—भगवति ! का त्वम् ? इयमपरा च का ? इति ।

पृथिवी भागीरथीपरिचयं ददाति—इयं ते श्वसुरकुलदेवता—श्वशुरकुलस्य = पत्युः पितृवंशस्य, देवताः = योगक्षेमकर्त्री देवता, भगवती भागीरथी = गङ्गा ।

एतच्छ्रुत्वा सीता तस्या अभिवादनं करोति—भगवति ! नमस्ते ।

प्रसूता—प्र + √सू + क्त + टाप् (स्त्रियाम्); यहाँ क्त प्रत्यय 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' सूत्र से कर्ता में हुआ है । प्ररोहः—प्ररोहत्यनेनेति प्ररोहः, प्र + √रुह् + घञ् (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) । उत्पीडः—उद् + √पीड् + घञ् ।

सीता—(समाश्वस्त होकर) भाग्य से मैंने दो बच्चों को जन्म दिया है । हाय, आर्यपुत्र ! **(ऐसा कहकर मूर्च्छित हो जाती है ।)**

लक्ष्मण—(चरणों पर गिरकर) आर्य आर्य ! भाग्य से हम वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं । रघुवंश मङ्गलस्वरूप अङ्कुर वाला हो गया । **(देखकर)** हाय ! हाय ! क्यों, बहते हुए अश्रु प्रवाह से परिपूर्ण आर्य मूर्च्छित ही हो गये ! **(पंखा झलता है)**

पृथिवी—बेटी ! समाश्वस्त होओ ।

सीता—(समाश्वस्त होकर) भगवती ! तुम कौन हो ? और यह कौन है ?

पृथिवी—यह तुम्हारे श्वसुर-कुल की देवता भागीरथी है ।

सीता—भगवती ! तुम्हें नमस्कार है ।

भागीरथी—चरित्रोचितां कल्याणसम्पदमधिगच्छ ।

लक्ष्मणः—अनुगृहीताः स्मः ।

भागीरथी—इयं तु जननी ते विश्वम्भरा ।

सीता—हा अम्ब ईदिसी अहं तुए दिट्ठा । [हा अम्ब ! ईदृश्यहं त्वया दृष्टा ।]

पृथिवी—एहि वत्से ! एहि पुत्रि ! (इति सीतामालिङ्ग्य मूर्च्छति)

सीतया कृतप्रणामा भगवती भागीरथी शुभाशिषं ददाति—**चरित्रोचितामिति** । चरित्रोचिताम्—चरित्रस्य = पातिव्रत्यरूपस्य सच्चरित्रस्य, उचिताम् = अनुरूपाम् ('चारित्रोपचिताम्' इति पाठे—चरित्रमेव चारित्रम्, तेन उपचिताम् = वृद्धिं गतामित्यर्थः); पातिव्रत्यरूपचरित्रयोग्यां, कल्याणसम्पत्तिं = श्रेयःसम्पत्तिम्, अधिगच्छ = प्राप्नुहि, लभस्व ।

भागीरथ्या आशिषं श्रुत्वा प्रसन्नो **लक्ष्मण** आह—अनुगृहीताः स्मः = अहं रामश्च सीता च कृतानुकम्पाः सञ्जाता इति भावः ।

तदनन्तरं **भागीरथी** पृथिवीपरिचयं ददाति—**इयं त्विति** । वत्से सीते ! इयं ते जननी विश्वम्भरा (पृथिवी) ।

एतच्छ्रुत्वा सीता स्वमातरमवलोक्य दुःखाभिभूता प्राह—हा इति ! हा जननि ! एवंविधामवस्थामनुभवन्ती त्वयाऽहं दृष्टा ?

अस्य सीतावचनस्यायमभिप्रायः—त्वं मे जननी विश्वम्भरा इति नाम्ना प्रसिद्धा, किन्त्वहं मन्दभागिनी तव पुत्री भूत्वाऽपि श्वापदसङ्कुलेऽरण्येऽनिर्वचनीयां दुर्गतिमापन्ना त्वयाऽद्य यावदुपेक्षितैवाऽस्मीति मम च तव चायं खेदकरो लज्जाकरश्च विषयः । ममेदृशीं दुरवस्थां वीक्षमाणाऽपि द्राग् दीर्णा कथं न त्वं जाता ? त्वं 'सर्वंसहा' असि, सत्यमेवैतदिति ।

सीतावचो निशम्य दुःखातिभारात् **पृथिवी**—'एहि वत्से ! एहि पुत्रि !' इत्युक्त्वा तामालिङ्ग्य मूर्च्छां गता ।

चरित्रम्—√चर् + इत्र; चरित्र से स्वार्थ में अण् होकर 'चारित्रम्' हो जाता है । सम्पद्—सम् + √पद् + क्विप् । अनुगृहीताः—अनु + √ग्रह् + क्त (कर्मणि) 'ग्रहिज्या०' (६।१।१६) से 'र' को सम्प्रसारण (ऋ), 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७।२।३७) से 'इट्' को दीर्घ । अभ्युपपन्ना—अभि + उप + √पद् + क्त (कर्मणि) 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' सूत्र से निष्ठा के तकार और पूर्ववर्ती दकार दोनों को नकार हो गया ।

भागीरथी—चरित्र के अनुरूप मङ्गलमयी सम्पत्ति को प्राप्त करो ।

लक्ष्मण—हम लोग अनुगृहीत हैं ।

भागीरथी—यह तुम्हारी माता पृथिवी हैं ।

सीता—हाय माँ ! इस प्रकार की मैं, तुम्हारे द्वारा देखी जा रही हूँ ।

पृथिवी—आओ बच्ची, आओ पुत्री ! **(सीता का आलिङ्गन कर मूर्च्छित हो जाती है)**

लक्ष्मणः—(सहर्षम्) दिष्टया गङ्गापृथिवीभ्यामभ्युपपन्ना आर्या ।

रामः—(अवलोक्य) करुणतरं खल्वेतद्वर्तते ।

भागीरथी—विश्वम्भराऽपि नाम व्यथत इति जितमपत्यस्नेहेन । यद्वा सर्वसाधारणो ह्येष मनसो मोहग्रन्थिरन्तश्चरश्चेतनावतामनुपप्लवः संसारतन्तुः । देवि भूतधात्रि ! वत्स वैदेहि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

लक्ष्मणः कथयति—दिष्टया = भाग्येनेयमार्या सीता, गङ्गापृथिवीभ्याम् अभ्युपपन्ना = रक्षणेन अनुगृहीता । अन्यथैतादृशे विपत्तिकाले न जाने कां गतिं प्राप्नुयादार्येति भावः ('अभ्युपपत्तिस्त्वनुग्रहः' इत्यमरः) ।

रामः पृथिवीं सीतां च मूर्च्छितां विलोक्य प्राह—करुणतरमिति । एतत्समधिकशोकोद्दीपकं वर्तते । चिरकालानन्तरं मातापुत्र्योः सम्मेलनं सञ्जातम्, किन्तु द्वे अपि मूर्च्छां गते, सम्प्रति तत्र किञ्चित्कर्तुं नाहमपि समर्थ इति महद्दुःखमिति भावः ।

तथाविधां पृथिवीमवलोक्य **भागीरथी** साश्चर्यं प्राह—विश्वम्भराऽपीति । विश्वम्भरा= विश्वधारिणी, क्षमाप्रधानेति भावः । इति=अस्माद्धेतोः । मनसः=हृदयस्य । मोहग्रन्थिः= मायाबन्धनम् ('मूढग्रन्थिः' इति पाठे–मोहात्मकं बन्धनमित्यर्थः; 'गूढग्रन्थिः' इति पाठे तु—रहस्यात्मकं बन्धनमित्यर्थः) । अन्तश्चरः=अन्तःकरणे व्यापारवान् । ('आन्तरः' इति पाठे—आभ्यन्तरिक इत्यर्थः) । चेतनावताम्=प्राणिनाम् । अनुपप्लवः = उपद्रवरहितः, अनभिभवनीय इति यावत् । ('उपप्लवः' इति पाठे—चाञ्चल्यहेतुरित्यर्थः) ।

अयम्भावः—अहो ! सर्वोत्कृष्टः सिद्धोऽपत्यस्नेहः, यतो विश्वम्भराऽपि व्यथामनुभवति । अथवा नात्र किमप्याश्चर्यं मन्तव्यम्, प्राणिनामन्तःकरणे व्यापारवान् एषोऽपत्यस्नेहरूपो मनसो मायापाशोऽभेद्यो हि संसारसन्धायकः सर्वेषु समानो वर्तते । न हि विश्वम्भरैव, अपि तु सर्वोऽपि लोकोऽपत्यस्नेहेन निबद्धो वर्तत इति भावः ।

उपप्लवः—उप + √प्लु + अप् ।

लक्ष्मण—(हर्ष के साथ) भाग्य से गङ्गा और पृथिवी के द्वारा आर्या (सीता) अनुगृहीत की गयीं ।

राम—(देखकर) यह (पृथिवी और सीता का मूर्च्छित होना) निश्चय ही अत्यन्त करुण (अर्थात् शोकोद्दीपक) है ।

भागीरथी—विश्वम्भरा (पृथिवी) भी व्यथित होती है, अतः सन्तान प्रेम की जीत हुई है। अथवा प्राणियों के हृदय में गतिशील यह (अपत्यस्नेह रूप) मन का अत्यन्त प्रबल मायाबन्धन, जो संसार को परस्पर जोड़ने में साधन है, सबमें सामान्य रूप से वर्तमान है। हे प्राणियों को धारण करनेवाली देवी पृथिवी ! हे बेटी वैदेही ! धैर्य धारण करो ।

जितमपत्यस्नेहेन—अपत्यस्नेह सर्वोत्कृष्ट है । जब विश्वम्भरा सर्वसहा पृथिवी भी अपत्यस्नेह के कारण व्यथित हो सकती है, तब फिर कौन ऐसा है जो इसके वशीभूत न हो सके; अतः अपत्यस्नेह की स्पष्ट जीत हुई, ऐसा कहना सर्वथा संगत है ।

संसारतन्तुः—अपत्यस्नेह को संसार का तन्तु (सूत्र) कहा गया है । आशय है कि जैसे पट का अस्तित्व सूत्रों पर निर्भर है, उसी प्रकार संसार की स्थिति अपत्यस्नेह के कारण है । यही अपत्यस्नेह प्राणियों को संसार से बाँधे रहता है ।

पृथिवी—(आश्वस्य) देवि ! सीतां प्रसूय कथमाश्वसिमि ?

सोढश्चिरं राक्षसमध्यवासस्त्यागो द्वितीयस्तु सुदुःसहोऽस्याः ।

भागीरथी—

को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तोर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ॥ ४ ॥

इत्युक्त्वा भागीरथी पृथिवीं सीतां च समाश्वासयति—देवि भूतधात्रि (विश्वम्भरे) ! वत्से वैदेहि ! समाश्वसिहि ।

भागीरथीवचनात् कथञ्चित् समाश्वस्य पृथिवी भागीरथीं प्राह—देवि भागीरथि ! सीतामुत्पाद्य कथं समाश्वसिमि । ईदृशीं सततं दुःखदावानलेन दह्यमानां स्वसन्ततिं विलोक्य जननी कथं जीवेदिति भावः ।

अन्वयः—अस्याः चिरं राक्षसमध्यवासः सोढः, द्वितीयः त्यागस्तु सुदुःसहः इति पूर्वार्द्धान्वयः ।

भागीरथीवचनात् कथञ्चित् समाश्वस्य पृथिवी भागीरथीं प्राह—**सोढश्चिरमिति** । अस्याः=सीतायाः । चिरम्=बहुकालपर्यन्तम् । सोढः=(मया) मर्षितः । द्वितीयः= अपरः (मिथ्यापवादप्रयुक्तः) । त्यागः=निर्वासनम् । सुदुःसहः=नितरां सोढुमशक्यः ।

अयम्भावः—अपहृताया अस्या (सीतायाः) बहुकालं यावद्राक्षसानां मध्ये निन्दाकरो निवासः कथञ्चिन्मया सोढः, परमयं लोकापवादप्रयुक्तो निर्वासनरूपोऽस्यास्त्यागः सुतरां दुःसहः । तत्कथं समाश्वसिमि ?

अन्वयः—जन्तोः पाकाभिमुखस्य दैवस्य द्वाराणि पिधातुं को नाम ईष्टे इत्युत्तरार्द्धान्वयः ॥ ४ ॥

भगवती भागीरथी पृथिवीं पुनरपि प्रबोधयति—**को नामेति** । जन्तोः=प्राणिनः ।

सोढः—√सह्+क्त (कर्मणि) । दुःसहः—दुःखेन सोढुं शक्यः, दुस्+√सह्+खल् । पिधातुम्—अपि+√धा+तुमुन्, आचार्य 'भागुरि' के मतानुसार 'अपि' उपसर्ग के अकार का लोप हो गया ।

पृथिवी—(आश्वस्त होकर) हे देवि ! (भागीरथि !) सीता को जन्म देकर कैसे धैर्य धारण करूँ ?

इस (सीता) का राक्षसों के बीच का आवास बहुत दिनों तक सह लिया गया, किन्तु यह द्वितीय त्याग अत्यन्त दुःसह है ।

भागीरथी—प्राणी को फल प्रदान करने में तत्पर भाग्य के दरवाजों को भला कौन बन्द कर सकता है ॥ ४ ॥

को नाम ....द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे—इस आशय की सूक्तियाँ संस्कृत-साहित्य में प्रायः मिलती हैं । जैसे—

'यद्धात्रा लिखितं ललाटपटले तन्मार्जितुं कः क्षमः ?' (भर्तृहरि)

'दैवी च सिद्धिरपि लङ्घयितुं न शक्या ।' (मृच्छकटिक)

'नियतिः केन लङ्घ्यते ।' (काव्यादर्श)

'अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ।' (शाकुन्तल १।१५)

पृथिवी—भगवति भागीरथि ! सदृशमुक्तम् । युक्तमेतद्वा रामभद्रस्य ?

न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः ।
नाहं न जनको नाग्निर्नानुवृत्तिर्न सन्ततिः ॥ ५ ॥

पाकाभिमुखस्य=कर्मफलप्रदानसन्नद्धस्य । दैवस्य=भाग्यस्य । द्वाराणि=प्रवेशमार्गान् । पिधातुम्=रोद्धुम् ('वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इति अपेरल्लोपः ।) को नाम=कः खलु । ईष्टे=प्रभवति ।

अयम्भावः—प्राणिनः कर्मफलप्रदानतत्परस्य दैवस्य प्रवेशमार्गान् रोद्धुं कोऽपि न प्रभवति । भवितव्यता बलवती भवतीति मनस्तापो न कार्य इति भावः । अत्रार्थापत्त्यर्थान्तरन्यासयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ ४ ॥

भगवतीं भागीरथीं प्रत्याह **पृथिवी**—**भगवति** इति । हे भगवति भागीरथि ! सदृशम्=अनुरूपम्, युक्तमेवाभिहितं भवत्या; किन्तु किम् एतत्=सीतानिर्वासनं, रामभद्रस्य कृते युक्तम्=उचितम्, आसीत् ? कोऽप्यन्य एवं दुष्करं घोरं कर्म कर्तुं कदापि नोत्सहिष्यते इति भावः ।

अन्वयः—बाल्ये बालेन पीडितः पाणिः न प्रमाणीकृतः, अहं न, जनकः न, अग्निः न, अनुवृत्तिः न, सन्ततिः न ॥ ५ ॥

तदेव साधयति—**न प्रमाणीकृत** इति । बालेन=शिशुना, अनभिज्ञेन वा । बाल्ये=शैशवे । पीडितः=(विवाहकर्मणि) गृहीतः । पाणिः=करः । न प्रमाणीकृतः=युक्तायुक्तविचारे प्रमाणत्वेन न अवेक्षितः । अहम्=पृथिवी । (न प्रमाणीकृता)—प्रमाणत्वेन न अवेक्षितः । अनुवृत्तिः=सर्वत्र छायावत् अनुसरणम् । सन्ततिः=गर्भस्थसन्तानम् ।

अयम्भावः—अनेनाज्ञेन बालेन (रामभद्रेण) बाल्ये विवाहकर्मणि गृहीतः सीतायाः पाणिर्युक्तायुक्तविचारे प्रमाणत्वेन नावेक्षितः । शास्त्रीयविधानोद्वाहिताया

प्रमाणीकृतः—अभूततद्भावे च्विः । बाल्ये—बालस्य भावः बाल्यं तस्मिन् । बाल + ष्यञ् । पीडितः—√पीड (स्वार्थे णिच्) + क्त (कर्मणि) । अनुवृत्तिः—अनु + √वृत् + क्तिन् । सन्ततिः—सम् + √तन् + क्तिन् ।

पृथिवी—भगवति भागीरथि ! आपने ठीक कहा, किन्तु क्या यह रामभद्र के लिए उचित था ? बाल्यावस्था में बालक (राम) के द्वारा परिगृहीत हाथ प्रमाण नहीं माना गया, न मैं (पृथिवी) प्रमाण मानी गयी, न जनक, न अग्नि, न (सीता द्वारा राम का) अनुवर्तन और न (गर्भस्थ) सन्तति का ही विचार किया गया ॥ ५ ॥

पाणिः—श्लोक में 'पीडितः' विशेषण ('गृहीतः' नहीं) होने से इस उक्ति का आशय वीरराघव के अनुसार इस प्रकार है—'सामुद्रिकतन्त्रवेत्ता स्वयं रामो मत्सुतापाणिस्थसाध्वीस्थनिश्चायकरेखाविशेषं दृष्ट्वेयं निर्दोषा चिरानुभवार्हेति सूचनाय दृढं पाणिं गृह्णन्नपि तद्विसस्मारेति । अन्यथा पाणिग्रहणस्य दोषवत्त्यास्त्यागाप्रतिबन्धकत्वादिति मन्तव्यम् ।

न तु वृत्तिः (पाठा०)—वृत्तिः पातिव्रत्यपूर्णमाचरणम् ।

सन्ततिः—वीरराघव और घनश्याम दोनों ने यहाँ 'सन्तति' का अर्थ 'वंश' माना है ।

सीता—हा अज्जउत्तं सुमराविदम्हि । [हा ! आर्यपुत्रं स्मारितास्मि ।]

पृथिवी—आः ! कस्तवार्यपुत्रः ?

सीता—(सलज्जास्रम्) जहा वा अम्बा भणादि [यथा वाऽम्बा भणति ।]

रामः—अम्ब पृथिवि ! ईदृशोऽस्मि ।

भागीरथी—भगवति वसुन्धरे ! शरीरमसि संसारस्य । तत्किमसंविदानेव जामात्रे कुप्यसि ?

अपि सीतायाः परित्याग उचितो न वेति विचारो न कृत इति भावः । अहम् (पृथिवी) अपि न प्रमाणीकृता । पृथिव्याः समुत्पन्नाऽयोनिजेयं सीता कथं त्याज्येत्यपि विचारो न कृत इति भावः । राजर्षिर्जनकोऽप्यनेन न परिगणितः । एतादृशस्य महात्मनोऽधिगताध्यात्मशास्त्रस्य सुता दुश्चरित्रा भवितुमर्हति न वेत्यपि न विचारितमिति भावः । अग्निरप्यनेन न प्रमाणीकृतः । विवाहे साक्षित्वेन स्थितः, लङ्कायां सीतायाः पातिव्रत्यनिकषीभूतश्च पावनानां पावनोऽग्निरपि न प्रमाणीकृत इति भावः । तस्या अनुवृत्तिश्छायावत्पत्युरनुगमनमपि नानेन ध्यातम्, सन्ततिरप्यनेनोपेक्षिता । सीतापरित्यागे मद्वंशनाशः स्यादित्यप्यविचार्य सगर्भाऽपि सीताऽनेन निर्वासिता । युक्तमेतत्सर्वं किं रामभद्रस्य ?

अत्र प्रमाणीकरणरूपयैकया क्रियया पाण्यादीनां कर्मत्वेन सम्बन्धात् तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ॥ ५ ॥

'युक्तमेतद्वा रामभद्रस्ये'त्यादिपृथिवीवचनं श्रुत्वा सीता प्राह—हा ! इति । हा ! जनन्याऽहं स्मारिताऽस्म्यार्यपुत्रम् ।

सीतामुखादार्यपुत्रशब्दं श्रुत्वा सञ्जातकोपा पृथिवी सीतां भर्त्सयति—कस्तवार्यपुत्रः ? येन निर्दोषा गर्भिण्यपि त्वं निर्वासिता. तादृशोऽतिनिष्ठुरः स तवार्यपुत्रः कथमिति भावः । 'आः' इति कोपद्योतकमव्ययम् ।

सीतापि पृथिवीं तुष्टां कर्तुमाह—यथाऽम्बा कथयति तत्तथैवेति ।

तच्छ्रुत्वा रामः कथयति—मातः पृथिवि ! अहमीदृशो जातः, यत् सीतया आर्यपुत्रत्वेन स्मरणीयोऽपि नास्मि किमु ?

स्मारिता—√स्मृ + णिच् + क्त (गौणे कर्मणि) देखिए—'तमेव स्मारिता वयम्' (६।३४) पर दी गयी टिप्पणी । संविदाना—'सम्' पूर्वक विद् धातु कर्म की विवक्षा

सीता—हाय ! मुझे आर्यपुत्र का स्मरण करा दिया गया ।

पृथिवी—ओह ! कौन तेरा आर्यपुत्र (है) ?

सीता—(**लज्जा और आँसू के साथ**) जैसा माँ कहती है (वैसा ही है, अर्थात् मेरा कोई आर्यपुत्र नहीं है) ।

राम—माता पृथिवी ! (क्या) मैं ऐसा हो गया हूँ ?

भागीरथी—भगवति वसुन्धरे ! तुम संसार का शरीर (आधारभूत) हो, तब न जानती हुई-सी, जामाता (राम) पर क्यों कोप करती हो ?

मनोविज्ञान की दृष्टि से यह 'अवतरण' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । पृथिवी सीता-निर्वासन को लेकर

घोरं लोके विततमयशो या च वह्नौ विशुद्धि-
र्लङ्काद्वीपे कथमिव जनस्तामिह श्रद्दधातु ।
इक्ष्वाकूणां कुलधनमिदं यत्समाराधनीयः
कृत्स्नो लोकस्तदिह विषमे किं स वत्सः करोतु ॥ ६ ॥

भागीरथी पृथिवीं प्रबोधयति—शरीरमसीति । भगवति वसुन्धरे ! त्वं संसारस्य शरीरम् (आधाररूपा) असि, विजानासि सर्वं वृत्तान्तम्, तथापि सम्प्रति असंविदाना=अजानती, अनभिज्ञेव कथं जामात्रे=पुत्र्याः भर्त्रे, रामाय, कुप्यसि ?

अन्वयः—लोके घोरम् अयशः विततम्, या च लङ्काद्वीपे वह्नौ विशुद्धिः, ताम् इह जनः कथं श्रद्दधातु ? इदम् इक्ष्वाकूणां कुलधनं यत् कृत्स्नः लोकः समाराधनीयः, तत् इह विषमे स वत्सः किं करोतु ॥ ६ ॥

नात्र रामस्यापराध इति प्रतिपादयति—घोरमिति । लोके=भुवने । घोरम्=भीषणम् । अयशः=अपकीर्तिः । विततम्=विस्तृतम् । विशुद्धिः=परीक्षया शुद्धता । इह=अयोध्यायाम् । श्रद्दधातु=विश्वसितु । कुलधनम्=कुलक्रमादागतं सर्वस्वमित्यर्थः । कृत्स्नः=समस्तः । लोकः=जनः, प्रजा इति भावः । समाराधनीयः=अनुरञ्जनीयः । तत्=तस्मात् कारणात् (विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययमेतत्पदम्) । इह अस्मिन् । विषमे=धर्मसङ्कटे ('तदतिगहनम्' इति पाठे—तत्=प्रजासमाराधनम्, अतिगहनम्=अत्यन्तदुष्करमित्यर्थः) । सः=तादृशः । वत्सः=रामः ।

अयम्भावः—लोके सीताया घोरमयशः प्रसृतम्, तस्या अग्नौ विशुद्धिस्तु लङ्का-

---

न होने से अकर्मक हो जाती है और 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (१।३।२९) पर कहे गये 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसङ्ख्यानम्' (वार्तिक ९१८) से आत्मनेपद होने पर सम्+विद्+शानच्+टाप्='संविदाना' पद निष्पन्न होता है ।

जामात्रे कुप्यसि—'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' सूत्र से 'क्रुध' अर्थ वाली 'कुप्' धातु के योग में 'जामात्रे' में चतुर्थी हुई है । श्रद्दधातु—श्रत् (अव्यय)+√धा+लोट् (तिप्) ।

संसार में घोर अपवाद फैल गया, लङ्काद्वीप में (सीता की) जो अग्नि-शुद्धि हुई, उस पर यहाँ के लोग क्यों कर विश्वास करें ? इक्ष्वाकुवंशी राजाओं का यह कुलक्रमागत धन (अर्थात् धन के समान रक्षणीय व्रत) है कि समस्त प्रजा का अनुरञ्जन किया जाना चाहिए । इस कारण इस धर्मसङ्कट में वे वत्स (रामभद्र) क्या करें ? ॥ ६ ॥

अत्यन्त रुष्ट है । -भागीरथी को उलाहना देती हुई वह अपने विविध तर्कों से सीता-निर्वासन को अयुक्त और राम को सर्वथा दोषी ठहराती है । वह राम से अपना नाता तोड़ बैठी हैं । यहाँ तक कि सीता के द्वारा राम के लिए 'आर्यपुत्र' शब्द का प्रयोग किये जाने पर वह सीता को भी फटकारने में नहीं हिचकती है । इधर रघुकुल से अपना निकटतम अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध होने से भागीरथी पृथिवी को सन्तुष्ट करने के लिए राम की ओर से युक्ति-युक्त सफाई प्रस्तुत कर रही हैं । आगे चलकर, हाथ जोड़ कर पृथिवी से वे क्षमा-याचना भी कर उसे शान्त करने का प्रयास करती हैं ।

लक्ष्मणः—अव्याहतान्तःप्रकाशा हि देवताः सत्त्वेषु ।

भागीरथी—तथाप्येष तेऽञ्जलिः ।

द्वीपे सञ्जाता, तत् अयोध्यावासिनो जनास्तस्यां कथं विश्वासं कुर्वन्तु ? अपि चेक्ष्वाकुकुलोत्पन्नानां राज्ञां धनमिव रक्षणीयमिदं कुलव्रतम्, यत् समस्तः प्रजाजनोऽनुरञ्जनीयः, ततश्चैवंविधे धर्मसङ्कटे समुपस्थिते, स वत्सो रामः किं करोतु ? लोकापवादादादर्शच्युतेश्च वरं प्राणसमायाः सीतायाः परित्याग इति मत्वा निरुपायतया रामेणैतदाचरितम् । अत्र तस्य कोऽपराधः ? इति भवत्यैव विचारणीयम्, तत्तव कोपो नोचित इति भावः ।

अत्र सीताविवासनरूपकार्यस्य एकस्मिन् कारणे दुर्जननिन्दारूपे सत्यपि लोकानुरञ्जनरूपकारणान्तरस्योपन्यासात् समुच्चयालङ्कारः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ।। ६ ।।

पृथिव्याः सीतानिर्वासनानौचित्यसिद्ध्यर्थं रामान्तःकरणवृत्तिसम्बद्धानि तर्कपूर्णवचांसि, अपि च गङ्गाया रामनिर्दोषत्वसिद्ध्यर्थं तदन्तःकरणवृत्तिसूचकानि तर्कपूर्णानि वचांसि श्रुत्वा द्वयोः परान्तःकरणवृत्तिज्ञानकौशलेन विस्मितो **लक्ष्मणः** प्राह—**अव्याहतेति** । अव्याहतान्तःप्रकाशाः—अव्याहतः=अप्रतिबद्धः, अन्तःप्रकाशः=अन्तःकरणवृत्तिज्ञानं यासां ताः । देवताः=देवाः । सत्त्वेषु=प्राणिषु; 'भूतेषु' इति पाठेऽप्ययमेवार्थः ।

अयम्भावः—प्राणिनां विषये देवतानाम् अन्तःकरणवृत्तिज्ञानं सर्वथाऽप्रतिहतमेव भवति, यतो वसुन्धरा भागीरथी च द्वे अपि रामभद्रस्यान्तःकरणवृत्तिं याथातथ्येन जानीत एव । सीतानिर्वासनकाले, शास्त्रोक्तरीत्या गृहीते सीतायाः पाणौ, पृथिव्यां, जनके, अग्नौ, सीताया अनुवृत्तौ सन्ततौ च रामचित्तस्योपेक्षा वृत्तिः पृथिव्योद्घाटिता, अपि च कुलक्रमागतप्रजानुरञ्जनवृत्तिर्गङ्गयोद्घाटिता । इत्थं द्वयोरपि देवतयोः परचित्तवृत्तिज्ञानवैदग्ध्यं विज्ञायत इति भावः ।

भागीरथी पृथिवीं प्रसादयितुं पुनराह—**तथापीति** । तथापि=रामस्य निर्दोषत्वेऽपि । एषः=अयम् । ते=तुभ्यम् । अञ्जलिः=प्रणामाञ्जलिः ।

अयम्भावः—रामस्य निर्दोषत्वेऽपि भवत्यै रामभद्रं प्रत्यनुग्रहार्थमेव प्रणामाञ्जलिः समर्प्यते । 'अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी' इत्युक्तेरिति भावः ।

अव्याहतः—नञ्+वि+आ+√हन्+क्त (कर्मणि) ।

लक्ष्मण—देवता लोग प्राणियों के विषय में अन्तर्वृत्तियों का अबाधित ज्ञान रखते हैं ।

भागीरथी—फिर भी यह तुम्हारे (पृथिवी के) लिए प्रणामाञ्जलि है ।

अव्याहतान्तःप्रकाशा—सीता-निर्वासन में राम की दो मनोवृत्तियाँ कारण थीं—पहिली सीता-निर्वासन में बाधक सभी कारणों की उपेक्षा करने की वृत्ति और दूसरी कुलक्रमागतप्रजानुरञ्जन रूप व्रतपालन की वृत्ति । इन दोनों वृत्तियों का प्रकाशन अलग-अलग अपने-अपने पक्ष के समर्थन में पृथिवी और भागीरथी के द्वारा किया गया, जैसा कि उनके संवादों से स्पष्ट है । अतः 'देवता लोग सभी प्राणियों की मनोवृत्तियों को जानते हैं' ऐसा कथन यथार्थ ही है ।

रामः—अम्ब ! अनुवृत्तस्त्वया भगीरथकुले प्रसादः ।

पृथिवी—देवि ! नित्यं प्रसन्नाऽस्मि वः । किन्त्वापातदुःसहस्नेहसंवेगेनैवं ब्रवीमि । न पुनर्न जानामि सीतास्नेहं रामभद्रस्य ।

दह्यमानेन मनसा दैवाद् वत्सां विहाय सः ।
लोकोत्तरेण सत्त्वेन प्रजापुण्यैश्च जीवति ।। ७ ।।

एवं पृथिवीप्रसादनतत्परां भागीरथीं दृष्ट्वा रामः सहर्षमाह—**अम्बेति** । मातः भागीरथि ! त्वया भगीरथकुले=भगीरथवंशे, भगीरथात्प्रभृति मत्पर्यन्तमस्मिन्कुले, प्रसादः=अनुग्रहः, अनुवृत्तः=सातत्येन प्रवर्तितः ।

भागीरथ्याः प्रणामाञ्जलिना प्रसन्ना पृथ्वी प्राह—**देवीति** । वः=युष्मान् प्रति । किन्तु=प्रसन्नत्वेऽपि । आपातदुःसहस्नेहसंवेगेन—आपाते=दर्शनोत्तरक्षणे ('दर्शनक्षण आपातस्तथैवाकर्णनक्षणे' इति कोशः ।) दुःसहः=सोढुमशक्यः, स्नेहेन=पुत्रीवात्सल्येन, यः संवेगः=सङ्क्षोभः, तेन ।

अयम्भावः—युष्मान् प्रति सदा प्रसन्नास्मि; तथापि दर्शनोत्तरक्षणे पुत्रीवात्सल्येन जनितसङ्क्षोभस्य दुःसहतया रामस्यैवं (प्रागुक्तरूपां) निर्भर्त्सनां कृतवती । रामभद्रस्य सीताविषयकं प्रेम न जानामि, इति न (जानाम्येवेत्यर्थः) ।

अन्वयः—सः दैवाद् दह्यमानेन मनसा वत्सां विहाय लोकोत्तरेण सत्त्वेन प्रजापुण्यैश्च जीवति ।। ७ ।।

दह्यमानेति । सः रामभद्रः । दैवात्=भाग्याद्धेतोः । दह्यमानेन=सन्तप्यमानेन ।

अनुवृत्तः—अनु+√वृत्+क्त (कर्मणि); यह अवधेय है 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'वृत्' धातु अर्थतः सकर्मक हो जाती है । प्रसन्ना—प्र+√सद्+क्त+टाप् । दह्यमानेन—√दह्+शानच् (कर्मणि) । विहाय—वि+√हा (त्यागे)+ल्यप् । सत्त्वेन—सतो भावः, सत्+त्व ।

राम—हे माता भागीरथी ! भगीरथकुल पर तुम्हारे द्वारा निरन्तर अनुग्रह किया जाता रहा है ।

पृथिवी—हे देवी (भागीरथी) ! तुम लोगों के प्रति मैं नित्य प्रसन्न हूँ, किन्तु (सीता को) देखने के समय स्नेहजनित दुःसह संक्षोभ के कारण ऐसा कह रही हूँ । किन्तु सीता के विषय में रामभद्र का स्नेह मैं जानती ही नहीं, ऐसी बात नहीं है ।

वे (राम) भाग्यवश सन्तप्त मन से (मेरी) बच्ची (सीता) को छोड़कर (अपने) लोकोत्तर धैर्य तथा प्रजा जन के पुण्यों से (ही) जी रहे हैं ॥ ७ ॥

तथाप्येष तेऽञ्जलिः—यह भागीरथी की उक्ति है, लक्ष्मण की नहीं, जैसा कि किसी किसी संस्करण में मिलता है । लक्ष्मण की उक्ति मानने पर आगे जो राम और पृथिवी का भागीरथी के प्रति कथन है, वह असंगत हो जायेगा । यहाँ भागीरथी का व्यवहार अवधेय है । भागीरथी होने के कारण वे राम को अपनी ही सन्तति मानती हैं । यद्यपि राम को वे निर्दोष सिद्ध कर चुकी हैं, फिर भी अपनी सन्तति (राम) की सास से, जामाता (राम) पर प्रसन्न होने के लिए हाथ जोड़ कर क्षमा-याचना कर रही हैं । भागीरथी की यह सदाशयता स्पृहणीय है ।

रामः—सकरुणा हि गुरवो गर्भरूपेषु ।

सीता—(रुदती कृताञ्जलिः) णेदु मं अत्तणो अंगेसु विलअं अंबा ।

[नयतु मामात्मनोऽङ्गेषु विलयमम्बा ।]

रामः—किमन्यद् ब्रवीतु ।

भागीरथी—शान्तम् । अविलीना संवत्सरसहस्राणि भूयाः ।

वत्साम् = सीताम् । विहाय = त्यक्त्वा, निर्वासितां कृत्वेत्यर्थः । लोकोत्तरेण = अलौकिकेन । सत्त्वेन = धैर्येण । प्रजापुण्यैश्च = प्रजाजनसुकृतैश्च । जीवति = प्राणधारणं करोति ।

अयम्भावः—नियतिवशात् सन्तप्यमानेन मनसा मत्पुत्रीं सीतां निर्वास्य स रामभद्रः सात्त्विकलोकोत्तरस्वधैर्येण, रामराज्यसुखभागधेयानां प्रजानां सुकृतैश्च प्राणधारणं करोतीति भावः ।

अत्र रामभद्रजीवनं प्रति एकस्यासामान्यधैर्यरूपकारणस्य सत्त्वेऽपि पुनस्तत्कारण-रूपतया प्रजापुण्यस्योपादानात् समुच्चयालङ्कारः; अपि च रामजीवनं प्रति प्रदर्शित-द्वितीयकारणस्य प्रजासु विद्यमानत्वात्, जीवनरूपकार्यस्य च रामे सत्त्वात् कार्यकारण-योर्भिन्नदेशगतत्वेनासङ्गतिरलङ्कारः । द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन संस्थितेः सङ्करः ॥ ७ ॥

रामः—गुरवः = पूज्यजनाः, पृथिव्यादय इति भावः । गर्भरूपेषु—गर्भाणाम् = भ्रूणानामिव, रूपम् = स्वरूपं, येषां तेषु; अपत्यसदृशेष्वसमास्वित्यर्थः । सकरुणाः = सदयाः ।

रुदती सती सीताऽञ्जलिं बद्ध्वा पृथिवीं प्रार्थयते—नयतु मामिति । माता पृथिवी मां स्वाङ्गेषु विलयम् = अदर्शनं, विलीनां करोतु, नाहमिदानीं जीवितुमुत्सहे ।

सीताया ईदृशं सकरुणं वचो निशम्य रामः प्राह—ईदृशीं करुणावस्थामापन्नेयं वराकी किमन्यद् ब्रवीतु ।

भागीरथी च कथयति—शान्तम् = तूष्णीं तिष्ठ ! (तूष्णीमास्स्वेत्यर्थः) संवत्सर-सहस्राणि = सहस्रवत्सरपर्यन्तम् ('कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया), सहस्र-वर्षाणि यावदविलीना (जीविता) भूयाः ।

विलयः—वि + √ली (श्लेषणे) + अच् । अविलीना—न विलीना इति, वि + ली + क्त (कर्तरि) + टाप् 'ल्वादिभ्यः' (८।२।४४) सूत्र से निष्ठा के तकार को नकार ।

राम—गुरुजन सन्तानतुल्य व्यक्तियों पर सकरुण ही होते हैं ।

सीता—(रोती हुई, हाथ जोड़कर) माता (पृथिवी) ! मुझे अपने अङ्गों में विलीन कर ले ।

राम—(बेचारी) और कहे (ही) क्या ?

भागीरथी—चुप रहो, भगवान् करे तुम सहस्रों वर्षों तक अविलीन (जीवित) रहो ।

शान्तम्—यह अव्यय पद है । इसका अभिप्राय होता है—बस, और नहीं, ऐसा नहीं, शर्म की बात है, चुप रहो, इत्यादि ।

पृथिवी—वत्से ! अवेक्षणीयौ ते पुत्रकौ ।

सीता—अणाधम्हि । किं एदेहिं । [अनाथास्मि । किमेताभ्याम् ।]

रामः—हृदय ! वज्रमयमसि ।

भागीरथी—कथं त्वं सनाथाऽप्यनाथा ।

सीता—केरिसं मम अभग्गाए सणाहत्तणं । [कीदृशं मे अभाग्यायाः सनाथत्वम्] ।

देव्यौ— जगन्मङ्गलमात्मानं कथं त्वमवमन्यसे ।
आवयोरपि यत्सङ्गात् पवित्रत्वं प्रकृष्यते ॥ ८ ॥

पृथिवी सीतां प्रबोधयति—वत्से इति । पुत्रि ! त्वया स्वकीयौ पुत्रौ अवेक्षणीयौ =रक्षणीयौ, पालनीयौ । एतदर्थमपि त्वया जीवितव्यम्, अतो ममाङ्गेषु नव विलयो नोचितः ।

सीता पुनः कथयति—अहमनाथाऽस्मि =अशरणास्मि, तदेताभ्यां पुत्रकाभ्यां किं साध्यम् ?

एतच्छ्रुत्वा राम आत्मानं भर्त्सयति—हृदयेति । हृदय ! नूनं त्वं वज्रमयं= वज्रेण निर्मितमसि, अतिनिष्ठुरमिति भावः; यदीदृशं सीताया वचनं श्रुत्वा सहस्रधा न दीर्यसे ।

भागीरथी सीतां प्रत्याह—कथमिति । रक्षकसहिताऽपि त्वं कथमात्मानम् 'अनाथा' इति कथयसि ?

सीता ददात्युत्तरम्—कीदृशमिति । अभाग्यायाः =हतभाग्यायाः ('अभव्यायाः' इति पाठे—अलक्षणा इत्यर्थः) सौभाग्यहीनायाः, मम सनाथता कीदृशी ? पत्या परित्यक्ताऽहं कथं सनाथेति भावः ।

अवेक्षणीयः—अव + √ईक्ष् (दर्शने) + अनीयर् । किमेताभ्याम्—'गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति करणे तृतीया । वज्रमयम्—विकारार्थे मयट् प्रत्ययः । सनाथा—नाथेन सह विद्यमाना (बहुव्रीहि), 'सह' को 'स' आदेश— (वोपसर्जनस्य ६।३।८२) ।

पवित्रत्वम्—पवित्रस्य भावः, = पवित्र + त्व । प्रकृष्यते—प्र + √कृष् + लट् (कर्मकर्तरि) ।

पृथिवी—पुत्रि ! (अभी) तुम्हें (अपने) दो पुत्र सम्हालने हैं ।
सीता—मैं अनाथ हूँ । इन (बच्चों) से क्या (प्रयोजन) ?
राम—हृदय ! तू वज्र से बना है ।
भागीरथी—तू सनाथ होकर भी अनाथ कैसे ?
सीता—मुझ अभागिनी की सनाथता कैसी ?
दोनों देवियाँ (गङ्गा और पृथिवी)—जगत् के लिए मङ्गल के कारणरूप अपने को तुम क्यों गर्हित समझती हो ? जिसके साथ से हम दोनों की भी पवित्रता प्रकृष्टता को प्राप्त कर रही है ॥ ८ ॥

लक्ष्मणः—आर्य ! श्रूयताम् ।

रामः—शृणोतु लोकः ।

(नेपथ्ये कलकलः)

रामः—अद्भुततरं किमपि ।

सीता—किं त्ति अंतरिक्खं पज्जलदि । [किमित्यन्तरिक्षं प्रज्वलति ।]

अन्वयः—त्वं जगन्मङ्गलम् आत्मानं कथम् अवमन्यसे; यत्सङ्गात् आवयोः अपि पवित्रत्वं प्रकृष्यते ॥ ८ ॥

आत्मनिन्दापूर्णं सीतावचनं श्रुत्वा देव्यौ (गङ्गापृथिव्यौ) कथयतः— **जगन्मङ्गलमिति** । जगन्मङ्गलम्—जगताम् = लोकानाम्, मङ्गलम् = कल्याणकारणम् । कथम् = केन कारणेन । अवमन्यसे = तिरस्करोषि । यत्सङ्गात्—यस्याः = तव (सीतायाः), सङ्गात् = सम्पर्कात् । आवयोः = गङ्गापृथिव्योः । प्रकृष्यते = प्रकृष्टत्वं प्राप्नोति (कर्मकर्तरि लट्) ।

अयम्भावः—सीते ! त्वं जगन्मङ्गलकारणमात्मानं कथं गर्हितं मन्यसे, यस्यास्तव सम्पर्कादावयोः (गङ्गापृथिव्योः) अपि स्वसम्बन्धादन्येषामपि दोषापनोदकत्वरूपं पवित्रत्वं पूर्वापेक्षया समधिकं भवति । अत्र स्वत एव पूतयोः गङ्गापृथिव्योः सीतासङ्गात् पवित्रत्वप्रकर्षासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेः असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ८ ॥

गङ्गापृथिव्योः सीतापरमपवित्रत्वसूचकं वचनं श्रुत्वा साधिक्षेपं **लक्ष्मणो** रामं प्रत्याह—आर्य ! श्रूयताम् = आकर्ण्यताम्; लोकापवादश्रवणेनैव भवता सीता निर्वासिता, तद्विषये देव्यौ किं कथयत इति श्रूयतामिति भावः ।

रामः समाधत्ते—लोकः शृणोतु = जना एव शृण्वन्तु, यैर्निष्कारणं सीता लाञ्छिता, अहं तु तां पूर्वत एव गङ्गापृथिवीसमां पवित्रां मन्य इति भावः ।

नेपथ्ये कलकलध्वनिं श्रुत्वा **राम** आह—अद्भुततरम् = अत्याश्चर्यं, किमपि = वस्तु (दृश्यते) ।

अद्भुततरम्—अतिशायने तरप् ।

लक्ष्मण—आर्य ! सुना जाय ।

राम—लोग सुनें ।

(नेपथ्य में कोलाहल होता है)

राम—अतिशय आश्चर्यकारक कुछ है ।

सीता—क्यों आकाश प्रज्वलित हो रहा है ?

शृणोतु लोकः—राम का यह वचन प्रजावर्ग के प्रति उपालम्भ रूप में कहा गया है । राम का आशय है—मुझे सीता की पवित्रता के विषय में कुछ जानने-सुनने की आवश्यकता नहीं है । मैं तो पहले से ही उसे पवित्रातिपवित्र समझता रहा हूँ । यह बात लोग सुनें, जिन्होंने सीता पर मिथ्या दोषारोपण कर उसे निर्वासित कराया और इस प्रकार भारी पाप का ही अर्जन किया ।

देव्यौ—ज्ञातम् ।

कृशाश्वः कौशिको राम इति येषां गुरुक्रमः ।
प्राडुर्भवन्ति तान्येव शस्त्राणि सह जृम्भकैः ॥ ९ ॥

(नेपथ्ये)

देवि सीते ! नमस्तेऽस्तु गतिर्नः पुत्रकौ हि ते ।
आलेख्यदर्शने देवो यथाह रघुनन्दनः ॥ १० ॥

सीता—दिट्ठिआ अत्थदेवदाओ एदाओ । हा अज्जउत्त ! अज्जावि दे पसादा पडिप्फुरंदि । [दिष्ट्या अस्त्रदेवता एताः । हा आर्यपुत्र ! अद्यापि ते प्रसादाः परिस्फुरन्ति ।]

सीतापि कथयति—किमिति । किमिति = केन हेतुना, अन्तरिक्षम् = आकाशं, प्रज्वलति = प्रदीप्यते !

अन्वयः—कृशाश्वः, कौशिकः, राम इति येषां गुरुक्रमः, तानि एव शस्त्राणि जृम्भकैः सह प्रादुर्भवन्ति ॥ ९ ॥

देव्यौ (गङ्गापृथिव्यौ) कथयतः—कृशाश्व इति । येषाम् = अस्त्राणां, कृशाश्वः, ततः कौशिकः, ततो राम इत्यात्मको गुरुक्रमः = आचार्यपरम्परा, गुरुसम्प्रदायक्रमः, वर्तते, तान्येव = गुरुक्रमप्रयुक्तान्येव, अस्त्राणि जृम्भकैः सह प्रादुर्भवन्ति = प्रकटीभवन्ति । तेषामेव प्रकाशेन नभोमण्डलं प्रदीप्यत इति भावः ॥ ९ ॥

अन्वयः—देवि सीते ! ते नमोऽस्तु; हि ते पुत्रकौ नः गतिः, यथा आलेख्यदर्शने देवः रघुनन्दनः आह ॥ १० ॥

नेपथ्ये तान्यस्त्राणि सीतामुद्दिश्याहतुः—देवि इति । देवि सीते ! तुभ्यं नमोऽस्तु । ते पुत्रकौ नः = अस्माकं, गतिः = प्राप्तव्यौ (आश्रयौ) स्तः, यथा आलेख्यदर्शने = चित्रदर्शनकाले (प्रथमाङ्के), महाराजो रामः 'सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ती'-त्युक्तवान् । तदनुसारमेव तव पुत्रयोः सकाशमागमनमस्माकमिति त्वां नमस्कुर्मः इति भावः ॥ १० ॥

गतिः—√गम् + क्तिन् । आलेख्यः—आ + √लिख् + ण्यत् ।

देवियाँ (गंगा और पृथिवी)—(हाँ) समझा ।

जिनकी 'कृशाश्व' (उसके बाद) 'कौशिक' और (उसके बाद) 'राम'—ऐसी गुरुपरम्परा है, ये वही शस्त्रजृम्भकों के साथ प्रकट हो रहे हैं । (उन्हीं का यह प्रकाश है ।) ॥ ९ ॥

(नेपथ्य में)

देवि सीते ! तुम्हें नमस्कार हो, तुम्हारे दोनों पुत्र हमारे प्राप्य (आश्रय) हैं, जैसा कि चित्रदर्शन (के समय) में महाराज रघुनन्द ने कहा था ॥ १० ॥

सीता—सौभाग्य से ये अस्त्रदेवता हैं । आर्यपुत्र ! आज भी आपके अनुग्रह प्रकट हो रहे हैं

आलेख्यदर्शनादेव ययोर्दाता रघूद्वहः (पाठा०)—चित्रावलोकनकालादेव, ययोः = त्वत्पुत्रयोः, त्वत्पुत्राभ्यामिति भावः 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव' इति सम्प्रदानार्थे षष्ठी । दाता = दायकः, अस्माकमिति शेषः, रघूद्वहः = रामचन्द्रः, अभूत् इति शेषः ।

क्ष्मणः--उक्तमासीदार्येण सर्वथैतानि त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्तीति ।

देव्यौ—नमो वः परमास्त्रेभ्यो धन्याः स्मो वः परिग्रहात् ।
काले ध्यातैरुपस्थेयं वत्सयोर्भद्रमस्तु वः ॥ ११ ॥

रामः—क्षुभिताः कामपि दशां कुर्वन्ति मम साम्प्रतम् ।
विस्मयानन्दसन्दर्भजर्जराः करुणोर्मयः ॥ १२ ॥

अस्त्रदेवता विलोक्य सीता प्राह—**दिष्टचेति** । दिष्टचा=सौभाग्येनैता अस्त्रदेवताः सन्ति, आर्यपुत्र ! एवं लोकापवादहेतुकपरित्यागकालेऽपि भवतः प्रसादाः=अनुग्रहाः, परिस्फुरन्ति=प्रकाशन्ते । भवतोऽनुग्रहेणैवास्त्रदेवताः समागत्य मम पुत्रौ सम्मानयन्तीति भावः ।

अन्वयः—परमास्त्रेभ्यो वः नमः, वः परिग्रहात् धन्याः स्मः । काले ध्यातैः वत्सयोः उपस्थेयम्, वः भद्रमस्तु ॥ ११ ॥

देव्यौ (गङ्गापृथिव्यौ) च प्रणामपूर्वकमस्त्रदेवताः प्रत्याहतुः—**नमो व इति** । परमास्त्रेभ्यः = जृम्भकादिश्रेष्ठास्त्रेभ्यः । वः = युष्मभ्यम् । वः = युष्माकम् । परिग्रहात् = स्वीकारात् । काले = युद्धादिसमये । ध्यातैः = चिन्तितैः । वत्सयोः = सीतापुत्रयोः । उपस्थेयम् = उपस्थितैर्भाव्यम् । वः भद्रमस्तु = युष्माकं युष्मभ्यं वा कल्याणं भवतात् ।

अयम्भावः—परमास्त्रेभ्यो युष्मभ्यं नमः । युष्माकं स्वीकृत्या वयं धन्याः सञ्जाताः । युद्धादिकाले भवतां ध्यानं यदा पुत्रौ करिष्यतस्तदा भवद्भिरुपस्थितैर्भाव्यम्, सम्प्रति तु स्वस्थानं गच्छन्तु भवन्तः । कल्याणं भूयाद् भवतामिति भावः ।

नमो वः—वः=युष्मभ्यम्, 'नमः' के योग में 'नमःस्वस्ति–' सूत्र से चतुर्थी । भद्रमस्तु वः—वः=युष्मभ्यम्, युष्माकं वा । 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः' इति आशिषि चतुर्थी षष्ठी वा । परिग्रहः—परि + √ग्रह् + अप् । ध्यातः—√ध्यै (चिन्तायाम्) + क्त (कर्मणि), 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यात्त्वम् । क्षुभिताः—√क्षुभ् + क्त (कर्तरि) ।

लक्ष्मण—आर्य ने कहा था कि 'अब ये सर्वथा तुम्हारी सन्तान के पास पहुँच जायेंगे ।'

देवियाँ (गङ्गा और पृथिवी)—आप सब अस्त्रदेवताओं को नमस्कार है । आपको स्वीकार करने से हम धन्य हो गये हैं । (युद्ध आदि के) समय पर ध्यान करने पर इन बच्चों के लिए आप उपस्थित हों । आपका कल्याण हो (अब आप अपने स्थान को जायँ) ॥ ११ ॥

राम—आश्चर्य और हर्ष के मिश्रण से (टकरा कर) आकुल हुई शोक की लहरें अत्यन्त उत्ताल होकर मेरी कोई विचित्र (-सी) दशा कर रही हैं ॥ १२ ॥

विस्मयानन्द........करुणोर्मयः—सीता जी का गङ्गा में गिरना, जल में ही प्रसव तथा पुत्रों को जृम्भकास्त्र-लाभ आदि देखकर राम को आश्चर्य हो रहा है; पुत्र-प्राप्ति तथा गङ्गा एवं पृथिवी की प्रसन्नता से हर्ष हो रहा है और सीता की दशा पर शोक पहले से ही है । इस प्रकार ये तीनों भाव राम के मन को एक विचित्र दशा का अनुभव करा रहे हैं, जो अनिर्वचनीय है ।

देव्यौ—मोदस्व वत्से ! मोदस्व । रामभद्रतुल्यौ ते पुत्रकाविदानीं संवृत्तौ ।

सीता—भअवदीओ को एदाणं खत्तिओइदविहिं कारइस्सदि ? [भगवत्यौ क एतयोः क्षत्रियोचितविधिं कारयिष्यति ?]

रामः— एषा वसिष्ठगुप्तानां रघूणां वंशनन्दिनी ।
कष्टं सीतापि सुतयोः संस्कारं न विन्दति ॥ १३ ॥

अन्वयः—क्षुभिताः विस्मयानन्दसन्दर्भजर्जराः करुणोर्मयः साम्प्रतं मम कामपि दशां कुर्वन्ति ॥ १२ ॥

तदानीन्तनीं वस्तुस्थितिं विलोक्य रामः प्राह—क्षुभिता इति । क्षुभिताः=क्षोभं प्राप्ताः, चञ्चला इति भावः । विस्मयानन्दसन्दर्भजर्जराः—विस्मयानन्दयोः=आश्चर्य-हर्षयोः, सन्दर्भेण=ग्रन्थनेन, जर्जराः=विशीर्णाः, आकुलीभूता इत्यर्थः । करुणोर्मयः= सीतावियोगशोकसागरस्य लहर्यः । कामपि=अनिर्वचनीयाम्, विचित्राम् ।

अयम्भावः—गङ्गापतनजन्यविस्मयस्य, पुत्रप्राप्तिजनितहर्षस्य च ग्रन्थनेनाकुली-भूताः सीतावियोगशोकसागरलहर्यः सम्प्रति प्रचलिताः सत्यो मम विचित्रां दशां कुर्वन्ति । विस्मयः, आनन्दः, करुणा च इत्येतैः सर्वैस्तत्त्वैर्मिलित्वा मां कामपि विचित्रामवस्थां प्रापयन्तीति भावः ।

अत्र अद्भुतो रसः, हर्षाख्यभावश्च करुणरसस्याङ्गभूततया स्थितौ, अतः रसवद-लङ्कारः ॥ १२ ॥

गङ्गापृथिव्यौ कथयतः—मोदस्वेति । मोदस्व=प्रहृष्टा भव, हर्षं प्राप्नुहि, वत्से ! हर्षं प्राप्नुहि; यतः (जृम्भकास्त्रप्राप्त्या) ते पुत्रकौ रामभद्रसदृशौ (तेजस्विनौ) संवृत्तौ=सञ्जातौ ।

ततः सीता पृच्छति—भगवत्यौ ! क एतयोः पुत्रयोः क्षत्रियोचितविधिम्= क्षत्रिययोग्यं जातकर्मादिसंस्कारविधानं कारयिष्यति ? अहन्तु सम्प्रति तादृशमाचार्यं दुर्लभमेव मन्ये इति भावः ।

अन्वयः—वसिष्ठगुप्तानां रघूणां वंशनन्दिनी एषा सीता अपि सुतयोः संस्कर्तारं न विन्दति, कष्टम् ॥ १३ ॥

गुप्तः—√गुप् (रक्षणे)+क्त (कर्मणि) । नन्दिनी—नन्दयितुं शीलमस्याः, √नन्द्+णिच्+णिनि (ताच्छील्ये)+ङीप् (ऋन्नेभ्यो ङीप्) । संस्कर्तारम्—'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' (६।१।१३७) इति भूषणेऽर्थे सुडागमः । विन्दति—√विद (लाभे)+लट् (तिप्) 'शे मुचादीनाम्' (७।१।५९) इति नुमागमः ।

दोनों देवियाँ (गङ्गा और पृथिवी)—पुत्री आनन्दित हो । अब तुम्हारे दोनों पुत्र रामभद्र के सदृश (तेजस्वी) हो गये हैं ।

सीता—देवियों ! इन दोनों का क्षत्रियोचित संस्कार कौन कराएगा ?

राम—खेद है ! यह वसिष्ठ ऋषि से रक्षित रघुकुलोत्पन्न राजाओं के कुल की आनन्ददायिनी (वधू) सीता भी अपने पुत्रों के संस्कार कराने वाले को नहीं पा रही है ॥ १३ ॥

भागीरथी—पुत्रि ! किं तवानया चिन्तया । एतौ हि वत्सौ स्तन्यत्यागात् परेण भगवतो वाल्मीकेरर्पयिष्यामि । स एतयोः क्षत्रकृत्यं करिष्यति ।

यथा वसिष्ठाङ्गिरसावृषिः प्राचेतसस्तथा ।
जनकानां रघूणां च वंशयोरुभयोर्गुरुः ॥ १४ ॥

सीताया एतद्वचनं निशम्य रामभद्रः सखेदमाह—एवेति । वसिष्ठगुप्तानाम् = वसिष्ठेन रक्षितानाम् ('वसिष्ठशिष्याणाम्' इति पाठे—वसिष्ठस्य शिष्याः=उपदेश्याः, तेषामित्यर्थः ।) रघूणाम् = रघुकुलोत्पन्नानां राज्ञाम् । वंशनन्दिनी—वंशस्य = कुलस्य, नन्दिनी = आनन्दहेतुः । संस्कर्तारम् = उपनयनादिसंस्कारकर्तारम् आचार्यम् । न विन्दति=न लभते ।

अयम्भावः—वसिष्ठरक्षितानां रघूणां कुलस्यानन्ददायिनी यं रघुकूलवधूः सीता सत्यपि वसिष्ठे स्वपुत्रयोः संस्कारकर्तारमाचार्यं न प्राप्नोति; किमतःपरं कष्टम् ? अहो ! दैवगतेर्वैचित्र्यमिति भावः ॥ १३ ॥

भागीरथी सीतायाश्चिन्तां दूरीकर्तुमाह—पुत्रि ! किमिति । पुत्रि ! पुत्रयोः संस्कारचिन्तां मा कुरु, स्तन्यत्यागात्परेण—स्तन्यम् = दुग्धम्, तस्य त्यागात् परेण = अनन्तरेण, दुग्धपानकालातिक्रमणानन्तरमित्यर्थः; स्तन्यत्यागादनन्तरमेतयोरहं भगवतो वाल्मीकेः समर्पयिष्यामि । स एवैनयोः क्षत्रकृत्यम् = क्षत्रियोचितसंस्कारविधिं, सम्पादयिष्यति । यतः—

अन्वयः—यथा वसिष्ठाङ्गिरसौ तथा ऋषिः प्राचेतसः उभयोः जनकानां रघूणां च वंशयोः गुरुः ॥ १४ ॥

स्तन्यम्—स्तने भवं स्तन्यम् (दुग्धम्)—स्तन + यत् (शरीरावयवाच्च) । स्तन्यत्यागात्परेण—'परेण' के योग में पञ्चमी । 'परेण' दिग्वाचक शब्द है । 'अन्यारादितरर्ते०' (२।३।२९) के अनुसार दिग्वाचक शब्द के योग में पञ्चमी होती है । दिग्वाचक शब्दों में रूढ़ि से दिग्विशेषवाचक पूर्वादि शब्दों की ही गणना होती है । दीक्षितजी के अनुसार जो कभी दिग्वाचक रहे हों, किन्तु इस समय देश अथवा काल के अर्थ में प्रयुक्त हों, ऐसे शब्दों के योग में भी पञ्चमी होती है । यहाँ 'परेण' (इस समय) काल के अर्थ में प्रयुक्त है, फिर भी दिग्वाचक होने के कारण इसके योग में पञ्चमी हुई है । वाल्मीकेः अर्पयिष्यामि—'वाल्मीकेः' यहाँ शेषे षष्ठी हुई है; जैसे 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' में षष्ठी होती है ।

भागीरथी—हे पुत्री ! इस चिन्ता से तुझे क्या (प्रयोजन) ? इन दोनों पुत्रों (कुश-लव) को दुग्ध त्याग के बाद भगवान् वाल्मीकि को समर्पित कर दूँगी । वे इन दोनों का क्षत्रियोचित कर्म (संस्कार) करेंगे ।

जैसे वसिष्ठ तथा शतानन्द हैं, वैसे ही वाल्मीकि ऋषि भी दोनों—जनकवंशियों तथा रघुवंशियों के गुरु हैं ॥ १४ ॥

आङ्गिरसः=शतानन्दः । अङ्गिरा (अङ्गिरस्) के वंशज होने से शतानन्द को आङ्गिरस भी कहते हैं । ये गौतम और अहिल्या के पुत्र थे । जनक के यही शतानन्द पुरोहित थे ।

रामः—सुविचिन्तितं भगवत्या ।

लक्ष्मणः—आर्य ! सत्यं विज्ञापयामि; तैस्तैरुपायैरिमौ वत्सौ कुशलवावुत्प्रेक्षे ।

एतौ हि जन्मसिद्धास्त्रौ प्राप्तप्राचेतसावुभौ ।
आर्यतुल्याकृती वीरौ वयसा द्वादशाब्दिकौ ॥ १५ ॥

रामः—वत्सावित्येवाहं परिप्लवमानहृदयः प्रमुग्धोऽस्मि ।

यथेति । यथा वसिष्ठः आङ्गिरसः—अङ्गिरसः गोत्रापत्यं पुमान् आङ्गिरसः = शतानन्दः, चोभयोर्जनकरघुवंशयोर्गुरू स्तः, तथैव मुनिर्वाल्मीकिरप्युभयोर्वंशयो, गुरुः = आचार्यः, एवेति भावः ॥ १४ ॥

भागीरथ्या वचनं श्रुत्वा रामः आह—भगवत्या = भागीरथ्या, सुविचिन्तितम् = शोभनो (समीचीनो) विचारः कृतः ।

लक्ष्मणश्च राममुद्दिश्य प्राह—आर्येति । आर्य ! सत्यं विज्ञापयामि यत् तैस्तैरुपायैः = बहुभिर्हेतुभिः, इमौ = समीपवर्तिनौ, कुशलवौ वत्सौ, उत्प्रेक्षे = सीतापुत्रत्वेन सम्भावयामि—

अन्वयः—हि एतौ जन्मसिद्धास्त्रौ, उभौ प्राप्तप्राचेतसौ, आर्यतुल्याकृती, वीरौ, वयसा द्वादशाब्दिकौ (स्तः) ॥ १५ ॥

एताविति । जन्मसिद्धास्त्रौ—जन्मनःप्रभृति सिद्धानि = प्राप्तानि, अस्त्राणि=जृम्भकास्त्राणि, ययोस्तौ । प्राप्तप्राचेतसः—प्राप्तः = संस्काराद्यर्थमासादितः, प्राचेतसः = वाल्मीकिर्याभ्यां तौ । आर्यतुल्याकृती—आर्यस्य = भवतः, तुल्या = सदृशी, आकृतिः= आकारः, ययोस्तौ । द्वादशाब्दिकौ = द्वादशवर्षीयौ ।

अयम्भावः—यतः, एतावुभौ जन्मनःप्रभृति अधिगतजृम्भकास्त्रौ स्तः, अपि च संस्काराद्यर्थमाभ्यां वाल्मीकिः प्राप्तः, तथा च पूज्यस्य भवतः सदृशोऽनयोरप्याकारो दृश्यते, एतौ वीरावपि स्तः, वयसा च द्वादशवर्षीयौ । द्वादशैव वर्षाणि व्यतीतानि परित्यक्ताया आर्यायाः । इति पञ्चभिर्हेतुभिरेतावेव ताविति सम्भावयामीति लक्ष्मणोक्तेराशयः ॥ १५ ॥

द्वादशाब्दिकौ—द्वादश अब्दान् व्याप्य भूतौ, द्वादशाब्द + ठञ्, तद्धितार्थे द्विगुः । परिप्लवमानः—परि + √प्लु + शानच् । प्रमुग्धः—प्र + √मुह् + क्त ।

राम—भगवती (भागीरथी) ने अच्छा सोचा है ।

लक्ष्मण—आर्य ! सच कह रहा हूँ कि उन-उन उपायों (हेतुओं) से ये दोनों बच्चे कुश-लव (ही हैं), ऐसी मैं सम्भावना करता हूँ ।

क्योंकि, इन दोनों को जृम्भक अस्त्र जन्मसिद्ध हैं, ये वाल्मीकि के पास पहुँचे (ही) हैं, आप ही के समान आकृति वाले हैं, वीर भी हैं और अवस्था से (भी) बारह वर्ष के हैं ॥ १५ ॥

राम—इन दोनों को पुत्र समझने मात्र से हृदय दोलायमान है । मैं प्रमुग्ध हूँ (कुछ ठीक-ठीक कहने में असमर्थ हूँ) ।

'जातौ प्राचेतसान्मुनेः । वीरौ सम्प्राप्तसंस्कारौ' इति पाठे—एतौ हि प्राचेतसात् मुनेः सम्प्राप्तसंस्कारौ वीरौ जातौ इत्यन्वयः, अर्थस्तु सुगम एव ।

पृथिवी—एहि वत्से ! पवित्रीकुरु रसातलम् ।

रामः—हा प्रिये ! लोकान्तरं गतासि ।

सीता—णेदु मं अत्तणो अंगेसु विलअं अंबा । ण सहिस्सं ईरिसं जीअलोअ-परिभअं अणुभविदुम् । [नयतु मामात्मनोऽङ्गेषु विलयमम्बा । न सहिष्ये ईदृशं जीवलोकपरिभवमनुभवितुम् ।]

लक्ष्मणः—किमुत्तरं स्यात् ?

पृथिवी—मन्नियोगतः स्तन्यत्यागं यावत् पुत्रयोरवेक्षस्व । परेण तु यथा रोचिष्यते तथा करिष्यामि ।

लक्ष्मणकृतसम्भावनां श्रुत्वा **रामः** प्राह—**वत्साविति** । 'इमौ पुत्रौ' इति सम्भावनया परिप्लवमानहृदयः = दोलायमानहृदयः, अहं प्रमुग्धोऽस्मि = परमार्थं निश्चेतुं न पारयामीति भावः ।

पृथिवी सीतामादिशति—**एहीति** । पुत्रि ! आगच्छ, अस्माभिः सह रसातलम् = पातालं, पवित्रीकुरु, त्वयाधिष्ठितं पातालमपि पवित्रं भवेत्, पातालं गच्छेति भावः ।

तच्छ्रुत्वा **रामः** सखेदमाह—हा प्रिये ! त्वं लोकान्तरम् = अन्यं लोकं (पातालं) गतासि ।

सीता पृथिवीं प्रार्थयते—**नयतु मामिति** । माता मां स्वेष्वङ्गेषु विलयं = तिरोहितां करोतु, यतः, लोकस्येदृशं परिभवम् = मिथ्यापवादरूपं तिरस्कारं ('जीवलोक-परिवर्तम्' इति पाठे—जीवलोकस्य = संसारस्य, परिवर्तम् = परिवर्तनम् ।), न सहिष्ये = सोढुं न शक्ताऽस्मि ।

सीताया ईदृशं वचनं श्रुत्वा **लक्ष्मणः** कथयति—**किमुत्तरं** = प्रतिवचनम्, स्यात्, पृथिवी किमुत्तरं दास्यतीत्यर्थः ।

पृथिवी सीतां प्रबोधयति—**मन्नियोगत इति** । ममादेशात् स्तनदुग्धपानकाल-पर्यन्तं पुत्रौ अवेक्षस्व = पश्य, परिपालयेत्यर्थः; 'पुत्रयोरि'त्यत्र 'कर्मादीनामपि सम्बन्ध-

---

पवित्रीकुरु—अपवित्रं पवित्रं कुरु, अभूततद्भावे च्विः ।

पृथिवी—बेटी, आओ, पाताल को पवित्र करो ।

राम—हा प्रिये ! अन्य लोक (पाताल) में चली गयी हो ? (जा रही हो ?)

सीता—माँ, मुझे अपने अङ्गों में विलीन कर लो । मैं संसार के (मिथ्यापवाद रूप) ऐसे तिरस्कार को भोगना नहीं सहूँगी ।

लक्ष्मण—क्या उत्तर होगा ? (देखें, पृथिवी इसका क्या उत्तर देती है) ।

पृथिवी—मेरे आदेश से स्तन्य-त्याग तक बच्चों की देख-भाल करो, बाद में जैसी तुम्हारी रुचि होगी, वैसा करूँगी ।

पवित्रीकुरु रसातलम्—प्रो० कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग का मत है कि यहाँ 'रसातल' शब्द के दो अर्थ हैं । पृथिवी ने उसका प्रयोग 'भूपृष्ठ' के अर्थ में किया है । सीता जी और लक्ष्मण उसे उसी अर्थ में समझ रहे हैं, जब कि रामचन्द्र उसे पाताल के अर्थ में समझ रहे हैं ।

किमुत्तरं स्यात्—किसी-किसी संस्करण में यह राम की उक्ति है ।

भागीरथी—एवं तावत् ।

(इति निष्क्रान्ते देव्यौ सीता च)

रामः—कथं विलय एव वैदेह्याः सम्पन्नः ? हा देवि ! दण्डकारण्यवास-प्रियसखि ! हा चारित्रदेवते ! लोकान्तरं पर्यवस्थितासि । (इति मूर्च्छति)

लक्ष्मणः—भगवन् वाल्मीके ! परित्रायस्व परित्रायस्व । एष ते काव्यार्थः ?

मात्रविवक्षायां षष्ठ्येव' इति षष्ठी । परेण तु=स्तन्यत्यागानन्तरम्, यथा ते रोचिष्यते तथा करिष्यामि ।

भागीरथ्यपि पृथिवीवचनमेव समर्थयति—एवं तावत्=एवमेव, एतदेव, कर्तव्य-मित्यर्थः ।

सीतामादाय भागीरथ्या सह निष्क्रान्तायां पृथिव्यां रामोऽवदत्—हा ! कथं वैदेह्याः=सीतायाः, विलयः=तिरोभावः, सम्पन्नः=सञ्जातः ? ('प्रतिपन्नमेव तावत्' इति पाठे—प्रतिपन्नम्=अङ्गीकृतम्, सीतया पातालगमनमङ्गीकृतमिति भावः ।) हा देवि ! हा दण्डकारण्यवाससखि=दण्डकवने वासकाले प्रियसहचरि ! हा चारित्रदेवते-चरित्रमेव चारित्रम्=पातिव्रत्यरूपं सच्चरित्रता, तस्य देवते अधिदेवते; पातिव्रत्यरूपस्य चारित्र्यस्याधिष्ठातृदेवते ! लोकान्तरम्=परलोकं (रसातलं) पर्यवस्थितासि= प्रविष्टासि, प्रस्थितासि ! ('लोकान्तरे पर्यवसितासि' इति पाठे—लोकान्तरे=पाताले, पर्यवसितासि=विश्रामं गतासि इत्यर्थः) । इत्युक्त्वा मूर्च्छितो जातो भगवान् रामचन्द्रः ।

मूर्च्छितं रामं विलोक्य लक्ष्मणोऽकथयत्—'भगवन् वाल्मीके ! परित्रायस्व= परिरक्ष, परिरक्ष रामभद्रम् । किं भवतो काव्यार्थः—काव्यस्य=दृश्यकाव्यस्य,

---

सम्पन्नः—सम् + √पद् + क्त (कर्तरि) । पर्यवस्थिता—परि + अव + स्था + क्त (कर्तरि) ।

भागीरथी—ऐसा ही (करना चाहिए) ।

(दोनों देवियाँ निकल गयीं और सीता भी)

राम—क्यों, सीता का विलय ही हो गया । हाय देवी ! हाय दण्डकारण्य के वास के समय की प्रियसङ्गिनी ! हाय चरित्र की देवता ! तुम अन्य लोक (पाताल) को चली गयी हो। **(मूर्च्छित हो जाते हैं)।**

लक्ष्मण—हे भगवान् वाल्मीकि ! (आर्य राम की) रक्षा करो, रक्षा करो ! (क्या) आपके काव्य का यही (राम को मूर्च्छित करना) प्रयोजन है ?

इति निष्क्रान्ते देव्यौ च—कुछ लोगों का मत है कि गर्भनाटक यहीं समाप्त हो जाता है। आगे आनेवाला 'अपनीयतामातोद्यम्' वाक्य इस मत की पुष्टि कर रहा है। किन्तु दूसरे लोगों का कहना है कि गर्भनाटक यहाँ न समाप्त होकर आगे भी चलता रहता है, जो वास्तविक घटना में परिणत हो जाता है । यही इसकी नाटकीय विशेषता है ।

ते काव्यार्थः—लक्ष्मण के इस कथन का आशय है कि क्या इस नाटक के अभिनय से राम का मूर्च्छित होना अथवा सीता का विलय दिखलाना ही आपको अभीष्ट था ? यहाँ यह अवधेय है कि गर्भनाटक का यहीं अन्त हो जाता है ।

(नेपथ्ये)

अपनीयतामातोद्यम् । भो भोः सजङ्गमस्थावराः प्राणभृतो मर्त्यामर्त्याः ! पश्यतेदानीं महर्षिणा भगवता वाल्मीकिनाऽभ्यनुज्ञातं पवित्रमाश्चर्यम् ।

लक्ष्मणः—(विलोक्य)

मन्थादिव क्षुभ्यति गाङ्गमम्भो व्याप्तं च देवर्षिभिरन्तरिक्षम् ।
आश्चर्यमार्या सह देवताभ्यां गङ्गामहीभ्यां सलिलादुदेति ॥ १६ ॥

नाटकस्येत्यर्थः, अर्थः=प्रयोजनम्, अभिधेयमिति वा; दृश्यकाव्यस्येदमेव प्रयोजनम् ? मूर्च्छां गतो राम इति प्रथमं नाटकाभिनयं समाप्य भगवतो रामस्य रक्षा कर्तव्येति भावः ।

ततो नेपथ्ये श्रूयते—अपनीयताम्=अपसार्यताम् । आतोद्यम्=चतुर्विधं वाद्यम् । सजङ्गमस्थावराः—जङ्गमैः=चरैः, स्थावरैः=अचरैश्च सह वर्तमानाः । प्राणभृतः=प्राणिनः । मर्त्यामर्त्याः—मर्त्याः=मरणशीलाः, अमर्त्याः=अमरणशीलाश्च । अभ्यनुज्ञातम्=अनुमतम्, स्वयं तेनैव दर्शितमिति भावः । पवित्रम्=निर्दोषम् ।

अयम्भावः—अपसार्यतां चतुर्विधं वाद्यम् । भो भोः चराचराः मरणामरणशीलाः प्राणिनः ! सम्प्रति भगवता वाल्मीकिनाऽभिनयार्थमादिष्टं, पवित्रमाश्चर्यं पश्यत यूयमिति ।

अन्वयः—गाङ्गम् अम्भः मन्थात् इव क्षुभ्यति, अन्तरिक्षं च देवर्षिभिः व्याप्तम् । आर्या देवताभ्यां गङ्गामहीभ्यां सह सलिलात् उदेति, आश्चर्यम् ॥ १६ ॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणो विलोक्य प्राह—**मन्थादिवेति** । गाङ्गम्—गङ्गाया इदम्, ('तस्येदम्' इत्यण्) । अम्भः=जलम् । मन्थादिव=आलोडनादिव । क्षुभ्यति=क्षोभं प्राप्नोति । अन्तरिक्षम्=आकाशम् । देवर्षिभिः=देवैः, ऋषिभिश्च । व्याप्तम्=परिपूरितम् । आर्या=सीता । सलिलात्=गङ्गाजलात् । उदेति=उद्गच्छति ('उपैति' इति पाठे—'उत्तिष्ठति' इत्यर्थः ।)

अयम्भावः—गङ्गाया इदं जलमालोडनादिव क्षुभितं भवति, (कौतुकविलोकनाय) देवैर्ऋषिभिश्च गगनमण्डलं व्याप्तं च । इयमार्या सीता देवी गङ्गया पृथिव्या च सहँ

अपनीयताम्—अप+√नी+कर्मणि लोट् (त) । प्राणभृतः—प्राणान् बिभ्रति धारयन्ति इति, प्राण+√भृ+क्विप् । मन्थः—√मन्थ+घञ् । गाङ्गम्—गङ्गा+अण् ('तस्येदम्') ।

(नेपथ्य में) बाजे हटा दिये जायँ । हे हे सचराचर मरणशील तथा अमरणशील प्राणियो ! अब महर्षि वाल्मीकि द्वारा (अभिनयार्थं) अनुमत निर्दोष आश्चर्य को देखिए ।

लक्ष्मण—(देखकर) गङ्गा का जल आलोडन से जैसे क्षुभित हो रहा है और आकाश देवों तथा ऋषियों से व्याप्त है । आश्चर्य है, आर्या (सीता) गङ्गा और पृथिवी देवियों के साथ जल से निकल रही हैं ॥ १६ ॥

(पुनर्नेपथ्ये)

अरुन्धति जगद्वन्द्ये गङ्गापृथ्व्यौ जुषस्व नौ।
अर्पितेयं तवावाभ्यां सीता पुण्यव्रता वधूः ॥ १७ ॥

लक्ष्मणः—अहो ! आश्चर्यमाश्चर्यम्। आर्य ! पश्य पश्य। (विलोक्य) कष्टमद्यापि नोच्छ्वसित्यार्यः।

गङ्गाजलान्निर्गत्य समायातीत्याश्चर्यम् ! अत्र 'मन्थादिव' इत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—जगद्वन्द्ये अरुन्धति ! नौ गङ्गापृथ्व्यौ जुषस्व। आवाभ्याम् इयं पुण्यव्रता वधूः सीता तव अर्पिता ॥ १७ ॥

पुनर्नेपथ्ये श्रूयते—**अरुन्धति इति**। जगद्वन्द्ये वन्दितुं योग्या वन्द्या = नमस्कार्या, जगतां वन्द्या इति जगद्वन्द्या, तत्सम्बुद्धौ हे जगद्वन्द्ये = त्रिभुवननमस्कार्ये ! नौ = आवाम् (कर्मणी)। जुषस्व = प्रीयस्व, सीतां स्वीकृत्यावां सफलमनोरथे कुरु इति भावः। पुण्यव्रता—पुण्यम् = पवित्रम्, व्रतम् = आचरणं, यस्याः सा। वधूः = स्नुषा।

अयम्भावः—हे जगद्वन्दनीये अरुन्धति ! आवां गङ्गापृथिव्यौ सम्प्रति प्रीयस्व। अस्मत्प्रार्थनापूरणेनानुगृहाणेति भावः। पूताचरणा स्नुषा इयं सीता आवाभ्यां तवार्पिता। अद्यप्रभृति सीतायाः संरक्षणं त्वया कार्यमिति भावः ॥ १७ ॥

एतच्छ्रुत्वा **लक्ष्मण** आह—अहो आश्चर्यम् आश्चर्यम् ! (हर्षजन्यसम्भ्रमे द्विरुक्तिः) आर्य !=राम ! ('आर्ये' इति पाठे अरुन्धतीं प्रति सम्बुद्धिरियम्) पश्य पश्य, आश्चर्यमेतत्। (दृष्ट्वा) इदानीमपि आर्यः नोच्छ्वसिति = उच्छ्वासं न प्राप्नोति, चेतनां न प्राप्नोतीति कष्टम्।

वन्द्या—वन्दितुं योग्या—'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्, ततः टाप् (स्त्रियाम्)। जुषस्व—'जुषी प्रीतिसेवनयोः' (आत्मनेपद) धातु के लोट्, मध्यमपुरुष एकवचन का रूप। नौ—द्वितीयाद्विवचनान्त 'आवाम्' के स्थान पर 'नौ' आदेश ('युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' ८।१।२०)। अर्पिता—√ऋ (गतिप्रापणयोः) + णिच्, पुक् का आगम ('अर्ति-ह्री-व्ली०' ७।३।३६) + क्त (कर्मणि) ततः टाप् (स्त्रियाम्)।

(पुनः नेपथ्य में)

हे जगद्वन्दनीय अरुन्धती ! हम दोनों गङ्गा और पृथिवी को प्रसन्न करो। यह तुम्हारी पवित्र आचरण (व्रत) वाली बहू सीता हम दोनों के द्वारा तुम्हें सौंपी जा रही है ॥ १७ ॥

लक्ष्मण—अहो ! आश्चर्य है, आश्चर्य है। आर्य ! देखिए, देखिए। **(देखकर)** दुःख है, आर्य अभी तक चेतना नहीं प्राप्त कर सके।

'जुषस्व' (पाठान्तर) **'भजस्व'**—भजस्व = सेवस्व, अस्मत्प्रार्थनापूरणेनेति भावः।
'तवावाभ्याम्' (पाठान्तर) **'तवाभ्याशे'**—अभ्याशे = समीपे।

(ततः प्रविशत्यरुन्धती सीता च)

अरुन्धती—त्वरस्व वत्से वैदेहि ! मुञ्च शालीनशीलताम् ।
एहि जीवय मे वत्सं प्रियस्पर्शेन पाणिना ॥ १८ ॥

सीता—(ससम्भ्रमं स्पृशन्ती) समस्ससदु समस्ससदु अज्जउत्तो । [समाश्वसितु समाश्वसित्वार्यपुत्रः ।]

रामः—(समाश्वस्य सानन्दम्) भोः किमेतत् ? (दृष्ट्वा सहर्षाद्भुतम्) कथं देवी । (सलज्जम्) अये अम्बा मे अरुन्धती सर्वे च प्रहृष्यन्त ऋष्यश्रृङ्गशान्तादयोऽस्मद्गुरवः ।

अन्वयः—वत्से वैदेहि ! त्वरस्व, शालीनशीलतां मुञ्च, एहि, प्रियस्पर्शेन पाणिना मे वत्सं जीवय ॥ १८ ॥

मूर्च्छितं रामं विलोक्यारुन्धती सीतामादिशति—त्वरस्वेति । वत्से = पुत्रि ! वैदेहि = सीते ! त्वरस्व = त्वरां कुरु । शालीनशीलताम् = अधृष्टस्वभावत्वम्, 'गुरुजनस्य पुरतः कथं पतिं स्पृशेयम्' इतिरूपां लज्जाशीलतामिति भावः । मुञ्च = त्यज । प्रियस्पर्शेन—प्रियः = अभीष्टः, रामस्य चेतनाप्रदत्वादिति भावः, स्पर्शः यस्य तेन । पाणिना = करेण । वत्सम् = राममित्यर्थः । जीवय = प्रबोधय ।

अयम्भावः—पुत्रि सीते ! त्वरां कुरु । सम्प्रति 'गुरुजनस्य पुरतः कथं पतिं स्पृशेयम्' इतिरूपां लज्जाशीलतां त्यज, नायं लज्जाशीलतापालनस्यावसर इति भावः । आगच्छ, स्वकरस्य जीवनप्रदस्पर्शेन मम वत्सं रामं लब्धचेतनं कुरु ॥ १८ ॥

ससम्भ्रमं = सत्वरं, रामं स्पृशन्ती सीताऽऽह—आर्यपुत्रः समाश्वसितु, समाश्वसितु = समाश्वस्तो भव, चेतनां लभस्वेत्यर्थः (सम्भ्रमे द्विरुक्तिः) ।

समाश्वस्य = संज्ञां प्राप्य, सानन्दं रामः प्राह—अये ! मया प्रियाकरस्पर्शसुखमनु-

---

प्रहृष्यन्तः—प्र + √हृष् + शतृ ।

(तदनन्तर अरुन्धती और सीता प्रवेश करती हैं ।)

अरुन्धती—हे पुत्री वैदेही ! शीघ्रता करो; लज्जाशीलता छोड़ो । आओ, सुखकर स्पर्श वाले पाणि से मेरे वत्स (राम) को जीवन प्रदान करो ॥ १८ ॥

सीता (त्वरा के साथ स्पर्श करती हुई) आर्यपुत्र आश्वस्त हों, आश्वस्त हों ।

राम—(आश्वस्त होकर सानन्द) अरे, यह क्या है ? **(देखकर हर्ष और आश्चर्य के साथ)** क्यों ! देवी (सीता) ! **(लज्जा के साथ)** अरे ? मेरी माता अरुन्धती ! और प्रसन्न होते हुए ऋष्यश्रृङ्ग, शान्ता आदि हमारे गुरुजन !

शालीनशीलताम्—शालां प्रवेष्टुमर्हति इति शालीनः, 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' (५।२।२०) सूत्र से खञ् प्रत्यय और उत्तरपद के निपातन से लोप होकर यह शब्द (शालीन) सिद्ध होता है । इसका अर्थ है—'अधृष्ट' अर्थात् लज्जालु । शील शब्द का अर्थ है—'स्वभाव' (शीलं स्वभावे सद्वृत्ते) । शालीनं शीलं यस्यास्तस्या ताम्—शालीनशीलताम् ।

सौम्यस्पर्शेन (पाठा०)—चन्द्रवच्छीतलेन (वीरराघव) अर्थात् चन्द्रमा के समान शीतल स्पर्श वाले हाथ से ।

अरुन्धती--वत्स ! एषा भगवती भगीरथगृहदेवता सुप्रसन्ना गङ्गा ।

(नेपथ्ये)

जगत्पते रामचन्द्र ! स्मर्यतामालेख्यदर्शने मां प्रत्यात्मनो वचनं यथा—'सा त्वमम्ब ! स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्यानपरा भव' इति । तत्रानृणास्मि जाता ।

अरुन्धती--इयं ते श्वश्रूर्भगवती वसुन्धरा ।

भूतमिति किमेतत् ! पुनः सीतां विलोक्य सहर्षाद्‌भुतम्—हर्षेण=सीताप्राप्तिजनितानन्देन, अद्‌भुतेन=सहसा दुष्प्राप्यस्य वस्तुनः प्राप्तेर्विस्मयेन, च सहितं यथा स्यात्तथा प्राह—कथम्=विस्मयबोधकमव्ययपदम् अहो ! आश्चर्यं देवी सीता समुपस्थिता । सलज्जं च पुनः प्राह—अये ! मे माता अरुन्धती समुपस्थिता, एते च प्रहृष्यन्तः=आनन्दमनुभवन्तः, अस्मद्‌गुरवः=अस्माकमृष्यश्रृङ्गशान्तादयो गुरुजनाः समुपस्थिताः ।

अरुन्धती राममुद्दिश्य कथयति—**वत्सेति** । हे वत्स ! एषा भगीरथगृहदेवता=भगीरथकुलस्य अधिष्ठात्री देवी गङ्गा, सुप्रसन्ना=अनुग्रहं कृतवती ।

ततो नेपथ्ये गङ्गावचनं श्रूयते—**जगत्पते इति** । हे जगत्पते रामचन्द्र ! आलेख्यदर्शने=चित्रदर्शनावसरे ! मामुद्दिश्य 'अम्ब ! रघुकुलमङ्गलविधायिनी त्वं स्नुषायां सीतायामरुन्धतीव सततं शिवानुध्यानपरा--शिवस्य=मङ्गलस्य, अनुध्याने=चिन्तने, परा=परायणा, मङ्गलचिन्तनपरायणा भव' इति कथितं स्ववचनं स्मर्यतामिदानीम् । तत्र भवद्वचनपरिपालने जाताऽहमृणमुक्ता । भवद्वचनं परिपालितं मयेति भावः ।

पुनः कथयत्यरुन्धती—**इयमिति** । इयं तव प्रियाया जननी (श्वश्रूः) भगवती पृथिवी (सुप्रसन्ना) ।

श्वश्रूः—श्वशुरस्य स्त्री, 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४।१।४८) से प्राप्त ङीष् को बाधित कर 'श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च' (वा० ५०३९) से ऊङ् प्रत्यय तथा उकार और अन्तिम अकार का लोप हो जाता है ।

अरुन्धती—वत्स ! यह भगीरथ के कुल की अधिष्ठात्री देवी गङ्गा अत्यन्त प्रसन्न हुई हैं ।

(नेपथ्य में)

हे जगत् के स्वामी रामचन्द्र ! चित्रदर्शन के समय मेरे प्रति कहे गये—'हे माता, वह तुम, अरुन्धती के समान बहू सीता के विषय में मङ्गल चिन्तन में तत्पर होओ' अपने इस वचन का स्मरण कीजिए । उस विषय में मैं अनृण हो गयी हूँ ।

अरुन्धती—यह तुम्हारी सास वसुन्धरा हैं ।

'जगत्पते' तथा **'प्रभोः'** यह दोनों शब्द क्रमशः गङ्गा और पृथिवी के द्वारा रामचन्द्र के लिए साभिप्राय प्रयुक्त किये गये हैं । गङ्गा का अभिप्राय है कि आप (राम) 'जगत्पति' हैं, अतः आपके आदेश का पालन करना अनिवार्य था । इसी प्रकार पृथिवी का अभिप्राय है कि यद्यपि आप (राम) सीता के पति होने के नाते जामाता (वत्स) हैं, फिर भी आप वस्तुतः मेरे प्रभु (ईश्वर) ही हैं । प्रभु का आदेश-पालन मेरा अपना परम कर्त्तव्य ही था ।

(पुनर्नेपथ्ये)

उक्तमासीदायुष्मता वत्सायाः परित्यागे यथा–'भगवति वसुन्धरे ! श्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीमिति ।' तदधुना कृतवचनास्मि प्रभोर्वत्सस्येति ।

रामः—कथं कृतमहापराधो भगवतीभ्यामनुकम्पितः । प्रणमामि वः ।

अरुन्धती—भो भोः पौरजानपदाः ! इयमधुना भगवतीभ्यां जाह्नवीवसुन्धराभ्यामेवं प्रशस्यमाना ममारुन्धत्याः समर्पिता, पूर्वं च भगवता वैश्वानरेण निर्णीतपुण्यचारित्रा सब्रह्मकैश्च देवैः संस्तुता सावित्रकुलवधूर्देवयजनसम्भवा सीतादेवी परिगृह्यतामिति कथमिह भवन्तो मन्यन्ते ?

ततो नेपथ्ये पृथिवीवचनं श्रूयते—उक्तमासीदिति । आयुष्मता वत्सायाः सीताया निर्वासनकाले कथितमासीत्—'भगवति वसुन्धरे ! प्रशस्यां स्वपुत्रीं सीतां परिरक्षेति, तस्माद्धेतोः कृतवचनाऽस्मि = प्रभोः वात्सल्यभाजनस्य जामातुरादेशो मया पालितः ।

गङ्गापृथिव्योर्नेपथ्याच्छ्रूयमाणं वचनमाकर्ण्य साश्चर्यं रामः प्राह—कथमिति । अद्भुतमेवैतत्, मया सीतानिर्वासनरूपो महापराधः कृतः, तथापि भगवतीभ्यां गङ्गा-पृथिवीभ्यां मयि दया कृता । तत्प्रणमामि युष्मान् देवीः ।

अरुन्धती सर्वान् पौरजानपदानुद्दिश्य कथयति—भो भोः पौरजानपदा इति । पौर-जानपदाः—पौराः = पुरवासिनः, जानपदाः = देशवासिनश्च । जाह्नवीवसुन्धराभ्याम् = गङ्गापृथिवीभ्याम् । एवम् = इत्थम्, 'आवयोरपि यत्सङ्गात् पवित्रत्वं प्रकृष्यते' इत्यनेन प्रकारेणेति भावः । प्रशस्यमाना—क्रियमाणप्रशंसा । पूर्वम् = रावणवधानन्तरकाले । वैश्वानरेण = अग्निना । निर्णीतपुण्यचारित्रा—निर्णीतम् = प्रमाणीकृतम्, पुण्यम् =

प्रशस्यमाना—प्र + √शंस् + कर्मणि शानच् । वैश्वानरः—विश्वेषु नरेषु विद्यते जाठराग्निरूपेणेति विश्वानरः, 'नरे संज्ञायाम्' (६।३।१२९) सूत्र से 'नर' उत्तरपद होने से 'विश्व' शब्द को दीर्घ हो गया । विश्वानर एव विश्वानरः, स्वार्थे अण् । सब्रह्मकैः—ब्रह्मणा सह विद्यमाना इति सब्रह्मकाः, तैः, तुल्ययोगबहुव्रीहि; 'शेषाद्विभाषा' सूत्र से वैकल्पिक कप् समासान्त । पक्ष में 'सब्रह्मभिः' होगा ।

(पुनः नेपथ्य में)

आयुष्मान् ने पुत्री (सीता) के परित्याग के समय कहा था—'भगवती वसुन्धरा ! प्रशंसनीय (अपनी) पुत्री जानकी की देख-भाल करो ।' अतः अब मैं प्रभु वत्स (आप जामाता) के वचन का पालन कर चुकी ।

राम—क्यों ! महान् अपराध करनेवाला मैं आप दोनों देवियों से अनुगृहीत किया गया हूँ । आप देवियों को मैं प्रणाम करता हूँ ।

अरुधन्ती—हे पुरवासियो ! हे देशवासियो ! इस समय गङ्गा और पृथिवी ने जिसकी प्रशंसा की है और मुझ अरुन्धती के हाथों में सौंपा है, इससे पहले भी जिसके चरित्र की पवित्रता का निर्णय भगवान् अग्निदेव कर चुके हैं तथा ब्रह्माजी सहित सभी देवताओं ने जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है, यज्ञभूमि-समुत्पन्न सूर्यकुल की बहू यह सीता (रामभद्र द्वारा) अङ्गीकार की जाय; इस विषय में आप लोगों की क्या सम्मति है ?

लक्ष्मणः—आर्य ! एवमार्ययाऽरुन्धत्या निर्भर्त्सिताः पौरजानपदाः कृत्स्नश्च भूतग्राम आर्यां नमस्कुर्वन्ति । लोकपालाः सप्तर्षयश्च पुष्पवृष्टिभिरुपतिष्ठन्ते ।

अरुन्धती—जगत्पते रामचन्द्र !

नियोजय यथाधर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम् ।
हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे ॥ १९ ॥

पवित्रम्, चारित्र्यम्=पातिव्रत्यरूपं सच्चरित्रं, यस्याः सा । सब्रह्मकैश्च देवैः = ब्रह्मदेवसहितैः सकलदेवैः । संस्तुता = सम्यक् प्रशंसिता । सावित्रकुलवधूः = सूर्यवंशस्नुषा । देवयजनसम्भवा = यज्ञभूमिसमुत्पन्ना । परिगृह्यताम् = (रामेण) अङ्गीक्रियताम् । इह = अस्मिन् विषये । कथं भवन्तो मन्यन्ते = किं भवन्तो विचारयन्ति, किं भवतामभिमतमिति भावः ।

अयम्भावः—अधुनैव भवतां पुरत एव गङ्गापृथिवीभ्याम् 'आवयोरपि यत्सङ्गात् पवित्रत्वं प्रकृष्यते' इति स्ववचनेन प्रशस्यमाना या सीता मम समर्पिता, पूर्वं चाग्निदेवेनापि यस्याः पवित्रं पातिव्रत्यरूपं सच्चरित्रं प्रमाणीकृतम्, प्रजापतिना ब्रह्मणा च सह सकलदेवैर्यस्याः सम्यक् स्तुतिः कृता, या च सूर्यकुलस्य वधूः, यज्ञभूमिसमुत्पन्नाऽयोनिजा जन्मत एव पवित्रा तादृशीयं सीतादेवी रामेणाङ्गीक्रियतामित्यस्मिन् विषये भवन्तः कथं मन्यन्ते ? किं भवतां मतमिति भावः ।

ततो **लक्ष्मणो** रामं प्रत्याह—आर्य ! पश्य, पूर्वोक्तप्रकारेण पूज्ययाऽरुन्धत्या निर्भर्त्सिताः = उपालब्धाः, पौरजानपदाः, कृत्स्नः = समस्तः, भूतग्रामः = प्राणिसमूहश्च, आर्यां = सीतादेवीं, नमस्कुर्वन्ति । लोकपालाः सप्तर्षयश्च पुष्पवृष्टिभिर्देवता बुद्ध्या ताम् उपतिष्ठन्ते = पूजयन्ति ।

निर्भर्त्सिताः—निर् + √भर्त्स + क्त (कर्मणि) । उपतिष्ठन्ते—'उपाद् देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इस वार्तिक के अनुसार 'उप' उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातु देवपूजार्थक होने से आत्मनेपदी हो गयी ।

नियोजय—नि + √युज् + णिच् + लोट् (सिप्) । यथाधर्मम्—धर्ममनतिक्रम्य, यथार्थे अव्ययीभावः । धर्मचारिणी—धर्मं चरितुं शीलमस्या इति, धर्म + √चर् + णिनि (ताच्छील्ये), 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति स्त्रियां ङीप् । हिरण्मयी—हिरण्य शब्द

लक्ष्मण—आर्य ! इस प्रकार माता अरुन्धती के द्वारा भर्त्सित होकर (ताना पाकर) पुरवासी तथा जनपद वासी और समस्त प्राणिसमूह आर्या (सीता) को प्रणाम कर रहे हैं । लोकपाल और सप्तर्षि भी पुष्पों की वर्षा से (आर्या की) पूजा कर रहे हैं ।

अरुन्धती—हे जगत्पति रामचन्द्र !

तुम सुवर्णमयी प्रतिकृति (प्रतिमा) की पवित्र प्रकृति (मूलभूत) प्रिया को धर्मानुसार यज्ञ में धर्मचारिणी नियुक्त करो ॥ १९ ॥

लोकपालाः—लोकपाल आठ हैं—'इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत् । कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्' ॥ अमरकोष ।

सप्तर्षयः—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ये सप्तर्षि कहलाते हैं ।

सीता--(स्वगतम्) जाणादि अज्जउत्तो सीदाए दुक्खं पडिमज्जिदुम् ?
[जानात्यार्यपुत्रः सीताया दुःखं परिमार्ष्टुम् ?]

रामः--यथा भगवत्यादिशति ।

लक्ष्मणः--कृतार्थोऽस्मि ।

सीता--पच्चुज्जीविदम्हि । [प्रत्युज्जीवितास्मि ।]

अन्वयः--त्वं हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिं प्रियां धर्मचारिणीम् अध्वरे नियोजय ॥ १९ ॥

अरुन्धती देवी रामं सम्बोध्य प्राह--**नियोजयेति** । हिरण्मय्याः = सुवर्णनिर्मितायाः । प्रतिकृतेः = प्रतिमायाः । पुण्याम् = पवित्राम् । प्रकृतिम् = बिम्बभूताम् । धर्मचारिणीम् = सहधर्मचारिणीं, पत्नीमित्यर्थः । अध्वरे = यज्ञे । नियोजय = नियुक्तां कुरु ।

अयम्भावः--जगत्पते रामभद्र ! स्वर्णनिर्मिता सीताप्रतिमा तु प्रतिकृतिः, इयं सीता तस्याः प्रतिकृतेः प्रकृतिरस्तीति प्रकृतौ विद्यमानायां प्रतिकृतेरावश्यकता नास्ति । तस्मादिदानीं धर्मानुसारेण स्वसहधर्मिणीमिमां प्रियां साक्षात्सीतामेव स्वर्णनिर्मितायाः सीताप्रतिमायाः स्थाने यज्ञे नियुक्तां कुरु । सीतया सहितः सन्नश्वमेधयज्ञमनुतिष्ठ, अनेनैव विधिना यज्ञसाफल्यं भविष्यतीति भावः ॥ १९ ॥

अरुन्धतीवचनं श्रुत्वा **सीता** कथयति--जानात्यार्यपुत्रः सीतादुःखं परिमार्ष्टुम् = निवारयितुम् ।

रामोऽवदत्--यथा भगवती (अरुन्धती) आदिशति, तथैवानुतिष्ठामि ।

रामेण भगवत्या अरुन्धत्याः स्वीकृते समादेशे सहर्षमाह **लक्ष्मणः--कृतार्थ इति** । 'रामादेशान्मयैव सीता परित्यक्ता घोरेऽरण्ये' इति मम मनसि सर्वदा सन्तापो विद्यते स्म, सम्प्रति च अनयोः समागमः सञ्जातः । तत् कृतार्थः = कृतकृत्यः, सन्नहं समाश्वस्ततां गत इति भावः ।

सीताऽपि सहर्षमाह--आर्यपुत्रेण स्वीकृताऽहं पुनः प्राप्तजीवनाऽस्मि ।

से 'तस्य विकारः' इति मयट्, 'दाण्डिनायन'--इत्यादि सूत्र से 'हिरण्य' के 'य' का निपातन से लोप, टित्वात् स्त्रियां ङीप् । परिमार्ष्टुम्--परि + √मृज् (शुद्धौ) + तुमुन् । प्रत्युज्जीविता--प्रति + उद् + √जीव् + क्त + टाप् ।

सीता--(स्वागत) आर्यपुत्र सीता के दुःख का परिमार्जन करना जानते हैं ।
राम--जैसी भगवती की आज्ञा ।
लक्ष्मण--मैं कृतार्थ हो गया ।
सीता--पुनः जी गयी हूँ ।

कृतार्थोऽस्मि--श्रीरामचन्द्र के आदेश से लक्ष्मण ने ही सीता को निर्जन वन में छोड़ा था । इस बात का दुःख सदैव लक्ष्मण के मन में बना रहता था । आज उनका पुनः समागम होने से लक्ष्मण का वह दुःख दूर हो गया और उनका मन हल्का हो गया । वे अपने को कृत-कृत्य समझ रहे हैं ।

लक्ष्मणः--आर्ये ! एष निर्लज्जो लक्ष्मणः प्रणमति ।

सीता--वच्छ ! ईदिसो तुमं चिरं जीअ । [वत्स ! ईदृशस्त्वं चिरञ्जीव ।]

अरुन्धती--भगवन् वालमीके ! उपनीयेतामिमौ सीतागर्भसम्भवौ रामभद्रस्य पुत्रकौ कुशलवौ । (इति निष्क्रान्ता)

रामलक्ष्मणौ--दिष्टया तथैवैतत् ।

सीता--(सबाष्पाकुला) कहिं मे पुत्तआ [कुत्र मम पुत्रकौ ।]

लक्ष्मण आह—आर्ये इति । आर्ये (सीते) ! निर्लज्जः—निर्गता लज्जा यस्मात् सः =लज्जारहित इत्यर्थः; भवतीं वने परित्यज्य भूयोऽपि मुखं दर्शयन् यो न लज्जते, एतादृशः, एषः =अयं लक्ष्मणः प्रणमति ।

सीताऽऽशिषं वितरति--वत्सेति । वत्स ! ईदृशः =भ्रातुर्वचनकरो यद्वा चिरविगुक्तयोः प्रजावतीभ्रात्रोः सम्मेलनेन प्रहृष्टः सन् चिरं जीव =दीर्घायुस्त्वं भूयाः ।

अरुन्धती वाल्मीकिं सम्बोध्य कथयति—भगवन्निति । भगवन् वालमीके ! सीतागर्भसम्भवौ—सीतायाः गर्भात् सम्भवः =जन्म, ययोस्तौ =सीतागर्भजातौ, रामभद्रस्य पुत्रकौ कुशलवौ उपनीयेताम्=तत्समीपे भवताऽऽनेतव्यौ । (इत्युक्त्वाऽरुन्धती निष्क्रान्ता)

अरुन्धतीवचनं निशम्य रामलक्ष्मणावाहतुः—दिष्टयेति । सौभाग्येन तथैवैतत् । आवयोर्यथा सम्भावनाऽऽसीत् यत् कुशलवौ सीताया एव पुत्रौ, सत्यमेव सिद्धमेतत् । इति भावः ।

सीता तदानीमश्रुभिराकुला सती प्राह—कुत्र स्तो मम पुत्रकौ ?

उपनीयेताम्—उप + √नी + कर्मणि लोट् (आताम्) ।

लक्ष्मण—आर्या ! यह निर्लज्ज लक्ष्मण प्रणाम कर रहा है ।

सीता—वत्स ! इस प्रकार के तुम चिरजीवी हो ।

अरुन्धती—हे भगवान् वालमीकि ! ये सीता के गर्भ से उत्पन्न हुए रामभद्र के पुत्र कुश तथा लव (रामभद्र के) समीप ले आये जायँ । **(चली जाती है)**

राम और लक्ष्मण—सौभाग्य से यह उसी प्रकार है । (जैसी कि हमारी संभावना थी कि ये कुश-लव सीता के ही पुत्र हैं, यह बात सत्य निकली ।)

सीता—(आँसुओं से आकुल) मेरे दोनों पुत्र कहाँ हैं ।

लक्ष्मण और सीता के संवाद पर ध्यान दीजिए । सीता को वन में छोड़कर फिर भी सीता को अपना मुँह दिखलाते हुए लक्ष्मण लज्जा से गड़े जा रहे हैं और अपने को निर्लज्ज कहते हुए प्रणाम करते हैं । इधर सीताजी 'वत्स ! ईदृशस्त्वं चिरजीव'—अपने इस आशीर्वचन के 'ईदृशः' शब्द से लक्ष्मण की सारी झेंप मिटा देती हैं । उनका आशय है कि अपने बड़े भाई की कठोर आज्ञा का तुमने पालन किया है । भाई के प्रति तुम्हारी यह आज्ञाकारिता संसार में अद्वितीय एवम् अनुपम है । तुम्हारी भ्रातृ-भक्ति पर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ, अतः तुम्हें लज्जित नहीं होना चाहिए । भगवान् करें, तुम्हारी यह भ्रातृ-भक्ति सदैव बनी रहे, जो गौरव का विषय है ।

वीरराघव ने 'ईदृशः' की व्याख्या इस प्रकार की है—'ईदृशः सन् मम पत्युश्च समागमं परमं श्रेयो नन्वानः सन् ।'

सबाष्पाकूतम् (पाठा०)—बाष्पेण=आनन्दाश्रुणा, आकूतेन=पुत्रदर्शनाभिप्रायेण च सह यथा स्यात्तथा ।

(ततः प्रविशति वाल्मीकिः कुशलवौ च)

वाल्मीकिः--वत्सौ कुशलवौ ! एष वां रघुपतिः पिता, एष लक्ष्मणः कनिष्ठतातः । एषा सीता जननी । एष राजर्षिर्जनको मातामहः ।

सीता--(सहर्षकरुणाद्भुतं विलोक्य) कदं तादो ! [कथं तातः ।]

कुशलवौ—हा तात ! हा अम्ब ! हा मातामह !

रामलक्ष्मणौ--(सहर्षमालिङ्ग्य) ननु वत्सौ पुण्यैः प्राप्तौ स्थः ।

सीता--एहि जाद कुश, एहि जाद लव, चिरस्य परिस्सजह मं पुणो जम्मंतरगदं जणणिं । [एहि जात कुश, एहि जात लव, चिरस्य परिष्वजेथां मां पुनर्जन्मान्तरगतां जननीम् ।]

वाल्मीकिः कुशलवौ सम्बोध्य कथयति—वत्सौ कुशलवौ ! अयं वाम् =युवयोः, कुशलवयोरित्यर्थः, पिता रामचन्द्रः, अयं कनिष्ठतातः (पितृव्यः) लक्ष्मणः, इयं जननी सीता । अयं मातामहः =मातुः पिता, राजर्षिर्जनकः ।

सीता—सहर्षकरुणाद्भुतम्—हर्षेण =पतिपुत्रपित्रादिदर्शनजनितानन्देन, करुणेन =प्रागनुभूतदुःखस्मृतिजनितशोकेन, अद्भुतेन =अप्रत्याशितघटनाविर्भावजनिताश्चर्येण, च सह यथा स्यात्तथा विलोक्य कथं पिता !

कुशलवौ सखेदमाहतुः—हा =खेदद्योतकमव्ययपदम्; हा तात ! हा अम्ब ! हा मातामह ! एतावत्कालपर्यन्तं भवन्तः कथं नावाभ्यां परिज्ञाताः, खेदस्यायं विषय इति भावः ।

रामलक्ष्मणौ सहर्षं कुशलवावालिङ्ग्याहतुः—ननु =सम्बोधनार्थकमव्ययमेतत्; पुत्रौ युवां पुण्यैः प्राप्तौ स्थः ।

मातामहः—मातुः पिता, 'मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्' वार्तिक से मातृ शब्द से डामहच् प्रत्यय ।

(तदनन्तर वाल्मीकि, कुश और लव प्रवेश करते हैं)

वाल्मीकि—बच्चों कुश और लव ! ये तुम दोनों के पिता रघुपति (राम) हैं, ये कनिष्ठ पिता (चाचा) लक्ष्मण हैं, यह सीता जननी है, ये राजर्षि जनक मातामह (नाना) हैं ।

सीता—**(हर्ष, शोक और आश्चर्य के साथ देखकर)** क्या पिताजी !

कुश और लव—हा पिताजी ! हा माता जी ! हा नाना जी ! (खेद है कि इतने समय तक हमने आप लोगों को नहीं जाना ।)

राम और लक्ष्मण—**(सहर्ष आलिङ्गन करके)** अरे बच्चो ! तुम दोनों पुण्यों से प्राप्त हुए हो ।

कुछ लोग आगे वाल्मीकि आदि के प्रवेश का निर्देश होने से इस स्थल तक गर्भनाटक की सत्ता मानते हैं ।

हा तात, हा अम्ब, हा मातामह—यहाँ 'हा' शब्द खेदद्योतक है । खेद का विषय है कि हम (कुश और लव) ने इतने समय तक आप लोगों को नहीं जाना । वीरराघव यहाँ ' ' शब्द को हर्षद्योतक मानते हैं ।

कुशलवौ—(तथा कृत्वा) धन्यौ स्वः ।

सीता—भअवं एसा हं पणमामि । [भगवन् ! एषा हं प्रणमामि ।]

वाल्मीकिः—वत्से ! ईदृश्येव चिरं भूयाः ।

सीता—अम्महे ! तादो, कुलगुरुः, अज्जाअणो सभत्तुआ अ अज्जा संतादेवी, सलक्खणा सुप्पसन्ना अज्जउत्तचलणा समं कुशलवा वि दीसन्ति, ता णिब्भरम्हि आनंदेण । [अम्हहे ! तातः कुलगुरुरार्याजनः सभर्तृका चार्या शान्तादेवी सलक्ष्मणाः सुप्रसन्ना आर्यपुत्रचरणाः समं कुशलवावपि दृश्यन्ते तन्निर्भराऽस्म्यानन्देन ।]

सीता कुशलवावुद्दिश्य कथयति—आगच्छ पुत्र कुश ! आगच्छ पुत्र लव ! चिरस्य =बहुकालपर्यन्तं, जन्मान्तरगताम्—अन्यत् जन्म जन्मान्तरम्, तत्प्राप्तां=जन्मान्तरप्राप्तां ('लोकान्तरादागतम्' इति पाठे—लोकान्तरात्=पातालात्, आगतामित्यर्थः), जननीं परिष्वजेथाम्=समालिङ्गतम्, यत्किञ्चित्क्षणालिङ्गनेन नाहं तृप्तिं गमिष्यामीति भावः ।

कुशलवौ जननीमालिङ्ग्याहतुः—आवां पुण्यवन्तौ स्वः ।

सीता वाल्मीकिं प्रत्याह—भगवन् ! एषाऽहं भवन्तं प्रणमामि ।

वाल्मीकिराशिषं वितरति—वत्से इति । वत्से जानकि ! ईदृश्येव=पतिपुत्रसङ्गतैव, त्वं चिरं भूयाः=चिरकालं स्थेयाः, (आशिषि लिङ्) पतिपुत्रादिभिस्ते वियोगो कदापि मा भूदिति भावः ।

सीता साश्चर्यं प्राह—अम्हह इति । अम्हहे=विस्मयबोधकमव्ययपदमिदम् । तातः=पिता, जनक इत्यर्थः । कुलगुरुः=वसिष्ठ इत्यर्थः । आर्याजनः=कौसल्यादिश्वश्रूजनः । सभर्तृका—भर्त्रा=ऋष्यश्रृङ्गेण सह वर्तमाना, शान्तादेवी=तदभिधाना सीताया ननान्दा । आर्यपुत्रचरणाः=आर्यपुत्रो राम इत्यर्थः । समम्=युगपदेव । तत्=तस्मात् । निर्भरा=पूर्णा ।

धन्यः—धनं लब्धा इति धन्यः, 'धनगणं लब्धा' सूत्र से यत् प्रत्यय ।

सभर्तृका—भर्त्रा सह विद्यमाना, 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) से बहुव्रीहि-समास, 'वोपसर्जनस्य' सूत्र से 'सह' को 'स'—सभर्तृ—ऋकारान्त होने से 'नद्यृतश्च' सूत्र से कप् समासान्त, ततः स्त्रियां टाप् होकर 'सभर्तृका' शब्द निष्पन्न होता है ।

सीता—पुत्र कुश आओ, पुत्र लव आओ, अन्य जन्म को प्राप्त हुई मुझ जननी का देर तक आलिङ्गन करो ।

कुश और लव—(वैसा करके) हम (दोनों) धन्य हैं ।

सीता—हे भगवान (वाल्मीकि) ! यह मैं प्रणाम करती हूँ ।

वाल्मीकि—पुत्रि ! इसी प्रकार (पति-पुत्र युक्त) बहुत दिनों तक रहो ।

सीता—अहो ! पिता, कुलगुरु (वसिष्ठ), सास लोग, पति सहित पूज्या शान्तादेवी, लक्ष्मण सहित सुप्रसन्न पूज्य आर्यपुत्र, कुश और लव भी (ये सभी) एक साथ दिखलायी पड़ रहे हैं । अतः मैं आनन्द से भर गयी हूँ ।

(नेपथ्ये कलकलः)

वाल्मीकिः—(उत्थायावलोक्य च) उत्खातलवणो मधुरेश्वरः प्राप्तः ।

लक्ष्मणः—सानुषङ्गाणि कल्याणानि ।

रामः—सर्वमिदमनुभवन्नपि न प्रत्येमि । यद्वा प्रकृतिरियमभ्युदयानाम् ।

अयम्भावः—अहो ! पिता (विदेहाधिपतिर्जनकः), कुलगुरुः (वसिष्ठः), कौशल्यादिश्वश्रूजनः, स्वभर्त्रा सह शान्तादेवी ननान्दा, लक्ष्मणेन सह सुप्रसन्नोऽयमार्यपुत्रः, कुशलवौ पुत्रौ च, एते सर्वेऽपि युगपदेव दृश्यन्ते, तस्मादहमिदानीमानन्देन परिपूर्णाऽस्मि ।

नेपथ्ये कोलाहलं श्रुत्वा वाल्मीकिरुत्थायावलोक्य च सूचयति—उत्खातलवणः—उत्खातः=उन्मूलितः, हत इत्यर्थः, लवणः=लवणासुरो नाम दैत्यः, येन सः; लवणासुरं हत्वेत्यर्थः । अयं मधुरेश्वरः—मधुरा=तदभिधाना नगरी, तस्या ईश्वरः=स्वामी, शत्रुघ्नः इत्यर्थः; सम्प्राप्तः ।

एतच्छ्रुत्वा लक्ष्मण आह—सानुषङ्गाणीति । कल्याणानि=मङ्गलानि, सानुषङ्गाणि=सानुबन्धानि, मङ्गलान्तरेण सम्बद्धानि, कल्याणान्तरैरनुगतानि, भवन्ति । एतादृशप्रहर्षसमये लवणासुरं हत्वा शत्रुघ्नोऽपि सम्प्राप्तः, कल्याणान्तरमिदं सञ्जातमिति भावः ।

रामः शत्रुघ्नागमनं श्रुत्वाऽपि प्राह—सर्वमिदमिति । इदं=सीतासमागमादिकं, सर्वं

उत्खातः—उद् + √खन् + क्त (कर्मणि) 'जनसनखनां सञ्झलोः' (६।४।४२) से खन् धातु के आकार अन्तादेश हुआ है । अनुषङ्गः—अनु + √सञ्ज + घञ्, 'उप-

---

(नेपथ्य में कोलाहल)

वाल्मीकि—(उठकर और देखकर) लवणासुर को उखाड़ फेंकने वाले मधुरा (नगरी) के स्वामी (शत्रुघ्न) आ पहुँचे हैं ।

लक्ष्मण—कल्याण अनुषङ्ग के साथ (एक के बाद एक) होते हैं ।

राम—यह सब कुछ अनुभव करता हुआ भी विश्वास नहीं कर पा रहा हूँ, अथवा यह (एक के बाद एक का होना) अभ्युदयों का स्वभाव ही है (जिस पर विश्वास न हो) ।

उत्खातलवणो मधुरेश्वरः—लवण नामक असुर मधुदैत्य का पुत्र था । उसे मारकर शत्रुघ्न ने मधुरा (मथुरा) नामक पुरी बसाई थी । इसी से शत्रुघ्न को 'मधुरेश्वर' कहा गया । शत्रुघ्न बारह वर्ष बाद लौटे हुए हैं । रामायण से यह विदित होता है कि रामचन्द्र ने जब लवणासुर को मारने के लिए भेजा था, उसी समय शत्रुघ्न को मथुरा का राजा घोषित कर दिया था । इसलिए शत्रुघ्न के लिए 'मधुरेश्वर' शब्द का प्रयोग सर्वथा समीचीन है । यहाँ यह भी अवधेय है कि प्रथम अङ्क में लवणासुर के लिए 'माधुर' शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह ठीक नहीं है, क्योंकि मधुरा नगरी तो लवणासुर को मारने के बाद बसायी गयी थी । मालूम पड़ता है कि वहाँ (प्रथम अङ्क में) मूलपाठ भ्रष्ट हो गया है, अतः वहाँ से 'माधुरस्य' पद हटा देना चाहिए । (कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग महोदय) ।

यही कारण है कि किसी-किसी संस्करण में 'माधुरस्य' पद नहीं मिलता है । प्रस्तुत संस्करण में भी 'माधुरस्य' पद नहीं रखा गया है ।

वाल्मीकिः—रामभद्र ! उच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।

रामः—अतः परमपि प्रियमस्ति ? तथापीदमस्तु—

पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा
मङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गङ्गेव च ।

कल्याणम् अनुभवन्नपि=साक्षात्कुर्वन्नपि, न प्रत्येमि = नाहं विश्वसिमि । दुर्दैवहतस्य मम कुत ईदृशं भागधेयमिति भावः । अथवाऽभ्युदयानां = कल्याणानां, प्रकृतिः = स्वभावः, एवायम् । कल्याणं कल्याणान्तरैरनुगतं सदेवागच्छति । आर्या लब्धा, पुत्रौ प्राप्तौ, लवणो नाम दैत्योऽपि हतः, शत्रुघ्नोऽपि समागतः इति कल्याणपरम्परायां ह्यभ्युदयानां स्वभाव एव हेतुस्तन्नात्राप्रतीतिः कार्येति भावः ।

भगवान् वाल्मीकिराह रामभद्रं प्रति—रामभद्रेति । रामभद्र कथय, किं ते भूयः = पुनः, प्रियम् = अभीष्टं, सम्पादयामि । यत्किमपि मया कृतं ततः परमपि यथाभिलषितं विज्ञापय, तस्यापि पूर्त्याऽऽत्मानमहं कृतार्थं कुर्यामिति भावः ।

श्रीरामचन्द्रः प्रत्यवदत्—अतः परमिति । अतोऽधिकं किं प्रियं स्याद्, यत् साम्प्रतं प्रार्थ्यताम् । आर्या लब्धा, पुत्रौ प्राप्तौ, लवणासुरं हत्वाऽनुजः शत्रुघ्नोऽपि समागतः,

---

सर्गात्सुनोति' (८।३।६५) से धातु के सकार को षत्व, 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' से जकार को कुत्व (गकार) । अभ्युदयः—अभि + उद् + √इ + अच् ।

उच्यताम्—√वच् + कर्मणि लोट्, यक्, 'वचिस्वपियजादीनां किति' सूत्र से सम्प्रसारण (व् को उ) ।

वाल्मीकि—रामभद्र ! कहिये तुम्हारा और कौन-सा अभीष्ट पूर्ण करूँ ?

राम—क्या इससे भी बढ़कर कुछ प्रिय हो सकता है ? तथापि यह (भरतवाक्य) हो ।

जगत की माता की तरह और गङ्गा की तरह मङ्गलकारिणी तथा मनोहर यह (रामायण रूप) कथा (लोक को) पापों से पवित्र करती है और कल्याणों को बढ़ाती है । वही शब्द-

---

ग्रन्थ के आदि में, मध्य में और अन्त में मङ्गल करना चाहिए; ऐसा शिष्टाचार है । इस नाटक में 'इदं कविभ्यः' इत्यादि श्लोक से आदि में और 'अवनिरमरसिन्धुः' इत्यादि श्लोक से मध्य में तथा इस प्रस्तुत श्लोक से ग्रन्थ के अन्त में मङ्गल किया गया है । नाटक के अन्तिम ऐसे मङ्गल श्लोक को 'भरतवाक्य' कहते हैं ।

रूपकों में निर्वहणसन्धि के चौदह अङ्ग होते हैं । उनमें 'काव्यसंहार' और 'प्रशस्ति' ये दो अन्तिम अंग हैं । रूपक के अन्त में 'किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि' आदि जैसे वाक्यों से 'काव्य-संहार' की योजना की जाती है और उसके बाद ही 'भरतवाक्य' के द्वारा 'प्रशस्ति' की योजना की जाती है । प्रशस्ति का अर्थ है—शुभशंसना । 'नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते (साहित्य-दर्पण, ६।११४) । अतः 'भरतवाक्य' शुभशंसनात्मक होता है ।

अभिनय समाप्त होने पर यह प्रशस्ति भरत (नट) के द्वारा प्रस्तुत की जाती है । वह उस समय पात्र के रूप में नहीं होता है, अतः इसे 'भरतवाक्य' कहते हैं ।

कुछ विद्वानों का मत है कि नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए इस शुभशंसनात्मक श्लोक को 'भरतवाक्य' कहते हैं ।

तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम् ॥ २० ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति महाकवि-भवभूतिविरचित उत्तररामचरिते
'सम्मेलनम्' नाम सप्तमोऽङ्कः ।

नाटकमिदं समाप्तम् ।

इति सर्वाण्यभीप्सितानि पूर्णानि, अधुना न किञ्चिदवशिष्यते । तथापीदं भरतवाक्यं भवतु, इत्येवमाशीर्दीयतां भगवतेति भावः ।

अन्वयः—जगतः माता इव, गङ्गा इव च मङ्गल्या मनोहरा च सा इयं कथा पाप्मभ्यः पुनाति, श्रेयांसि वर्द्धयति च । बुधाः अभिनयैः विन्यस्तरूपां शब्दब्रह्मविदः प्राज्ञस्य कवेः परिणताम् इमां तामेतां वाणीं परिभावयन्तु ॥ २० ॥

किं तद्वाक्यमित्याह—पाप्मभ्य इति । सा = प्रसिद्धा । कथा = रामायणात्मक-प्रबन्धकल्पना । पाप्मभ्यः = पापेभ्यः । ('अस्त्री पङ्कं पुमान् पाप्मा पापं किल्बिष-कल्मषम्' इत्यमरः ।) पुनाति = पवित्रयति । श्रेयांसि = कल्याणानि । बुधाः = पण्डिताः । अभिनयैः = चतुर्विधैरवस्थानुकारैः । विन्यस्तरूपाम्—विन्यस्तम् = दर्शितम्, रूपम् = स्वरूपं, यस्याः तथाविधाम् । शब्दब्रह्मविदः = शब्दरूपं ब्रह्म वेत्ति तस्य, प्राज्ञस्य = विपश्चितः, कवेः = भवभूतेरित्यर्थः । परिणताम् = नाटकरूपेण रूपान्तर-प्राप्ताम् । वाणीम् = वाचम्, उत्तररामचरितरूपामिति भावः । परिभावयन्तु = विचारयन्तु ।

पाप्मभ्यः—पाप्मन् (पुंलिङ्ग) के पञ्चमी बहुवचन का रूप—√पा (रक्षणे) + मानिन्, पुक् का आगम । मङ्गल्या—मङ्गलाय हिता, मङ्गल + यत् + टाप् ।

ब्रह्मवेत्ता विद्वान् कवि (भवभूति) के द्वारा रूपान्तर को प्राप्त हुई, अभिनयों ने विन्यस्त (प्रदर्शित) स्वरूप वाली इस (उत्तररामचरित रूप) वाणी का विद्वान् लोग परिशीलन करें ॥ २० ॥

(सभी चले गये)

महाकवि-भवभूति विरचित उत्तररामचरित में सम्मेलन
नामक सप्तम अंक समाप्त ।

पाप्मभ्यः पुनाति—वीरराघव ने 'पुनाति' का अर्थ 'विभाजयति' किया है । 'पाप्मभ्यः दुरितेभ्यः जगत्पुनाति विभाजयति । जगत इति षष्ठ्यन्तं विपरिणम्य योजनीयम् । पूञ् धातुः यद्यपि दुरितविभजनात्मकदोषनिर्हरणवाची तथापि पाप्मभ्यः पुनातीति 'स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः' इतिवद् व्याख्येयम् ।

अयम्भावः—जगज्जननीव गङ्गेव चैपा मङ्गलकारिणी मनोहरा रामायणस्वरूपा कथा लोकं पापेभ्यः पवित्रीकरोति, कल्याणं च वर्द्धयति। सैव शब्दब्रह्मविदा प्राज्ञेन भवभूतिना कविना रूपान्तरं प्रापिता, तस्याः स्वरूपं च चतुर्विधैरवस्थानुकारैः प्रदर्शितम्। ईदृशीं तामेतामुत्तररामचरितस्वरूपां वाणीं सहृदयजना विद्वांसो गुणदोष-विवेचनेन परिशीलयन्तु। अत्र पूर्णोपमाऽलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ २०॥

इति = समाप्त्यर्थबोधकमव्ययम्। सम्मेलनं नाम = सम्मेलननाम्ना प्रसिद्धः। सम्मेलनम् = रामसीताकुशलवशत्रुघ्नानां परस्परसमागमः।

परिभावयन्तु—परि + √भू (अवकल्कने = चिन्तने) णिच् (स्वार्थे) + लोट्। विन्यस्तः—वि + नि + √अस् (क्षेपणे) + क्त (कर्मणि)। बुधाः—√बुध् + क (= अ) 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः'। शब्दब्रह्मविदः—√विद् + क्विप्। परिणताम्—परि + √नम् + क्त + टाप्, 'अनुदात्तोपदेश' (६।४।३७) से धातु के अनुनासिक मकार का लोप। प्राज्ञस्य—प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः—प्र + √ज्ञा + क ('आतश्चोपसर्गे' सूत्र से), प्रज्ञ एव प्राज्ञः (स्वार्थे अण्)। सम्मेलनम्—सम् + √मिल् (सङ्गमे) + ल्युट्।

वर्धयति च श्रेयांसि—ऊपर विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा 'जगतः' को द्वितीयान्त मानकर 'पुनाति' क्रिया का कर्म माना था। यहाँ षष्ठ्यन्त है—'जगतः श्रेयांसि पुत्रमित्रादीनि वर्धयति मोक्षपर्यन्तानि उत्तरोत्तरमधिकानि करोति'।

जगतां मातेव गङ्गा च—वीरराघव ने 'जगतः' को 'मातेव' के साथ नहीं जोड़ा है। 'मातेव गङ्गेव माङ्गल्या मनोहरा च। माता हि दुःखविस्मारिणी सुखदा च भवति। गङ्गा च पापनाशनी मोक्षदा च भवति। तद्वद्रामायणमपीति भावः।'

अभिनयैर्विन्यस्तरूपाम्—'अभिनयाः सात्त्विकाङ्गिकाहार्यवाचिकभेदेन चतुर्विधाः। अभिनयैरितीत्थं भूतलक्षणे तृतीया। अभिनयविशिष्टो यो विन्यासः रचनावैशिष्ट्यं च प्रतिपादकत्वरूपं विन्यस्तं विन्यासेन निष्पन्नं रूपं यस्यास्तथोक्ताम्'। (वीरराघव) अर्थात् अभिनय किये जाने योग्य रूप वाली।

शब्दब्रह्मविदः—इसे प्रथमाबहुवचनान्त मानकर 'बुधाः' के साथ भी लगाया जा सकता है। वीरराघव ने ऐसा ही किया है।

सम्मेलनं नाम सप्तमोऽङ्कः—कवि ने सातवें अङ्क का नाम 'सम्मेलन' रखा है। ऐसे नामकरण के अनेक कारणों की उद्भावना विद्वानों द्वारा की गयी है। जैसे—

१. बारह वर्ष तक वियोगानल से जलते रहे दो हृदयों का सम्मेलन।

२. इसके अतिरिक्त कुश-लव, कौसल्यादि रानियाँ, वसिष्ठ, अरुन्धती, ऋष्यशृङ्ग, शान्ता, शत्रुघ्न, राजर्षि जनक आदि का समागम।

३. बिखरे हुए कथासूत्रों का इस अङ्क में सम्मेलन।

४. रामायण के कथा भाग तथा कवि की कल्पना का सम्मेलन।

५. हर्ष, औत्सुक्यादि अनेक भावों का सुखद सम्मेलन।

फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि इस सम्मेलन में भरत जैसे व्यक्तित्व की अनुपस्थिति अखरने वाली बात है।

परिशिष्ट (क)

उत्तररामचरित में छन्दों की सूची

संस्कृत-काव्यरचना प्रायः पद्य (छन्द) में होती है। उसमें चार पाद या चरण होते हैं। जिन छन्दों का निर्धारण उनके प्रत्येक चरण की मात्राओं की गिनती के अनुसार होता है, उन्हें 'जाति' कहते हैं, जैसे—'आर्या' आदि। जिन छन्दों का निर्धारण उनके प्रत्येक चरण के अक्षरों की गिनती और स्थिति के अनुसार किया जाता है, उन्हें 'वृत्त' कहते हैं, जैसे—'इन्द्रवज्रा' आदि।

'वृत्त' तीन प्रकार के होते हैं—(१) समवृत्त—जिनके चारो चरण समान होते हैं। (२) अर्धसमवृत्त—जिनमें प्रथम और तृतीय चरण एवं द्वितीय और चतुर्थ चरण में समानता होती है। (३) विषमवृत्त—जिनके चारो चरण असमान होते हैं।

छन्दःशास्त्र में एक स्वर चाहे एक या एक से अधिक व्यंजन से युक्त हो अथवा वह अकेला ही हो, एक अक्षर (वर्ण) कहलाता है। जैसे—'मा' एक अक्षर है, 'क्ष्मा' भी एक अक्षर है और 'आ' भी एक अक्षर है, जब कि व्याकरण के अनुसार 'मा' में (म् + आ) दो अक्षर हैं, 'क्ष्मा' में (क् + ष् + म् + आ) चार अक्षर हैं।

अक्षर (वर्ण) लघु भी होता है और गुरु भी, जैसा उसका स्वर ह्रस्व या दीर्घ हो। अ इ उ ऋ और ऌ स्वर लघु हैं एवं आ ई ऊ ॠ ए ऐ ओ तथा औ दीर्घ हैं। किन्तु छन्दःशास्त्र में अनुस्वार सहित वर्ण (जैसे 'कं'), विसर्ग सहित वर्ण (जैसे 'कः') भी दीर्घ माना जाता है। इसी प्रकार चरण के अन्त में स्थित लघुवर्ण भी विकल्प से दीर्घ माना जाता है जैसे कि संयुक्त वर्ण के पूर्वस्थित लघु को भी दीर्घ मानते हैं, जैसे—'भक्त' में 'क्त' संयुक्त वर्ण के पूर्वस्थित 'भ' को गुरु मानेंगे—

'संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरुः पादान्तस्थं विकल्पेन॥

लघु के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है (एकमात्रो भवेद्ध्रस्वः) और दीर्घ में दो मात्रा का (द्विमात्रो दीर्घ उच्यते)। लघु को (।) चिह्न से प्रकट करते हैं और गुरु को (ऽ) चिह्न से। ल = लघु, ग = गुरु अक्षरों की गिनती तीन-तीन अक्षरों का एक-एक गण बनाकर की जाती है। ये गण आठ हैं—'यमाताराजभानसलगा.' सूत्र से इस प्रकार समझिए—

(१) यगण—(।ऽऽ)। (२) मगण—(ऽऽऽ)। तगण—(ऽऽ।)। रगण—(ऽ।ऽ) भगण—(ऽ।।)। नगण—(।।।)। सगण—(।।ऽ) अर्थात् यगण का स्वरूप जानने के लिए पढ़िए—य माता—(।ऽऽ) इसी प्रकार नगण का स्वरूप—मातारा—(ऽऽऽ) से जानिए इत्यादि। प्रत्येक गण का आदि अक्षर संक्षेप में उस

गण के लिए लिखा जाता है, जैसे 'नगण' के लिए 'म' इसी प्रकार अन्य गणों के विषय में भी समझिए।

उत्तररामचरित में जाति (मात्रिक) छन्द

आर्या— 'यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तृतीयेऽपि।
अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥'

(प्रथम चरण में १२ मात्राएँ, तृतीय में १२ मात्राएँ, द्वितीय में १८ मात्राएँ, और चतुर्थ चरण में १५ मात्राएँ)।

अंक ३—४१। अंक ६—१३ (२ पद्य)।

वृत्त (वर्णिक) छन्द

१. अनुष्टुप्—'श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघुपञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं, सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥'

(अनुष्टुप् का दूसरा नाम श्लोक है। इसके प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं। मात्राएँ सबकी भिन्न-भिन्न होती हैं। प्रत्येक चरण का पाँचवाँ वर्ण लघु और छठा दीर्घ तथा प्रथम और तृतीय चरण का सातवाँ वर्ण दीर्घ, किन्तु द्वितीय और चतुर्थ का सातवाँ वर्ण ह्रस्व होता है।

अंक १—१, २, ३, ४, ५, ६, ८, १०, १२, १३, १६, १७, १९, २१, २२, ३२, ४१, ४३, ४६, ४७, ४८, ५०, ५१। अंक २—५, ७, ८, १२, १५, १७, १८, १९, २४। अंक ३—१, ३, ७, ९, १०, १४, १७, २९, ३३, ३४, ४६। अंक ४—२, ७, ९, २४, २७, २८। अंक ५—७, १५, १७, २०, २१, २२, २३, २५, २७, ३०, ३२। अंक ६—२, ३, ५, ६, १०, २०, २१, २३, २९, ३१, ३२, ३४, ४६, ४२। अंक ७—१, २, ३, ५, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १७, १८, १९। (इस संस्करण के अनुसार ९० पद्य। यहाँ यह अवधेय है कि पाँचवें अंक का २७वाँ 'अजितं पुण्यमूर्जस्वि'—इत्यादि श्लोक (अनुष्टुप्) कुछ संस्करणों में नहीं मिलता है, किन्तु यहाँ स्वीकार किया गया है। वैसे कुछ संस्करणों में 'वसिष्ठ एव'—इत्यादि सातवें अंक की संख्या १४ पर श्लोक (अनुष्टुप्) मिलता है, जो यहाँ स्वीकार नहीं किया गया है।

२. इन्द्रवज्रा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।' (त, त, ज, ज, ग, ५ और ६ पर यति अर्थात् विराम)।

अंक १—११, ४४। अंक २—३। अंक ४—८। अंक ७—४, १६। (६ पद्य)।

३. उपजाति—इन्द्रवज्रा (प्रत्येक चरण में ११ वर्ण) + उपेन्द्रवज्रा (प्रत्येक चरण में ११ वर्ण) = उपजाति। 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' (त, त, ज, ग, ग=११ वर्ण) तथा 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' (ज, त, ज, ग, ग=११ वर्ण) इन दोनों का मिश्रण 'उपजाति' कहलाता है, अर्थात् 'उपजाति' के प्रत्येक चरण में ११ वर्ण और ५, ६ पर यति। किन्तु चारो चरणों में कुछ चरण इन्द्रवज्रा के अनुसार

होते हैं और कुछ उपेन्द्रवज्रा के अनुसार। इस नाटक में इसी प्रकार का 'उपजाति' वृत्त प्रयुक्त है। यद्यपि समानवर्ण वाले किसी भी दो वृत्तों के मिश्रण से बना हुआ वृत्त उपजाति कहलाता है। जैसा कि माघ कवि ने 'शिशुपालवध' १२।१ में 'वंशस्थ' (प्रत्येक चरण में १२ वर्ण) और 'इन्द्रवंशा' (प्रत्येक चरण में १२ वर्ण) दो भिन्न वृत्तों के मिश्रण का 'उपजाति' वृत्त प्रयुक्त किया है।

अंक १—१५। अंक २—६। अंक ३—३५, ४२। अंक ४—१६। अंक ६—१५, २७। (७ पद्य)।

४. **द्रुतविलम्बित**—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।' (न, भ, भ, र। ४, ८ पर या ४, ४, ४ पर यति)।

अंक ३—२७। अंक ४—१५। (२ पद्य)।

५. **पुष्पिताग्रा**—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो, युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।' (अर्थात् यह अर्धसमवृत्त है। इसके प्रथम और तृतीय चरण में न, न, र, य तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में न, ज, ज, र, ग)।

अंक ३—१८, २०। अंक ४—४। अंक ५—४। अंक ६—८ (५ पद्य)।

६. **पृथ्वी**—'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।' (ज, स, ज, स, य, ल, ग। ८ और ९ पर यति)।

अंक ५—५। अंक ६—१, ३७ (३ पद्य)।

७. **प्रहर्षिणी**—'त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्।' (म, न, ज, र, ग। ३,१० पर यति)।

अंक १—३०, ३१, ४०, ४९। अंक ३—३९। अंक ५—१, १८। (७ पद्य)।

८. **मञ्जुभाषिणी**—'सजसा जगौ च यदि मंजुभाषिणी।' (स, ज, स, ज, ग। ६, ७ पर यति)। यह अवधेय है कि इसी वृत्त को 'सुनन्दिनी' और 'प्रबोधिता' भी कहते हैं।

अंक १—१८। अंक ३—४। अंक ६—४, १७, ४१। (५ पद्य)।

९. **मन्दाक्रान्ता**—'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्। (म, भ, न, त, त, ग, ग। ४, ६, ७ पर यति)।

अंक १—३३। अंक २—१३, १४, २५। अंक ३—६, १५, ३६, ३८। अंक ४—२६। अंक ५—१२। अंक ६—९, २२। अंक ७—६। (१३ पद्य)।

१०. **मालभारिणी (औपच्छन्दसिक)**—विषमे ससजा गुरू समे चेत् सभरा येन तु मालभारिणीयम्।' (प्रथम और तृतीय चरण में स, स, ज और दो गुरु (११ वर्ण) तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में स, भ, र, य (१२ वर्ण)।

अंक ५—८। (केवल १ पद्य)।

११. **मालिनी**—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः। (न, न, म, य, य। ८, ७ पर यति।)

अंक १--२४, २६, २७। अंक २--२०, २१। अंक ३—५, १९, २३, २५, ४८। अंक ५--२, ३, १३। अंक ६--१२, २४, २६। (१६ पद्य)।

१२. **रथोद्धता**--'रात् परैर्नरलगौ रथोद्धता।' (र, न, र, ल, ग। ३, ८ या ४, ७ पर यति)।

अंक १—३४, ३७, ४५। (३ पद्य)।

१३. **वंशस्थ**--'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।' (ज, त, ज, र। ५, ७ पर यति)। यह ज्ञातव्य है कि इस वृत्त को 'वंशस्थविल' और 'वंशस्तनित' भी कहते हैं।

अंक ६--२५। (केवल १ पद्य)।

१४. **वसन्ततिलका**--'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।' (त, भ, ज, ज, ग, ग = १४ वर्ण, ८, ६ पर यति)। यह ज्ञातव्य है कि इसी को 'वसन्ततिलक', 'उद्धर्षिणी' या 'सिंहोन्नता' भी कहते हैं।

अङ्क १—७, ९, १४, २५, ३६। अंक २—१०, ११, २२, २३। अंक ३—८, ११, १२, २१, २६, २८, ४७। अंक ४—६, २३, २९। अंक ५—१०, ११ २४, ३४। अंक ६--७, १६, १९। (२६ पद्य)।

१५. **शार्दूलविक्रीडित**--'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्। (म, स, ज, स, त, त, ग। १२, ७ पर यति)।

अङ्क १—३९। अंक २—९, १६, २८, २९, ३०। अंक ३—१६, ३७, ४३, ४५। अंक ४—१, ५, १७, २०, २२, २५। अंक ५—६, १४, १९, २८, ३५, ३६। अंक ६--१८, ४०। अंक ७--२०। (२५ पद्य)।

१६. **शालिनी**--'मा त्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकैः।' (म, त, त, ग, ग। ४,७ पर यति)।

अंक १--४२। अंक ३--२। अंक ४--१८। अंक ५—३१, ३३। (५ पद्य)

१७. **शिखरिणी**--'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।' (य, म, न, स, भ, ल, ग। ६, ११ पर यति)।

अंक १—२८, २९, ३५, ३८। अंक २—१, २, २६, २७। अंक ३—१३, ३०, ४०, ४४। अंक ४—३, १०, ११, १२, १३, १४, २१। अंक ५—९, १६, २६। अंक ६—११, १४, २८, ३०, ३३, ३५, ३८, ३९। (३० पद्य)।

१८. **हरिणी**--'नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता।' (न, स, म, र, स, ल, ग। ६, ४, ७ पर यति)।

अंक १—२०, २३। अंक २—४। अंक ३—२२, २४, ३१, ३२। अंक ४—१९। अंक ५—२९। (९ पद्य)।

इस प्रकार इस संस्करण में कुल पद्य संख्या २५६ है।

परिशिष्ट (ख)

उत्तररामचरित में प्रयुक्त प्रमुख अलङ्कारों का लक्षणसहित निर्देश

शब्दालङ्कार

१. **पुनरुक्तवदाभास**––'आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्तेन भासनम् । पुनरुक्तवदाभास स भिन्नाकारशब्दगः ॥'

अंक १—९ ।

२. **छेकानुप्रास**––'छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ।'

अंक ५—२, ११, ३४ ।

३. **वृत्त्यनुप्रास**––'अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा । एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥'

अंक ५—२ । अंक ६—१ ।

४. **यमक**––'सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः । क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥'

अंक ५—१ ।

अर्थालङ्कार

५. **उपमा**––'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ।'

अंक १—५, ९, २०, २४, २९, ३०, ३६, ४०, ४५, ४७, ४९ । अंक २—४, २४, २८ । अंक ३—१, ५, ७, ९, १५, १६, १८, १९, २०, २२, २५, २७, २८, ३०, ३२, ३५, ३६, ३७, ४०, ४१, ४२, ४३, ४७ । अंक ४—२, ३, ४, ५, ६, ७, १०, १२, १५, १६, १७, १९, २१, १६, २९ । अंक ५—२, ३, ४, ५, ८, ९, १४, १८, २६, २७ । अंक ६—१, २, ३, ४, ६, ८, ११, १३, १७, १९, २१, २४, २५, २६, २७, ३० । अंक ७—२० ।

६. **स्मरण**––'सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ।'

अंक ५—४ । अंक ६—२६ ।

७. **रूपक**––'रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे ।'

अंक १—१५, ३०, ३६, ३८, ५१ । अंक २—२९ । अंक ३—२६, ३५ । अंक ४—६, ७, १३, २४, २७, २९ । अंक ५—१७, २८, ३०, ३४ । अंक ६—१५, १६, १८, २२, ३७, ३८, ४२ ।

८. **परिणाम**––'विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि । परिणामो भवेत्तुल्याधिकरणो द्विधा ॥'

अंक १—३७ । अंक ३—१७ । अंक ५—१० । अंक ६—३० ।

९. सन्देह—'सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः। शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ-निश्चयान्त इति त्रिधा ॥'

अंक ३—११, २२। अंक ५—१६। अंक ६—३।

१०. अपह्नुति—'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्य स्थापनं स्यादपह्नुतिः'।

अंक ३—३४।

११. उत्प्रेक्षा—'भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।'

अंक १—२, १८, ३३, ३४, ४८। अंक २—६, ९, १७, २६, २७। अंक ३—४, १३, १४, २३, २५, ३३, ३७, ३८, ३९, ४६, ४७। अंक ४—३, ६, ८, १९। अंक ५—६, १३। अंक ६—९, १०, १४, १९, २२, २६, ३६, ३७, ३८। अंक ४—१६।

१२. अतिशयोक्ति—'सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।'

अंक १—२८, ३८। अंक २—१३। अंक ३—२३, २६। अंक ४—१३, २२। अंक ५—७, ६। अंक ७—८।

१३. तुल्ययोगिता—'पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्। एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥'

अंक १—१६, ४१। अंक २—२३। अंक ३—४८। अंक ४—१६, २०, २२, २३। अंक ५—२३। अंक ६—२८। अंक ७—५।

१४. दीपक—'अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते। अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ॥'

अंक १—२६। अंक २—१७। अंक ४—५, २६। अंक ५—३१।

१५. दृष्टान्त—'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।'

अंक १—१३, १४। अंक २—४। अंक ३—२९। अंक ५—२०।

१६. निदर्शना—'सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित्। यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना।'

अंक १—२२, ३४, ४६। अंक ५—११, २८, ३१, ३६। अंक ६—२७, २९।

१७. व्यतिरेक—'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा। व्यतिरेकः···· ॥'

अंक १—१०, ३४। अंक ३—४४।

१८. समासोक्ति—'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥'

अंक ३—२३।

१९. परिकर—'उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः।'

अंक ४—२७।

२०. अप्रस्तुतप्रशंसा—'क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः। कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम् ॥ 'अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः। अप्रस्तुत प्रशंसा स्याद्···· ।'

अंक १—३९, ४१। अंक २—२, ७, १९। अंक ६—५।

२१. **पर्यायोक्ति**—(या पर्यायोक्त)—'पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ।'
अंक ४—२२ । अंक ६—४१ ।

२२. **अर्थान्तरन्यास**—'सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि । कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥ साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।'

अंक १—८, ४१ । अंक २—१, ११, १९ । अंक ४—११, १२, १८ । अंक ५—१७, १९ । अंक ६—५, ११, १२, १४, ३० । अंक ७—४ ।

२३. **काव्यलिङ्ग**—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ।'

अंक १—५, ८, १७, ३०, ३३, ३५, ३९, ४४, ४६ । अंक २—१०, १३, २७, २८ । अंक ३—३, १०, २०, २४, ४१, ४४ । अंक ४—१३, २४, २५ । अंक ५—१, ७, १६, १८, २४, ३३, ३५ । अंक ६—२०, ३९, ४२ ।

२४. **अनुमान**—'अनुमानं तु विच्छित्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ।'
अंक १—२९ । अंक २—२७ । अंक ४—२० । अंक ५—१३, ३६ ।

२५. **हेतु**—'अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह ।'
अंक ४—१३ ।

२६. **आक्षेप**—'वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये । निषेधाभास आक्षेपः…' ॥
अंक १—४७ । अंक ३—२६ । अंक ४—६ । अंक ५—३५ ।

२७. **विभावना**—'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।'
अंक १—६, २२, ३० । अंक ३—२२ । अंक ६—३७ ।

२८. **विशेषोक्ति**—'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः…. ।'
अंक १—६ । अंक ३—२२, ३१, ३२ । अंक ६—३३ ।

२९. **विरोधाभास**—'जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः । क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ॥ विरुद्धमेव भासेत, विरोधोऽसौ दशाकृतिः ।
अंक १—३५, ४३ । अंक ३—१२, ३९ । अंक ६—३५ । अंक ७—१ ।

३०. **असङ्गति**—'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः ।'
अंक ४—१४ । अंक ७—७ ।

३१. **विषम**—'गुणौ क्रिये वा चेत् स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः । यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ॥ विरूपयोः सङ्घटनाया च त द्विषमं मतम् ।'
अंक १—४२ । अंक २—७, ११, १३ । अंक ३—२७ । अंक ४—१५ । अंक ५—१२, २६ । अंक ६—३० ।

३२. **कारणमाला**—'परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता । तदा कारणमाला स्यात्…॥'
अंक १—२४ ।

३३. **यथासङ्ख्य**—'यथासङ्ख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् ।'
अंक ३—२१, ४२ ।

३४. **पर्याय**--'क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात् । भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ॥'

अंक ४—१५ । अंक ५—१५ । अंक ६—३५ ।

३५. **परिसङ्ख्या**--'प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् । तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥'

अंक ४—२१ । अंक ५—३३ । अंक ६—३२ ।

३६. **अर्थापत्ति**---'दण्डापूपिकया न्यायार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ।'

अंक १—१७ । अंक ३—८ । अंक ४—२८ । अंक ५—२९ । अंक ६—४० । अंक ७—४ ।

३७. **समुच्चय**--'समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके । खले कपोतिकान्यायात् तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥ गुणौ क्रिये वा युगपत् स्यातां यद्वा गुणक्रिये ॥'

अंक १--९, १९, २०, ४४ । अंक २--१२ । अंक ३--३०, ४५ । अंक ४—१२, २१ । अंक ६—११, २० । अंक ७—६, ७ ।

३८. **सामान्य**---'सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ।'

अंक १--३१ ।

३९. **तद्गुण**--'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।'

अंक २—३० ।

४०. **स्वभावोक्ति**--'स्वभावोक्तिदुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ।'

अंक १—२० । अंक २--१४, १६, २०, २१, २९ । अंक ३—१६ । अंक ४—१, ४, २६ ।

४१. **भाविक**---'अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः । यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥'

अंक ११—५, १८ । अंक २—६, १७ । अंक ६—१५ ।

४२. **उदात्त**--'लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते । यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥'

अंक १—१५, १७, २३, ३२ । अंक ६--१५ ।

४३. **रसवत्**--'रसस्याङ्गत्वेनावस्थाने रसवत् ।'

अंक ५--२५ । अंक ७—१२ ।

४४. **उल्लेख**--'क्वचिद्भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित् । एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख इष्यते ।'

अंक १—३८ ।

परिशिष्ट (ग)

नाटकीय विषय

नाटकम्—

'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
विलासर्द्ध्यादिगुणवद् युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूति नानारससमन्वितम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥'

(साहित्यदर्पण, ६।७–११)

अङ्कस्वरूपं तन्महत्त्वञ्च—

'प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः ।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥
विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किञ्चित्संलग्नबिन्दुकः ।
युक्तो न बहुभिः कार्यैर्बीजसंहृतिमान्न च ॥
नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान् ।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ॥
नानेकदिननिर्वर्त्यकथया सम्प्रयोजितः ।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥
....नातिविस्तरः ।
देवीपरिजनादीनाममात्यवणिजामपि
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ॥
अन्तर्निष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः ॥'

(साहित्यदर्पण, ६।१२-१५, १८-१९)

गर्भाङ्कः (गर्भनाटकं वा)

'अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान् ।
अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि ॥'

(साहित्यदर्पण, ६।२०)

पूर्वरङ्गः नान्दीगायनम्--

'यन्नाटयवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।
तत्राऽप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥'

(साहित्यदर्पण, ६।२२-२३)

नान्दी स्वरूपम्--

'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
माङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥'

(साहित्यदर्पण, ६।२४-२५)

प्ररोचना--

'······उन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ।' (साहित्यदर्पण, ६।३०)

आमुखम् (प्रस्तावना वा)--

'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥'

(साहित्यदर्पण, ६।३१-३२)

पताकास्थानकम्--

'यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥'

(सा० द०, ६।४५)

विष्कम्भकः--

'वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
सङ्क्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥'

(सा० द०, ६।५५-५६)

प्रवेशकः--

'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥'

(सा० द० ६।५७)

चूलिका—

'अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ।' (सा० द०, ६।५८)

धीरोदात्तोनायकः—

'अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ।। (सा० द०, ३।३२)

नाट्योक्तयः

स्वागतम् (आत्मगतं वा)—'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम् ।'

प्रकाशम्—'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात् ।'

अपवारितम्—'तद्भवेदपवारितम् । रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाशते ।।'

जनान्तिकम्—'त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तराकथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात् तज्जनान्ते जनान्तिकम् ।।'

आकाशभाषितम्—'किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेनानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ।।'

सूत्रधारः—'सूत्रमभिनेयसूचनं धारयतीति सूत्रधारः ।
वर्णनीयं कथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते ।
रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ।।'

भरतमुनिमतेन—

'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ।।'

नेपथ्यम्— 'कुशीलवकुटुम्बस्य स्थलं नेपथ्यमुच्यते ।'
कुशीलवाः नटाः, तेषां कुटुम्बस्य वृन्दस्य, स्थलं वेशपरिग्रहस्थानं नेपथ्यम् ।

कञ्चुकी—'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ।।'

रीतितत्त्व

वैदर्भीरीतिः—

'माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचनाललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते ।।' (सा० द०, ९।२)

गौडीरीतिः—

'ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ।
समासबहुला गौडी···· ···· ···· ···· ···· ।।' (सा० द०, ९।३)

माधुर्यगुणः—

'चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।' (सा० द०, ८।२)

माधुर्याभिव्यञ्जनसाधनानि—

'मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना ।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ।' (सा० द०, ८।३)

अवृत्तिः = समासरहिता । अल्पवृत्तिः = अल्पसमासवती रचना ।

ओजोगुणः—

'ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।' (सा० द०, ८।४)

ओजसोऽभिव्यञ्जनसाधनानि—

'वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ।
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह ॥
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गता ।
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी ॥' (सा० द०, ८।५-६)

परिशिष्ट (घ)

नाटकगत शाश्वत सत्यपरक वाक्य एवं सुभाषित

प्रथम अङ्क

१. सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता। यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥ (५)

२. सङ्कटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता।

३. सन्तापकारिणो बन्धुजनविप्रयोगा भवन्ति।

४. एते हि हृदयमर्मच्छिदः संसारभावा येभ्यो बीभत्समानाः सन्त्यज्य सर्वान् कामान् अरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः।

५. लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते। ऋषीणा पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥ (१०)

६. तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः।

७. नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि।

८. ते हि नो दिवसा गताः।

९. अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

१०. दुर्जनोऽसुखमुत्पादयति।

११. अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥ ३९ ॥

१२. सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं व्रतम्।

द्वितीय अङ्क

१. प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥ (२) ॥

२. वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति च तयोर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदां चयः ॥ (४) ॥

३. सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति।

४. न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ १९ ॥
५. घनीभूतः शोको विकलयति मां मूर्च्छयति च ।
६. अहो ! अनवस्थितो भूतसन्निवेशः ।
७. वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥ (२७)

तृतीय अङ्क

१. पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ।
२. प्रसवः खलु प्रकृष्टपर्यन्तः स्नेहस्य ।
३. अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते ॥ (१७) ॥
४. कर्तव्यानि खलु दुःखितैर्दुःखनिर्वापणानि ।
५. पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥ (२९) ॥
६. प्रियाशोको जीवं कुसुममिव घर्मो ग्लपयति ।
७. ननु लाभो हि रुदितम् ।
८. कियच्चिरं वा मेघान्तरेण पूर्णिमाचन्द्रस्य दर्शनम् ।
९. एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥ (४७) ॥

चतुर्थ अङ्क

१. अन्धतामिस्रा ह्यसूर्या नाम ते लोकास्तेभ्यः प्रतिविधीयन्ते य आत्मघातिनः ।
२. सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां दुःखानि सद्बन्धुवियोगजानि ।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि स्रोतःसहस्रैरिव सम्प्लवन्ते ॥ (८) ॥
३. गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।
४. पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति ।
५. बाष्पविश्रामोऽप्यन्तरे कर्त्तव्य एव ।
६. आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां ये व्याहारास्तेषु संशयो मा भूत् ।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीनिर्षक्ता नैते वाचं विप्लुतार्था वदन्ति ॥ (१८) ॥
७. सुलभसौख्यं तावत् बालत्वं भवति ।

पञ्चम अङ्क

१. तेजस्तेजसि शाम्यतु ।
२. वीराणां समयो हि दारुणरसः स्नेहक्रमं बाधते ।

३. लतायां पूर्वलूनायां प्रसवस्योद्भवः कुतः ?
४. न रथिनः पादचारमभियुञ्जन्ति ।
५. कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति ।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः ॥ (३१) ॥
६. सिद्धं ह्येतद्वाचि वीर्यं द्विजानां बाह्वोर्वीर्यं यत्तु तत् क्षत्रियाणाम् ।
७. वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः ।

षष्ठ अङ्क

१. सर्वमतिमात्रं दोषाय ।
२. महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ।
३. स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्षश्च इति विप्रतिषिद्धमेतत् ।
४. व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥ (१२) ॥
५. न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते
स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः ।
मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति ॥ (१४) ॥
६. प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं भवति ।
७. हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम् ।
८. जगज्जीर्णारण्यं भवति च विकल्पव्युपरमे ।

सप्तम अङ्क

१. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः ।
२. जितमपत्यस्नेहेन ।
३. सर्वसाधारणो ह्येष मनसो मोहग्रन्थिरन्तश्चरश्चेतनावतामनुपप्लवः संसार-तन्तुः ।
४. को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तोर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ।
५. अव्याहतान्तःप्रकाशा हि देवताः सत्त्वेषु ।
६. सानुषङ्गाणि कल्याणानि ।

परिशिष्ट (ङ)

भवभूति-विषयक प्रशस्तियाँ

१. 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ।' (विक्रमार्क, घनश्याम द्वारा उद्धृत)

२. 'भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये कथमन्यथा रोदिति ग्रावा ॥'
(गोवधर्नाचार्य, आर्यासप्तशती, १।३६)

३. 'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते ।' (अज्ञात)

४. 'भवभूइजलहिनिग्गयकव्वामयरसकणा इव फुरन्ति ।
जस्स विसेसा अज्ज वि वियडेस्सु कहाणिवेसेसु ॥'
[भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्याऽमृतरसकणा इव स्फुरन्ति ।
यस्य विशेषा अद्याऽपि विकटेषु कथानिवेशेषु ॥]
(वाक्पतिराज, गउडवहो, ७९९)

५. 'रत्नावलीपूर्वकमन्यदास्तामसीमभोगस्य वचोमयस्य ।
पयोधरस्येव हिमाद्रिजायाः परं विभूषा भवभूतिरेव' ॥
(जल्हण कृत 'सूक्तिमुक्तावली' में उद्धृत)

६. 'स्पष्टभावरसा चित्रैः पदन्यासैः प्रवर्त्तिता ।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ॥' (धनपाल, तिलकमञ्जरी)

७. 'भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी ।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति ॥' (क्षेमेन्द्र, सुवृत्ततिलक, ३।३३)

८. मान्यो जगत्यां भवभूतिरार्यः सारस्वते वर्त्मनि सार्थवाहः ।
वाचं पताकामिव यस्य दृष्ट्वा जनः कवीनामनुपृष्ठमेति ॥
(उदयसुन्दरीचम्पूकाव्य)

९. बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा, ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥
(राजशेखर 'बालरामायण' १।१६)

१०. करुणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति है जो, उसको 'भव-भूति' क्यों कहे कोई ?'
(राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, 'साकेत', नवम सर्ग)

श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	अङ्क	संख्या
अङ्गादङ्गात्सृत०	६	२२
अजितं पुण्यमूर्जस्वि०	५	२७
अतिशयितसुरासुर०	५	४
अत्यद्भुतादसि०	५	१०
अथकोऽयमिन्द्र०	६	१७
अथेदं रक्षोभि:	१	२८
अद्वैतं सुखदुःखयो०	१	३९
अनियतरुदित०	४	४
अनिर्भिन्नो गभीर०	३	१
अनुदिवसमवर्धय०	३	१८
अनुभावमात्रसमवस्थित०	६	४१
अन्तःकरणतत्त्वस्य	३	१७
अन्तर्लीनस्य	३	९
अन्वेष्टव्यो यदसि	२	१३
अपत्ये यत्तादृग्	४	३
अपरिस्फुटनिस्वाने	३	७
अपि जनकसुताया	६	२६
अपूर्वकर्मचण्डाल	१	४६
अप्रतिष्ठे कुलज्येष्ठे	५	२५
अमृताध्मातजीमूत	६	२१
अयं शैलाघात०	५	९
अयं हि शिशुरेकक:	५	५
अयं तावद्बाष्प०	१	२९
अयि कठोर ! यश:	३	२७
अरुन्धति जगद्वन्द्ये	७	१७
अलसललितमुग्धा	१	२४
अवदग्धकर्बुरित	६	४
अवनिरमरसिन्धु	३	४८
अस्मिन्नगस्त्य	२	३
अस्मिन्नेव लता०	३	३७

श्लोक	अङ्क	संख्या
अस्यैवासीन्महति	२	२५
अहेतुः पक्षपातो	५	१७
अहो प्रश्रययोगेऽपि	६	२३
अहो प्रासादिकं	६	२०
आगर्जद् गिरिकुञ्ज	५	६
आयुष्मतः किल	६	१६
आलिम्पन्नमृतमयैरिव	३	३९
आविर्भूतज्योतिषां	४	१८
आविवाहसमयाद् गृहे	१	३७
आश्च्योतनं नु	३	११
आश्वासस्नेहभक्ति	६	१०
आसीदियं दशरथस्य	४	६
इक्ष्वाकुवंशोऽभिमतः	१	४४
इङ्गुदीपादप:	१	२१
इतिहासं पुराणं च	४	२३
इदं कविभ्य:	१	१
इदं विश्वं पाल्यं	३	३०
इयं गेहे लक्ष्मी०	१	३८
इह समदशकुन्ता	२	२०
ईदृशानां विपाको	३	३
उत्पत्तिपरिपूतायाः	१	१३
उपायानां भावादविरत	३	४४
ऋषयो राक्षसीमा०	५	३०
ऋषीणामुग्रतपसां	१	५०
एको रसः करुण एव	३	४७
एतत्तदेव कदली	३	२१
एतत्पुनर्वनमहो	२	२२
एतद्धि परिभूतानां	४	२५
एतद्वैशसवज्रघोर	४	२४
एतस्मिन्मदकल०	१	३१

श्लोक	अंक	संख्या
एतस्मिन्मसृणित	५	१८
एतानि तानि	१	२५
एते त एव गिरयो	२	२३
एते ते कुहरेषु	२	३०
एतौ हि जन्म०	७	१५
एष वः श्लाघ्य०	४	९
एष साङ्ग्रामिको	५	२२
एषा वसिष्ठगुप्तानां	७	१३
कठोरपारावतकण्ठ	६	२५
कण्डूलद्विपगण्ड	२	९
कतिपयकुसुमोद्गमः	३	२०
कथं न्याय्यमनुष्ठानं	५	२१
कन्यां दशरथो	१	४
कन्यायाः किल	४	१७
करकमलवितीर्णैः	३	२५
करपल्लवः स तस्याः	३	४१
कष्टं जनः कुलधनैरनु०	१	१४
कामान् दुग्धे	५	३१
किं त्वनुष्ठाननित्यत्वं	१	८
किं त्वाक्रान्तकठोर	५	१९
किमपि किमपि	१	२७
किरति कलित	५	२
किसलयमिव मुग्धं	३	५
कुवलयदल०	४	१९
कूजत्कुञ्ज०	२	२९
कृशाश्वतनया०	५	१५
कृशाश्वः कौशिको	७	९
कोऽप्येष सम्प्रति	५	३४
क्व तावानानन्दो	६	३३
क्षुभिताः कामपि	७	१२
गृहीतो यः पूर्वं	२	४०
घोरं लोके वितत०	७	९
चतुर्दशसहस्राणि	२	१५
चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा	६	३८
चिराद्वेगारम्भी	२	२६
चूडाचुम्बितकङ्क०	४	२०
चूडामण्डलबन्धनं	५	३६
जगन्मङ्गलमात्मानं	७	८
जनकानां रघूणां च यत्	१	५१
जनकानां रघूणां च मयि	६	४२
जनकानां रघूणां च सम्बन्धः	१	१७
जातस्य ते पितु०	५	२४
जामातृयज्ञेन वयं	१	११
जीवत्सु तातपादेषु	१	१९
जीवयन्निव ससाध्वस	१	३४
ज्याजिह्वया वलयि०	४	२९
झणज्झणित०	६	१
तटस्थं नैराश्यादपि	३	१३
तत्कालं प्रियजनविप्रयोग	१	३०
तथैव रामः सीता याः	६	३२
तुरगविचयव्यग्रा०	१	२३
ते हि मन्ये महात्मानः	१	४८
त्रस्तैकहायनकुरङ्ग	३	२८
त्रातुं लोकानिव	६	९
त्वदर्थमिव विन्यस्तः	६	३६
त्वया जगन्ति पुण्यानि	१	४३
त्वया सह निवत्स्यामि	२	१८
त्वं वह्निर्मुनयो	४	५
त्वं जीवितं त्वमसि	३	२६
त्वमेव ननु कल्याणि	३	१०
त्वरस्व वत्से	७	१८
त्वाष्ट्रयन्त्रभ्रमि०	६	३
दत्ताभये त्वयि	२	११
दत्तेन्द्राभयदक्षिणै०	६	१८
ददतु तरवः पुष्पै०	३	३४
दधति कुहरभाजां	२	२१
दर्पण कौतुकवता	५	११
दलति हृदयं	३	३१

श्लोक	अंक	संख्या
दह्यमानेन मनसा	७	७
दिनकरकुलचन्द्र	६	८
दिष्टया सोऽयं	१	३२
दुःखसंवेदनायैव	१	४७
दृष्टिस्तृणीकृत्यजग०	६	१९
देवस्त्वां सविता	५	२८
देवि सीते नमस्ते	७	१०
देव्यामपि हि	१	६
देव्या शून्यस्य	३	३३
न किञ्चिदपि	२	१९
न किञ्चिदपि	६	५
न किल भवतां	३	३२
न तेजस्तेजस्वी	६	१४
न प्रमाणीकृतः	७	५
नन्वेष त्वरित०	४	१
नमो वः परमा०	७	११
नवकुवलय०	३	२२
नियोजय यथाधर्मं	७	१९
निष्कूजस्तिमिताः	२	१६
नीवारौदनमण्ड०	४	१
नूनं त्वया परिभवं	४	२३
नैताः प्रियतमा	३	२४
पञ्चप्रसूतेरपि तस्य	४	१६
पतनविरलैः	१	२०
परिणतकठोर०	६	१३
परिपाण्डुदुर्बल०	३	४
पश्चात्पुच्छं वहति	४	२६
पश्यामि च जन०	२	१७
पातालोदरकुञ्ज०	४	१४
पाप्मभ्यश्च पुनाति	७	२०
पुत्रसंक्रान्त०	१	३९
पुरा यत्र स्रोतः	२	२७
पुरा रूढे स्नेहे	६	२८
पूरोत्पीडे तटाकस्य	३	२९

श्लोक	अंक	संख्या
पौलस्त्यस्य जटायुषा	३	४३
प्रकृत्यैव प्रिया	६	३१
प्रत्युप्तस्येव दयिते	३	४६
प्रसाद इव मूर्तस्ते	३	१४
प्रियप्राया वृत्ति०	२	२
प्रियागुणसहस्राणा०	६	३४
ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय	६	१५
ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय	१	१५
बाष्पवर्षेण नीतं	६	२९
भो भो लव महाबाहो	५	७
भ्रमिषु कृतपुटान्त०	३	१९
मनोरथस्य यद्बीजं	५	२०
मन्थादिव क्षुभ्यति	७	१६
महिम्नामेतस्मि०	४	२१
मा निषाद प्रतिष्ठां	२	५
मुक्ताच्छ०	६	२७
मुनिजनशिशुरेकः	५	३
मेघमालेव यश्चाय०	२	२४
म्लानस्य जीवकुसुमस्य	१	३६
य एव मे जनः	४	७
यत्र द्रुमा अपि	३	८
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च	२	१२
यत्सावित्रैर्दीपितं	१	४२
यथा तिरश्चीन०	३	३५
यथा वसिष्ठाङ्गि०	७	१४
यथेच्छाभोग्यं	२	१
यथेन्दावानन्दं	५	२६
यदस्याः पत्युर्वा	४	१४
यदा किञ्चित्	४	३५
यदि ते सन्ति	४	२८
यदृच्छा संवादः	५	१६
यं ब्रह्माणमियं	१	२
यथा पूतंमन्यो	४	१०
यस्यां ते दिवसा०	२	२८

श्लोक	अंक	संख्या
येनोद्गच्छद्विस०	३	१५
योऽयमश्वः	४	२७
राज्याश्रमनिवासे	७	१
रेहस्त दक्षिण	२	१०
लीलोत्खातमृ०	३	१६
लोलोल्लोल०	३	३६
लौकिकानां हि	१	१०
वज्रादपि	२	७
वत्सायाश्च	४	२२
वपुरवियुतसिद्धा	५	२४
वयमपि न	५	२९
वसिष्ठाधिष्ठिता	१	३
वसिष्ठो	६	३९
विजृम्भितं च	६	२
वितरति गुरुः	२	४
विद्याकल्पेन	६	६
विना सीता०	६	३०
विनिर्वर्तित एष	५	८
विनिश्चेतुं शक्यो	१	३५
विरोधो विश्रान्तः	६	११
विलुलित०	३	२३
विश्वम्भरात्मजा	७	२
विश्वंभरा भग०	१	९
विश्रम्भादुरसि	१	४९
वीचीवातैः	३	२
वृद्धास्ते न विचा०	५	३५
व्यतिकर इव	५	१३
व्यतिषजति	५	१२
व्यर्थं यत्र	३	४५
शम्बूको नाम	२	८
शान्तं महापुरुष०	६	७
शिशुर्वा शिष्या	४	११
शैशवात्प्रभृति०	१	४५
श्रमाम्बुशिशिरी०	६	३७
स एष ते	२	६
सङ्ख्यातीतैर्द्विरद०	५	१२
सतां केनापि	१	४१
सन्तानवाहीन्यपि	४	८
समयः स वर्तत	१	१८
समाश्वसिहि कल्याणि	७	३
सम्बन्धस्पृहणीयता०	६	४०
सम्बन्धिनो वसिष्ठादी०	१	१६
स राजा तत्सौख्यं	४	१२
सर्वथा व्यवहर्तव्यं	१	५
स सम्बन्धी श्लाघ्यः	४	१३
सस्वेदरोमाञ्चित०	३	४२
सिद्धं ह्येतद् वाचि०	४	३२
सीतादेव्या स्वकरकलितैः	३	६
सुहृदिव प्रकटय्य	४	१५
सैनिकानां प्रमाथेन	५	३२
सोढश्चिरं राक्षस०	७	४
सोऽयं शैलः	१	३३
स्निग्धश्यामाः	२	१४
स्नेहं दयां	१	१२
स्नेहात् सभाजयितु०	१	७
स्पर्शः पुरा	३	१२
स्मरसि सुतनु	१	२६
हा हा देवि	३	३८
हा हा धिक्	१	४०
हृदि नित्यानुषक्तेन	४	२

अन्य उपयोगी ग्रन्थ

- **ऋतुसंहारम्।** संस्कृत-हिन्दी टीका सहित। डॉ. शिवप्रसाद द्विवेदी
- **कादम्बरी।** 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। शेषराजशर्मा रेग्मी। (सम्पूर्ण)
- **कालिदास-ग्रन्थावली।** हिन्दी टीका सहित। पं. रामतेज पाण्डेय सम्पादक-डॉ. ब्रह्मानन्द त्रिपाठी
- **किरातार्जुनीयम्।** मल्लिनाथकृत 'घण्टापथ' संस्कृत एवं बदरीनारायण मिश्रकृत हिन्दी व्याख्या।
- **कुन्दमाला।** श्रीदिङ्नागाचार्य। संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेता। व्याख्याकार-आचार्य लोकमणि दाहाल
- **गीतगोविन्दकाव्यम्।** जयदेव। 'रसिकप्रिया' संस्कृत एवं 'भावप्रकाशिका' हिन्दीव्याख्या। शिवप्रसाद द्विवेदी
- **नैषधीयचरितम्।** 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। आचार्य शेषराजशमरिग्मी
- **पञ्चतन्त्रम्।** श्रीविष्णुशर्मा। अभिनवराजलक्ष्मी संस्कृत एवं विस्तृत भाषा टीका सहित। संस्कृत टीकाकार-श्री गुरुप्रसाद शास्त्री एवं हिन्दी टीकाकार-आचार्य श्री सीताराम शास्त्री। सम्पादक-श्री बालशास्त्री
- **भट्टिमहाकाव्यम्।** 'जयमंगला' संस्कृतव्याख्यासहितम्
- **भर्तृहरिशतकत्रयम्।** (नीति-शृंगार-वैराग्य) 'रमारञ्जनी' संस्कृत एवं हिन्दी टीका सहित। पं. ददन उपाध्याय
- **मेघदूतम्।** कालिदासकृत। पदच्छेद, अन्वय, व्याख्या एवं टिप्पणी-सहित। डॉ. दयाशंकर शास्त्री
- **रघुवंशमहाकाव्यम्।** 'सञ्जीवनी' संस्कृत एवं 'चन्द्रकला' हिन्दीव्याख्या। व्याख्याकार-डॉ. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी।
- **शिवराजविजय।** अम्बिकादत्त शास्त्री। संस्कृत-हिन्दी टीका सहित। रमाशंकर मिश्र। (सम्पूर्ण)
- **सौन्दरनन्द महाकाव्यम्।** 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्। आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र (सम्पूर्ण)
- **हितोपदेशः।** 'अभिनवराजलक्ष्मी' संस्कृत एवं विस्तृत भाषा-टीका सहित। श्री गुरुप्रसाद शास्त्री एवं श्री सीताराम शास्त्री। सम्पादक-श्रीबाल शास्त्री। (सम्पूर्ण)
- **काव्यदीपिका।** 'सुधा' 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेत। व्याख्याकार-श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
- **काव्यालङ्कारसूत्राणि।** वामन। 'कामधेनु' संस्कृत एवं हिन्दी टीका सहित। हिन्दी टीकाकार-पं. हरगोविन्द शास्त्री
- **चन्द्रालोकः।** 'विमला' 'सुधा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतः। व्याख्याकार-डॉ. श्री कृष्णमणि त्रिपाठी
- **ध्वन्यालोकः।** 'लोचन' संस्कृत एवं 'भावप्रकाशिका' हिन्दी टीका सहित। आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी
- **भावप्रकाशनम्।** शारदातनय। हिन्दी व्याख्या सहित। डॉ. मदनमोहन अग्रवाल
- **साहित्यदर्पणः।** संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याकार-डॉ. लोकमणि दाहालकृत
- **नलचम्पूः।** श्रीपरमेश्वरदीन पाण्डेय कृत 'सुधा' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित
- **अभिज्ञानशाकुन्तलम्।** 'विमला' 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्यापेतम्। डॉ. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
- **उत्तररामचरितम्।** 'रमा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी (सम्पूर्ण)
- **दूतवाक्यम्।** हिन्दीटीका सहित। (सन्दर्भ, अन्वय, स्पष्टीकरण एवं टिप्पणी सहित)। डॉ. पुष्पागुप्ता
- **नाटयशास्त्र का इतिहास।** डॉ. पारसनाथ द्विवेदी
- **प्रतिमानाटकम्।** 'विमला' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित। डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र
- **बालरामायणम्।** श्रीराजशेखरविरचित। हिन्दी अनुवाद सहित। डॉ. गङ्गासागर राय
- **मालविकाग्निमित्रम्।** संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम्। डॉ. रमाशङ्कर पाण्डेय
- **मुद्राराक्षसनाटकम्।** 'सुधा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्याद्वयोपेतम्। परमेश्वरदीन पाण्डेय एवं श्री अवनिकुमार पाण्डेय
- **मृच्छकटिकम्।** महाकविशूद्रक। 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्यासहित। डॉ. जगदीशचन्द्र मिश्र
- **रत्नावली-नाटिका।** 'सुधा' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित। पं. परमेश्वरदीन पाण्डेय
- **विक्रमोर्वशीयम्।** 'सुधा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। पं. परमेश्वरदीन पाण्डेय एवं श्री अवनिकुमार पाण्डेय
- **स्वप्नवासवदत्तम्।** भासकृत। 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित। आचार्य श्रीशेषराजशर्मा 'रेग्मी'

ISBN : 978-93-81484-64-7

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी-221001
chaukhambasurbharatiprakashan@gmail.com
www.chaukhamba.co.in